विषय-सूची

अनेकान्तसे गहरा प्रेम

श्रीमान बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता 'अनेकान्त' से कितना प्रेम रखते हैं, यह बात समय समयपर अनेकान्तके पाठकोंके सामने आती रही है। गत वर्ष आपने (१२५) रु० की सहायता भेजकर अनेकान्तके सहायकोंमें अग्रस्थान प्राप्त किया था। पिछले दिनों—फर्वरी मासके अन्तिम सप्ताहमें—जब मैं कलकत्ता गया और वहाँ से वापिस चलने लगा तो आपने चुपकेसे १००) रु० का नोट लाकर मेरे सामने रख दिया। 'यह कैसा ?' मेरे पूछनेपर, आपने फर्माया कि यह अनेकान्तकी सहायताका है। मैंने कहा सहायताके तो आप (१२५) रु० भेज चुके हैं, क्या स्मरण नहीं रहा ? आप बोले-'स्मरण तो सब कुछ है; परन्तु वे रुपये तो पिछले सालकी बाबत दिये थे, इस साल भी तो खर्चके लिये चाहिये, इन्हें दूसरे वर्षकी सहायता में जमा कर लीजिये'। मैं देखकर दंग रह गया ! इसे कहते हैं अनेकान्तसे गहरा प्रेम, जो बिना माँगे और बिना किसी प्रेरणाके स्वयं ही पत्रकी जरूरियातको समझकर उसकी ओर सहायताका हाथ बढ़ाया जाता है। इस गाढ प्रेमके लिये बाबू छोटेलालजीका जितना भी आभार माना जाय और उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। निःसन्देह ऐसे सच्चे सनके प्रेमियोंके बल-बूतेपर ही अनेकान्तको इस भारी मँहगाईके जमानेमें उसी घटाये हुए मूल्यपर निकालनेका साहस किया जारहा है। मैं आपकी इस प्रेम-परिणति और उदार चित्तवृत्तिका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ। आशा है दूसरे महानुभाव भी अनेकान्तके प्रति अपने प्रेमका इसी प्रकार परिचय देंगे।

—जुगलकिशोर मुख्तार

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य कला और
समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र-मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)
सरसावा जि० सहारनपुर

पञ्चम वर्ष

[फाल्गुन से माघ, वीर नि० सं० २४६८-६९]

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री
वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

वार्षिक मूल्य तीन रुपये

जून सन् १९४३

एक किरणका मूल्य पाँच आना

अनेकान्तके पंचम वर्षकी विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायक-सूची

वीरसेवामन्दिरसे 'अनेकान्त' के प्रकाशनकी योजना होनेपर गत दो वर्षोंके भीतर जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहने आदिके लिये २५) ५०) १००) या इससे अधिककी सहायताका वचन देकर उसकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाया था, उनमेंसे जिन्होंने जितनी सहायता भेजकर संचालकोंके उत्साहको बढ़ाया है उनके शुभनाम सहायताकी रकम सहित निम्न प्रकार हैं। साथ ही, जिन सज्जनोने दूसरोंको अनेकान्त फ्री (विना मूल्य)या अर्ध फ्री भिजवाया है उनके शुभ नाम भी दिये जाते हैं :—

२२५) श्रीमान् बाबू छोटेलालजीजैन रईस, कलकत्ता।
१५०) ,, ला० दलीपसिंहजी जैन कागजी और उनकी मार्फत, देहली—
 ५०) ला० सिद्धोमलजी एण्ड सन्स कागजी, देहली।
 ५०) ला० घूमीमल धर्मदासजी कागजी देहली।
 ५०) ला० दलीपसिंहजी, पा० एल० बच्चूमलजी कागजी और बा० पन्नालालजी अग्रवाल।
१०१) श्रीमान बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ
१०१) ,, बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) ,, साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) ,, बा० शान्तिनाथजी सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता।
१००) ,, सेठ जास्वीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
१००) ,, बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचानन, पानीपत।
 ५१) ,, रा० ब० बाबू उलफतरायजी जैन रि० इञ्जीनियर, मेरठ।
 ५०) ,, साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर। २५) वार्षिक मध्ये १००) रु० के।
 ५०) ,, बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक। २५) वार्षिक, मध्ये १००) रु० के।
 २५) ,, ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
 २५) ,, पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
 २५) ,, ला० रूढ़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
 २५) ,, बा० रघुवरदयालजी जैन एम० ए० करोलबाग, देहली।
 २५) ,, सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
 २५) ,, ला० बाबूरामजी अकलङ्कप्रसादजी जैन, तिस्सा, ज़िला मुजफ्फरनगर।
 २५) ,, सवाई सिंघई धर्मदासजी भगवानदासजी जैन, सतना।
 २५) ,, ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
 २२) ,, मुंशी सुमतप्रसादजी जैन रि० अमीन, सहारनपुर। मध्ये २५) रु० के

अनेकान्तको फ्री भिजवाने वाले विशेष सहायक

७१॥) श्रीमान् बा० विमलप्रसादजी जैन, सदर बाज़ार, देहली। २०) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी बजाज सहारनपुर। २०) ला० मित्तरसैनजी रि० मुंसरिम, मुजफ्फरनगर। २०) बा० देवेन्द्रकुमारजी और श्रीमती शकुन्तलादेवीजी नजीबाबाद। १५) ला० मिट्ठनलालजी ओवरसियर तीतरो निवासी। १२॥) ला० पेरूमल चतरसैनजी, सरधना जि० मेरठ। १०) ला० रतनलालजी नई सड़क देहली। १०) रायसाहब बा० मीरीमलजी तातरों निवासी। १०) ला० वृन्दावन चन्दूलालजी, कैराना जि० मुजफ्फरनगर। १०) सेठ रोडमल मेघराजजी, सुसारी। १०) बा० महावीरप्रसादजी, बी० ए०, सरधना (मेरठ)। १०) ला० रूढ़चन्द राजमल जी, इन्दौर। ७॥) ला० लक्ष्मीचन्दजी सेठी केकड़ी (अजमेर)। ७॥) पं० दरबारीलालजी, सरसावा। –व्यवस्थापक

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ५ किरण १-२ | वीरसेवामंदिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर | फरवरी—मार्च
फाल्गुन-चैत्रशुक्ल, वीरनिर्वाण सं० २४६८ विक्रम सं० १९९८—९९ | १९४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[२]

श्रीअजित-जिन-स्तोत्र

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्दः।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाऽजित इत्यबन्ध्यम् ॥१॥

'जो देवलोकसे अवतरित हुए थे और इतने प्रभावशाली थे कि उनकी क्रीडाओं—बाललीलाओं—में भी उनका बन्धुवर्ग—कुटुम्बसमूह—हर्षोन्मत्त-मुखकमल होजाता था, तथा जिनके माहात्म्यसे वह बन्धुवर्ग पृथ्वीपर अजेय शक्तिका धारक हुआ—उसे कोई भी जीत नहीं सका—और (इसलिये) उस बन्धुवर्गने जिन का 'अजित'[1] ऐसा सार्थक अथवा अन्वर्थक नाम रक्खा।'

अद्यापि यस्याऽजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमंगलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परंपवित्रं स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥२॥

'जिनका शासन अनेकान्तमत—अजेय था—सर्वथा एकान्तमतावलम्बी परवादीजन जिसे जीतनेमें असमर्थ थे—और जो सत्पुरुषोंके—भव्यजनोंके—प्रधान नेता थे—उन्हें आत्मकल्याणके समीचीन मार्गमें

---

१ 'न केनचिज्जीयते (अन्तरंगैर्बाह्यैश्चशत्रुभिर्न जीयते वा) इत्यजितः अतएव अबन्ध्यमन्वर्थम्'। —प्रभाचन्द्रः

प्रवृत्त कराने वाले थे—उन अजित तीर्थंकरका परमपवित्र—पापक्षयकारक और पुण्यप्रवर्धक—नाम आज भी असंख्यात काल बीत जीनेपर भी—लोकमें अपनी इष्टसिद्धिरूप विजयके इच्छुक जनसमूहकेद्वाराहर मंगल के लिये—अपनी प्रत्येक इष्टसिद्धिके निमित्त—सादर ग्रहण किया जाता है—भव्यजनोंकी दृष्टिमें वह बराबर महत्वपूर्ण बना हुआ है।'

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्ति-भूम्ना भव्याशयालीन-कलंक-शान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्त-घनोपदेहो यथारविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान् ॥३॥

'घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप उपलेपसे मुक्त जो महामुनि (गणधरादि मुनियोंके अधिपति) भव्य जनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलंकोंकी—अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि कर्मोंकी—शान्तिके लिये—उन्हें समूल नष्टकर भव्यजनोंका आत्म-विकास सिद्ध करनेके लिये—जगतका उपकार करने में समर्थ अपनी वचनादि-शक्तिकी सम्पत्तिके साथ प्रदुर्भूत हुए, जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिये—उनके अन्तः अन्धकारको दूरकर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी प्रकाशमय समर्थ शक्ति-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है।'

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखं ।
गाङ्गं हृदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥ ४ ॥

'(उक्त प्रकारसे प्रादुर्भूत होकर) जिन्होंने उस धर्मतीर्थका-सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय, उत्तम क्षमादि दश लक्षण और सामायिकादि पंचचारित्र-धर्मके प्रतिपादक आगमतीर्थका—प्रणयन किया—प्रकाशन किया—जो महान है—सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूप-प्रतिपादनकी दृष्टिसे विशाल है—,ज्येष्ठ है—समस्त धर्मतीर्थोंमें प्रधान है—, और जिसका आश्रय पाकर भव्यजन (संसार-परिभ्रमण-जन्य) दुःख-सन्ताप पर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं—उससे छूट जाते हैं—जिस प्रकार कि ग्रीष्मकालीन सूर्यके आतापसे सन्तप्त हुए बड़े बड़े हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गंगाद्रहको प्राप्त होकर अथवा गंगाके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्य के आतापजन्य दुःखको मिटा डालते है।'

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रुर्विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिन-श्रियं मे भगवान्विधत्ताम् ॥५॥

—(स्वयम्भूस्तोत्र)

'जो ब्रह्मनिष्ठ थे—अनन्य श्रद्धाके साथ आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा किये हुए थे—,(इसीसे) सम-मित्र-शत्रु थे—मित्र और शत्रुमें कोई भेद-भाव न करके उन्हें आत्मदृष्टिसे समान अवलोकन करते थे—, आत्मीय कषाय दोषोंको जिन्होंने सम्यग्ज्ञानाऽनुष्ठानरूप विद्याके द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया था—आत्मापरसे उनके आधिपत्यको बिल्कुल हटा दिया था—(और इसीसे) जो लब्धात्मलक्ष्मी हुए थे—अनन्त ज्ञानादि आत्मलक्ष्मीरूप जिनश्रीको जिन्होंने पूर्णतया स्वाधीन किया था—; (इस प्रकारके गुणोंसे विभूषित) वे अजितात्मा—इन्द्रियोंके आधीन न होकर आत्म स्वरूपमें स्थित—भगवान अजितजिन मेरे लिये जिनश्री का—शुद्धात्मलक्ष्मीकी प्राप्तिका—विधान करें। अर्थात् मैं, उनके आराधन-भजन-द्वारा उन्हींका आदर्श सामने रखकर, अपनी आत्माको कर्मबन्धनसे छुड़ाता हुआ पूर्णतया स्वाधीन करनेमें समर्थ होऊँ, और इस तरह जिनश्रीको प्राप्त करनेमें वे मेरे सहायक बनें।'

जैनकला और उसका महत्त्व

(लेखक—श्री बाबू जयभगवान जैन बी० ए० वकील)

जैन कलाकी विशेषता:—

भारतकी पुरानी संस्कृतिको जाननेके लिये जहाँ जैन-साहित्य का अध्ययन एक ज़रूरी चीज़ है। वहाँ जैनकलाका अध्ययन भी कुछ कम महत्त्वकी चीज़ नहीं है। जैनकला अपनी विशेषताओंके कारण भारतीय कलामें एक अद्वितीय स्थान रखती हैं।

यह कला आजकी सभ्यताकी चीज़ नहीं है, यह बहुत पुरानी सभ्यताकी चीज है। यह उन आदर्शोंकी चीज़ है, यह उन मान्यताओंकी उपज है, जो भारतमें वैदिक आर्यगणके आनेसे भी पहले यहाँके रहने वाले व्रात्य लोगों मे प्रचलित थी। यह उन लोगोंकी सृष्टि है जो ध्यानी वीतरागी दिगम्बर अर्हन्तोंको अपने जीवनका आदर्श समझते थे, जो उन्हें साक्षात परमात्माका रूप मानते थे, जो परमात्मपद-अमृतपद-निर्वाणपदको जीवन का ध्येय मानते थे, जो अहिंसा-संयम, तप-त्याग, ज्ञान-ध्यानको मुक्तिका मार्ग जानते थे। यह उन लोगोंकी कृति है जो परमार्थके सामने सब ही अर्थोंको तुच्छ समझते थे, जो मोक्ष-सुखके सामने सब ही ऐहिक सुखोंको हेय गिनते थे, जो आर्हन्त्य-विभूतिके सामने समस्त विभूतियोंको धूल ख्याल करते थे।

लेखक

इनकी धार्मिकश्रद्धा, धार्मिकप्रियता, धार्मिक संलग्नता कितनी बढ़ी चढ़ी थी, इसका अन्दाज़ा जैनकलाकी विशालता, बहुलता, विस्तार और बारीक कारीगरीको देखनेसे लग सकता है। कलाका कोई अंग ऐसा नहीं जिसे इन्होंने अपने हृदयस्थ भावोंको प्रगट करनेके लिये अपना माध्यम न बनाया हो, जिसे इन्होंने अपने भक्ति रसको दर्शानेके लिये अपना साधन न बनाया हो। इन्होंने वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि सब ही कलाओंसे खूब **काम** लिया है। इसी लिये जैनकला इन सब ही अंगोमे सौम्य, सुन्दर और सुदृढ बनी है।

वास्तु-कलामें इसने अर्हन्तोंके रहनेके लिये हज़ारों वसतिका और विहार बनाये हैं, गुफायें और उपाश्रय बनाये हैं। इनके मृतक अवशेषों की रक्षाके लिये हजारों चैत्य और स्तूप खडे किये हैं। इनके निर्वाण-स्थानोंको याद रखने के लिये हजारों निसीदिकाएँ, और चरणपादुकाएँ बनाई हैं। इनके पञ्चकल्याणकोंकी स्मृतिमें मुख्य मुख्य स्थानोंपर तीर्थ बनाये हैं। इनकी मूर्तियोंकी पूजा-प्रतिष्ठा करनेकेलिये हजारों मन्दिर और सहस्रकूट चैत्यालय बनवाये हैं। इनके शास्त्र-प्रवचनके लिये सभाभवन, और सभामंडप बनवाये हैं। इनकी कीर्तिको फैलानेके लिये अनेक मान-स्तम्भ और कीर्तिस्तम्भ खड़े किये हैं। इन्हें सुन्दर तोरणों स्तम्भो, आयागपटों[1] परमेष्ठिपटों[2] वेदियों, बाडोंसे खूब अलंकृत किया है।

इनमें कितने ही एलोरा, बादामी आदिके मन्दिर खडी चट्टानोंको खोदकर पर्वतके भीतरी भागमे बनाये गये हैं, कितने ही देवगढ़, आबू, शत्रुञ्जय आदि स्थानोंमें करोडोंकी सम्पत्ति लगाकर विशाल दिव्य-मन्दिर बनवाये गये हैं, खण्डगिरि और तेरापुर आदि स्थानोंमे कितनी ही पहाडी गुफाऐं बनाई गई हैं।

१, २, Epigraphica Indica vol. II part XIV March 1894 P. 314.
"The आयागपट seems to be a distinctive feature of the ancient Jain Art, as neither the Buddhists, nor the orthodox sects mention them. In the more modern Jaina temples we find instead of them slabs called पंचपरमेष्ठिपट, चतुर्विंशति तीर्थंकरपट"

मूर्तिकलामें इसने अर्हन्तोंकी अगणित कायोत्सर्ग और पद्मासन ध्यानमग्न दिगम्बर मूर्तियोंको पैदा किया है, ये मूर्तियो मामूली पत्थरोंसे लेकर मूंगा, पन्ना, हीरा, पुखराज, नीलम आदि बहुमूल्य पाषाणोंकी बनी हुई हैं। ये मामूली ताबा, पीतलसे लेकर चांदी, सोना जैसी कीमती धातुओंकी बनी हुई हैं। ये आकारमें छोटीसे छोटी हैं और बडीसे बडी हैं। इनमें कितनी ही ३० फुट, ६० फुट, ८० फुट तक ऊँची खडी विशालकाय प्रतिमाएँ हैं, ये कडी चट्टानोंको काटकर ग्वालियर, एनूर, कारकल, श्रवणबेलगोल, बडवानी आदि स्थानोंमें बनाई गई हैं।

इनमें कितनी ही चतुर्मुख प्रतिमायें हैं, कितनी ही सर्वतोभद्र प्रतिमायें हैं। ये शिलाखण्डों व स्तम्भोंके चारों ओर उत्कीर्ण होनेसे सबही ओरके दर्शकोंको शान्ति देती हैं। कितनी ही चतुर्विंशति-संख्यक शिला प्रतिमायें हैं। इनमें बीचके भागमें मूलनायककी प्रतिमा कुछ बडी बनी हुई होती है और उसके चारों ओर बाकी २३ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां कुछ छोटी छोटी सी बनी हुई होती हैं।

इनमें कितनी ही छत्र, चमर, सिंहासन, भामण्डल, वृक्ष आदि अष्ट प्रातिहार्य-संयुक्त प्रतिमाएँ हैं। इनमें मूर्तियोंके शिरोपर छत्र घूम रहे हैं, गर्दनके पीछे भामण्डल लगे हैं बराबरमें चामरधारी खडे हैं, दायें-बायें वृक्ष बने हुए हैं और ऊपरकी तरफ गन्धर्व अपनी अप्सराओंके साथ फूलोंकी मालायें लिए हुए हैं, दुन्दुभि बजा रहे हैं, पुष्प-वृष्टि कर रहे हैं। कितनी ही मूर्तियोंमें सूण्डोंमें धारण किये हुए कलशोंसे अभिषेक करते हुए हाथी दिखलाए गए हैं।

इन मूर्तियोंके सिंहासनोंपर कुछमें धर्मचक्र बने हुए हैं, कुछमें हिरण खड़े हुए हैं, कुछमें बैल, मृग, हाथी, घोडा, सर्प, सिंह आदि चिह्न अंकित हैं। कुछमें कुबेर, नैमेश, हारिती तथा नवग्रहोंके आकार बने हैं। कुछमें इन मूर्तियोंको बनवाने वाले नर-नारी तथा कुटम्बी जनोंकी मूर्तियां भी बनी हैं। कुछमें उपर्युक्त चीजोंके अतिरिक्त शिलालेख भी लिखे हुए हैं।

इनमें कितनी ही मूर्तियां ऐसी हैं, जिनके दायें-बायें शासनदेवी-देवता कहलाने वाले यक्ष-यक्षणियोंकी मूर्तियां बनी हैं; कितनी ही ऐसी हैं, जिनके दायें बायें सर्पफण धारण किये हुए नाग लोग वन्दना कर रहे हैं; कितनी ही मूर्तियोंके शिरोपर सर्पफण लगे हैं।

चित्रकलामें इसने भारतकी दोनों शैलियोंको अपनाया है—तदाकार वा स्पष्ट शैली (Direct Representation), अतदाकार वा सांकेतिक शैली (Symbolic Representation).

स्पष्ट शैलीके द्वारा जैनकलाने अर्हन्तोंके पञ्चकल्याणक-उत्सवों, उनकी परिषदोंका दिग्दर्शन कराकर बतलाया है कि इन महापुरुषोंके जीवनमें गर्भकालसे लेकर निर्वाणकाल तक कैसी कैसी अद्भुत घटनायें लोकमें पैदा होती हैं। इन की शान्ति और सौम्यताके कारण कैसे कैसे जातिविरोधी जीव अपने वैर-विरोधको छोडकर आपसमें कल्लोल करने लगते हैं।

इस शैलीके द्वारा जैनकलाने त्रेसठ शलाका महापुरुषों की जीवनी, उनके पूर्वभव पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक वृत्तोंका चित्र चित्रण कर दिखलाया है कि स्वकृत कर्मोंके प्रभावसे जीवको कैसे कैसे उतार-चढावमेंसे गुज़रकर संसार में भ्रमण करना पडता है।

इस शैलीके द्वारा इसने स्वर्गोंके सुख और नरकोंकी वेदनाओंके दृश्य खींचकर दिखलाया है कि पुण्य और पाप के प्रभावसे जीवको कैसे कैसे मीठे और कडुवे फल भोगने पडते हैं।

जहां इस स्पष्टशैली से जैनकलाने इतना काम लिया है वहां सांकेतिक शैलीसे और भी अधिक काम लिया है। इस दूसरी शैलीसे इसने पशु-पक्षी आदिके चिह्न बनाकर मंगलकारी अर्हन्त-मूर्तियोंको जगह-जगहपर स्थापित किया है। विविध वृक्षोंकी तसवीरें बनाकर अर्हन्तोंके बृबोधिवृक्षोंकी और उनके तपस्वी जीवनकी याद दिलाई है। स्वस्तिक, त्रिशूल और चक्रकी तस्वीरें बनाकर उनके सिद्धान्तोंकी शिक्षा दी है। अष्ट मंगलद्रव्योंके चित्र खींच-कर उनकी सभ्यतापरक बातोंकी सूचना दी है। संसार-वृक्ष और षट्लेश्या वृक्षके चित्र खींचकर उनके द्वारा संसारका तथा मनोवृत्तियोंका स्वरूप दर्शाया है।

यह समस्त जैनकला अर्हन्तोंके आदर्शकी समर्थक है। यह सब श्रमण-संस्कृतिकी स्मारक है। यह सब धर्म-प्रचारके उद्देश्यसे रची गई है। इसमें कल्पनाकी अपेक्षा वास्तविकता (Realism) को अधिक स्थान मिला है।

जैनकलाकी मूर्तियां किन्हीं प्राकृतिक शक्तियोंकी किन्हीं पुराने ऐतिह्योंकी काल्पनिक मानवी आकृतियां नहीं है। सब ऐतिहासिक पुरुषोंकी वास्तविक मूर्तियां हैं।

जैनकलाका विस्तार:—

इस जैनकलाका विस्तार बहुत बड़ा है। इसका अन्दाज़ा इसी बातसे लगाया जा सकता है कि भारतका कोई प्रान्त ऐसा नहीं, जहां जैनियोंके माननीय तीर्थ और अतिशय क्षेत्र मौजूद न हों। ये तीर्थस्थान कैलाश-पर्वतसे लेकर करनाटक तक, और गिरिनार पर्वतसे लेकर पार्श्वनाथ पर्वत तक सब ही दिशाओंमें फैले हुए हैं। ये बंगाल और बिहार, उड़ीसा और बुन्देलखण्ड, अवध और रोहेलखण्ड, देहली और हस्तिनापुर, मथुरा और बनारस, संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्त, राजपूताना और मालवा, गुजरात और काठियावाड़, बरार और बड़ौदा, मैसूर और हैदराबादके सब ही इलाकोंमें मौजूद हैं। हरसाल लाखों यात्री इनकी वंदना और दर्शनार्थ दूर दूर से चलकर आते हैं।

ये दूर दूर फैले हुए तीर्थस्थान और अतिशय क्षेत्र जैनकलाकी हजारों नई और पुरानी रचनाओंसे भरे पड़े हैं, ये रचनाएँ यों तो सब ही दर्शनीय हैं और इतिहासके लिये अध्ययन करने योग्य हैं, परन्तु इनमें भी वे रचनायें अधिक महत्वशाली हैं जो अब अपने स्थानोंमें मौजूद न होकर केवल अनुश्रुति और साहित्यके बलपर ही मौजूद हुई जान पड़ती हैं। सवाल होता है कि यह रचनाएँ कहां गई?

ये पुरानी रचनाएँ अधिकांशसे प्राकृतिक उपद्रव अथवा राजविप्लवोंसे टूट-फूटकर भूगर्भमें दबी पड़ी हैं, इन के उद्धारके लिये जैनसंस्कृतिके पुराने केन्द्रोंकी पुरातात्त्विक खोज होना बहुत ज़रूरी है। इन स्थानोंमें केवल मथुरा और राजगृह ही ऐसे दो स्थान हैं जिनके खण्डरातको खोद कर सरकारी पुरातत्त्व-विभागने बहुत बड़ी जैन ऐतिहासिक सम्पत्तिका पता लगाया है। परन्तु जिस दिन अहि-क्षेत्र, पपोसा, पावा, पटना, गिरिनार, कन्नौज, हस्तिनापुर, शौर्यपुर अथवा नर्बदा नदीके किनारे-किनारे सिद्धवरकूट आदि पुराने स्थानोंकी खुदाई होगी, उसदिन इससे भी अधिक कीमती ऐतिहासिक सामग्री निकलनेकी सम्भावना है।

इन पुरानी रचनाओंमें बहुतसी ऐसी हैं, जो राज विप्लवके कारण मुस्लिमराज्यमें अपने स्थानोंसे छिन्नभिन्न हो, मस्जिदों और मकबरोंकी इमारती सामग्री बन चुकी हैं। इस सम्बन्धमें भारतकी वह पहिली मस्जिद, जो ईसाकी १२ वीं शताब्दीमें कुतबुद्दीन बादशाहने लोहेकी लाठके गिर्द देहलीमें बनाई थी, विशेष उल्लेखनीय है। इस मस्जिद में लगे स्तम्भों और छतके शिलापटोंपर अनेक प्रकारकी जैन मूर्तियों अङ्कित हैं। ये चीजें जैसा कि देहलीदर्शक (Delhi Guide) से ज़ाहिर है, अनेक जैन मन्दिरोंको तोड़कर यहां लाई गई थी।

इनमें बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं, जो राजविप्लव व जैनियोंके अभाव हो जानेके कारण समूल अन्य सम्प्रदाय वालोंके हाथमें चली गई हैं। इस सम्बन्धमें कोल्हापुरका प्रसिद्ध अम्बाबाईका मन्दिर गोदराकी प्रसिद्ध बेली माताकी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह मन्दिर वास्तवमें जैनियों की माननीय देवी पद्मावतीका मन्दिर था। इसकी गुंबदों और दीवारोंपर अनेक कायोत्सर्ग दिगम्बर जैनअर्हन्तोंकी मूर्तियां बनी हुई हैं। इसी प्रकार उक्त बेली माताकी मूर्ति श्री पार्श्वनाथकी मूर्ति है। यह नग्न और कायोत्सर्ग है इसके सिरपर सर्पके फण भी लगे हैं। ये केवल उदाहरण मात्र हैं, वरना इस प्रकारके अनेक मन्दिर और मूर्तियां, चैत्य और स्तूप जो वास्तवमें जैनसंस्कृतिकी कृतियां हैं, भारत के सब ही हिस्सोंमें अन्य सम्प्रदाय वालोंके अधिकारमें मौजूद हैं। ये रचनाएँ यद्यपि आज अन्य नामोंसे पुकारी जाती हैं, और अन्य धर्मवालोंकी सम्पत्ति गिनी जाती हैं, परन्तु इन रचनाओंकी कारीगिरी, इनके तोरण, द्वार, छत और स्तम्भोंपर खोदी हुई दिगम्बर अर्हन्त प्रतिमाएँ इस बातकी साक्षी हैं, कि ये चीजें जैनलोगोंकी विभूति रही हैं।

इनमें बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं, जो आज अपने स्थानोंसे उठकर भारतके विविध अजायबघरों अथवा कलाभवनोंमें चली गई हैं। बहुतसी निजी संग्रहालयोंमें दाखिल हो गई हैं। बहुत सी इधर उधर विभिन्न लोगोंके कब्जेमें पड़ी हुई हैं।

इनमें बहुत सी रचनायें ऐसी भी हैं, जो अपने स्थानों में रहते हुए भी अज्ञात दशामें पड़ी हुई हैं। ये आज किसीके भी अधिकारमें न होकर जंगली दरिन्दों, और

निशाचरोंके निवास स्थान बनी हुई हैं। कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें "प्राचीन स्मारक-रक्षा" कानून (Ancient Monuments Protection Act) के अनुसार सरकारने अपनी अध्यक्षतामें कर लिया है। कुछ ऐसी हैं, जिन्हें विविध जैनतीर्थ-रक्षा-कमेटियोंने अपनी अध्यक्षतामें ले लिया है, कुछ स्थानीय जैनसमाजकी अध्यक्षतामें मौजूद हैं। इनमेंसे कितनी ही रचनाओंका जीर्णोद्धार और व्यवस्थित होना शुरू हो गया है कितनी ही का पहिले से हो रहा है और कितनी ही का होना अत्यन्त वाञ्छनीय है।

जैनकलाका अध्ययन करते समय उपर्युक्त सब ही प्रकारकी रचनाओंका ध्यान रखना ज़रूरी है।

जैनकलाका ऐतिहासिक महत्त्व :—

इस जैनकलाकी बहुत सी चीजें उपलब्ध जैनसाहित्य से भी पुरानी हैं। वे जैनसंस्कृतिके बहुतसे अज्ञात पहलुओं पर असाधारण प्रकाश डालती हैं। वे जैनधर्म-सम्बन्धी साम्प्रदायिक मान्यताओंकी समालोचना करनेमें बड़ी सहायक हैं।

इन चैत्यों और स्तूपों पर, मन्दिरों और गुफाओंपर, मूर्तियों और चित्रोंपर बहुतसे लेख लिखे हुए हैं, जिनसे अनेक राजवंशों, गुरू परम्पराओं और अन्य ऐतिहासिक बातोंकी खोज हो सकती है।

ये लेख जहां भिन्न भिन्न कालोंकी नागरी लिपिमें लिखे होनेसे, नागरी लिपिके क्रमिक विकासके जाननेमें अद्वितीय साधन हैं, वहां ये भिन्न भिन्न भाषाओंमें लिखे होनेसे, भारत की भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धको जाननेमें भी बड़े मूल्यवान हैं।

ये मूर्तियां जहां भिन्न भिन्न कालोंकी, भिन्न भिन्न ढंगोंकी बनी हुई होनेके कारण मूर्तिकलाके वकासपर गहरा प्रकाश डालती हैं, वहां ये विभिन्न कालीन योगियोंके आसन, मुद्रा, केश और प्रातिहार्योंपर भी काफी प्रकाश डालती हैं, क्योंकि ये सब एक समान नहीं हैं। इनमें कितनी ही पद्मासन हैं, कितनी ही खड्गासन हैं, कितनी ही जटाधारी हैं, कितनी ही उष्णीष वाली हैं और कितनी ही लोच किये हुए बालों वाली हैं।

ये अर्हन्तोंकी मूर्तियां, जहां बुद्ध और बोधिसत्व, राम और कृष्णकी मूर्तियोंसे पहले मिलनेके कारण, इस बातकी परिचायक हैं कि मध्यकालीन भारतमें महापुरुष-मूर्ति-रचना जैनकलाकी देन है, वहां ये इस बातकी भी परिचायक हैं, कि जैनसंस्कृति भारतकी बहुत पुरानी संस्कृति है।[1]

इन मूर्तियों और चित्रोंके देखनेसे, जहां भारतीय लोगोंके रहन-सहन, मकान-उद्यान, व्यसन-व्यवसाय, वेष-भूषाका ज्ञान होता है, वहां इन्हें देखनेसे यक्ष-गन्धर्व, नाग-राक्षस, खचर-विद्याधर, सुर-असुर आदि भारतकी पुरानी जातियोंकी सभ्यताका भी बोध होता है।

जैनकलाके पशुपक्षि—

इन सब चीजोंसे भी अधिक महत्त्वशाली जैनकलाके वे पशुपक्षि आदि चिह्न हैं, जो विभिन्न अर्हन्तोंके प्रतीक होनेके कारण महाआदरणीय बने हुए हैं। यह चिह्न संख्या में चौबीस हैं—१ वृषभ, २ हाथी, ३ घोड़ा, ४ बन्दर, ५ चकवा, ६ कमल, ७ स्वस्तिक, ८ चन्द्रमा, ९ मच्छ, १० वृक्ष, ११ गेंडा, १२ भैंसा, १३ बराह १४ सेहि (स्येन) १५ वज्र, १६ हिरण, १७ बकरा, १८ मछली, १९ घट, २० कछवा, २१ उत्पल, २२ शंख, २३ सर्प, २४ सिंह।

ये क्रमशः १ ऋषभ, २ अजित, ३ संभव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्म, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ पुष्पदन्त, १० शीतल, ११ श्रेयांस, १२ वासपूज्य, १३ विमल,

1. "The discoveries (at Mathura) have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence in its present form. The series of 24 Tirthankaras each with his distinctive emblem was evidently firmly believed in at the begining of the Christian era."
—Vincent A. Smith Archeological Survey of India. Vol XX,1901 ,p 6

१४ अनन्त, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थ (कुन्थु) १८ अर १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि २२ नेमि २३ पार्श्व, २४ महावीर तीर्थंकरोंको पृथक पृथक संकेत करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।[1] ये चिह्न बहुधा अर्हन्त-मूर्तियोंके आसनोंपर खुदे हुए मिलते हैं। परन्तु इतना ही नहीं, ये सजावटी चित्रकारीके लिये स्तूपोंकी बाड़ोंपर, मन्दिरोंकी दीवारोंपर, तोरण और शिलापटोंपर, शिलालेखों और ताम्रपत्रोंपर, भण्डों और सिक्कोंपर भी जगह जगह अङ्कित हुए मिलते हैं।[2]

ये चिह्न जैनियोंमें पदचिह्न अथवा शारीरिकचिह्न—शरीरके सामुद्रिक चिह्न—के नामसे प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनका रहस्य इन दोनों बातोंसे परे है। ये न तो अर्हन्तोंके पद चिह्न हैं, न शारीरिकचिह्न हैं, ये वास्तवमें अर्हन्तोंके नाम, वंश, गोत्र और जातिसूचक शब्दोंके चित्र हैं—उन शब्दोंके जिनके द्वारा यह अपने जीवनकालमें पुकारे और माने जाते थे। चित्रलिपिके नियम अनुसार वृषभ नामधारि पुरुषका वृषभसे, पद्मका पद्मसे, चन्द्रप्रभका चन्द्रमासे, शीतलका वृक्षछायासे, उग्र वा उरगवंशी पार्श्वका सर्पसे संकेत होना स्वाभाविक ही है। इसी तरह कच्छप-नामधारी पुरुषकी सन्तान होनेके कारण इनका कच्छपगोत्री कहलाना भी स्वाभाविक ही है।

लम्बे-लम्बे युगोंकी विभिन्न भाषाओंमेंसे गुजरकर हम तक पहुंचते हुए इन महापुरुषोंके नामोंकी इतनी काया पलट हुई है कि आज इनका और इनके उपर्युक्त प्रतीकोंका सम्बन्ध बिठाना कुछ आसान काम नहीं है। परन्तु इस मामले में यह बात याद रखने योग्य है कि यद्यपि काल इन महापुरुषोंके उच्चारित नामोंको काफी बदल चुका है, परन्तु वह इनके लिये प्रयुक्त होने वाले चित्रलिपिके प्रतीकों को कुछ भी न कह सका है? ये प्रतीक पूर्वकी तरह आज भी उसी तरह प्रयोगमें आरहे हैं। इसलिये यदि इन महापुरुषोंके वास्तविक नाम गोत्र व वंशोंका पता लगाना हो तो वह इन प्रतीकोंके पर्यायवाची शब्दोंके आधारपर ही लगाया जा सकता है। और मत्स्य कच्छप वराह, आदि प्रतीक नामधारी अवतारोंके अनेक आख्यानोंपरसे जो भारत के पौराणिक साहित्यमें भरे पड़े हैं, इन महापुरुषोंकी जीवन-कथाका संकलन भी किया जा सकता है। इसतरह ये प्रतीक भारतका पुराना इतिहास जाननेके लिये बहुतही सहायक हैं।

इसी प्रकार स्वास्तिक, चक्र और त्रिशूल आदि चिह्न जो सदा भारतमें मंगलकारी चिह्न माने जाते रहे हैं, जो सदा भारतकी शुभकामनाओंके साथ बंधे रहे हैं, जो सदा भारतीय संस्कृतिके साथ साथ विदेशोंमें भी अपनाए गये हैं, वास्तवमें भारतीय श्रमणलोगोंकी मान्यताओंके प्रतीक हैं। इनकी रचना भी भारतकी पुरानी चित्रलिपिके नियमानुसार ही हुई है। इनमें स्वस्तिक, पुरुष-प्रकृति रूप दो तत्त्वोंसे बने और चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमनेवाले जीवन-संबंधी महासत्यका प्रतीक है। इस स्वस्तिककी बीच वाली खड़ी और पड़ी दो लकीरें पुरुष और प्रकृति, जीव और पुद्गल चैतन्य और जड़, ब्रह्म और माया, अमृत और मर्त्य, सत्य और असत्य, अमूर्त और मूर्तरूप विश्वके दो सनातन तत्त्वोंका निर्देश करती हैं और सिरोंपरकी चार लकीरें चार

१ (अ) गोवारणाश्वाः कपिकोकपद्माः
स्वस्त्यर्धशशी मकरद्रुमाकौ ॥
गण्डौ लुलायः किटिसेधिके च
वज्रं मृगाजः कुसुमं घटश्चः ॥ ३४६
कूर्मोत्पलं शंखभुजंगसिंहः
क्रमशः चिह्नकाचिह्नलानान ॥ ३४७
-- श्री जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ

(आ) पं० आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार १, ७८, ७९
(इ) गौतमचरित्र—५, १३०, १३१
(ई) प्राकृत निर्वाणभक्ति।

२ (अ) Archeo-logical Survey of India-Vol XX Mathura Antiquities,(90) फलक—६५ से ७१ तक और ७८ से ८१ तक पर मथुराके जैन स्तूपोंकी बाड़ोंपर यह चिह्न अङ्कित हुए दिखलाये गये हैं।

(आ) तिलोयपण्णत्ति ४,८१६, पृष्ठ ८०, आगरा प्रति त्रिलोकसार ॥१०१०॥ आदिपुराण २२ २६६ हरिवंशपुराण २,७३ में उपरोक्त प्रकारके चिह्नोंसे संयुक्त ध्वजाओंका वर्णन किया गया है।

गतियोंका निर्देश करती हैं। इस तरह यह प्रतीक घोषणा करता है कि यह समस्त विभिन्न नाम, रूप, धर्मवाला संसार मायासे बंधे हुए ब्रह्म अथवा प्रकृतिसे जकड़े हुए पुरुषका—जड़-चैतन्यका ही पसारा है।

इनमें नाभि, नेमि और आरोंसे बना हुआ चक्र, ऋत अथवा धर्मचक्रका प्रतीक हैं, जो रात और दिन, शुक्लपक्ष और कृष्ण-पक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायण, उत्सर्पिणी और अव-सर्पिणीमेंसे होता हुआ सदा ही घूमता रहता है, जो द्वादश मास और षट् ऋतुचक्रमें नाचता हुआ संसारमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले कालचक्रके साथ साथ बिना रोक-टोक सदा आगे ही चलता रहता है, जो आदि और अन्त रहितसंसारमे सदा क्रमनियम और व्यवस्थाको क़ायम रखता है।

त्रिशूल मोक्षमार्गका त्रिदण्डाकार प्रतीक है। यह बत-लाता है कि जो जीव अपने मन, वचन और कायके तीनों योगोंको भली भांति दण्डित वा वश कर लेता है, वह संसारके भ्रमणसे छूट जाता है और कालकी मारसे बच जाता है।

महापुरुषोंके उपर्युक्त नाम आजकलके ढंगसे रक्खे हुए नाम नहीं हैं और न उनके उपर्युक्त प्रतीक आजकल की लिपिमें लिखे हुए शब्द हैं। ये बहुत पुराने ढंगके हैं। इनका सम्बन्ध भारतकी उस प्रारम्भिक सभ्यतासे है जब मनुष्योंका शब्दकोष बहुत ही परिमित था, जब वे आजकल के अशिक्षित, देहाती लोगोंके समान पशुपक्षियों, फल-फूलों, चांद-सूरज, जैसे प्रत्यक्ष दीखने और व्यवहारमें आने वाले पदार्थोंके नामपर ही अपने बच्चोंके नाम सुपर्ण, गरुड, नाग, जटायु, हाथी, सिंह, ऋषभ, मृग, मीन, कच्छप, बानर, रीछ आदि रक्खा करते थे, जब इन नामधारी विशेष पराक्रमी वीरोंके नामपर ही मनुष्योंमें विविध वंश, गोत्र और जातियोंकी स्थापना होती थी। जब आधुनिक ढंगकी परिमार्जित लिपियोंका आविष्कार न हुआ था और मनुष्य अपने वीरोंके प्रति श्रद्धा जाहिर करने और उनके जीवनकी गौरव गाथाओंको ज़िन्दा रखनेके लिये प्रस्तरशिलाओं, धातुपत्रों, मिट्टीकी बनी ईंटों और झंडोंपर चित्रलिपिके नियमानुसार उनके नामोंके चित्र बनाते थे।

ज्यों ज्यों समय बीता, ये वीरपुरुष मनु कुलकर प्रजापति आदि उपाधियोंसे विख्यात हुए। इनके नाम सूचक पशु-पक्षियोंके चित्र आदर और पूजाकी वस्तु बने, इन चित्रोंका इतना दौर-दौरा बढ़ा कि आख़िर कालकी भूलभुलय्यामें पड़कर मनुष्य अपने असली वीरोंको भुला बैठे वे उनके नामोंके प्रतीकरूप प्रयुक्त होने वाले पशु-पक्षियोंको ही अपने कुल और गोत्रका, अपने संघ और समाजका अपने धर्म और कर्मका स्रष्टा मानने लगे, वे मत्स्य, कच्छप वराह आदि जन्तुओंको ही अवतार समझने लगे। वे पुराणकथित नाग और सुपर्ण, वानर और रीछ आदि मानव जातियोंको तत्तत्शब्द-सूचक पशुपक्षियोंकी ही जातियां जानने लगे।

अपनी पुरानी मान्यताओं और प्रथाओंके साथ मोह छोड़ना मनुष्यके लिये बहुत ही मुश्किल है। इसीलिये भारतमें ब्राह्मी आदि लिपिका आविष्कार होजानेपर भी भारतीय लोगोंने अपनी पुरानी चित्रलिपिका साथ न छोड़ा, वे अपने महापुरुषों और उनकी मान्यताओंका सदा चित्र-लिपिमें ही संकेत करते रहे, उनके नामसूचक जन्तुओंकी आकृतियोंको ही अपने मुकुट, झण्डों और सिक्कोंपर दर्शाते रहे और आज तक उन्हीं प्रतीकोंसे बराबर काम ले रहे हैं।

इस तरह इन चिह्नोंका अध्ययन जहाँ भारतकी प्राचीन-तम सभ्यता, उसकी चित्रलिपि, उसका व्याकरण जाननेके लिए जरूरी है, वहां ये तीर्थंकरोंके वास्तविक नाम, वंश, जीवन और विचार जाननेके लिये भी जरूरी हैं।

जैन कलाके वृक्ष.—

इन चिह्नोंके अतिरिक्त जैनकलाके यह प्राचीन वृक्ष भी कुछ कम महत्त्वकी चीज़ नहीं हैं, जो जैनसाहित्यमें चैत्यवृक्ष अथवा दीक्षावृक्षके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये वृक्ष उपर्युक्त तीर्थंकरोंके क्रमसे निम्न प्रकार हैं।[1]

१. न्यग्रोध (बड) २. सप्तपर्ण (देवदारु) ३. साल ४ प्रियालु (खिरनीका वृक्ष) ५ प्रियंगु, (एकलता) ६ छत्र-वृक्ष ७. सिरस ८ नाग ९. मालवी १० पिलखन ११ टिंबरु १२ पाटल १३. जम्बू (जामन) १४. पीपल

[1] (अ) समवायांगसूत्र-उत्तम पुरुष अधिकार १७-१-३, पृ० ३१३; (अमोलक ऋषिकृत हिन्दीअनुवाद)
(आ) श्री जयसेन—प्रतिष्ठापाठ ८३५
(इ) हेमचन्द्र—अभिधान चिन्तामणि, ६२

१५· दधिपर्ण, १६· नन्दीवृक्ष, १७· तिलक, १८· आम, १९· अशोक, २०· चम्पा, २१· वकुल (मौलसिरि), २२· वेनस् (बांस), २३· धवा, २४· शालि।

जैन अनुश्रुति-अनुसार ये वे वृक्ष हैं, जिनके नीचे ध्यान लगाते हुये वृषभ आदि तीर्थंकरोंने केवलज्ञान उपजाया था। मालूम होता है कि ज्यों ज्यों समय बीता, ये वृक्ष योगी महात्माओंके ज्ञान अथवा बोधिके स्मारक होनेके कारण भारतीय लोगोंमें एक आदरकी वस्तु बन गये और महात्माओंकी मूर्तियों अथवा उनके प्रतीकोंके समान ही पूजनीय होगये।

इसीलिये जैनसाहित्यमें इनका उल्लेख करते हुए लिखा है, कि ये वृक्ष वेदिका-तोरणसे युक्त स्तूपोंके पास उगे रहते हैं, और इनके नीचे छत्र, चमर, ध्वजा, आसन आदि अष्ट प्रातिहार्योंसे युक्त अर्हन्तोंकी मूर्तियां स्थापित करके सुर-असुर लोग उनकी पूजा करते हैं।[1] पुरानी और मध्यकालीनकी जैनकलामें भी इन वृक्षोंको अर्हन्तोंकी मूर्तियों और उनके स्तूपोंके दोनों ओर खड़ा हुआ दिखलाया गया है।[2]

नाग और यक्ष :—

इनके अलावा जैनकलाके नाग और यक्ष भी भारतकी प्राचीन संस्कृति जाननेके लिये बड़े महत्त्वकी चीज़ें हैं।

यद्यपि जैन साहित्यमें वेदोंके प्रमुख देवता इन्द्रको अर्हन्तोंका एक परमश्रद्धालु सेवक बतलाया गया है—उसे अपनी इन्द्राणी-सहित पंचकल्याणक-उत्सवोंमें तीर्थंकरोंके अभिषेक करने, उनके समवसरण बनाने, आदिके रूपमें अनेक सेवाएँ करते हुये प्रकट किया गया है, उसके स्वर्ग-भवन देवगण, ऐरावत हाथी और वज्र-आयुधका भी काफी उल्लेख किया गया है, जैनकलामें उसकी मूर्तियों और चित्रोंको भी मन्दिरद्वारों और वेदियोंके आस-पास स्थान दिया गया है[3], परन्तु जैनसाहित्य और संस्कृतिमें जैन-कला और आख्यानोंमें जो महत्त्वका स्थान नाग, सुपर्ण, किन्नर और यक्ष देवताओंको दिया गया है वह इन्द्रको प्राप्त नहीं हुआ।

नाग-नागनियों और उनके अधिपति धरणेन्द्र अथवा फणीन्द्रको सदा अर्हन्तोंका परम उपासक माना गया है[4]। जब कभी अर्हन्तोंपर कोई उपसर्ग हुआ है, या जब उन्हें कोई भीड़ पड़ी है तो धरणेन्द्र अपनी पूरी शक्तिसे उनका सहायक हुआ है। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्तियोंके शिरोंपर बहुधा जो सर्पफण बने हुए मिलते हैं वे इसी बातके सूचक हैं। इसके अलावा जैनमूर्तियोंके दायें बायें सर्पफणधारी नाग लोग भी खड़े हुए मिलते हैं। यक्ष और यक्षिणियों और उनके अधिपति वरुण कुबेर अथवा वैश्रवणको अर्हन्त-शासनका मुख्य संरक्षक समझा गया है। कुबेर तीर्थंकरोंके गर्भावतार से ६ मास पूर्व ही उनके भावी माता-पिताके भवनोंपर रत्नवृष्टि करता हुआ बतलाया गया है[5]। और हिमाचल आदि पर्वतोंके ऊपर सरोवरोंके कमलोंमें रहने वाली[6] श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, कीर्ति, लक्ष्मी नाम वाली देवियोंको गर्भसमय तीर्थंकरोंकी माताओंकी सेविका कहा गया है।[7] इनके

१ (अ) सच्छत्ता सपडाका सवेइया तोरणेहि उववेया। सुर-असुर-गरुल-महिया चेइयरुक्खा जिणवराणं॥ ६-१८
(समवायाङ्ग सूत्र पृ० ३१४ अमोलकऋषि अनुवाद)
(आ) मालत्तय पीढत्तय जुत्ता मणिमाहपत्तपुप्फफला। तद्धउवरिमज्झगया चेदिगरुक्खा सुसोहंति॥
—त्रिलोकसार गाथा १०१३

२ (अ) Epigraphica Indica-Vol II, Part XIV, 1894, पृ० ३११, फलक-१, फलक-२
(आ) १३ वीं शताब्दीके हस्तलिखित कल्पसूत्रके ताड़पत्रोंपर केवलज्ञानी भगवान महावीरका एक चित्र अंकित है जिसके दोनों ओर शाल वृक्षके चित्र बने हुए हैं। यह शाल वृक्ष महावीरका चैत्यवृक्ष था, इस चित्रके लिये देखो "उत्तर हिन्दुस्तानमें जैनधर्म—चीमनलाल एम० ए० कृत, पृ० २५

३ उत्तराध्ययन ११-२२; कल्पसूत्र व्याख्या १, द्वादशानुप्रेक्षा; स्वयंभूस्तोत्र,

४ सूत्रकृताङ्गसूत्र १-६-२०, पद्मपुराण ३, ३०६—३३६, आदिपुराण १८,६२—१४८; हरिवंश पुराण २२,५१—८२; पार्श्वाभ्युदय ४,६४

५ पद्मपुराण ३,१५५, आदिपुराण १२,८४—१००; हरिवंश-पुराण ३७,१-३

६ "तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृतिकीर्ति बुद्धिलक्ष्मयः"। तत्त्वार्थसूत्र ३-१६.

७ आशाधर—प्रतिष्ठासारोद्धार ३, २३१—२३६.

भवनोंमें अत्यन्त सुन्दर लाखों अकृत्रिम जिनचैत्यालय बने हुए बतलाए गये हैं[1] जिनकी जैनलोग सदा अपने पूजा-पाठोंमें वंदना करते रहे हैं।

१ गोमुख, २ महायक्ष, ३ त्रिमुख, ४ यक्षेश्वर, ५ तुम्बुरु, ६ पुष्प, ७ वरनंदि, ८ श्याम, ९ अजित, १० ब्रह्म, ११ ईश्वर, १२ कुमार, १३ कार्तिकेय, (४ चतुर्मुख), १४ पाताल, १५ किन्नर, १६ किंपुरुष (गरुड), १७ गन्धर्व, १८ खेंद्र, १९ कुबेर, २० वरुण, २१भ्रकुटि, २२ सर्ववाहन (गोमेद), २३ धरणेन्द्र और २४ मातंग नाम वाले यक्षोंको क्रमशः ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंका शासन–देवता माना गया है। और १ चक्रेश्वरी, २ रोहिणी, ३ प्रज्ञप्ति, ४ वज्रशृंखला, ५ पुरुषदत्ता, ६ मनोवेगा (मोहिनी), ७ काली, ८ ज्वालामालिनी, ९ महाकाली (भ्रुकुटि), १० मानवी (चामुंडा), ११ गौरी (गोमेदिका), १२ गांधारी (विद्युन्मालिनी), १३ वैरोटी, १४ अनन्तमती (विजृंभिणी) १५ मानसी, १६महामानसी, १७जया (विजया), १८ अजिता(तारादेवी), १९अपराजिता, २०बहुरूपिणी २१ चामुण्डा, २२ कूष्मांडिनी २३ पद्मावती और २४ सिद्धायिका नामवाली यक्षिणियोंको क्रमशः तीर्थंकरोंकी शासन-देविया कहा गया है।[2]

जैन अनुश्रुति अनुसार यह यक्ष यक्षिणिया निरी जैन शासनकी रक्षिका ही नही हैं, यह ऋद्धि-सिद्धिप्रदायक अनेक विद्याओंकी अध्यक्षा भी हैं। इनकी यदि विधिपूर्वक यन्त्र-मन्त्र द्वारा साधना की जाय तो ये स्तम्भन, वशीकरण, उच्चाटन, शान्तिकरण आदि अनेक शक्तियोंको देनेवाली होती हैं। इन यक्ष-यक्षिणियों, ह्री, श्री, क्ली देवियों और नागोंके प्रति श्रमणसंस्कृतिको मानने वाले लोगोंमें कितनी श्रद्धा और भक्ति रही है, इसका पता जैनवाङ्मयके यन्त्र-मन्त्र वाले उस विपुल साहित्यसे लग सकता है, जो बहुधा कल्प और स्तोत्रोंके रूपमें लिखा गया है—जैसे ज्वालिनी-कल्प भैरव–पद्मावतीकल्प चक्रेश्वरीकल्प, घण्टाकर्णकल्प, कामचाण्डालीकल्प, पद्मावतीस्तोत्र, कूष्मांडिनीस्तोत्र, ज्वालिनी स्तोत्र विद्यानुशासन आदि।[3]

यह साहित्य जैनवाङ्मयमें कहीं बाहरसे आकर यों ही दाखिल नहीं हो गया है, स्वयं भगवान महावीरके प्रमुख गणधर गौतमने इन सबही बातोंको 'विद्यानुवाद' नामके दशवें पूर्वमें संकलित किया था। उसी परम्पराके आधारपर जैनाचार्योंने इस साहित्यका निर्माण किया है।

इन ग्रन्थोंमें इनकी विद्याओं और उनकी साधनाके अर्थ अनेक यन्त्र-मन्त्र आदिकी चर्चा की गई है। पद-पद पर इनकी स्तुति और नमस्कृति की गई है।

वीर-उपरान्त कालमें अकलंकादि जैनाचार्योंने संकटके समय इन्हीं देव-देवियोंकी आराधना करके अर्हन्तशासनकी रक्षा की है इतना ही नहीं जिनशासनके रक्षक देवता होनेके कारण ही जैनागम पूजापाठ और प्रतिष्ठाग्रन्थोंमें अर्हन्तबिम्ब प्रतिष्ठा एवं महाभिषेक आदि उत्सवोंके समय इन यक्ष यक्षिणियों श्री ह्री आदि देवियों तथा इन्द्र, अग्नि, यम नैऋत्य वरुण, मरुत कुबेर ईशान, नाग और सोम इन दशों दिशाओंके क्षेत्रपालोंकी पूजा आराधना करनेका विधान भी किया गया है।[4] इसके अलावा तीर्थंकरोंकी मूर्तियां बनानेके समय इनकी भी मूर्तियां बनानेका उल्लेख किया गया है।[5] जिनप्रतिमाओंके दाहिनी ओर यक्ष तथा बाईं ओर यक्षणी नीचेके भागमें नवग्रह और पीठके मध्यभागमें क्षेत्रपालकी आकृतियां बनानेके लिये कहा गया है।[6] कई जगह जिनप्रतिमाके दो तरफ यक्ष और यक्षणी दो चामरधारी, दो सिंह, दो हाथी और सिंहासनके बीचमें धर्मचक्र उसके दोनों ओर दो सुन्दर हिरण और उस चक्रके नीचे अर्हन्तका चिह्न बनानेके लिये

१ त्रिलोकसार २,९८५,१०१६, प्रतिष्ठापाठ ७०७-७०९.

२ प्रतिष्ठासारोद्धार ३,१२६–१६६, अभिधानचिन्तामणि १,४२–४६, अमरकोष १,१२–८३ (वीरसेवामन्दिर सरसावा प्रति), वास्तुसारप्रकरण जयपुर,पृ० १६८; Digambar Jain Iconography-by Jus Burges, 1904 P. 3-6, हरिवंशपुराण २२,६२-६८, विद्यानुशासन-तृतीय उद्देश श्लोक ८-३७ (जयपुर प्रति)

३ (अ) पं० भुजबली शास्त्री, 'जैनसिद्धान्त भास्कर', भाग ४ किरण ३, पृ० १३५—१४२

(आ) पं० जुगलकिशोर, अनेकान्त-वर्ष १ पृ ४२७-४३२

४ प्रतिष्ठासारोद्धार ३-१२७—१७९।

५ यक्षादयो जिनार्चाङ्कमस्तकान्तप्रतिष्ठया।
प्रतिष्ठेयास्ततोन्येषां प्रतिष्ठाविधिरुच्यते ॥ ६-४२
-प्रतिष्ठासारोद्धार

६ सोमसेन भट्टारक—त्रैवर्णिकाचार ६. ३१, ३२
प्रतिष्ठासारोद्धार १-६४

कहा गया है।[1]

कुशनयुगकी मथुराकी पुरानी जैनकलामें इन उपर्युक्त देवी-देवताओंको इतना महत्त्व दिया गया है कि अर्हन्त-प्रतिमाओंके सिंहासनोपर तीर्थंकरोंके चिह्न न देकर केवल इन्हें ही उत्कीर्ण किया गया है। बीचमें धर्मचक्र, उसके दोनों तरफ दो हिरण, उनके पीछे एक ओर कुबेर, हाथमें धनकी थैली लिये हुए, दूसरी ओर हारिती बायें घुटनेपर बच्चेको बिठाये हुये, प्रतिमाके आसपास ये दो चामरधारी और उनके ऊपर नवग्रह।[2] कई मूर्ति-शिलाखण्डोंपर जिनबिम्बोंके नीचे काली दुर्गा पार्वती, गणेश कुबेर आदिकी आकृतियाँ बनी हुई हैं।[3]

बुन्देलखण्डके प्राचीन नगर देवगढ़के १२वी शताब्दीके एक जैनमन्दिरके बरामदेमें उपर्युक्त शासन देवियोंमें २० देवियोंकी वाहन-आयुध-आभूषण-सहित अत्यन्त मनोहर मूर्तियां अभी तक मौजूद हैं।

जैन साहित्यमें जहां कहीं जैनमन्दिरों और अर्हन्त-बिम्बोंका वर्णन आया है वहां उन्हें यक्षमिथुनकी मूर्तियों और चित्रोंसे संयुक्त बतलाया गया है। आज भी बहुधा जैन मन्दिरोंमें तीर्थंकर-मूर्तियोंके दायें बायें मिथुनयक्षकी मूर्तियां स्थापित हुई मिलती हैं। कितने ही मन्दिरोंमें तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंसे पृथक भी यक्ष-यक्षणियों की मूर्तियां रक्खी हुई मिलती हैं। गन्धर्व और अप्सराओंकी अनेक मूर्तियां और चित्रस्तूपों तथा मन्दिरोंके द्वारों, स्तम्भों और गुंबदोंमें नाचती गाती और अनेक प्रेमपूर्ण क्रीडाएँ करती हुई दिखाई देती हैं। इसके लिये मथुराके पुराने स्तूपोंके तोरणद्वार और ११वी ई० शताब्दीका बना हुआ आबूका देलवाडा मन्दिर विशेष दर्शनीय है।

इन यक्ष-यक्षणी, गन्धर्व, अप्सरा-सम्बन्धी साहित्य और कलापरसे भारतकी पुरानी जातियोंके रंगरूप, डील-डौल, अंगोपाङ्ग, वस्त्राभूषण, अस्त्र-शस्त्र, आसन-वाहन, कला-कौशल, विद्या-पराक्रम, धन-वैभवका पूरा पूरा पता लगता है। इनमें कितने ही यक्षयक्षिणियोंके कई कई मुँह और कई कई हाथ दिखाये गये हैं। कितनोंके मुँह पशु आकारके बने हैं, इनकी सवारीके वाहन बहुत ही अजीब हैं। उपर्युक्त यक्षोंके वाहन क्रमशः निम्न प्रकार हैं:—

१ बैल, २ हाथी, ३ मोर, ४ हाथी, ५ गरुड, ६ हिरण, ७ सिंह ८ कबूतर, ९ कछुआ, १० कमल, ११ बैल, १२ हंस, १३ मोर, १४ मच्छ, १५ मछली, १६ सूअर, १७ पक्षि, १८ शंख, १९ हाथी, २० बैल, २१ बैल, २२ मनुष्य, २३ कछुआ, २४ हाथी। और यक्षिणियोंके वाहन क्रमशः निम्न प्रकार हैं—१ गरुड, २ लोहासन ३ पक्षि, ४ हंस ५ हाथी, ६ घोडा, ७ बैल, ८ भैंसा, ९ कछुआ, १० सूअर, ११ हिरण, १२ मच्छ, १३ नाग, १४ हंस, १५ शेर, १६ मोर, १७ सूअर, १८ हंस, १९ अष्टापद, २० नाग, २१ मच्छ, २२ शेर २३ कमल, २४ शेर।

इनके कितने ही प्रकारके रंग-रूप, डीलडौल, वेषभूषा, अस्त्र-शस्त्रोंसे पता लगता है कि ये लोग सुर-असुर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत, विनायक-कुष्माण्ड आदि अनेक जातियोंमें बँटे थे। ये बड़े पराक्रमी और समृद्धिशाली थे। इनके कई-कई मुँह और हाथोंसे, कितने ही मानवी और पशु-समान चेहरोंसे पता लगता है कि ये बड़े मायावी थे, ये अपने कई तरहके सौम्य और भैरवरूप बनाना जानते थे।[5] इनके अजीब-अजीब पशु-पक्षिरूप वाहनोंसे पता लगता है कि ये बड़े कलाकुशल थे— तरह तरह के पशु-पक्षियोंके आकार वाले वाहन बनाकर उनमें सवार होते थे। और शायद उनसे आकाशमें भी उड़ते थे। इनकी विविध

१ —वास्तुसार प्रकरण—जयपुर-सं १९३६—पृ० ९३-९४

२ Catalogue of the Archeological Museum at Mathura, 1910 Image No. B, 65, B. 75.

३ Ibid catalogue मूर्तिशिला नं० D. ६, D. ७

४ त्रिलोकसार ९८ -९८९, यशस्तिलकचम्पू - ५वां आश्वास पृ० २४६ (निर्णयसागर प्रेस, १९०३)।

५ (अ) "कर्मभूमौ भारते मनुष्यैः सहवो देवाः" ॥ १३४ ॥ सुरासुरयक्षराक्षसभूतप्रेतविनायककुशमाण्डविकृताननाः ॥१३५॥ निरुद्धाभारवेषाः ॥१३६॥ सौम्य भैरवा योगिन्यश्च नागाश्च मानवैः सह रूपगाः असंख्याता संचरन्ति ॥१३७॥ —बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र अध्याय ३

(आ) मायेत्यसुराः। शत ब्रा० १०-५-२-२०

विद्यार्योंसे पता लगता है कि ये लोग मायाविद्या, आयुध-विद्या, आयुर्विद्या, जादूटूना विद्या, नृत्य, संगीत, वादित्र, वास्तु, चित्र और मूर्तिकला आदिमें बड़े निपुण थे। इन्हीं गुणों के कारण ये लोग भारतीयसाहित्यमें मायावी, विक्रियाधारी, खग, खचर, विद्याधर आदि नामोंसे उल्लिखित हुए हैं।

वैदिकसाहित्यसे पता लगता है कि ये लोग अधिकतर कृष्णवर्णके थे।[१] मृध्रवाच थे अर्थात समझमें न आनेवाली प्राकृतिक भाषायें बोलते थे।[२] इनमें विवाह आदिके सम्बन्धमें कोई विशेष व्यवस्था बनी हुई न थी। ये संस्काररहित थे। ये वैदिक ब्राह्मणोंके देवतावाद और याज्ञिक क्रियाकाण्डको न मानते थे। ये पितरोंमें श्रद्धा रखते थे और वीर उपासक थे। ये अपने अपने पित्रों के लिए श्राद्ध-तर्पण करते थे। ये रुद्र, वरुण, मरुत आदि अपनी अपनी जातियोंके वीरोंकी मूर्तियां बनाते थे।[३] वैदिक ऋषि इन्हें 'मूरदेवा' अर्थात जड़ देवता कहकर इन मूर्तियोंकी निन्दा करते थे।[४] ये इन पित्रों और वीरोंको अपनी जाति और संस्कृति, अपने नगर और ग्रामोंके संरक्षक मानकर प्रत्येक नगर और ग्रामसे बाहर अनेक नाग-यक्ष-यक्षिणियोंके मन्दिर बनवाते थे। जैसे इनके मन्दिर आज भारतके ग्राम और नगरोंसे बाहर बने हुए हैं। विशेष तिथियोंमें उनके उत्सव मनाये जाते हैं, इनके उद्यानोंमें कहीं कहीं से आकर साधु लोग ठहर जाते हैं; वैसे ही महावीरकालमें भी इनके अनेक मन्दिर नगर, ग्रामोंके बाहर बने हुए थे। उनके उत्सव मनाये जाते थे।[५] उनके उद्यानोंमें श्रमण लोग आकर ठहरते थे। स्वयं महावीर अपनी केवलज्ञान-प्राप्तिके समय जृम्भिक ग्रामके बाहिर वैयावर्तनामक यक्षमन्दिरके उद्यानमें ठहरे हुए थे।[६]

नाग, यक्ष लोगोंके साथ इस प्रकार जैनसंस्कृतिका घनिष्ट सम्बन्ध होनेके कारण यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि भारतकी श्रमणसंस्कृतिकी अन्य शाखाओंकी तरह जैनसंस्कृति के वास्तविक जन्मदाता वैदिक आर्य नहीं बल्कि भारतके मूलवासी यक्ष गन्धर्व, नाग राक्षस आदि लोग हैं। उन्हीं की यन्त्रों-मन्त्रों वाली दृष्टिमेंसे अध्यात्मवादकी सृष्टि हुई है। उन्हींकी ऋद्धियोंको सिद्ध करनेके लिये कायक्लेश वाले अनुष्ठानोंमेंसे योगसाधनाकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी वीर-उपासनावाली वृत्तिमेंसे अर्हन्तोंकी उपासना, उनके चैत्य और स्तूप, उनकी मूर्तियाँ और मन्दिर बनानेकी कलाका विकास हुआ है। इसलिये जैनअनुश्रुतिके अनुसार यक्ष-यक्षणियोंका अर्हन्तशासनके देवी-देवता कहा जाना, जैन-साहित्यमें उनके लिये स्तुति और नमस्कृतिके पाठोंका होना, और जैन-कलामें उनकी मूर्तियोंका अर्हन्त-मूर्तियोंके साथ साथ पाया जाना स्वाभाविक ही है। यह सब कुछ होते हुये भी श्री रामकृष्णदासजीका यह कहना कि अप्सराओंकी भावनाका बौद्ध और जैनसम्प्रदायोंमें कहीं पता नहीं, निरा भ्रममूलक जान पड़ता है।[७]

इस तरह जैनकला भारतके प्रागैतिहासिक जीवनको जाननेके लिये एक अनन्य साधन है। परन्तु कितना खेद है, कि जैनसमाजका इधर-तनिक भी ध्यान नहीं है, इसीलिये यह कला आज अज्ञानके कारण विलुप्तसी होती जारही है, इसका पता लगाने, इसकी सूची बनाने, इसकी रक्षा करने, इसका संग्रह करने और फोटो आदि लेनेका जैनसमाजकी ओरसे कोई प्रबन्ध नहीं है, जिसके शीघ्र होनेकी बहुत बड़ी ज़रूरत है। आशा है जैनसमाज इस ओर ध्यान देगा, और शीघ्र ही अपना एक पुरातत्त्व-विभाग खोलकर जैन-इतिहास और कलाकी अस्त-व्यस्त पड़ी सारी सामग्रीको संकलित करनेका श्रेय प्राप्त करेगा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

---

१ "श्रद्धा देवानसृजत ते शुक्लं वर्णमपुष्यन्। राध्याऽसुरॉन्ते कृष्णा अभवन्॥" —काठकसंहिता ६-११

२ ऋगवेद ७-१८-१३, ७-६-३।

३ ऋगवेद १-३३-६; १-२५-१३; ५-१५२-१५।

४ (अ) ऋगवेद १०-८७-१४।

(आ) I am therefore of opinion that there were images of gods in Rgvedic times, though their worship was comdened by some of the advanced Aryan tribes (A.C. Das Rgvedic culture 1925, P145)

५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६-३३।

६ आचारागसूत्र २-२४-३५।

७ रामकृष्णदास। भारतीय मूर्तिकला १९३९ पृ० ४६

कविवर भगवतीदास और उनकी रचनाएँ

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

दिगम्बर जैनसमाजमें हिन्दीभाषाके अनेक गद्य-पद्य-लेखक विद्वान और कवि हो गये हैं; परन्तु दिगम्बर जैनसाहित्यकी कोई मुकम्मल सूची न होनेसे अधिकांश विद्वानोंकी वे अमूल्य कृतियां आँखोंसे ओझल हुई यत्र तत्र ग्रन्थ-भण्डारोंमें ही बन्द पड़ी हैं और दीमकों चूहों आदि का भोज्य बन रही हैं। इसी कारण अधिकांश जनता हिन्दी जैनसाहित्यसे प्रायः अपरिचित है। फिर भी हिन्दी जैन-साहित्यके जो ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें आए हैं उनपरसे इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि भारतीय हिंदीसाहित्य के इतिहासमें जैनविद्वानोंका भारी हाथ रहा है—उनकी बहुमूल्य अनूठी रचनाएँ हिन्दी साहित्यको अनुपम देन हैं। कविवर बनारसीदास आदि कुछ जैनकवियोंकी रचनाएँ सामने आनेसे विद्वान तथा सर्व साधारणजन उनका रस स्वाद ले रहे हैं और देख रहे हैं कि वे कितनी सरस तथा गम्भीर अर्थको लिए हुए हैं।

कविवर भगवतीदास पं० बनारसीदासके समकालीन विद्वान ही नहीं, किन्तु उनके साधर्मी पंचमित्रोंमेंसे तृतीय थे*। बनारसीदासने अपने नाटक समयसारमें इनका 'सुमति' विशेषणके साथ उल्लेख किया है। आगरा मुग़ल बादशाहतके जमानेमें खूब समृद्ध रहा है, शाहजहाँके राज्य-कालमें तो उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ी है। जयपुरके समान आगरा भी दि० जैन विद्वानोंका कुछ समय तक केन्द्र रहा है। कविवर बनारसीदास, पं० रूपचन्दजी आदि विद्वानोंने अपने निवाससे उसे पवित्र किया था। कविवर भगवतीदासकी तो वह जन्म भूमि ही थी। उस समय आगरा में ओसवाल जातिके कटारियागोत्री साहू दशरथलालजी एक बड़े ही भद्र पुरुष थे। आप आगरेके प्रसिद्ध व्यापारियोंमेंसे थे और पुण्योदयवश आपपर लक्ष्मीकी बड़ी कृपा थी। विशाल सम्पत्तिके स्वामी होते हुए भी अभिमान आपको छूकर नहीं गया था। आपके सुपुत्र साहूलालजी भी पितासे किसी बातमें कम न थे, बड़े ही धर्मात्मा और उदार सज्जन थे। इन्हीं साहूलालजीके सुपुत्र हमारे चरित्र नायक पं० भगवतीदास हैं, जो एक बड़े ही उदार तथा सदाचारी विद्वान थे आप १७वीं १८वीं शताब्दीके प्रतिभा सम्पन्न कवि थे और आध्यात्मिक समयसारादि ग्रन्थोंके बड़े ही रसिक थे। आपका अधिक समय तो अध्यात्म ग्रन्थोंके पठन-पाठन तथा गृहस्थोचित षट्कर्मोंके पालन करनेमें व्यतीत होता था और शेष समयका सद्व्यय विद्वद्गोष्ठी, तत्त्वचर्चा एवं हिन्दी भाषाकी भावपूर्ण कविताओंके करनेमें होता था। आप प्राकृत-संस्कृत तथा हिन्दी भाषाके अभ्यासी होनेके साथ साथ उर्दू, फारसी, बंगला तथा गुजराती भाषाका भी अच्छा ज्ञान रखते थे, इतना ही नहीं, किन्तु उर्दू और गुजरातीमें तो अच्छी कविता भी करते थे। कवितापर आपका असाधारण अधिकार था। आपकी काव्यकला हिंदी साहित्य-संसारमें निराली छटाको लिये हुए हैं उसमें कहींपर भी शृङ्गार रस जैसे रसोंका और स्त्रियोंकी शारीरिक सुन्दरता का वह बढ़ा चढ़ा हुआ वर्णन उपलब्ध नहीं होता, जिससे मानव आत्मा-पतनकी ओर अग्रसर होता है। आपकी रचनाएँ प्रायः वैराग्य रससे परिपूर्ण हैं और बड़ी ही रसीली, मनोमोहक तथा पढते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है और छोड़नेको जी नहीं चाहता। उनके अध्ययन और तदनुकूल वर्तनसे मानव जीवन बहुतकुछ ऊँचा उठ सकता है।

वास्तवमें हमारे कविवरकी काव्य-कलाका विशुद्ध लक्ष्य आत्म-कल्याणके साथ साथ लोककी सच्ची-सजीव-सेवा रहा

---

* रूपचंद पंडित प्रथम दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतिय भगौतीदास नर कौरपाल गुनधाम ॥ २६ ॥
धमदास ये पंच जन मिलि बैठे इकठौर।
परमारथ चरचा करैं इनके कथा न और ॥ २७ ॥
—नाटक समयसार

है। जो अज्ञानी मानव संसार-पंकमें फंसे हुए हैं, विषय-वासनाके गुलाम हैं तथा आत्म-रतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं उन्हें संबोधित करके सम्मार्गपर लगानेका आपने भरसक प्रयत्न किया है। आपकी कविताके उच्चादर्शका पता ब्रह्मविलासकी कविताओंका अध्ययन करनेसे सहज हीमें चल जाता है। उसमें लोकरंजन और ख्याति-लाभ-पूजादि का कोई स्थान नहीं रहा है। अलंकार तथा प्रासाद गुणोंसे विशिष्ट होनेके साथ साथ आपकी रचना सरल, सरस एवं गंभीर अर्थको लिये हुए हैं। कवितामें आपने कहीं कहींपर उर्दू, गुजराती और अपभ्रंश प्राकृतके शब्दोंका बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है।

कवि केशवदासजी हिन्दीके एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं, जिनको शृङ्गार रसमें अगाध प्रेम था। इतना ही नहीं किन्तु वृद्धावस्थामें भी शृङ्गार-विषयक लालसा कम नहीं हुई थी। केशोंके सफेद हो जानेपर भी उनका हृदय विलासताकी कलुषित कालिमामें कलुषित था। परन्तु वृद्ध होनेके कारण वे अपनी वासनाओंकी पूर्ति करनेमें अशक्य हो गए थे युवतियों एवं तरुण बालाओंने सफेद केशोंको देखकर उनके समीप जाना आना बन्द कर दिया था, इससे उन्हें असह्य पीड़ा होती थी अपनी इस अन्तर्पीड़ाको उन्होंने निम्न दोहेमें व्यक्त किया है:—

केशव केशनि असिकरी, जैसी अरि न कराय।
चन्द्रबदन मृगलोचनी, बाबा कहि मुरि जाय॥

केशवदासजीने अपने को तथा रामकवनाको संतुष्ट करने के लिये 'रसिकप्रिया' नामकी एक पुस्तक बनाई थी, जिसमें नारीके नखसे शिखातक सभी अंगोंका अनेक तरहकी उपमाओंसे अलंकृत कीर्तन किया गया है।

कहा जाता है कि कवि केशवदासने इस पुस्तककी एक प्रति कविवर भगवतीदासके पास समालोचनार्थ भेजी थी, कविवरने उसे देखकर एक छन्द बनाया और 'रसिक-प्रिया' के पृष्ठ पर लिखकर वह पुस्तक उन्हींके पास वापिस भेज दी, वह छन्द इस प्रकार है:—

"बड़ी नीति लघु नीति करत है वाय-सरत बदबोय-भरी।
फोड़ा आदि फुनगनी मंडित सकल देह मनु रोग-दरी॥
शोणित-हाड़-मांस-मय मूरति तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव 'रसिकप्रिया' तुम कहाकरी॥"

इस समालोचना परसे पाठक कविवर भगवतीदासजी की प्रकृति, परिणति और चित्तवृत्तिका कितना ही अनुभव कर सकते हैं। अस्तु। कविवरकी इस समय तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं। अनेकार्थनाममाला, लघुसीतासतु और ब्रह्मविलास। इन तीनों रचनाओंमेंसे अब तक सिर्फ ब्रह्म-विलास ही प्रकाशित हुआ है। शेष दोनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। इनका शायद नाम भी अब तक प्रकाशमें नहीं आया था। हालमें वीरसेवामन्दिरसे अनेकान्त द्वारा प्रकाशमें लाई जानेवाली देहली पंचायती मन्दिरके भण्डारकी ग्रंथ-सूचीपरसे इन दोनों ग्रन्थोंका पता चला है। इन तीनोंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—

१ अनेकार्थ नाममाला—यह एक पद्यात्मक कोष है, जिसमें एक शब्दके अनेकानेक अर्थोंका दोहोंमें संग्रह किया गया है। यह पंचायती मन्दिर देहलीके एक गुटकेमें संगृहीत है। गुटका प्राचीन और वह कोई ३०० वर्षसे भी अधिक पुराना लिखा हुआ जान पड़ता है, लिपि पुरानी साफ तथा सुन्दर है, परन्तु कहीं कहीं लिखनेकी कुछ अशुद्धियाँ जरूर हैं जो दूसरी किसी प्रति परसे ठीक की जा सकती हैं। ग्रन्थ की प्रशस्तिमें कविवरने अपना कोई परिचय न देकर रचना के समयादिकको ही व्यक्त किया है। रचना संवत् १६८७ में आषाढ कृष्णा तृतीया गुरुवारके दिन श्रवण नक्षत्रमें शाहजहांके राज्यकालमें पूरी की गई है। परन्तु यह रचना किस स्थानपरकी गई है यह प्रशस्तिमें दिया जरूर है पर ठीक उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः इसकी और लघु सीता-सतुकी रचना देहली या शाहदरा दोनोंमेंसे किसी एक स्थान परकी गई है। प्रशस्तिमें 'सिहरदि' पाठ दिया है जो कुछ अशुद्ध जान पड़ता है, उसके स्थान पर 'सहदरि' पाठ अधिक उपयुक्त जँचता है। यदि यह ठीक हो तो इनका रचना स्थान सहदरा (शाहदरा) हो सकता है, जो देहलीसे मिलता है; क्योंकि प्रशस्तिमें देहलीकी भट्टारक गद्दीके तीन भट्टारकों—गुणचन्द्र, सकलचन्द्र और महेन्द्रसेनके नाम दिये हैं। रचनाके समय भ० सकलचन्द्रके पट्टपर महेन्द्रसेन विराजमान थे। प्रशस्तिके पद्य इस प्रकार हैं:—

सोलह सय रु सतासियइ, साढि तीज तम पाखि।
गुरु दिनि श्रवण नक्षत्र भनि, प्रीति जोगु पुनि भाषि॥६६॥
साहिजहाँके राजमहिं, 'सिहरदि' नगर मंझारि।

अर्थ अनेक जु नामकी, माला भनिय विचारि ॥६७॥
गुरु गुणचंदु अनिंद रिसि, पंच महाव्रत धार।
सकलचन्द तिस पट्टभनि, जो भवसागर तार ॥६८॥
तासु पट्ट [पुनि] जानिए, रिसि मुनि माहिंदसेन।
भट्टारक भुवि प्रगट जसु, जिनि जितियो रणि मैनु ॥६९॥
तिंह ज सिहइ, [कविसु भगवतीदासु।
तिनि लघुमति दोहा करे, बहुमति करहु न हासु ॥७०॥
लघु दीरघ मात्रा वरण, सबद भेद अवलोइ।
बुधिजन सबइ संवारियहु, हीन अधिक जहं होइ ॥७१॥

इति श्री अनेकार्थ नाममाला पंडितभगोतीदासकृत दोहा बंध बालबोध-देसभाषा समाप्तं ॥छ॥

प्रस्तुत ग्रन्थोंमें तीन अध्याय हैं और वे क्रमशः ६७ १२२, और ७१ दोहों को लिये हुए हैं। यह कोष हिन्दी भाषा-भाषी जनताके लिये बड़ा ही उपयोगी है। इसकी रचना बनारसीनाममालासे १७ वर्ष बाद हुई है। अनेकार्थ शब्दों का हिन्दीमें ऐसा सुन्दर पद्यबद्ध कोष अब तक दूसरा देखनेमें नहीं आया। कविवर भगवतीदासजीकी भारतीय हिन्दी-साहित्यको यह अनुपम देन है। ग्रन्थकी रचना सुन्दर और सरस है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये 'सारंग' और 'गो' इन दो शब्दोंके वाचक अनेक अर्थों वाले पद्य नीचे दिये जाते हैं, जिनसे प्रस्तुत कोषके महत्वका सहज हीमें पता चल सकेगा:—

कुरकटु कासु कुरंगु कपि कोकु कुंभु कोदंडु।
कंजरु कमल कुठारु हलु कोडु कोपु पविदंडु ॥५॥
करटु करमु केहरु कमटु कर कौलाहल चोरु।
कंचनु काकु कपोतु अहि कंबल कलसरु नीरु ॥६॥
खगु नगु चातिगु खड्ग खलु खरु खोटनउ कुदालु।
भूधरु भूरुह भुवनु भगु भटु भेकजु अरु कालु ॥७॥
मेघु महिषु उत्तिम पुरुषु नृपु पारसपाषानु।
हिमु जसु ससि सूरजु सलिलु बारह अंग बखानु ॥८॥
दीपु कूपु कज्जलु पवनु मेघु सबल सब भृङ्ग।
कवि सुभगोती उच्चरइ ए कहियत सारंग ॥९॥

—इति सारंगशब्दः।

गो धर गो तरु गो दिसा गो किरना आकास।
गो इंद्री जल छन्द पुनि गोवानि जन भास ॥५॥

—इति गोशब्दः।

लघु सीता सतु— इस ग्रंथमें सीताके सतीत्वका अच्छा चित्रण किया गया है। यह भी पंचायती मंदिर देहलीके उसी गुटकेमें है जिसका परिचय ऊपर दिया गया है, और यह उस गुटकेमें शुरुके १७ पत्रोंमें दिया हुआ है। परन्तु ग्रन्थ-सूचीमें इसका नाम नहीं दिया गया। मालूम होता है ग्रन्थ-सूची बनाते समय लघु सीता सतु और अनेकार्थनाममाला इन दोनोंको एक ही ग्रन्थ समझ लिया गया है। ये दोनों ग्रंथ गुटकेके २९ पत्रोंमें समाप्त हुए हैं। इनकी रचना संवत् १६८७ में चैत्र शुक्ला चतुर्थी चंद्रवारके दिन, भरणी नक्षत्रमें सिहरादि नगरमें (दिल्ली-शाहदरा) में की गई है, जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति-पद्योंमें प्रकट है:—

इन्द्रपुरी सम सिहरदि पुरी, मानवरूप अमरद्युति दुरी।
अग्रवाल श्रावक धनवन्त, जिनवर भक्ति करहिं समकंत ॥
तहं कवि आइ भगोतीदास, सीतासुत भनियो पुनि आसु।
बहु विस्तरु अरु छंद घनेरा, पढत प्रेम बाढइ चित्त केरा ॥
एक दिवस पूरन हइ नाहीं, अति अभिलाष रहइ मनमाहीं।
... ... ॥

दोहा—जिहिं कारण लघु सुत कर्‌यो, देस चौपई भास।
छंद बूझ सबु छांडि कह, राखे बारह मास ॥
सोरठा—संवतु सुणहु सजान, सोलह सइ रु सतासियइ।
चैति सुकल तिथि दान, भरणी ससि दिनि सो भयो ॥

इस ग्रंथमें बारह मासोंके मंदोदरी-सीता प्रश्नोत्तरके रूपमें कविने रावण और मंदोदरीकी चित्तवृत्तिका परिचय देते हुए सीताके दृढतम सतीत्वका जो चित्रण किया है वह बड़ा ही सुन्दर और मनमोहक है। अतः यह ग्रंथ भी सर्व-साधारणके लिये बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पाठकों की जानकारीके लिये आषाढ मासका प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है:—

(मंदोदरी)

चौपाई—

तब बोलइ मंदोदरी रानी। रुति अषाढ घन घट घहरानी ॥
पीय गए ते फिर घर आवा। पामर नर नित मंदिर छावा ॥
जबहि पपीहे दादुर मोरा। हियरा उमग धरत नहि मोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा। तिय पिय बिनु लिहि उसन उसासा ॥
नन्हीं बूँद झरत झरलावा। पावस नभ आगमु दरसावा ॥

दामिनि दमकत निशि अंधियारी। विरहनि काम बान उरि मारी॥
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी। जानत काहे भई मति बौरी॥
मदन रसायनु इह जगसारू, संजमु नेमु कथन विवहारू॥
दो०—जब लगु हंस शरीरमहिं, तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहिं भिक्षा भमहिं, इंउ भूला मगु लोगु॥
सो०—सुख विलसहि परवीन, दुख देखहिं ते बावरे।
जिउ जल छांडे मीन, तडफि मरहिं थलि रेतकइ॥
पुनिहां—यहु जग जीवन लाहु न मनु तरसाइए।
तिय पिय सम संजोगि परमसुहु पाइए॥
जो हु समउमखहारु तिसहिं सिख दीजिए।
जायत होइ अयारु तिसहिं क्या कीजिये॥

(सीता)

शुक-नासिक मृग-दृग पिक-बइनी जानुकि वचन लवइसुखिरइनी
अपना पिउ पय अमृत जानी, अवरपुरिष रवि-दुग्ध-समानी॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनंदा, पिय गुन सरत बढत जसकंदा
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, तिनि बालिम संगु नाहीं दूरी॥
जिनि पर पुरिष तियारति मानी, लखेनि सो आठि विकानी?
करत कुशील बढत बहु पापू, नरकि जाइ तिउ इइ संतापू॥
जिउ मधुबिंदु तनूसुख लहिये, शील बिना दुरगति दुख सहिये।
कुशल न हुइ परपिय रस खेली, जिउ सिसु मरइ उरग-सिउँ खेली
दोहरा—सुख चाहइ ते बांवरी पर पति संग रतिमानि।
जिउकपि शीत विथा मरइ तापत गुञ्जा आनि।
सोरठा—तृष्णा तो न बुझाइ जलु जब खारी पीजिये।
मिरगु मरइ धपि धाइ जल धोखइथलि रेतकइ॥
पुनिहां—पर पिय सिउँ करि नेहु सु जनमु गँवावना।
दीपगि जरइ पतंगसु पेखि सुहावना॥
पररमणी रस रंग कवणु नरु सुहु लहइ।
जब कब पूरी हानि महति जिहं अहि रहइ॥

यहां पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इन दोनों अप्रकाशित ग्रन्थोंमेंसे 'अनेकार्थनाममाला' के प्रकाशनकी योजना वीरसेवामन्दिर में होगई है। वीरसेवामंदिरके अधिष्ठाता पं० जुगलकिशोर मुख्तार उसे शीघ्र ही 'शब्दानुक्रमकोष' आदिसे अलंकृत करके अपनी 'प्रकीर्णकपुस्तकमाला' में प्रकाशित करना चाहते हैं।

३ **ब्रह्मविलास**—यह भिन्न भिन्न विषयों पर लिखी गई ६७ कविताओंका एक सुन्दर संग्रह है। इनमेंसे कितनी रचनाएँ तो इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं एक एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूपमें संकलितकी जा सकती हैं। ब्रह्मविलासकी कविताएँ काव्य-कलाकी दृष्टिसे तमाम रीतियों शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारसे परिपूर्ण हैं, स्थान स्थानपर अनुप्रास और यमक की झलक भी दिखाई देती है, साथ ही इसमें अन्तर्लापिका बहिर्लापिका और चित्रबद्ध काव्योंकी रचना भी पाई जाती है।। प्रस्तुत संग्रहमें यद्यपि सभी रचनाएँ अच्छी हैं परन्तु उन सबमें १ चेतन कर्मचरित्र, २ पंचेन्द्रिय-सम्वाद, ३ मन-बत्तीसी, ४ बाईस परिषहजय, ५ वैराग्यपचीसिका, ६ स्वप्न बत्तीसी, ७ सूवाबत्तीसी और ८ परमात्मशतक आदि रचनाएँ बड़ी ही चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद जान पड़ती हैं। ये अपने विषयकी अनूठी रचनाएँ हैं। कविवर भक्तिरसके भी रसिक थे, इसीसे आपकी कितनी ही रचनाएँ भक्तिरससे ओत-प्रोत हैं। इस ग्रंथके दो चार पद्योंको ही यहाँ बतौर नमूनेके दिया जाता हैं:—

राग न कीजे जगतमें, राग किये दुःख होय।
देखहुकोकिल पींजिरे, गहि डारत हैं लोय॥
परिग्रह संग्रह ना भलो, परिग्रह दुखको मूल।
माखी मधुकी जोरती, देखहु दुखको शूल॥
चेतन चन्दन वृक्ष सों, कर्म साँप लपटाहिं।
बोलत गुरु वच मोरके, सिथिल होय दुर जाहिं॥

केई केई बेर भये भूपर प्रचंड भूप,
बडे बडे भूपनके देश छीन लीने हैं।
केई केई बेर भये सुर भौनवासी देव,
केई केई बेर तो निवास नर्क कीने हैं॥
केई केई बेर भये कीट मल मूत माँहि,
ऐसी गति नीच बीच सुखमान भीने हैं।
कौडीके अनंग भाग आपन बिकाय चुके,
गर्व कहा करे मूढ ! देख ! रग दीने हैं॥

जे लागे दश बीस सों, ते तेरह पंचास।
सोरह बासठ कीजिये, छांड चारको वास॥

जोलों तेरे हिये भर्म तोलों तू न जाने मर्म
कौन आप कौन कर्म कौन धर्म सौंच है।
देखत शरीर चर्म जो न सहे शीत धर्म
ताहि थोय माने धर्म ऐसे भ्रम माच है॥

नेक हू न होय नर्म बात बात माहिं गर्म,
रहो चाहे हेम हर्म बस नाहीं पाँच है।
एते पै न गहे शर्म कैसे हूँ प्रकाश पर्म,
ऐसे मूढ भर्ममाहिं नाचै कर्म नाच है॥

इस तरह कविवर भगवतीदासजीकी उपलब्ध सभी रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं। ब्रह्मविलासमें आपकी रचनाएँ सं० १७३१ से १७५५ तककी उपलब्ध होती हैं। इसके बाद कितने समय आप और जीवित रहे, यह कुछ भी मालूम नहीं होता, और न प्रयत्न करनेपर यही मालूम हो सका है कि आपका जन्म और मरण किस संवत्‌में हुआ है। इस समय आपकी संवत् १६८७ से १७५५ तककी जो भी रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनसे तो सिर्फ यही कहा जा सकता है कि अनेकार्थनाममालाकी रचना करते समय आपकी उम्र कमसे कम २४-२५ वर्षकी जरूर रही होगी, यदि यह अनुमान ठीक हो तो आपका जन्म संवत् १६६० या इसके आस-पासका अनुमानित किया जा सकता है। सं० १६६३ में नाटक समयसारकी रचना करते हुए पं० बनारसीदासजी ने, और सं० १७११ में पंचास्तिकायका पद्यानुवाद करते हुए जहानावाद निवासी पं० हीरानन्दजीने इनका उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि प्रयत्न करने पर आपकी अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध होजाएँ और उनपरसे फिर आप का जीवन परिचय भी उपलब्ध होजाए; क्योंकि १६८७ से १७३१ के मध्यकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है, इस लम्बे समयमें आपने कोई न कोई रचना जरूर की होगी। आशा है विद्वान इस दिशामें प्रयत्न करेंगे और भगवतीदासजीकी अन्य किसी रचनाका पता लगाकर सूचित करने की कृपा करेंगे।

—वीरसेवामन्दिर, सरसावा।

श्रीदेवनन्दि-विरचित—

मरुदेवी-स्वप्नावली

(अनुवादक—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य)

[गत भादों मासमें श्रीजैनमन्दिर सेठका कूँचा देहलीके शास्त्रभण्डार परसे ग्रन्थ-सूची सम्बन्धी कुछ नोट्स लेते समय मेरे सामने यह 'स्वप्नावली' आई, जो मुझे साहित्यकी दृष्टिसे एक नई चीज मालूम पड़ी और इसलिये मैं इसे कापी करानेके लिये अपने साथ ले आया। इसकी रचना शब्दालङ्कारादिको लिये हुए बड़ी सुन्दर जान पड़ती है और इसके पढ़नेमें सङ्गीत जैसा आनन्द आता है। रचना 'सिद्धिप्रिय' स्तोत्रके ढङ्गकी है और उन्हीं देवनन्दिमुनिकी कृत मालूम होती है जो 'सिद्धिप्रिय' स्तोत्रके कर्ता हैं। अनेकान्तके पाठकोंको इसका रसास्वादन करानेके लिये आज यह रचना उस अनुवादके साथ नीचे प्रकाशित की जाती है जिसे पं० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य सागरने मेरी थोड़ी सी प्रेरणाको पाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रस्तुत किया है और जिसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूँ। अनुवादके साथमें संस्कृत टिप्पणियोंको लगाकर आपने इसके साहित्यक-मर्मको खोलनेका जो यत्न किया है वह प्रशंसनीय है और उससे इस पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। आशा है साहित्य-रसिक इसे पढ़कर जरूर प्रसन्न होंगे। —**सम्पादक**]

मातङ्ग-गो-हरि-रमा-वरदाम-चन्द्र-
मार्तण्ड-मीन-घटयुग्म-तडाग-वार्धि-
सिंहासना-ऽमरविमान-फणीन्द्रगेह-
रत्नप्रचाय-दहना रजनीविरामे ॥१॥

ये मेदिनी-धरण-मन्दर! नाभिराज!
स्वप्ने यशोभवन! सुन्दरनाभिराज!
दृष्टा मया शयितया खल-ताप-राग[१]!

१ खलाना-दुर्जनानां तापे रागो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे खलतापराग!

तेषां फलं कथय मे खलताऽपराग[1] ! ॥२॥
(युग्मम्)

'पृथिवीको धारण करनेमें मेरु–प्रजापालन करनेमें धीर, कीर्तिके मन्दिर, सुन्दर नाभिसे शोभायमान, दुष्ट मानवोंके तापमें–दमन करनेमे रागी तथा दुर्जनताके विद्वेषी हे नाभिराज महाराज ! आज रात्रिके अन्तमें सोते हुए मैंने स्वप्नमें हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मीदेवी वरमाला, चन्द्रमा, सूर्य, मीनयुग्म, घटयुग्म, सरोवर, समुद्र, सिंहासन, देवविमान, नागेन्द्रभवन, रत्नराशि और (निर्धूम) अग्नि—ये (सोलह) चीजें देखी हैं, आप मुझे इन स्वप्नोंका फल बतलाएँ ॥ १-२ ॥

सम्पूर्णचन्द्रमुखि ! नीलतमाऽलकाऽन्ते[2] !
केशप्रभाविजितनील-तमाल-कान्ते[3] !
रम्भानिभोरु ! मरुदेवि ! सती-व्रताऽऽपे[4] !
संश्रूयतां मधुरवाग्[5]सतीव्र-तापे[6] ! ॥३॥

'अत्यन्त कृष्ण अलकों (जुल्फों) के अन्तभागोंसे युक्त और केशोंकी प्रभासे नीलतमाल वृक्षकी-तापिछ पुष्पकी कान्ति को जीतनेवाली हे पूर्णचन्द्रमुखि ! कदलीसमजंघे ! पातिव्रते ! संतापवर्जिते ? मधुरभाषिणि मरुदेवि ! स्वप्नफल-सूचक मधुर वचन सुनो ॥ ३ ॥

दृष्टेन दन्तिपतिना कृतसाध्वशोकः[7]
शब्दं (सद्यः) सदानगति[8]रुन्नतसाध्व[9]शोकः ।
मुक्त्यर्थमम्बरकलत्रसुवर्णमुक्तेः
पुत्रो भविष्यति मृगाक्षि ! सुवर्णमुक्ते[10] ! ॥४॥

'सुवर्ण मुक्ताके आभरणोंसे युक्त हे मृगनयनि मरुदेवी ! गजेन्द्रके देखनेसे तुम्हारे शीघ्र ही वह पुत्र होगा जो कि साधुओंको शोकरहित करेगा, दानपद्धतिसे युक्त होगा अथवा सदाके लिये नगति-नरनारकादि गतिओंसे रहित होगा, [हाथी भी दानगति-मदस्रावसे युक्त होता है] (अरहन्त अवस्थामें) उतुङ्ग और उत्तम अशोक वृक्षसे युक्त होगा और वस्त्र, स्त्री तथा सुवर्णका त्याग करनेसे मुक्तिके लिये–मोक्ष प्राप्तिके लिये तत्पर होगा' ॥ ४ ॥

दृष्टेन मानिनि ! गवा तपसे वनानि
गत्वाऽतिवातसलिलातप सेवनानि[11] ।
धुर्यत्वमेष्यति विधो[12]र्विधुराधराणां,
चन्द्रानने ! चरणभारधुराधराणाम् ॥ ५ ॥

'हे मानवति चन्द्रमुखि ! वृषभके देखनेसे तुम्हारे वह पुत्र होगा जो कि तपके लिये, अत्यन्त पवन, पानी और घामकी बाधाओंसे युक्त वनोंको जाकर उन तपस्वियोंके मध्यमें धुर्यत्वको–श्रेष्ठपनेको [पक्षमें वृषभके सदृश धुर्वाहकत्वको] प्राप्त होगा जो कि चारित्ररूप भारसे युक्त धुरा को धारण करने वाले हैं और जिनके अधरोष्ठ विधुसे कपूर से-विधुर हैं-रहित हैं ॥ ५ ॥

दृष्टेन पञ्चवदनेन सुखेन भोगै-[13]

---

१ खलताया दौर्जन्येऽपरागो–विद्वेषो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे खलतापराग !

२ नीलतमः-सातिशयकृष्णः अलकाना-चूर्णकुन्तलानामन्तो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।

३ केशप्रभया विजिता नीलतमालस्य-कृष्णतापिच्छपुष्पस्य कान्तिर्यया तत्सम्बुद्धौ ।

४ आपनम्-आपः प्राप्तिरित्यर्थः, सतीव्रतस्य-पातिव्रत्यधर्मस्य आपो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।

५ मधुरा वाचो यस्या स्तत्सम्बुद्धौ, अथवा मधुरा चासौ वाक् चेति कर्मधारयः, संश्रूयतामित्यस्य कर्म ।

६ तीव्रतापेन सहवर्तमाना सतीव्रतापा , तथा न भवतीत्य-सतीव्र तापा तत्सम्बुद्धौ ।

७ कृतः साधूनाम्-अशोकः शोकाभावो येन सः ।

८ दानगत्या-दानपद्धत्या, त्यागभावेन सहवर्तमानः, हस्तिपक्षे दानगत्या-मदस्रावेण सहितः । अथवा सदा सर्वदा, नगतिः-नरनारकादिगतिशून्यः, न शब्देन सहसमास. ।

९ उन्नतः साधुश्च अशोकः-अशोकवृक्षो यस्य सः ।

१० सुवर्णाः सुष्ठु कान्तियुक्ता मुक्ताः—मुक्ताफलानि यस्याः तत्सम्बुद्धौ ।

११ अत्यन्तं वातसलिलातपाना सेवनं येषु तानि, वनानि इत्यस्य विशेषणम् ।

१२ 'विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशे च राक्षसे' इति विश्वः ।

१३ जन्येनेति शेषः । अथवा सुखेन-सुष्ठुखानि-इन्द्रियाणि यस्य स तेन पञ्चवदनेने त्यस्य विशेषणम् । भोगैस्तुनोन्नत इति प्रकृते सम्बन्धो योज्यः ।

स्तृप्तोन्नतश्चतुरसद्मसुखेनभोगैः[1] ।
क्रोधादिसिन्धुरहरिर्विजिताऽपवर्गं
नाथो नताङ्गि ! तपसाथ विताप[2]वर्गम् ॥ ६ ॥

' हे नताङ्गि! सिंह देखनेका फल यह है कि तुम्हारे जो पुत्र होगा वह क्रोधादि हस्तियोंको नष्ट करनेके लिए सिंह के समान होगा, सुन्दर गृहसुखके समय—गृहस्थ अवस्था में—अनेक विद्याधरों अथवा देवोंके साथ विविध भोगजन्य सुखसे अत्यन्त तृप्त होगा। पुनः तपके द्वारा-वैषयिक सुखों से विरक्त होकर—तापवर्गसे—मानसिक वाचनिक और कायिक संतापसे रहित अपवर्गको—मोक्ष स्थानको प्राप्त होगा और इस प्रकार वह जगत्का स्वामी होगा ' ॥ ६ ॥

दृष्टेन माधववधूवररूपकेण
भोगोपभोग कृतसौख्यनिरूपकेण
लक्ष्मी प्रदा(धा)स्यति जिनो भवतीति भिन्नं
चण्डि ! क्षितारिरमणो भवतीति भिन्नम् ॥७॥

' हे चण्डि ! भोग-उपभोगजनित सुखोंका निरूपण करनेवाले लक्ष्मी दर्शन-स्वप्नसे यह प्रकट है कि वह पुत्र पहले शत्रु-राजाओंको नष्टकर विजय लक्ष्मीको धारण करेगा और उसके अनन्तर जिन होकर-घाति कर्मशत्रुओंको नष्टकर-परमार्हन्त्य लक्ष्मीको धारण करेगा। अथवा अन्य जीवोंको प्रदान करेगा।'

दृष्टेन दामयुगलेन विनाऽशनानि[3]
कृत्वा तपांसि बहुदुःखविनाशनानि[4] ।
मालां स्वयंवर विधौ विगतोपमाने[5]
मुक्तेर्ग्रहीष्यति विभुर्विगतोपमाने[6] ! ॥८॥

' हे विगतोपमाने !—उपमारहित प्रिये ! मालाओंका युगल देखनेसे प्रकट है कि वह पुत्र भोजनका त्यागकर, अनेक दुःखोंका नाश करनेवाले उपवासादि तप करके अनुपम स्वयंवर विधिमें मुक्ति वधूकी वर मालाको ग्रहण करेगा—तपस्याके द्वारा मोक्षको प्राप्त होगा,—और इस प्रकार वह विभु—सारे संसारका स्वामी-होगा ' ॥ ८ ॥

दृष्टेन शीतकिरणेन सुधीरतापः[7]
साधुर्यशोधवलितो व्रतधीरतापः[8] ।
आह्लादयिष्यति मनांसि महोदयानां[9]
धर्मामृतैर्व्रतवतां समहोदयानाम् ॥ ६ ॥

' चन्द्रमाके देखनेसे वह पुत्र सुधी—समीचीन बुद्धिसे युक्त-होगा, संतापरहित होगा, यशसे उज्वल होगा, व्रत-रहित मनुष्योंको संताप पहुंचाने वाला होगा, अथवा व्रतोंमें धीरताको प्राप्त होगा तथा धर्मामृतके द्वारा महान् अभ्युदय से युक्त व्रतवान् महापुरुषोंके मनको हर्षित करेगा ' ॥ ६ ॥

दृष्टेन चण्डकिरणेन विभासमानः[10]
पापान्धकारदलनेन विभासमानः[11]।
भव्याब्जबोधनपटुर्विधु[12]राजितो मे
मोदं तनिष्यति मुनिर्विधुराजितो[13]मे ॥ १० ॥

' हे चन्द्रतुल्य कीर्ति अथवा कान्तिसे शोभित मरुदेवि ! सूर्यदर्शनका फल यह है कि वह पुत्र अपनी शारीरिक विभा से असमान अनुपम (अथवा सूर्यके समान) होगा, पापरूप अन्धकारको नाश करके शोभायमान होगा, भव्यरूप कमलों के हर्षित-विकासित करनेमें समर्थ होगा, चन्द्रमा तथा नारायणके समान शोभित होगा, अथवा विधुर—वैकल्प बेचैनी आदिसे अजित होगा, मुनि होगा—जितेन्द्रिय होगा—और इस तरह मेरे हर्षको विस्तृत करेगा।' ॥१०॥

---

१ नभ स-गगने गच्छन्तीति नभोगास्तैः ।

२ विगतस्तापवर्गो यस्मात्स तम् ।

३ अशनानि भोजनानि विना-आहारं परित्यज्येत्यर्थः ।

४ बहुदुःखाना विनाशनानि—विघातकानि ।

५ विगतम्-उपमानं-सादृश्यं यस्य तस्मिन् 'स्वयंवर विधौ' इत्यस्य विशेषणम् ।

६ विगतम्-उपमानं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।

७ सुधीः + अतापः इति पदच्छेदः ।

८ न व्रतधीरा इत्यव्रतधीरास्तान् तापयतीत्यव्रतधीरतापः । अथवा-आप्नम् आपः प्राप्तिरित्यर्थः, व्रतेषु धीरताया आपो-यस्य सः । अस्मिन् पक्षे व्रतधीरतापः इति पदच्छेदः ।

६ महोदयैः महत्वर्त्तमानानाम् ।

१० विभया-कान्त्या असमानः असदृश अनुपम इत्यर्थः ।

११ विभासते-इति विभासमानः शोभमान इत्यर्थः ।

१२ विधुवत् राजितः—विधुराजितः, चद्रतुल्यशोभितः अथवा विधुरैः वैकल्यादिभिर्दुःखैरजितोऽपरिभूतः ।

१३ विधुवच्चन्द्रवत् राजिता शोभिता-उमा-कीर्ति कान्तिर्वा यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ 'उमा गौर्यामतस्या च हरिद्रा कान्ति कीर्तिषु' इति विश्वलोचनः ।

दृष्टेन मीनयुगलेन सुकेवलेन[१]
पूर्वं श्रिया जगति राजसु केवलेन[२] ।
क्रीडिष्यति प्रियतमे ! नृपराजकामः
सिद्धया पुनर्जिनवरोऽनृपराजकामः । ॥ ११ ॥

'हे प्रियतमे ! उत्तम जलमें संचरण करते हुए मीनोंका युगल देखनेसे प्रकट होता है कि वह पुत्र पहले तो नृपराज-राजराजेश्वर बननेका इच्छुक होता हुआ मुख्य राजलक्ष्मी बननेकी इच्छासे रहित हो जिनेन्द्र होकर केवलज्ञानलक्ष्मी द्वारा जगत्के राजाओंमें क्रीडा करेगा और बादमें नृपराज तथा सिद्धिलक्ष्मी मुक्तिश्रीके साथ क्रीडा करेगा' । ॥११॥

दृष्टेन कुम्भयुगलेन कुलोपकारे[३] !
हैमेन पल्लवमुखेन कुलोपकारे[४] !
प्रारब्धमज्जनविधिः सुमनोरमाभिः[५]
सेव्यो भविष्यति गुरुः सुमनोरमाभिः[६] ॥१२॥

'कुलका उपकार करनेवाली और कुत्सित वृत्तियोंका लोप करनेवाली हे मरुदेवि ! पल्लवों—किसलयोंसे युक्त मुखवाले दो सुवर्णघटोंके देखनेसे यह जाहिर होता है कि उस पुत्रकी प्रारंभिक स्नानविधि–जन्माभिषेक सम्बन्धी विधि–देवताओंके द्वारा सम्पन्न होगी, वह विद्वानों अथवा देवोंको आनन्द देनेवाली देवियोंके द्वारा सेवनीय होगा और [जगत्त्रयका] गुरु होगा' । ॥ १२ ॥

दृष्टेन देवि ! सरसा कमलाकरेण[७]—
धर्मोपदेशविधिना कमलाकरेण[८]।
हारोपशोभितकुचे ! सुमनो[९] ! हितस्य[१०]
तृष्णां हनिष्यति पतिः सुमनोहितस्य[११] ॥१३॥

'हारसे सुशोभित स्तनों तथा अत्यन्त सुन्दर हृदयको धारण करनेवाली हे मरुदेवि ! कमलयुक्त सरोवरके देखने से प्रकट है कि वह पुत्र कमलाके—धनधान्यादिविभूति अथवा अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके—करने वाले धर्मोपदेश के विधान द्वारा (हितस्य) भक्तोंकी अथवा रागद्वेषसे रहित होनेके कारण (अहितस्य) अभक्तोंकी भी तृष्णाको—भोगाकांक्षाको [तालाब पक्षमें प्यासको] नष्ट करेगा और वह विद्वानों अथवा देवोंके हितकर पदार्थोंमें (पति) मुख्य होगा [तालाब भी पुष्पोंके हितैषियोंमें—उन्हें जलसिंचन आदि के द्वारा हरा भरा रखने वालोंमें मुख्य होता है] ।

(अथवा वह पुत्र जगत्का स्वामी होकर हित और अहितकी—भक्तों और अभक्तोंकी तृष्णाको दूर करेगा (हि) क्योंकि (तस्य) उसका (सुमनः) हृदय अत्यन्त श्रेष्ठ होगा राग-द्वेषसे रहित होगा ।) ॥ १३ ॥

दृष्टेन तोयनिधिना प्रमदाकुलेन[१२]
रत्नाकरावधिमिमां प्रमदाकुलेन[१३] ।
भूमिं विमुच्य तपसेष्यति साधुनाथो
यां शुभ्रकां न मुदमेष्यति साधुनाथो[१४] ॥१४॥

'हे देवि ! समुद्र देखनेका फल यह है कि वह (समुद्र के समान गाम्भीर्य गुणसे) सत्पुरुषोंका नाथ होगा । तथा हर्ष अथवा प्रकृष्ट मदसे युक्त स्त्रीसमूहके साथ जिस उज्ज्वल समुद्रान्त पृथिवीको छोडकर तपके अर्थ (वनको) जावेगा वह पृथिवी (अथो) उनके स्वामित्वके बाद फिर हर्षको प्राप्त न हो सकेगी ।' ॥१४॥

---

१ सुके-शोभनजले वलनं संचरति-इति सुकेवलम् बाहुलकात्सप्तम्या अलुक् । सुष्ठु जलसंचारिणेत्यर्थः 'मीनयुगलेन' इत्यस्य विशेषणम् ।

२ केवलेन-मुख्येन सामान्ये नपुंसकत्वम् । केवलेन-केवलज्ञानेन इति च ।

३ कुलस्य-ऊपकारो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।

४ कुत्सितजनलोपकारिणि !

५ सुमनसो रमयन्तीति सुमनोरमास्ताभिः । सुमनसो देवा विद्वांसश्च ।

६ सुमनसा रमा स्ताभिः-देवाङ्गनाभिः ।

७ कमलानां पद्मानाम्-आकरस्तेन सरसेत्यस्य विशेषणम् ।

८ कमलायाः करस्तेन धर्मोपदेशविधिनेत्यस्य विशेषणम् ।

९ सुष्ठु मनो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ देवीत्यस्य विशेषणम् ।

१० हितस्य, अहितस्य वा पदच्छेदः । सरोवर पक्षे हितस्य सरोवरे धृतस्येत्यर्थः । 'दधाते हि' इत्यनेन निष्ठायामतः धा धातोः स्थाने हयादेशः ।

११ सुमनोभ्योहितस्य । अथवा 'सुमनः+हि+तस्य' इति पदत्रयम् । हि यतः, तस्य पुत्रस्य सुमनः सुष्ठु हृदयं भाविष्यतीतिशेषः ।

१२ प्रमदेन-हर्षेण-प्रकृष्टमदेन वा आकुलस्तेन ।

१३ स्त्रीकुलेन सह ।

१४ सा+अधुना+अथो, इति पदच्छेदः ।

दृष्टेन सिंहविधृतेन सदासनेन[1]
धाम्नान्धकारविवहस्य सदासनेन[2] ।
साम्राज्य मस्तवृजनो वसुधाऽवनेन[3]
कान्ते ! करिष्यति जिनोऽवसुधावनेन[4] ॥१५॥

'हे कान्ते ! अपने तेज-कान्तिके द्वारा सदा अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाले सुन्दर सिंहासनके देखनेसे जाहिर होता है कि वह पुत्र पहले निष्पाप होकर पृथिवीरक्षाके द्वारा साम्राज्यको—उत्तम राज्यको-करेगा और बादमें निष्कलङ्क जिनेन्द्र होकर अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाले ज्ञानरूप तेजसे पृथिवीरक्षाके विना ही अथवा पृथिवी और वनके विना ही—मुक्ति साम्राज्यको करेगा।' ॥१५॥

दृष्टेन देवसदनेन विहाय[5] सारं[6]
स्वर्ग मगेष्यति नयेन विहायसा[7]ऽरम् ।
पातुं क्षितिं क्षितिपतिः कर-वाल[8]भातः
चञ्चच्चकोरनयने ! करवालभातः[9] ॥१६॥

'चकोर जैसे नयनोंसे सुशोभित हे मरुदेवि ! देवविमान के देखनेसे प्रकट होता है कि वह पुत्र नीतिपूर्वक पृथिवी का पालन करनेके लिये श्रेष्ठ स्वर्गको छोड़कर शीघ्र ही आकाश मार्गसे आवेगा । वह पृथ्वीका अधिपति होगा सुन्दर हस्त तथा बालोंसे शोभित होगा और पृथिवीकी रक्षा करवालकी—तलवारकी दीप्तिसे करेगा' ॥१६॥

दृष्टेन नागनिलयेन सुरोचितेन[10]
नागस्तुतोऽतिविनयेन सुरोचितेन[11]
ते सत्पदं[12] सुरनृणामरुणाधराणां[13]
स्वामी विशालकरुणे ! करुणाधराणाम्[14] ॥१७॥

'हे विशालदयासे युक्त देवि ! अत्यन्त शोभायमान नागेन्द्र भवनके देखनेसे प्रकट होता है कि तुम्हारा वह पुत्र देवोचित सातिशय विनयके साथ नागेन्द्रोंके द्वारा स्तुत होगा—नागेन्द्र नम्रतापूर्वक उसकी स्तुति करेंगे । वह उत्तम उत्तम वस्तुओंका स्थान होगा तथा लाल लाल ओंठोंसे युक्त और दयाको धारण करने वाले सुर एवं मनुष्योंका स्वामी होगा' ॥१७॥

दृष्टेन रत्ननिचयेन सुखायमानो[15]
रत्नत्रयेण कलकण्ठि ! सु-खायमानः[16] ।
कृत्वा विरंस्यति मनश्च्युत-चाप-रागं[17]
मोक्षं क्षमाधरणि ! यास्यति चाऽपरागम्[18]॥१८॥

'हे मधुर स्वरसे युक्त तथा क्षमाकी आधारभूत देवि ! रत्नराशिके देखने से प्रकट है कि वह पुत्र सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयसे सुखको प्राप्त होगा तथा अपने मनको धनुषकी प्रीतिसे रहित करके-दयालु बनाकर-(निष्परिग्रह होनेके कारण) आकाशके समान आचरण करता हुआ विरक्त होगा—मुनिव्रत धारण करेगा, तथा अन्तमें रागसे (रागद्वेषसे) रहित होकर मोक्षको प्राप्त होगा।' १८

दृष्टेन धीमति ! विधूमधनंजयेन[19]
दत्त्वा स्वयं स्वतनुजाय धनं[20]जयेन[21] ।
धर्माधिपः सकलसोमसमाननाय[22]

---

१ भवतत्श्रामवं च तेन ।
२ सदा+असनेन-इति पदच्छेदः ।
३ वसुधाया अपनं रक्षणं तेन ।
४ न वसुधाया अपनं अवसुधावनं तेन अथवा वसुधा च वनं च-अनयोः समाहारः वसुधावन—तद् न भवति-तेन ।
५ त्यक्त्वा ६ श्रेष्ठं ।
७ विहायसा+अरम् इति पदच्छेदः, विहायसा-गगनेन अरम् शीघ्रम् ।
८ करौ च वालाश्च तै भातः शोभितः ।
९ करवालस्यभा करवालभाः तस्याः पञ्चम्यास्तसिल् ।
१० सु-अत्यन्तं रोचितः शोभितस्तेन ।
११ सुराणां देवानामुचितो योग्यस्तेन ।
१२ 'पद व्यवसितत्राण स्थान-लक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु' इत्यमरः ।
१३ अरुणो रक्तोऽधरो येषां तेषाम् ।
१४ धरन्तीतिधराः करुणाया धरास्तेषां कृपाधारकाणामित्यर्थः ।
१५ सुखायतेइति सुखायमानः सुखयुक्तः ।
१६ सुष्ठु धूलिमेघादिरहितत्त्वेन शोभनं खमिव गगनमिवा-चरतीति सुखायत इति सुखायमानः ।
१७ श्च्युतस्त्यक्तः चापाद्धनुषोरागो यस्य सः ।
१८ च + अपरागम् इति पदच्छेदः, अपगतो रागो यस्मिन् स तं, मोक्ष मित्यस्य विशेषणम् ।
१९ धनंजयेन-अग्निना ।
२० धनं-वित्तं । २१ जयेन-विजयेन सह ।
२२ सकल-सोमसमं-पूर्णचन्द्रसदृशम् आननं यस्य स तस्मै

ध्यानेन धक्ष्यति रजांसि समाननाय¹ ॥१६॥

'हे बुद्धिमति देवि ! निर्धूम धनंजयके—अग्निके-देखने से प्रकट है कि वह पूर्णचन्द्र तुल्य मुखवाले सुबोधयुक्त अपने सुयोग्य पुत्रको विजयके साथ धन देकर—निष्परिग्रह होकर-धर्मका अधिपति बनेगा और ध्यानके द्वारा ज्ञानावरणादिरूप पापोंको-दुष्कर्मोंको जलावेगा।' ॥१६॥

इत्थं फलं निगदितं सुखलालसेन²
पत्या प्रबुध्य सुधिया सुखलालसेन³ ।
शुद्धं प्रमोदमगमन्नयननाभिरामा⁴
बिम्बाधरा सकलभूपतिनाभिरामा⁵ ॥२०॥

१ मननमेव माननं बोधः तेन सहवर्तमानस्तस्मै ।

२ सातिशयाः खलाः सुखलास्तेषु अलसस्तेन दुर्जन-सम्पर्कशून्येनेत्यर्थः ।

३ सुखे शर्मणि लालसा वाञ्छा यस्य स तेन् ।

४ नेत्रप्रिया-मनोहरेत्यर्थः ।

५ कलाभिः सह वर्तमानः सकलः सचासौ भूपतिश्चेति सकलभूपतिः, सकलभूपतिश्चासौनाभिश्चेति सकलभूपति-नाभिस्तस्यरामा वनिता मरुदेवीत्यर्थः ।

'इस प्रकार, नेत्रोंको आनन्द देनेवाली और बिम्बफल के समान ओठोंसे युक्त वह चतुरनाभिराजकीपत्नी-मरुदेवी, दुर्जन मनुष्योंके विषयमें अलस और सुखकी लालसासे युक्त बुद्धिमान् पतिके द्वारा कहे हुए स्वप्नोंके फलको जान कर विशुद्ध हर्षको प्राप्त हुई।' ॥२०॥

यः पूजितो जगति राजसभाजनेन⁶
श्रीदेवनन्दिमुनिदेव सभाजनेन⁷ ।
स्वप्नावलीं प्रपठतो मम⁸ तापहारं⁸
मोक्षं करोतु स जिनो ममतापहारम्⁹ ॥२१॥

'जो जगतमें राजसभागतजनोंके द्वारा तथा श्रीदेवनन्दि मुनिके सभाजन—सत्कारके द्वारा अथवा देवसभाके लोकों द्वारा पूजित हैं वे जिनेन्द्रदेव (इस) स्वप्नावलीको पढ़ने वाले मुझ देवनन्दिके उस मोक्षकी सिद्धि करें जो कि तापको हरनेवाला और ममताभावको दूर करने वाला है।' ॥२१॥

६ राजसभागतपुरुषैः ।

७ सभाजनं सत्करणम् ।

८ मम + तापहारम् इति पदच्छेदः ।

९ ममताम् आहरतीति ममतापहारस्तं ममत्वनिवारकम् ।

प्रकाश-स्तम्भ

श्रीमान् बा० भैयालालजी सराफ बी० ए०, एल-एल० बी एडवोकेट सागरने 'अनेकान्त' को 'प्रकाश स्तम्भ' बतलाते हुए अपने जो हृदयोद्गार प्रकट किये हैं वे इस प्रकार हैं:—

"अनेकान्तका स्थान चलती फिरती इच्छाओंका पूरक भले न हो, पर जैन जातिके अमरत्व का इस युगमें वह 'प्रकाशस्तम्भ' है। ईश्वर जैन जातिको अपने उद्धारके लिये उस ओर मुड़नेकी शक्ति दे, कि विचार गहनताको भेदकर वह उसे अपने जीवनका अंश बना सके और इस देशकी बसने वाली अजैन किन्तु बहुत अंशोंमें समान संस्कृति रखने वाली बहुसंख्यक जातिको मुक्त हस्त से वितीर्ण कर सके, जो आजके राष्ट्रनिर्माणमें भी अपना खास स्थान रख सके। जैन जातिको ही नहीं पर उसके साहित्य तथा ज्ञानके द्वारा बृहत् हिन्दू जातिके उत्थान तथा उत्कर्षको इस छोटेसे पत्र के हर पृष्ठमें वही जागृत तपस्या लक्षित हो रही है जिसके बगैर कोई राष्ट्र शास्वतिक कीर्ति पथका पथिक बन नहीं सकता। हो नहीं सकता कि इस युगमें जैनसमाज इस जीवन-ज्योतिको स्थायित्व प्राप्त न करावे। जैनसमाज परिग्रह-संन्यासके महत्वको बहुत कुछ समझने लगा है इस ओरसे विचारोंमें शुभ-दिक्-परिवर्तन मालूम हो जाता है। साहू शांतिप्रसाद तथा दानवीर सेठ हीरालाल आदि जैसे धनिक जिस जातिके ज्ञानध्वजको अपने हाथमें थामलें उसके उद्धारकी चिन्ता कैसी ?"

मैं और वीरसेवामन्दिर

बहुत मुद्दतसे मेरे दिलमें यह भावना बनी थी कि जैनसमाजमें कोई ऐसी योजना हो, जिसके द्वारा लुप्तप्राय: जैनसंस्कृतिका पुनरोद्घाटन हो सके। विचारपरम्पराके मूल स्रोतोंको खोजकर इसके निकास और विकासका पता लगाया जा सके—तर्क और परिभाषाके बने हुए दार्शनिक कंकालको तोड़कर इसकी जीती जागती मूर्तिका दर्शन किया जा सके—इसे साम्प्रदायिक व्यामोहके गढ्ढेसे निकाल कर एक बहती हुई विश्वकल्याणी गंगा बनाया जा सके। परन्तु, कुछ घरबारकी चिन्ताएँ, कुछ शरीरकी व्यथाएँ, कुछ तबीयतकी ढील, कुछ प्रोत्साहनकी कमी, ऐसी आड़े आती रहीं, कि यह भावना आजतक भावना ही बनी रही।

अबके पर्यूषण पर्वमें देहली आकर, बा० जुगलकिशोर जी मुख्तारने मुझे इस मामलेमें विशेष प्रोत्साहन दिया, और इस योजनाका केन्द्र 'वीर-सेवा-मन्दिर' को बनानेके लिये एक सुझाव पेश किया—उधर इस फरवरीके महीनेमें साहू शान्तिप्रसादजीने इस संस्थाका संरक्षक बनना स्वीकार किया, और योजना अनुसार इसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओंमें सहायक होनेके लिये बड़ी उदारताका परिचय दिया—इन सब ही बातोंको दृष्टिमें रखकर मैंने अपनी सेवाएँ वीरसेवामन्दिरको अर्पण करदीं।

वीरसेवामन्दिर, गो शुरुसे ही देश, धर्म और जाति के हितके लिए बनाया गया था, और शुरूसे ही वह इन हितके कामोंके लिए योजनाएँ करता रहा है, लेकिन कानून की दृष्टिसे वह आज तक मुख्तार साहबकी ही निजी चीज़ समझा जाता रहा है। इस दोषको मुख्तार साहबने २४ अप्रैलको अपनी वसीयत रजिष्ट्री कराकर बहुत अंशोंमें दूर कर दिया है। इसके अलावा इसके संचालनमें भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है। अब तक इसके संचालनका समस्त भार मुख्तार साहबके ही ऊपर था, मगर अब यह सब काम एक संचालक कमेटी द्वारा हुआ करेगा, जिसे इसकी रीति-नीतिमें सब प्रकार हेरफेर करनेका पूरा पूरा अधिकार होगा। अब तक इस कमेटीके लिए निम्न महानुभावोंके नाम प्रस्तावित हुए हैं :—

१. साहू शान्तिप्रशादजी, डालमियाँनगर।
२. साहू श्रेयाँसप्रशादजी, लाहौर
३. ला० राजेन्द्रकुमार जी लाहौर।
४. बा० छोटेलाल जी, कलकत्ता।
५. ला० अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय डालमियानगर।
६. ला० जयभगवान जैन वकील, पानीपत।
७. पं० जुगलकिशोर मुख्तार सरसावा।
८. पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बनारस
९. डा० ए० एन० उपाध्याय, कोल्हापुर।
१०. बा० लालचन्द एडवोकेट, रोहतक।
११ बा० कौशलप्रसाद जैन, सहारनपुर।

नई योजना अनुसार इस संस्था द्वारा निम्न प्रकारका साहित्य सम्पादित हुआ करेगा।

१—संग्रहात्मक रचनाएँ—जैसे जैनग्रन्थ सूची, जैन प्रशस्तिसंग्रह, जैनशिलालेखसंग्रह, जैनमन्त्रसंग्रह, जैन-पट्टावली-संग्रह, जैनकलासंग्रह, पुरातन जैनवाक्य-सूची, जैनलक्षणावली, जैनपारिभाषिक शब्दकोष, जैनमंत्रकोष, ऐतिहासिक जैन व्यक्तिकोष इत्यादि।

२—मौलिक रचनाएँ—जैसे जैनसंस्कृतिका इतिहास, जैनदर्शनका इतिहास, जैनसाहित्यका इतिहास, जैनकलाका इतिहास, जैन तीर्थकरों, आचार्यों और अन्य महापुरुषोंका इतिहास, ज्ञेय ज्ञान-मीमाँसा, बुद्धि और श्रुति, सत्यासत्य-वाद, अपेक्षावाद काल और विकासवाद, मृत्युविज्ञान, स्वप्नविज्ञान, मन्त्रविज्ञान, अहिंसा और सदाचार, जीवन-मीमाँसा, आत्मसाधना आदि नये दार्शनिक-ग्रन्थ।

३—अनुवाद सहित पुरानी रचनाएँ—जैसे वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, आदिकला ग्रन्थ—गणित ज्योतिष, आयुर्वेदिक, मन्त्र-तन्त्र, पशु-पक्षि आदि वैज्ञानिक ग्रन्थ—नीति, कथा, छन्द, व्याकरण और कोष आदि साहित्यिक ग्रन्थ।

इस कार्यको प्रामाणिक ढंगसे पूरा करनेके लिए जहाँ आजकल सेवामन्दिर लायब्रेरीको विविध प्रकारके ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक और कोष-ग्रन्थोंसे सम्पन्न करने का यत्न किया जा रहा है। वहाँ प्रौढ अनुभवी विद्वानोंको भी इस संस्थामें काम करनेके लिए निमन्त्रण दिया जा रहा है। —जयभगवान जैन

ब्र० शीतलप्रसादजीका वियोग !

(बा० जयभगवान वकील)

श्री० ब्र० शीतलप्रसादजीके ता० १० फर्वरी सन् १९४२ को होनेवाले स्थायी वियोगसे जो भारी क्षति जैनसमाजको पहुंची है उसकी पूर्ति निकटभविष्यमें होना यदि असम्भव नहीं, तो मुश्किल जरूर है।

आप जैनधर्मके एक अनन्यभक्त और जैनसमाजके एक सच्चे सेवक थे, स्वभावसे बड़े ही उदार और सुधारक-वृत्ति वाले थे। आप जैनियोंको अनेक टुकड़ियोंमें बाँटने वाले दिगम्बर श्वेताम्बर, अग्रवाल खण्डेलवाल, दस्सा बीसा आदि-सब ही भेद-भावोंको समउत्तताके लिये अत्यन्त हानिकारक समझते थे। इन भेदभावोंके कारण अथवा सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक कुरूढियोंके कारण जैनियोंकी दिन-पर-दिन घटती हुई जनसंख्याको देखकर आप बहुत ही दुःखित होते थे। संकीर्णताके इन पाशोंसे, रूढियोंके इन अन्धेरे गड्ढोंमे निकालनेके लिये आप आपस में हेलमेल, विवाहसम्बन्ध, धार्मिक एकता बढ़ानेकी सदा नई नई योजनाएँ करते रहते थे। आप जैन जातिको एक फलती फूलती जीविन जाति बनानेके लिये सब ही रचनात्मक कार्योंमें, प्रगतिशील आन्दोलनोंमें बढ़ बढ़ कर भाग लेते रहते थे। इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये आपने कई सभा-सोसाईटियोंके बनानेमें सहयोग दिया था। जैन अजैन सब ही लोगोंमें धर्मप्रचार करनेके लिये आत्मधर्म-सम्मेलन बनाया था, सामाजिक संघटनके लिये जैनमहामण्डल चलाया था, रचनात्मक काम करनेके लिये परिषद को जन्म दिया था और समाजमें क्रान्तिकारी सुधार लानेके लिये 'सनातनजैनसमाज' को क़ायम किया था।

जहाँ अन्य विद्वान अंग्रेजी शिक्षित युवकोंको धर्मभ्रष्ट जानकर उनकी अवहेलना करते थे, वहाँ आप उन्हें खूब अपनाते, उनमें धार्मिक प्रेम, और धार्मिक जिज्ञासा बढ़ाने के लिये जगह जगह बोर्डिंग हाउस, पुस्तकालय खुलवाते थे उन्हें धार्मिक शिक्षा दिये जानेका प्रबन्ध करते थे। उनका दृष्टिकोण समझ अपना दृष्टिकोण समझाते, उन्हें धर्मका सर्वतोभद्र व्यापकरूप दिखा सत् मार्गपर लगाते थे। आज जैनसमाजके अधिकांश अंग्रेजी लिखे पढ़ोंमे जो कुछ धर्मनिष्ठा और धर्मपरायणता दिखाई देती है, उसका बहुत कुछ श्रेय आपको ही है।

आप जहाँ हृदयसे बहुत उदार थे, वहाँ आप विचारमें भी बहुत उदार थे, आप साम्प्रदायिक भेदभावोंको छोड़कर हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई सब ही प्रकारके नेता और विद्वानोंसे मिलते, उनके पास जाकर ठहरते, उनसे विचार-गोष्ठी करते और उनके तथा अपने विचारोंमें समन्वय लानेकी कोशिश करते थे।

आप बड़े ही कर्मठ थे, दिन-रातके २४ घण्टोंमें आप मुश्किलसे छह घण्टे विश्राम करते थे। शेष सारा समय आत्मसाधना और धर्मसेवामें लगाते थे। त्रिकाल सामायिक, जिनबिम्बदर्शन, शास्त्र-स्वाध्याय, ग्रन्थ-अनुवाद, नवीन साहित्य-रचना, उपदेशशिक्षण, शास्त्रसभा, पत्र-पत्रिका वाचन, चिट्ठी-पत्री, और जैनपत्रोंके लिये लेख लेखन—सब ही काम आपका दैनिक प्रोग्राम था। इसके अलावा पर्वके दिनोंमें उपवास भी रखते थे।

सालके आठ महीने आप भारत-भ्रमणमें लगाते, और वर्षाके चार महीने किसी नगरमें ठहरकर बिताते थे। आप जहाँ कहीं जाते वहां आम सभाएँ कराकर सब ही को जैनधर्मका स्वरूप और इतिहास समझाते, गृहस्थोंके कर्त्तव्य बतलाते, लोगोंको स्वाध्याय, जिनबिम्बदर्शन, अष्ट-मूल गुण, पञ्च अणुव्रतके नियम दिलाते, और चलते समय वहाँके सारे हालात लिखकर जैनपत्रोंको प्रकाशनार्थ भेज देते।

चौमासमें आप जिस नगरमें ठहरते, वहाँ सार्वजनिक सभा, शास्त्रसभा, धर्मउपदेश, बृहत् पूजाविधान, दीक्षा-संस्कार विधान, प्रीतिभोज आदि कार्योंद्वारा इतनी धार्मिक जागृति पैदा करते कि वहाँकी कायापलट ही कर देते। वहाँके स्त्री-पुरुषोंको अनेकविध प्रोत्साहन देकर खूब ही

दान कराते, उस दानसे जहां आप बाहिरकी सब ही बड़ी बड़ी संस्थाओंको सहायता पहुचवाते, वहां आप उस दानसे स्थानीय संस्थाओंका भी खूब उद्धार कराते, और यदि आवश्यकता होती तो वहां स्कूल, विद्यालय, कन्यापाठशाला वाचनालय, चैत्यालय, आदि अनेक संस्थाएँ कायम कराते थे।

अपनी धुनके आप बड़े ही धनी थे। कठिनाइयोंसे डरना तो आप सीखे ही न थे। आप जिस प्रतिज्ञाको लेते, उसे पूरी तरह निभाते और जिस योजनाको शुरू करते, उसे आखरी मंजिल तक पहुंचाते। आपको कभी भी अपनी निन्दा और बड़ाईका ख़याल न हुआ, आपको यदि कोई अनुराग था तो केवल जैन धर्मसे, जैन समाजसे। इस अनुरागमें आप इतने मस्त थे, इतने निर्भीक थे, कि इसके लिए आप बड़ीसे बड़ी आहुति दे देनेको, शक्तिसे भी अधिक काम करनेको तैयार हो जाते थे। इस अनुरागके पथपर चलते हुए आपको कई बार ऐसे संकट आये कि अपने पराए होगये, प्रशंसक निन्दक बन गये, परन्तु आपने न तो कायरके समान धर्मका ही साथ छोड़ा, न निरुद्यमीके समान कर्तव्य मार्गसे ही मुँह मोड़ा। आपने जिस पथपर क़दम रक्खा, उसपर अन्त तक साबित कदम रहे।

आप निरे सुधारक ही न थे, आप बड़े साहित्य सेवी भी थे। आपने सर्वसाधारणके हितके लिए हज़ारों लेख लिखनेके अलावा, अनेक आध्यात्मिक निबन्ध और भजन भी लिखे हैं। अनेक जैन ग्रन्थोंका टिप्पण सहित सरल हिन्दी अनुवाद भी किया है। अनेक जैन स्मारक, शब्द-कोष और जीवनी सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे हैं। आपका जहां अध्ययन विशाल था, वहां आपका लेखन भी विशाल था।

आपकी विचारसरणी और योजनाओंसे कुछ भी मत-भेद रखते हुए यह कहना ही होगा, कि आपका जीवन एक आदर्श जीवन था। ऐसे उदारवृत्ति, धर्मसेवी, कर्मठ-वीरके लिए जैन समाज जितनी भी कृतज्ञता दिखलाए, उतनी थोड़ी है।

हो चला है जीर्ण, तेरी दासताका जाल बन्दी !
वेदनाओंको समेटे, सिसकते अरमान तेरे !
प्रणयकी पीड़ा लपेटे, किलकते ये प्राण तेरे !
व्यक्त करते हैं हृदयके घाव, गीले गाल बन्दी !!
हो चला है जीर्ण, तेरी दासताका जाल बन्दी !!
विवशताके पाशमें पड़, मूक तू कब तक रहेगा !
कूपका मण्डूक बनकर, त्रास यों कब तक सहेगा !
पास ही तो है तलय्याँ, देख निर्मल ताल बन्दी !!
हो चला है जीर्ण, तेरी दासताका जाल बन्दी !!
नियतिके निश्चल नियम ये समयकी गति अतिप्रबल है,
रजनिसे क्या और काला, दिवससे क्या कुछ धवल है ?
होगये हैं श्वेत, पककर देख काले बाल बन्दी !!
होचला है जीर्ण, तेरी दासताका जाल बन्दी !!
प्रलयका—तूफानका सन्देश ले आलोक आया !
पापका दृढ़-दुर्ग, सुसुमित-साधनासे कँप-कँपाया !
मूक अन्तरभावनामें झाँकता है काल बन्दी !!
होचला है जीर्ण, तेरी दासताका जाल बन्दी !!

महत्त्वकी प्रश्नोत्तरी

प्रश्न— संसारमें सार क्या है ?

उत्तर—मनुष्य होकर तत्वज्ञानको प्राप्त करना और स्व-परके हितसाधनमें सदा उद्यमी रहना।

प्रश्न— संसारको बढ़ानेवाली बेल कौनसी है ?

उत्तर—आशा—तृष्णा।

प्रश्न— संसारमें पवित्र कौन है ?

उत्तर—जिसका मन शुद्ध है।

प्रश्न— पंडित कौन है ?

उत्तर—जो हेय-उपादेयके ज्ञानको लिये हुए विवेकी है।

प्रश्न— बड़े लुटेरे कौन हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय-विषय, जो आत्माके ज्ञान-वैराग्यादि धनको लूट रहे हैं।

प्रश्न—बड़ा बैरी कौन है ?

उत्तर—आलस्य-अनुद्योग, जिसके कारण आत्मा विकसित नहीं हो पाता और न भले प्रकार जी सकता है।

प्रश्न—शूरवीर कौन है ?

उत्तर—जिसका चित्त स्त्रियोंके लोचन-बाणों (कटाक्षों) से व्यथित नहीं होता।

प्रश्न—अन्धा कौन है ?

उत्तर—जो न करने योग्य कार्यके करनेमें लीन है।

प्रश्न—बहरा कौन है ?

उत्तर—जो हितकी बातें नहीं सुनता।

प्रश्न—गूँगा कौन है ?

उत्तर—जो समयपर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता।

प्रश्न—अन्धेसे भी अन्धा कौन है ?

उत्तर—जो रागी है—किसी विषयमें आसक्त होकर विवेक-शून्य होगया है।

प्रश्न—जागता कौन है ?

उत्तर—जो विवेकी है—भले बुरेको पहचानता है ?

प्रश्न—सोता कौन है ?

उत्तर—जो मूढ़ताको अपनाये रखता है और आत्मामें विवेक को जाग्रत नहीं होने देता।

प्रश्न—पूज्य कौन ?

उत्तर—जो सच्चारित्रवान् है।

प्रश्न—दरिद्रता क्या चीज है ?

उत्तर—असंतोष का नाम दरिद्रता है, जहां संतोष है वहां दरिद्रताका नाम नहीं।

प्रश्न—नरक क्या है ?

उत्तर—पराधीनताका नाम नरक है।

प्रश्न—मित्र कौन है ?

उत्तर—जो पापोंमें प्रवृत्त होने अथवा कुमार्गमें जानेसे रोकता है।

प्रश्न—मनुष्यका असली आभूषण क्या है ?

उत्तर—पवित्र आचार-विचाररूप शील।

प्रश्न—वाणीका भूषण क्या है ?

उत्तर—सत्यताके साथ प्रिय भाषण

प्रश्न—असली मरण कौनसा है ?

उत्तर—मूर्खता, जिसमें आत्माके ज्ञान गुणका तिरोभाव होजाता है।

प्रश्न—किनमें सदा उपेक्षाभाव रखना चाहिये ?

उत्तर—दुर्जनोंमें, परस्त्रियोंमें और पराये धनमें।

प्रश्न—किसको अपनी प्यारी सहचरी बनाना चाहिये ?

उत्तर—दया, चातुरी और मैत्रीको।

प्रश्न—कण्ठगत प्राण होनेपर भी किसके सुपुर्द अपनेको नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—मूर्खके,विषादयुक्तके, अभिमानीके और कृतघ्नके।

प्रश्न—धन होनेहर शोचनीय क्या है ?

उत्तर—कृपणता।

प्रश्न—धनकी अत्यन्त कमी (निर्धनता) होने पर प्रशंसनीय क्या है ?

उत्तर—उदारता।

प्रश्न—चिन्तामणिके समान दुर्लभ क्या है ?

उत्तर—प्रियवाक्यसहित दान, गर्वरहित ज्ञान क्षमायुक्त शूरता और दान सहित लक्ष्मी, ये चार कल्याण-कारी चीजें अत्यन्त दुर्लभ है।*

---

*यह प्रश्नोत्तरी अमोघवर्षकी 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' संस्कृत के आधारपर नये ढंगसे संकलित की गई है।—सम्पादक

मुख्तार साहबकी वसीयत और 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट' की योजना

५१ हजारकी सम्पत्तिका विनियोग

बहुत अर्सेसे मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजीकी इच्छा अपनी वसीयत लिखने और ट्रष्ट कर देने की हो रही थी, परन्तु अनवकाशमें लगातार घिरे रहनेके कारण वे अभी तक उसे नहीं कर पाये थे। हालमें देशकालकी विकट-स्थितिको देखकर उन्होंने अन्य कामोंको रोककर अपना वसीयतनामा लिख दिया है और उसमें ट्रस्टकी योजना भी कर दी है। यह वसीयतनामा फुलिस्केप साइजके १२ पत्रों पर हिन्दुस्तानी भाषा और देवनागरी अक्षरोंमें लिखा गया है। मुख्तारसाहबने इसे वैशाख शु० पंचमी ता० २० अप्रेल को स्वयं अपनी कलमसे लिखकर २४ अप्रैल १९४२ ई० को सहारनपुरमें रजिष्ट्री भी करा दिया है, यह बड़ी ही प्रसन्नता का विषय है। वसीयतनामेका प्रारम्भिक अंश, जो मुख्तार साहबकी आत्मपरिणति अथवा चित्तवृत्तिका अच्छा प्रतिबिम्ब है और ऐतिहासिक ढंगमें लिखा गया है निम्नप्रकार है:—

श्रीसमन्तभद्राय नमः

"मैं कि जुगलकिशोर 'मुख्तार' पुत्र चौधरी लाला नत्थूमल व पौत्र चौधरी लाला धर्मदासका, जातिसे जैन-अग्रवाल सिंहलगोत्री, निवासी कस्बा सरसावा तहसील नकुड़ जि० सहारनपुर का हूँ।

जो कि मैं सम्पत्तिवान् (साहिबे जायदाद) हूँ और मेरे कोई सन्तान पुत्र या पुत्रीके रूपमें नहीं हैं, धर्मपत्नी श्रीमती राजकलीदेवी भी जीवित नहीं हैं, उसकी मृत्यु सोलह मार्च सन् १९१८ ई०को हो चुकी है, अपनी पचास वर्षकी उम्र हो जानेपर इक्यावनवें वर्षके शुरु दिन ४ दिसम्बर सन् १९२७ ई०को मेरे ब्रह्मचर्यव्रत ले लेनेकी वजहसे इन दोनोंकी यानी पत्नी और सन्तान की आगेको कोई संभावना व आवश्यकता भी अवशिष्ट नहीं है; दत्तक पुत्र लेनेके खयालको मैं बहुत अर्सेसे छोड़ चुका हूँ। इसके सिवाय मँगसिर सुदि एकादशी, सम्वत् १९३४ विक्रमका जन्म होनेके कारण उम्र भी मेरी इस वक्त ६४ सालसे ऊपरकी हो गई है और १२ फरवरी सन् १९१४ को मुख्तारकारी छोड़ देनेके वक्तसे मेरी चित्तवृत्ति एवं आत्मपरिणतिका झुकाव अधिकसे अधिक लोकसेवा यानी पब्लिक सर्विस व कौमी खिदमतकी तरफ होता चला गया है, जिसका आखिरी नतीजा यह हुआ कि मैंने जीवनके उस ध्येय (मकसद)को कुछ आला पैमानेपर पूरा करनेके लिये अपनी ज़ातखाससे खुदकी पैदा की हुई भारी रकम लगाकर अपनी जन्मभूमि कस्बा सरसावामें 'वीर-सेवा-मंदिर' नामका एक आश्रम निर्माण किया, जो अम्बाला-सहारनपुर—रोड पर स्थित है और जिसके उद्घाटनकी रस्म वैसाख सुदि ३ (अक्षयतृतीया) सम्वत् १९९३ मुताबिक ता० २४ अप्रैल सन् १९३६ को एक बड़े उत्सवके रूपमें अमलमें आई थी, जिसमें श्रीवीरभगवानकी रथयात्रा भी निकाली गई थी। उद्घाटनकी रस्मके बादसे उक्त आश्रममें पब्लिक लायब्रेरी, कन्याविद्यालय, धर्मार्थऔषधालय अनुसंधान (Research), ग्रन्थनिर्माण, ग्रन्थप्रकाशन और 'अनेकान्त' पत्रका प्रकाशन व संपादन जैसे लोकसेवाके काम होते आ रहे हैं, लोकसेवाके कामोंके लिए ही वह संकल्पित है, कई विद्वान् पंडित उसमें काम करते हैं, मैं भी वहीं रहकर दिनरात सेवाकार्य किया करता हूँ, वही इस वक्त मेरी सारी तवज्जह एवं ध्यानका केन्द्र बना हुआ है, मेरी सारी आमदनी भी करीब-करीब उसीके कामोंमें खर्च होती है और इसलिए मैं उसको अपने तर्केका (मृत्युके बाद छोड़ी जानेवाली सम्पत्तिका) सबसे बड़ा हक़-दार व वारिस समझता हूँ और चाहता हूँ कि उसकी उन्नति व हितवृद्धिमें लोकसेवाकी मेरी दिली मुरादें (कामनायें) पूरी होवें। मेरे संभाव्य कानूनी वारिस में इस वक्त मेरे बड़े भाई ला० हींगनलाल चौधरी, उनका पुत्र चि० प्रदमनकुमार और छोटे भाई स्व० बाबू रामप्रसादके दो पुत्र चि० ऋषभचन्द व श्रीचन्द मय अपने दो लड़कों चि० नेमचन्द व महेशचन्दके मौजूद हैं और एक चचा-

बाद भाई ला० चमनलाल पिसर ला० शंकरलाल भी मौजूद हैं। ये सब लोग मुझसे अलग रहते हैं, अलग कारोबार (कार्यव्यवहार) करते हैं और मेरी इनकी कोई शराकत, सहकारिता अथवा साझेदारी नहीं है।

यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत और संयमके प्रतापसे मेरी तन्दुरुस्ती अच्छी बनी हुई है और मैं बराबर ही सेवाकार्य करता रहता हूँ फिर भी बुढ़ापेका असर हो चला है और जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है। मैं नहीं चाहता कि कोई शख्स मेरी मर्जी व इच्छाके विरुद्ध मेरे तर्केका वारिस बनकर नाजायज फायदा (अनुचित लाभ) उठाए या मेरी मृत्युके बाद मेरे वारिसोंमें किसी प्रकारका कोई विवाद या झगड़ा पैदा होवे और उसकी वजहसे मेरी आत्माको कष्ट पहुँचे। अत: मैं दूरअन्देशीके खयालसे, स्वस्थदशामें, बिना किसी के दबाव या जबरदस्तीके अपनी स्वतन्त्र इच्छा और खुशी से अपनी स्थावर-जंगमादिरूपमें सारी सम्पत्तिके सम्बन्धमें, जिसका मैं इस वक्त मालिक, काबिज व मुतसर्रिफ (व्याधिकारी) हूँ, या जो बादको किसी तरह मेरे कब्जे व दखलमें आवे, तथा उन कर्जोंके सम्बन्धमें जो मुझे पाने हैं व उन रकमोंके सम्बन्धमें जो मुझे देनी हैं और खासकर अपने संस्थापित 'वीर-सेवा-मन्दिर' के सम्बन्धमें नीचे लिखी वसीयत (इच्छाभिव्यक्ति) करता हूँ, जिसकी पाबन्दी मेरे सम्पूर्ण वारिसों और उत्तराधिकारियोंपर लाजिमी होगी :—"

इसके बाद वसीयतनामे में २१ धाराएँ हैं, जिनमेंसे शुरु की कुछ धाराओंमें मुख्तार साहबने अपनी उस सब पैतृक सम्पत्तिको जो उन्हें तर्केजद्दीसे पहुँची थी, अपने भतीजोंके नाम लिख दिया है और बड़े भाईको जो कुछ देना है उसका भी उल्लेख कर दिया है। पाँचवीं धारामें शेष सब सम्पत्तिका उल्लेख तथा संकेत किया गया है, जिसकी मालियतका तखमीना इक्यावन हजार ५१०००) रु० से ऊपरका है और जिसमें वीर-सेवा-मन्दिरकी सब इमारात, एक अहाता, एक बाग, एक खेत, एक दुकान, आधी हवेली, प्राप्य डिगरी, लायब्रेरी और नकद रुपये आदिके अतिरिक्त देहली क्लाथमिल एण्ड जनरल मिल्स कम्पनी लिमिटेडके ४१३ हिस्से और साउथ बिहार सुगर मिल्स के १०० हिस्से शामिल हैं। छठी धारामें इस सब सम्पत्तिको 'वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट'के सुपुर्द किया है और ट्रस्टियोंमें समाज के गण्यमान्य ११ सज्जनोंके नाम दिये हैं। अगली तीन धाराओं में वीर-सेवा-मन्दिर और समन्तभद्राश्रमके रुपये तथा सामान की स्पष्ट व्यवस्था की है और जहाँ कहीं रुपया जमा है उसकी सूचना भी की है। १०वीं धारामें 'वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट' के उद्देश्यों तथा ध्येयोंको स्पष्ट किया गया है, जिनको पूरा करने करानेके लिये ही ट्रस्टीजन ट्रस्टके फण्ड मौजूदा व आइन्दा को खर्च किया करेंगे। ११वीं धारामें 'ट्रस्ट फण्ड मौजूदा' और 'ट्रस्ट फण्ड आइन्दा' की परिभाषाको स्पष्ट किया गया है, शेष धाराओंमें ट्रस्टियोंके अधिकारों आदिका स्पष्ट निर्देश है और उसमें ट्रस्टियोंको चार और ट्रस्टी नियत करनेका अधिकार भी दिया गया है। इन धाराओंमेंसे पाठकोंकी जानकारीके लिए पाचवीं, छठी धाराके आद्यअंश, १०वीं, ११वीं और १२वीं धाराएँ पूरी नीचे दी जाती हैं। साथ ही २१वीं धाराके अन्तका वह मार्मिक अंश भी दिया जाता है जिसके द्वारा मुख्तार साहबने अपनी वसीयतको सारी जैनजातिके साथ सम्बद्ध किया है:—

"(५)उक्त जायदाद सहराई व सकनाईके अतिरिक्त और जिस क़दर भी जायदाद सहराई व सकनाई, स्थावर-जंगम सम्पत्ति, कम्पनियोंके हिस्से, निजको प्राप्य कर्ज, सामान लायब्रेरी, खोजकी सामग्री, दस्तावेजें नई व पुरानी, अस्बाब घर-गृहस्थी और नकद रुपया आदिके रूपमें मेरे पास मौजूद है, उसका पिताकी सम्पत्ति या जायदाद जद्दीसे कोई खास ताल्लुक या वास्ता (सम्बन्ध) नहीं है। वह सब प्राय: मेरी खुदकी पैदा की हुई, खरीदी हुई और प्राप्त की हुई है। उसमेंसे स्थावर सम्पत्ति (जायदाद गैर मनकूला) कम्पनियोंके हिस्से और प्राप्य डिगरीकी तफसील निम्नप्रकार है:— ... ."

"(६)कुल जायदाद जो ऊपरकी धारा नं० ५ में दर्ज व उल्लेखित हैं, मय सम्पूर्ण सामान लायब्रेरी, खोजकी सामग्री, दस्तावेजात नई व पुरानी, नोट्स-बुक्स, हिसाब-किताबके रजिस्टर व अस्बाब घर-गृहस्थी, मय अलमारी आहिनीके, जो स्वर्गीय भाई रामप्रसादकी हवेलीके ऊपर के एक स्वाधिकृत मकानमें स्थित है, मय उक्त ईंटोंके

चट्टों और नक़द वगैरहके, और साथ ही सब उस जायदादके जो बादको किसी तरह मेरी मिल्कियत व कब्जे दखलमें आवे, मेरी मृत्यु पर 'वीर-सेवामन्दिर-ट्रष्ट' के सुपुर्द होगी, जिसके ट्रष्टियान निम्नलिखित होंगे और वे कुल जायदादपर मेरे समान काबिज व दखल होंगे :—"

"(१०) उक्त 'वीर-सेवामन्दिर ट्रष्ट'के उद्देश्य व ध्येय निम्न प्रकार होंगे, जिन्हें पूरा करनेके लिए हर मुमकिन कोशिश (संभव प्रयत्न) करना ट्रष्टियोंका कर्तव्य होगा और जिनको पूरा करने-करानेके लिए ही ट्रष्टीजन ट्रष्टके फण्ड मौजूदा तथा आइन्दाको खर्च किया करेंगे :—

(क) जैनसंस्कृति और उसके साहित्य तथा इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न ग्रन्थों, शिलालेखों, प्रशस्तियों, उल्लेखवाक्यों, सिक्कों, मूर्तियों, चित्रकलाके नमूनों आदि सामग्रीका लायब्रेरी व म्यूज़ियम आदिके रूपमें अच्छा संग्रह करना और दूसरे ग्रन्थोंकी भी ऐसी लायब्रेरी प्रस्तुत करना जो खोजके काममें अच्छी मदद दे सके।

(ख) उक्त सामग्री परसे अनुसंधान कार्य चलाना और उसके द्वारा लुप्तप्राय प्राचीन जैन साहित्य इतिहास व तत्त्वज्ञानका पता लगाना और जैनसंस्कृतिको उसके असली रूपमें खोज निकालना।

(ग) अनुसंधान व खोजके आधारपर नये मौलिक साहित्यका निर्माण कराना और लोकहितकी दृष्टिसे उसको प्रकाशित करना। जैसे जैनसंस्कृतिका इतिहास, जैनधर्मका इतिहास, जैनसाहित्यका इतिहास, भगवान् महावीरका इतिहास, प्रधान-प्रधान जैनआचार्योंका इतिहास, जाति-गोत्रोंका इतिहास, ऐतिहासिक जैन व्यक्तिकोष, जैनलक्षणा-वली, जैनपारिभाषिक-शब्दकोष, जैनग्रन्थोंकी सूची, जैन-मन्दिर-मूर्तियोंकी सूची और किसी-किसी तत्त्वका नई शैली से विवेचन या रहस्यादि तैयार कराकर प्रकाशित करना।

(घ) उपयोगी प्राचीन जैन ग्रन्थोंका विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओंमें नई शैलीसे अनुवाद तथा सम्पादन कराकर प्रकाशन करना, प्रशस्तियों और शिलालेखों आदि के संग्रह भी पृथक् रूपसे सानुवाद प्रकाशित करना।

(ङ) जैन-संस्कृतिके प्रसारके लिये योग्य व्यवस्था करना, वर्तमानमें प्रकाशित 'अनेकान्त' पत्रको चालू रखकर उसे और ऊँचा उठाना तथा लोकप्रिय बनाना। साथ ही, उपयोगी पैम्फलेट व ट्रेक्ट प्रकाशित करना और प्रचारक घुमाना।

(च) जैन साहित्य, इतिहास और संस्कृतिकी सेवा तथा तत्सम्बन्धी अनुसंधान व नई पद्धतिसे ग्रन्थनिर्माण के कामोंमें दिलचस्पी पैदा करने और यथावश्यकता शिक्षण (ट्रेनिंग) दिलानेके लिये योग्य विद्वानोंको स्कालर्शिप्स (वृत्तियाँ-वजीफे) देना।

(छ) योग्य विद्वानोंको उनकी साहित्यिक सेवाओंके लिये पुरस्कार या उपहार देना।"

"(११) मेरी मृत्युपर जो जायदाद माल व असबाब और नकद रुपया वगैरह ट्रष्टियानके सुपुर्द होगा या उनके अधिकारमें आएगा और जिसकी वे बाजाब्ता एक सूची तैयार कराएँगे, वह और उसमें जो आमदनी होगी, वह सब 'ट्रष्ट फण्ड मौजूदा' समझा जायगा। और मेरी मृत्युके बाद ट्रष्टके उद्देश्योंको पूरा करने और उसके कामोंको चलानेके लिए ट्रष्टियोंकी कोशिशसे या बिना कोशिशके ही जो जायदाद या नक़द रुपया वगैरा किसीकी तरफसे या खुद ट्रष्टियोंकी तरफसे उक्त ट्रष्टके सुपुर्द होगा अथवा उसको किसी तरह पर प्राप्त होगा, वह सब 'ट्रष्ट फण्ड आइन्दा' कहलाएगा। ट्रष्ट फण्ड आइन्दा भी ट्रष्ट फण्ड मौजूदाका अंश (पार्ट) होगा उसके नियमोंके आधीन होगा और उसपर भी ट्रष्टियों को उसके प्रबन्ध, व्यवस्था तथा ट्रष्टके काममें लाने और खर्च करने आदिके सम्पूर्ण अधिकार 'ट्रष्टफण्ड मौजूदा' के समान प्राप्त होंगे और वे उसके भी मैनेजिंग प्रोप्राइटर समझे जायेंगे और उसी हैसियत तथा पदाधिकारसे उसे स्वीकार करेंगे।"

"(१२) ट्रष्टियोंको अधिकार (इख्तियार) होगा कि वे ट्रष्ट के उक्त उद्देश्यों तथा ध्येयोंको पूरा करानेके लिये अनेक विभाग या डिपार्टमेंट्स कायम करें, उपसंस्थाएँ खोलें और उनकी प्रबन्धकारिणी समितियाँ (कमेटियाँ) नियत करें, जो ट्रष्टियोंकी देखरेखमें ट्रष्टियों द्वारा निर्धारित नियमोंके अनुसार अपना अपना कार्य सम्पन्न करेंगी, और जिनमें ऐसे व्यक्ति भी शामिल किए जाएँगे जो ट्रष्टी नहीं होंगे।

"(२१) यद्यपि मेरी पूँजी थोड़ी और इच्छा बड़ी है, फिर भी चूँकि मेरी इस इच्छा (वसीयत) का सारा सम्बन्ध

जैनजातिकी उन्नति, बेहतरी, भलाई और देश-धर्म तथा समाजकी सच्ची ठोस सेवासे है, जैसा कि ट्रस्टके उद्देश्यों व ध्येयों (धारा १०) से प्रकट है और इसके साथ मेरी जीवन-भर की सारी सद्भावनाएँ तथा शुभकामनाएँ लगी हुई हैं, इसलिए मेरी यह वसीयत मेरे वारिसों, उत्तराधिकारियों और ट्रस्टियोंके लिये ही नहीं बल्कि सारी जैनजातिके लिये है, और मुझे दृढ़ विश्वास है कि वह जरूर ट्रस्टके कामोंमें पूरा हाथ बटाकर अपने इस सतत् सेवककी इच्छा (वसीयत) को जल्द पूरा करेगी और पब्लिककी नज़रोंमें पूँजीको थाड़ी नहीं रहने देगी।"

अन्तमें मुख्तार साहबकी इस वसीयत और ट्रस्ट-योजना के सम्बन्धमें मैं अधिक कुछ भी न कह कर सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मुख्तार साहबने अपने सारे जीवनकी तपस्यामें सच्ची लगन और एकनिष्ठाके साथ निःस्वार्थभावसे दिनरात अविश्रान्त परिश्रम करके सेवाओं की जो भव्य इमारत खड़ी की है उस पर इस वसीयत और ट्रस्ट-योजनाके द्वारा सब कुछ अर्पण करके सुवर्ण कलश चढ़ा दिया है। अब समाजका कर्तव्य अवशिष्ट है और वह वही है जिसका संकेत वसीयतकी अन्तिम धाराके उक्त मार्मिक शब्दोंमें संनिविष्ट है और जिसपर मुख्तार महोदय ने अपनी आशा ही नहीं किन्तु दृढ़ विश्वास तक व्यक्त किया है। कितना अच्छा हो यदि जैनसमाज अभीसे इस ओर अपना पूरा प्रयत्न करे, जिसके फलस्वरूप मुख्तार साहब अपने जीवनकालमें ही अपनी भावनाओंको खूब फलता-फूलता तथा इच्छाको पूरा होता देख कर परमसंतोष को प्राप्त होवें।

—परमानन्द जैन शास्त्री

रिक्शा गाड़ी

देखो, रिक्शा गाड़ी चलती ! धीमी-धीमी घण्टी बजती !!

निर्धनताका वरदान लिये,
हाथोंमें हल्की यान लिये;
मानव लिपटा कुछ चिथड़ोंमें—
छातीमें आकुल प्राण लिये,
घोड़े-सी दौड़ लगाता है—
नंगे पैरों—पृथिवी जलती !
देखो, रिक्शा गाड़ी चलती !!

मानव है पर, पशु-सा जीवन !
दुर्भाग्य ! तुझे शत-शत वन्दन !
ओ बेकारी ! ओ उदर-ज्वाल !!
मानवता-मान तुझे अर्पण !!!
लाचारी – कंगाली, कलंक—
की मस्तक पर स्याही मलती !
देखो रिक्शा गाड़ी चलती !!

भारी पूँजीपति है ऊपर।
मजदूर पसीनेमें है तर !!
करुणा का कितना करुण दृश्य !
नरको नर खींच रहा बेजर !!
जीवनमें घोर विषमताकी—
यह बात नहीं किसको खलती !
देखो, रिक्शा गाड़ी चलती !!

वैभवका अति ऊँचा आसन !
निर्धनताका नंगा नर्तन !!
ताँबेके थोड़े टुकड़ों पर—
नर करता नरका भार वहन !!
श्रम करता है दम तोड़ हाय !
पर, कब उसकी विपदा टलती !
देखो, रिक्शा गाड़ी चलती !!

हैं मार्ग विकट अति पथरीले,
कर देते हैं पौरुष ढीले !
बर्षा होती नभ से छम छम—
हो जाते जीर्ण वसन गीले !!
चस-चस करती नस-नस निशिभर
उरमें रहती पीड़ा पलती !
देखो रिक्शा गाड़ी चलती !!

[र०—श्री हरिप्रसाद शर्मा 'अविकसित']

सच्चे अर्थोंमें 'दानवीर'

जैनसमाजके शिरोरत्न और भारतके लब्धप्रतिष्ट व्यापारी अग्रवाल-कुल-भूषण श्रीमान साहू शान्तिप्रसादजी जैन डालमियानगरका सचित्र परिचय देते हुए गत अक्तूबर मासकी अनेकान्त-किरण नं० ६ में मैंने कुछ युक्तियोंके साथ आपको 'सच्चे अर्थोंमें दानवीर' लिखा था। मेरे इस लिखनेको अभी तीन महीने भी पूरे होने नहीं आए थे कि साहूजी इन्दौरमें होनेवाले दिगम्बरजैन मालवा-प्रान्तिक सभाके अधिवेशनके लिये सभापति चुने गये और आपने वहां जाकर २७ जनवरीको सात लाखके दानकी नई घोषणा की, जिसके उपलक्षमें, आपके बहुत कुछ विरोध करनेपर भी, सर सेठ हुकमचन्दजी आदि अनेक दानवीरोंके हाथोंसे आपको 'दानवीर' की समुचित पदवी प्रदान की गई और आपका बहु सम्मान किया गया। दानकी इस भारी रकमसे आप चाहते तो अपने नामसे एक बड़ी संस्था खोल देते और उसे अपने ही स्थानपर रखकर स्थानीय महत्त्व प्रदान कर देते, परन्तु आपको अपने नाम और स्थानसे जरा भी मोह नहीं है और इसलिये आपको ये दोनों बातें इष्ट नहीं हुई, आपने इस रकमसे होनेवाली २१ हजार रुपये वार्षिक सूदकी आमदनीको उन कार्योंमें खर्च करनेका संकल्प किया है जो समूचे जैन समाजकी ठोस सेवाके लिये बहुत ही आवश्यक हैं, और वे हैं—(१) जैनसाहित्यप्रकाशन, (२) विविध विषयोंमें अधिकारी योग्य विद्वानोंको तय्यार करनेके लिये छात्रवृत्ति-प्रदान, तथा (३) समाजसेवाके लिये अपनेको अर्पण कर देनेवाले विद्वानोंको निराकुल करदेनेमें सहयोग-दान। इन कामोंमें क्रमशः ३०००), १२०००), ६०००) रु० वार्षिक खर्च किये जायेंगे और इस तरह सभी स्थानों तथा समाजोंके व्यक्ति आपके इस दानसे समुचित लाभ उठा सकेंगे। तृतीय कार्यमें ६०००) रु० वार्षिकके विनियोगकी जो योजना की गई है वह निःसन्देह जैनसमाजके लिये बिल्कुल नई और बड़ी ही प्रशंसनीय है। अभी

'नम्रताकी मूर्ति' साहू शान्तिप्रसादजी जैन
डालमियानगर

तक समाजके दूसरे श्रीमानोंका ध्यान इस उपयोगी कार्यकी ओर नहीं गया था और उससे समाजके कार्योंमें बाधा पड़ रही थी। अब समाज-सेवकोंको इससे अच्छा प्रोत्साहन मिलेगा और कितने ही सज्जन सेवाके क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर जी-जानसे उसके करनेमें प्रवृत्त होंगे और साथ ही दूसरे श्रीमानोंको भी इस सत्कार्यमें योग देनेकी प्रेरणा मिलेगी। ये सब बातें आपके सच्चे अर्थोंमें 'दानवीर' होनेकी और भी समर्थक हैं। इस दानसे वीरसेवामन्दिरको भी योग्य विद्वानों की सम्प्राप्ति और साहित्यके प्रकाशनादिका कितना ही आश्वासन मिला है, जिसके लिये मैं साहू साहबका बहुत ही आभारी हूं और आपकी इस दान-परिणतिका हृदयसे अभिनन्दन करता हुआ आपको हार्दिक धन्यवाद भेंट करता हूं।

जुगलकिशोर मुख्तार

※ स्व० त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णी ※

आपका ईसरी में ता० २६ जनवरी सन १९४२ को समाधि-मरण-पूर्वक स्वर्गवास हो गया है। विशेष परिचय के लिये देखो पृष्ठ ३१।

※ स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ※

आपका लखनऊ में लम्बी बीमारीके बाद १० फरवरी सन १९४२ को स्वर्गवास हो गया है। विशेष परिचयके लिये देखो पृष्ठ २४।

बाबा भागीरथजी वर्णीका स्वर्गवास !!

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

बाबा भागीरथजी वर्णी जैनसमाजके उन महापुरुषों मेंसे थे जिन्होंने आत्मकल्याणके साथ साथ दूसरोंके कल्याण की उत्कट भावनाको मूर्तरूप दिया है। बाबाजी जैसे जैनधर्मके दृढश्रद्धानी, कष्टसहिष्णु और आदर्शत्यागी संसार में विरले ही होते हैं। आपकी कषाय बहुत ही मन्द थी। आपने जैनधर्मको धारणकर उसे जिस साहस एवं आत्म-विश्वासके साथ पालन किया है वह सुवर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने योग्य है। आपने अपने उपदेशों और चरित्रबलसे सैंकड़ों जाटोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया है—उन्हें जैनधर्म का प्रेमी और दृढश्रद्धानी बनाया है। और उनके आचार-विचार-सम्बन्धी कार्योंमें भारी सुधार किया है। आपके जाट शिष्योंमेंसे शेरसिंह जाटका नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है, जो बाबाजीके बडे भक्त हैं, नगला ज़िला मेरठके रहने वाले हैं और जिन्होंने अपनी प्रायः सारी सम्पत्ति जैन मन्दिरके निर्माण-कार्यमें लगादी है। इसके सिवाय खतौली और आसपासके दस्सा भाइयोंको जैनधर्ममें स्थित रखना आपका ही काम था। आपने उनके धर्मसाधनार्थ जैन-मंदिरका निर्माण भी कराया है आपके जीवनकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि आप अपने विरोधी पर भी सदा समदृष्टि रखते थे और विरोधके अवसर उपस्थित होने पर माध्यस्थ्य वृत्तिका अवलम्बन लिया करते थे। और किसी कार्यके असफल होने पर कभी भी विषाद या खेद नहीं करते थे। आपको भवितव्यताकी अलंघ्य शक्ति पर दृढ विश्वास था। आपके दुबले पतले शरीरमें केवल अस्थियोंका पंजर ही अवशिष्ट था, फिर भी अन्त समयमें आपकी मानसिक सहिष्णुता और नैतिक साहसमें कोई कमी नहीं हुई थी। त्याग और तपस्या आपके जीवनका मुख्य ध्येय था, जो विविध प्रकारके संकटों—विपत्तियोंमें भी आपके विवेकको सदा जाग्रत (जागरूक) रखता था। खेद है कि वह आदर्श त्यागी आज अपने भौतिक शरीरमें नहीं है, उसका ईसरीमें २६ जनवरी सन् ४२ को समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हो गया है! फिर भी उनके त्याग और तपस्याकी पवित्र स्मृति हमारे हृदयको पवित्र बनाये हुए है और वीरसेवामन्दिरमें आपका ३॥ मासका निवास तो बहुत ही याद आता है।

बाबाजीका जन्म सं० १६२५ में मथुरा ज़िलेके पण्डापुर नामक ग्राममे हुआ था। आपके पिताका नाम बल्देवदास और माताका मानकौर था। तीन वर्षकी अवस्थामें पिताका ग्यारह वर्षकी अवस्थामें माताका स्वर्गवास हो गया था। आपके माता पिता गरीब थे इस कारण आपको शिक्षा प्राप्त करनेका कोई साधन उपलब्ध न होसका। आपके माता पिता वैष्णव थे। अतः आप उसी धर्मके अनुसार प्रातःकाल स्नानकर जमुना किनारे राम राम जपा करते थे और गीली धोती पहने हुए घर आते थे। इस तरह आप जब चौदह पन्द्रह वर्षके होगए तब आजीविकाके निमित्त दिल्ली आए।

दिल्लीमें किसीसे कोई परिचय न होनेके कारण सबसे पहले आप मकानकी चिनाईके कार्यमें ईंटोंको उठाकर राजोंको देने का कार्य करने लगे। उससे जब ५-६ रुपये पैदाकर लिये तब उसे छोड़कर तोलिया रूमाल आदिका बेचना शुरू कर दिया। उस समय आपका जैनियोंसे बड़ा द्वेष था। बाबाजी जैनियोंके मुहल्लेमें ही रहते थे और प्रतिदिन जैनमन्दिरके सामनेसे आया जाया करते थे। उस रास्ते जाते हुए आपको देखकर एक सज्जनने कहा कि आप थोडे समयके लिये मेरी दुकानपर आजाया करो। मैं तुम्हें लिखना पढ़ना सिखा दूँगा। तबसे आप उनकी दुकान पर नित्यप्रति जाने लगे। इस ओर लगन होनेसे आपने शीघ्र ही लिखने पढ़नेका अभ्यास कर लिया।

एक दिन आप यमुना स्नानके लिये जा रहे थे, कि जैनमन्दिरके सामनेसे निकले, वहाँ 'पद्मपुराण' का प्रवचन हो रहा था, रास्तेमें आपने उसे सुना, सुनकर आपको उससे बड़ा प्रेम होगया और आपने उन्हीं सज्जनकी मार्फत पद्म पुराणका अध्ययन किया। इसका अध्ययन करते ही आपकी दृष्टिमें सहसा नया परिवर्तन होगया, और जैनधर्मपर दृढ

श्रद्धा होगई। अब आप रोज़ जिनमन्दिर जाने लगे तथा पूजन स्वाध्याय नियमसे करने लगे। इन कार्योंमें आपको इतना रस आया कि कुछ दिन पश्चात् आप अपना धन्धा छोड़कर त्यागी बन गए। और आपने बालब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करनेका विचार किया। विद्याभ्यास करनेके लिये आप जयपुर और खुर्जा गए। उस समय आपकी उम्र पच्चीस वर्षकी हो चुकी थी। खुर्जामें अनायास ही पूज्य पं० गणेशप्रसादजीका समागम हो गया, फिर तो आप अपने अभ्यासको और भी लगन तथा दृढ़ताके साथ सम्पन्न करने लगे। कुछ समय धर्मशिक्षा को प्राप्त करनेके लिये दोनों ही आगरेमें पं० बल्देवदासजीके पास गये और पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका पाठ प्रारम्भ हुआ। पश्चात् पं० गणेशप्रशाद जीकी इच्छा अजैन न्यायके पढ़नेकी हुई, तब आप दोनों बनारस गये और वहाँ भीलूपुराकी धर्मशालामें ठहरे।

एक दिन आप दोनों प्रमेयरत्नमाला और आप्तपरीक्षा आदि जैन न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थ लेकर पं० जीवनाथ शास्त्री के मकान पर गये। सामने चौकी पर पुस्तकें और १) रु० गुरूदक्षिणा स्वरूप रख दिया तब शास्त्रीजीने कहा आज दिन ठीक नहीं है कल ठीक है। दूसरे दिन पुनः निश्चित समय पर उक्त शास्त्रीजीके पास पहुचे। शास्त्रीजी अपने स्थानसे पाठ्य स्थान पर आए और आसन पर बैठते ही पुस्तकें और रुपया उठाकर फेंक दिया और कहने लगे कि मैं ऐसी पुस्तकोंका स्पर्श तक नहीं करता। इस घटनासे हृदयमें क्रोधका उद्वेग उत्पन्न होने पर भी आप दोनों कुछ न कह सके और वहाँसे चुपचाप चले आयें। अपने स्थानपर आकर सोचने लगे कि यदि आज हमारी पाठशाला होती तो क्या ऐसा अपमान हो सकता था? अब हमें यही प्रयत्न करना चाहिये जिससे यहाँ जैनपाठशालाकी स्थापना होसके और विद्याके इच्छुक विद्यार्थियोंको विद्याभ्यासके ससुचित साधन सुलभ हो सकें। यह विचार कर ही रहे थे कि उस समय कामा ज़ि० मथुराके एक सेठने, जो धर्मशालामें ठहरे हुए थे, आपका शुभ विचार जानकर एक रुपया प्रदान किया। उस एक रुपयेके ६४ कार्ड खरीदे गये, और ६४ स्थानोंको अभिमत कार्यकी प्रेरणारूपमें डाले गये। फलस्वरूप बा० देवकुमारजी आराने अपनी धर्मशाला भदैनी घाटमें पाठशालाके स्थापित करनेकी स्वीकृति दे दी। और दूसरे सज्जनोंने रुपये आदिके सहयोग देनेका वचन दिया। इस तरह इन यु ल महापुरुषोंकी सद्भावनाएँ सफल हुई और पाठशालाका कार्य छोटेसे रूपमें शुरु कर दिया गया। बाबाजी उसके सुप्रिन्टेन्डेन्ट बनाए गए। यही स्याद्वाद महाविद्यालय बनारसके स्थापित होनेकी कथा है। जो आज भारतके विद्यालयोंमें अच्छे रूपसे चल रहा है और जिसमें अनेक ब्राह्मण शास्त्री भी अध्यापन कार्य करते आ रहे हैं। इसका पूरा श्रेय इन्ही दोनो महापुरुषोंको है।

पूज्य बाबा भागीरथजी वर्णी, और पूज्य पं० गणेश प्रसादजी वर्णीका जीवन पर्यन्त प्रेमभाव बना रहा। बाबा जी हमेशा यही कहा करते थे कि पं० गणेशप्रसादजीने ही हमारे जीवनको सुधारा है। बनारसके बाद आप देहली, खुर्जा रोहतक, खट्टा (मेरठ), खतौली, शाहपुर आदि जिन जिन स्थानोंपर रहे वहाँकी जनताका धर्मोपदेश आदिके द्वारा महान् उपकार किया है।

बाबाजीने शुरूसे ही अपने जीवनको निःस्वार्थ और आदर्श त्यागीके रूपमे प्रस्तुत किया है। आपका व्यक्तित्व महान् था। जैनधर्मके धार्मिक सिद्धान्तोंका आपको अच्छा अनुभव था। समाधितंत्र, इष्टोपदेश, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, और आप्तमीमांसा तथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थोंके आप अच्छे मर्मज्ञ थे। और इन्हींका पाठ किया करते थे। आपकी त्यागवृत्ति बहुत बढ़ी हुई थी। ४० वर्षसे नमक और मीठेका त्याग था, जिह्वा पर आप का खासा नियन्त्रण था, जो अन्य त्यागियोंमें मिलना दुर्लभ हैं। आप अपनी सेवा दूसरोंसे कराना पसन्द नही करते थे। आपकी भावना जैनधर्मको जीवमात्रमे प्रचार करनेकी थी और आप जहाँ कहीं भी जाते थे तब सभी जातियोंके लोगोंसे मास मदिरा आदिका त्याग करवाते थे। जाटोंमे जैनधर्मके प्रचारका और दस्सोंको अपने धर्ममें स्थित रहनेका जो ठोस सेवाकार्य किया है उसका समाज चिर-ऋणी रहेगा। अतःसमाजका कर्तव्य है कि पूज्य बाबाजीकी जैनधर्मके प्रचारकी भावनाको खूब पल्लवित किया जाय। और बाबाजीके अनुरूप कोई अच्छा स्मारक कायम किया जाय, जिसमे खतौलीके भाइयोंको खासतौरसे अपना योग देना चाहिये।

आत्म-समर्पण

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

[१]

विराग चीज़ बुरी नहीं है ! बुरा है विराग के नाम पर आत्म-हनन ! इच्छा-शक्ति और वासना जब तक आत्माके सम्पर्कमें है, तब तक चाहे कोई रूप क्यों न रख लिया जाय, सच्चे अर्थमें उसे विरागी न कहा जाएगा ।

विरागकी कसौटी है—वासनाकी हीनता ! जहाँ वासना जीवित है, वहाँ विरागकी गुज़र कहाँ ? उसे कहना चाहिए—दम्भ, विरागका कलंक ! क्योंकि वासना पाप है । और विराग एक पावन-वस्तु ! मुक्ति प्राप्तिका एक सफल-प्रयत्न !

और यों, विरागके दो हिस्से हो जाते हैं—एक सराग-विराग, एक यथार्थ-विराग ! या कह-लीजिए, विराग एक ही रहता है ! सिर्फ पहलू उसके दो दीखने लगते हैं—एक उत्थान, एक पतन !··· एक वासना-शून्य, एक पापमय !···एक विवेकपूर्ण, एक अज्ञान !

विरागके इन्हीं दो पहलुओंका विश्लेषण इस कहानीमें किया गया है !···

दुनियासे उदास, वे दोनों चल दिए तपोभूमिमें स्थान पानेकी आशा लेकर, दुनिया वालोंसे दूर : माँ-बाप, सुजन-सनेही सबके दुलार-प्यार और साम्राज्यकी लुभावक समृद्धिको ठोकर मार कर ! मन जो ऊब चुका था दुनियाके खुदगर्जी से ! जीवन की खोखली आशाओंसे !

कोई रोक न सका—उन्हें ! न माँ की ममता, न पिताका स्नेह ! न, ही राज्य-वैभवका लोभ ! सुखों के लालचको भी शायद वह खो चुके थे ! और फिर जाने वालोंको कभी कोई रोक भी पाया है ?

शुभचन्द्र थे बड़े, और भर्तृहरि था छोटा ! कुछ दूर दोनों साथ चले—दोनोंका रास्ता एक था—विराग ! आगे बढ़ने पर रास्ता फटा, दो पगडंडियाँ मिलीं ! एक ओर चले शुभचन्द्र, दूसरी ओर भर्तृहरि ! दोनों अपने-अपने विचारोंमें इतने उलझे हुए, खोये हुए थे कि एक दूसरेकी गति-विधिसे अनभिज्ञ : जरूरत भी किसीको यह नहीं थी कि एक दूसरेके सुधारकी चिन्ताको अपने सिर लेता ! सवाल जो अपनी-अपनी आत्म-विशुद्धिका सामने था !

दोनोंका विपरीत दिशाकी ओर जाना था—विरागके दो पहलुओंका स्पष्टीकरण !···

दोनों आगे बढ़ने गए !

शुभचन्द्रके चारों ओर था अब निर्जन-वन ! लेकिन वे थे, जो उसमें बिल्कुल बे-खबर थे ! कहाँ चल रहे हैं, इसे भूले हुए ! अपनी निजी समस्याएँ जो उनके सामने बिखरी पड़ी थीं ! सोचते जा रहे थे—'संसारकी अथिरता, प्राणीका एकाकीपन, निरीहता !'

और जो नज़र उठा कर देखा, तो हृदय गद्गद्, आनन्द-विभोर हो उठा !—समयकी उपयुक्त वर्षा पर जैसे किसान ! स्वच्छ पाषाण-खण्डपर तपोनिधि, वासना विजयी दिगम्बर-साधु विराजे हुए हैं—वंदनीय श्रुतसागर !

शुभचन्द्रकी आध्यात्मिकताको एक मौका दिया, संयोगने—सम्भवतः विकास प्राप्त करनेके लिए !

और उन्होंने उठाया, एक विवेकी, बुद्धिमानकी तरह भरपूर लाभ! भावनाएँ जो उनकी बहुत ऊँची उठ चुकी थीं!

अनायास भक्ति और श्रद्धाने सिर नवा दिया—उस पाप-क्षीण, पूज्यताके चरणोंमें! बोले—'भगवन्! दुनियाकी धधकती आगसे निकल कर, आप की शरणमें आ पड़ा हूँ! मुझे उबारिये!'

और फिर, थोड़ेसे समयमें ही एक आदर्श, अनुकरणीय परिवर्तन हुआ—कि शुभचन्द्र, तेजस्वी-राजपुत्र न रह कर, परमशान्त, वैराग्य-मण्डित दिगम्बर-रूप, निर्लिप्त-साधुकी श्रेणीमें जा बैठे! आत्म-विकासकी सीमाका आनन्दोपभोग करनेकी लालसा लेकर!

× × × ×

[२]

भर्तृहरि बढ़ा, और बढ़ता चला गया कुछ दूर! दुनियाके अरुचिकर-संघर्ष, और विषादपूर्ण घटनाओं को सोचता-विचारता हुआ! मन उसका दुनियासे कुढ़-सा रहा है। चाह रहा है—'कहीं दूर, शायद दुनियाके उस पार, जाकर रहे, जहाँ आनन्द ही आनन्द हो!'

बहुत घूमा, उस मानव-हीन बीहड़में! दिन ढलने लगा! दिवाकरने अपनी उग्रतासे हाथ खींचा। पृथ्वीको झुलसा-झुलसाकर जला डालनेकी राक्षसी-प्रवृत्ति पर जैसे धीरे-धीरे काबू पाते जा रहे हों! पैरों की थकावटने अधिकारपूर्वक विचार-धाराओंके मार्ग में रुकावट डाली!

भर्तृहरि रुका!

दरख्तकी ठंडी छाँहमें बैठ गया, क्षणिक विश्रामकी नीयतसे—विचार-ऊर्मियोंसे निकल कर! चारों ओर देखा—पर, भैय्या थे कहाँ? जो दीख सकते! वही पेड़, गँवारकी तरह जहाँ-तहाँ छाती ताने खड़े थे! सोचने लगा—'तलाश करना व्यर्थ है! अपन हिलमिलके साथ रहने तो आए नहीं, आए हैं आत्मोद्धारके लिए! और उसके लिए साथी की नहीं, आत्म-बलकी जरूरत होगी! फिर बेकार!'

अब उसे चेत आया—'भूख लगी है उसे! प्याससे गला सूखा जा रहा है! सुबहसे यह वक्त होने आया, खाया पिया क्या है, जरा भी तो नहीं!'

वह उठा, क्षुधा-समस्याका हल खोजने। और फिर जो कुछ कन्द-मूल—फल हाथ लगे, उन्हें गले के नीचे उतारा। कुछ तसल्ली जरूर हुई, लेकिन पानीसे शान्त होने वाली प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही।

यह दूसरी बाधा थी, क़रीब क़रीब असहनीय-सी। पानीकी तलाशमें घूमने लगा अब, डरावने बनों के बीच। लेकिन पानी था कहाँ, वहाँ? जहाँ तहाँ निराशा, मायामरीचिका!

दिवाकरका विनाश-काल सन्निकट था! अभेद्य-अन्धकार वृक्षोंकी रमणीयताको भयोत्पादनकी वस्तु बना देनेके लिए ललचा रहा था।···

कि भर्तृहरिको दीखा-कुछ दूर घनी-छायाको चीर कर ऊपर उठता हुआ, धुआँ-सा। हृदयने कल्पनाका सहारा लिया—'जरूर वहाँ कुछ मनुष्य होने चाहिएँ। जहाँ धुआँ है, वहाँ आग। और फिर मानवका आगसे गहरा सम्बन्ध है। मुमकिन है, वहाँ पानी पीनेको मिल सके!'

पास पहुँचकर भर्तृहरिने देखा—चारों ओर आग धधक रही है और बीचमें सफेद बाल, सतेज ललाट और जटाओंसे सुशोभित एक तपस्वी-राज-सिंहासनपर विराजे—पंचाग्नि-तप, तप रहे हैं। शरीर में वृद्धता अवश्य है, लेकिन अशक्तिता नहीं। तपो-बलने उन्हें दीप्ति दे रखी हो जैसे।

समीपमें झोपड़ियाँ हैं—मृगचर्म, चीमटे, बाघम्बर, कोपीनें, कमण्डलु वगैरहसे संयुक्त। जहाँ-तहाँ शिष्य-समुदाय अपने अपने कार्यमें संलग्न है।—

भर्तृहरि प्रभावित हुआ। आडम्बर जो था, प्रभावित करनेके लिए ही शायद। नहीं, आत्मोत्थान के लिए बाहरी किस चीजकी जरूरत?···

सिर नवा कर अभिवादन किया। तपस्वी-राजने समाधि-भंग की। बोले, मृदु-मुसकानको बखेरते हुए—'कहो, राजपुत्र! यहाँ कैसे?'

राजपुत्रने अपने आपको सौंपते हुए विनम्र-भाव से उत्तर दिया—'आपकी चरण-रज में !'

तपस्वीराजने प्रसन्नता-पूर्वक अनुमति दी—'कल्याण होगा, बच्चा तेरा, अभय रह !'

और भर्तृहरिको तपस्वीराजका शिष्यत्व प्राप्त हुआ ही।—सभाट!

× × × ×

[३]

बारह सर्दी, और बारह गर्मियां साधु-सेवामे बिता देनेके बाद भर्तृहरिने एक दिन तपस्वीराजसे प्रार्थना की—'गुरुदेव! अब मुझे एकाकी-विहारकी आज्ञा दी जाए। भैय्याकी खबर लेनेको जी कर रहा है, मुद्दत होगई—एक दूसरेसे जुदा हुए!'

भर्तृहरि तो अब स्वयं एक प्रमुख-साधुके रूपमे था। जंत्र, मंत्र, तंत्र सबमे निपुण। अनेक विद्याओं का स्वामी।' तपस्वीराजने उसे सहर्ष आज्ञा दी। कुछ विद्याएँ दीं, और दी महा मूल्य 'कलंकरस' से भरी हुई—एक तूँबी। तांबेका सोना बनानेकी दुर्लभ वस्तु!''

भर्तृहरि कलंकरस पा आनन्द विभोर हो उठा। साधु सेवाकी अन्तिम और कीमती भेंटने उसे मुग्ध कर दिया। पैरोंमे सिर डाल कर उसने प्रणाम किया, और चला अपने शिष्य दल-सहित—शुभचन्द्रकी खोजमे।

× × × ×

बहुत दूर कहीं, सुहावने स्थानमे, भर्तृहरिने अपना आश्रम बनाया। शिष्य, शुभचन्द्रकी खोजमे गए हुए थे—चारों ओर।

कई निराश लौटे। कुछने सफलताका समाचार कहा—'गुरुवर! आपके भैय्याको हम लोग खोज आए। वे गन्धमादन पर्वतपर ठहरे हुए हैं।'

भर्तृहरिकी आँखे चमक उठीं, शायद भीतरका वात्सल्य जगमगा उठा था। गद्गद्-कण्ठसे बोला—'अच्छा'''? कैसी दशा है—उनकी? चैनसे तो हैं न?'

शिष्य गर्दन झुकाकर बैठ रहा, जैसे कड़ुवी बात कहनेमे उसे सकुचता हो रही हो।'''भर्तृहरिको न रुचा, यह। जल्दीसे बोला—'बात क्या है, मुँहसे बोल तो?'

कहने लगा—'भैय्याकी दशा अच्छी नही है। घोर-दरिद्रतासे दिन काट रहे हैं, वे! अंगुल-भरकी कोपीन तक नही है, उनके पास। न रहनेके लिए बिलस्त-भर जगह। खाने तकसे मुहताज हैं। डेढ़ दिन रहा, और भूखा हो वापस आ रहा हूँ, खुदके खाने तकको तो है नहीं, खिलाते कहाँसे? मजबूरन उपवास करने पड़े।'

भर्तृहरिका सिर चकरा गया, भ्रातृत्व जो था उसके हृदयमे। सोचता रहा, पल-भर। फिर बोला—'हूं। यह बात है?'

और उसी वक्त उसने आधी तूँबी—कलंकरस-भैय्याकी दरिद्रताकी प्रतिद्वन्द्वताके लिए—एक शिष्य के हाथों रवाना करदी।

× × × ×

[४]

कई दिन बाद, शिष्य लौट कर आया—थका, भयभीत सा, उदास!

भर्तृहरिने पूछा 'कहो, प्रसन्न हुए न, भैय्या?—'कलंक रस' पाकर?'

वह बोला—'दरिद्रताने भैय्याकी अक्ल भी बिगाड़ दी है। कलंक-रस जैसी महावस्तु इनके नसीबमे कहाँ?'

हैरतमे भर कर भर्तृहरि बोला—'ऐ'''? क्या आधी तूँबी-रस गँवा आया कहीं?'

शिष्यने तफसील पेश की—'तूँबी देकर मैंने बता दिया उन्हें कि यह बहुमूल्य-रस तांबेको स्वर्ण बनानेकी ताक़त रखता है। आपको दरिद्रतासे दु:खित होकर भैयाने यह कठिन-साध्य वस्तु आपके लिए भेजी है। स्वीकार कीजिए—इसे!

उन्होंने उपेक्षासे एकबार तूँबीकी ओर देखा, फिर बोले—'पटक दो इसे, सामनेके पत्थरोंपर।' मैं घबराया—'कह क्या रहे हैं ये?' वे फिर बोले—'कह तो रहा हूँ—पटक दो इसे पत्थरों पर।' मैं

संकटमें था—एक ओर कुआँ, दूसरी ओर खाई। किसकी आज्ञा पालन करूँ?—सोचने लगा। आखिर तय किया—'बड़े भाईकी आज्ञा पालन करनी चाहिए। छोटे भाई जो बड़े भाईकी प्रसन्नताके इच्छुक हैं। बड़े भाईकी आज्ञा-भंग, छोटे भाईको दुखद न हो।' और तभी मैंने कलंकरस पत्थरों पर उँडेल दिया।'

भर्तृहरिके हृदयपर जैसे बिच्छूने डंक मार दिया—'आह!'

वह सम्मोहित-सा, बैठाका बैठा रह गया! जैसे चैतन्यता खो बैठा हो!

× × ×

[५]

उस रात भर्तृहरिको नींद न आई। बहुत प्रयत्न करनेपर भी वह न सो सका! चिन्ताएँ जो मनको उद्वेलित किए हुए थीं।...

वह खीजा हुआ था—अपने आप पर। सोच रहा था—'भूल मैंने ही की है। इतनी बहुमूल्य-वस्तुएँ कहीं यों भेजी-मँगाई जाती हैं। ग़ैरनियात भी तो कोई चीज़ है—आख़िर! असम्भव नहीं, कि शिष्यने भैय्याको रसकी ठीक ठीक महत्ता ही न बताई हो और उन्होंने उसे वैसा ही कुछ समझ लुढ़का देनेकी आज्ञा देदी हो।'

देर तक वह लुटे हुए धनिककी तरहसे सोचता विचारता रहा। और जब सुबह उठा तो एक निश्चय की दृढ़ता उसके साथ थी।...रसकी बरबादी और भैय्याकी दुरवस्थाने उसे काफ़ी असन्तोष दे रखा था। लेकिन वह था, जो असन्तोषके बीचमें सन्तोष का साम्राज्य क़ायम करनेका बीड़ा उठाए हुए था।

भ्रातृत्वकी पुनीत भावनासे प्रेरित भर्तृहरि चला, स्वयम् आधी-बची कलंक-रस तूँबी लेकर। दूसरों पर से यक़ीन जो जाता रहा था—उसका! भैय्या को आँखोंसे देख लेनेकी क्षुधा जो जाग्रत हो उठी थी—मनमें।

दूरसे देखा, देखा कि कृश शरीर—तपोबलसे दीप्त?—एक स्वच्छ पाषाणखण्डपर विराजा हुआ है—नग्न! आँखोंने पहिचाना—'भैय्या ही तो हैं।' और वह गद्गद् हो उठा। चरणोंमें गिरकर अभिवादन किया—सप्रेम।

शुभचन्द्रने नज़र उठाकर देखा, तो—भर्तृहरि। गेरुआ वस्त्रोंसे मण्डित, जटाओंसे शोभित, मृगचर्म से संयुक्त!

धर्मवृद्धि दी!

भर्तृहरि बोला—'भैया! जैसे ही सुना, कि तुम संकटमें हो, आधी तूंबी कलंकरस भेज दिया था। लेकिन वह...व्यर्थ गया! अब शेष आधी तूँबी भी लेकर उपस्थित हुआ हूं!'

'हाँ! क्या होता है इससे—वत्स?'

'सोना बनाया जाता है—भैया! बड़ी बेशकीमत चीज़ है।'

'सोना?'—शुभचन्द्रने पूछा, और तूंबी उठा कर पत्थरपर पटक दी! कलंकरस बह कर जाने लगा, पतनकी ओर; निराश्रित-सा!

भर्तृहरि सन्न!!!

शुभचन्द्र बोले—'कहां हुआ सोना? देख रहे हो—भर्तृहरि?'

भर्तृहरिने रुँधे-गलेसे कहा—'भैय्या! पत्थर नहीं, ताँबा सोना बनता है। तुमने यह क्या किया—उफ़? बारहवर्ष गुरुकी सेवा करने पर इसे पा सका था—मैं। ओफ़्। यह दुर्लभ-वस्तु न तुम्हारे काम आयी न मेरी रही!'

शुभचन्द्र मुस्कराये—भर्तृहरिकी सरलता पर, भोले पन पर! फिर बोले—'भर्तृहरि! तुम विरागके लिए, यहाँ आए थे—धन-दौलत, मान-सम्मान और राज्य-लक्ष्मीको ठुकराकर। मैं देख रहा हूँ—सोनेके लोभको यहाँ आकर भी तुम नहीं छोड़ सके हो। आज भी तुममें कलंक बाक़ी है। इतने वर्ष बिताकर भी विरागकी तह तक नहीं पहुंच पाए हो?...सोने की इच्छा ही जीवित रखनी थी, तो विरागकी पवित्रताको मलिन करने क्यों आए—यहाँ? इसे विराग

नहीं, दम्भ कहते हैं—भोले प्राणी !'

भर्तृहरिको अपने भीतर कुछ उजेला-सा होता मालूम दिया !··

शुभचन्द्र कहते गए—'सोनेकी ही इच्छा है, तो लो कितना सोना चाहते हो ?'

और अपनी चरण-रजको चुटकीमें भरकर, उस विशाल पाषाण-खण्ड पर छोड़दी !

तपोबलकी अचिन्त्य-शक्ति !!!

वह सारा पत्थर सोना बन गया ! भर्तृहरि आँखे फाड़े देखता-भर रह गया—अचम्भित-सा !

हृदय भर आया—उसका । भैय्याकी तपस्याने मोह लिया ! पैरोंमें गिरकर बोला—'मुझ डूबतेको उबारिए—महाराज ! ·······!' मैं अपनेको आपके चरण-शरणमें अर्पण करता हूँ !'*

*इस कथाके पात्रोंमें 'भर्तृहरि' वह भर्तृहरि नहीं जान पड़ता जो राजा था और राज्यशासनको चलाता हुआ स्त्री-चरित्रको देखकर वैरागी हुआ था तथा जिसने वैराग्यशतकादि ग्रन्थोंकी रचना की है; अथवा 'शुभचन्द्र' वह शुभचन्द्र नहीं, जो दिगम्बर ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' का रचयिता है। क्योंकि उक्त भर्तृहरि राजा और ज्ञानार्णव-कर्ता शुभचन्द्र दोनोंका समय एक नहीं है। —सम्पादक

पराधीनका जीवन ऐसा !

[१]

मनों-अन्न उपजाने पर भी,
पाता है जो रूखा-सूखा !
दुनियाका तन ढकने वाला,
खुद रहता है नङ्गा-भूखा !!
'हलधर' आज कहाकर भी जो—
रहा मगर जैसे का तैसा !
पराधीनका जीवन ऐसा !!

[२]

मान, गुलामोंके नसीबमें,
नहीं कभी सुननेमें आया !
उसको तो गाली मिलती हैं,
जाता है दर - दर ठुकराया !!
कष्ट भोगनेको जन्मा है !—,
भोग रहा है प्रतिदिन जैसा !
पराधीनका जीवन ऐसा !!

[३]

जीवन कहना ठीक नहीं है,
इसे मृत्यु कहना सुन्दर है !
क्योंकि 'दीनता' में 'जीवन'में,
एक बड़ा मौलिक अन्तर है !!
जीवन, जागृति-मय होता है,
मृत्यु-सम्मिलित जीवन कैसा ?
पराधीनका जीवन ऐसा !!

[४]

बच्चे भूख - भूख चिल्लाते—
घरमें दाना अन्न नहीं है !
क्यों न हमें कह लेने दो अब—
छोटा-मोटा नरक यहीं है !!
हाथ-पाँव हैं, नाक - कान हैं,
अगर नहीं है तो बस, पैसा !
पराधीनका जीवन ऐसा !!

—[श्री 'भगवत्' जैन]—

पउमचरिय और पद्मचरित

[प्राकृत और संस्कृत जैन-रामायणोंकी तुलना]

(ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी)

परिचय

आचार्य रविषेणका पद्मचरित[1] (पद्मपुराण) संस्कृतका बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है और उसका हिन्दी अनुवाद तो उत्तर भारतके जैनोंमें घर घर पढ़ा जाता है, परन्तु विमलसूरिके पउमचरियको[2] बहुत ही कम लोग जानते हैं, क्योंकि एक तो वह प्राकृतमें है और दूसरे उसका कोई अनुवाद नहीं हुआ।

रविषेणने पद्मचरितकी रचना महावीर भगवान्के निर्वाणके १२०३ वर्ष छह महीने बाद अर्थात् वि० सं० ७३४ के लगभग[3] और विमलसूरिने वीर नि० सं० ५३० या वि० सं० ६० के लगभग की थी[4]। इस हिसाबसे पउमचरिय पद्मचरितसे ६७४ वर्ष पहले की रचना है। जिस तरह पउमचरिय प्राकृत जैन-कथा-साहित्यका सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, उसी तरह पद्मपुराण संस्कृत जैन-कथा-साहित्यका सबसे पहला ग्रन्थ है।

विमलसूरि राहु नामक आचार्यके प्रशिष्य और विजयाचार्यके शिष्य थे[5]। विजय नाइलकुलके थे। इसी तरह रविषेण अर्हन्मुनिके प्रशिष्य और लक्ष्मणसेनके शिष्य थे। अर्हन्मुनिके गुरु दिवाकर यति और उनके गुरु इन्द्र थे[6]।

नाइलकुलका उल्लेख नन्दिसूत्र-पट्टावलीमें मिलता है। भूतदिन्न आचार्यको भी—जो आर्य नागार्जुनके शिष्य थे—'नाइलकुलवंशनंदिकर' विशेषण दिया गया है। जैनागमोंकी नागार्जुनी वाचनाके कर्ता यही माने जाते हैं। मुनि श्रीकल्याणविजयजी आर्य स्कन्दिल और नागार्जुनको लगभग समकालीन मानते हैं[7] और आर्य स्कन्दिलका समय वि०सं० ३५६ के लगभग है। पुष्पिकामें विमलसूरिको पूर्वधर कहा है।

रविषेणने न तो अपने किसी संघ या गण-गच्छका कोई उल्लेख किया है और न स्थानादिकी ही कोई चर्चा की है। परन्तु सेनान्त नामसे अनुमान होता है कि शायद वे सेनसंघके हों, यद्यपि नामोंसे संघका निर्णय सदैव ठीक नहीं होता। इनकी गुरुपरम्पराके पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन होंगे, ऐसा जान पड़ता है।

उद्योतनसूरिने अपनी कुवलयमालामें—जो वि०सं० ८३५ की रचना है—विमलसूरिके 'विमलांक'[8] (पउमचरिय) और 'हरिवंश' इन दो ग्रन्थोंकी तथा रविषेणके पद्मचरितकी[9]

---

१ माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमाला, बम्बई, द्वारा प्रकाशित।

२ जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर, द्वारा प्रकाशित।

३ द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥१८५॥

४ पंचेव य वाससया दुसमाए तीसवरससंजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ १०३ ॥

५ राहू नामायरिओ स-समय-परसमयगहियसब्भाओ।
विजओ य तस्स सीसो नाइलकुलवंसनंदियरो ॥ ११७ ॥
सीसेण तस्स रइयं राहवचरियं तु सूरिविमलेण।
सोऊणं पुव्वगए नारायण-सीरि चरियाइं ॥ ११८ ॥

६ आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदःशिष्यो रविस्तत्स्मृतः ॥ ६६ ॥

७ देखो, 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन-कालगणना' नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०-११

८ जारिसय विमलंको विमलं को तारिसं लहइ अत्थं।
अमयमइयं व सरसं सरसं चिय पाइयं जस्स ॥ ३६ ॥
बुहयणसहस्सदइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवंसं चेव विमलपयं ॥ ३८ ॥

९ जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरियवित्थारे।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणे ॥ ४१ ॥

(जटिलमुनिके वरांगचरितकी भी) प्रशंसा की है[1]। इससे मालूम होता है कि उनके सामने ये दोनों ही ग्रन्थ मौजूद थे[2]। हरिवंशको उन्होने 'प्रथम' कहा है जिसका अर्थ संभवत. यह है कि हरिवंशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें सबसे पहले उन्हींने लिखा।

आचार्य जिनसेन (पुन्नाटसंघीय) ने भी अपने हरिवंश-पुराण (वि० सं० ८४०) मे—जो उद्योतनसूरिके पाँच वर्ष बाद ही की कृति है—रविषेणके पद्मचरितकी प्रशंसा[3] की है।

प्राकृतका पल्लवित छायानुवाद

दोनों ग्रन्थकर्ताओंने अपने अपने ग्रन्थमे रचनाकाल दिया है उससे यह स्पष्ट है कि पउमचरिय पद्मपुराणसे पुराना है और दोनों ग्रन्थोका अच्छी तरह मिलान करनेसे मालूम होता है कि पद्मपुराणके कर्त्ताके सामने पउमचरिय अवश्य मौजूद था। पद्मपुराण एक तरहसे प्राकृत पउम-चरियका ही पल्लवित किया हुआ संस्कृत छायानुवाद है। पउमचरिय अनुष्टुप् श्लोकोंके प्रमाणसे दस हजार है और पद्मचरित अठारह हजार। अर्थात प्राकृतसे संस्कृत लगभग पौने दो गुना है। प्राकृत ग्रन्थकी रचना आर्या छन्दमें की गई है और संस्कृतकी प्राय. अनुष्टुप् छन्दमे, इसलिए पद्मपुराणमे पद्य तो शायद दो गुनेसे भी अधिक होंगे। छायानुवाद कहनेके कुछ कारण—

१ दोनोंका कथानक बिल्कुल एक है और नाम भी एक हैं।

२ पर्वो या उद्देसोंतकके नाम दोनोंके प्रायः एकसे हैं।

३ हरएक पर्व या उद्देसके अन्तमें दोनोंने छन्द बदल दिये हैं।

४ पउमचरियके प्रत्येक उद्देसके अन्तिम पद्यमें 'विमल' और पद्मचरितके अन्तिम पद्यमें 'रवि' शब्द अवश्य आता है। अर्थात् एक 'विमलाङ्क' है और दूसरा 'रव्यङ्क'।

५ पद्मचरितमे जगह जगह प्राकृत आर्याओंका शब्दशः संस्कृत अनुवाद दिखलाई देता है। ऐसे कुछ पद्य इस लेख के परिशिष्टमें नमूनेके तौरपर दे दिये गये हैं और उसी तरहके सैंकड़ों और भी दिये जा सकते हैं।

पल्लवित कहनेका कारण यह है कि मूलमें जहाँ स्त्री—रूपवर्णन नगर—उद्यानवर्णन आदि प्रसंग दो चार पद्योंमे ही कह दिये गये हैं वहां अनुवादमें ड्योढ़े—दूने पद्य लिखे गये हैं। इसके भी कुछ नमूने अन्तमे दे दिये गये हैं।

पउमचरियके कर्त्ताने चौथे उद्देसमे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि—जब भरत चक्रवर्तीको मालूम हुआ कि वीर भगवानके अवसानके बाद ये लोग कुतीर्थी पाषण्डी हो जायेंगे और झूठे शास्त्र बनाकर यज्ञोंमे पशुओं की हिंसा करेंगे, तब उन्होने उन्हे शीघ्र ही नगरसे निकाल देनेकी आज्ञा दे दी, और इस कारण जब लोग उन्हें मारने लगे तब ऋषभदेव भगवानने भरतको यह कहकर रोका कि हे पुत्र, इन्हें 'मा हण, मा हण'=मत मारो मत मारो, तबसे उन्हें 'माहण' कहने लगे।[4]

संस्कृत 'ब्राह्मण' शब्द प्राकृतमें 'माहण' (ब्राह्मण) हो जाता है। इसलिए प्राकृतमें तो उसकी ठीक उपपत्ति उक्त रूपसे बतलाई जा सकती है परन्तु संस्कृतमें वह ठीक नहीं बैठती। क्योंकि संस्कृत 'ब्राह्मण' शब्दमेंसे 'मत मारो' जैसी कोई बात खींच-तानकर भी नहीं निकाली जा सकती। संस्कृत 'पद्मपुराण' के कर्त्ताके सामने यह कठिनाई अवश्य आई होगी, परन्तु वे लाचार थे। क्योंकि मूल कथा तो बदली नहीं जा सकती, और संस्कृतके अनुसार उपपत्ति बिठानेकी स्वतन्त्रता कैसे ली जाय? इसलिए अनुवाद करके ही उनको सन्तुष्ट होना पड़ा—

> यस्मान्मा हननं पुत्र कार्षीरिति निवारितः।
> ऋषभेण ततो याता 'माहना' इति ते श्रुतिम् ॥४-१२२

इस प्रसंगसे यही जान पडता है कि प्राकृत ग्रन्थसे ही संस्कृत ग्रन्थकी रचना हुई है।

---

1 पुन्नाटसंघीय जिनसेनने और अपभ्रंश भाषाके कवि धवलने रविषेणके बाद जटिलमुनिका उल्लेख किया है, इससे अनुमान होता है कि जटा-सिंहनन्दिका वरांगचरित शायद रविषेणके पद्मचरितके बादका हो।

2 पउमचरियकी, वि० सं० ११६८ में जयसिंहदेवके राज्य-कालमें, भड़ौचमें लिखी गई एक ताड़पत्रीय प्रति उपलब्ध है। (देखो जैसलमेरके ग्रन्थ-भण्डारकी सूची, पृ० १०)

3 कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रिया ॥ ३४ ॥

4 मा हणसु पुत्त एए जं उसभजिणेण वारिओ भरओ।
तेण इमे सयल च्चिय वुच्चंति य 'माहणा' लोए ॥४-८४॥

परन्तु इसके विरुद्ध कुछ लोगोंने यह कहने तकका साहस किया है कि संस्कृतसे प्राकृतमें अनुवाद किया गया है। परन्तु मेरी समझमें वह कोरा साहस ही है। प्राकृतसे तो संस्कृतमें बीसों ग्रन्थोंके अनुवाद हुए हैं[1] बल्कि साराका सारा प्राचीन जैनसाहित्य ही प्राकृतमें लिखा गया था। भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि भी अर्धमागधी प्राकृतमें ही हुई थी। संस्कृतमें ग्रन्थ-रचना करनेकी ओर तो जैनाचार्योंका ध्यान बहुत पीछे गया है और संस्कृतसे प्राकृतमें अनुवाद किये जानेका तो शायद एक भी उदाहरण नहीं है।

इसके सिवाय प्राकृत पउमचरियकी रचना जितनी सुंदर, स्वाभाविक और आडम्बररहित है, उतनी संस्कृत पद्मचरितकी नहीं है जहाँ जहाँ वह शुद्ध अनुवाद है, वहाँ तो खैर ठीक है, परन्तु जहां पल्लवित किया गया है वहाँ अनावश्यक रूपसे बोझिल हो गया है। उदाहरणके लिए अंजना और पवनंजयके समागमको ले लीजिए। प्राकृतमें केवल चार पाँच आर्या छन्दोंमें ही इस प्रसंगको सुन्दर ढंगसे कह दिया गया है, परन्तु संस्कृतमें बाईस पद्य लिखे गये हैं और बड़े विस्तारसे आलिंगन-पीडन, चुम्बन, दशनच्छद, नीवी-विमोचन, सीत्कार आदि काम-कलायें चित्रित की गई हैं जो अश्लीलताकी सीमा तक पहुँच गई हैं।

पउमचरियके रचनाकालमें सन्देह

विमलसूरिने स्वयं पउमचरियकी रचनाका समय वीर नि० सं० ५३० (वि० ६०) दिया है; परन्तु कुछ विद्वानों ने इसमें सन्देह किया है। डा० हर्मन जाकोबी उसकी भाषा और रचना-शैली परसे अनुमान करते हैं कि वह ईसाकी चौथी पाँचवीं शताब्दीसे पहलेका नहीं हो सकता[2]। डा० कीथ,[3] डा० वुलनर[4] आदि भी उसे ईसाकी तीसरी शताब्दीके लगभगकी या उसके बादकी रचना मानते हैं। क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्दका और ज्योतिःशास्त्रसम्बन्धी कुछ ग्रीक शब्दोंका उपयोग किया गया है। स्वर्गस्थ दी० ब० केशवलाल ध्रुवने तो उसे और भी अर्वाचीन कहा है। वे छन्दोंके क्रम-विकासके इतिहासके विशेषज्ञ माने जाते थे। इस ग्रन्थके प्रत्येक उद्देसके अन्तमें जो गाहिणी, शरभ आदि छन्दोंका उपयोग किया गया है, वह उनकी समझमें अर्वाचीन है। गीतिमें यमक और सर्गान्तमें 'विमल' शब्द का आना भी उनकी दृष्टिमें अर्वाचीनताका द्योतक है। परन्तु हमें इन दलीलोंमें कुछ अधिक सार नहीं दीखता। ये अधिकतर ऐसे अनुमान हैं जिनपर बहुत भरोसा नहीं रक्खा जा सकता; ये गलत भी हो सकते हैं और जब स्वयं ग्रंथकर्त्ता अपना समय दे रहा है, तब अविश्वास करनेका कोई कारण भी तो नहीं दीखता। इसके सिवाय डा० विंटरनीज़, डा० लायमन, आदि विद्वान् वीर नि० ५३० को ही पउमचरियकी रचनाकाल मानते हैं। न माननेका उनकी समझमें कोई कारण नहीं है।

रामकथाकी विभिन्न धाराएँ

रामकथा भारतवर्षकी सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है और इसपर विपुल साहित्य निर्माण किया गया है। हिन्दू, बौद्ध और जैन इन तीनों ही प्राचीन सम्प्रदायोंमें यह कथा अपने अपने ढंगसे लिखी गई है और तीनों ही सम्प्रदायवालोंने रामको अपना अपना महापुरुष माना है।

अभी तक अधिकांश विद्वानोंका मत यह है कि इस कथाको सबसे पहले वाल्मीकि मुनिने लिखा और संस्कृतका सबसे पहला महाकाव्य (आदि काव्य) वाल्मीकि-रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण आदि सभी पुराणोंमें थोड़े थोड़े हेर फेरके साथ संक्षेपमें लिपिबद्ध की गई है। इसके सिवाय अध्यात्म रामायण, आनन्द-रामायण, अद्भुत-रामायण आदि नामसे भी कई रामायण-ग्रन्थ लिखे गये। बृहत्तर भारतके जावा, सुमात्रा आदि देशोंके साहित्यमें भी इसका अनेक रूपान्तरों के साथ विस्तार हुआ।

अद्भुत-रामायणमें सीताकी उत्पत्तिकी कथा सबसे निराली है। उसमें लिखा है कि दण्डकारण्यमें गृत्समद नामके एक ऋषि थे। उनकी स्त्रीने प्रार्थना की कि मेरे गर्भ

---

१ उदाहरणार्थ भगवती आराधना और पंचसंग्रहके अमितगतिसूरिकृत संस्कृत अनुवाद, देवसेनके भावसंग्रहका वामदेवकृत संस्कृत अनुवाद, अमरकीर्तिके 'छक्कमोवएस' का संस्कृत 'पट्कर्मोपदेश-माला' नामक अनुवाद, सर्वनन्दिके लोकविभागका सिंहसूरिकृत संस्कृत अनुवाद, आदि।

२ 'एन्साइक्लोपिडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' भाग ७, पृ० ४३७ और 'माडर्न रिव्यू' दिसम्बर सन् १९१४।

३ कीथका संस्कृत साहित्यका इतिहास। ४ इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत।

से साक्षात् लक्ष्मी उत्पन्न हो। इसपर उसके लिए वे एक घड़ेमें प्रतिदिन थोड़े थोड़े दूधको अभिमंत्रित करके रखने लगे कि इतनेमें एक दिन वहाँ रावण आया और उसने ऋषिपर विजय प्राप्त करनेके लिए अपने बाणोंकी नोकें चुभा चुभाकर उनके शरीरका बूंद बूंद रक्त निकाला और उसी घड़ेमें भर दिया। फिर वह घड़ा उसने मन्दोदरीको जाकर दिया और चेता दिया कि यह रक्त विषसे भी तीव्र है। परन्तु मन्दोदरी यह सोचकर उस रक्तको पी गई कि पतिका मुझ पर सच्चा प्रेम नहीं है और वह नित्य ही परस्त्रियोंमे रमण किया करता है; इस लिए अब मेरा मर जाना ही ठीक है। परन्तु उसके पीनेसे वह मरी तो नहीं, गर्भवती हो गई! पतिकी अनुपस्थितिमें गर्भ धारण हो जानेसे अब वह उसे छुपानेका प्रयत्न करने लगी और आखिर एक दिन विमानमें बैठकर कुरुक्षेत्र गई और उस गर्भको जमीनमें गाड़कर वापस चली आई। उसके बाद हल जोतते समय वह मंदोदरी-गर्भजात कन्या जनकजीको मिली और उन्होंने उसे पाल लिया। वही सीता है।

विष्णुपुराण (४—५) में लिखा है कि जिस समय जनकवंशीय राजा सीरध्वज पुत्रलाभके लिए यज्ञभूमि जोत रहे थे, उसी समय लाङ्गलके अग्रभागसे सीता नामक दुहिता उत्पन्न हुई।

बौद्धोंके जातक ग्रंथ बहुत प्राचीन हैं जिनमें बुद्धदेवके पूर्व-जन्मोंकी कथाएँ लिखी गई हैं। दशरथ जातकके अनुसार काशीनरेश दशरथकी सोलह हजार रानियाँ थीं। उनमेंसे मुख्य रानीसे राम लक्ष्मण ये दो पुत्र और सीता नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। फिर मुख्य रानीके मरनेपर दूसरी जो पट्टरानी हुई उससे भरत नामका पुत्र हुआ। यह रानी बड़े पुत्रोंका हक मारकर अपने पुत्रको राज्य देना चाहती थी। तब इस भयसे कि कहीं यह बड़े पुत्रोंको मार न डाले, राजाने उन्हें बारह वर्षतक अरण्यवास करनेकी आज्ञा दे दी; और इस लिए वे अपनी बहिनके साथ हिमालय चले गये और वहां एक आश्रम बनाकर रहने लगे। नौ वर्षके बाद दशरथकी मृत्यु हो गई और तब मंत्रियोंके कहनेसे भरतादि उन्हें लेने गये, परन्तु वे पिताद्वारा निर्धारित अवधिके भीतर किसी तरह लौटनेको राजी नहीं हुए, इस लिए भरत रामकी पादुकाओंको ही सिंहासनपर रखकर उनकी ओरसे राज्य चलाने लगे। आखिर बारह वर्ष पूरे होनेपर वे लौटे, उनका राज्याभिषेक हुआ और फिर सीताके साथ ब्याह करके उन्होंने १६ हजार वर्ष तक राज्य किया! पूर्वजन्ममें शुद्धोदन राजा दशरथ, उनकी रानी महामाया रामकी माता, राहुलमाता सीता, बुद्धदेव रामचन्द्र, उनके प्रधान शिष्य आनन्द भरत, और सारिपुत्र लक्ष्मण थे।

इस कथामें सबसे अधिक खटकनेवाली बात रामका अपनी बहिन सीताके साथ ब्याह करना है। परन्तु इतिहास बतलाता है कि उस कालमें शाक्योंके राजघरानोंमें राजवंश की शुद्धता सुरक्षित रखनेके लिए भाईके साथ भी बहिनका विवाह कर दिया जाता था। यह एक रिवाज था।

इस तरह हम हिन्दू और बौद्ध साहित्यमें रामकथाके तीन रूप देखते हैं एक वाल्मीकी-रामायणका, दूसरा अद्भुत रामायणका और तीसरा बौद्ध जातकका।

जैन रामायणके दो रूप

इसी तरह जैन-साहित्यमें भी रामकथाके दो रूप मिलते हैं, एक तो पउमचरिय और पद्मचरितका, और दूसरा गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणका। पद्मचरित या पउमचरियकी कथा तो प्रायः सभी जानते हैं क्योंकि जैनरामायणके रूपमें उसीकी सबसे अधिक प्रसिद्धि है; परन्तु उत्तरपुराणकी कथाका उतना प्रचार नहीं है जो उसके ६८ वें पर्वमें वर्णित है। उसका बहुत संक्षिप्त सार यह है—

राजा दशरथ काशी देशमें वाराणसीके राजा थे। रामकी माताका नाम सुबाला और लक्ष्मणकी माताका नाम केकेयी था। भरत-शत्रुघ्न किसके गर्भमें आये थे, यह स्पष्ट नहीं लिखा। केवल 'कस्यांचित् देव्यां' लिख दिया है। सीता मन्दोदरीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी; परन्तु भविष्य-द्रष्टाओंके यह कहनेसे कि वह नाशकारिणी है, रावणने उसे मंजूषामें रखवाकर मरीचिके द्वारा मिथिलामें भेजकर जमीन में गड़वा दिया था। दैवयोगसे हलकी नोकमें उलझ जाने से वह राजा जनकको मिल गई और उन्होंने उसे अपनी पुत्रीके रूपमें पाल लिया। इसके बाद जब वह ब्याहके योग्य हुई, तब जनकको चिन्ता हुई। उन्होंने एक वैदिक 'यज्ञ' किया और उसकी रक्षाके लिए राम-लक्ष्मणको आग्रहपूर्वक बुलवाया। फिर रामके साथ सीताको ब्याह दिया। यज्ञके समय रावणको आमंत्रण नहीं भेजा गया,

इससे वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और इसके बाद जब नारद के द्वारा उसने सीताके रूपकी अतिशय प्रशंसा सुनी तब वह उसको हर लानेकी सोचने लगा।

कैकेयीके हठ करने, रामको बनवास देने, आदि बातोंका इस कथामें कोई जिक्र नहीं है। पंचवटी दंडकवन, जटायु सूर्पनखा आदिके प्रसंगोंका भी अभाव है। बनारसके पास ही चित्रकूट नामक वनमें रावण सीताको हर ले जाता है और फिर उसके उद्धारके लिए लंकामें राम-रावण युद्ध होता है। रावणको मारकर राम दिग्विजय करते हुए लौटते हैं और फिर दोनों भाई बनारसमें राज्य करने लगते हैं। सीताके अपवादकी और उसके कारण उसे निर्वासित करने की भी चर्चा इसमें नहीं है। लक्ष्मण एक असाध्य रोगसे ग्रसित होकर मर जाते हैं और इससे रामको उद्वेग होता है। वे लक्ष्मणके पुत्र पृथ्वीसुंदरको राजपदपर और सीताके पुत्र अजितंजयको युवराजपदपर अभिषिक्त करके अनेक राजाओं और अपनी सीता आदि रानियोंके साथ जिनदीक्षा ले लेते हैं।

इसमें सीताके आठ पुत्र बतलाए हैं पर उनमें लव-कुशका नाम नहीं है। दशानन विनमि विद्याधरके वंशके पुलस्त्यका पुत्र था। शत्रुओंको रुलाता था, इस कारण वह रावण कहलाया। आदि।

जहाँ तक मैं जानता हूँ यह उत्तरपुराणकी राम-कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित नहीं है। आचार्य हेमचन्द्रके त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमें जो राम-कथा है उसे मैंने पढ़ा है। वह बिल्कुल 'पउमचरिय' की कथाके अनुरूप है और ऐसा मालूम होता है कि पउमचरिय और पद्मचरित दोनों ही हेमचन्द्रा-चार्य के सामने मौजूद थे।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है दिगम्बर सम्प्रदाय में भी इसी कथाका अधिक प्रचार है और पीछेके कवियोंने तो प्रायः इसी कथाको संक्षिप्त या पल्लवित करके अपने अपने ग्रन्थ लिखे हैं। फिर भी उत्तरपुराणकी कथा बिल्कुल उपेक्षित नहीं हुई है। अनेक महाकवियोंने उसको भी आदर्श मानकर काव्य-रचना की है। उदाहरणके लिए महाकवि पुष्पदन्तको ही ले लीजिए। उन्होंने अपने उत्तरपुराणके अन्तर्गत जो रामायण लिखी है, वह गुणभद्रकी कथाकी ही अनुकृति है। चामुण्डराय-पुराणमें भी यही कथा है।

पउमचरिय और पद्मचरितकी कथाका अधिकांश वाल्मीकि रामायणके ढंगका है और उत्तरपुराणकी कथाका जानकी-जन्म अद्भुत-रामायणके ढंगका। उसकी यह बात कि दशरथ बनारसके राजा थे, बौद्ध जातकसे मिलती जुलती है। उत्तरपुराणके समान उसमें भी सीता-निर्वासन, लव-कुश-जन्म आदि नहीं हैं।

कथा-भेदके मूल कारण

अर्थात भारतवर्षमें रामकथाकी जो दो तीन धाराएँ हैं, वे जैन सम्प्रदायमें भी प्राचीनकालसे चली आ रही हैं। पउमचरियके कर्ताने कहा है कि मैं उस पद्मचरितको कहता हूँ जो आचार्योंकी परम्परासे चला आ रहा था और नामावलीनिबद्ध था[1]। इसका अर्थ मैं यह समझता हूँ कि रामचन्द्रका चरित्र उस समय तक केवल नामावलीके रूपमें था, अर्थात् उसमें कथाके प्रधान-प्रधान पात्रोंके उनके माता-पिताओं स्थानों और भवान्तरों आदिके नाम ही होंगे वह पल्लवित कथाके रूपमें न होगा और विमलसूरिने उसीको विस्तृत चरितके रूपमें रचा होगा[2]।

श्रीधर्मसेनगणिने वसुदेवहिंडिके दूसरे खण्डमें जो कुछ कहा है उससे भी यही मालूम होता है कि उनका वसुदेव चरितभी गणितानुयोगके क्रमसे निर्दिष्ट था। उसमें कुछ श्रुत-निबद्ध था और कुछ आचार्यपरम्परागत[3]।

---

१ णामावलियनिबद्धं आयरियपरंपरागयं सव्वं।
वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण ॥८॥

२ जैनाचार्योंके अनेक कथाग्रन्थोंमें परस्पर जो असमानता है भिन्नता है, उसका कारण भी यही मालूम होता है। उनके सामने कुछ तो 'नामावलीनिबद्ध' साहित्य था और कुछ आचार्यपरम्परासे चली आई हुई स्मृतियाँ थीं। इन दोनों के आधारसे अपनी अपनी रुचिके अनुसार कथाको पल्लवित करनेमें भिन्नता हो जाना स्वाभाविक है। एक ही संक्षिप्त प्लाटको यदि आप दो लेखकोंको देंगे तो उन दोनों की पल्लवित रचनाएँ निस्सन्देह भिन्न हो जाएँगी। यति वृषभकी तिलोयपण्णत्तिमें, जो करणानुयोगका ग्रन्थ है, उक्त नामावलीनिबद्ध कथासूत्र दिये हुए हैं।

३ "अरहंत-चक्कि-वासुदेव-गणितानुयोग-कमनिद्दिट्ठं वसुदेव-चरितं ति। तत्थ य किंचि सुयनिबद्धं किंचि आयरिय-परंपरागएण आगतं। ततो अवधारितं मे।"

जब विमलसूरि पूर्वोक्त नामावलीके अनुसार अपने ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्त हुए होंगे तब ऐसा मालूम होता है कि उनके सामने अवश्य ही कोई लोक-प्रचलित रामायण ऐसी रही होगी जिसमें रावणादिको राक्षस, वसा-रक्त-मांस का खाने-पीनेवाला, और कुम्भकर्णको छह छह महीने तक इस तरह सोनेवाला कहा है कि पर्वततुल्य हाथियोंके द्वारा अंग कुचले जाने, कानोंमें घड़ों तेल डाले जाने और नगाड़े बजाये जाने पर भी वह नहीं उठता था और जब उठता था तो हाथी भैंसे आदि जो कुछ सामने पाता था, सब निगल जाता था[1]। उनकी यह भूमिका इस बात का संकेत करती है कि उस समय वाल्मीकि[2] रामायण या उसी जैसी कोई रामकथा प्रचलित थी और उसमें अनेक अलीक[3], उपपत्ति विरुद्ध और अविश्वसनीय बातें थी, जिन्हें सत्य, सोपपत्तिक और विश्वासयोग्य बनाने का विमलसूरिने प्रयत्न किया है। जैनधर्मका नामावलिनिबद्ध ढांचा उनके समक्ष था ही और श्रुतिपरम्परा या आचार्यपरम्परासे आया हुआ कोई कथा-सूत्र भी था। उसीके आधारपर उन्होंने पउमचरियकी रचना की होगी।

उत्तरपुराणके कर्ता उनसे और रविषेणसे भी बहुत पीछे हुए हैं, फिर उन्होंने इस कथानकका अनुसरण क्यों नहीं किया, यह एक प्रश्न है। यह तो बहुत कम संभव है कि इन दोनों ग्रन्थोंका उन्हें पता न हो, और इसकी भी सम्भावना कम है कि उन्होंने स्वयं ही विमलसूरिके समान किसी लोकप्रचलित कथाको ही स्वतंत्र रूपसे जैनधर्मके सांचेमें ढाला हो। क्योंकि उनका समय जो वि० सं० ९५५ है बहुत प्राचीन नहीं है। हमारा अनुमान है कि गुणभद्रसे बहुत पहले विमलसूरिके ही समान किसी अन्य आचार्यने भी स्वतंत्र रूपसे जैनधर्मके अनुकूल सोपपत्तिक और विश्वसनीय रामकथा लिखी होगी और वह गुणभद्राचार्यको गुरु-परम्पराद्वारा मिली होगी। गुणभद्रके गुरु जिनसेनस्वामीने अपना आदिपुराण कविपरमेश्वरकी गद्यकथाके आधारसे लिखा था- कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्[4]।" और उसके पिछले कुछ अंशकी पूर्ति स्वयं गुणभद्रने भी की है। जिनसेनस्वामीने कविपरमेश्वर या कविपरमेष्ठीको 'वागर्थसंग्रह' नामक समग्र पुराणका कर्त्ता बतलाया है[5]। अतएव मुनिसुव्रत तीर्थंकरका चरित्र भी गुणभद्रने उसीके आधारसे लिखा होगा जिसके अन्तर्गत रामकथा भी है। चाउण्डरायने भी कविपरमेश्वरका स्मरण किया है[6]।

तात्पर्य यह कि पउमचरिय और उत्तरपुराणकी रामकथाकी दो धाराएँ अलग अलग स्वतन्त्ररूपसे उद्भूत हुईं और वे ही आगे प्रवाहित होती हुईं हम तक आई हैं।

इन दो धाराओंमें गुरुपरम्परा-भेद भी हो सकता है। एक परम्पराने एक धारा को अपनाया और दूसरीने दूसरीको। ऐसी दशामें गुणभद्र स्वामीने पउमचरियकी धारासे परिचित होनेपर भी इस खयालसे उसका अनुसरण न किया होगा कि वह हमारी गुरुपरम्पराकी नहीं है। यह भी संभव हो सकता है कि उन्हें पउमचरियके कथानककी अपेक्षा यह कथानक ज्यादा अच्छा मालूम हुआ हो।

१ देखो आगे परिशिष्टमें- पउमचरियकी नं० १०७ से ११६ तककी गाथाएँ।

२ महाकवि पुष्पदन्तने तो अपने उत्तरपुराणमें रामकथाका प्रारम्भ करते हुए वाल्मिकी और व्यासका स्पष्ट उल्लेख भी किया है

वम्मीय वासवयणिहिं णडिउ, अण्णाणु कुमग्गकूवि पडिउ। ६९ वां सन्धि।

३ अलियं पि सव्वमेयं उववत्तिविरुद्धपच्चयगुणेहि।
न य सद्दहंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए॥

४ देखो, उत्तरपुराणकी प्रशस्तिका १६ वां पद्य।

५ स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नपुराणं यः समग्रहीत् ॥६०॥ —आदिपुराण

६ महामात्य चामुण्डरायका बनाया हुआ त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (चामुण्डराय-पुराण) कनड़ी भाषामें है। उसके प्रारम्भमें लिखा है कि इस चरित्रको पहले कूचि भट्टारक तदनन्तर नन्दि मुनीश्वर, फिर कविपरमेश्वर और तदनन्तर जिनसेन-गुणभद्र आचार्य, एकके बाद एक परम्परासे कहते आये हैं। इससे भी मालूम होता है कि कविपरमेश्वर का चौबीसों तीर्थंकरोंका चरित्र था। चामुण्डरायके समान गुणभद्रने भी उसीके आधारसे उत्तरपुराण लिखा होगा और कविपरमेश्वरसे भी पहिले नन्दि मुनि और कूचि भट्टारकके इस विषयके ग्रन्थ होंगे।

पउमचरियकी रचना वि० सं० ६० में हुई है और यदि जैनधर्म दिगम्बरश्वेताम्बर भेदोंमें वि० सं० १३६ के लगभग ही विभक्त हुआ है—जैसा कि दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं—तो फिर कहना होगा कि यह उस समयका है जब जैनधर्म अविभक्त था। हमें इस ग्रन्थमें कोई भी ऐसी बात नहीं मिली जिसपर दोमेंसे किसी एक सम्प्रदायकी कोई गहरी छाप लगी हो और जिससे यह निर्णय किया जा सके कि विमलसूरि अमुक सम्प्रदायके ही थे। बल्कि उसमें कुछ बातें ऐसी हैं जो श्वेताम्बर-परम्पराके विरुद्ध जाती हैं और कुछ दिगम्बर-परम्पराके विरुद्ध। इससे मालूम होता है कि यह एक तीसरी ही, दोनोंके बीचकी, विचार धारा थी।

पउमचरियके कुछ विशिष्ट कथन

१—इस ग्रन्थके प्रारम्भमें कहा गया है कि भगवान् महावीरका समवसरण विपुलाचलपर आया, तब उनकी खबर पाकर मगध-नरेश श्रेणिक वहाँ पहुँचे और उनके पूछनेपर गोतम गणधरने रामकथा कही[१]। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायः सभी कथा-ग्रन्थोंका प्रारम्भ इसी तरह होता है। कहीं कहीं गोतम स्वामीके बदले सुधर्मा स्वामीका नाम भी रहता है[२] परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कथा-ग्रन्थोंको प्रारम्भ करनेकी यह पद्धति नहीं है। उनमें आम तौरसे 'सुधर्मा स्वामीने जम्बूसे कहा'-इस तरह कहनेकी पद्धति है। जैसे कि संघदासवाचकने वसुदेवहिंडिके प्रथमांशमें कहा है, कि सुधर्म स्वामीने जम्बू प्रथमानुयोगगत तीर्थकर-चक्रवर्ति-यादववंशप्ररूपणागत वसुदेवचरित कहा। अन्य ग्रन्थोंमें भी यही पद्धति है[३]।

२—जिन भगवानकी माताको जो स्वप्न आते हैं, उनकी संख्या दिगम्बर सम्प्रदायमें १६ बतलाई है, जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें १४ स्वप्न माने जाते हैं। परन्तु पउमचरियमें १४ स्वप्न हैं[४]। आवश्यक सूत्रकी हारिभद्रीय वृत्तिमें (पृ० १७८) लिखा है कि विमान और भवन ये दो स्वप्न ऐसे हैं कि इनमेंसे जिनमाताओंको एक ही आता है। जो तीर्थंकर देवरूपसे च्युत होकर आते हैं उनकी माता विमान देखती है और जो अधोलोकसे आते हैं उनकी माता भवन देखती है। परन्तु पउमचरियमें विमान और भवन दोनों ही स्वप्न मरुदेवीने एक साथ देखे हैं[५]।

३—दूसरे उद्देसकी ३० वीं गाथामें भगवानको जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब उन्हें 'अष्टकर्मरहित' विशेषण दिया गया है[६] और यह विशेषण शायद दोनों सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे चिन्तनीय है। क्योंकि केवल ज्ञान होते समय केवल चार घातिक कर्मोंका ही नाश होता है, आठोंका नहीं।

४—दूसरे उद्देसकी ६५ वी गाथामें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिको स्थावर और द्वीन्द्रियादि जीवोंको त्रस कहा है[७]। यह दिगम्बर मान्यता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार पृथ्वी, जल और वनस्पति ही स्थावर हैं, अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि त्रस हैं।

५—चौथे उद्देसकी ५८ वी गाथामें भरत चक्रवर्तीकी ६४ हजार रानियाँ बतलाई हैं[८]। यह संख्या श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार है, दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार

---

१ वीरस्स पवरठाणं विउलगिरिमत्थये मणभिरामे।
तइ इंदभूइकहियं सेणियरण्णस्स णीसेसं॥

२ श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य सुधर्मो गणनायकः।
यथोवाच मयाप्येतदुच्यते मोक्षलिप्सया॥ —क्षत्रचूडामणि

३ तत्थ ताव सुहम्मसामिणा जंबुनामस्स पढमाणुओगे तित्थयर-चक्कवट्टि-दसार-वंसपरूवणागयं वसुदेवचरियं कहियं' ति तस्सेव पभवो कहेयव्वो, तप्पभवस्स य पभवस्स त्ति।

४ वसह[१] गय[२] सीह[३] वरसिरि[४] दामं[५]
ससि[६] रवि[७] झयं[८] च कलसं[९] च।
सर[१०] सायरं[११] विमाणं[१२]
वरभवणं[१३] रयण[१४] कूडग्गी[१५]॥६२॥—तृ० उद्देस

५ पद्मचरितमें दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार स्वप्नोंकी संख्या १६ कर दी गई है—
"अद्राक्षीत् षोडशस्वप्नानिति श्रेयोविधायिनः॥"
तृतीय पर्व, श्लो० १२३

६ अह अट्ठकम्मरहियस्स तस्स झाणोवओगजुत्तस्स।
सयलजगुज्जोयकरं केवलणाणं समुप्पण्णं॥३०॥

७ पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणस्सई चेव थावरा भणिया।
बेइंदियाइ जाव उ, दुविहतसा सणिण इयरे वा॥६५॥

८ चउसट्ठिसहस्साइं जुवईणं परमरूवधारीणं।
बत्तीसं च सहस्सा राईणं बद्धमउडाणं॥५८॥

चक्रवर्तीकी ९६ हजार रानियाँ होती हैं[1]।

६—पउमचरियके दूसरे उद्देसमें कहा है कि भगवान् महावीर बाल-भावसे उन्मुक्त होकर तीस बरसके होगये और फिर एक दिन संवेग होनेसे उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण करली। इससे उनके विवाहित होनेकी कोई चर्चा नहीं है और कुमारावस्थामें ही दीक्षित होना प्रकट किया है[2]। बीसवें उद्देसकी गाथा ५७–५८ से भी यही ध्वनित होता है कि मल्लिनाथ, अरिष्टनेमि पार्श्व, महावीर और वासुपूज्य ये पाच तीर्थंकर कुमारकालमें ही घरसे निकल गये और शेष तीर्थंकर पृथ्वीका राज्य भोगकर निष्क्रान्त हुए[3]। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह उल्लेख दिगम्बरपरम्पराके अनुकूल है। यद्यपि अभी अभी एक विद्वान्से मालूम हुआ है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके भी एक प्राचीन ग्रन्थ 'आवश्यकनिर्युक्ति' में महावीरको अविवाहित बतलाया है।

परिश्रम करनेसे इस तरहकी और भी अनेक बातोंका पता लग सकेगा जिनमेंसे कुछ दिगम्बर सम्प्रदायके अधिक अनुकूल होंगी और कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदायके।

इन सब बातोंसे हमारा झुकाव इस तीसरी विचार-धाराके विषयमें इस ओर होता है कि वह उस समयकी है जब दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके मत-भेद व्यवस्थित और दृढ नहीं हुए थे। उन्होंने आगे चल कर ही धीरे धीरे स्थायित्व और दृढत्व प्राप्त किया है। पहले वे किसी ग्रंथके पाठभेदोंके समान साधारण मतभेद थे, परंतु पीछे समयने और सम्प्रदाय मोहने उन्हें मज़बूत बना दिया।

हमारा अनुमान है कि शायद यह तीसरी विचारधारा वह है जिसका प्रतिनिधित्व यापनीय संघ करता था और जो अब लुप्त हो गया है और पउमचरिय शायद उसीके द्वारा बहुत समय तक सुरक्षित रहा है। इस बातकी पुष्टि महाकवि स्वयंभूके 'पउमचरिय' से होती है जो यापनीय संघके थे और जिन्होंने अपने समक्ष उत्तरपुराणानुमोदित रामायणकथाके रहते हुए भी पउमचरियका ही अनुसरण किया है।[4]

परिशिष्ट

[पउमचरिय और पद्मचरितके कुछ छायानुवादरूप उद्धरण]

सुव्वंति लोयसत्थे रावणपमुहा य रक्खसा सव्वे।
वस-लोहिय-मंसाई-भक्खणपाणे कयाहारा ॥ १०७ ॥
किर रावणस्स भाया महाबलो नाम कुंभयण्णो त्ति।
छम्मासं विगयभओ सेज्जासु निरंतरं सुयइ ॥ १०८ ॥
जइ वि य गएसु अंगं पेल्लिज्जइ गरुयपव्वयसमेसु।
तेल्लघडेसु य कण्णा पूरिज्जंते सुयंतस्स ॥ १०९ ॥
पडुपडहतूरसद्दं ण सुणइ सो सम्मुहं पि वज्जंतं।
नय उट्ठेइ महप्पा सेज्जाए अपुण्णकालम्मि ॥ ११० ॥
अह उट्ठिओ वि संतो असणमहा(णामह)घोरपरिगयसरीरो।
पुरओ हवेज्ज जो सो कुंजरमाहिसाइणो गिलइ ॥ १११ ॥
काऊण उदरभरणं सुरमाणुसकुंजराइबहुएसु।
पुणरवि सेज्जारूढो भयरहिओ सुयइ छम्मासं ॥ ११२ ॥
अन्नं पि एव सुव्वइ जह इंदो रावणेण संगामे।
जिणिऊण नियलबद्धो लंकानयरी समाणीओ ॥ ११३ ॥
को जिणिउं य समत्थो इंदं ससुरासुरे वि तेलोक्के।
जो सागरपेरंतं जंबुद्दीवं य उद्धरइ ॥ ११४ ॥
एरावणो गइंदो जस्स इ वज्जं अमोहपहरत्थं।
तस्स किर चिंतिएण वि अन्नो वि भवेज्ज भसिरासी ॥ ११५ ॥
सीहो मएण निहओ साणेण य कुंजरो जहा भग्गो।
तह विवरीयपयत्थं कईहि रामायणं रइयं ॥ ११६ ॥
अलियं पि सव्वमेयं उववत्तिविरुद्धपच्चयगुणेहि।
न य सद्दहंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए ॥ ११७ ॥

—पउमच० २ उद्देश

[1] पद्मचरितमें रविषेणने यह संख्या भी अपने सम्प्रदायके अनुसार संशोधित करके ९६ हजार कर दी है—
'पुरन्ध्रीणां सहस्राणि नवतिः षड्भिरन्विता:।'
प० च० श्लो० ६६

[2] सुरवइदिन्नाहारो अणुहुयअमयलेवलेहणा।
उम्मुक्कबालभावो तीसइ वरिसो जिणो जाओ ॥२९॥
अह अन्नया कयाई संवेगपरो जिणो मुणियदोसा।
लोगंतियपरिकिण्णो पव्वज्जमुवागओ वीरो ॥ ३० ॥

[3] निक्खंतकण्णयवरणा सेसा तित्थयरा समक्खाया।
मल्ली अरिट्ठनेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो य ॥ ५७ ॥
एए कुमारसीहा गेहाओ णिग्गया जिणवरिंदा।
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण णिक्खंता ॥ ५८ ॥

[4] देखो, 'मेरा महाकवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु' शीर्षक लेख।

यह बात रविषेणने पद्मचरितमें इस प्रकार कही है —
श्रूयन्ते लौकिके ग्रन्थे राक्षसा रावणादयः ।
वसाशोणितमांसादिपानभक्षणकारिणः ॥ २३० ॥
रावणस्य किल भ्राता कुम्भकर्णो महाबलः ।
घोरनिद्रापरीतः षण्मासान् शेते निरन्तरम् ॥ २३१ ॥
मत्तैरपि गजैस्तस्य क्रियते मर्दनं यदि ।
तप्ततैलकटाहैश्च पूर्यते श्रवणौ यदि ॥ २३२ ॥
भेरीशंखनिनादेपि सुमहानपि जन्यते ।
तथापि किल नायाति काले ऽपूर्णे विबुद्धताम् ॥ २३३ ॥
क्षुत्तृष्णाव्याकुलश्चासौ विबुद्धः सन्महोदरः ।
भक्षयत्यग्रतो दृष्ट्वा हस्त्यादीनपि दुर्द्धरः ॥ २३४ ॥
तिर्यग्भिर्मानुषैर्देवैः कृत्वा तृप्तिं ततः पुनः ।
स्वपित्येव विमुक्तान्यनिःशेषपुरुषस्थितिः ॥ २३५ ॥
अमराणां किलाधीशो रावणेन पराजितः ।
आकर्णाकृष्टनिर्मुक्तैर्बाणैर्मर्मविदारिभिः ॥ २४१ ।
देवानामधिपः क्वासौ वराकः क्वैष मानुषः ।
तस्य चिंतितमात्रेण यायाद्यो भस्मराशिताम् ॥ २४२ ॥
ऐरावतो गजो यस्य यस्य वज्रं महायुधम् ।
समेरुवारिधिं क्षोणी योऽनायासात्समुद्धरेत ॥
मृगैः सिंहवधः सोऽयं शिलानां पेषणं तिलैः ।
वधो गंडूपदेनाहेर्गजेन्द्रशासनं शुना ॥ २४६ ॥
अश्रद्धेयमिदं सर्वं वियुक्तमुपपत्तिभिः ।
भगवन्तं गणाधीशं सोऽहं पृष्टाऽस्मि गौतमम् ॥ २४८ ॥
—पद्मचरित, द्वि० प०

आपुच्छिऊण सव्वं मायापियपुत्तसयणपरिवग्गं ।
तो मुयइ भूसणाइं कडिसुत्तयकडयवत्थाइं ॥ १३५ ॥
—पउमचरिय, तृ० उ०

सिद्धाण णमुक्कारं काऊण य पंचमुट्ठियं लोयं ।
चउहि सहस्सेहि समं पत्तो जइणं परमदिक्खं ॥ १३६ ॥
आपृच्छनं ततः कृत्वा पित्रोर्बन्धुजनस्य च ।
नमः सिद्धेभ्य इत्युक्त्वा श्रामण्यं प्रतिपद्यत ॥ २८३ ॥
अलंकारैः समं त्यक्त्वा वसनानि महामुनिः ।
चकारासौ परित्यागं केशानां पंचमुष्टिभिः ॥ २८४ ॥
—पद्मचरित, तृ० प०

अह एवं परिकहिए पुणरवि मगहाहिवो पणमिऊणं ।
पुच्छइ गणहरवसहं मणहरमहुरेहि वयणेहिं ॥ ६४ ॥
वण्णाण समुप्पत्ती तिण्हं पि सुया मए अपरिसेसा ।
एत्तो कहेह भयवं उप्पत्ती सुत्तकंठाणं ॥ ६५ ॥
तो भणइ जिणवरिंदो भरह न कप्पइ इमो उ आहारो ।
समणाण संजयाण कीयगदुद्देसनिप्फण्णो ॥ ७१ ॥
—पउमच०, च० उद्देस

अथैवं कथितं तेन गौतमेन महात्मना ।
श्रेणिकः पुनरप्याह वाक्यमेतत्कुतूहली ॥ ८५ ॥
वर्णत्रयस्य भगवन् संभवो मे त्वयोदितः ।
उत्पत्तिं सूत्रकण्ठानां ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥ ८६ ॥
इत्युक्ते भगवानाह भरतेयं न कल्पते ।
साधूनामीदृशी भिक्षा या तदुद्देशसंस्कृता ॥ ८७ ॥
—पद्मचरित, च० प०

एयं हलहरचरियं निययं जो पढइ सुद्धभावेणं ।
सो लहइ बोहिलाभं बुद्धिबलाउं च अइपरमं ॥ ९३ ॥
उज्जयसत्थो वि रिवू खिप्पं उवसमइ तस्स उवसग्गो ।
अज्जिणइ चेव पुण्णं जसेण सरिसं न संदेहो ॥ ९४ ॥
रज्जरहिओ वि रज्जं लहइ धणत्थी महाधणं विउलं ।
उवसमइ तक्खणं चिय वाही सोमा य होंति गहा ॥ ९५ ॥
महिलत्थी वरमहिलं पुत्तत्थी गोत्तनंदणं पुत्तं ।
लहइ परदेसगमणे समागमं चेव बंधूणं ॥ ९६ ॥
—पउम च० ११८ उ०

वाचयति शृणोति जनस्तस्यायुर्वृद्धिमीयते पुण्यम् ।
चाकृष्टखड्गहस्तो रिपुरपि न करोति वैरमुपशममेति ॥ १४७ ॥
किं चान्यद्धर्मार्थी लभते धर्मं यशः परं यशसोऽर्थी ।
राज्यभ्रष्टो राज्यं प्राप्नोति न संशयोऽत्र कश्चित्कृत्य. ॥ १४८ ॥
इष्टसमायोगार्थी लभते तं क्षिप्रतो धनं धनार्थी ।
जायार्थी वरपत्नी पुत्रार्थी गोत्रनन्दनं प्रवरपुत्रम् ॥ १४९ ॥
—प० १२३ वाँ प०

एवं वीरजिणेण रामचरियं सिद्धं महत्थं पुरा
पच्छाखंडलभूइणा उ कहियं सीसाण धम्मासयं ।
भूओ साहुपरंपराए सयलं लोए ठियं पायडं
एत्ताहे विमलेण सुत्तसहियं गाहानिबद्धं कयं ॥ १०२ ॥
पउम०, ११८ वाँ उ०

निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्द्धमानेन यत्,
तत्त्वं वासवभूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्यस्य च ।
शिष्येणोत्तरवाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः,

श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मंगलम् ॥ १६६ ॥
—पद्मचरित, १२३ वां पर्व

*

नीचे कुछ ऐसे उद्धरण दिये जाते हैं जिनमें पद्मचरित-कारने विषयको अनावश्यक रूपसे बढ़ाया है—

जं एव पुच्छिओ सो भणइ तओ नारओ पसंसंतो ।
अत्थि महिलाए राया जणओ सो इंदुकेउसुओ ॥ १५ ॥
तस्स महिला विदेहा तीए दुहिया इमा परवरकन्ना ।
जोव्वणगुणाणुरूवा सीया णामेण विक्खाया ॥ १६ ॥
अहवा किं परितुट्ठो पडिरूवं पेच्छिऊण आलेक्खे ।
जे तीए विब्भमगुणा ते निच्चय को वणिउं तरइ ॥ १७ ॥
—पउमचरिय, २८ वां उद्देस

अस्त्यत्र मिथिला नाम पुरी परमसुन्दरी ।
इन्द्रकेतोस्सुतस्तत्र जनको नाम पार्थिवः ॥ ३३ ॥
विदेहेति प्रिया तस्य मनोबन्धनकारिणी ।
गोत्रसर्वस्वभूतेयं सीतेति दुहिता तयोः ॥ ३४ ॥
निवेद्यैवमसौ तेभ्यः कुमारं पुनरुक्तवान ।
बाल मा या विषादं त्वं तवेयं सुलभैव हि ॥ ३५ ॥
रूपमात्रेण यातोऽसि किमस्या भावमीदृशं ।
ते तस्या विभ्रमा भद्र कस्ता वर्णयितुं क्षम ॥ ३६ ॥
तया चित्तं समाकृष्टं तवेति किमिहाद्भुतम् ।
धर्मध्याने दृढं बद्धं मुनीनामपि सा हरेत ॥ ३७ ॥
आकारमात्रमेतत्तस्या न्यस्तं मया पटे ।
लावण्यं यत्तु तत्तस्या तस्यामेवैतदीदृशम् ॥ ३८ ॥
नवयौवनसंभूतकान्तिसागरवीचिषु ।
या तिष्ठति तरंतीव संसक्ता स्तनकुंभयोः ॥ ३९ ॥
तस्या श्रोणी वरारोहा कान्तिसंछादितांशुका ।
वीक्षितोन्मूलयत्स्वान्तं समूलमपि योगिनाम् ॥ ४० ॥
—पद्मचरित, २८ वां पर्व

इह जंबुदीवदीवे दक्खिणभरहे महंतगुणकलिओ ।
मगहा णाम जणवओ नगरागरमंडिओ रम्मो ॥ १ ॥
गाम-पुर-खेड कव्वट-मडम्बदोणीमुहेसु परिकिण्णो ।
गोमहिसिबलवपुण्णो धणणिवहणिरुद्धसीमपहो ॥ २ ॥
सत्थाहसेट्ठिगणवइ-कोडुम्बियपमुहसुद्धजणणिवहो ।
मणिकणगरयणमोत्तियबहुधन्नमहंतकोट्ठारो ॥ ३ ॥
देसम्मि तम्मि लोगो विण्णाणवियक्खणो अइसुरूवो ।
बलविहवकंतिजुत्तो अहियं धम्मुज्जयमईओ ॥ ४ ॥
नडनट्टछत्तलंखयणिच्चं णच्चंतगीयसद्दालो ।
णाणाहारपसाहिय भुंजाविज्जंतपहियजणो ॥ ५ ॥
अहियं वीवाहूसव-वियावडो गंधकुसुमतत्तिल्लो ।
बहुपाणखाणभोयण अणवरयं वड्ढिउच्छाहो ॥ ६ ॥
पुक्खरणीसु सरेसु य उज्जाणेसु य समंतओ रम्मो ।
परचक्कमारितक्कर-दुब्भिक्खविवज्जिओ मुइओ ॥ ७ ॥
—पउमच० द्वि० उ०

अथ जंबूमति द्वीपे क्षेत्रे भरतनामनि ।
मगधाभिख्यया ख्यातो विषयोऽस्ति समुज्ज्वलः ॥ १ ॥
निवासः पूर्णपुण्यानां वासवावाससन्निभः ।
व्यवहारैरसंकीर्णैः कृतलोकव्यवस्थितिः ॥ २ ॥
क्षेत्राणि दधते यस्मिन्नुत्खातान लांगलाननैः ।
स्थलाब्जमूलसंघातान्महीसारगुणानिव ॥ ३ ॥
क्षीरसेकादिवोद्भूतैर्मन्दानिलचलद्दलैः ।
पुण्ड्रेक्षुः दसंतानैर्व्याप्तानंतरभूतलः ॥ ४ ॥
अपूर्वपर्वताकारैर्विभक्तैः खलधामभिः ।
सस्यकूटैः सुविन्यस्तैः सीमांता यस्य संकटाः ॥ ५ ॥
उद्धाटकघटीसिक्तैर्यत्र जीरकजूटकैः ।
नितांतहरितैर्भूर्मी जटालेव विराजते ॥ ६ ॥
उर्वरायां वरीयोभि यः शालेयैरलंकृतः ।
मुद्गकोशीपुटैर्यस्मिन्नुद्देशान्कपिलत्विषा ॥ ७ ॥
तापस्फुटितकोशीकै राजमाषैर्निरन्तराः ।
उद्देशा यत्र किर्मीरा निक्षेप्रिय-तृणोद्गमा (?) ॥ ८ ॥
अधिष्ठिते स्थलीपृष्ठे श्रेष्ठगोधूमधामभिः ।
प्रशस्यैरन्यशस्यैश्च युक्तोऽत्यूहवर्जितैः ॥ ९ ॥
महामहिषपृष्ठस्थगायद्गोपालपालितैः ।
कीटातिलंपटोद्ग्रीवबलाकानुगतध्वनिः ॥ १० ॥
विवर्णसूत्रसंबधघण्टा रटंति हारिभिः
क्षरद्भिरजस्रात्स्पर्शात्क्षीरोदव-पयः ॥ ११ ॥
सुस्वादुस्वसंपन्नैर्बोष्पच्छेद्यैरनंतरैः ।
तृणैस्तृप्तिं परिप्राप्तैर्गोधनैः सितकक्षपः ॥ १२ ॥
मार्गीकृतसमुद्देशः कृष्णसारैर्विसारिभिः ।
सहस्रसंख्यैर्गीर्वाणस्वामिनो लोचनैरिव ॥ १३ ॥
केतकीधूलिधवला यस्य देशाः समुन्नताः ।
गंगापुलिनसंकाशा विभांति जिनसेविताः ॥ १४ ॥

शाककंदलवाटेन श्यामलः श्रीधर क्वचित् ।
वनपालकृतास्वादैर्नालिकेरैर्विराजितः ॥ १५ ॥
कोटिभिः शुकचंचूनां तथा शाखामृगाननैः ।
संदिग्धकुसुमैर्युक्तः पृथुभिर्दाडिमीवनैः ॥ १६ ॥
वत्सपालीकराघृष्टमातुलिंगीफलांभसा ।
लिप्ताः कुंकुमपुष्पाणां प्रकरैरुपशोभिताः ॥ १७ ॥
फलस्वादपयःपानसुखसंसुप्तमार्गगाः ।
वनदेवीप्रपाकारा द्राक्षाणां यत्र मंडपाः ॥ १८ ॥ इत्यादि

पद्मचरित, द्वि० पर्व

विश्ववाणीका 'जैनसंस्कृति अंक'

[भारतकी प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका 'विश्ववाणी' के सुसम्पादक भाई विश्वम्भरनाथजीने, जैन-संस्कृतिके सम्बन्धमें अपना जो विचार इसी अप्रैल मासकी विश्ववाणीमें व्यक्त किया है और साथ ही विश्ववाणीका एक 'जैनसंस्कृति अंक' भी निकालनेका विचार प्रस्तुत किया है, वह सब अनेकान्तके पाठकोंके जानने योग्य है। अतः उसे नीचे प्रकट किया जाता है। मैं सम्पादकजीके इस सद्विचारका अभिनन्दन करता हुआ जैनविद्वानोंसे अनुरोध करता हूँ कि वे उनकी इस सतयोजना को सफल बनानेमें लेखादिद्वारा अपना पूरा सहयोग प्रदान करें। —सम्पादक]

"भारतीय समाजमें जैनसंस्कृतिको लेकर आज अनेकों ग़लतफ़हमियां फैली हुई हैं। लोगोंमें यह भ्रम समाया हुआ है कि जैनोंका अहिंसाने ही भारतको गारत किया, जैनधर्म और जैनसंस्कृतिका भारतीय सभ्यताके निर्माणमें कोई हाथ नहीं और जैनसमाज भारतीय समाजका एक ऐसा अंग रहा है जिसपर भारतको कोई अभिमान नहीं हो सकता आदि तरह तरहकी मिथ्या बातें पढ़े लिखे लोगोंके दिमागोंमें घर किए हुए हैं। सौभाग्यसे इतिहासके अनुसार वास्तविकता ऐसी नहीं है। जैनदार्शनिकों और अध्यात्मिक नेताओंने हजरत ईसासे दो शताब्दी पूर्व मध्य एशिया, निकटपूर्व, फिलस्तीन इथियोपिया और मिश्र तक अपने मठ कायम करके वहांसे जैनधर्मका प्रचार किया था। जैसे जैसे पुरातत्ववेत्ता इतिहासपरसे अतीतका आवरण हटाते जाते हैं वैसे वैसे जैनसंस्कृतिके सम्बन्धमें नई नई बातें दुनियाके सामने आती जाती हैं। यह भी हर्षका विषय है कि मन्दिरजीके तहखानोंसे निकलकर जैनदर्शनकी पुस्तकें प्रकाशमें आ रही हैं और जैनसंस्कृतिके व्यापक स्वरूपका परिचय धीरे धीरे लोगोंको मिलता जा रहा है। जैनपुरातत्व के अनुसन्धानका काम केवल जैनोंका कर्तव्य नहीं है, प्रत्येक भारतीय विद्वानको जैनसंस्कृतिको भारतीय संस्कृतिका एक महान् अंग मानकर उसपर गवेषणा और अन्वेषण करना चाहिये।

हमने पहले यह सोचा था कि मई १९४२ का 'विश्ववाणी' का अंक बौद्ध और जैनसंस्कृतिके नामसे निकाला जाय, किन्तु हमने यह देखा कि इस तरह न तो हमें सन्तोष होगा और न हम जैनसंस्कृतिके साथ समुचित न्याय कर पायेंगे। इस विचारसे हमने यह निश्चय किया है कि 'विश्ववाणी' का मईका अंक "बौद्ध संस्कृति" अंक होगा और आगामी पर्युषण पर्वपर हम 'विश्ववाणी' का एक पूरा अंक 'जैनसंस्कृति' पर निकालें, जिसमें जैनधर्म, जैन-संस्कृति, जैनदर्शन, जैनकर्मयोग, जैनतीर्थङ्कर, जैनस्थापत्य, जैनकला, जैनसाहित्य विदेशोंमें जैनधर्म आदि आदि विषयोंपर पूरा पूरा प्रकाश डाला जाय।

देशके समस्त जैन और अजैन विद्वानोंसे हमारी नम्र प्रार्थना है कि वे हमें इस काममें मदद दें। जिन भाइयों को इस सम्बन्धमें हमने अब तक व्यक्तिगत निमन्त्रण नहीं दिया वह अपरिचित होनेके कारण ही। अभी तीन चार महीनेका समय है और यदि हमें सबका सहयोग मिला तो हम पर्युषण पर्वपर एक शानदार और आदर्श 'जैनसंस्कृति अंक' निकालनेमें सफल हो सकेंगे।"

ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह और दिगम्बर समाज

[लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा]

दिगम्बर समाजके ऐतिहासिक साधनोंके प्रकाशनकी उपेक्षा बड़ी अखरती है। सैकड़ो विद्वानोंके रहते हुए भी इस उपेक्षाका विचार करने पर सखेद आश्चर्य होता है। श्वेताम्बर समाजकी ओरसे इस ओर अपेक्षाकृत अच्छा प्रयत्न हुआ है। उनके कई प्रतिमा-लेखसंग्रह, ग्रन्थसूची, साहित्यका इतिहास, पट्टावली-संग्रह, प्रशस्तिसंग्रह, ऐतिहासिक काव्य इत्यादि अनेक ऐतिहासिक साधन प्रकाशित हो चुके हैं व हो रहे हैं। तब दिगम्बर समाजकी ओर से अद्यावधि एक भी पट्टावलीसंग्रह, साहित्यका इतिहास प्रकाशित हुआ देखनेमें नहीं आता। भास्कर एवं अनेकान्तमें प्रकाशित कई स्थानोंमें मैंने दिगम्बर समाजका ध्यान इस महत्वपूर्ण कार्यकी ओर आकर्षित किया है, और यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वीरसेवामन्दिर द्वारा दिगम्बर ग्रन्थसूची प्रकाशित करनेका प्रयत्न चालू हो गया है, पर अभी तक अन्य कई महत्वपूर्ण कार्योंकी ओर कोई प्रयत्न प्रारम्भ होनेकी सूचना नहीं मिली, आशा है अन्य ऐतिहासिक साधनोंके प्रकाशनकी ओर भी दिगम्बर विद्वान् और समाजके प्रतिष्ठित शीघ्राति-शीघ्र ध्यान देंगे।

ऐतिहासिक साधनोंमें प्रशस्ति-संग्रह का वही स्थान है जो कि शिलालेख-संग्रहका है। क्योंकि जिस प्रकार शिलालेख-संग्रह-द्वारा मन्दिर और मूर्तियोंके निर्माण-समय, निर्माताका वंश-परिचय, प्रतिष्ठापक आचार्यकी गुरुपरम्परा एवं जिस राजाके शासनकाल में प्रतिष्ठा हुई उन सब बातोंकी जानकारी होती है। उसी प्रकार ग्रन्थ-प्रशस्तिमें भी प्रायः वे सभी बातें गुंफित रहती हैं। अतएव शिलालेख-संग्रहके प्रकाशन की भांति पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह भी महत्वपूर्ण कार्य समझकर उनके प्रकाशनकी ओर ध्यान देना चाहिए।

ग्रन्थप्रशस्ति दो प्रकारकी होती हैं, जिनमसे प्रथम ग्रन्थ-रचना-प्रशस्तिमें कविकी गुरुपरम्परा, रचनाकाल एवं स्थान, तत्कालीन राजा, बादशाहादि का नाम, प्रेरक और सहायक का नाम आदि बातें लिखी हुई पाई जाती है। दूसरी ग्रन्थ प्रशस्ति (जिसे पुष्पिका लेख भी कहते हैं) में प्रतिके लेखनका समय, स्थान, लेखक और लिखवाने वालेकी पूर्व परम्परा, राजाका नाम, इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण जानकारीका समावेश होता है जो कि भारतीय इतिहास, भौगोलिक जैन गच्छ एवं जातियोंके इतिवृत्तके सम्बन्धमें बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री कही जा सकती है।

इन दोनों प्रकारकी प्रशस्तियोंमें संख्याकी दृष्टिसे पहिले प्रकार वाली अपेक्षाकृत कम और दूसरे प्रकार की अत्यधिक पाई जाती हैं, क्योंकि एक ही ग्रन्थकी सैकड़ो हजारो प्रतियाँ यत्र तत्र उपलब्ध होती है, जिनमें रचना प्रशस्ति तो सबमें एक समान अर्थात एक ही होती है पर लेखन-प्रशस्ति भिन्न भिन्न और कभी कभी एक ही ग्रन्थमें दो-तीन प्रशस्तियां तक पाई जाती हैं। अतएव इन दोनो प्रकारकी प्रशस्तियोका संग्रह ऐतिहासिक संशोधनमें बहुत ही आवश्यक एवं उपयोगी है।

श्वेताम्बर समाजके विद्वानोंका ध्यान बहुत अरसे से इन दोनों प्रकारके प्रशस्तिसंग्रहकी ओर आकृष्ट है, फलतः हजारों प्रशस्तियां प्रकाशमें आ चुकी हैं और हजारों अप्रकाशित रूपमें कई विद्वानोके पास संकलित पड़ी हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य शोधक विद्वानोंने अनेक श्वेताम्बर ज्ञान भण्डारोंका निरीक्षण कर उन ग्रन्थ प्रशस्तियोंको अपनी रिपोर्टों एवं सूचियों

में प्रकाशित किया है। डा० पिटर्सन, बूल्हर, किल्हर्न, भण्डारकर, आदिको रिपोर्टें विविध ग्रन्थ संग्रहालयों को सूचियें, जैन ग्रन्थोंकी स्वतन्त्र सूचियां जैसे संस्कृत-कालेज कलकत्ता, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना, जेसलमेर और पाटणके भण्डारोंकी सूचियां, जैन गूर्जर कवियों भाग १-२-३ इस कथनके महत्वपूर्ण निदर्शन हैं। स्वतन्त्र रूपसे भी श्वेताम्बर समाजको ओरसे दो प्रशस्तिसंग्रह छप चुके हैं। जिनमेंसे देशविरति धर्माराधक समाजकी ओरसे प्रकाशित श्री प्रशस्ति-संग्रहमें ताड़पत्र एवं कागज पर लिखित लगभग १५०० पुस्तकोंके पुष्पिका-लेख प्रगट हो चुके हैं। और सिंधी जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित मुनिजिनविजय जी सम्पादित 'जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह' में ५४४ महत्त्व-पूर्ण प्राचीन पुष्पिकालेख छप चुके हैं। यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। मुनिजीका विचार इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित करनेका है। इन प्रकाशित प्रशस्तियोंमेंसे कई कई प्रशस्तियाँ तो ४०-५० श्लोको तक की हैं जो काव्यकी दृष्टिसे भी बड़ी सुन्दर हैं, जिन्हें हम खण्ड काव्य भी कह सकते हैं। अप्रकाशित प्रशस्तियोंमें हमारी संग्रहीत करीब ३०००, स्वर्गीय बाबू पूर्णचन्दजी नाहटा संग्रहीत २०००, श्री विजयेन्द्र सूरिजी संग्रहीत लगभग १०००, श्री हरिसागर सूरि संग्रहीत ग्रन्थ रचना प्रशस्ति करीब १००, इसी प्रकार अन्य विद्वानोंके पास भी हज़ारों प्रशस्तियां संग्रहित है। हम नहीं कह सकते कि दिगम्बर विद्वानोंमेंसे किस किसने कितनी प्रशस्तियोंका संग्रह किया है पर प्रकाशित रूपसे तो हमारे सामने केवल निम्नोक्त ३ ग्रन्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं:—

१—रायबहादुर हीरालाल सम्पादित Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts के पृष्ठ ७१७ से ७६८ में।

२—श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन बम्बईकी रिपोर्टों में।

३—जैन सिद्धान्त भवन, आरासे प्रकाश्यमान जैन सिद्धान्त भास्करमें।

इससे पाठकोंको सहज ही मे अनुमान हो जायगा कि श्वेताम्बर समाजकी अपेक्षा दिगम्बर समाजका प्रयत्न इस ओर बहुत ही कम है।

अब हम नमूने स्वरूप बीकानेरके श्री जिनचारित्र सूरि ज्ञानभण्डारस्थ दिगम्बर गुणभद्रकृत धनद-चरित्रका पुष्पिकालेख नीचे देते हैं जिससे पाठकोंको प्रशस्तिसंग्रहके महत्त्वका थोड़ासा आभास मिलजायगा।

धनदचरित्रकी लेखन प्रशस्ति:—

(१) सम्वत १५२१ वर्षे अश्विनी बदि ६ गुरुवासरे पुस्तक लिखितं बहुद्रव्यपुरे आलमखानराज्यप्रवर्त्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री हेमकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री कुमारसेनदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री हेमचन्द्र देवाः तदाम्नाये।

(२) अथ संवत्सरेस्मिन श्रीनृपविक्रमादित्य राज्ये सं० १५६० वर्षे मार्गशिर सुदि ११ दिने बृहस्पतिवारे अश्विनीनक्षत्रे परिघजोगे श्री कुरुजांगलदेशे सुलितान मुगल कावली हमायुं राज्यप्रवर्त्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री मलयकीर्ति देवान तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणभद्रसूरि देवान तस्य शिष्य मुनि धर्मदास तस्य आम्नाये अग्रोतक वंश भूषणे गर्गगोत्र दहीरपुरवा तस्य श्रावकाचार विचारणैकविदग्धान सा० डालू तस्य भार्या शीलशालिनी गुणमालिनी विनयवागेश्वरी साध्वी जालपही तस्य पुत्र रत्नत्रय धर्म इव ३ सा० रामचन्द्र कर्मचन्द्र तस्य भार्या देइ द्वितीय पु० सा० कर्मचन्द्र त० भा० सा० डालु ३ पुत्र सा० माडणु तस्य भा० शीलो तोयतरंगिणी सा० केल्हणही तस्य पु० द्वौ प्र० राजसभा शृंगार हारान सा० हसू तस्य भार्या टाकरही तस्य पु० धर्मानुरक्त श्रावकाचारदक्ष चतुर्विध दानदायक सा० भीखा तस्य भार्या साध्वी बालाही। हांसू द्वि पुत्रो सा० जेटा तस्य भार्या सर्वगुणालंकृत साध्वी लूणाही तस्य पुत्र चिरंजीवि भारथी चन्दु माडणु द्वि पु० सहसू तस्य भार्या सा० डुगरही एतेषां मध्ये सर्वज्ञ ध्वनिनिर्गत जीवादि षड्द्रव्य श्रद्धायें सा० हासू तस्य पुत्रेण इदं धनदचरित्रं अन्य पुमान हस्तात् गृहीय छुडाई मोल लेई दीनी ब्रह्म० धर्मदासस्य प्रदत्तं पठनार्थम्।

तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण

द्वितीय लेख

[लेखक—पं० फूलचन्द्र जैन शास्त्री]

तत्त्वार्थसूत्र यह नाम बतलाता है कि इसमें तत्त्वार्थ-विषयक सूत्रोंका संग्रह किया गया है। जिनागममें सात तत्त्व और नौ पदार्थ कहे गये हैं। सात तत्त्वोंका कथन करते समय पुण्य और पाप स्वतन्त्र नहीं गिने जाते, वे आस्रव और बन्धमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। तथा नौ पदार्थोंका कथन करते समय पुण्य और पाप आस्रव और बन्धसे अलग गिने जाते हैं। सात तत्त्वों और नौ पदार्थोंकी कथनीमें यही अन्तर है। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रचलित ग्रन्थोंमें ये दोनों परंपराएं स्वतन्त्ररूपसे अपनाई गई हैं। पर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नौ पदार्थ विषयक परम्परा ही अधिकतर पाई जाती है। सात तत्त्व-विषयक परम्परा तत्त्वार्थाधिगम सूत्रको छोड़कर अन्यत्र एक तो पाई नहीं जाती, पाई भी जाती है तो वह बहुत बादके एक-दो ग्रन्थोंमें ही पाई जाती है। तात्पर्य यह कि सात तत्त्व-विषयक मान्यताको श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके बाद भी विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। सर्वत्र तत्त्व या तत्त्वार्थरूपसे नौ पदार्थोंका ही उल्लेख किया जाता है। अतः इस विषयका साधार विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रमें सूत्रकारने विवेचन करनेके लिए जो सात तत्त्व स्वीकार किए हैं उसपर किस सम्प्रदायको मान्यताका प्रभाव है। इस विचारके लिए निम्न विभाग आवश्यक प्रतीत होते हैं :—

(१) सूत्र, भाष्य और उसकी टीकाएँ।

(२) सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके विषयमें दोनों सम्प्रदायोंके आगम-प्रमाण।

सूत्र, भाष्य और उसकी टीकाएँ

तत्त्वार्थसूत्रके पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें सात तत्त्वोंके नाम गिनाये हैं। इस सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिकार और भाष्यकारने जो व्याख्या की है उसमें अन्तर है। उक्त सूत्रमें सूत्रकारने प्रथमपद बहुवचनान्त और द्वितीय (तत्त्वं) पद एक वचनान्त रक्खा है। इसका सर्वार्थसिद्धिकारने 'विशेषण विशेष्य भावके रहते हुए भी कामचार देखा जाता है' इस अभिप्रायानुसार समर्थन किया है। पर भाष्यकारने जो कुछ लिखा है वह भिन्न ही है। वे लिखते हैं—

"जीवा अजीवा आस्रवो बन्धः संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्। एते वा सप्त पदार्थास्तत्त्वानि।"

विशेषण विशेष्यभावके रहते हुए कामचार (यथेच्छ प्रयोग) को भाष्यकार भी स्वीकार करते हैं। भाष्यमें ऐसे अनेक स्थल पाये जाते हैं जहां द्विवचनान्तके साथ एकवचनान्त, बहुवचनान्तके साथ एक वचनान्त आदि प्रयोग किये गये हैं। इसलिए सूत्रमें जो कामचार है उसके निवारणके लिये भाष्यकार 'इत्येष' आदि कहते होंगे यह तो कहा नहीं जा सकता है। फिर इस प्रयोगका क्या कारण है यह विचारणीय हो जाता है।

जहां तक शैलीके सम्बन्धमें विचार किया जाता है तो इसी प्रकारके अन्य सूत्रोंपर लिखे गये भाष्यको देखनेसे यही प्रतीत होता है कि उनके प्रकृत लेखनसे शैलीका कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणके लिए पहले अध्यायका ६वां सूत्र ही ले लीजिये। वहां भाष्यकार 'एतत्पंचविधं ज्ञानम्' इतना ही कहकर आगे

बढ़ गए हैं। वहाँ 'एतानि वा पंच ज्ञानानि' आदि विकल्पान्तर नहीं सुझाया। भाष्यके टीकाकारोंने इस का एक समर्थन किया है। सिद्धसेन गणि लिखते हैं–

"सामान्येन विवक्षिता सतो सैकत्वमिव बिभर्ति. मुख्यया तु कल्पनया वस्तुधर्मत्वात् प्रतिवस्तु भेत्तव्या भवति। तदा तु बहुवचनेनैव भवितव्यमेवेति।"

अर्थात्—जीवादि अर्थोंमें रहने वाली स्वसत्ता जब सामान्यरूपसे विवक्षित होती है तब वह एक कही जाती है और जब मुख्य कल्पनासे विचार करते हैं तो वह वस्तुका धर्म होनेके कारण प्रत्येक वस्तुमें अलग अलग हो जाती है। अतः उस समय 'तत्त्व' पद बहुवचन ही होना चाहिये।

यह तो स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें तत्त्वोंका प्रतिपादन सामान्यरूपसे विवक्षित नहीं है, तभी तो उनके सात नाम गिनाये। पर सिद्धसेनगणिने भाष्यके उक्त अंशका जो अभिप्राय निकाला है तदनुसार मूलसूत्रमें तत्त्वपद एक वचनान्त और बहुवचनान्त इसप्रकार दोनों प्रकारसे होना चाहिये। भाष्यकारके उक्त भाष्यांशका यदि यही अभिप्राय मान लिया जाय तो कहना होगा कि मूल सूत्रकार और भाष्यकार ये एक व्यक्ति नहीं है, किन्तु भिन्न भिन्न हैं। स्वयं सूत्रकार इस प्रकार प्रयत्न करेगा, यह विचारणीय हो जाता है।

इसीप्रकार छठे अध्यायके श्वेताम्बर-सम्मत सूत्रपाठमें पुण्य और पापविषयक दो सूत्र माने गये हैं, जिनकी क्रमसंख्या ३ और ४ है। पर पापविषयक सूत्रके विषयमें मतभेद है। सिद्धसेनगणिकी टीकानुसार तो 'अशुभः पापस्य' यह चौथा सूत्र होता है और हरिभद्रसूरिकी टीकानुसार 'शेषं पापमिति' यह चौथा सूत्र होता है। इन दोनों सूत्रोंमेंसे किसी भी सूत्रपर भाष्य नहीं पाया जाता है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, इस लिये यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि भाष्यकारने इनमेंसे किसे सूत्ररूपसे स्वीकार किया होगा। इस समय जो प्रमाण पाये जाते हैं उनके अनुसार विचार करनेसे तो यही प्रतीत होता है कि 'अशुभः पापस्य' यह भाष्यमान्यसूत्र नहीं है, क्योंकि, सिद्धसेनगणिने 'अशुभः पापस्य' इस सूत्रका जो भाष्य माना है वह इससे पहलेके सूत्र 'शुभः पुण्यस्य' का ही है इसका नहीं। उसमें तो पुण्यप्रकृतियोंकी ही सूचना दी गई है इस लिये उसे चौथे सूत्रका भाष्य कहना असंगत है। तथा सारे तत्त्वार्थसूत्रमें पूर्व सूत्रमें जो विषय कहा गया है उससे शेष रहे विषयका प्रतिपादन यदि पारिशेषन्यायसे हो जाता है तो भाष्यकार उसके लिये स्वतंत्र सूत्रकी आवश्यकता नहीं मानते हैं जैसा कि उनकी कथनशैली से मालूम पड़ता है। हरिभद्रसूरिने अपनी टीकामें 'अशुभः पापस्य' इसे कोई स्थान नहीं दिया और इसके भाष्यको पूर्व सूत्रका ही भाष्य माना है। अतः यही कहा जा सकता है कि यह भाष्यसम्मत सूत्र नहीं है। वह कब और कैसे जुड़ गया यह प्रश्न विचारणीय है जिस पर आगे प्रकाश डाला गया है।

हरिभद्रसूरिने 'शेषं पापमिति' इस प्रकार जो चौथासूत्र माना है वह सिद्धसेन गणिकी टीकामें भाष्यका अंश माना गया है। इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि यह पाठ भाष्यसम्मत है। केवल विचारणीय यह रह जाता है कि यह सूत्र है या नहीं। पर इसका विचार करते समय हमें आठवें अध्यायके 'अतोऽन्यत्पापमिति' इस पाठको भी सामने रख लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि, भाष्यकार यहां जिस विषयकी सूचना 'शेषं पापमिति' पाठ द्वारा कर रहे हैं उसी विषयकी सूचना वे आठवें अध्यायमें 'अतोऽन्यत्पापमिति' पाठ द्वारा भी कर रहे हैं।

इसे सूत्र मानने और न माननेके विषयमें तो इतना ही कहा जा सकता है कि सर्वत्र भाष्यकारने जो नीति अपनाई है तदनुसार यह भाष्यांश ही होना चाहिये। यदि यह स्वतंत्र सूत्र माना जाय तो आठवें अध्यायमें 'अतोऽन्यत्पापम्' को सूत्ररूपसे स्वीकार नहीं करनेका कोई सबल प्रमाण नहीं पाया जाता है। भाष्य न पाये जानेकी युक्ति दोनों सूत्रोंके लिये समान है।

सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ मूल है या नहीं इस विषयपर तो इस लेखमालाके अनन्तर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। पर दूसरे अध्यायके अन्तिम

सूत्रकी वृत्तिमें पाठान्तरकी सूचना, चौथे अध्यायके २२ वे सूत्रकी वृत्तिमें 'अयमर्थः सूत्रतः कथं गम्यते' इत्यादि ऐसे स्थल है, जिनसे भी यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्वार्थसिद्धिवृत्ति मूल सूत्रोंके आधारसे लिखी गई होगी। इसलिये सर्वार्थसिद्धिमें निबद्ध 'अशुभः पापस्य' यह सूत्रांश सर्वार्थसिद्धिकार का न होकर मूल सूत्रकारका ही रहा होगा, यह कहा जा सकता है। पर एक तो भाष्यकारने इसे स्वीकार ही न किया होगा, यदि स्वीकार भी किया होगा तो वह भाष्यके अवयवरूपसे ही स्वीकार किया होगा। इसे मिलाकर यदि समूचा भाष्य पढ़ा जाता है तो उसका स्वरूप निम्नप्रकार होता है। जो कि 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' को एक सूत्र मान लेने पर अपने रूपमें परिपूर्ण कहा जा सकता है। यथा—

'शुभो योगः पुण्यस्य आस्रवो भवति अशुभः पापस्य। तत्र सद्वेद्यादि पुण्यं वक्ष्यते। शेषं पापमिति।'

इससे दो अनुमान किये जा सकते है। एक तो श्वेताम्बर परंपरामें 'अशुभः पापस्य' यह सूत्र कैसे बना, इस पर भी इससे प्रकाश पड़ जाता है। सिद्धसेन गणिके सामने कदाचित यह प्रश्न रहा हो कि 'शुभः पुण्यस्य' इस सूत्रकी व्याख्यारूपसे भाष्यमें इसे कैसे स्थान दिया जा सकता है इस लिये उन्होने इसे दूसरा सूत्र मान लिया हो। दूसरे स्वयं भाष्यकार संदेहास्पद हों कि इसे भाष्यमें स्थान दिया जाय या पारिशेषन्यायकी सरणीके अनुसार अनुक्तके समुच्चयसे काम निकाला जाय। इस द्विधावृत्तिके कारण किसी पुस्तकमें वह जुड़ गया हो और किसीमें न जुड़ा हो। यदि यह दूसरा अनुमान ठीक हो तो यह विवादका सारा मामला समाप्त हो जाता है। तथा इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सूत्रकार और भाष्यकार ये अलग अलग दो व्यक्ति होने चाहियें।

सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके विषयमें दोनों संप्रदायोंके आगमोंके प्रमाण

अब हम दोनों सम्प्रदायके आगमोंके प्रमाण उपस्थित किये देते हैं, जिससे पाठकोंको इस विषयके निर्णय करनेमें सहायता मिले कि तत्त्वार्थसूत्रपर किस सम्प्रदायकी मान्यताकी गहरी छाप है :—

भगवान कुन्दकुन्द लिखते हैं—

दव्वत्थिकायछप्पण तच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु। ६४
—रयणसार

अर्थ—द्रव्य छह हैं, अस्तिकाय पांच है, तत्त्व सात है और पदार्थ नौ हैं।

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २० ॥

अर्थ—द्रव्य छह हैं, पदार्थ नौ हैं, अस्तिकाय पांच हैं और तत्त्व सात हैं। इनके स्वरूपका जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदस गुणठाणणामाइं ॥९५॥
—भावप्राभृत

अर्थ—सर्वविरत मुनि भी नौपदार्थ, साततत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानोका चिन्तवन करे।

श्वेताम्बर परम्परामें सात तत्त्वोंका उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता है। स्वयं श्रद्धेय पं० सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिकामें लिखते हैं :—

"इस मीमांसामें भगवान्ने नवतत्त्वोंको रखकर इनपर की जाने वाली अचल श्रद्धाको जैनत्वकी प्राथमिक शर्तके रूपमें वर्णन किया है। त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीरके मार्गका अनुयायी तभी माना जा सकता है जबकि उसने चाहे इन नवतत्त्वोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न किया हो, तो भी इनके उपर यह श्रद्धा रखता ही हो; अर्थात् जिन-कथित ये तत्त्व ही सत्य हैं ऐसी रुचि-प्रतीति वाला हो। इस कारणसे जैन-दर्शनमें नव तत्त्व जितना दूसरे किसीका महत्व नहीं है। ऐसी वस्तुस्थितिके कारण ही वा० उमास्वातिने अपने प्रस्तुत शास्त्रके विषयरूपसे इन नवतत्त्वोंको पसंद किया।"……

पंडितजीके इस उल्लेखसे ही स्पष्ट हो जाता है कि श्वेताम्बर परंपरामें नौपदार्थोंको ही अपनाया गया है सातको नहीं। आगम ग्रन्थोंमें भी नौपदार्थोंका ही

उल्लेख पाया जाता है। स्थानांग अध्ययन ६ में लिखा है :—

"नव सब्भावपयत्था पएणत्ते। तं जहा-जीवा अजीवा पुएणं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।" सूत्र ६६५।

इसका अर्थ स्पष्ट है। धर्मसंग्रह, कर्मग्रन्थ आदिमें इसी प्रकारके और भी प्रमाण पाये जाते हैं, जो यहां नहीं दिये हैं। यहाँ 'जीवा अजीवा' ये दोनों पद बहुवचनान्त पाये जाते हैं। आस्रवपदके सम्बन्धमें मतभेद है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भाष्यमें स्थानांगका यह अनुकरण ध्यान देने योग्य है। तथा तत्त्वार्थ भाष्यके छठे अध्यायमें आये हुए 'शेषं पापमिति' और आठवें अध्यायमें आये हुए 'अतोऽन्यत्पापमिति' इन दोनों वाक्योंमें जो रचना-वैचित्र्य पाया जाता है वह भी ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार इस लेखमें एक तो पुण्य-पाप विषयक सूत्रों में और उनके भाष्यमें जो मतभेद पाया जाता है उसका क्या कारण रहा होगा इसपर तथा मात तत्त्वविषयक मान्यता दिगम्बर सम्प्रदायकी ही विशेषता है, इसपर प्रकाश डाला गया है। आशा है विद्वान पाठक इससे समुचित लाभ उठावेंगे।

हृदयद्रावक दो चित्र

[चित्रलेखक—श्री बा० महावीरप्रसाद जैन, बी० ए०]

[१]

बिटियासे····

बिटिया! नीचेकी ओर म्लानमुख किये क्यों बैठी हो?

रह रहकर गर्म श्वाससे तुम्हारे नथुने फूल उठते हैं! बिना कंघी किये बाल बार बार तुम्हारा आंखों पर आ रहे हैं! बर्तन माँजकर अभी तुमने अपने हाथ भी नहीं धोये?

अरे! तुम तो रोने लगी!!

क्या मेरे इस सीधे-सादे प्रश्नमें कोई शूल गड़ा था, जिसने तुम्हारे कोमल हृदयको मर्मान्तक पीड़ासे भर दिया? ··नहीं, उठकर भाग तो न सकोगी! मेरे प्रश्नका उत्तर?

मैं समझ गया! उत्तर भी तो तुम नहीं दे सकती। यही तो तुम्हारी परिस्थितिकी सबसे बड़ी विषमता है। "शर्मकी बात" ही जो ठहरी।

सारी दुनियाकी शर्म मानों तुम्हारे ही हिस्सेमें आई है! चुपचाप उपलोंकी आगकी भाँति अन्दर ही अन्दर सुलगना तुमने हो सीखा है! जीवन और मृत्युके प्रश्नपर भी तुम ओंठ नहीं हिला सकती। उफ! कितनी विवशता है तुम्हारी!

"बाबुल हम तो खूँटेकी गइयाँ,
जिधर हाँको हँक जांय रे! सुन बाबुल मोरे!"

उसदिन तुम अपनेहीमें गुनगुना रही थी। ठीक है ··परन्तु गाय रस्सी तुड़ाकर भागनेकी चेष्टा तो करती है। किन्तु कितनी निश्चेष्ट हो तुम!

जानता हूँ कि आज इस प्रकार अकेले कमरेमें लाल-लाल आंखें सुजाये तुम क्यों रो रही हो! पिताजीने तुम्हारी माँ का सारा जेवर—नथ और अँगूठी तक—बन्धक रख दिये। एक एक करके जेवर देते समय तुम्हारी माँ बुक्का फाड़कर रो उठी थी और तुम्हारे पिता ने लौटकर कहा था—"यदि यह कम्बख्त पैदा न हुई होती तो यह दिन काहेको देखना पड़ता!

संयमकी असीम क्षमता रखते हुए भी तुम यह

नहीं कह सकी कि ऐसी शादी मुझे नहीं चाहिए ! इस शादी की चिता में अपनी प्यारी माँके सारे जेवर एक एक कर होम जाते मैं नहीं देख सकूंगी ! जबकि माता-पिता सोच रहे होंगे—"लड़की सयानी होगई, सखियोंसे शादीकी बातें करती होगी !" तुमने उनकी धारणाको झुठलानेका कुछ भी प्रयत्न नहीं किया ! ऐसा भीषण आघात चुपचाप सहलेनेकी क्षमता रखने वाली भारतीय हिन्दू-बालाम आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर जीवन-यापन करनेकी शक्ति नहीं है ! भला कौन कह सकता है ?

सर ऊपरको उठाओ बाले ! अब वह समय गया। धनके लालुपी इन "पुत्रोंके भाग्यवान पिताओं" को ज़रा बताओ तो सही कि अभागी "पुत्रियोंके भाग्य-हीन पिता" भी इसी संसारमें रहते हैं !

अधिक की आवश्यकता नहीं। बस, एक ही—मेरी बेटी, बस तुम ही काफी हो। रण-कुण्डमें चण्डीकी नाईं हुंकार करती हुई गिरने वाली एक वीर-बाला चुपचाप सिसक सिसककर घुलने वाली निरीह कन्याओंसे अधिक मूल्यवान है !

उठो ! जो भारी मन करो ...।

[२]

युवकसे...

मदान्ध युवक ! इस प्रकार विलायती सेन्ट लगे रेशमी रूमालको हवामें उछालते कहाँ जा रहे हो ?

तुम्हारे मुखपर विजयोल्लासकी आभा है, आँखोंमें चमक है और धमनियोंमें गर्मरक्त आनन्दका संचार कर रहा है ! पाँव भी धरतीपर पड़ते मालूम नहीं होते ! ..

आखिर क्यों न हो ? धनी माँ-बापके इकलौते लड़के ! सुन्दर सुगठित देह ...और तिसपर अभी बिन ब्याहे !!

भविष्यकी प्राचीमें भाग्योदयके सुन्दर रंग देख कर तुम्हारा हृदय पुलकित हो उठता है। लगता है मानों जगतके सकल पदार्थ, जो भाग्य-हीन नर नहीं पा सकेंगे, भविष्य अपने हाथोंमें लिए तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा है।

वह प्रतीक्षा भी अब अधिक लम्बी नहीं। लड़की वालोंने तो तुम्हारे पिताजीको बहुत दिन पहलेसे ही परेशान कर रक्खा है ! और अब तो तुमने बी०ए० पास भी कर लिया ! अब क्या देर है ? बस इतना ही न कि तुम्हारे पिताजी चाहते हैं कि शादी होते ही नव-वधूको लेकर विलायत जानेका खर्च पहलेसे ही लड़कीवाला दे दे ?

दसियों अभागी युवतियोंके पिता आशाएँ लिये हुए तुम्हारे पिताजीके द्वारपर आकर निराश हो लौट गये। पर परन्तु तुम्हें इससे क्या ? तुम्हारे लिए दिन भर आमोद-प्रमोदके कार्य कौनसे कम हैं ? जो इन व्यर्थकी बातोंमें मग़ज़-पच्ची करते फिरो ! सुबह स्नानकर, चाय पी, थोड़ी देर नाविल पढ़नेमें ही कालिजका समय हो जाता है। लौटते ही ब्यालूकर रेकट हाथमें ले मित्रोंके साथ टेनिस खेलने जाना और अपने क्लबकी नई मेम्बर मिसके आग्रह पर (भला उनका आग्रह कोई कैसे टाल सकता है !) प्रायः प्रतिदिन सिनेमा जाना तुमको पड़ता है। और न जाने कितनी संलग्नताएँ हैं तुम्हारी ?

उस ओर देखने की तो तनिकसी फुर्सत तुमको नहीं मिलती ? हां,—उसी ओर जहां म्लान-मुखी कुम्हलाये कमलसी तुम्हारी बड़ी बहिन अपनी आयुका एक-एक दिन बढ़ते देखकर सिहर उठती है। एक दिन पर्दे के पीछे खड़ी एक लड़की-वालेसे पिताजीकी मांगोंका विशद विवेचन सुन रही थी। पिताजी कह रहे थे—"मेरे तो एक ही लड़का है। इसीकी शादीमें ले-देकर मनकी निकालना चाहता हूँ। मोटरकार तो मैं न लेता परन्तु बिरादरीके सब आदमियोंको मालूम हो गया है कि कार लेकर ही मैं अपने लड़केकी शादी करूँगा। अतः अब न लेकर मैं अपनी बेइज़्ज़ती नहीं कराना चाहता। बस, जनाब। अधिक बात मैं नहीं करना चाहता। यदि आपको स्वीकार हो तो..."

इतना ही सुन पाई थी कि तुमने पहुँचकर उसको लताड़ दिया था—"यहाँ क्या सुन रही है ? सवेरे जो दिया था उस कोटमें अभी तक बटन नहीं टाँके

गये।" और वह चुपचाप सुई-डोरा लेकर बैठ गई। थीं उन आंसुओंको तुमने नहीं देखा जिन्हें तुम्हारी पीठ फिरते ही उसने धोतीके छोरसे पोंछ डाला!

उन नन्हे-नन्हे आंसुओंमें प्रलयंकारी तूफान छुपे हुए थे। हृदयमें ठाठें मारती हुई उद्दाम तरंगोंको वे क्षुद्र विभूतियां थीं। वेदनाके उस असीम-अथाह सागरका भयङ्कर गर्जन तुम्हें सुनाई नहीं पड़ा? तुम्हें तो तनिकसी भी आशङ्का न हुई होगी कि उन नन्हे-नन्हे अश्रुकणोंमें तुम्हारे सारे मान-मर्यादा और उच्चपदको रसातल तक बहा लेजानेकी शक्ति अन्तर्हित है?

देखो! अब भी आंखें खोल लो! समय है! नहीं तो?......

परिणामकी कल्पनामात्रसे रोंगटे खड़े होजाते हैं!!

भगवान महावीर और उनका अहिंसा सिद्धान्त

(लेखक—श्री पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया न्यायाचार्य)

जैन धर्मके अन्तिम तीर्थंकर-धर्मप्रवर्तक भगवान् महावीरका जन्म पच्चीससौ चालीस वर्ष पूर्व—वि० सं० ५४२ और ईसा सं० ५६८ वर्ष पहिले भारतवर्षके विहार प्रान्तके कुण्डलपुर नगरमें नृप सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणीके यहाँ चैत्र शुक्ला १३ सोमवारको हुआ था। नृप सिद्धार्थ उस समयके अग्रगण्य राजाओंमें प्रमुख एवं गण्यमान नरेश थे। ये ज्ञातिवंश क्षत्रिय थे। श्रेणिक—बिम्बसारके साथ इनका साढू भाईका सम्बन्ध था। नृप सिद्धार्थका राज्य-शासन अहिंसाकी भित्ति पर स्थित होनेके कारण पूर्णसमृद्ध और आदर्श माना जाता था। उनकी राजनीति 'सत्या शिवा सुन्दरा' थी। अतएव उनके राज्यमें कोई भी प्रजाजन दुःखी या असन्तुष्ट नहीं था। भगवान् महावीर अपने सुयोग्य पिताके संरक्षणमें एक राजकुमारकी भाँति लालित और पालित किये गये। 'मोतीके जवाहर' जैसे लोकपूत, लोकप्रख्यात, गुणग्रणी, कर्मण्य और अहिंसाके पूर्ण प्रतिष्ठापक हुये। जो महापुरुष होनेवाले होते हैं वे जन्मसे ही स्वभावतः परहितैकतान होते हैं और अनेक विशेषताओंसे सम्पन्न होते हैं। भगवान् महावीर भी ऐसे ही थे। वे घरमें ३० वर्ष ही रहे। उन्होंने न शादी की और न राज्य किया। संसारकी क्षणिकता और जीवनकी अल्पता देखकर तथा आत्मकल्याण और पर-कल्याणसे प्रेरित होकर संसारसे उदासीन होगये। और दि० जैन साधुकी दीक्षा लेकर कठोर तप तपने लगे। तीव्र अध्यवसाय और कठोर तपश्चर्याके प्रभावसे १२ वर्ष बाद उन्हें केवल ज्ञान—पूर्ण ज्ञान होगया। अब वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहे जाने लगे। इन्द्रों, देवों, मनुष्यों, विद्याधरोंने भगवान्का केवलज्ञानोत्सव मनाया।

धर्मोपदेशके लिये एक विशाल सभा—समवशरणकी रचना की गई। सबको उनका समान रूपसे धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ। जगह २ भ्रमण करके अनेक जीवोंको सन्मार्ग पर लगाया। उनका उपदेश अहिंसा, स्याद्वाद, कर्मवाद, आत्मवाद आदि विषयोंपर हुआ करता था। उनके इस उपदेशको 'दिव्यध्वनि' के नामसे कहा जाता था। उनकी यह दिव्यध्वनि सुबह, दोपहर, शाम, अर्धरात्रि इन चार समयों में छह छह घड़ी तक खिरा करती थी। इनका अनेक विद्याओंमें निपुण महापंडित गौतम गोत्री ब्राह्मण कुलोत्पन्न इन्द्रभूति प्रथम गणधर—मुख्य श्रोता था। उन्होंने भगवान्की वाणीको द्वादशाङ्ग श्रुतनिबद्ध किया था। यद्यपि भगवान्की वह द्वादशाङ्ग वाणी हमें आज पूर्णतः प्राप्त नहीं है तथापि अंश प्रत्यंश रूपमें वह हमें प्राप्त है।

यों तो जैन धर्म अहिंसाप्रधान है ही भगवान् महावीर के पहिले २३ तीर्थंकरोंने भी अहिंसाका विश्वको संदेश दिया। किन्तु भगवान् महावीरके समयमें याज्ञिक हिंसाका अधिक जोर था। वैदिक संस्कृति याज्ञिक हिंसाको विधेय बनाकर उसका पोषण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कर रही थी। इस लिये भगवान् महावीरको उसके मुकाबले में अहिंसाका सफल प्रचार करना पड़ा। महात्मा बुद्धने भी अहिंसाका प्रचार किया था और याज्ञिक हिंसाका विरोध किया था। किन्तु उन्होंने अपने शिष्योंकी कठिनाइयोंको महसूस कर साधु-अहिंसाके क्षेत्रमें काफी छूट दे दी थी। मांसभक्षण तक करनेके लिये उन्होंने अपने शिष्योंको आज्ञा दे दी थी। परिणाम यह निकला कि उस समय महात्मा बुद्धके अहिंसाप्रचारकी अपेक्षा भगवान् महावीरका अहिंसाप्रचार ठोस प्रभावक एवं व्यापक हुआ। उन्होंने अहिंसाकी अविच्छिन्न एक धारा होते हुये भी साधु-अहिंसा और गृहस्थ-अहिंसाके भेदसे उसके पालकोंको उपदेश दिया. साधु-अहिंसाके पालक साधुओंको उनकी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करनेके लिये ही उन्हें आदेशित किया और त्रिविध परीषहों—कठिनाइयोंको सहन करनेका मार्ग सुझाया। सर्वसंगविरत साधुके लिये कोई अपवाद ही नहीं हो सकता। जो आ पड़े उसे समता भावोंके साथ सहन करना ही उसका एकमात्र कर्तव्य है। भगवान् महावीरने साधु अहिंसाके बारेमें साफ कहा था कि मुमुक्षुके लिये मोक्ष प्राप्त करनेको साधुपद अन्तिम सोपान है उसे अधिकाधिक निर्विकार एवं निर्लिप्त होना चाहिये तथा सम्पूर्ण तरहकी कठिनाइयोंको झेलनेकी पूर्ण सामर्थ्यसे युक्त। अतः साधु-अहिंसाके पालनेमें कोई अपवाद या छूट नहीं है। इस अहिंसा की पूर्णताके लिये ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग महाव्रतों—अपवादहीन व्रतोंको दिगम्बर साधु आचरण करते हैं।

हां, गृहस्थोंके लिये दिया गया उनका अहिंसाका उपदेश सब दशाओं और सब परिस्थितियोंमें पाला जा सकता है। अहिंसक आचरण करते हुये हमेशा गृहस्थ की भी दृष्टि अहिंसाकी ओर ही रहनी चाहिये। अनीति-अन्यायकी उपशान्ति न्याय-नीतिके द्वारा ही करें। जैनधर्म का ऐसा कोई आचार-विचार नहीं है जो अहिंसामूलक न हो। जिस आचरण या विचारमें अहिंसा नहीं सधती है वह आचार सदाचार और विचार सद्विचार नहीं है।

भगवान महावीरका संदेश यही था कि जीवनका लक्ष्य शान्ति है और शान्तिका उपाय अहिंसा है, अतः जीवनके लक्ष्य और उसके साधनको अपनी प्रत्येक दशामें याद रक्खो। आज महात्मा गांधी भी भगवान महावीरकी अहिंसाके ही पदानुगामी हैं। इसी लिये वे आज हो रहे अनावश्यक एवं अनुचित स्वार्थमय युद्धोंका भी विरोध कर रहे हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि 'विषस्य विषमौषधम्'—विषकी दवा विष ही है—उनका यह कहना सार्वत्रिक और सार्वकालिक नहीं है। कुछ समयके लिये भले ही हिंसाजन्य परिणाम अच्छे निकल आवें। पिछले महायुद्धके बाद अल्प-कालिक शान्तिका ही दुनियाने अनुभव किया है। जानकार लोगोंका तो यही कहना है कि पिछला महायुद्ध इस युद्ध का सूत्रपात था और यह युद्ध आगेके युद्धका सूत्रपात होगा। क्रोधसे क्रोध बढ़ता ही है पर क्षमासे उसकी ठीक और सच्ची शांति होती है। निष्कर्ष यह निकला कि दुनिया में जितनी अधिक अहिंसाकी प्रतिष्ठा होगी उतनी ही अधिक शांति होगी।

व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक सभी जीवनोंमें और सभी क्षेत्रोंमें अहिंसाका उपयोग और प्रयोग करना अव्यवहार्य नहीं है। यह तो उपयोक्ता और प्रयोक्ताके मनोभावोंपर निर्भर है। भगवान् महावीरने अहिंसाके पालनको उसके पालकके मनोभावोंपर निर्भर बताया है। यही कारण है कि जैन दृष्टिकी अहिंसाका पालन सर्वसंगरत गृहस्थ और सर्वसंगविरत साधु दोनों कर सकते हैं और दोनों ही उसके प्रशस्य परिणामोंको प्राप्त कर सकते हैं। अतएव अहिंसाकी एक अविच्छिन्न धारा होते हुये भी पालकोंके मनोभावोंकी अपेक्षा उसके आंशिक भेद हो जाते हैं। हिंसाके त्यागमेंसे अहिंसा प्रकट होती है। गृहस्थ जब हिंसाको छोड़नेके लिये यत्नशील होता है तब वह समस्त हिंसाको चार भागोंमें बांट लेता है:—१ सांकल्पिकी—इरादापूर्वक होने वाली हिंसा। २—आरंभी—रोटी बनाना आदिसे उपजने वाली हिंसा। ३—उद्योगी कृषि आदिसे उत्पन्न होनेवाली हिंसा। ४—विरोधी—विरोधसे अर्थात्

निर्व्याज आत्मरक्षाके लिये दुश्मनके निमित्तसे होने वाली हिंसा। इन चार तरहकी हिंसाओंमें पहिले प्रकारकी अर्थात् इरादा पूर्वक की जाने वाली हिंसाका तो गृहस्थ द्रव्य और भाव दोनों तरहसे त्याग करता है, अन्य हिंसाओंका त्याग भावसे करता है, क्यों कि द्रव्यतः अन्य हिंसाओंको करते हुये भी उसकी भावदृष्टि हिंसा करनेकी ओर नहीं रहती है बल्कि आत्मपोषण और आत्मरक्षणकी ओर रहती है। यही कारण है कि वह अन्य तीन प्रकारकी हिंसाओंको करता हुआ भी पापपङ्कसे कम लिप्त होता है। सम्राट् भरत छह खण्ड पृथिवीके स्वामी होते हुए भी उसको त्यागते ही अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानी बन गये थे। शर्त यही है कि अहिंसाके पालक गृहस्थकी उपर्युक्त भावदृष्टि होना चाहिये।

लोग कहते हैं कि महात्मा गांधी भगवान् महावीरसे हिंसाके त्याग–अहिंसामें आगे बढ़ गये हैं। भगवान् महावीरने तो गृहस्थको संकल्पी हिंसाका ही त्याग बताया था पर महात्मा गांधी सभी हिंसाओंका त्याग बताते हैं और सब क्षेत्रोंमें पूर्ण अहिंसाका प्रयोग कर रहे हैं। हम समझते हैं कि अगर भगवान् महावीरकी दृष्टिके साथ गांधीजीकी दृष्टिका सूक्ष्म पर्यालोचन किया होता तो यह भेद नज़र नहीं आता। यह तो निर्विवाद है कि संकल्पी हिंसाका त्याग दोनों दृष्टियोंमें है। अब रही अन्य तीन प्रकारकी हिंसायें, सो द्रव्यतः आरम्भी, उद्योगी हिंसाका निषेध महात्मागांधीजी गृहस्थके लिए कभी नहीं बताते हैं। आरंभ और उद्योग तो गृहस्थके लिए अनिवार्य और आवश्यक बताते हैं स्वयं महात्मागांधी अपने हाथसे रसोई बनाना सूत कातना आदिको पसंद करते हैं। एक बहिनके शील रक्षाके प्रश्नपर गांधीजी कहते हैं कि जिस किसी भी प्रकार से बने-दांतोंसे नाखूनसे अपनी रक्षा करनी चाहिये भले ही विरोधीका घात हो जाय। वर्तमान युद्धमें उनकी सम्मति न होनेका आशय यह है कि ये युद्ध आवश्यक और अनुचित स्वार्थमय होरहे हैं निर्व्याज आत्मरक्षा का भाव नहीं हैं। ऐसे युद्धोंसे तो आगे के लिये उत्तेजना ही मिलेगी। इस तरह हम देखते हैं कि गांधीजीकी दृष्टि भगवान् महावीरकी दृष्टिकी ही अनुगामी है। यद्यपि गांधीजीकी अहिंसादृष्टि मानवों तक ही सीमित है। जबकि भगवान महावीरकी दृष्टि समस्त प्राणियोंमें समव्याप्त है। यही उनका अहिंसा–सिद्धान्त है। हमारा कर्तव्य है कि उनके इस विश्वोपकारक सिद्धान्त को दुनिया में फैला दें और सुख–शांतिका साम्राज्य कायम कर दें। तभी सच्ची जयन्ती कहलायेगी। इतिशम्।

पन्थीसे

पन्थी ! पथको भूल न जाना !
चलते चलते यदि थक जाओ,
आसपास बन-बगिया पाओ,
मायाके मोहक झुरमुटमें, कहीं बैठ कर टूल न जाना !

पन्थी ! पथको भूल न जाना !
निठुर जगकी रीत निराली,
स्वार्थभरोंकी प्रीत निराली,
मीत समझ कर फूल न जाना फूल ! स्वयं बन धूल न जाना !

पन्थी ! पथको भूल न जाना !
दूर देश, बालक मन तेरा,
कहीं अँधेरा कहीं उजेरा,
कहीं निराशाके झोंकोंमें, जीवनको मत शूल बनाना !
पन्थी ! पथको भूल न जाना !

(ले० कुसुम जैन)

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[मूललेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती M, A I E S,]

(अनुवादक—पं० सुमेरचंद जैन 'दिवाकर' न्यायतीर्थ, शास्त्री, B. A. L. L. B)

(चतुर्थ वर्षकी गत १२ वीं किरणसे आगे)

मेरुमंदिरपुराणम्—यह मेरु मंदिर पुराणं तामिल भाषाका एक महान् ग्रन्थ है, यद्यपि इसकी काव्योंकी सूचीमें गणना नहीं की गई है। यह साहित्यिक शैलीकी उत्तमताकी दृष्टिसे तामिल भाषाके श्रेष्ठतम काव्यसाहित्यके सदृश है। यह मेरु और मंदिर सम्बन्धी पौराणिक कथाके आधारपर बनाया गया है। इस कथाका वर्णन महापुराणमें आया है। और इसे विमल तीर्थंकरके समयकी घटना बतलाया है। इस मेरुमंदिरपुराण के रचयिता वे ही वामन मुनि हैं-जो कि नीलकेशीके टीकाकार हैं। वामन मुनि बुक्करायके समयमें १४ वीं सदीके लगभग विद्यमान थे। इस ग्रन्थमें भी जैनधर्मके महत्वपूर्ण सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके लिये इस कथाका अवलंबन लिया गया है।

इस कथाका सम्बन्ध विदेह क्षेत्रकी गंधमालिनी नगरी की राजधानी वीतशोका पुरीके साथ है। इस देशके शासक नरेशका नाम वैजयन्त था, जिसकी रानी सर्वश्री थी। इस महारानीसे उसके संजयंत और जयंत नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। राज्यका उत्तराधिकारी संजयन्त नामके ज्येष्ठ पुत्रका विवाह एक राजकुमारीसे हुआ था, जिससे एक पुत्र हुआ था जो अपने पितामहके नामानुसार वैजयन्त कहलाता था। वृद्ध महाराजाने जिनके सदृश नाम वाला पौत्र था, यह उचित समझा कि अपने पुत्रके लिये राज्यका परित्याग करदें, ताकि तापसाश्रममें प्रवेश करके योगीका जीवन बितावें। किन्तु उनके दोनों पुत्रों ने राजकीय वैभवकी ओर तनिक भी इच्छा नहीं व्यक्त की, अतः उन्होंने राज्यका परित्याग करके पिताका अनुकरण करनेकी आकांक्षा व्यक्त की। इस प्रकार पौत्र वैजयन्त को राज्याधीश बनाया, और तीनों पिता तथा पुत्रद्वयने मुनिपद अंगीकार किया और योगी का जीवन व्यतीत करने लगे। जब कि तीनों तपश्चर्या कर रहे थे, तब पिता वैजयन्तने योगमें सफलता प्राप्त करनेके कारण शीघ्र ही कर्मों की क्षपणा करके सर्वज्ञता प्राप्त की। नियमानुसार इस जीवन्मुक्त प्रभुके चरणोंकी पूजाके लिये संपूर्ण देवता एकत्र हुए। उन देवताओंमें धरणेन्द्र नामका एक सुन्दर देव था, जो अपने संपूर्ण दिव्य वैभवसे युक्त था। तपश्चर्यामें रत छोटे भाई जयन्तने इस सुन्दरदेवको देखकर आगामी भवमें उसके समान बननेका निदान किया। अपनी आकांक्षाके कारण तथा अपूर्ण योगके परिणामस्वरूप वह धरणेन्द्र हो गया। अपने पिताके मुक्त होनेपर भी ज्येष्ठ भाई संजयंत दृढतापूर्वक तपस्या करता रहा। जब वह अपनी तपस्यामें निमग्न था तब आकाशमार्गसे जाते हुये एक विद्याधरकी दृष्टि उसपर पड़ी। उसने यह भी देखा कि मुनिराजको लांघकर उसका विमान नहीं जा सकता था। इससे वह क्रुद्ध हो गया। उसने योगी संजयंत भट्टारकको उठा लिया और अपने देशकी ओर ले चला। अपने देशके बाहर उनको छोड़कर उसने अपने देशके विद्याधरोंसे कहा कि संजयंत हमारा शत्रु है अतः उसके साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। दुष्ट विद्याधर विद्युद्दन्तके द्वारा भड़काए जानेके कारण अज्ञानतावश इन विद्याधरोंने उन मुनिराजके साथ दुर्व्यवहार किया। क्रूर व्यवहारके होते हुये भी मुनिराज ध्यानसे विचलित नहीं हुये। शत्रुओं के द्वारा दुःख दिये जानेपर भी महान आध्यात्मिक एकाग्रता तथा शान्तिके कारण मुनिराजने समाधिलाभ किया। इस आत्मीय विजयके कारण उनकी आराधना तथा पूजाके लिये देवताओंका समुदाय उनके पास आया। इन देवोंके मध्यमें उनके भाई नवीन धरणेन्द्र भी विद्यमान थे। नवीन देव धरणेन्द्र ने देखा कि मेरे जेष्ठ भाई के प्रति उन विद्याधर लोगोंने क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया है।

जो अभी तक वहां ठहरे हुये अपने विरोधी संजयंत भट्टारक की आराधना तथा पूजाके लिये एकत्रित देवताओंके आश्चर्यप्रद दृश्यको देखकर चकित थे। इससे उसे क्रोध आगया। इस शरारतके प्रति फलस्वरूप उस देवताका विचार था कि सब विद्याधरोंको एकत्रित करके समुद्रमें फेंक दिया जाय, किन्तु सब विद्याधरोंने स्पष्टतया भूल स्वीकारकर दया की याचना की, क्योंकि उन्होंने अपने नेता विद्युद्दन्तके दुष्टता पूर्ण प्रोत्साहनके कारण ही वह काम किया था न कि अपनी स्वेच्छासे। अतः धरणेन्द्रने सबको क्षमा प्रदान की। परन्तु वह उस दुष्ट विद्युद्दन्त को उचित दण्ड दिए बिना नहीं जाने देना चाहता था। इससे वह इस एक ही दुष्टको बांधकर समुद्रमें डुबाने की इच्छासे गया। उसी समय वहाँ एकत्र हुए देवोंमेंसे आदित्यप्रदेव नामके एक देवने ऐसा करनेसे धरणेन्द्रको मना किया इसपर धरणेन्द्रने कहा मैं अपने भाईके प्रति इस दुष्ट द्वारा किये गये क्रूर व्यवहार को कैसे सहन कर सकता हूं और इस अक्षम्य अपराधको देखते हुये कैसे तुम्हारी सलाह मान सकता हूं ?

आदित्यप्रदेवने उत्तरमें कहा— इस आध्यात्मिक क्षेत्रमें बुराईका बदला बुराई नहीं होना चाहिये। आप अपने भाईके प्रति अत्यधिक बंधुत्व व्यक्त करते हैं; किन्तु यदि तुमको पूर्व भवावलियोंके सम्बन्धका पता हो तो तुम्हे जीवन परम्पराके मध्यमें होने वाले अनेक सम्बन्धोंकी सूचीमें एक सम्बन्धको महत्व देनेकी अज्ञानताका पता चले। दूसरी बात यह है कि आगामी भवोंके कारणभूत राग और द्वेषभाव हैं। द्वेषसे बुरा परिणाम निकलता है और प्रेमसे मधुर फल प्राप्त होता है। अतः मेरी राय तो यही है कि तुम इस दुष्ट विद्याधर विद्युद्दन्तकी बाबत अपनेको खिन्न न करो। योगीराज संजयंतने भी जिनको इस दुष्ट विद्याधरके क्रूर कृत्योंका फल भोगना पड़ा, इसको क्षमा प्रदानकी है. कारण इसने अज्ञानतावश ही कार्य किया था। इस लिये इस दुष्ट विद्याधरको दंडित करनेकी भावनासे तुम क्यों अपने आपको कर्मोंसे बांधते हो ? अपने मित्र आदित्यप्रदेवसे इस उपदेश को सुनकर धरणेन्द्रने खुलासा रूपमें पूर्व भव पूछे। धरणेन्द्रके कल्याणार्थ आदित्यप्रदेवने इस प्रकार कथाको आरम्भ किया कि—सिंहपुरमें सिंहसेन नामके राजाका राज्य था। रामदत्ता देवी नामकी उनकी महारानी थी। उसके मंत्रीका नाम था श्रीभूति, जो सत्य-संभाषण तथा ईमानदारीके कारण सत्यघोष' के नाम से कहा जाता था। उस समय अन्यदेशीय भद्रमित्र नामका एक व्यापारी था। वह अपने जहाजमें माल भरकर रत्नपुर गया और जवाहरात तथा रत्नोंके रूपमें बहुत द्रव्य अर्जन करके वापिस लौटा। लौटते हुये वह सिंहपुर ठहर गया। नगरका सौन्दर्य तथा समृद्धि देखकर एवं राजा तथा राजमंत्रियोंके अच्छे स्वभावकी बात सुनकर उसने सिंहपुरमें ही रहनेका निश्चय किया। इस लिये वह अपने देशको जाकर सब कुटुम्बियों को वहां लाना चाहता था। इतनेमें उसने सोचा कि मैं समुद्रके व्यापारसे प्राप्त संपूर्ण द्रव्यको सुरक्षित स्थान पर कहीं रखदूँ। उसका ध्यान मंत्री सत्यघोषके सिवाय अन्यत्र नहीं गया। वह उसके पास गया और अपना मंतव्य प्रगट किया कि मैं इस सुन्दर सिंहपुर नगरमें रहना चाहता हूं अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मेरे बहुमूल्य रत्नोंको अपने पास सुरक्षित रख लेवें। इसे सत्यघोषने स्वीकार किया। रत्नों वाला एक सन्दूक मंत्रीके पास रख गया और वह भद्रमित्र अपने कुटुम्बियों तथा मित्रोंको लेनेके लिये अपने देशको गया। इतनेमें सत्यव्रती मंत्री श्रीभूतिने जब वैश्यशिरोमणि द्वारा जमा कराए गए रत्नोंको देखा, तब उसके चित्तमें लोभ समा गया। उसने सोचा कि सबको हड़पकर जाऊं। अतः जब वह व्यापारी सिंहपुर लौटा, तब उसने अपने लिये एक प्रासाद खरीदा। अपने आत्मीय जनोंको वहां छोड़कर वह रत्नोंको वापिस लेनेके लिये मंत्री के पास पहुंचा, किन्तु भद्रमित्रने सत्यघोषमें एक दम परिवर्तन पाया। सत्यघोषने उस वणिकके साथ अपरिचित व्यक्ति जैसा व्यवहार किया और रत्नों के संदूक के बारे में पूर्णतया अज्ञान कारी व्यक्त की।

इससे बेचारे व्यापारी का दिमाग चक्कर खा गया और वह अन्याय के बारे में चिल्लाता हुआ लोगों से सहायता की प्रार्थना करने लगा। सत्यघोष मंत्री के विरुद्ध बातपर कोई भी नागरिक विश्वास नहीं करता था, कारण वह अपनी सचाई और ईमानदारी के लिये विख्यात था। लोगोंने मनमें समझा कि यह बाहर का व्यापारी पागल है और झूठे तौर पर मंत्री को धरोहर के अपहरण रूप में लांछित करता है। किन्तु अपनी चिल्लाहट में यह व्यापारी

सदा एक सी ही बात कहता था जो बात पागलके साथ सम्बंधित नहीं की जा सकती। अतः इस व्यापारीके रोदन की ओर महारानी आकर्षित हुई। उसने पता चलवाया और उसे जानकर अचरज हुआ कि मंत्री यथार्थमें धूर्त था। वहां इस बातका कोई साक्षी तो था नहीं, जिसके समक्ष व्यापारीने अपना सन्दूक जमा कराया हो, किन्तु महारानी रामदत्ताको उस संदूकके बारेमें निश्चय हो चुका था, अतः उसने उस वणिककी तरफसे महाराजसे मध्यस्थ बननेका अनुरोध किया। राजाने जब इस ओर ध्यान नहीं दिया, तब महारानीने इस बातकी अनुज्ञा चाही कि वह स्वयं इस मामलेका निर्णय करना चाहती है। राजाने इसे स्वीकार किया।

रानी रामदत्ताने सत्यघोष मंत्रीको जुआ खेलनेको बुलाया। पहली ही बार रानीने मंत्रीका यज्ञोपवीत तथा उसकी मुद्रिका भी जीत ली। मंत्रीके इन दो मुख्य चिह्नोंको जीतनेके उपरान्त उसने चुपकेसे अपनी दासीके हाथ खजाञ्ची के पास उनको भेजा। उसने दासीको सिखा दिया था कि वह खजाञ्चीको दोनों चीजें बताने और राज्यकोषमें मंत्रीके द्वारा चुरा करके रखे गये मंत्रीके रत्नोंके संदूकको ले आवे। जब वह दासी उस संदूकको ले आई तो राजाकी आंखें खुलीं। उसे मंत्रीके अपराधका पता चला। अब तो मंत्रीको भी ज्ञात हुआ कि उसकी कलई महारानीके समक्ष खुल चुकी है फिर भी राजाने व्यापारीकी सत्यताकी परीक्षा करना चाही। उसने इस रत्नराशिको राज्यकोषकी अनेक राशियोंमें रखकर इन सबको ले जानेको व्यापारी से कहा। व्यापारीने अपने रत्नोंको छोड़कर दूसरोंको तनिक भी नहीं स्पर्श किया। उस संदूकमें भी कुछ अन्य रत्न शामिल कर दिए थे। व्यापारीने अपने ही रत्न लिये और दूसरों को छोड़ दिया। व्यापारीके इस व्यवहारसे राजा तथा राज-सभासद्-लोग प्रभावित हुए। उन्होंने इस व्यापारीकी सचाईकी प्रशंसा तथा मंत्रीके लोभकी निन्दा की।

राजाने मंत्रीको पृथक् किया और अपमानित करके राज्यसे निर्वासित कर दिया। वह मंत्री राजा तथा रानीके प्रति द्वेष भाव रखता हुआ बाहर गया और मरकर राज्यकोष में सर्प हुआ। जब राजाने खजानेमें पाँव रखा कि सर्पने उसे काटकर उसके प्राण हरण किये।

इस विरोधके कारण वे दोनों आगामी भवोंमें परस्पर शत्रु रूपमें उत्पन्न हुए। यह दुष्ट विद्याधर सत्यघोष नाम का मंत्री था, जो अपनी बेईमानीके कारण निंदित हुआ था, और जिसे तुम अभी दंडित करना चाहते हो। अनेकबार जन्म-मरण करके राजा सिंहसेन संजयंतके रूपमें उत्पन्न हुआ। और उसने हाल ही मुक्ति प्राप्त की है हम सब यहाँ संजयंतकी पूजाके लिए एकत्रित हुए हैं, पूर्वभवमें सिंहसेन महाराज थे। मैं महारानी रामदत्ता हूं और अब मैं आदित्यापदेव उत्पन्न हुई हूं और तुम संजयंतके छोटे भाई हो। तुमने देवपदकी कामना की, इससे तुम धरणेन्द्र हुए। अतः आपके लिए यह उचित है, कि आप इस घृणाका परित्याग करके धर्म-मार्गका अनुगमन करें। अपने देवबंधुका उपदेश धरणेन्द्रने ग्रहण किया, घृणा-भावको छोड़ा और धर्मके बारेमें ध्यान करने लगा। विद्युद्दन्त नामक दुष्ट विद्याधरने जब यह कथा सुनी, तो वह भी अपने अतीतपर लज्जित हुआ, और उसने आगे पवित्र जीवन बितानेका निश्चय किया।

आदित्यापदेव तथा धरणेन्द्र, जो पहले देवी रामदत्ता तथा उसके पुत्र हुए थे, देवपर्यायको समाप्तकर उत्तर मदुरा के शासक अनंतवीर्य नरेशके यहां पुत्र हुए। इस राजाकी मेरुमालिनी और अनंतमती नामकी दो रानियां थीं। मेरु-मालिनीके यहाँ आदित्यापदेव उत्पन्न हुआ और उसका नाम मेरु हुआ, दूसरी रानी अमृतमतीके यहाँ धरणेन्द्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम मंदर रक्खा गया। उसी समय उत्तर मदुराके उद्यानमें धर्मोपदेश देनेके लिए विमल तीर्थंकर पधारे। मेरु और मंदर नामक युवराज अपने गजराज पर आरूढ़ हो तीर्थंकर भगवानकी पूजा करने तथा उपदेश सुननेको गए। धर्मोपदेश सुनकर दोनों युवराज उनके शिष्य हो गये—भगवानके मुख्य गणधर बन गए। उन्होंने जीवनभर धर्मका उपदेश दे योगाराधन कर निर्वाणपद प्राप्त किया।

इस महाकाव्यको मेरु और मंदर युवराजोंके नामपर 'मेरुमंदरपुराणम्' कहते हैं। इसमें ३० अध्याय तथा १४०५ पद्य हैं। लगभग १० वर्ष पूर्व इस लेखकने भूमिका तथा टिप्पण सहित उसे प्रकाशित कराया था, और अभी भी वह पाठकोंको उपलब्ध हो सकता है।

श्रीपुराण—यह श्रीपुराण तामिल जैनोंमें बहुत प्रचलित है। मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई व्यक्ति है, जिसने श्रीपुराणका नाम न सुना हो। यह तामिल-संस्कृत मिश्रित मणि-प्रवाल रूपमें आकर्षक गद्यमें लिखा गया है। इसका आधार जिनसेन स्वामीका महापुराण है और इसे 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष पुराण' भी कहते हैं जो ६३ महा पुरुषोंके वर्णनको लिये हुए है। इसके रचयिताका नाम अज्ञात है। बहुत सम्भव है कि यह चामुण्डरायरचित कन्नड 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषपुराणम्' के समान कृति हो, अतः इसे जिनसेनके महापुराण और चामुण्डरायके कन्नड पुराणके पश्चानवर्ती कहना चाहिये। इसमें जिन ६३ वीरों का वर्णन है, वे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती; ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण और ६ बलदेव हैं। चूलामणिकी कथामें हमने पहले यह देखा है कि तिविट्ठन वासुदेव, विजय बलदेव और अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव था। इसी प्रकार रामायणके विख्यात व्यक्ति राम, लक्ष्मण और रावण, केशव, बलदेव, प्रतिवासुदेवके नामसे इस नौके समुदायमें गर्भित हैं। इसी प्रकार प्रख्यात महाभारतके श्रीकृष्ण नौ वासुदेवों मेंसे एक हैं, उनके भाई बलराम बलदेवोंमेंसे हैं और मगध के जरासंध नौ प्रतिवासुदेवोंमेंसे हैं। प्रत्येक तीर्थंकरका वर्णन करते हुए राज्यवंशोंकी कथाएँ भी दी गई हैं। इस प्रकार यह श्रीपुराण, जिसमें ६३ महापुरुषोंकी कथाएँ वर्णित हैं, पौराणिक भण्डार समझा जाता है जिसमेंसे अनेक स्वतन्त्र लेखकोंने जुदी जुदी कथाएँ ली हैं। दुर्भाग्यसे यह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। यह अभी तक ताडपत्र की प्रतिके रूपमें ही पड़ा है और यह आशाकी जाती है कि निकटभविष्यमें यह तामिल भाषाके विद्यार्थियोंको उपलब्ध हो जायगा।

अब हमें जैन विद्वानों द्वारा रचित छन्द-शास्त्र और व्याकरणके ग्रन्थोंको देखना है।

याप्यरुङ्गलक्कारिकै—तामिल छन्द-शास्त्रपर यह ग्रन्थ अमृत सागर द्वारा रचित है। यद्यपि यह निश्चयसे नहीं कहा जा सकता है कि यह कब हुए, किन्तु यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ एक हजार वर्ष जितना प्राचीन है। इसके मंगलाचरणके एक श्लोकमें अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यह जैन-ग्रन्थकारकी कृति है। ग्रन्थकारने यह स्वयं सूचित किया है, कि यह रचना उसी विषयके एक संस्कृत-ग्रन्थके आधार पर है। प्रायः करके यह उस संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद है। इस पर एक टीका गुणसागर-रचित है, जो कि प्रायः अमृतसागरके समकालीन था। यह ग्रन्थ छन्द शास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है छन्दों तथा पद्य रचनाओंके बारेमें यह प्रमाण भूत है और इस रूपमें उत्तरवर्ती लेखकोंने इसका उपयोग किया है, इसके द्योतक अवतरण तामिल साहित्यमें पाए जाते हैं।

याप्यरुङ्गल विरुत्ति—यह भी उन्हीं अमृतसागर-रचित तामिल छन्द शास्त्र है। इसकी सुन्दर आवृत्ति स्व० एस० भावनन्दम् पिल्लै द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।

नेमिनाथम्—यह गुणवीरपण्डित-रचित तामिल व्याकरणका ग्रन्थ है। यह नेमिनाथ भगवानके मन्दिर युक्त मलयपुरमें बनाया गया था उस कारण इसको 'नेमिनाथम्' कहते हैं। इसके रचयिता गुणवीर पंडित कलन्देके वाचानन्द मुनिके शिष्य थे। इस ग्रन्थ निर्माणका ध्येय था छोटे और संक्षिप्त रूपमें तामिल व्याकरणका वर्णन करना; क्योंकि पहलेके तामिल ग्रन्थ विशाल और बहुश्रमसाध्य थे। आरम्भके पद्योंसे यह स्पष्ट होता है कि जल-प्रवाहके द्वारा मलयपुरके जैनमन्दिरके विनाशके पूर्व यह ग्रंथ बनाया गया था। अतः यह रचना ईसवी सन्‌के प्रारम्भिक कालकी कही जानी चाहिये। इसमें एलुत्तधिकारम् तथा शोलअधिकारम् नामके दो अध्याय हैं। यह प्रसिद्ध वेणबाछन्दमें रचित है। मदुराके तामिल संघम्‌के अधिकारियोंने इसको शेनतामिल नामक तामिल पत्रमें प्रख्यात पुरातन टीका सहित छपाया था।

तामिल व्याकरण पर दूसरा ग्रंथ है 'नन्नूल् (सुन्दर ग्रंथ) है। यह तामिल भाषाका सबसे अधिक प्रचलित व्याकरण है। 'तोल्काप्पियम्' के बादमें मात्र इसीकी प्रतिष्ठा है। शिय गंग नामक सामंतके अनुरोधपर बावनंदि मुनिने इसकी रचनाकी थी। लेखक न केवल तोल्काप्पियम् अगत्तियम्, अविनयम् नामक तामिल व्याकरण ग्रंथोंके ही प्रवीण थे' किन्तु संस्कृत व्याकरण जैनेन्द्रमें भी, क्योंकि वे तामिल और संस्कृत दोनोंके महान् विद्वान थे। इस नन्नूल् व्याकरणकी रचना उसने पिछले तामिल विद्वानोंके

लाभार्थ की थी। यह स्कूल और कालेजोंके कोर्समे पाठ्य पुस्तकके रूपमे भरती की गई है, अतः हम बिना कोई अतिशयोक्ति के यह कह सकते हैं, कि इस तामिल व्याकरण के परिज्ञानके बिना कोई भी तामिल-छात्र स्कूल और कालेजमे उत्तीर्ण नहीं हो सकता है। इस ग्रंथपर बहुत सी टीकाएं हैं। इनमें मुख्य टीका जैनव्याकरण मैलिनाथकी बनाई हुई है। मैलैनाथर मलंयपुरके जिनालयके भगवान नेमिनाथका नाम दूसरा है। इस नन्नूलकी बहुत बढ़िया आवृत्ति मैलैनाथीय-टीका-सहित, डा० वी० स्वामिनाथ ऐयरके द्वारा प्राप्त हो सकती है। इसके एलुत्तधिकारम् और शोल-अधिकारम् नामके दो भाग हैं जो पाँच पांच अध्यायोंमें विभक्त हैं।

व्याकरणके इस प्रकरणमें हमें नार कविराज नम्बि-रचित अगप्पोरुलविलक्कम् ग्रंथको भी नोट करना चाहिये। लेखकका ठीक नाम है नम्बि अथवा नम्बि नैनार। क्योंकि वह चतुर्विध काव्यकलामें निपुण था, अत उसे 'नारकवि-राय' की उपाधि प्रदान की गई थी। वह पोरनपांडिमंडल नामकी नदीके किनारेपर बसे हुए पुलियारगुडिका अधि-वासी था। यह तोलकाप्पियम्के पोरुलल्लक्कणम् अध्यायके आधारपर रचा गया है। इसमें शृंगार तथा तत्संबंधी मनोभावोंका वर्णन है।

तामिल कोषसाहित्यके विषयमें भी जैनियोंकी देन उल्लेखनीय है। तामिलकोषोंमें तीन ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। इनके नाम हैं—दिवाकरनिघण्टु पिंगलनिघण्टु चूडामणि-निघण्टु। ये तीनों कोष पद्यमें रचित हैं जिन्हें विद्वान् लोग, भाषाके महानग्रन्थोंके अध्ययनार्थ, कण्ठ कर लिया करते हैं। प्रथम ग्रन्थके रचयिता दिवाकरमुनि हैं, दूसरेके पिंगल मुनि और तीसरेके मंडल पुरुष। तामिल विद्वानोंका अभि-मत है कि ये तीनों जैन थे। प्रथम दिवाकर निघंटुका अस्तित्व तो इस संसारसे प्रायः उठ ही गया है, किन्तु शेष दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनमेंसे अन्तिम ग्रंथका खूब प्रचार है। चूडामणिनिघंटु नामक तीसरे ग्रन्थकी भूमिकाके पद्योंसे विदित होता है कि लेखक जैनग्राम पेरुमंदुरका निवासी था, जो दक्षिण अरकाट जिलेके तिंदिवनम् तालुकाके तिंदिवनम् स्थानसे कुछ मील दूरीपर है। इसके सिवाय लेखकने जिन-सेनाचार्यके शिष्य गुणभद्राचार्यका उल्लेख किया है। ये गुणभद्र उत्तरपुराणके रचयिता हैं, जो कि जिनसेन स्वामी के महापुराणका अवशिष्टांश है। इससे यह स्पष्ट है कि यह मंडल पुरुष गुणभद्रके पीछे हुए हैं। वह दो और निघं-टुओंका भी उल्लेख करता है, जो चूडामणिनिघण्टुके पूर्व-वर्ती होने चाहियें। यह ग्रंथ विरुत्तम छन्दमें लिखा गया है और इसमें द्वादश अध्याय हैं। पहले अध्यायमें देवोंके नाम हैं, दूसरेमें मनुष्योंके नाम हैं, तीसरेमें तिर्यंचोंके, चौथे में वृक्षों तथा पौधोंके, पांचवेंमें स्थानोंके छटेमें अनेक पदार्थों के, सातवेंमें धातु तथा काष्ठ सदृश प्राकृतिक पदार्थोंसे बनाए गए मानवनिर्मित अनेक कृत्रिम पदार्थोंके नाम हैं आठवेंमें सामान्य दृष्टिसे वस्तुओंके गुणों, नवमें और दसवेंमें स्पष्ट तथा अस्पष्ट शब्दोंके मान ग्यारहवेंमें उन शब्दोंका वर्णन है, जिनकी तुक परस्परमें मिलती है अतः छंदः शास्त्रके अंश विशेषसे सम्बन्धित है और बारहवें अध्यायमें सम्ब-न्धित शब्दोंके समूहोंका प्रकीर्णक वर्णन है। इस चूडामणि निघंटुकी हमें जाफनाके स्वयरमुख नावलर रचित टीका सहित उपयोगी आवृत्ति प्राप्त है। इसी प्रकार शिवन पिल्लै नामक तामिल पंडित रचित पिंगलनिघण्टुका एक संस्करण प्राप्त है।

व्याकरण तथा कोषके बारेमें वर्णन करनेके अनन्तर अब हमें दो एक प्रकीर्णक ग्रंथोंके विषयमें भी विचार करना चाहिये।

तिरुनूरन्तदि—इसके लेखक अविरोधि आलवार हैं। अंतदि एक विशेषप्रकारकी रचना है जिसमें पूर्व पद्यका अन्तिम शब्द, दूसरे पद्यका प्रथम तथा मुख्य शब्द होजाता है। अंतदिका अर्थ है अंत एवं आदि। इसमें पद्योंकी एक कतार शब्द विशेषसे परस्पर संबंधित है, जो पूर्वपद्यमें अन्तिम शब्द होता है और बादके पद्यमें पहला। तिरुनू-रन्तदि अन्य सौ पद्यवाली ऐसी ही रचना है। यह भक्ति-रसका ग्रन्थ है जो माइलपुरके नेमिनाथ भगवानको संबो-धित किया गया है। इसके लेखक अविरोधी अलवारने जैनधर्मको धारण किया था। कहते हैं कि एक दिन जब वह जिनालयके पाससे जा रहा था, तब उसने मन्दिरके भीतर अपने शिष्योंके लिये मोक्ष तथा मोक्षमार्गका उपदेश करते हुए जैनआचार्य का उपदेश सुना। इस उपदेशसे आकर्षित होकर वह मन्दिरके भीतर गया और उसने

आचार्य महाराजका उपदेश सुना । इस संबंधमे विशेष जाननेकी इच्छासे उसने आचार्य महाराजसे भाषण सुननेकी आज्ञा मांगी जो उसे अनायास प्राप्त हो गई । अंतमें उसने जैनधर्मको अंगीकार किया और अपने जीवनके इस परिवर्तन की स्मृतिमें यह ग्रंथ बनाया जो माइलपुरके नेमिनाथ भगवान्को अर्पित किया गया है। यह भक्ति रसका अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है, जिसमें लेखकके बारेमे कुछ बातें वर्णित हैं। यह मदुराके तामिल संघमके द्वारा संचालित शेन तामिल पत्रमें टिप्पणी सहित छपा है ।

तिरुक्क लम्बगम—यह दूसरा भक्ति रसका ग्रंथ है जिसके लेखक उदीचिदेव नामके जैन हैं। वे थोंड मंडलं देशके अन्तर्गत वेलोर ज़िलाके अर्णीके पास अरपगई नामक स्थान के निवासी थे । कलंबगंबम शब्दका अर्थ है लघु कविताओं का ऐसा मिश्रण जिसमें अनेक छंदोंके पद्य हों । उदीचि रचयित यह ग्रंथ न केवल भक्तिभाव पूर्ण है, बल्कि सैद्धान्तिक भी है, जिसमें लेखकने बौद्धधर्म जैसे प्रतिद्वंदी धर्मोंका विचार भी किया है । संभवतः यह महान् उन जैन दार्शनिक अकलंक देवके बादका है जिन्होंने दक्षिणमें बौद्धधर्मकी प्रभुताका अंत किया था और जो हिंदू धर्मके उद्धारक कुमारिलभट्टके समकालीन थे ।

गणित, ज्योतिष तथा फलित विद्या-सम्बन्ध ग्रंथोंके निर्माणमें भी जैन लोगोंका खास हाथ रहा । सम्भवतः इन विषयोंसे सम्बन्धित अनेक ग्रथ नष्ट हो गये । अब प्रत्येक विषयका प्रतिनिधि स्वरूप एक-एक ग्रंथ मौजूद है । ऐंचुवडि गणितका प्रचलित ग्रंथ है उसी प्रकार जिनेन्द्रमौल भी प्रचलित ज्योतिष ग्रंथ है । जो व्यापारी लोग परम्पराके अनुसार अपना हिसाब-किताब रखते हैं; वे ऐंचुवडि नामक गणित ग्रंथका अभ्यास प्रारम्भमे करते हैं । इस भांति तामिल ज्योतिषी जिनेन्द्रमौलके आधारपर अध्ययन करते हैं यह उनके 'आरूढ' नामक भविष्य कथनका मूलाधार होता है ।

इस प्रकार तामिल साहित्यको जैनियोंकी खास देन सम्बन्धी सरसरी नज़र से लिखा हुआ यह लेख पूर्ण होता है । पुरातन तामिल भूमिमे जैनधर्मका प्रचार तथा तामिल लोगोंमें जैनधर्मकी उपयोगिताकी बात तामिल साहित्यमें ही सुरक्षित नहीं है, बल्कि उच्च जातीय तामिल समाजमें प्रचलित रिवाज़ों और रहन सहनमे भी इसका पता चलता है । शैव-पुनरुद्धारके बाद जब राजनैतिक कारणोंसे दण्डके बलपर जैनियोंको हिन्दू धर्म अंगीकार करना पडा था तबसे हिंदू धर्ममें परिवर्तित लोग हिन्दू समाजकी उन-उन जातियोंमें शामिल हो गये और उन्होने जैनोंकी स्थितिमें पाले जाने वाले रिवाजों तथा रहन सहनको वहां सुरक्षित रखा । यद्यपि उन्होंने अपना धर्म बदल दिया किंतु आचार नहीं बदले । यह आश्चर्यकी बात है, कि तामिल भाषामें 'शैवम्' शब्दका पहले शैवधर्मका आराधक अर्थ था, किन्तु आम बोल चालमें शैवम्का अर्थ कट्टर शाकाहारी है । हिंदू वेलालोंमे कट्टर शाकाहारीके भोजनके बारेमें कहते हैं कि वह 'शैवम्' का पालन करता है । इसी तरह तामिल देशके ब्राह्मण 'शैवम्' कट्टर शाकाहारी हैं । इस सम्बन्धमें भारतके अन्य भागोंके गौड ब्राह्मणोंके वर्गान्तर्गत ब्राह्मणोंमे तामिल ब्राह्मणको 'द्रविड' ब्राह्मणके रूपमें पृथक् किया जाता है । द्रविड ब्राह्मण जहाँ भी हों कट्टर शाकाहारी होते हैं जब कि गौड ब्राह्मण मत्स्य तथा मांस तक भक्षण करते हैं । बगाली ब्राह्मणोंमे आमतौरपर बकरा या भैंसा कालीके आगे बलि किया जाता है, और बादमें वे उसे काली प्रसादके नामसे अपने घर ले जाते हैं । ऐसी बात दक्षिण (तामिल देश) के किसी भी हिन्दू मन्दिरमें चाहे वह शैव हो या वैष्णव कल्पनामें नहीं आता। अत: इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि भोजन तथा मन्दिर की पूजामें जैनियोंकी अहिंसाका सिद्धान्त तामिल भूमिकी हिन्दू समाजमें आज तक स्वीकृत तथा पालित चला आ रहा है । यह ठीक है कि कुछ ऐसे विकीर्ण स्थान भी हैं जहाँ ग्राम्य देवताओंके आगे पशु बलि की जाती है किन्तु उच्च जातीय तामिल हिन्दुओंको इस बातका श्रेय प्राप्त है कि उनका इस प्रकारकी ग्राम्य काली पूजासे कोई सम्बन्ध नहीं है । आशाकी जाती है कि शिक्षा और सुसंस्कारोंकी वृद्धिसे छोटी तामिल समाजें भी इस ग्राम्य तथा मूढतापूर्ण पूजाके रूपका परित्याग करेंगी और अपने आपको अधिक पवित्र तथा उज्वल आदर्शोंसे पूर्ण उच्च धार्मिक जीवनके योग्य समुन्नत बनावेंगी ।

गिरिनगरकी चन्द्रगुफा

(लेखक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०)

षट्खंडागमकी टीका धवलाके रचयिता वीरसेनाचार्यने कहा है कि समस्त सिद्धान्तके एक-देशज्ञाता धरसेनाचार्य थे जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे[1]। उन्हें सिद्धान्तके संरक्षणकी चिन्ता हुई। अतः महिमा नगरीके तत्कालवर्ती मुनिसम्मेलनको पत्र लिखकर उन्होंने वहाँसे दो मुनियोंको बुलाया और उन्हें सिद्धान्त सिखाया। ये ही दो मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि नामोंसे प्रसिद्ध हुए और इन्होंने वह समस्त सिद्धान्त षट्खंडागमके सूत्ररूप लिपि-बद्ध किया।

इस उल्लेखसे यह तो सुस्पष्ट हो जाता है कि धरसेनाचार्य सोराष्ट्र (काठियावाड़-गुजरात) के निवासी थे और गिरिनगरमें रहते थे। यह गिरिनगर आधुनिक गिरनार है जो प्राचीन कालमें सोराष्ट्रकी राजधानी था। यहाँ मौर्य क्षत्रप और गुप्तकालके सुप्रसिद्ध शिलालेख पाये गये हैं। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथने भी यहाँ तपस्या की थी, जिससे यह स्थान जैनियोंका एक बड़ा तीर्थक्षेत्र है। आधुनिक कालमें नगरका नाम तो झूनागढ़ हो गया है और प्राचीन नाम गिरनार उसी समोपवर्ती पहाड़ीका रख दिया गया है जो पहले ऊर्जयन्त पर्वतके नामसे प्रसिद्ध थी। अब प्रश्न यह है कि क्या इस इतिहास-प्रसिद्ध नगरमें उस चन्द्रगुफाका पता लग सकता है जहाँ धरसेनाचार्य ध्यान करते थे और जहाँ उनके श्रुतज्ञानका पारायण पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंको कराया गया था?

खोज करनेसे पता चलता है कि झूनागढ़में बहुत सी प्राचीन गुफायें हैं। एक गुफासमूह नगरके पूर्वीय भागमें आधुनिक 'बाबा प्यारा मठ' के समीप है। इन गुफाओंका अध्ययन और वर्णन बर्जेज साहबने किया है। उन्हें इन गुफाओंमें ईस्वी पूर्व पहली दूसरी शताब्दि तकके चिन्ह मिले हैं। ये गुफायें तीन पंक्तियोंमें स्थित हैं। प्रथम गुफापंक्ति उत्तरकी ओर दक्षिणाभिमुख है। इसीके पूर्व भागसे दूसरी गुफापंक्ति प्रारंभ होकर दक्षिणकी ओर गई है। यहाँकी चैत्य गुफाकी छत अति प्राचीन प्रणालीकी समतल है और उसके आजू-बाजू उत्तर और पूर्वकोनोंमें अन्य सीधी-सादी गुफाएँ हैं। इस गुफापंक्तिके पीछेसे तीसरी गुफापंक्ति प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तरकी ओर फैली है। यहाँकी छठवी गुफा (F) के पार्श्वभागमें अर्धचन्द्राकार विविक्त स्थान (apse) है जैसा कि ईस्वी पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दिकी भाजा, कार्ली, बेदसा व नासिककी बौद्ध गुफाओंमें पाया जाता है। अन्य गुफाएँ बहुतायतसे सम चौकोन या आयत चोकोन हैं और उनमें कोई मूर्तियाँ व सजावट नहीं पाई जाती। कुछ बड़ी बड़ी शालायें भी हैं, जिनमें बरामदे भी हैं। ये सब गुफायें अत्यन्त प्राचीन वास्तुकलाके अध्ययनके लिये बहुत उपयोगी हैं×। ये सब गुफाएँ उनके निर्माण कालकी अपेक्षा मुख्यतः दो भागोंमें विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे चैत्यगुफायें और तत्सम्बन्धी सादी कोठरियाँ जो उन्हें बौद्धोंकी प्रतीत होती हैं और जिनका काल ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दि अनुमान किया जा सकता है जब कि प्रथमवार बौद्ध-भिक्षु गुजरातमें पहुंचे। दूसरे भागमें वे गुफाएँ व शालागृह हैं जो प्रथम भागकी गुफाओंसे कुछ उन्नत शैलीकी बनी हुई है, तथा जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ये ईस्वीकी दूसरी शताब्दि अर्थात् क्षत्रप राजाओंके कालकी अनुमान की जाती है।

१ षट्खंडागम, भाग १, पृ० ६७

× Burgess: Antiquities of Kutchh and Kathiawar, 1874-75, P.139ff.

यहाँ हमारे लिये उन्हीं दूसरे भागकी गुफाओंकी ओर ध्यान देना है जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। इनमेंकी एक गुफा (K) में स्वस्तिक, भद्रासन, नंदीपद, मीनयुगल और कलशके चिन्ह खुदे हुए हैं। ऐसे ही चिन्ह मथुराके जैनस्तूपकी खुदाईसे प्राप्त आयागपटों पर पाये गये हैं[१]। यही नहीं, वहाँसे एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसमें क्षत्रपराजाओंके अतिरिक्त 'केवली' या केवलज्ञानका उल्लेख है। इसपरसे उसके जैनत्वमें कोई संशय ही नहीं रहता। दुर्भाग्यतः इस अत्यन्त महत्वपूर्ण शिलालेखकी दुर्दशाकी बड़ी करुण कहानी है। उक्त गुफाके सन्मुख सन् १८७६ से पूर्व कुछ खुदाई हुई थी उसीमें वह शिलापट्ट हाथ लगा। निकालनेमें ही उसका एक हिस्सा टूट गया। फिर उसे उठाकर कोई शहरके भीतर राजमहलमें ले गया और इसी समय उसके एक ओर कोनेको भारी क्षति पहुंची। जब बर्जेज़ साहब उसका फोटो लेने गये तब उसका पता लगना ही कठिन हो गया। अन्ततः वह महलके सामने गोल बरामदेमें एक जगह पड़ा हुआ मिला[२]। फिर वह कुछ काल तक जूनागढ़ दरबारके छापेखानेमें पड़ा रहा। तत्पश्चात् किसी और एक विपत्तिमें पड़कर उसके दो टुकड़े हो गये और इस हालतमें अब वह वहाँके अजायबघरमें सुरक्षित है।

यह शिलापट्ट दो फुट लम्बा, चौड़ा और आठ इंच मोटा है। इसके एक पृष्ठ भागपर चार पंक्तियोका लेख है जो १ फुट ६ इंच चौड़ी और ६ इंच ऊंची जगहमें है। एक-एक अक्षर लगभग आधा इंच बड़ा है। लेखको क्षति बहुत पहुंची है। बीचकी दो पंक्तियाँ कुछ सुरक्षित हैं, किन्तु प्रथम और चतुर्थ पंक्तिका बहुतसा भाग अस्पष्ट होगया है और पढ़नेमें नहीं आता। फिर एक ओरसे जो शिलापट्ट टूट गया है उसके साथ इन पंक्तियोका कितना हिस्सा खो गया यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता। बुल्हर साहबके मतसे दूसरी और चौथी पंक्तियाँ प्रायः पूरी हैं, केवल कोई दो अक्षरोंकी ही कमी है। किन्तु यह अनुमान ही है, निश्चित नहीं। उसी कालके अन्य शिलालेखों परसे निश्चियतः तो इतना ही कहा जा सकता है कि दूसरी और तीसरी पंक्तियोंमें जयदामन् नरेशके पुत्र और पौत्रके नामोल्लेख तथा लेखके वर्षका उल्लेख, सम्भवतः अंकों और शब्दोंमें दोनों प्रकारसे अवश्य रहा होगा। लेखकी लिपि निश्चयतः क्षत्रपकालकी है। लेख टूटा हुआ होनेसे उसका प्रयोजन स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता। किन्तु जितना कुछ लेख बचा है उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उसका संबंध जैनधर्म की किसी घटनासे है। उसमें **'देवासुरनागयक्षराक्षस' 'केवलिज्ञान' 'जरामरण'** जैसे शब्द सवलित पड़े हुए हैं, जिनसे अनुमान होता है कि उसमें किसी बड़े ज्ञानी और संयमी जनमुनिके शरीरत्यागका उल्लेख रहा हो और उस अवसरपर देव, असुर, नाग, यक्ष और राक्षसोंने उत्सव मनाया हो। यह घटना 'गिरि-नगर' (गिरनार) में ही हुई थी, इसका लेखमें स्पष्ट उल्लेख है। घटनाका काल चैत्र शुक्ल पंचमी दिया है, पर वर्षका उल्लेख टूट गया है। जिस राजाके राज्यकालमें यह घटना हुई थी उस राजाका नाम भी टूट गया है। पर इतना तो स्पष्ट है कि वह राजा क्षत्रपवंशके चष्टनका प्रपौत्र, व जयदामनका पौत्र था। इस वंशके अन्य शिलालेखों व सिक्कोंपरसे क्षत्रपवंश की प्रस्तुतोपयोगी निम्न परम्पराका पता चल चुका है।
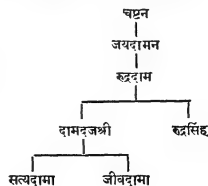
१ Smith: Jain Stupa (Arch. Survey of India X X, Pt. XI)

२ Arch: Survey of Western India, Vol. II P. 140.

अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्तलेखमें चष्टनके प्रपौत्र और जयदामनके पौत्रसे रुद्रदामन्के पुत्र दामदजश्री या रुद्रसिंहका ही अभिप्राय होगा। चष्टनका उल्लेख यूनानी लेखक टालेमीने अपने ग्रंथमें किया है। यह ग्रन्थ सन १३० ईस्वी (शक५२)के लगभग लिखा गया था। रुद्रदामन्के समयके सुप्रसिद्ध लेखमें शक ७२ (सन् १५०) का उल्लेख है। रुद्रसिंहके शिलालेख व सिक्कोंपर शक १०२ से ११० व ११३ से ११८-११९ तकके उल्लेख मिले हैं। शक संवत् १०३ का लेख अनेक बातोंमें प्रस्तुत लेखके समान होनेसे हमारे लिये बहुत उपयोगी है। जीवदामनके शक ११६ से १२० तकके सिक्के मिले हैं। क्षत्रप राजाओंके राज्यकालकी सीमाएँ अभी भी बहुत कुछ गड़बड़ीमें हैं। इन राजाओंमें यह भी प्रथा थी कि राज्यपरम्परा एक भाईके पश्चात् उससे छोटे भाईकी ओर चलती थी और जब सब जीवित भाइयोंका राज्य समाप्त हो जाय तब नई पीढ़ीकी ओर जाती थी। इससे भी क्रमनिश्चयमें कुछ कठिनाई पड़ती है। तथापि पूर्वोक्त निश्चित उल्लेखोंपरसे हम प्रस्तुतोपयोगी इतनी बात तो विदित हो ही जाती है कि उक्त लेख दामदजश्री या रुद्रसिंहके समयका है और इनका समय शक ७२ से शक ११६ अर्थात् सन् १५० से १९७ ईस्वी तकके ४७ वर्षोंके भीतर ही पड़ता है। रुद्रसिंहके शक १०३ के गुंड नामक स्थानसे प्राप्त लेख को देखनेसे अनुमान होता है कि प्रस्तुत लेख भी उन्हींके समयका और उक्तवर्षके आसपासका हो तो आश्चर्य नहीं। अतः प्रस्तुत लेखका काल लगभग शक १०३ (सन् १८१) अनुमान किया जा सकता है।

हम षट्खंडागमके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें षट्खंडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्यके विषयमें बता आये हैं कि उन्होंने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें रहते हुए पुष्पदन्त और भूतबलिको सिद्धान्त पढ़ाया था। जैन पट्टावलियों आदि परसे उनके कालका भी विचार करके हम इस निर्णयपर पहुंचे थे कि उक्त ग्रन्थकी रचना शक ६ (सन् ८७) के पश्चात् हुई थी। अब हम जब गिरिनगरकी उक्त गुफाओं और वहाँके उक्त शिलालेखपर विचार करते हैं तो अनुमान होता है कि सम्भवतः जूनागढ़की ये ही 'बाबा प्यारा मठ' के पासकी प्राचीन जैन गुफाएँ धरसेनाचार्यका निवासस्थल रही हैं। क्षेत्र वही है, काल भी वही पड़ता है। धरसेनकी गुफाका नाम चन्द्रगुफा था। यहाँकी एक गुफाका पिछला हिस्सा-चैत्यस्थान-चन्द्राकार है। आश्चर्य नहीं जो इसी कारण वही गुफा चन्द्रगुफा कहलाती रही हो। आश्चर्य नहीं जो उपर्युक्त शिलालेख उन्हीं धरसेनाचार्यकी स्मृतिमें ही अंकित किया गया हो। लेखमें ज्ञानका उल्लेख ध्यान देने योग्य है। यदि यह लेख पूरा मिल गया होता तो जैन इतिहासकी एक बड़ी भारी घटनापर अच्छा प्रकाश पड़ जाता। इस शिलालेखकी दुर्दशा इस बातका प्रमाण है कि हमारे प्राचीन इतिहासकी सामग्री किस प्रकार आज भी नष्ट-भ्रष्ट हो रही है।

यह लेख सर्वप्रथम सन् १८७६ में डा० बुल्हर द्वारा सम्पादित किया गया था और फोटोग्राफ तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित Archaeological Survey of Western India Vol. II में पृष्ठ १४० आदि पर छपा था। यही फिर कुछ साधारण सुधारोंके साथ सन् १८९५ में स्याहीके ठप्पेकी प्रतिलिपि व अनुवाद सहित 'भावनगरके प्राकृत और संस्कृतके शिलालेख' के पृ० १७ आदिपर छपा। रैंपसन साहबने अपने Catalogue of coins of the Andhra Dynasty etc, P. LXI, No. 40 में इस लेखका संक्षिप्त परिचय कराया है तथा प्रो० लूडर्सने अपनी List of Brahmi Inscriptions में नं० ९६६ पर इस लेखका संक्षिप्त परिचय दिया है। यह लिस्ट एपीग्राफीआ इंडिका, भाग १० सन् १९१२ के परिशिष्टमें प्रकाशित हुई है। इस लेख का अन्तिम सम्पादन व अनुवादादि राखलदास बनर्जी और विष्णु एस० सुखतंकरने किया है जो एपीग्राफिया इंडिका भाग १६, के पृ० २३९ आदिपर छपा है और इसीके आधारसे हमने उसका पाठ लिखा है। उक्त गुफाओंका सर्वप्रथम वर्णन बर्जेज साहबने किया है, जो उनकी Antiquities of Kutchh

and Kathiawar (1874-75) के पृष्ठ १३६ आदि पर छपा है। उनका परिचय हाल हीमें श्रीयुत एच० डी० सांकलियाने अपनी 'The Archaeology of Gujrat' (Bombay 1941) नामक पुस्तकमें कराया है।

प्राप्त लेख इस प्रकार है-

(पं० १)······स्तथा सुरगण [ा] [क्षत्रा] णां प्रथ[म]·············

(पं० २) ··· ····चाष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञः क्ष [त्रप] स्य स्वामिजयदामपे [ो] त्रस्य राज्ञो म [हा] ··· ·· ···

(पं० ३) ·· ····[चैं] त्रशुक्लस्य दिवसे पंचमे ५ इ [ह] गिरिनगरे देवासुरनागय [क्ष] राक्षसे · ··· ····

(पं० ४) ··· · थ[पु]रमिव ······केवलि [ज्ञा] न सं······ नां जरामरण[ा] ······· · ···

अनुवाद

················तथा सुरगण ·· क्षत्रियोंमें प्रथम · ···

··· ·· चष्टनके प्रपौत्रके, राजा क्षत्रप स्वामी जयदामके पौत्रके, राजा महा ·· ··· ·· ·· ··· चैत्र शुक्लकी पंचमीको ५ यहां गिरिनगरमे देवासुरनाग-यक्ष-राक्षस · ·········· ···· ····················· पुरके समान··········केवलिज्ञान सं० · ·· ········ · के जरामरण··· · · · ··· · ···· · ·· ···· ·· ···

इस लेखकी राजवंशावलि आदिको समझने तथा लेखकी गति-मतिका कुछ आभास देनेके लिये हम यहाँ चष्टनके प्रपौत्र, जयदामके पौत्र रुद्रदामके पुत्र स्वामी रुद्रसिंहके उस लेखको भी यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझते हैं जो ठीक इसी लिपिमें लिखा हुआ गुन्ड नामक स्थानसे प्राप्त हुआ है जो अपने रूपमे पूरा है और जिसमे १०३ वीं वर्षका स्पष्ट उल्लेख है—

गुंडका शिलालेख

(पं० १) सिद्धं। राज्ञो महक्षत्र [प] स्य स्वामिचष्टनप्रपोत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामिजयदामपौत्रस्य

(पं० २) राज्ञो महक्षत्रपस्य स्वामिरुद्रदामपुत्रस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामिरुद्र—

(पं० ३) सीहस्य [व] र्षे [त्र] युत्तर शते १००३ वैशाख शुद्धे पंचमिधस्यतिथौ रो [हि] णि नक्ष

(पं० ४) त्र-मुहूर्त्ते आभीरेण सेनापति बापकस्य पुत्रेण सेनापतिरुद्रभूतिना ग्रामे रसो—

(पं० ५) [प] द्रिये वा [पी] [ख] नि [तो] [बद्ध] । पितश्च सर्वसत्त्वानां हितसुखार्थमिति।

अनुवाद

सिद्धं। राजा महाक्षत्रप स्वामिचष्टनके प्रपौत्र, राजा क्षत्रपस्वामी जयदामके पौत्र, राजा महाक्षत्रपस्वामी रुद्रदामके पुत्र, राजा क्षत्रपस्वामी रुद्रसिंहके वर्ष एक सौ तीन वैशाख शुद्ध पंचमी तिथिके रोहिणी नक्षत्रके मुहूर्तमे आभीर सेनापति बापकके पुत्र सेनापति रुद्रभूतिने ग्राम रसोपद्रियमे वापी खुदवाई और बंधवाई सब जीवोंके हित और सुखके लिये। इति।

वरदत्तकी निर्वाण-भूमि और वराङ्गके निर्वाणपर विचार

(ले०—पं० दीपचंद जैन पांड्या)

दिगम्बर जैन सम्प्रदायके सैकड़ों तीर्थस्थान हैं, परन्तु वे कौन कौनसे हैं और कहां कहां हैं तथा वे तीर्थस्थान कबसे और क्यों माने जाने लगे, इस विषयको स्पष्ट करके बतलाने वाली अभी तक ऐसी कोई भी प्रामाणिक सामग्री नहीं जुटाई गई हैं जिससे तद्विषयक सभी समस्याएँ और शंकाएँ हल होजायें। श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी और प्रो० हीरालालजीने 'जैनसिद्धान्त भास्कर' भाग ५ की किरण ४ में और 'अनेकान्त' वर्ष २की किरण ६-७ में 'हमारे तीर्थक्षेत्र' और 'दक्षिणके तीर्थक्षेत्र' शीर्षक लेखप्रगट किये हैं, जिनमें कई क्षेत्रोंपर ऐतिहासिक विवेचन करके अच्छा प्रकाश डाला है। अस्तु, मैं इस लेखमें वरदत्तऋषिकी निर्वाण भूमि कौनसी है और वह कहां है तथा वरांगराजाका निर्वाण हुआ या कि नहीं, इन दोनों विषयोंपर यत्किंचित्प्रकाश डालना चाहता हूँ।

दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें तीर्थक्षेत्रोंके परिचायक दो प्राचीन पाठ उपलब्ध होते हैं—१ प्राकृत निर्वाणकाण्ड, २ संस्कृत निर्वाणभक्ति। इनके सिवाय गुणभद्रकी तीर्था-र्चनचंद्रिका' और उदयकीर्तिका 'तित्थंकरतित्थ' भी उपलब्ध होते हैं। हिंदी भाषामें कविवर भगवतीदासका निर्वाण-काण्ड भाषा नामका पाठ मिलता है। यह भाषा-पाठ सर्वत्र प्रचलित होनेके कारण सर्वसाधारणका विषय है। इसे एक प्रकारसे 'प्राकृत निर्वाणकाड' का अनुवाद या रूपान्तर कह सकते हैं। प्राकृत निर्वाणकाडको छोड़कर इन सभी पाठोंमें वरदत्तऋषि कहांसे मोक्ष गये, यह कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। प्राकृत नि० काण्डमें जो इस विषयकी गाथा पाई जाती है और जिसमें वरांगके भी निर्वाणका उल्लेख है वह इस प्रकार है:—

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवर नयरे
आहुट्ठय कोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥३॥

भाषा निर्वाणकाण्डमें इसका जो रूपान्तर दिया है, वह इसप्रकार है :—

वरदत्त राय रु इंद मुनिंद। सायरदत्त आदि गुणवृंद॥
नगर तारवर मुनि हुटकोडि। वंदौं भावसहित कर जोडि॥

इस परसे यह जाना जाता है कि तारवर-तारपुर-तारा-पुरसे वरदत्त, वरांग और सागरदत्त आदि साढ़ेतीन कोड़ि मुनि मोक्ष गये हैं। परन्तु यह किस आधारपर लिखा गया है वह अभी अंधकारमें है। हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण में भगवान् नेमिनाथके प्रधान गणकर वरदत्तके केवली होनेका तो उल्लेख मिलता है पर उनके मुक्ति-स्थानका निर्देश वहां भी नहीं मिलता। इसलिये यह जिज्ञासा ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं कि वरदत्तकी निर्वाण-भूमि कौनसी है? श्रीजटासिंहनंदि आचार्यका 'वरांगचरित'[1] इस समस्याके हल करनेका खास प्राचीन आधार कहा जा सकता है; क्योंकि इसमें निर्वाणकाण्ड-निर्दिष्ट वरदत्त और वरांग आदिकी घटनाओंका सविस्तार उल्लेख पाया जाता है। परन्तु इस चरितका कथन निर्वाणकाडसे बहुत कुछ भिन्न है। इस संस्कृत ग्रन्थके अनुसार केवल वरदत्तका ही निर्वाण हुआ वरांगका नहीं, तथा वरदत्तकी निर्वाणभूमि मणिमान् पर्वत है, तारवर नगर नहीं है। वरांगचरितके उल्लेख इस प्रकार हैं:—

(१) २१ वें सर्गके २६वें पद्यसे लेकर ३१ तकके पद्यों में यह बतलाया गया है कि वरांगनरेशने अपनी जन्मभूमि उत्तमपुरको छोड़कर आनर्तपुरको राजधानी बनाया था। आनर्तपुरका उल्लेख इस प्रकार है:—

सरस्वती नाम नदी च विश्रुता मणिप्रभावान्मणिमान्महागिरिः।
तयोर्नदीपर्वतयोर्यदन्तरे बभूव चानर्तपुरं पुरातनम् ॥२८॥
पुरा यदूनां विहगेन्द्रवाहनो जनार्दनः कालियनागमर्दनः।
रणे जरासन्धममीनिहित्य यमर्तवानर्तपुरं ततोऽभवत् ॥२६॥

अर्थात् सरस्वती नामकी नदी और मणिमान् नामका महापर्वत मणियोंके प्रभावसे प्रसिद्ध है। इन नदी और पर्वत दोनोंके मध्यमें जो पुराना आनर्तपुर बसा हुआ था वहाँ पहले गरुडवाहन, कालियनागमर्दी यदुवंशीय जनार्दनश्रीकृष्ण ने जरासन्धको रणमें मारकर निर्भय होकर नृत्य किया था, इसी कारण इस नगरका नाम आनर्तपुर प्रसिद्ध हुआ।

(२) २६वें सर्गके ७५ से ९८ तकके पद्योंसे पाया जाता

---

१ यह ग्रन्थ प्रो० ए० एन० उपाध्याय द्वारा सुसंपादित होकर बम्बईसे माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुआ है।

है कि मणिमान् पर्वत पर श्रीनेमि-जिनेन्द्रके प्रधान गणधर श्रीवरदत्त केवली भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देते हुए विराज रहे थे। वरांगनरेश दीक्षा ग्रहणार्थ आनर्तपुरसे चलकर वहाँ आये और वरदत्तके चरणोंकी वन्दना करके बैठे।

(३) ३१वें सर्गके ५५ से ५८ तकके पद्योंमें उल्लिखित है कि वरांगमुनि नगर-ग्रामादि अनेक प्रदेशोंमें विहार करके अपनी आयुकी अन्तिम अवधि निकट जान, सागरवृद्धि आदि मुनीश्वरोंके साथ समाधिमरणकी भावनासे उसी मणिमान् पर्वतपर आये। वहाँ आकर उन्होंने प्रथम ही श्री वरदत्तकी निर्वाणभूमिकी प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया, और फिर पंडित मरणकी इच्छासे साधुवर्गके साथ प्रायोपगमन संन्यास धारण किया।

वरांगचरितके इन उल्लेखोंसे यह तो स्पष्ट होजाता है कि वरदत्तकी निर्वाणभूमि निर्वाणकाण्डमें बताई गई 'तारवरनगर' न होकर 'मणिमान् पर्वत' है। साथही यह भी विदित हो जाता है कि वह पर्वत सरस्वती नदीके और आनर्तपुर नगरके पास है। दि० जैनसाहित्यमें अभी तक आनर्तपुरका वर्णन सिवा वरांगचरित्रके अन्यत्र कहीं भी देखनेमें नहीं आया। इसी तरह तारवर नगरका और वरांग की मुक्तिका अन्यत्र कहीं उल्लेख देखनेको नहीं मिलता। आनर्तपुरका वर्णन महाभारत और भागवतमें जरूर आया है। भागवतके अनुसार द्वारका आनर्त देशमें थी। निर्वाणकाण्डकी उक्त गाथाका क्या आधार रहा है यह कुछ समझ में नहीं आता है।

जटिल कवि और भट्टारक वर्द्धमानके संस्कृत वरांग चरितों तथा भाषाके अन्य वरांग चरितोंके अनुसार वरांग राजा मोक्ष न जाकर सर्वार्थ सिद्धिको गये हैं। इस विषयके दो प्रमाण जटासिंहनन्दीके वरांगचरितसे और एक कमलनयन कविके भाषा वरांगचरितसे, जोकि भ० वर्द्धमान के वरांगचरितके आधारपर बना है, नीचे दिये जाते हैं:—

१ . . .. . महामुनिर्माससमथाऽधुवास ॥१०४॥
कृत्वा कषायोपशमं क्षयेण ध्यानं तथाद्यं समवाप्य शुक्लम्।
यथोपशान्तिप्रभवं महात्मा स्थानं समं प्राप वियोगकाले॥१०५॥
कर्मावशेषप्रतिबद्ध हेतोः सनिर्वृतिं नापदतोमहात्मा॥१०७॥
विमुच्यदेहंसुनि(सुवि)शुद्धलेश्यःआराधयन्नं(नात्सं)भगवाङ्गगाम
यथैववीरः प्रविहाय राज्यं तपश्च सतसंयममाचचार।
तथैव निर्वाण फलावसानां (नं) लोक(कं) प्रतिष्ठा (प्रतस्थौ) सुरलोकमूर्ध्नि १०९'

२ " 'वराङ्गर्षेः सर्वार्थसिद्धिगमनं नाम एकत्रिंशत्तितमःसर्गः।'

३ "सो मुनि वरांग सु आयु क्षयतें त्यागि प्रान सु देह को।
सर्वार्थसिद्धि गये तबै यह विनत सुरप्रिय नेह को॥

इन उल्लेखोंसे यह बतलाया गया है कि वरांग मुनिने मणिमान् पर्वत पर एक मासका समाधियोग धारण किया और अपनी आयुके अन्तिम समयमें वे महात्मा उपशान्त मोह नामके ११वें गुणस्थानको प्राप्त हुए। चूंकि सत्तामें कर्मोंका बन्ध अवशेष था इस कारण वे निर्वृत्तिको प्राप्त नहीं हुए। किन्तु परम विशुद्ध लेश्यासे शरीरको छोड़कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप आराधनाके फलको प्राप्त हुए। जिस प्रकार उस वीर वरांगने राज्यको छोड़कर तप और संयमका आचरण किया उसी प्रकार—उसके फल-स्वरूप वे स्वर्गलोकके शिखरपर स्थित लोकको—अहमिन्द्रपदरूप सर्वार्थसिद्धिको—गये। वहाँसे चयकर एक भव मनुष्यका धारण करके निर्वाण फलको पायेंगे।

सिद्धान्तका नियम है कि क्षपकश्रेणी चढने वाले ही केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उपशमश्रेणी चढने वाले नहीं। उपशमश्रेणी माँडने वाले जीव अवश्य गिरते हैं। अस्तु, यहाँ यह लिख देना उचित जान पड़ता है कि उक्त जटिल कविके मुद्रित वरांगचरितमें प्रो० ए. एन. उपाध्ये ने सर्ग ३१ के १०७ वे पद्यके 'निर्वृतिं नापदतो' अंश पर जो 'Better प्रापदतो' टिप्पणी दी है, और हिन्दी सार पृ० ६६ पर "(वरांगने) आठ कर्मोंको नाश करके मुक्ति प्राप्ति की" तथा विषयानुक्रम पृ० ८८ पर 'वरांगस्य निर्वाणप्राप्ति' रूप वरांगके मोक्ष गमन-परक उल्लेख किये हैं वे सब किसी भूलके परिणाम जान पड़ते हैं। मूलग्रन्थ परसे उनका समर्थन नहीं हो सकता है कि प्रो० साहबके ध्यानमें सम्पादनके समय निर्वाणकाण्डकी उक्त गाथा रही हो और इस तरह ग्रन्थका उक्त स्पष्ट उल्लेख ओझल हो गया हो।

ऊपरके इस विवेचनपरसे यह स्पष्ट है कि वरांगचरितके अनुसार वरदत्तकी निर्वाणभूमि और वरांगका समाधि-स्थान मणिमान् पर्वत है और वरांग मोक्ष न जाकर सर्वार्थसिद्धिको गये हैं।

वीरसेवामंदिर, सरसावा ता० ११-३-१९४२

पंजाबमें उपलब्ध कुछ जैनलेख

(ले—डा० बनारसीदास जैन एम० ए०, पी० एच० डी०)

ऐतिहासिक सामग्रीमें लेखों (शिलालेख, ताम्रशासन, प्रशस्ति आदि) का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। लेखोंमें प्रायः अपने समकालीन घटनाओंका उल्लेख रहनेसे उनकी प्रामाणिकतामें संदेहकी गुंजाइश कम रहती है। भारतका प्राचीन इतिहास लिखनेमें ऐसे लेखोंने आशातीत सहायता की है। जैनधर्मके इतिहासका संकलन करनेमें भी ये कुछ कम महत्वके नहीं हैं। मथुराके कंकाली टीलेसे मिले लेखोंने कल्पसूत्रमें वर्णित कुल, गण, शाखा आदि जैन-परंपराको अकाट्य रीतिसे सिद्ध कर दिया है। और दक्षिणमें पाये जाने वाले लेखोंने जैनधर्मके गौरवपर भारी प्रकाश डाला है।

इनके अतिरिक्त मध्यकालीन तथा वर्तमान युगके अनेक लेख ऐसे विद्यमान हैं जो प्रायः पाषाण और धातुमयी प्रतिमाओंपर उत्कीर्ण हैं। इनमें प्रतिष्ठाकी तिथी तथा प्रतिष्ठा कराने वाले आचार्य और श्रावकके गच्छ जाति आदिका उल्लेख दिया जाता है। इनपरसे पट्टावलियोंमें वर्णित आचार्य-परंपराके अस्तित्वकाल की पुष्टि होती है।

जैन लेखोंको हिन्दी जनताके संमुख रखनेका श्रेय मुनिजिनविजय, प्रो० हीरालाल तथा स्व० बा० पूर्णचंद नाहरको है। जहाँ तक मुझे मालूम है इन महाशयोंके लेख-संग्रहमें तथा अन्यत्र, नगरकोटके लेखको छोड़ कर, पंजाबके और किसी भी लेखका समावेश नहीं है।

पंजाबमें भी जैन लेख काफी संख्यामें मिलते हैं; क्योंकि यहाँ जैनधर्म अति प्राचीनकालसे चला आ रहा है। किसी समय यह धर्म यहाँ बड़ी उन्नतिपर था। कई स्थलोंपर इसके प्राचीन अवशेष मिलते हैं। अब भी पंजाबके बड़े बड़े नगरों तथा कस्बोंमें एक दो दो जैन मंदिर विद्यमान हैं। इनमें सैकड़ों प्रतिमाएँ हैं, जिनपर लेख खुदे हुए हैं।

पंजाबका सबसे पहला प्रकाशित लेख नगरकोट (कांगड़ा) से उपलब्ध हुआ था, जो वहाँके किलेमें भगवान् ऋषभदेवकी मूर्तिके नीचे पट्टपर खुदा हुआ है। इसका लेखनकाल सं० १५२३ है। मुनिजिनविजय द्वारा संपादित "विज्ञप्ति-त्रिवेणी" से प्रतीत होता है कि उस समय कांगड़ा एक प्रसिद्ध और प्राचीन जैन-तीर्थ था। परन्तु आज कांगड़ेमें न कोई जैनी है और न मूर्तियोंके अतिरिक्त उस तीर्थका कोई निशान ही बाकी है, यह कालकी कैसी विचित्र गति है! निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस तीर्थका विध्वंस कब और कैसे हुआ। कदाचित् मुसलमानोंके हाथोंसे अथवा भूकंप आदिसे जैसा कि सन् १६०५ में हुआ था।

सिंहपुरके निकटवर्ती जैन मंदिरके अवशेषोंपर भी लेखोंका होना सम्भव है। यह मन्दिर जेहलम ज़िलेमें कटासके पास था। इसके अवशेष चोया सैदनशाहके पास 'मूरती' ग्राममें मिले हैं। चीनी यात्री ह्वेनत्सांगने इस मंदिरका उल्लेख करते हुये कहा है कि यहाँ एक लेख भी खुदा था जो सूचित करता था कि यहाँ भगवान ऋषभदेवने देशना दी थी। यह अवशेष लाल पत्थरके हैं और अब लाहौरके म्यूज़ियममें सुरक्षित हैं। इनका विस्तृत वर्णन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

नीचे कुछ लेख* उद्धृत किये जाते हैं जो सबके सब श्वेताम्बर मंदिरोंसे लिये गये हैं। यद्यपि पंजाबमें बहुतसे दि० अर्वाचीन मंदिर हैं तथापि कई एक प्राचीन

* ये लेख मूर्तियों पर हैं। इनमें अधिक मूर्तियाँ तो ऐसी हैं जो बाहर से आई प्रतीत होती हैं। नये मंदिरोंमें तो श्रीमद् विजयानंद सूरि ने गुजरातसे भिजवाई थीं।

भी हैं। सुननेमें आया है कि जींदमें एक मंदिर है जो अब बंद पड़ा है। नकोदर (जि० जालंधर) के मंदिरमें कई दिगम्बर प्रतिमाएँ हैं।

ये लेख चार नगरोंके मंदिरोंसे लिये गये हैं— १—अमृतसर, २—पट्टी (जिला लाहौर), ३—जीरा (जिला फीरोजपुर) और ४—नकोदर (जि० जालंधर) इनमें जैनोंकी अच्छी पुरानी वस्ती है। यद्यपि लेखों को प्रतिमाओंपरसे पं० जगदीशलाल शास्त्री एम० ए० ने बड़ी सावधानीसे उतारा है तथापि कहीं-कहीं लेख मद्धम पड़ गये हैं, इससे पाठ संदिग्ध रह गये हैं:—

(१)* संवत् ११५६ माघ सुदि १४ सुके
आसीत् प्राग्वाट वंशस्य भूषको विहिलाभिधाः।
पत्नी सलहिका तस्य जिनदत्तः सुतस्तयोः॥ १॥
भार्या च रोहिणी तस्य पुत्रौ सागररोहिकौ।
दुहिता सीहिणी चान्या वधू [:] सहजमती तथा॥२॥
संसारासारतां ज्ञात्वा पुत्रैः सर्वैः सुसम्पदा।
कारितो मोक्षलाभार्थं चतुर्विशतिपट्टकः॥३॥
—(जीरा, धातुमयी चतुर्विंशति जिनप्रतिमा)

(२) संवत १२७० ज्येष्ठ व प्र० श्रीसिद्धसेन सूरिभिः॥
—(नकोदर, धातुप्रतिमा)

(३) संवत १४७४ चैत्रवदि १ शनौ श्रीश्रीमाल ज्ञातीय पूर्वश्रेष्ठि सउरा सु० संगम सु० पासवीर भार्या रूडीसुत संगवी बउथाकेन भार्या डाही सहितेन आत्म श्रेयोर्थं श्री पद्मनाथ बिंबं कारापितं श्री ब्राह्मणगच्छे श्री वीरसूरिभि प्रतिष्ठितं। —(पट्टी, धातुप्रतिमा)

(४) सं० १४८१ (?) वर्षे वैशाष श्री मूलसंघे भट्टारक जी श्री जयचंद्र+
(नकोदर, पाषाणपार्श्वप्रतिमा)

(५) सं० १४६४ वर्षे माघ शुदि १५ रवौ श्रीमाल ज्ञातीय श्र० धारा भार्या छाछ (बाराही वास्तव्य) लटे सुत साजण श्रेयोर्थं भ्रातृ कीकाकेन श्री नमिनाथ मुख्यपंचतीर्थी कारापिता श्री पू० श्री गुणसमुद्रसूरीणा-मुपदेशेन प्रतिष्ठितं विधिना।
(पट्टी, धातुप्रतिमा)

(६) संवत १५१५ वर्षे ज्येष्ठ वदि (?) शनौ श्री श्रीमालवंस श्रीहीरा भा० हीरादे पुत्र सारंग भू श्रावकेण भा० पवी पु० समधरयुक्तेन श्रीअंचलगच्छेश श्री सुमतिनाथ बिंबं कारितं स्वश्रेयाते प्रतिष्ठितं श्रीसंघेन।
(जीरा, धातुप्रतिमा)

(७) सं० १५१५ वर्षे फाल्गुण शुदि ८ शन्नौ ओसवाल ज्ञातीय लघु-संतानीय सं० मेघा भा० नागल पु० देवा भा० वरणाकेन (?) भा० वनाइ सु० देधर सहितेनात्मश्रेयसे चतुर्शितिपट्टं कारितं श्रीधर्म-नाथ बिंबं कारापितं श्री कोरंटगच्छे नंनाचार्यसंताने प्रतिष्ठितं श्रीभावदेवसूरिभिः।

(नकोदर धातु प्र० दो प्रतिमाएं इसमें नग्न हैं)

(८) सं० १५१६ वर्षे माघ शुदि ५ शुक्रे श्री ओसवाल ज्ञातीय राउल समरसी भा० टहिकू पु०रा० नरसिगना भा० नामलदे भ्रातृ रा० घागा सुत रा० लापा दाद्धा धग सावस्ता रा० लाषा भा० माई सुत मूला सुतारमी प्रमुख कुटुम्बयुतेन निजश्रेयसे श्री मुनिसुव्रतबिंबं कारितं। प्रतिष्ठितं तपापक्षे श्रीसोम-सुन्दरसूरिशिष्य श्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य श्रीरत्नशेखर सूरि पट्टालंकरण श्रीलक्ष्मीसागरसूरिभिः*।
(जीरा, धातुप्रतिमा)

(९) संवत १५१७ वर्षे वैशाष सुदि ३ सोमे श्री श्रीवंशे सा० देल्हणदे पु० शिवा भा० सलपू सुत लाडणेन पत्नी वमकू पु० माला भ्रातृ भादासहितेन स्वश्रेयसे श्रीअंचल गच्छाधिप श्री जयकेसरीणामुपदेशेन श्रीशीतलनाथचतुर्विंशतिपट्टः कारितः। प्रतिष्ठितः श्रीसंघेन॥ श्रीभूयात॥
(जीरा, धातुप्रतिमा)

(१०) संवत १५२१ वर्षे जे० शु ४ गुरु श्रीमाल

* बाबूराम जैन द्वारा रचित "क्रान्तिकारी जैनाचार्य" जीरा, सन् १६३६ में चित्र सहित प्रकाशित। इसकी लिपि में 'स', 'श' में भेद नहीं किया गया।

+ नकोदर के मंदिर में पहिले यह प्रतिमा मूलनायक थी।

* लक्ष्मीसागर द्वारा प्रतिष्ठित दूसरी प्रतिमाओंके लिए देखिये—पूर्णचन्द्र नाहर—"जैन लेख संग्रह" भाग २। नागौरके लेख।

ज्ञाति सेठिया सं० कमला भा० कमलसिरि पु० सं० धोनी भायया (?) सं० गुणराज भा० वांपलदे पुत्र्या धरणसिरि नाम्न्या स्वश्रेयसे चतुर्विंशति त्रिबानि कारयित्वा श्रीसीतलबिंबं का० प्र० तपा श्रीलक्ष्मी सागर सूरिभिः ॥　　(जोरा, धातुप्रतिमा)

(११) श्री संवत् १५२१ वर्षे वैशाख शुदि १२ बुधे श्री श्रीमालज्ञातीय श्रे० जोगा भा० कडूतया सु० लांपा धरणा भोजा वीरायुतया आत्मश्रेयसे श्री नमिनाथादि पंचतीर्थी आगमगच्छे श्रीहेमरत्न सूरीणा-मुपदेशेन कारिता प्रतिष्ठा च अहम्मदावाद वास्तव्यःश्रीः　　(नकोदर, धातुप्रति०)

(१२) संवत् १५२१ वर्षे ज्येष्ट वदि १२ गुरु श्री श्रीमाल ज्ञा० सा० वीसा भा० टहिकू सु० हासाकेन वनाश्रेयसे श्री शांतिनाथ बिंबं कारापितं प्रति० श्री पूर्णिमा प्रथम० श्री श्रीसाधसुन्दरसूरिणामुपदेशेन विधिना श्राद्धैः ।　　(अमृतसर, धातुप्रतिमा)

(१३) संवत् १५२३ वर्षे वैं० शु० १३ दिने वृद्ध-नगर वास्तव्य ऊकेश ज्ञातीय स० हसा भा० अमरादे सुत सं देपाल पहिराज डूंगर जिनदासाः तेषु सं पहिराजेन भा० मोहणदे सुत देवचन्द्रयुतेन निजमातृ-श्रेयसे श्री शंभवबिंबं का० प्र० तपागच्छ नायक श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः ।　　(नकोदर, धातुप्रतिमा)

(१४)सं० १५२३ वर्षे वैशाखशुक्ल ५ बुधे सन० ऊके-शज्ञा०भ० नागसी भ०नागलदे पु० तोजावेन भा०वरजू भ्रा० वाछा भा० मूजी पु० कीका श्रीरंग श्रीदत्त सोमा-लप वधु पद्माई हर्षाई जीवाई पम युतेन निजश्रेयसे श्रीसुमतिबिंबं का० प्र० तपा श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः श्रीसुधानंदजसूरि श्रीरत्नमंडनसूरि परिष्ठीतेः ।

(नकोदर, धातुप्रतिमा)

(१५) संवत् १६६३ वर्षे वैशाष शुदि १३ सोम दिने आगरा नगरे वास्तव्य लोढा गोत्रे ओगाणि शाखायां सं० ऋषभदासः* भार्या रेष श्री पुत्र सं० कुंरपाल तद्वघुदांषव जैनशासनोत्तति कृ०सं० सोनपाल भा० सुवर्ष श्री तदां जैन सं० रूपचंद्रेण भार्याद्वययुतेन श्रेयसे सुकुटुंबेन शांतिनाथबिंबं कारितं अंचलगच्छे श्री धर्मसूरीणा आ० श्रीकल्याणसागरसूरि युत्राणामुप-देशेन श्रीसंघेन ।　　(पट्टी, धातुप्रतिमा)

(१६) सं...०१६ श्रीमूलसंघ ब्र० श्री हंसोपदेशात् बाई हेममती नित्यं प्रणमति ।

(नकोदर, धातुप्रतिमा)

(१७) संवत् १७१५ का० शुदि ३ मूलभद्रा देव-कीर्तिभिः रतना सुत रही आराद्ध प्रणती ।

(नकोदर, धातुपार्श्वप्रतिमा)

(१८) श्रीमूलसंघे भ श्री पं० प्रभाचंद्रस्तत्सिष्य श्री धर्मचंद्रस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये गोधागोत्रे सा पारस भार्या मौलि···फालरामा···प्रणमति ।

(पट्टी, धातुप्रति०)

(१९) संवत···वर्षे वैशाष वदि २ भौमे श्रीमूल-संघे भट्टारक श्रीदेवेंद्र कीर्तिदेवाः तच्छिष्य श्रीविद्या-नंदि देवा तगेरु देशानाहवड़वंशे श्रे गोइंदा भार्या भर्म्म (?) तयोः पुत्रास्त्रयः श्री हीर भार्या हर्षू । भहे पर्वत । भा० माकू गोत्रनर्छद भार्या वाऊ अपरा माणिक दे । वाऊ पुत्र राणा भार्या हीरा ।

(अमृतसर, धातुप्रतिमा)

ऊपरके लेखोमेसे अंतके चार तथा नं० ४ इस बातकी साक्षी दे रहे हैं कि जिन प्रतिमाओंपर ये लेख हैं वे दिगम्बर संप्रदायकी होनी चाहियें । नकोदरके भाई तो स्वयं कहते है कि हमारे पूर्वज दिगंबर थे और पहिले वहांके मन्दिरमे लेख नं० ४ वाली प्रतिमा मूलनायक थी । लाहौरके श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मंदिर एक दूसरेसे मिले हुए थे । पहिले दोनो का एक ही द्वार था और श्वेतांबर मन्दिरमें होकर जाता था । इससे प्रायः सभी भाई दोनों मंदिरोंके दर्शनका लाभ लिया करते थे । अब कुछ समयसे दोनोंका अपना अपना पृथक् द्वार हो गया है ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर लेखोंमें परंपराके अति-रिक्त शैलीका भी कुछ भेद है, जैसा कि उनके अंतिम शब्दोंसे प्रतीत हो रहा है ।

* लोढागोत्रीय ऋषभदास आगरके बड़े प्रसिद्ध श्रावक थे । इनका बनवाया मंदिर अब तक विद्यमान है । वहाँ एक शिलालेख पड़ा है जिसे मैंने "जैनसाहित्य-संशोधक" मे प्रकाशित किया था । इनके और बहुतसे लेख मिलते हैं ।

यद्यपि ऊपरके लेख देशके इतिहासपर कोई भारी प्रकाश नहीं डालते, तथापि ये जैन संघकी दशाका स्पष्ट चित्र खींचते हैं। इनसे विदित होता है कि उनके समयमें संघ अनेक गच्छों और शाखाओंमें विभक्त था, जिनमेंसे बहुतसी शाखाएँ अब लुप्त हो गई हैं और कई एक नई बन गई हैं। श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद देशाईने "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास" नामक अपने ग्रंथके विभाग ५, प्रकरण ४ में संघकी छिन्नभिन्नताका विस्तृत वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनसंघमें केंद्रीय सत्ताका बिल्कुल अभाव हो गया था। जिस गच्छ या शाखा का जोर होता वही प्रधान बन जाता। अतः सबमें प्रधान बननेकी होड़ सी लगी रहती थी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि जो साधु या भट्टारक कुछ बल पकड़ता था, वही अपनी पृथक् भक्त मंडली बना लेता था। यही दशा अब तक बराबर चली आ रही है। जैनसंघ किसी ऐसे नेताको अभी तक जन्म नहीं दे सका जो इन भिन्न भिन्न संप्रदायो आम्नायों और टोलोंको एक सूत्रमें पिरो सका हो। ऐसे अवतारी पुरुषकी नितान्त आवश्यकता है।

श्री वीर-पञ्चक
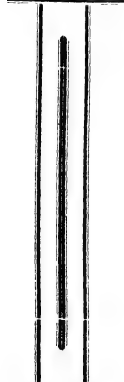
ले० पं० हरनाथ द्विवेदी

हमें दो वह प्रतिभा श्रीवीर!
जिसकी प्रखर प्रभामें हम हो धीर वीर गंभीर।
ज्ञान-प्रभाकरका होवे यों पावन परम प्रकाश।
अंधकार-अज्ञान-शत्रुका होवे शीघ्र विनाश॥
अहिंसाका न हरण हो चीर।
हमें दो वह प्रतिभा श्रीवीर!

प्रेम-समीरण बह कर हमको करे प्रमोद-प्रदान।
दया-शक्ति-सौरभसे पूरित हो भारत उद्यान॥
न हो हिंसामें भीषण पीर।
हमें दो वह प्रतिभा श्रीवीर!

'कर्मचन्द मोहन' की मुरलीमें तेरा सन्देश।
अविरल गूंज रहा है आवो बढ़ा क्लेश निश्शेष॥
तुम्हीं त्रिभुवनके पावन पीर।
हमें दो वह प्रतिभा श्रीवीर!

तेरी अटल अहिंसा-सरणीपर है निर्भर देश।
महापुरुष गांधीका भी यह शुचि निरुपम उद्देश॥
लगादो भारत-तरणी तीर।
हमें दो वह प्रतिभा श्रीवीर!

मानवकी मानवता जब थी पशुतामें उद्भ्रांत।
फूंक अहिंसा-शंख-ध्वनिको किया तुम्हींने शान्त॥
बनाया यह है नीर-क्षीर।
हमें दो वह प्रतिभा श्रीवीर!*

*आरामें 'महावीरजयन्ती' के अवसरपर पठित।

बलात्कारके समय क्या करें ?

(लेखक—महात्मा गांधी)

एक बहनने अपने पत्रमें मुझसे नीचे लिखे सवाल पूछे हैं—

१—कोई दैत्य जैसा मनुष्य राह चलती किसी बहनपर हमला करके उस पर बलात्कार करनेमें सफल हो जाये, तो क्या उस बहनका सतीत्व भङ्ग हुआ माना जायगा ?

२—क्या वह बहन तिरस्कारकी पात्र है, उसका बहिष्कार किया जा सकता है ?

३—ऐसे संकटमें फँसी हुई स्त्री क्या करे ? जनता क्या करे ?

तिरस्कार नहीं, दयाकी पात्र

मैं मानता हूँ कि दरअसल तो इसे सतीत्व भङ्ग ही कहना होगा। लेकिन जिस पर सफल बलात्कार किया जाय वह स्त्री किसी भी तरह तिरस्कार या बहिष्कारकी पात्र नहीं, वह तो दयाकी पात्र है। उसकी गिनती घायलोंमें होनी चाहिये, और इसलिये घायलोंकी सेवाकी तरह उसकी भी सेवा करनी चाहिये।

सच्चा सतीत्व भङ्ग तो उस स्त्रीका होता है, जो उसमें सम्मत हो जाती है। लेकिन जो विरोध करते हुए भी घायल हो जाती है, उसके सम्बन्धमें सतीत्व-भङ्गकी अपेक्षा यह अधिक उचित है कि उसपर बलात्कार हुआ। 'सतीत्व-भङ्ग' या व्यभिचार शब्द बदनामी सूचक है। इसलिए वह बलात्कारका पर्यायवाची माना जा सकता। जिसका सतीत्व बलात्कार पूर्वक नष्ट किया गया है, उसको किसी भी तरह निन्दनीय न माना जाय, तो ऐसी घटनाओंको छिपानेका जो रिवाज पड़ गया है, वह मिट जाय। यदि मिट जाय, तो खुले दिलसे ऐसी घटनाओंके विरुद्ध उहापोह कर सकेंगे।

अगर अखबारोंमें इन घटनाओंके खिलाफ़ ठीक-ठीक आवाज उठाई जाय तो सैनिकोंकी छेड़खानी बहुत कुछ रुक सकती है और तब उनके सरदार भी उन्हें बहुत हद तक रोक सकेंगे।

आज शहरोंमें रहने वाली प्रत्येक स्त्रीके सामने यह खतरा तो है ही, और इसीलिये पुरुषोंको इसके सम्बन्धमें चिन्तित रहना पड़ता है। इसलिए मेरी सलाह तो यह है कि डरकर नहीं, बल्कि सावधानीके विचारसे स्त्रियोंको गांवों में जाकर बस जाना चाहिये और वहां गांवोंकी कई तरहसे सेवा करनी चाहिए। गांवोंमें खतरेकी कम-से-कम संभावना है। यह याद रखना होगा कि गांवोंमें धनवान बहनोंको सादगी और गरीबीसे रहना पड़ेगा। अगर वे वहाँ कीमती गहने और कपड़े पहनकर अपने धनका प्रदर्शन करेंगी तो एक संकटसे बचकर दूसरेमें जा पड़ेंगी और हो सकता है कि देहातमें उन्हें एकके बदले दो-दो संकटोंका सामना करना पड़े।

स्त्रियाँ निर्भय बनें

लेकिन असल चीज तो यह है कि स्त्रियां निर्भय बनना सीख जायँ। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो स्त्री निडर है और जो दृढ़ता पूर्वक यह मानती है कि उसकी पवित्रता ही उसके सतीत्वकी सर्वोत्तम ढाल है, उसका शील सर्वथा सुरक्षित है। ऐसी स्त्रीके तेजमात्रसे पशुपुरुष चौंधिया जायगा और लाजसे गड़ जायगा।

इस लेखको पढ़ने वाली बहनोंसे मेरी सिफ़ारिश है कि वे अपने अन्दर हिम्मत पैदा करें। परिणाम इसका यह होगा कि वे भयसे छुटकारा पा जायँगी और निर्भय रह सकेंगी। वे स्त्रियोंमें पाई जाने वाली थर थराहट या कम्पन का त्याग कर देंगी। यह कोई नियम नहीं कि हर एक सोल्जर (सैनिक) पशु बन ही जाता है। बेशर्मीकी इस हद तक जाने वाले सोल्जर कम ही होते हैं। सौ में बीस ही सांप जहरीले होते हैं और बीसमें भी डँसने वाले तो इने-गिने ही होते हैं। जब तक कोई छेड़े या सताये नहीं, सांप हमला नहीं करता। लेकिन डरपोकको इस ज्ञानसे कोई लाभ नहीं होता। वह तो सांपको देखते ही थर-थर कांपने लगता है। अतएव जरूरत तो यह है कि हर एक स्त्री निर्भय बननेकी

शिक्षा प्राप्त करे। माता पिताओं और पतियोंका काम है कि वे उन्हें यह शिक्षा दें। इस शिक्षाको प्राप्त करनेका सबसे सरल उपाय तो ईश्वरमें आस्था रखना है। अदृश्य होते हुए भी वह हर एककी रक्षा करने वाला अचूक साथी है। जिस में यह भावना उत्पन्न हो चुकी है, वह सब प्रकारके भयासे मुक्त है।

निडरता या आस्थाकी यह शिक्षा एक दिनमें नहीं मिल सकती। अतएव यह भी समझ लेना चाहिए कि इस दरम्यान क्या किया जा सकता है। जिस स्त्री पर इस तरह का हमला हो, वह हमलेके समय हिंसा-अहिंसाका विचार न करे। उस समय अपनी रक्षा ही उसका परमधर्म है। उस वक्त जो साधन उसे सूझे, उसका उपयोग करके वह अपनी पवित्रताकी और अपने शरीरकी रक्षा करे। ईश्वरने उसे नाखून दिये हैं, दाँत दिये हैं और ताकत दी है। वह इनका उपयोग करे और करते-करते मर जाय। मौतके भय से मुक्त हर एक पुरुष या स्त्री स्वयं मरके अपनी और अपनोंकी रक्षा करे। सच तो यह है कि मरना हमें पसन्द नहीं होता। इस लिये आखिर हम घुटने टेक देते हैं। कोई मरनेके बदले सलाम करना पसन्द करता है, कोई धन देकर जान छुड़ाता है, कोई मुँहमें तिनका लेता है और कोई चींटीकी तरह रेंगना पसन्द करता है। इसी तरह कोई स्त्री लाचार होकर, जूझना छोड़, पुरुषकी पशुताके वश हो जाती है।

ये बातें मैंने तिरस्कार वश नहीं लिखी, केवल वस्तु स्थितिका ही जिक्र किया है। सलामीसे लेकर सतीत्व-भङ्ग तक की सभी क्रियाएँ एक ही चीजकी सूचक हैं। जीवनका लोभ मनुष्यसे क्या-क्या नहीं कराता? अतएव जो जीवनका लोभ छोड़कर जीता है, वही जीवित रहता है। 'तेनत्यक्ते-नभुञ्जीथाः' इस मन्त्रके अर्थको हर एक पाठक समझ लें और कण्ठाग्र कर लें।

दर्शक पुरुष क्या करें?

यह तो स्त्रीका धर्म हुआ, लेकिन दर्शक पुरुष क्या करे? सच पूछो तो इसका जवाब मैं ऊपर दे चुका हूँ, वह दर्शक न रहकर रक्षक बनेगा। वह खड़ा-खड़ा देखेगा नहीं वह पुलिसको ढूँढने नहीं जायगा। वह रेलकी जंजीर खींच कर अपने आपको कृतार्थ नहीं मानेगा। अगर वह अहिंसा को जानता होगा तो उसका उपयोग करते-करते मर मिटेगा और संकटमें फँसी हुई बहनको उबारेगा। अहिंसासे नहीं हिंसा द्वारा बहनकी रक्षा करेगा। अहिंसा हो या हिंसा, आखिरी चीज तो मौत है। मेरे सामने बुढ़ापेके कारण अशक्त और बिना दाँतो वाला बूढ़ा अगर ऐसे समय यह कहकर छूटना चाहे कि 'मैं तो कमज़ोर हूं' यहां मैं क्या कर सकता हूं? मुझे तो अहिंसक ही रहना है। तो उसी क्षण उसका महात्मापन नष्ट हो जायगा और वह मर मिटनेका निश्चय करले और दोनोंके बीच जा खड़ा हो तो बहनकी रक्षा तो हो ही जायगी, वह उसके सतीत्व-भङ्गका साक्षी भी न रहेगा।

इन दर्शकोंके सम्बन्धमें भी अगर वातावरण ऐसा बन जाय कि हिन्दुस्तानका कोई भी आदमी किसी भी स्त्रीकी लाज लुटते देख नहीं सकता तो पशु सिपाही भी हिन्दुस्तानी स्त्रीको हाथ लगाना भूल जायगा। किन्तु शर्मके साथ यह कबूल करना पड़ता है कि आज हमारे वातावरणमें यह तेज नहीं है। अगर हमारी इस शर्मको मिटाने वाले लोग देशमें पैदा होजायँ तो बड़ा काम हो।

—(हरिजन सेवकसे)

'यशस्तिलक' का संशोधन

(लेखक—पं० दीपचन्द जैन पाण्ड्या)

दिगम्बर जैनसाहित्यमें 'यशस्तिलक' नामका एक प्रसिद्ध गद्य-पद्यात्मक चम्पू ग्रंथ है, जिसे यशोदेव के प्रशिष्य और नेमिदेवके शिष्य श्री सोमदेवसूरिने शक संवत ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनाकर समाप्त किया है। इसमें यशोधर महाराजका चरित्र आठ आश्वासोंमे वर्णित है, जिनकी श्लोकसंख्या सब मिला कर आठ हजार है। पिछले तीन आश्वास उपासकाध्ययन (श्रावकाचार)-विषयक धर्मोपदेशको लिये हुए हैं, जो ४६ कल्पोंमे और प्रायः दोहजार जितनी श्लोकसंख्यामें संकलित है। इस ग्रंथपरसे सोमदेवसूरिका विशाल अध्ययन तथा साहित्यादि-विषयक प्रकाण्ड-पाण्डित्य पद पदपर झलकता है, और यह उनकी अमर रचना ही नहीं बल्कि समूचे संस्कृत-साहित्यमें एक बेजोड़ रचना है। इसे काव्यसाहित्य तथा राज-नीतिका एक मौलिक अपूर्व ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसका गद्य 'कादम्बरी' की टक्करका है और इस समूचे ग्रंथमे ८०० से अधिक शब्द ऐसे हैं जो वर्तमान कोष-ग्रंथोमे ढूंढे भी नहीं मिलते। यह ग्रंथ विविध विषयों के सुन्दर परिचयके साथ साथ व्युत्पत्तिको-प्रतिभाको प्रदान करता है, साथ ही कर्णप्रिय, अर्थ-बहुल तथा चित्तमें चमत्कार पैदा करनेवाला है, इस दृष्टिसे संस्कृतज्ञ विद्वानोंके लिये सदा ही पठनीय तथा मननीय बना हुआ है, और इस तरह जैनसाहित्यमें एक बड़े ही गौरवकी वस्तु है। इस ग्रंथपर श्रुतसागरसूरिकी एक बहुत ही सरल तथा विस्तृत टीका भी उपलब्ध है। जो ग्रंथके भावको अच्छा व्यक्त करती है। परन्तु यह टीका अधूरी है—साढ़े चार आश्वास तक ही पाई जाती है, और इस तरह इस चम्पूके पाँचवें आश्वासका कुछ भाग तथा अन्तके तीन आश्वास बिना टीकाके ही पड़े हुए हैं।

इस ग्रंथको उक्त टीकाके साथ आजसे कोई ४० वर्ष पूर्व निर्णयसागर प्रेस बम्बईके अधिपति सेठ तुकाराम जावजीने अपनी 'काव्यमाला' नामकी ग्रंथ-मालामे नं० ७० पर दो खण्डोंमें प्रकाशित किया था। उसी वक्तसे यह ग्रंथ विद्वानोंके विशेष परिचयमें आया है, जिससे उक्त प्रेसके अधिपति निःसन्देह धन्यवादके पात्र हैं, और यह उनकी संस्कृत-साहित्यके साथ साथ जैन-साहित्यकी भी विशेष सेवा है—और भी कितने ही जैनग्रन्थ उन्होंने अपनी काव्य-माला में प्रकाशित किये हैं।

यहाँपर यह बात भी प्रकट कर देने की है कि बम्बई का उक्त निर्णयसागर प्रेस अपनी शुद्ध छपाईके लिये मशहूर है; परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि इस ग्रंथके उत्तरखण्डका टीकाके बादका भाग बहुत ही अशुद्ध छपा है, उसमें दो-चार, दस-बीस ही नहीं किन्तु सैकड़ो अशुद्धियाँ हैं, जो पढ़नेवालोंको बहुत ही चक्करमे डालती है—कितनों हीको उनके कारण विषय स्पष्ट नहीं हो पाता और कितने ही उन्हें लेकर अर्थका अनर्थ कर डालते हैं! निर्णयसागर जैसे जिम्मेदार प्रेसमें खुद उसीके सम्पादकोंद्वारा सम्पादित होकर छपे ग्रंथमें इतनी अधिक अशुद्धियोंका होना बहुत ही खटकता है और वह उक्त प्रेसको शोभा नहीं देता। होसकता है कि प्रयत्न करने पर भी प्रेसको उस भाग की कोई शुद्ध प्रति न मिली हो, फिर भी महामहोपाध्याय जैसे विद्वान सम्पादकोंद्वारा अपनी ओरसे उन्हें कुछ स्पष्ट करनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये था, जो नहीं किया गया। जहाँ टीका समाप्त होती है वहाँ उत्तर खण्डके २४४ वें पृष्ठपर सम्पादकोंद्वारा यह नोट तो जरूर लगाया गया है कि—"इत उत्तरं टिप्पणालंकृतो मूलग्रन्थो मुद्रणीयो भविष्यति"—इससे आगे का भाग टिप्पणी आदिसे अलंकृत होकर छपेगा।

किन्तु पृष्ठ २६७ को छोड़कर, जिसपर टिप्पणीके कुछ दर्शन होते हैं, शेष समूचे ग्रन्थमें टिप्पणी आदि नाममात्रको भी दिखाई नहीं देती। इससे स्पष्ट है कि ग्रंथ के इस उत्तरभागके सम्पादनमें जैसा चाहिये था वैसा परिश्रम नहीं किया गया। अस्तु।

यह ग्रंथ मेरे अध्ययनका खास विषय रहा है और मुझे इसके उक्त संस्करणकी अशुद्धियों और त्रुटियोंसे बहुत ही पाला पड़ा है। सौभाग्यका विषय है कि आजसे कोई ३-४ वर्ष पूर्व मुझे, दि० जैन बड़ा मंदिर मुहल्ला सरावगी अजमेरके अध्यक्ष भट्टारक श्री हर्षकीर्ति महाराजकी कृपासे इस ग्रंथकी एक अतिशयशुद्ध प्रति मिली, जो कठिन शब्दोंकी टिप्पणियोंसे भी अलंकृत है, स्थूलाक्षरोंमें ४०० पत्रोंपर लिखी हुई है और पूर्ण तथा अच्छी हालतमें है। यह प्रति विक्रम संवत १८४४ के तपसि मासमें गंगाविष्णु नामके किसी विद्वान द्वारा लिखी गई है; जैसा कि इसकी लेखकप्रशस्तिके निम्न पद्यपरसे प्रकट है :—

वर्षे वेद-शरेभ-शीतगुमिते मासे तपस्याह्वये
तिथ्यां ...तिथियित वेऽे जिनाधीशिनाम्।
गंगाविष्णुरिति प्रथामधिगतेनाभिख्यया निर्मिता
·· (ग्रन्थस्या) स्य लिपिः समाप्तिमगद् गुर्वङ्घ्रि पद्मालिना

इस ग्रंथप्रतिको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने उसी समय इसपरसे संशोधन-विषयक नोटस ले लिये थे। हालमें, मेरी योजना वीरसेवामन्दिरमें होनेपर, जब मैंने सम्पादक 'अनेकान्त' को अपने वे नोट्स दिखलाये तो उन्हें संशोधन बहुत लम्बा-चौड़ा होनेपर भी यह उचित जान पड़ा कि उसे 'अनेकान्त' के इस नववर्षाङ्कमे ही प्रकाशित कर दिया जाय, जिससे बहुतोंका भला हो और विद्वानोंकी उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझे। अतः सम्पादकजीकी सूचनानुसार आश्वास-क्रम और पृष्ठादि-क्रमसे ग्रंथका जो संशोधन तय्यार किया गया है उसे अनेकान्तके विज्ञ पाठकोंके सामने नीचे रक्खा जाता है। आशा है विद्वज्जन इससे यथेष्ट लाभ उठाएँगे और अपनी-अपनी ग्रंथप्रतियों को शुद्ध करके पढ़नेका आनन्द लेंगे। इसके सिवाय, उत्तर खण्डका मिलना आउट आफ प्रिण्ट होजानेसे अब वैसे भी कठिन होगया है, उसके दूसरे संस्करण की जरूरत है, जो नई शलीसे तुलनात्मक टिप्पणियों तथा उपयोगी परिशिष्टों आदिके साथ सुसम्पादित होकर प्रकाशित होना चाहिये, जिससे ग्रंथका गौरव बढ़ सके। ऐसे नवीन संस्करणके लिये यह संशोधन विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी दृढ आशा है।

पांचवाँ आश्वास

पृष्ठ २४४

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	विधानामन्त्रेषु	विधानाऽमत्रेषु
१२	सालवलनेषु	शालवलनेषु
१३	दुम्रत्व	दुर्गत्व
१७	भवद्दुःख	भवद्दुःख
१८	विदन्तोऽपि	विन्दतोऽपि
२०	सहाभिनिवेशस्य	ग्रहाभिनिवेशस्य
२१	वितर्कयतः	इति तर्कयतः

पृष्ठ २४५

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
३	दवरूहे	दवरूरुहे
१८	या ··दर्शय वस···	यादर्शयत। स राजा
१६	धर्मं स्थोयानां मुख्यानि विलोकिष्ठ	धर्मस्थोयानां मुख्यानि व्यलोकिष्ट
२०	म्लुचेन द्वितय	म्लुचेनाद्वितीयं
२०	सुपुप्त	सुप्त
२२	चित्रो बन्धः	चित्रो वधः
२२	यथा यं	यथाऽयं च

पृष्ठ २४६

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
५	परिग्रहीत	परिगृहीत
७	न्यास्त वै	न्याश्चैः
६	पचितस्ततो	पचितात्ततो
११	तेपु	गतेषु
१३	मणिमयूर	मणिमय
१५	योगास्थिति	योगस्थिति
१६	कुचभार	कुचुमार
२०	बाहुबल	बाहुबलि
२३	विधिलयना—	विविधलयना—

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ २४७	
४	प्रत्यस्तहुताशाना	प्रत्यस्तहुतहुताशाना
८	फलस्तककेपु	फलस्तवकेपु
११-१२	रङ्गवलिपु	रङ्गवल्लिपु
१३	देहिनीपु	देहलीषु
१४	दूषणाश्रवणाम्	दूषणोपश्रवणाम्
२०	कुगत्त्रयपते	जगत्त्रयपते
२०	विदं (?) मानायाः	विन्दमानायाः
	पृष्ठ २४८	
१३	विकीर्ण	वितीर्ण
१४	द्याने यदा तेन त्रिजगतीः न्य	द्याने तदुद्याने यदा तेन त्रिजगतीन्य
१५	वादाविरोधस्य	विवादाविरोधस्य
१६	भविष्यन्ति	भविष्यति
१७	तदनुचान	तदनूचान
२६	कृतापराया प्रयोगा	कृतपरापायप्रयोगा
	पृष्ठ २४९	
१	व्यतीत्य तं	व्यतीत्य
३	काकतालीय	काकतालीयक
४	-लिकामालवालिका	-लिका मालवालिका
४-५	निकटे कुरटकुलाय-कोटरे	निकटोत्कुरुटकुलाय-निकटे
७	च कदाचित्	च बालभावे कदाचित्
	पृष्ठ २५०	
१०	तत्र च विवादा	तत्र विवादा
१०	किलेवे माह सूरिः	किलैव माहाऽऽसुरिः
१४	गतक्रियः	गतोऽक्रियः
१६	श्रोताः	स्रोताः
१७	मोहावपरि	मोहावहपरि
२०	बांधवद्बहुधानक	बहुधानक
	पृष्ठ २५१	
१	मिपस्नाविः	मिपस्नाविपः
१	तपः प्रायशः	तपः प्रयासः
७	कोरकैः	कोरक
१०	लोकः क्लिश्नाति	लोकाः क्लिश्यन्ति
११	हि गर्भस्य	भर्गस्य हि
११	सर्गा दक्षिणां	सर्गा द्विधाऽऽगमस्य मार्गा दक्षिणो
१५	शक्तिविनाशेन	शक्ति विनाऽशेन
	पृष्ठ २५२	
१	संपश्यत्यात्मानं	यः पश्यत्यात्मानं
५	निराश्रवचितो	निरास्रवचित्तो
६	ऽक्षिणामदृणः	ऽक्षिणामदृणः स्वलक्षणं
९	केशादर्शनाश	केशादर्शनाशनविनाश
१५	डङ्कारिणः	भङ्कारिणः
१७	भण्डि	भण्ड
	पृष्ठ २५३	
३	परलोकभावे	परलोकाभावे
५	कुलाश्रयै	कुशलाश्रयै
८	भगवन	भगवान
१०	विपयग्रहाः	विषमग्रहाः
१५	सदोदिते	महोदिते
१६	कष्टाविशिष्टता	कष्टा विशिष्टता
२५	सवर्गा	सर्वगो
	पृष्ठ २५४	
३	प्रीतयेता	प्रतीयेता
११	सिद्धोपलब्धिः	सिद्धोपलब्धिः
	पृष्ठ २५५	
१५	रथक्षोणीयन्ता	रथः क्षोणी यन्ता
२२	चेतनां शक्ति	चेतनाशक्ति
२४	भोगे	भोग्ये
	पृष्ठ २५६	
३	कटकतावपि स प्रसंगः	कटकृतावपि स प्रसंगः
१५	विष्टि	विष्टिः
१५	सचेतनान	सचेतनान
१६	द्रष्टा	द्रष्टा
२२	किमपरैः	किमसरैः
२३	स्तत्कर्मभ्यो	नत्कर्मभ्यो
२७	प्रत्यासत्तिहिते	प्रत्यासत्तिहते
	पृष्ठ २५७	
४	स्वरोऽद्गणोः	स्वरोद्गणोः
१०	स्तने हतो	स्तनेहातो

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१६	कम्रा	काम्रा
१६	चित्ताचित्त	चित्तान्चित्त
२०	धातवः	बुद्धयः
	पृष्ठ २५८	
३	यथाग्नेस्तामे—	यथाऽग्नेः स्तामे—
१३	त्रयं समाश्रित्य	त्रयमिहाश्रित्य
१५	करणम। असंजाततदर्थ	कारणम। असंजातसदर्थ
२२	दूरागम	दुरागम
	पृष्ठ २५९	
१	किंचिद्दुष्कृत	किं स्विद् दुष्कृत
१	भगवन	भगवान
६	प्रयुक्त	प्रमुक्त
६	अचिरममाजं नभ	अचिरममासन्न
१४	निर्वेदौ तद्वृत परि	निर्वेदोद्धृतपरि
१७	दकर्माण	दलंकर्माण
२५	वनितासु गर्भे	वनिता सुगर्भे
	पृष्ठ २६०	
२	मकारादिपत्रयस्य	मकारादित्रयस्य
१०	यथायथाप्रसिद्धि	यथाप्रसिद्धि
१०-११	नरान्मुख्यात्तथैवा-न्वतिष्ठत	नरान मुख्यान् तथैवा-न्वतिष्ठिपन
१४	नामनि	नामनी
२१	मतिं भर्तृ	मतिं राजपुत्री भर्तृ
२२	दंशैर	दंशेर
२४	वलित	चलित
२६	मुनेरमस्य	×
	पृष्ठ २६१	
६	मुकुरुन्दी	मकुरुन्दी
१३	निष्टविचेष्टिनम	निष्टं विचेष्टनम्
२२	नीयेत वमतिं	नीयेनाऽवमतिं
२७	वन्दामहे	वन्दावहे
	पृष्ठ २६२	
८	वीरवैरि	वीर वैरि
८-९	नेन्दुकान्त निष्पन्द	मिन्दुकान्तनिष्यन्द
१७	वृत्तान्तानि	वृत्तीनि
१६	विस्मृत्य	विस्मित्य
	पृष्ठ २६३	
१०	लेखयति	लेखपति
१४	राश्रावि	राश्रावित
१५	नवलनाभ्या	नवलभनाभ्या
१७	पापोपयागाभ्या	पापोपयोगाभ्या
१७	पितामही	पिता पितामही
१८	स्वयंनिहित	स्वयं निहत
२४	विलयति	विदलति
२६	अत ऊर्ध्वं	अध ऊर्ध्वं
	पृष्ठ २६४	
२	तुलां तु तव	तुलान्तवत्
५	मामृग्धारेव	माऽसृग्वरेव
८	तादात्विकापवापः	तादात्विकावापः
१०	पद्रवत्सु	पद्रवत्सु महत्सु
२३	शीतलानलो	शीतलानिलो
२३	चन्दनस्पन्दो	चन्दनस्यन्दो
	पृष्ठ २६५	
३-४	तद्धमर्मणश्च	तद्धकर्मणश्च
१०	भवेदुत्सवः	भवेऽनुत्सवः
११-१२	प्रवृत्तै रन्यत्रा	प्रवृत्तैर्वृत्तै रन्यत्रा
१२	विहितसममा	विहितसर्गा
१५	वत्रागतौ	वत्रागतौ समागतौ च
१५	सभान्तराम	सभान्तरम
१८	शाल्यित	शल्यित
२३	दिग्धमूढ	दिङ् मूढ
२३	बान्धवलोक	बान्धव लोक
२३-४	अथ, श्रीमाधव खली	अथश्रीमाधव, खली
२४	मारमुनि	मार मुनि
२५	दैवादवाप्तालोकनेन	दैवाप्तावलोकनेन
२७	स्पन्द	स्यन्द
२७	सव्यस्य	भव्यस्य
	पृष्ठ २६६	
१८	तामनर्घाम	तामनर्घ्याम्

छठा आश्वास

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ २६७	
४	मुनैर्मान्यान्	मुनेर्मान्यात्
१२	विजयमूर्तिना	विजयिमूर्तिना
१४	लंकृतिमत	लंकृतिमता
	पृष्ठ २६८	
१	पटुर्दोर्दण्ड	पटुदोर्दण्ड
२	प्रजोपद्रवद्रुत	प्रजोपद्रवोद्रुत
६	सूत्रसूत्रप्रवेश	सूत्रप्रवेश
६	व्यसनदावा	व्यसनवनदावा
११	व्यापैनाः	व्यात्तेपैनाः
	पृष्ठ २६६	
१	सम्यक्त्वभावना	सम्यक्त्वं भावना
६	सर्वदेहिनः	सर्ववेदिनः
७	विलानी	विलासिनी
७	नोकहो	नोकुहो
६	कार्य च	×
१३	कारणा	करणा
१८	पुरुषो	पुरुषयोः
	पृष्ठ २७०	
५	मोत्तः इति मोत्ता-वमरा स्ताथागताः	मोत्तत्तण इति ताथागताः
१२	परे ब्रह्मणि	परब्रह्मणि
१४	द्विपैः	द्विपे
२२	युक्ति	युक्तिः
२५	श्रद्धां	श्रद्धा
२६	जायेत	जायते
	पृष्ठ २७१	
१५	टङ्कसूला	टकसूला
२१	मुखार्मनिर्भेदे	मुखार्मनिर्भेचे
	पृष्ठ २७२	
२	सुखप्रावौ	सुखप्रायैः
५	बाधो वा	बोधो वा
६	सिद्धसाध्यं तया	सिद्धसाध्यतया
१५	तथैव	तवैव
१६	च घटेत	च न घटेत

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ २७३	
३	तदा वृत्तिहतौ	तदावृत्तिहतौ
१६	रवुक(?)बीजादेः	रुवूकबीजादेः
२०	समस्तसमर्यसिद्धान्ता	समस्तसिद्धान्ता
२६	विदधाति जवं, जैवी	विदधात्याजवंजवी
	पृष्ठ २७४	
२	जीवेषु	बीजेषु
२	सिद्धाश्चिन्ता	सिद्धश्चिन्ता
४	रसवेधसंबाधा	रसवेद्धसंबंधा
५	मनन्मात्र	मननमात्र
	पृष्ठ २७५	
१८	विपत्ती तां	विपत्ती स्तां
	पृष्ठ २७६	
१८	संप्रति संजातजव	संप्रतिसंजातजन
२०-२१	तद्भाव	तदभाव
	पृष्ठ २७७	
५	तद्वा न संबंधतः	तद्वानसंबंधतः
१४	श्रुतेः श्रुति	श्रुते श्रुति
१७	तद्वद्विधत्त्व	तद्वत्सविधत्त्व
	पृष्ठ २७९	
३	मेयोऽनुमानतः	मेये तु मानतः
४	प्रमाणतः	प्रमाणता
१८	जीवस्य	जीवत्वे
२०	[वि] मानयोः	समानयोः
	पृष्ठ २८०	
२	रूपाढ्यात्मा	रूपाद्यात्मा
१७	नुवर्तित्वं	नुवृत्तित्वं
१५	निर्मलम्	निर्भरम
	पृष्ठ २८१	
१३	देशे	दाप
१६	निकृत्यते	निकृंत्यते
	पृष्ठ २८२	
१६	हारत्नेन	हारत्नेपु

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ २८४	
१	निश्चये	निचये
१	मदपत्ती	मदमषी
२	मुख्यपटा	मुखपटा
६	तदा वाय	तदावश्य
७	निर्भरं प्रमोला	निरर्भप्रमीला
८	प्राणिना	प्राणिनां
९	स्वः श्रेयसि निमित्तम्	श्वःश्रेयसनिमित्तम्
१०	यद्येवं तर्हि	यद्येवं सूरेः तर्हि
१४	परित्यागेन	परिहारेण
१४	फलादिपत्तिः	फलापादितापत्तिः
१५	नार्यमिति	नाचर्यमिति
१६	कालत्तेपणः	कालत्तेपत्तणः
	पृष्ठ २८५	
१	कर्कु रोत्कीर्णः	कर्करोत्कीर्णः
५	जनसमवस्थिति	जनस्थिति
५	मनोहर	मनोरहस्य
१३-१४	शमथावसथ	समथावसथ
२३	अष्टाह्नपर्व	अष्टाह्नीपर्व
२६	चरित्रा	चारित्रा
	पृष्ठ २८६	
१	पिङ्गल	पिङ्ग
३	परीत्त्यावहे	परीत्तावहे
६-७	काशकुशा	कुशाकुशा
८	मानस	मनस
९	प्रवृद्धवृद्धता	प्रवृद्धता
१२	चलचमू	चलमूल
१२	चक्रवर्तिनो	चक्रचक्रवर्तिनो
१३	नामया	नामधेयया
२०	मवलोहला	मलोहला
	पृष्ठ २८७	
३	यज्ञे यथा	यज्ञैर्यया
१०	अतस्तत्त्व	अंतस्तत्त्व
१६	शोषं शुष्क	शोषशुष्क
२२	धवलैः	प्रवलैः

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ २८८	
७	लोकनकौतुकाय	लोकनकृतकौतुकाय
१९-२०	समासृजत्समाप्तविष्ट	समासजत्सकलविष्ट पर्निविष्ट
२०	चेष्टः । स च	चेष्टः स च
२०	द्रवाब्धिप्रलब्धः	द्रवाविप्रलब्धः
२३	वरं कुंजरं मायामय प्रतिघे (?) स्ताघे	वरकुंजरं मायामय प्रतिघेऽस्ताघे
२५	मात्रमन्त्र	मात्र
२७	व्याघ्रव्यति	विघ्नव्यति
	पृष्ठ २८९	
२	प्रसवाः	प्रभवाः
५	भवद्गशे	भवद्ंशे
६-७	कृतशंकताभ्यां	कृतसंकेताभ्यां
१२	कीर्तिश्चाल्पं	कीर्तेश्चाल्पं
१८	सूत्रसहस्र	सूत्रसर
२०	प्रबन्धना-	प्रबन्धेना-
२४	वाहनाहुतीकृता	वाहुना कृता
२७	वर्जितोर्जितप्रज्ञः	वर्जनोर्जितप्रज्ञः
	पृष्ठ २९०	
३	इत्युदाहृत्य	इत्युदारमुदाहृत्य
४	मन्वर्थकं	मन्वर्थं
८	प्रदीपदीप्ति	प्रदीप्रदीप
९	लोक्योपढौक्य	लोक्य समुपढौक्य
१३	त्रापाशिक्षम्	मयासिषम
१३	कथमयं	कथमियं
१४	निपेकेऽस्मिन	निषेक्ये शिक्येऽस्मिन
१४-१५	कुण्ठकुण्ठं पठन	कुण्ठकण्ठं प्रपठन
१५	गमने । न	गमनेन
१७	एतां साधयामि	एतत्साधने
२२	तनूद्भवति । निर्विशेषं-पोषित	तनूद्भवनिर्विशेषपोषित
२६	ताशंसनः	ताशासनः
२६	लयिनि सौमनसव-नोदयिनि	लयितसौमनसदयिनि

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ २६१	
१२	धेनुर्ध्वने	धेनुर्धने
१३	उच्यते	उचिते
२४-२५	मतिरनङ्गमतिः' ।	मतिः । अनङ्गमतिः—
	पृष्ठ २६२	
४	किलहृदये	विकलहृदये
८	हास्ये	हासे
१०	भिभवा	भिनवा
१२	प्रमाण	प्रथमान
१६	स्मरस्खलन्	सारस्खलन्
१८	भवना	भुवना
१६	पालिन्द्री	पालिन्दी
२०	विद्याधरविनोद	विद्याधर।विनोद
२२	मृतद्रु ति	मृतद्युति
	पृष्ठ २६३	
२	मार्गाद्धि प्रतिनिवृत्त	मार्गार्द्धनिवृत्ति
६	मदमदनेन	मदनमदेन
१६	गृहीत	सुगृहीत
२४	पितरं तां	भवन्तं पितरं मातरं च तां
	पृष्ठ २६४	
५	संवादि	संवाद
६	आदोपवादि	अदोषवादि
७	येन शक्तः श्रुताशयम्	यत्र शक्तः श्रुताश्रयम्
८	यन्तु	जन्तु
१६-२०	वसरस्य प्रभोः	वसरस्य रोरुकपुरस्य प्रभोः
२२	च्छूणपात्रे	चूरणपात्रे
	पृष्ठ २६५	
२	भावनैकशो	भावमनेकशः
४	धिपनादाधीन	धिषणाधीनं
५	मालोक्य	मागत्य
६	नियतं तम	निपतन्तम
७	अरित्रः	अरित्र
८	चितोपचार	चितोपकार
११	भियात	तिघात
१३	इत्युपकुष्टा	इत्युपक्रुष्टा
१४	रेखा तदे	रेखादे
१६	भर्मिभ्रमि	भर्मिभ्रम
२०	यत्त्रिदिवो	त्रिदिवो
	पृष्ठ २६६	
२४	गगनमन	गगनगमना
	पृष्ठ २६७	
१	मन्तिनी	सुमतिसीमन्तिनी
५	ज्ञातोऽस्मि	ज्ञातव्योऽस्मि
८	पतिर्जिन	यति-जिन
१२	सपत्नासमत्ता	सपत्ना समत्ता
२७	सर्वस्वसमाः स्वपर	सर्वस्व समास्व । पर
२७	प्रक्रमासे	प्रक्रमाऽसे आसे ।
	पृष्ठ २६८	
४	सस्याङ्कर	शष्पाङ्कर
७	पठ्यन्ते	प्रपठ्यन्ते
१२	मविकल्प	मविकल्प्य
	पृष्ठ २६६	
५	नस्तदानी	नस्तदिदानीं
६	परोच	परीक्ष
७	जिनापर्यङ्क	जिनासीनपर्यङ्क
१२	रोचमाल	राक्षमाल
१२	योममुद्रा	यागमुद्रा
१७	अम्भोद्भवा	अम्भोभवोद्भवा
२२	प्रगीता	प्रणीता
२३	स्मृत्य विस्मय	स्मृत्याऽविस्मय
२५	कल्पितमृता	कल्पनामृता
२७	जलजटिल	जालजटिल
२७	प्रभावम् ,	प्रभाप्रभावम् ,
	पृष्ठ ३००	
३	मिति गम्भीर	मतिगम्भीर
६	चामरोपचर	चामरोपचार
१०	प्रभवाः	प्रभवः
१३	मन्वग्भूत	मन्वग्भृत
१३	अनिशवन	अनिमिषवन
१४	गोचरो नाभ	गोरोचनाभ

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१५-१६	अवालकपालदल-कलापालवाल	अवालकपादललालवाल
२०	सुरवर्म	सुरचर्म
२६	निशम्य ते	निशम्यन्ते
२७	वार्ता भद्रा	वार्ताऽभद्रा
	पृष्ठ ३०१	
२	मर्दीति	मर्दी कपर्दीति
३	स्वापतेश	स्वापतेयेश
७	प्रतिमशेषतः	प्रतिममशेषतः
८	निलम्पा	निलिम्पा
१४	प्रतिभाताव	प्रतिभातोऽव
१८	विविधप्रकृति	विविधकृति
२५	कल्यपरम्परा	कल्याणपरम्परा
	पृष्ठ ३०२	
२	पादितः	पादिताः
१४	गन्धताम्	गन्धिताम्
१८	नगाल	नङ्गाल
२०	विदूष	विदूषक
२४	लिप्ति	लिप्त
२४	करस्य	करसारस्य
२५	तलगारा	तलागारा
२६	मद्भुतमद्भुतद्योत	मद्भुतद्योत
	पृष्ठ ३०३	
१	सूर्यो	सूर्पा
२	कियद्गहन	कियदवमानं गहन
११	ऽस्माद्देवगृहे	ऽस्मद्देवगृहे
१२	इत्ययाचतोऽप्र	इत्ययाचत। अप्र
१३	प्रियतम	प्रियतमः
१५	यतीश, न	यतीशान,
१७	यतीशानाम्	यतीशाम्
१८	देवग्रह	देवगृह
१८	मभ्यर्थकलत्र	मभ्यर्थ्य कलत्र
२७	दुर्वाणीकाः	दुर्वाणिकाः

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ ३०४	
२	मायामोह	मायामोष
३	तेन भावेन	स्तेनभावेन
४	कैरवार्जन	कैरवार्जुन
७	नोत्सूर्पे	नोत्सर्पे
१३	सद्दर्शनाद्	स दर्शनाद्
	पृष्ठ ३०५	
३	विश्राणसि	विश्राणयसि
७	व्युत्सर्गावेग	व्युत्सर्गवेष
१०	समास	समास्त
१६	विकीर्ण	विकीर्य
२०	मानानेक	मानानक
२२	मतिभीती विस्मिता-न्तःकरणः	मतिभीत विस्मिता ऽन्तःकरणाः
२३	नरवरः	नरवरः सपरिवारः
२४	साधुं	साधु
	पृष्ठ ३०६	
५	सदाचाराखिलैः	सदाचारखिलैः
१४	लम्बतरुः	लम्बनतरुः
१५	विरक्ति	विरक्त
२५	कं च भूषा	कण्ठभूषा
	पृष्ठ ३०७	
८	सारास्मृतैः	सारामृतैः
१६	सानाया	सादनाया
१८	न्यूनानि	नूनमनूनानि
१६	कृतोदर्क	कृतोदर्क
२२	याद्धयात	याऽश्रद्धात
२५	समाहूयतां	समाहूयन्तां
	पृष्ठ ३०८	
३	लेशयाः	जलेशयाः
६	तपसः श्री	तपः श्री
६	कुन्तकलापा	कुन्तलकलापा
७	पथना	पघना
११	मनो नो मुनि	मनोमुनि

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१५	विधिनी	विधिना
१८	मासय्य	माशय्य
१८	विचित्सा	विचिकित्सा
२०	प्रकामं शकलित	प्रकामशकलित
	पृष्ठ ३०९	
१५	मनवाप्तवती	मनवाप्नुवती
१७	मस्मन्मथ (त)—	मस्मन्मनोमथ
१८	प्रार्थनं कथं	प्रार्थनं
१८	मनः परिच्छदच्छात्र	मनःपरिच्छदः छात्र
२१-२२	सत्त्वनिरूपण	सत्त्वस्वरूपनिरूपण
२६	सकलाकलाप	सकलकलाकलाप
२६	ऽवधिपयोधि	ऽवधिबोधपयोधि
	पृष्ठ ३१०	
७	कपटकपिकटमन्मानो	कपटपिटक मन्मनो
९	स्वेच्छयेच्छयागच्छ	स्वेच्छयागच्छसि तदागच्छ
१०	धर्मज्ञो भगवनः	धर्मज्ञाभगवतः
२१	-स्मायसमूहेन	-स्मायसहायसमूहेन
२४	महिम्यानुगस्तं	महिम्यानुगतस्तं
	पृष्ठ ३११	
१	म्लायमानलावण्यः	म्लायल्लावण्यः
३	कृतवति सति प्रिय	कृतमतिः—'प्रिय
७	विधायिपात्रं,	विधायिधामपात्रं पुत्र'
१२	मानन्दितनिरोक्षिता	मानन्दनिरीक्षिता
२२	कीर्तिन	कीर्तन
२४	विरहायश्वरी	विहायश्वरी
२६	परिणमता	परिणता
२६	मूलावलय	मूलालवालालय
	पृष्ठ ३१२	
१	मन्मनो	एतन्मनो
४	प्रियपत्नी	प्रियपुत्री
४	नाम सज्ञा	नामसज्ञा
१०	नितान्तं तीरिणी	नितम्बतीरिणी
११	व्यापदं तस्य	व्यापदन्तस्य

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२१	प्रज्ञावज्ञा	प्रज्ञावज्ञाभ्या
२३	दूरिति	दुरित
२५	मावसाय	मवसाय
२६	चारणऋद्धिवर्द्धिः	चारणर्द्धिवृद्धिः
	पृष्ठ ३१३	
६-७	स तत्र	सत्तत्र
२१	स्थानि निलोच	स्थानिनि लोच
२३	पिण्डिते	पण्डितं
२५	सम्पन्नहीयसी	संपन्महीयसी
२७	राजा—	राजा च तां—
	पृष्ठ ३१४	
५	निवर्य च	निवार्य अवधार्य च
७	जडीतः	जडान्तः
१५	प्रतिप्रणय	पतिप्रणय
१६	मुत्मंतु	मुत्मंचु
१९	मालप्य	माकलय्य
२०	द्वित्रिदिन	द्वित्र दिन.
२५	समयवित्र्या	समयसवित्र्या
	पृष्ठ ३१५	
१	सुगतिर्गतिविद्या	सुगति विद्या
२	नाम्बरश्चक्रेण	नाम्बरचरचक्रेण
२-३	भ्युत्थानादि क्रियः	भ्युत्थानक्रियः
७	शरफर-	शफर-
८	नास्तिमिव	नर्स्तिमित
९	सम्भून	सम्भृत
१०	शयननिचयैः	सैन्यनिचयैः
२०	तिष्टपत्	तिष्ठिपत्
	पृष्ठ ३१६	
१०	संयतात्	संयतान्
१४-१५	वलिना	चलिना वलिना
१७	मुनिशती	मुनिपञ्चशती
१८	महद्धिपुषः	महर्द्धिजुषः
२१	द्यानोद्योगे	द्यावोद्योग
२१	संभववि	संभवि

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२३-२४	विलक्ष्मीकृत	विलक्ष्यीकृत
	पृष्ठ ३१७	
५	श्रद्धा	श्राद्धा
१०	धिक्यवाचस्पती	धिक्यवाक्यवाचस्पती
१२	कुजद्विजाः	कुजाः द्विजाः
१८	ऽतिवाह्यं नगर	ऽतिवाह्य ब्राह्मनगर
	पृष्ठ ३१८	
१	धारोद्धारा	धरोद्धारा
५	मायतितः	मापतितः
५	सभाजनकर	सभाजनसभाजनकर
२०	सूक्ष्मण	सूर्त्तण
२५	पद्मस्य	पद्मस्य महापद्मस्य
	पृष्ठ ३१९	
४	समन	समर्थन
६	नेकयोधन	नेकायोधन
८	अभ्यर्णमित्रीण	अभ्यमित्रीण
८-९	बलिनाब्धिमध्ये	बलिनाध्वमध्ये
१४	अक (?)	अलकः स्वामिन् बलः
१५	विनयाय	विनयनाय
१९	चातुर्मसी	चातुर्मासी
२५	जनोत्कर्ष	जन्योत्कर्ष
	पृष्ठ ३२०	
२	श्रमण	श्रवण
७-८	भिवर्त्मस्थिता	भिवात्मस्थिता
१०	गुरुनिदेशवृत्ति	गुरुनिदेशप्रवृत्ति च
११	भीति	भित्ति
१२	क्षेत्रस्तत्र पात	क्षेत्रसूत्रपात्र
१५	यामकर्ष	यामर्ष
१६	णाप्यकम्पित	णाप्याकम्पित
१६	असंख्यान	प्रसंख्यान
२२	सहसा'	सहसे'
२३	नृपतिमवमत्य	नृपतिं चावगत्य
२५	वकाशप्रदीप	वकाशः प्रदीप
२५	ध्वनितृतीयेन	ध्वनिः तृतीयेन
२७	विरञ्च इवोच्चार	विरिञ्चिरिवोच्चारण
२७	वयसि च	वयसि वपुषि च
	पृष्ठ ३२१	
४	प्रवृत्तिः वृत्तिः'	प्रवृत्तिः दत्तिः'
९	पूर्वाप्रकृत्त	पूर्वाप्रवृत्त
११	बलिना	बले ! न
१४	विरोच	विरोचन
१४	इव क्रमेणो	इवाक्रमेणो
१५	सर्वतश्चो	पर्वतस्यो
१६	वेदिकाय	वेदिकायां
१८	चेतसं	चेतः सं
२०	पादारविन्द	पादारविन्दः
२१	खलता	खलतालता
	पृष्ठ ३२२	
९	हेतुभयात्	हेतुतया
१४	पदार्थेषु वा	पदार्थेषु
१८	विनाशाविना	निशाविना
२१	तदाधिगमा	तदधिगमा
	पृष्ठ ३२३	
४	रेखवाक्यैः	रेकवाक्यैः
६	भूषिणं	भूषणं
७	भयात्	भवात
८	भीति	भीतिः
११	श्रुतिव्रते	श्रुते व्रते
	पृष्ठ ३२४	
२४	वात्माद्योमेव	वात्माऽद्योमेव
२६	किंचिदुष्णं तु	किंचितदौष्ण्यं
	पृष्ठ ३२५	
९	पुण्यायाभि	पुण्यायापि
९	पापायाभि	पापाया पि
११	सुखं दुःखविधाता	सुखदुःखाविधाता
१६	प्रचारज्ञः	प्रसारज्ञः
२०	प्रवृत्तिर्चिति	प्रवृत्तिर्विनि

सातवाँ आश्वास

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ ३२७	
२	कटकचेटक	चटक ! वेंकट
३	परक्रमा	पराक्रमा
६	त्यागाः महोडुम्बर-पंचकाः	त्यागः सहोदुम्बरपंचकैः
७	श्रुतेः	श्रुते
२४	वश्यकमा	वश्यमा
२६	विधुरसङ्गैर्मातङ्गै-रुपबद्धच	विधुरधीसङ्गैर्मातङ्गै-रुपरुद्धच
	पृष्ठ ३२८	
६	विधानः	निधानः
२१	मज्जन	संजन
२२	चेलालोपं	चेलक्नोपं
	पृष्ठ ३२९	
३	कस्य वश्यं	कस्यवश्यां
४	दृत्पाद्य	दृत्पाट्य
५	चिरन्नाय (?)	चिरत्राय
१४	किं नु	किंनु
१५	द्वेष्टुः	द्वेष्टु
	पृष्ठ ३३०	
२१	वृतिभिः	व्रतिभिः
२२	परत्रेह च	परत्र च न
२३	कुतपा	कुतुपा
	पृष्ठ ३३१	
२३	धर्मधिः	धर्मधीः
२६	दितो द्यावेन्दिरामन्यां-काकान्यां पुरि चार्वाका	दितीद्यावेन्दिरामन्यां-काकन्यां पुरि श्रावका
	पृष्ठ ३३२	
१-२	जाङ्गलि	जाङ्गल
२	निर्वहणा	निबर्हणा
६	महादेव	महादेह
७	भूपालो	भूपालोऽपि
९-१०	निद्रायत्तो	निद्रायतो
११	निष्कामन्त्रि	निष्कामन्तं नि
१२	संपातनचेतांस्यपि	संपातरतचेतांस्यपि
१९	महामत्स्यचेष्टिता	हे महामत्स्य चेष्टिता
	पृष्ठ ३३३	
३	विनिष्पन्दि	विनिष्यन्दि
८	याचत भोगवान् ।	याचत । भगवानपि-
१६	चितोऽपि	चित्तोऽपि
	पृष्ठ ३३४	
६	मन्त्रोषधि	मन्त्रौषध
१०	सर्वान्न	सर्वान
२५	मुत्सर्गि काल	मुत्सर्गकाल
	पृष्ठ ३३५	
४	सिद्धयः	शिम्बयः
१३	वाचा परे	वाचाऽपरे
	पृष्ठ ३३६	
१३	कुर्यादयं तु	कुर्यादजंतु
१६	धीन्द्रिया	द्वीन्द्रिया
२३	तथैव···	तत्तथैव
२५	पापश्रवा	पापाश्रवा
	पृष्ठ ३३७	
१७	मत्र हिंसा	मत्राहिंसा
१९	विहारणः	विहरणः
२०	परिषद्वर्पं	परिपद्वर्यं
२१	मिथ्या	मिथ्यात्व
२३	दित (?) दी	दितदीर्घे
२६	निः सूकाशयवयस्य	निःशूकाशयवशम्य
२७	रापत्स्यां	रायत्यां
	पृष्ठ ३३८	
३	समापतितः	समापतति
४	प्राप्नोपि	न प्राप्नोषि
६	कालक्षेप	ऽकालक्षेप
७	कारणं	करणं
१०	असमस्तक	अस्तमस्तक
१३	घटेव	घण्टेव
१८	मध्यानुमोचित निश्रया	मध्यानुगमोचितनिश्रयया
२३	विश्वगुणो महा	विश्वगुणामहा

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२५	प्रपालिका	प्रपापालिका
	पृष्ठ ३३९	
५	स्थपतेय	स्वापतेय
६	प्रतिवेश	प्रतिनिवेश
११	परुष	परुषवपुष
१२	जुष्टमा	जुपमा
१३	जसूवास्र	जम्रवास्र
१३	मलिनी	कमलिनी
१६	दुष्पुत्रेणेव	दुष्पुत्रेणेयं
१७	'मैवं	'मुनिगुप्त, मैवं
	पृष्ठ ३४०	
२	मेतस्मै	मेतस्य
६	भगिनि	भगिनी
७	पंठोप	पेण्ठोप
१३	तमेनं	तमेतं
१३	मुपश्रुत्य	मुपश्रुत्या श्रित्य च
१५	सभागिनीकं	स-भगिनीकं
१७	मुपह्वरा	मुपह्वरगह्वरा
२१	स्तनाभि	स्तनीभि
२३	वतंसिभासि	वतंसभागि
२६	अस्येन्दिरा	अकरोच्चास्येन्दिरा
२७	मकरन्दपरित्यक्त	त्यक्त
	पृष्ठ ३४१	
१	पुण्य	पण्य
२	कामदं	कामन्दं = मन्दिरं
४	प्रपञ्चः	प्रपञ्चं
१०	मेकानस्यां	मेकानसीं
१४	निस्पन्द	निःस्पन्द
२३	रूपद	कूपद(=जामातृदेयंवस्तु)
२४	देवसमक्ष	देवमुखसमक्ष
२६	मुच्छ्राय	मुत्थाय
२७	श्रीमति	श्रीमती
	पृष्ठ ३४२	
२	संकेत	संकेतं
७	तात तात यथा	तात यथा

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१०	क्वोञ्चालितो	क्वोर्वालितो
१३	रोचिष्यति	रोपिष्यति
१५	मन्मनो	श्रेष्ठिनि मन्मनो
२६	चापेन मया च स्थेया	वापेन मया च स्थैर्या
२७	कल्पयतेव	कल्पलतेव
	पृष्ठ ३४३	
३	शोकावतस्थे	शोकावस्थे
८	भाजानुजा	भाजा तुजा
११	ध्वजानामभाजनं	ध्वजनामभाजं
१३	शरप्रती	शरण-प्रती
१४	रमारूप	साररूप
१५	मंसार	संभार
२०	प्रापणिक	आपणिक
	पृष्ठ ३४४	
४	माधन	साधन
५	सभजत्	मभजत्
१३	निवेशेन	निदेशेन
१५	सर्वं राज्ञि	सर्वं रायि (=धनं)
	पृष्ठ ३४५	
४-५	सौन्दर्यं	सौन्दर्योदार्य
६	सुनृता	सूनृता
१०	भाण्डन	भण्डन
१०-११	भरीर	भटीर
१६	निजासनाभि	निजसनाभि
१६	इति पुण्य श्लोकाः।	इति
२६-२७	पोत्रस्य	पोतपात्रस्य
२७	यद्भविष्यतया	यद्भविष्यत्तया
	पृष्ठ ३४६	
१	चपणि चरम	चर्यिणि चरम
६	जमरणा	जनमरणा
७	तीवार्तमन	तीवान्तर्मन
१४	जह्वाघ्रात	घह्वाघ्रात
१६	महानुरोधेन	मोहावहानुरोधेन
१८	श्रीमतेः	श्रीमतः
२२	वेलमेव	वेलमेवं

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२४	नाय्यमतिः	नार्यमतिः
२५	इवास्तितु	इवासितुं
	पृष्ठ ३४७	
१	मोषमौष	मेष मोष
७	सदनम्	समम
८	त्यत्र चास्यैव	त्यत्रास्यैव
९	यदि मद्वतयै	यदि च यद्वतयै
१०	परिवर्तार्धं	परिवर्तार्ध
१४	नुक्रोशान्त्रि	नुक्रोशाभिनिवेशान्त्रि
१४-१५	मन्मनसंधात्रि	अस्मन्मनः संधात्रि
१६-१७	व्याहाराकण्ठपाठ- कठोरनालः	व्याहाराकुण्ठपाठ- कठोरकण्ठनालः
१६	मेनककुचना	मनेककुचरा
१६	कुक्कुटि	कुक्कुटि
२१	कुट्टिनी	कटुनी
२३	श्वस्त्येहानि	श्वस्त्येहनि
२६	राज्ञाद्भुतां शौ	स राजा अद्भुताशौ
	पृष्ठ ३४८	
४	परिचर्यानि	परिचर्याचिरत्नानि
७	चेतसि च	चेतसि वचसि च
६	स्तिनी	स्तिभी (=हृदय)
१२	मूमी	सूर्मी
१६	तदेवं	तवेदं
१६	विश्रो वात्यो	विस्रोवात्यो
२२	ऽनुग्रहोऽनुग्रह	ऽनुग्रह
२५	प्रदृतानि	प्रहृतानि
२७	मार्ष्टिकृतकशाल	मार्ष्टिः कृतकलश
	पृष्ठ ३४९	
२	कनिष्टः	कनिष्ठः
३	दाहयेऽन्वपाये	दाहेयेऽन्ववाये
४	प्रधानानिधिः	प्रधाननिधिः
१५	केवलश्रुति	केवलिश्रुत
	पृष्ठ ३५०	
१७	भवन्मान्या	भवेन्मान्या
२२	मण्डन	भण्डन

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२५	ज्ञाते येनै	ज्ञातेयेनै
२६	चूर्णमंगलस्य मधुपि	क्षुण्णचूर्णमंगलस्य पि
	पृष्ठ ३५१	
१	स्थलोद्दशना	स्थलोद्दलना
२	परिणीता	परिपणिता
४	योग्यमिदं	भोग्यमिदं
७	मुपदानं कूलं	मुपदानुकूलं
१८	प्रवाल्हीका	प्रवह्निका
२६	वोघ	बोध
	पृष्ठ ३५२	
५	दण्डस्त्वस्य	दण्डस्तस्य
१०	जंघारिक	जंघाकरिक
१२	द्वारमन्दिरे	द्वारपदिरे
१२	प्रयुपरिणया	प्रयुक्तपरिणया
१६	मद्धाम शालिनि दवाला	मद्धामशालिनि ज्वाला
२०	मेकायत	मेकायन
	पृष्ठ ३५३	
१	कर्द्धे	कर्द्धि
५	प्रसूतिर्वसुमती	प्रसूतिवसुमती वसुमती
७	मती व्रतो	सतीव्रतो
११	समाधिगासवे	समाधिजिगांसवे
१५	चन्द्रमोभ्या	चन्द्रमः समाभ्या
१६	अत	गत
१८	मर्गाधियो	सर्गधियो
२०	मस्तिगौरवो	मम्भसि गौरवो
२४	स्मानमधरधाम संनि धानं न संवयेयम ।	स्मानमात्मानमधरधाम संनिधानं न संभावयेयम्।
२४	धनान्तो	बन्धनान्तो
२६	राज्यभरे	राज्यभारे
२७	समिध	समिथ
	पृष्ठ ३५४	
१	मुरगायुगलं	भूर्णायुयुगलं
२	हव्यवाहन	हव्यवाहवाहन
४	मुपसद्याहस्त्वः संपाद्य	मुपसद्यापाद्य च
४	सुरभ्रसुत्र	सुरभ्रपुत्र

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
९-१०	निकरम्बमुत्पाद्य	निकुरुम्बमुत्पाट्य
१४	पदेशः	पदे शदः (=गतः)
१६	स्मरणपर्याप्त	स्मरणः पर्याप्त
२०	प्रश्नः—	प्रश्न
२०	वृत्तयो	प्रवृत्तयो
२१	शान्तिपौष्टि	शान्तिकपौष्टि
२३	आचार्यनिकेत	आचार्यकनिकेत
२४	ऽव्यथा	ऽव्यर्था
२५	नेदमस्तु कारं	नेदमस्तुङ्कारं
२७	मानयोर्निकष	मानयोरावयोर्निकष
	पृष्ठ ३५५	
८	पाद्यबुद्ध्या	पायबुद्ध्या
१६	माचेप्सीत	मादैप्सीत्
२१	वशोषा	वसेया
२२	इत्यात्मान	इत्यात्मनात्मान
२६	यथार्यथंवद	यथायथंवद यथायथंवद
२६	बदुले	वहले
२७	प्रजाप्रजल्प	प्रजल्प
	पृष्ठ ३५६	
१६	दुराचारे चणक्षुभित	दुराचारेण क्षुभित
१७	वासौ	वसौ
१९	तान्ध्मानो	ताध्मातो
१९	यशा	वशा
२२	तारो महान्कण्ठ	तारं कण्ठ
२२	पुरुहूतोल्वण	पुरुपूत्कृतोल्वण
२२-२३	विश्वरघुष्ठा	विस्वरघुष्टा
२७	प्रतिष्ठी	प्रतिष्ठा
	पृष्ठ ३५७	
५	भवान् सम	भवान् षोडन् सम
८	निजरूपा	जिनरूपा
९	समिते	×
१०	पिशिकापिस्वापन	पिशितकापिशायन
१०	प्रसादः	प्रासादः
१४	शेषं धिषणा	शेषधिषण

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ ३५८	
१४	यज्ञार्थे	यज्ञार्थे
२१	लभ्यमानाः	लभ्यमानान्
२५	शास्तांस्तान्हत्वा	शास्तां स्तान् सत्त्वान् हत्वा
	पृष्ठ ३५९	
१	हव्यकव्यकर्मभिः	हव्यकर्मभिः
२-३	शोचिः क्लेश	शोचिष्केश
९	मुक्त्वा	हित्वा
१२	यज्ञात्वैव	यज्ज्ञात्वैव
२१	जल्पवान्	जन्मवान्
२६	यत्तौ स्ता	यत्तौ न स्तां
	पृष्ठ ३६०	
६	इन्धे	ईद्धे
७	मुक्ता	मुक्त्वा
१२	वृथाद्येति	वृथाढ्ये ति
१३	पौरे भाग्या	पौरोभाग्या
२१	अस्यातिचार	अस्यातिचिर
२६	व्यवहारानुगः	व्यवहारानुरागः
	पृष्ठ ३६१	
८	मतसिद्धि	मतकार्यघटनाऽसिद्धि
९	धात्रीं	सन्धात्रीं धात्रीं
१२	धात्तविध	धात्तथाविध
१४	तप्तसवयसोरसयमो	तप्तवयसोरयसो
१४	संगत्याय	सांगत्याय
२०	मपरस्त्यबहि	मपरस्य बहिः
	पृष्ठ ३६२	
४	त्येवत्येव	त्येव
७	वचनै	वचत्रै
८	वास्तुभिश्च	वास्तुभिर्वास्तुभिश्च
१४	येयं	ज्ञेयं
२३	धान्यधिपा	धन्यधिया
	पृष्ठ ३६३	
११	स्पन्द	स्यन्द
१८	पलम्भ	पलम्भः
२१	स्पन्द	स्यन्द

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२६	गोपायते	गोपाय्यते
	पृष्ठ ३६४	
४	तयानुमता हि मता हि	तनयानुमताहित
५	वासरेषु	वासुरेषु (=पक्षिषु)
१२	मेखलस्य	मेखलस्य प्रालेयाचलस्य
१३	निःशेषकुन्त	निःशेषशकुन्त
१७-१८	ममानुकण्ठा	ममाकुण्ठा
२४	तथा दिष्टो	तदा दिष्टो
	पृष्ठ ३६५	
१०	निकृत्ति	निकृति
१२	पाताल	पाताला
१३	भवानीयां खट्वायां	भवानाखट्वायां
१४	बन्धे	वन्ध्ये
१५	जीविनौ	जीवनौ
१६-१७	यक्षिणी	पक्षिणी
१६-२०	तद्वयेन	तद्द्वयेन
२०	कचिरप्रवासो	चिरप्रवासो
२०	पुरो वने	पुरोपवने
	पृष्ठ ३६६	
३	भवानैतिह्यनिकरं	भवानेतद्व्यतिकरं
६	दन्तमाख्यत्	गतमुदन्तमाख्यत
६	मर्षोत्कर्षगतमुस्था	मर्षोत्कर्षस्था
८	प्रह्लाद	प्रह्लादन
१२	तव हुंकृत	न बहुकृत
१३	सतृण	सत्रिण
१६	निष्पपात	निपपात
	पृष्ठ ३६७	
१०	न प्राप्ति	नाऽप्राप्ते
१६	धनं न यत्	धनं नयत्
२५	अथ संघ	अघसंघ
२५	वर्तवर्तगः	वर्तवर्तगम्

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ ३६८	
६	नीतिर्द्धावना	नीतिर्धावना
१३	विलयं	विलीयं
२२	सुपप्रोतव्यम्	सुपद्रोतव्यम्
२३	सहाजिसं	सहातिसं
२७	विक्रीणाते	विक्रीणीते
	पृष्ठ ३६९	
७	प्रवाधावसंदर्शन	प्रधावसंदर्शन
८	विधाय यत्ने	विधापयन्ने
१०	युषः	पुषः
१२	मानयामास	मानाययामास
१३	सम्बन्धः	सगन्धः
१३-१४	मपतता	मापतता
१७	फायमान	स्फायमान
१६	शोकमनाय	शोकशमनाय
१६	ततस्त्वय्यप्येताः	ततस्त्वयाप्येताः
२०	संग्रहीतव्या	संगृहीतव्या
२१	यास्तॄणां	यास्तूर्णं
२२	ततोपदेश	तातोपदेश
२२-२३	मवश्यन्	मवस्यन्
२६	पुरोपस्लातायागतः	पुरोऽपस्लायाऽऽगतः
	पृष्ठ ३७०	
८	दासी	वासी
१०	इन्द्रियमस्थानं	इन्द्रयमस्थानं
१२	नरकनिवन्धः	नरकनिषेकनिबंधः
१३	प्रकाम मलोभ	प्रकामलोभ
	पृष्ठ ३७१	
८	सांपरायप्रवर्धकात	संपरायप्रवर्धनात
१२	सुहृतां	सुहृत्तां

आठवां आश्वास

पृष्ठ ३७२

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
३	सेव्याथ नियमो	सेव्यार्थनियमो

१० 'नित्यस्नानं' पद्यसे पूर्व निम्न पद्य छूटा हुआ है:—

संभोगाय विशुद्धयर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम।
धर्माय तद्भवेत्स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः।

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१२	संस्पृष्टे	संमृष्टे

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२४	विहृत्य	विहृत्य
२६	संप्लुतः स्वान्तः	संप्लुतस्वान्तः
	पृष्ठ ३७३	
४	रूधस्यं	रोधस्यं
१३	हेतुधीस्तत्र	हेतुर्धीस्तत्र
२३	प्रथमं	प्रथमान्
२७	चेति	चैते
	पृष्ठ ३७४	
५	दतिशयविराजित	दतिशयविशेषविराजित
६	गणप्रमुखमहामुनि	गणमहामुनि
११-१२	प्रवर्धनिकामध्ये-नीरवीचि	प्रवर्धनकामधेनोः,अवीचि
२१	कीचनमदेवा	काञ्चनमस्मादेवा
२१	मखिलबल	मखिलमल
२२	मसमसहाय	मसममसहाय
२५	समर्पयन्त	ममपर्यन्त
२५	मलघुव्यपदेश	मलघुगुरुव्यपदेश
२७	भुवमाशिरः	भुवनशिरः
	पृष्ठ ३७५	
७	उदिगेतोदित	उदितोदित
८	अध्ययनाध्याय	अध्यनाध्यापन
६	द्विविधात्म	द्विविधात्मक
११	रविन्दनीमिथ्यात्व	रविन्दिनीमिथ्यात्वमहा
१२	शिष्यसंपदा	शिष्यप्रशिष्यसंपदा
१८	मार्गण	मार्गमार्गण
२२	प्रीत	प्रान्त
२३	व्रतविधा	व्रतविद्या
	पृष्ठ ३७६	
२	प्रवह	प्वाह
२	चरनित	चरनरनित
४	कामनचरित्र	चरित्र
७	लैहिके सुख	लैहिकंसुख
८	वधीरित	वधारित
६	रसि सह	रसिरुह

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
६	त्रयस्य पुरः	त्रयपुरः
१०	पचरितो	परचितो
२१	गण्यपण्या	गण्यपुण्यपण्या
२२	पातनमस्काण्ड	पातनतमस्काण्ड
	पृष्ठ ३७७	
६	निबंधभय	निबंधनाभय
१३	किनीधरम	किनीनिदानमेदिनीधरम
१४	तरुः कल्पद्रुम	तपः कल्पद्रुम
१५	मद्धीमनाः	सद्धीधनाः—
१६-१७	शमानिशपावनस्य	शमातिशायावसानस्य
२४	प्रणयं	प्रणयः
	पृष्ठ ३७६	
१५	भोल्यति	तुष्यति
१७	शास्त्रमनी	शास्तुरवी
२४	मथ रजः प्राप्त	मघरजः प्राप्त
	पृष्ठ ३८०	
६	धानोर्धयः	धानर्धयः
८	दधती···रत्नाकरः	दधतां···रत्नाकराः
१३	साध्वीकृती	साध्वीकृतीः
	पृष्ठ ३८१	
२	श्रियेव	श्रिये वः
५	स्थिलीना	स्थितीना
११	देहागमे	देहारम्भे
२६	मपमयचित्तौ	मयमपचित्तौ
	पृष्ठ ३८२	
२२	यस्मिन्नेष	यस्मिन्नेष
२४	करोतु	तनोतु
२६	रूप	सूप
२६	विहितोयमः	विहतोद्यमः
	पृष्ठ ३८३	
१०	कल्पितार्थे	कल्पितार्घ्ये
१६	वोत्साहिनं	वोत्साहिनां
२५	तीरमार्गम्नाना	तीरमार्गा स्नाना
	पृष्ठ ३८४	
१	भूयः	भूपः

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१७	प्रलोपो	प्लापो
१८	व्यापारगिलमः	व्यापारिगलम्
२०	वादनाद्	वाद्यनाद्
२१	त्रलकीर्ण	कुलकीर्ण
	पृष्ठ ३८५	
१	त्पाडपादपा	त्पादपा
७	तिमुन्त	विमुञ्च
१५	वमरे	वसरं
२३	भक्त्या नेत	भक्त्यानता
	पृष्ठ ३८६	
१४	रयं	रियं
१६	हेतोर्धर्मा	हेतौ धर्मा
२१	ममे	स मे
२२	मिथ्यास्तात्तनु	मिथ्या स्तान्नु
	पृष्ठ ३८७	
४	वैदग्धा	वैदग्धी
१०	च देयं	वदेयं
११	नमस्कुरुते···स्वस्थम	न कामं कुरुते स्वस्थम
१४	गुणमग्रहरण चरणप्रवि	गुणगणमघहरचरण, प्रवि
१७	नाग्यरङ्ग	नाट्यरङ्ग
१६	नग्व ··त्रकान्त	नग्वतत्त्रकान्त
२५	विपति	वियति
२६	देव ··स्य	देव कस्य
	पृष्ठ ३८८	
३	तत्वे (?) पु	तत्त्वकेपु
७	नियमगृहादि	निप-गृहादि
१०	ह्रिजसूत्र	हि सूत्र
१३-१४	स्वांशयति। तमुदि	स्वांशपतित—मुदि
१८	नयनाङ्कित	नयनिकेत
२०	रहन्ति	हरन्ति
२४	तस्माद्ब्रवीमि	तस्माद्वैमि
	पृष्ठ ३८९	
१२	संस्तुते	मंस्तुते
२३	लाला-	लीला-

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२६	विदेहि	विधेहि
	पृष्ठ ३९०	
१६	मतिस्थपुसो नाद	मतिस्पष्टं सनाद
	पृष्ठ ३९१	
६	मम्नातया	मग्नतया
११	चित्ते···	चित्ते चित्ते
१३	ग···ज्योति	जगज्ज्योति
१६	वात्तमित्व	नांत्तमित्व
	पृष्ठ ३९२	
१६	च तथाऽन्यत्र···यो- विशेत्	ऽपि तथाऽन्यत्र यथा- विशन्
	पृष्ठ ३९३	
२१	भूमैनो	भ्रमैनो
	पृष्ठ ३९४	
७	मादृशी	मादृशां
१२	तेषां ··यत्रा	तेषां दिनं यत्रा
१४	(इत्यपापः।)	(इत्यपायः।)
२४	निष्क्रियं प्रतिपद्यते	निष्क्रियं योगमाचरेत॥
२५	'प्रक्षीणोभयकर्माणां' इस पद्यके पूर्वमें छुटा हुआ पद्य :—	

विलीनाशयसंबन्धः शान्तमारुतमञ्चयः।
देहातीतः परंधाम कैवल्यं प्रतिपद्यते॥

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
	पृष्ठ ३९७	
११	रेकं···वेषः	रेकं परं वेषः
	पृष्ठ ३९८	
१०	इदं मंत्रं···नन्तचेतसः	इमं मंत्रं नन्यचेतसः
१८	संगमं	संगमे
	पृष्ठ ३९९	
१५	शिवोर्जः···	शिवो जीवः
	पृष्ठ ४००	
६	धूमवन्निर्वमेत्	धूमवन्निर्वतेत्
१४	कराङ्गुष्ठे रेखा	कराङ्गुष्ठरेखा
१५	कुर्युर्ना	कुर्यान्ना
१८	नखाकृतिर्न''कम्पतिः	न ग्वाकृतिर्न''कम्पितिः
२०	केकवदीक्षणम्।	केकरवीक्षणम्।

पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२५	प्रविहारिहारि	प्रविहारहारि
	पृष्ठ ४०२	
१०	तन्नैरन्तर्यतिथि···	तन्नैरन्तर्यसान्तर्य
	तीर्थनक्षत्रपूर्वकः	तिथितीर्थर्क्षपूर्वकः
१३	निवृत्ति	निरस्त
	पृष्ठ ४०३	
३	द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते	द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ
६	श्रयाश्रयः	श्रयः श्रिया
	पृष्ठ ४०४	
६	शुद्धैः	सर्वैः
१५	प्रभृतं	प्रमृतं (=जीर्णं)
१६	मन्त्रातीत	मन्त्रानीत
	पृष्ठ ४०५	
७	विधायने	विधापने
१५	रशनादिर्वा	राम्नादिर्वा
१५	एव हि।	एष हि।
	पृष्ठ ४०६	
१७	निषेवणैः	निषेवने
२१	श्रावकः	साधकः
२५	कार्यकर्मसु	कायकर्मसु
	पृष्ठ ४०८	
२	पुण्यार्जन	पुण्यार्जने
७	योग्यार्थो	योग्योऽर्थो
२२	जिनेश्वराः	मुनीश्वराः
	पृष्ठ ४०६	
३	साध्वसादि-	साध्वसमाऽऽधि-
४-५	'मुपासकैः' के बाद और 'आवास' के पूर्व छूटी हुई पंक्तियाँ :— असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥ सौमनस्यं सदाचार्ये, व्याख्यातृषु पठत्सु च ।	
६	हतानन्द	हनानन्द
२३	क्लेष्टृव्रतेऽखिले	क्लेष्टे व्रते खिले
२४	लवे यस्मान्न	लवेऽप्यस्य न
	पृष्ठ ४१०	
१६	अवधिव्रत	अध्यधिव्रत
	पृष्ठ ४११	
७	निवृत्तो धर्म	निवृत्तोऽधर्म
१३	यथा नाड्यं	यथाम्नायं
१६	चेतोः	चेतः
१८	गीयंते	गीयते
१६	स तुष्यत्त	मनस्यत्त
	पृष्ठ ४१२	
४	प्राहुर्ननु	प्राहुर्न तु
६	प्रवृत्ताख्या	प्रवृत्त्याख्या
२१	यः ··शरीरिणोः	यः शरीर शरीरिणोः
	पृष्ठ ४१३	
७	समुद्देश्य	समुद्देश्या
२१	प्राणायामायतेत	प्राणाय यतेत
	पृष्ठ ४१४	
३	वदायुषि	वदायुः
१७	विचारो	ऽविचारो
१७	विमाननी	विमानना
२२	उत्वान्त्यहं (?) युतो	उशन्त्यहंयुतो
	पृष्ठ ४१५	
६	बुध्येन	बुध्येत
१२	शास्त्रकरण	शास्त्रं करण
१४	मात्मा चरित्रा	मात्मचरित्रा
१८	प्रत्येकं	स प्रत्येकं
१६	अभ्रनाकिनोः	अभ्रिनाकिनोः
	पृष्ठ ४१६	
७	नाभिः प्रायेण	नाभिप्रायेण
८	विनाशायो महान	विनाशायोर्महान्
१४	भाग्भवेत्	भाग्भवन
१६	वृत्तिद्वितीयकः	वृत्तिर्द्वितीयकः
२३	रोगिणो पथ्य	रोगिणोऽपथ्य
२४	क्रोधलस्य	क्रोधनस्य
	पृष्ठ ४१७	
१७	श्रावक	श्राविक
	पृष्ठ ४१८	
६	भूयः	भूपः
२३	समुगं(?)	समुद्रगं

साहित्य-परिचय और समालोचन

(१) षट्खण्डागम—(धवलाटीका और उसके हिन्दी अनुवाद सहित) प्रथमखण्ड जीवट्ठाणका क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम नामक चतुर्थ अंश, मूल लेखक, भगवान पुष्पदन्त भूतबलि। सम्पादक, प्रो० हीरालाल जैन एम० ए० संस्कृताध्यापक किंगएडवर्ड कालेज अमरावती। प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द सितावराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती। बड़ा साइज पृष्ठसंख्या सब मिला कर ६२८। मूल्य सजिल्द प्रतिका १०) शास्त्राकारका १२)रु०।

इस चतुर्थभागमें जीवस्थानके क्षेत्र-स्पर्शन और काल-रूप तीनों अनुयोगद्वारोंका कथन किया गया है। लोकादिकी रचना और तत्सम्बन्धी गणितभागको स्पष्ट करनेके लिये २० चित्र दिये गए हैं जिनसे उस विषयका बहुत कुछ खुलासा हो जाता है। लखनऊ विश्वविद्यालयके गणितके प्रोफेसर डा० ए० एन० सिंह डी० एस० सी० ने १२ पृष्ठमें धवलाके गणितके सम्बन्धमें एक विस्तृत निबंध लिखा है जिसमें उन्होंने ५ वीं शताब्दीके आर्यभटियसे पूर्व भारतीय गणितका धवलाके जैनसाहित्यपरसे दिग्दर्शन कराया है और उसमें बतलाया है कि ईसासे भी पूर्व भारतके जैनाचार्योंने विश्वक्षेत्रके प्रदेश, कालके समय और प्रकृतिके अणु तथा जीवात्माओंकी संख्याको बुद्धिगम्य रीतिसे निर्धारित करनेके लिये उन्होंने संख्यात असंख्यात और अनंतकी धारणाओंको जन्म दिया और उन धारणाओं को बहुत ही विस्तृत रूपमें पल्लवित किया था। आजकलके वैज्ञानिक कल्पनातीत संख्याओंको निश्चित करनेके लिये जिन तीन प्रकारके गणितके विधानोंका प्रयोग करते हैं - १ परिसंख्यान Place-value notation, २ वर्गित संवर्गित Law of indices (varga-samvarga) ३ अर्धच्छेद Logarithm (ardha-ccheda) वही प्रयोग विश्वकी बड़ी संख्याओंको निर्धारित करनेके लिये जैनाचार्यों ने किए थे। धवलामें अनन्तका जो वर्गीकरण-द्वारा विवेचन दिया हुआ है वह बहुत ही सुन्दर और व्यापक है। इसके सिवाय, डाक्टर साहबने यह भी कहा है कि—"धवलामें विश्व तत्त्वोंकी संख्या निर्धारित करनेके लिये एकसे एक तुलनात्मक तरीकेका विधान किया है वह "One-to-one correspondence"—अनन्तात्मक मूलतत्त्वों—"Infinite cardinals"—के अध्ययन करनेके लिये बहुत ही लाभदायक साबित हुआ है। इस विधानको सबसे पहले मालूम करने और प्रयोग करनेका श्रेय जैनाचार्योंको है।" डाक्टर साहबका यह निबन्ध बड़ा ही महत्वपूर्ण है और वह भारतके प्राचीन गणितके सम्बन्धमें बहुत कुछ प्रकाश डालता है। इस निबन्धके हिन्दी अनुवादको आगेके खण्डमें लगा देनेकी जो सूचना सम्पादकजीने दी है उससे हिन्दीके अभ्यासी सज्जन समुचित लाभ उठा सकेंगे। आशा है कि कोई अधिकारी विद्वान भारतीय गणित-शास्त्रका जैनगणितके साथ तुलनात्मक अध्ययनको लिये हुए ऐसी पुस्तकका निर्माण करनेकी कृपा करेंगे जिससे जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंकी गणित सम्बन्धी उलझनें दूर हो जांय।

प्रस्तावनामें, 'सिद्धान्तग्रन्थ और उनके अध्ययनके अधिकार' शीर्षक लेखको जो निबद्ध किया गया है वह ऐसे स्थायी साहित्यके साथ कुछ अच्छा मालूम नहीं होता। प्रस्तावनामें शंकासमाधानके पश्चात तीनों अनुयोगद्वारोंके विषयका संक्षित परिचय करदिया है और नक्शा द्वारा उनके विषयको स्पष्ट भी कर दिया है। विस्तृत विषय-सूची लगी हुई हैं। इस भागमें अर्थादिविषयक बहुतसी त्रुटियां पाई जाती हैं जिनका सुधार होना आवश्यक है। ग्रंथके अन्तमें ५ परिशिष्ट भी लगाए गए हैं जिनसे उक्त खण्डकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। हां, अवतरण-गाथा-सूची नामके दूसरे परिशिष्टमें कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिन्हें टिप्पणीमें सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत बतलाया गया है, परन्तु वे मूल में किस ग्रन्थकी हैं इसे नहीं प्रकट किया गया। उदाहरणके लिये पंच संसारविषयक जो गाथाएँ धवलाके इस अंशमे पृष्ठ ३३३ पर उद्धृत की गई हैं वे कुन्दकुन्दाचार्यकी बारस-अणुवेक्खामें ज्यों की त्यों और कुछ थोड़ेसे पाठ-भेद तथा शब्द परिवर्तनके साथ २५,२६,२७,२८ नम्बरोंपर उपलब्ध होती हैं। इन गाथाओंको आचार्य पूज्यपादने अपनी

तत्त्वार्थवृत्तिमें और अपराजितसूरिने भगवती आराधनाकी टीकामें उद्धृत किया है। इसके सिवाय, 'पणुवीसं असुराणं,' 'बाहिर सूईवग्गो' 'पल्लो सायरसूई' नामकी गाथाएं जम्बूद्वीपपण्णत्तीमें, १०, ८६, ११, १३६, १३, ४३ नम्बरोंपर पाई जाती हैं। 'अत्थि अणंताजीवा,' 'एयणिगोदसरीरे' ये दोनों गाथाएँ मूलाचार और प्राकृत पंचसंग्रहमें उपलब्ध होती हैं। तथा 'तिण्णिसया छत्तीसा' और 'लोयायासपदेसे' नामकी गाथाएँ पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्तिमें उद्धृत हैं। इनका उद्धरण भी दे दिया जाता तो अच्छा होता। अस्तु, इन सब त्रुटियोंके होते हुएभी ग्रन्थका यह भाग पिछले भागोंके समान उपयोगी और संग्रहणीय बना है जिसके लिये विद्वान् सम्पादक धन्यवादके पात्र हैं।

(२) महावीरवाणी—सम्पादक, पं० बेचरदास दोशी, प्रकाशक, सस्तासाहित्यमंडल, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या, २०६। मूल्य अजिल्द प्रतिका १) रु० सजिल्दका१॥)रु०।

प्रस्तुत पुस्तक एक संग्रहग्रंथ है जिसमें श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों परसे चुने हुए धर्म-सम्बन्धी ३४४ गाथा-सूत्रों का संकलन किया गया है। संकलन बहुत अच्छे ढंगसे हुआ है। और उसे शांतिलाल वनमाली सेठ न्यायतीर्थ अध्यापक जैनगुरुकुल, ब्यावरने किया है। सूत्रोंको एक पेज पर रखकर बगलके दूसरे पेजपर उसका हिन्दी अनुवाद मुनि अमरचन्द्रकृत दिया गया है। संकलित सूत्रोंको अहिंसादि २४ विषयोंमें बांटा गया है। ग्रंथ सर्वसाधारणको भगवान महावीरकी वाणीका रसास्वादन करानेके लिये प्रस्तुत किया गया है। और इसमें सम्पादक महोदय बहुत कुछ सफल हुए जान पड़ते हैं। ग्रन्थके साथमें डा० भगवानदासकी लिखी हुई उपयोगी प्रस्तावना है और इस तरह इस ग्रंथको सर्वोपयोगी बनाया गया है। इस ग्रंथमें एक त्रुटि सबसे अधिक खटकती है वह यह कि संकलितसूत्रोंके नीचे उन आगम ग्रन्थोंका कोई हवाला नहीं दिया गया है जिनपरसे इन्हें उद्धृत किया गया है। यदि यह कर दिया जाता तो विद्वानोंके लिये और भी उपयोगी होता। अगले संस्करणमें इस ओर ज़रूर ध्यान दिया जाना चाहिये।

(३) करकंडुचरियउ—मूललेखक, मुनिकनकामर। सम्पादक, प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए०, संस्कृताध्यापक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती। प्रकाशक, जैनपब्लीकेशन सोसायटी, कारंजा। पृष्ठ संख्या ३३४, बड़ा साइज, मूल्य सजिल्द प्रतिका ६) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथमें मुनि कनकामरने करकंड राजाके चरित्रका अच्छा चित्रण किया है। ग्रन्थका कथा भाग बड़ा ही रोचक है और कविने उसे निबद्ध करनेमें सफलता भी प्राप्त की है ग्रंथको एक बार शुरु करके फिर उसे छोड़नेको जी नहीं चाहता। सम्पादक महोदयने ग्रंथको सर्वाङ्ग सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया है और वे इसमें बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। अंग्रेजीमे ग्रंथका अनुवाद भी दे दिया है जिससे अंग्रेजीके जानकार विद्वान भी इस ग्रंथसे लाभ उठा सकते हैं। प्रस्तावना बड़ी ही खोजपूर्ण और परिश्रमसे लिखी गई है उसमें ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका संक्षिप्त परिचय भी करा दिया गया है। तेरापुरकी गुफाओंके निर्माणादि सम्बन्धमें पर्याप्त परिश्रमद्वारा अन्वेषण किया गया है। और उनके चित्रोंको भी साथमें दे दिया है जिससे तेरापुरकी गुफाओंका साक्षात परिचय भी पाठकोंको मिल जाता है। इसके सिवाय टिप्पणियां भौगोलिक नामोंकी सूची, नोट्स और शब्दकोष के लगा देनेसे ग्रंथकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। इस दिशामें प्रोफेसर साहबका प्रयत्न अभिनन्दनीय है। ग्रन्थ पठनीय तथा संग्रह करनेके योग्य है।

(४) विभक्ति-संवाद—लेखक, उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम। प्रकाशक, ला० सीताराम जैन, प्रो० फर्म ला० मल्लीमल संतलाल जैन लुधियाना। मूल्य, सदुपयोग।

६० पृष्ठकी यह पुस्तिका स्थानकवासी उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजीने लिखी है जो आगम-सूत्रोंके विशिष्ट अभ्यासी हैं। आपने आगम ग्रन्थोंपरसे प्रथमा द्वितियादि विभक्तियोंका जो विस्तृत परिचय मनोरंजक संवादके रूपमें लिखा है। और टिप्पणियोंमें दिये गए शाकटायनीय व्याकरणके सूत्रोंकी हेमव्याकरण और पाणिनीय व्याकरणके साथ-साथ जो तुलना परिशिष्टके रूपमें २८ पृष्ठोंमें दी है। उससे इस पुस्तककी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। उपध्यायजीका यह प्रयत्न अभिनन्दनीय हैं। व्याकरणके जिज्ञासुओंको उपाध्यायजीकी इस पुस्तकको ऊपरके निर्दिष्ट पतेपर तीन पैसेका पोष्टेज भेजकर मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

—परमानन्द जैन शास्त्री

ऐ० पन्नालाल दि० जैन-सरस्वतीभवन बम्बईके कुछ लि० ग्रंथोंकी सूची

बम्बईका सरस्वतीभवन, जो सेठ सुखानन्दजीकी धर्मशालामें स्थित है, आजसे कोई २० वर्ष पहिले ज्येष्ठशुक्ला पंचमी सं० १९७६ विक्रमको स्थापित हुआ था और उस वक्तसे बराबर व्यवस्थितरूपसे चल रहा है। इसकी स्थापनामें ऐलक पन्नालालजीका खास हाथ रहा है, और इसलिये यह सरस्वतीभवन ऐलकजीके नामपर ही नामाङ्कित किया गया है। ऐसे ही सरस्वतीभवन आपने झालरापाटन तथा ब्यावरमें भी स्थापित कराये हैं। आपने अनेक स्थानोंपर घूम फिरकर पुरानी प्रतियाँ भी इन भवनोंमें भिजवाई हैं, नई प्रतियाँ भी कराई हैं और जनताको आर्थिक सहयोगकी भी प्रेरणा की है। अतः जैनसाहित्यके संग्रह और सुरक्षाके विषयमें यह आपकी खास सेवा है, और जैनसमाज इसके लिये आपका चिरऋणी रहेगा। इस भवनमें हस्तलिखित ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है, जिसमें दिगम्बर, श्वेताम्बर तथा अजैन सभी प्रकार के ग्रन्थ शामिल हैं और उनके जुदा-जुदा सूची-रजिष्टर बने हुए हैं। हालमें भवनके प्रधान कार्यकर्त्ता श्रीमान् पं० रामप्रसादजी शास्त्रीकी कृपा एवं सौजन्यसे मुझे दिगम्बर जैनग्रन्थोंकी जो सूची प्राप्त हुई है और जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ उससे मालूम होता है कि इस भवनमें दिगम्बर जैनग्रन्थोंकी संख्या ११०० के करीब है, जिनमें ताड़पत्रोंपर लिखे हुए ग्रन्थ तथा किसी किसी ग्रन्थकी कई कई प्रतियाँ भी शामिल हैं। इस सूचीपरसे यहाँ सिर्फ उन ग्रन्थोंकी सूची पाठकोंके सामने रक्खी जाती है जो गत वर्षके अनेकान्तमें प्रकाशित हुई दूसरे भण्डारोंकी सूचियोंमें नहीं आए हैं, जिससे जैनसाहित्यके विषयमें पाठकोंके ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि होसके और उनमें नयेनये साहित्यके अवलोकन, उद्धार और प्रचारकी भावना बलवती हो उठे।

—सम्पादक

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपिसंवत्
६३५	अजितपुराण	अरुणमणि	संस्कृत	२४५३
२८१	अजितपुराण	महाकवि रत्न	कन्नड़	शक १४९१
१८७	अध्यात्मकमलमार्तण्ड	कवि राजमल्ल	संस्कृत	वी.नि. २४४६
ख० १२	अनिरुद्धहरण	जयसागर	गुजराती	×
८१०	अन्तःकृतवृत्ति	×	संस्कृत	×
८४०	अम्बिकाकल्प	भ० शुभचन्द्र	,,	२४६१
७७५	अमृतधर्मरास	गुणचन्द्रदेव	,,	×
२९७	अमोघवृत्तिन्यास	प्रभाचन्द्राचार्य	,,	२४४६
३२५	अर्थव्यंजनपर्यायनिरूपणा	×	,,	२४५०
८६८	अष्टसहस्रीपंजिका	लघुसमन्तभद्र	,,	२४६४
६३८	अर्हत्सूत्रवृत्ति	कुन्दकुन्द (?)	,,	×
३९६	अंजनापवनंजयनाटक	अर्हद्दास	,,	×
६०	आदित्यवार-उद्यापन	केशवसेन		×
६०९	आदिपुराण (टिप्पण)	प्रभाचन्द्राचार्य	संस्कृत	२४५३
८५६	आदिपुराण सटीक	जिनसेन टी० ललितकीर्ति	,,	२४६३
६६८	आदीश्वरफाग	भ० ज्ञानभूषण	हिन्दी	×
ख० १५१	आप्तपरीक्षा भाषा	श्रीलालपाटनी	,,	१९२५
५१०	आत्मसंबोधन	भ० ज्ञानभूषण	,,	१९२६
७०७	आत्मसंबोधन	कवि रइधू	प्राकृत अपभ्रंश	१९८६

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपि संवत्
७६६	आयज्ञानतिलकसटीक	भट्टवोसरि (माघनंदि-शिष्य)	प्राकृत	२४५६
८००	आयसद्भावप्रकरण	मल्लिषेण	संस्कृत	२४५६
६२२	आराधनाकथाकोष	हरिषेण	संस्कृत	२४५३
६३७	आराधना कथाकोष	भ० सकलकीर्ति	,,	२४५३
२३०	आस्रवत्रिभंगी	नेमिचन्द्राचार्य	प्राकृत	×
३१६	उत्तरछत्तीसी (गणित)	सुमतिकीर्ति	संस्कृत	१६८१
१६६	उत्तरपुराण	महाकवि पुष्पदन्त	अपभ्रंश	×
७५६	उत्तरपुराण	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत गद्य	×
३२४	उदयत्रिभंगी	नेमिचन्द्रसिद्धान्तिक	प्राकृत	२४५०
५५२	उपदेशरत्नमाला	कवि ठक्कुर	,,	१६२६
४८१	उपदेशरत्नमाला	कवि रइधू	प्रा० अपभ्रंश	२४५१
४४८	उपदेशरत्नाकरश्रावकाचार	भ० विद्याभूषण	संस्कृत	१६२५
८७५	उपसर्गहरस्तोत्र	पूर्णचन्द्र ?	,,	×
५५७	उर्वशीनाममाला सटीक	पं०शिरोमणि,टी०पं० वंशीधर	,,	१६२६
८७०	एकाक्षर नाममाला	×	,,	१६६७
६४०	ऋषभदेवनिर्वाणानन्द नाटक	केशवसेन	,,	×
६२५	ऋषभपुराण	भ० चन्द्रकीर्ति	,,	२४५३
६४४	कथाकोष	श्रीचन्द्र	,,	×
२२०	कन्नडश्रावकाचार	×	कन्नड़	×
२६	कर्मदहनपूजा	भ० चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	१६८६
२६३	कर्मप्राभृत	कुमारसेनदेव	,,	×
२६	कर्णामृतपुराण	केशवसेन	,,	१६७८
ख० ४०	करकंडुमुनिचरित्र	ब्र० जिनदास	गुजराती	×
८२८	करकंडुचरित्र	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	२४६०
५७६	कलिकंडुपूजा	पद्मनन्दी	,,	×
३३४	कातंत्रविस्तर	कर्णदेवोपाध्याय वर्धमान ?	,,	×
८०१	कालज्ञान ?	दुर्गदेव	प्राकृत	२४५६
२६६	कालस्वरूप	×	कन्नड़ी	×
६१३	केवलज्ञानहोरा	चन्द्रसेन	संस्कृत	२४५३
ख० ३२	कोहलावारसी	मेघराज	गुजराती	१७५०
८७१	कौमुदीकथा	श्रुतसागर	संस्कृत	×
६६२	क्षपणासार	माधवचन्द्र	संस्कृतगद्य	२४५४
६६१	क्षेत्रगणित	महावीराचार्य	संस्कृत	२४५४
४८६	गन्धकुटीपूजा	पं० आशाधर	,,	२४५१
५१४	गुर्वावली	नेमिचन्द्र	,,	१६२६

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपि संवत्
५३७	गौतमचरित्र	धर्मचन्द्र	संस्कृत	१५८०
२२६	चतुर्दशधारा	नेमिचन्द्राचार्य	,,	×
५३	चतुर्विंशतितीर्थंकरपूजा	भ० श्रीभूषण	प्राकृत	×
४६३	चतुर्विंशतिपुराण	दामनंदी	संस्कृत	२४५२
७०	चन्दनषष्ठीपूजा	भ० वज्रकीर्ति	,,	×
६२३	चन्दनाचरित्र	भ० शुभचन्द्र	,,	२४५३
१७८	चन्द्रप्रभकाव्यटीका	टी० ? ×	संस्कृत	१६८०
६२१	चन्द्रप्रभचरित्र	भ० शुभचन्द्र	,,	×
७७४	चन्द्रप्रभपुराण	धर्मकीर्ति	,,	×
७८१	चन्द्रप्रभपुराण	जसकीर्ति	प्राकृत	२४५८
४६	चारित्रशुद्धिविधान	×	संस्कृत	१६४३
४२०	चिक्कसमन्तभद्रस्तोत्र	×	,,	×
ख० १३७	जम्बूस्वामीचरित्र	दीपचन्द्रवर्णी	हिन्दी	२४५१
५०४	जम्बूस्वामीचरित्र	पं० जिनराज	संस्कृत	२४५२
४४४	जिणंधरचरित्र	कवि रइधू	प्राकृत अपभ्रंश	१६२५
५६३	जिनगुणसंपत्ति	भ० नरेन्द्रचन्द्र	संस्कृत	×
३४३	जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र	केशवसेन	,,	१६२४
१८४	जिनयज्ञफलोदय	भ० कल्याणकीर्ति	,,	१६८०
१६६	जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय	अय्यपार्य	,,	×
७६२	जिनेन्द्रपुराण	जैनेन्द्रभूषण	,,	×
६६३	जीवतत्वप्रदीपिका	केशववर्णी (नेमिचन्द्र ?)	,,	२४५४
१८६	जीवन्धरचरित्र	शुभचन्द्राचार्य	,,	२४५०
८११	जीवविचार (श्वे०)	×	प्राकृत	×
३४७	जैनमहाभिषेकपूजा	पूज्यपाद	संस्कृत	१६२४
१६६	जैनेन्द्रन्यास	प्रभाचन्द्राचार्य	,,	×
८४५	जैनेन्द्रव्याकरणभाष्य	अभयनंदी	,,	×
१३२	जैनेन्द्रसूत्रपाठ	देवनंदी (पूज्यपाद)	,,	×
१३१	ज्ञातकेवली ?	×	,,	१८७३
६२	ज्ञानपंचविंशतिउद्यापन	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	,,	१८८३
६४	ज्ञानलोचनस्तोत्र	वादिराजसूरि	,,	१६७८
५३३	ज्ञानसूर्योदयनाटक	वादिचन्द्र	,,	×
४८	तत्वधर्मामृत	भ० चन्द्रकीर्ति	,,	×
३१७	तत्वविचार	वसुनन्दी	प्राकृत	१६८१
८६२	तत्वसार-टीका	भ० कमलकीर्ति	,,	२४६३
ख० ७	तत्वार्थसार	न्यादरमलसुत चेतनदास	हिन्दी	१६७२

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपि संवत्
२१०	तत्वार्थसुखबोधवृत्ति	भास्करानन्दी	संस्कृत	२४५०
६४७	तीर्थजिनचान्द्रिका	गुणभद्राचार्य	,,	×
६	त्रिभंगीसार-टीका	सोमदेवसूरि	प्राकृत	१८८८
५६४	त्रिलोकजिनपूजा	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	×
६१२	त्रिवर्णशौचाचारविधि	मदनन्तमुनि	,,	२४५३
६१२	त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराण	मल्लिषेण	,,	×
६२८	त्रैवर्णिकाचार	नेमिचन्द्र	,,	२४५३
४३२	दशलक्षणादिकथा	भ० यशःकीर्ति	,,	×
४८६	दानशासन	वासुपूज्य	संस्कृत	२४५२
३६६	दीतिसुन्दरसंहिता	भ० देवेन्द्रकीर्ति	,,	×
८०३	द्रव्यसमुच्चय	भ० कनककीर्ति	,,	२४५६
८६६	धनंजयनाममाला	भ० अमरकीर्ति	,,	१६०६
१४१	धर्मशर्माभ्युदय टीका	भ० यशःकीर्ति	,,	×
७६४	धर्मामृतसार	गुणचन्द्रदेव	,,	१६८६
६१७	धर्मोपदेशरत्नमाला	भ० रत्नभूषण	,,	२४५३
३१६	ध्यानस्तव	भास्करनन्दी	,,	१६८१
४१८	नक्षत्रचूडामणि	?	,,	×
६६	नवकारपैंतीसपूजा	अक्षयराम	,,	१७६४
३४४	नवपदार्थनिश्चय	वादीभसिंह	,,	१६२४
६१८	नागकुमारचरित्र	धर्मधीर (?)	,,	२४५३
ख० १४३	,,	ब्र० जिनदास	गुज० हिन्दी	१६२५
२६१	निघंटुसमय (?)	नेमिचन्द्राचार्य	सं० कन्नड़लिपी	×
२६२	निघंटुसमय	धनंजयकवि	सं० कन्नड़लिपी	×
३४८	निदानमुक्तावलि	पूज्यपाद	संस्कृत	१६२४
४४३	नेमिचन्द्रजीवनचरित्र	भ० विजयकीर्ति	,,	१६२५
६०८	नेमिनाथचरित्र	कवि नरसिंह	संस्कृत	२४५३
ख० २६	नेमिनाथपूजा	मन्नकवि	हिन्दी	×
,, १३१	नेमिपुराण	पं० भागचंदजी	,,	२५५१
५०३	न्यायकुमुदचन्द्रोदय	प्रभाचन्द्राचार्य	संस्कृत	२४५२
३५०	न्यायमणिदीपिका	अजितसेन	,,	१६२४
३४८	न्यायविनिश्चयालंकार (सटीक)	मू.अकलंकदेव,टी.वादिराजसूरि	,,	×
६६६	पदसंग्रह	कवि चुन्नीलाल	हिन्दी पद्य	१६४८
४६२	पद्मपुराण	सोमसेन	,,	२४५२
८१५	पद्मनाभपुराण	भ० शुभचन्द्र	,,	×
२८४	पद्मावतीपुराण	?	कन्नड़	×

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपिसंवत्
ग्व० १८	पन्द्रहतिथि (पखवाडा)	नेमिचन्द्र	हिन्दी	१८८२
५५०	पंचकल्याणकपाठ	भ० चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	×
७१	पंचमीप्रोषधोद्यापन	हर्षकवि	×	×
१०	पंचसंग्रह	×	प्राकृत	१५२७
६१४	पंचसंग्रह	भ० मदनकीर्ति	संस्कृत	×
५१६	पंचसंधानकाव्य	कवि शान्तिराज	संस्कृत	१६२६
३४६	पाण्डवपुराणमूल	वादिचन्द्र	"	१६२४
५०२	पाण्डवपुराण	भ० श्रीभूषण	"	२४५२
५४०	पात्रकेसरीस्तोत्र (सटिप्पण)	पात्रकेशरी	"	१६०६
४५६	पार्श्वनाथचरित्र	वादिचन्द्र	संस्कृत	२४५१
६७८	पार्श्वनाथपुराण	भ०पद्मकीर्ति	प्राकृत	१६८४
१५८	पार्श्वनाथपुराण	भ० चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	१८७३
७५४	पुण्यास्त्रव	कवि रइधू	प्रा० अपभ्रंश	×
७४८	पुण्याश्रवकथाकोष	जयमित्र हल्लहरि अपरनामहरिइंद्र	"	×
३८८	पुराणसार	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	×
३२२	पुरुदेवचम्पू	पं० अर्हद्दास	"	१८४६
४३	पुरुषार्थानुशासन	पं० गोविंद कवि	"	१८४७
७६	पुष्पांजलिपूजा	भ० रत्नचन्द्र	"	×
६४	पुष्पांजलिव्रतोद्यापन	गंगादास	"	१८६५
४६४	पूज्यपादवैद्यक	पूज्यपादस्वामी	"	२४५२
ग्व० १४४	पोसहरास	भ० ज्ञानभूषण	हिन्दी पद्य	×
२५५	प्रकृति समुत्कीर्तन	नेमिचन्द्र	प्राकृत	×
४३५	प्रतिष्ठाकल्प	वादिकुमुदचन्द्र	संस्कृत	१६२५
५६७	प्रतिष्ठापाठ	ब्रह्मसूरि	"	२४५३
७८३	प्रद्युम्नचरित्र	सिद्धसेन (सिंहसेन)	प्राकृत	२४५८
२६४	प्रबोधसार	भ० यशः कीर्ति	संस्कृत	१६२४
३८४	प्रमाणनयालंकार	×	"	१६२४
३४६	प्रमेयरत्नमालालंकार	चारुकीर्तिपण्डिताचार्य	"	१६१४
३१०	प्रवचनसरोजभास्कर टी.प्र. सार	प्रभाचन्द्राचार्य	"	१६८१
४६१	प्राकृतव्याकरण	श्रुतसागर	प्राकृत	२४५१
३८१	प्राकृतव्याकरण	त्रिविक्रमदेव	संस्कृत	१६२४
६३३	प्राकृतव्याकरणसटिप्पण	भ० शुभचन्द्र	प्राकृत	२४५३
१२७	बीजकौस्तुभ	पं० महीराज	संस्कृत	×
१५५	बुद्धिरसायण	सुमतिसागर	प्राकृत	×
१८३	भगवत्याराधना	अमितगति	संस्कृत	१६८०

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपिसंवत्
२७६	भरतेश्वरपुराण	×	कनड़	१७१६
४४७	भविष्यदत्तचरित्र	श्रीधर	संस्कृत	१६२५
७७६	भविष्यदत्तपंचमीकथा	पं० धनपाल	प्राकृत अपभ्रंश	१५८३
४४०	भव्यकण्ठाभरणपंजिका	कवि अर्हद्दास नं० १	"	१६२५
४४१	भव्यानन्दशास्त्र	पाड्याद्मापति	"	१६२५
२३१	भावत्रिभंगी	श्रुतमुनि	प्राकृत	×
५०७	भावशतक	नागराज	संस्कृत	१६२६
ख० १६६	महावीरस्वामीका रास	कुमुदचन्द्र	हिन्दी	×
३०६	माघनन्दिश्रावकाचार	माघनन्दी	कनड़	×
८७७	मूल, संघपट्टावली	×	संस्कृत	१६४३-२४६६
५६६	मूलाचार	कुन्दकुन्दाचार्य ?	"	२४५३
२००	मूलाराधनादर्पण(भग.आ.टी.)	पं० आशाधर	"	×
१६८	मुनिसुव्रतकाव्य-सटीक	पं० अर्हद्दास,	संस्कृत	२४५०
७८६	मेघेश्वरचरित्र	रइधूकवि	प्रा० अपभ्रंश	२४५८
६११	यत्याचार	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	२४५३
४८७	यशोधरचरित्र	पद्मनन्दी	"	२४५१
६२०	यशोधरचरित्र	पद्मनाभैया	"	×
२६६	युक्त्यानुशासन-सटीक	मू.समन्तभद्र,टी.विद्यानन्दी	"	×
३१८	योगसारसंग्रह	गुरुदास	"	१६८१
३५७	योगमार्ग	सोमदेव	"	१६२४
७६	रत्नत्रयविधि	पं० आशाधर	"	×
८०६	रत्नत्रयार्चनविधि	मल्लिषेण	"	×
२७	रामचरित	ब्र० जिनदास	"	१६७२
ख० १६	रामरास	"	गु० हि०	×
ख० ३६	रुक्मिणीहरण	भ० रत्नभूषण	गुजराती	×
१६१	लोकविभाग	सिंहसूरि	संस्कृत	१६८०
१८८	लोकानुयोग	वृद्धजिनसेनाचार्य	"	×
६६	लक्ष्मीस्तोत्र	पद्मप्रभदेव	"	×
५५८	वरांगचरित्र	भ० वर्द्धमान	"	१५८०
५५१	विद्यानुशासन (सटीक)	कुमारसेन,टी. चंद्रशेखरशास्त्री	"	१६०५
१७	विद्यानुशासन	मल्लिषेण	"	१८७८
६३१	विमलपुराण	भ० रत्ननन्दी	"	२४५३
५५१	विषापहार-टीका	पार्श्वनाथ गोमट्ट	"	१६०५
१३३	वैराग्यमणिमाला	भ० विशालकीर्ति	"	×
१२३	वैराग्यसार सटीक	सुप्रभाचार्य	प्रा०	×

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपिसंवत्
७१२	व्रतकथाकोष	भ० देवेन्द्रकीर्ति	संस्कृत	१६२६
३१४	व्रततिथिनिर्णय	सिहनन्दी	„	१६८१
८६६	व्रतनिर्णय	गोविन्दचन्द्र	„	२४६४
ख० ४६	व्रतविचार	ऋषभदास	हिन्दी	×
१२६	शकुनावली	गौतम	प्राकृत	×
७०३	शब्दसाधनिका	भ० सहजकीर्ति	संस्कृत	१६८६
१६७	शाकटायनअमोघवृत्ति	शाकटायनाचार्य	„	१६७६
८४६	शान्तिनाथचरित्र	महेन्द्रसूरि	प्राकृत	×
३१	शान्तिनाथपुराण	असगकवि	संस्कृत	१५६१
३२	शान्तिनाथपुराण	भ० श्रीभूषण	„	×
५०६	शात्यालयस्तवन	भ० ज्ञानभूषण	„	१६२६
ख० २७	शीलगीत	कुमुदचन्द्र	गुजराती	×
ख० १४२	शीलसुन्दरप्रबन्ध	जयकीर्ति	गु० हि०	१६२५
१	षट्कर्मोपदेश	भ० अमरकीर्ति	प्रा० अपभ्रंश	×
३६	श्रावकप्रायश्चित्त	अकलंकभट्ट	संस्कृत	×
६०७	श्रावकाचार	लक्ष्मीसेनाचार्य	प्राकृत	२४४३
१६	श्रावकाचार	मुनिकुन्दकुन्द	संस्कृत	×
८३	श्रुतस्कंधपूजा	भ० त्रिभुवनकीर्ति	„	×
३०	श्रुतावतार	विबुधश्रीधर	संस्कृत गद्य	१६७८
३२६	शृङ्गारमंजरी	अजितसेन यतीश्वर	संस्कृत	२४५०
७००	श्रीचित्तचूडामणि	पं० पूरणमल्ल	„	१७५४
८५१	श्रीदेवताकल्प	भ० अरिष्टनेमि	„	२४६१
ख० ११२	श्रीपाल आख्यान	वादिराज ?	गुजराती	रचनासं. १७७१
२०१	श्रीपालचरित्र	कवि रइधू	प्रा० अपभ्रंश	१६८०
६१६	श्रीपालचरित्र	नेमिदत्त	संस्कृत	×
३५०	श्रीपुराण	कवि हस्तिमल्ल	„	१६३६
३८३	षड्दर्शनप्रमाणप्रमेय	शुभचन्द्र	„	१६२४
२०७	सत्यशासनपरीक्षा	विद्यानन्दी	„	१६८०
३२०	सद्बोधचन्द्रोदय	पद्मनन्दी	„	१६८१
२७३	सप्तज्योति	×	कनड़	×
४८८	समयभूषण	इन्द्रनदी	संस्कृत	२४५१
८२६	सम्मत्तगुणनिधान	कवि रइधू	प्रा० अपभ्रंश	२४५६
७५	सम्मेदशिखरपूजा	सुरेन्द्रकीर्ति	संस्कृत	×
५०	सम्मेदशिखरमाहात्म्य	कवि देवदत्त	„	×
५७३	सम्बोधपंचाशिका	ब्र० जिनदास	„	१६२६

क्रम नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	लिपि संवत्
५५५	सम्बन्धोद्योत	विनश्वरनन्दी	„	२४५२
४६६	सम्यग्गुणारोहण	कविरइधू	प्रा० अपभ्रंश	२४५१
७६५	सरस्वती कल्प	विजयकीर्ति	संस्कृत	२४५६
४३६	सरस्वतीकल्प	अर्हद्दास	„	१६२५
५२	सहस्रगुणिपूजा	धर्मकीर्ति	„	×
२८६	सहस्रनाम आराधना	पार्श्वदेव	„	२४५२
७७८	संगीतसार	तेजपाल	प्रा०	×
६५३	संभवनाथचरित्र	×	संस्कृत	×
१६३	संशयधामभंजिका	भ० यशःकीर्ति	सं०	१८३५
२६६	संशयध्वान्तदीपिका	भ० रत्नभूषण	„	१६२७
६१८	संशयवचनविच्छेद	विशालकीर्ति	„	१६२५
५०१	सारचौबीसीचतुर्विंशतिका	भ० सकलकीर्ति	„	२४५१
१७२	सारसंग्रह (गणितसंग्रह)	महावीराचार्य	„	१५७५
ख़.१३४	सीताचरित्र	पं० द्यानतराय	हिन्दी	×
६५२	सुखनिधान	पं० जगन्नाथ	संस्कृत	२४५१
४५४	सुदर्शनचरित्र	विद्यानन्दी	„	२४५१
८४२	सुभद्रानाटिका	कवि हस्तिमल्ल	„	२४६१
६८६	सुभौमचरित्र	रत्नचन्द्रसूरि	„	२४५४
६८०	सुलोचनाचरित्र	भ० वादिचन्द्र	„	२४५४
६७६	सूर्यप्रकाश	नेमिचन्द्र	„	२४५४
१३८	सिद्धचक्रकथा	भ० शुभचन्द्र	„	×
२४४	सिद्धान्तसार-सटीक	प्रभाचन्द्र	कन्नड़	×
४५०	सिद्धान्तसार-टीका	सुमतिकीर्ति	प्रा० सं०	१६२५
४८२	सिद्धान्तसार-भाष्य	मू.सकलकीर्ति, भाष्यज्ञानभूषण	„	२५५६
७६७	सिद्धिविनिश्चयालंकारसटीक	अनन्तवीर्य	संस्कृत	२४५६
ख० १०८	हनुमन्तपुराण	दयासागर	मराठी	१६४५
ख० ३५	हनुमन्तरास	ब्र० जिनदास	गुजराती	×
	हनुमन्तचरित्र	अजितप्रभ	संस्कृत	×
६०३	हरिवंशपुराण	स्वयंभूमुनि	अपभ्रंश	×
२१६	हरिवंशपुराण	कवि मंगराज	कन्नड़	×
२०२	हरिवंशपुराण	कवि रइधू	प्रा० अपभ्रंश	१६८०
१७७	हरिवंशपुराण	भ० श्रुतकीर्ति	„	×
ख १२३	हरिवंशपुराणछंदोबद्ध	ब्र० जिनदास	मराठी	×

वीरसेवामन्दिर, सरसावा जिला सहारनपुर

अनेकान्तके सहायक

गतवर्ष जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमे प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमे अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन देकर उसकी सहायक श्रेणीमें अपना नाम लिखाया था, उनमेंसे जिन्होने जितनी सहायता भेजकर संचालकोंके उत्साहको बढ़ाया है उनके शुभ नाम सहायता की रकम-सहित इस प्रकार है :—

१२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
१०१) बा० बहादुरसिहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता।
१००) सेठ जोखीरामजी बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
५१) रा० ब० बा० उलफतरायजी जैन रि० इञ्जीनियर, मेरठ।
५०) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन लाहौर।
५०) बा० लालचन्दजी जैन एडवोकेट, रोहतक।
५०) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचायत, पानीपत।
५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत, देहली।
२५) प० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार, बम्बई।
२५) ला० रूढामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
२५) बा० रघुबरदयालजी जैन, एम ए करोलबाग, देहली।
२५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
२५) ला० बाबूराम अकलङ्कप्रसादजी जैन, तिस्सा, ज़िला मुजफ्फरनगर।
२५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।
२५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
२५) ला० प्रद्युमनकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
१७) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रि० अमीन, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमे अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनुकरणीय

गत १२वीं किरणमे प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्त को द्वितीय-तृतीय मार्गसे ४६॥) की नीचे लिखी सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

१०) ला० मित्रसैनजी जैन रिटायर्ड मुन्सरिम, मुज़फ़्फ़रनगर (चार संस्थाओं आदिको अनेकान्त एक वर्ष फ्री भिजवानेके लिये) आपने गत वर्ष भी १०) रु० की सहायता प्रदान की थी।
११॥) देहली सदर बाजारके एक सज्जनकी ओर से गुप्त सहायता चार सं०को फ्री और एक विद्यार्थीको अर्धमूल्यमेंदेनेकेलिये
३) बा० मोतीलालजी नाज़िर सिविलकोर्ट, देहरादूनसे दो विद्यार्थियोंको अनेकान्त अर्धमूल्यमें देनेके लिये।
१०) बा० राजकिशनजी जैन दरियागंज, देहली। (अपने पुत्र चि० प्रेमचन्दके विवाहकी खुशीमें)
१०) ला० बैजनाथसहायजी, झिंजाना ज़ि० मुजफ़्फ़रनगर। (अपने दौहित्र चि० प्रीतमसिंहके विवाहकी खुशीमें)।
२) ला० छुट्टेलालजी जैन मुरादाबाद निवासी और ला० प्यारेलालजी जैन हरयाना निवासी, हाल लोहागढ़ (पुत्र-पुत्रीके विवाह पर निकाले गये दानमेंसे)।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरको सहायता

वीरसेवामन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे २८॥) रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दानी महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

११) बा० राजकिशनजी जैन दरियागंज, देहली (पुत्र चि० प्रेमचन्दके विवाहकी खुशीमें)।
११) सेठ चिरंजीलालजी जैन, काछवा जि० करनाल।
३) ला० किशनस्वरूपचन्द जैन खजूरी बाज़ार, इन्दौर (अपने आरोग्य-लाभकी खुशीमें)।
२) ला० हरज्ञानसिहजी जैन कानपुर और वैद्य पं० जयचन्द्रजी कानपुर (विवाहकी खुशीमें)।
१।) बा० विमलप्रसादजी जैन, सदर बाजार, देहली।

अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर, सरसावा

विलम्बके लिये क्षमा-प्रार्थना

सरकारी कामके भारी अनुरोध-वश इस बारकी बार 'अनेकान्त' को छापकर देनेमें जो आशातीत विलम्ब हुआ है, उसके लिये हम अनेकान्तके पाठकोंसे क्षमाके प्रार्थी हैं।

—मैनेजर 'श्रीवास्तव प्रेस'

Registered No A 731.

वीरसेवामन्दिरको दो योग्य विद्वानोंकी सम्प्राप्ति

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि श्री बाबू जयभगवानजी जैन बी. ए., एल-एल. बी. वकील पानीपतने, जिनकी लेखनीसे अनेकान्तके पाठक परिचित हैं और जो बड़े ही अध्ययनशील तथा सुलझे हुए विद्वान हैं, हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको अपनी पूरी सेवाएँ अर्पण की हैं। आप अपनी अच्छी चलती वकालत छोड़कर गत १२ मार्चको वीरसेवामन्दिरमें तशरीफ ले आए हैं और तबसे बराबर सेवाकार्य कर रहे हैं। इसके लिये आप भारी धन्यवाद के पात्र हैं। आपमें सेवाभाव तथा शोध-खोजकी बड़ी स्पिरिट है, वकालत करते समय उसके लिये आपको यथेष्ट अवकाश नहीं मिलता था और इसलिये सेवाकी बहुतसी भावनाएँ आपकी मनकी मनमें विलीन होजाती थीं, और समाज भी उनसे वञ्चित रह जाता था। अब वीर-सेवामन्दिरके द्वारा समाजको आपकी पूरी सेवाएँ प्राप्त होंगी—जो शक्ति पहले वकालत जैसी झंझटोंमें खर्च होती थी वह अब साहित्य और इतिहास जैसे समाज-सेवाके ठोस कार्योंमें व्यय होगी, यह जानकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी ?

इधर न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाने भी जो भारतकी प्रसिद्ध विद्या-संस्था क्वीन्सकालिज बनारससे छहों खण्डोंमें उत्तीर्ण न्यायाचार्य हैं, और साथ ही सिद्धान्त विषयके भी अच्छे विद्वान हैं, वीरसेवामन्दिरको अपनाया है और उसे अपनी सेवाएँ अर्पण की हैं। जिनके लिये आप धन्यवादके पात्र हैं। आपकी इच्छा बहुत दिनोंसे साहित्य और इतिहासके क्षेत्रमें काम करके प्रगति प्राप्त करने की थी, जिसके लिये आपने वीरसेवामन्दिरको चुना है। आप ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम (जैनगुरुकुल) मथुरासे स्तीफा देकर कल प्रातःकाल २४ अप्रेलको उस समय वीरसेवामन्दिरमें पधारे हैं जब कि मैं 'वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट' की योजनाको लिये हुए अपना 'वसीयत नामः' रजिष्ट्री करानेके लिये सहारनपुर जा रहा था, और इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

आशा है इन दोनों ही योग्य विद्वानोंके सहयोगसे वीरसेवामन्दिरके कार्योंको प्रगति प्राप्त होगी, और 'जैनलक्षणावली' का हिन्दी तथा अंग्रेजी सार शीघ्र ही तय्यार होकर पहला खण्ड प्रेसमें जानेके लिये प्रस्तुत हो जायगा। साथमें और भी दूसरे कार्य शीघ्र सम्पन्न होकर जल्दी जल्दी बाहर आएँगे। कई विद्वानोंकी और भी योजना हो रही है। वीरसेवामन्दिरके सामने बहुतसे महत्त्वके कार्य करनेको पड़े हुए हैं, और कई योग्य विद्वानोंकी आवश्यकता है।

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता—वीरसेवामन्दिर, सरसावा

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलालद्वारा श्रीवास्तव प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित।

वर्ष ५
किरण ३-४

विधेयं वार्य …
सदाऽन्योऽन्यापे…

अप्र. मई
१९४२

सम्पादक — जुगलकिशोर मुख्तार

विषय-सूची

श्री साहू शान्तिप्रसादजी की ओर से

लायब्रेरी और फर्नीचरके लिये

वीरसेवामन्दिरको १५००) की नई सहायता

श्रीमान् साहू-शान्तिप्रसाद जी जैन डालमियानगर वीर सेवामन्दिर सरसावापर कितनी अनुग्रह दृष्टि रखते हैं और कहाँ तक उसके संरक्षक और सरपरस्त बने हुये हैं, यह बात अनेकान्तके पाठकोंसे छिपी नहीं है-बराबर उनके सामने आती रही है। हालमें आपके उदार विचारोंके फलस्वरूप बाबू जयभगवानजी वकील पानीपतकी योजना वीरसेवामन्दिरमें होजाने से जब आपको यह सूचना मिली कि वीरसेवामन्दिरकी लायब्रेरीमें रिसर्चादि-विषयक अंग्रेजी आदिके कुछ आवश्यक ग्रन्थोंकी कमी है और फर्नीचर भी नाकाफ़ी है तो आपने तुरन्त ही उनकी पूर्तिके लिये पन्द्रह सौ १५००) रु० की नई सहायता वीरसेवामन्दिरको भेजदी। इस उदारतापूर्ण कृपाके लिये मैं आपका बहुत ही आभारी हूँ और इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह थोड़ा है। संस्थाके प्रति आपके ऐसे उदार व्यवहारसे यह दृढ आशा होती जाती है कि यह संस्था जरूर ही अपने ध्येयमें सफल होगी। हार्दिक भावना है कि साहूजीका वरद हाथ सदा ही इस संस्थाके सिरपर बना रहे और वे इसे अपनी संरक्षतामें बराबर ही उन्नति शील देखकर प्रसन्नता-लाभ करें।

जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ५	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर	अप्रेल–मई
किरण ३-४	वैशाख–ज्येष्ठ, वीरनिर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९९	१९४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[३]

श्रीशम्भव-जिन-स्तोत्र

त्वं शम्भवः सम्भवतर्ष-रोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाऽऽकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥ १ ॥

'(अन्वर्थ-संज्ञाके धारक*) हे शम्भव जिन ! सांसारिक तृष्णा-रोगोंसे खूब पीडित जनसमूहके लिये आप इस लोकमें उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार कि अनाथोंके—द्रव्यादि सहाय-विहीनोंके—रोगोंकी शान्तिके लिये कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है और अपने लिये चिकित्साके फलस्वरूप धनादिकी कोई अपेक्षा न रखकर उन गरीबोंकी चिकित्सा करके उन्हें नीरोग बनानेका पूर्ण प्रयत्न करता है ।'

* 'शम्भव इत्यन्वर्थेयं संज्ञा शं सुखं भवत्यस्माद्भव्यानां इति शम्भवः —(जिनसे भव्योंको सुख होवे वे 'शम्भव')।'
—प्रभाचन्द्राचार्य

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्त-मिथ्याऽध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जरा-ऽन्तकार्तं निरंजनां शान्तिमजीगमस्त्वं ॥ २ ॥

'यह (दृश्यमान) जगत, जो कि अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न मिथ्या अभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीडित है, उसको (हे शंभवजिन !) आपने निरंजना—कर्ममलके उपद्रवसे रहित मुक्तिस्वरूपा—शान्तिकी प्राप्ति कराई है—उसे उस शान्तिके मार्गपर लगाया है जिसके फलस्वरूप कितनों हीने चिरशान्तिकी प्राप्ति की है।'

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं, तृष्णाऽऽमयाऽप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ ३ ॥

'आपने पीडित जगतको-उसके दुःखका यह निदान बतलाया है कि—इन्द्रिय-विषय-सुख बिजलीकी चमकके समान चंचल है—क्षणभर भी स्थिर रहने वाला नहीं है—और तृष्णारूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है—, तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषि-वाणिज्यादि कर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःखपरम्परासे पीडित करता रहता है।'

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ ४ ॥

'बन्ध, मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण, बद्ध और मुक्त तथा मुक्तिका फल, इन सब बातोंकी व्यवस्था हे नाथ ! आप स्याद्वादी—अनेकान्तदृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है, एकान्तदृष्टियों—सर्वथा एकान्तवादियोंके मतोंमें नहीं। अतएव आप ही 'शास्ता'—तत्त्वोपदेष्टा हैं—दूसरे कुछ मतोंमें ये बातें पाई जाती ज़रूर हैं, परन्तु कथनमात्र हैं, एकान्तसिद्धान्तको स्वीकृत करनेसे उनके यहां बन नहीं सकती, और इसलिये उनके उपदेष्टा ठीक अर्थमें 'शास्ता' नहीं कहे जा सकते।'

शक्रोऽप्यशक्तस्तवपुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथाऽपि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥ ५ ॥—स्वयंभूस्तोत्र

'हे आर्य !—गुणों तथा गुणवानोंके द्वारा सेव्य शम्भव जिन ! आप पुण्यकीर्ति हैं—आपकी कीर्ति-ख्याति तथा जीवादि पदार्थोंका कीर्तन-प्रतिपादन करनेवाली वाणी पुण्या-प्रशस्ता है—निर्मल है—आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ शक्र—अवधिज्ञानादिकी शक्तिसे सम्पन्न इन्द्र—भी अशक्त रहा है—पूर्णरूपसे स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका है—, फिर मेरे जैसा अज्ञानी—अवधि आदि विशिष्टज्ञानरहित प्राणी—तो कैसे समर्थ हो सकता है ? परन्तु असमर्थ होते हुए भी मेरे द्वारा आपके पदकमल भक्तिपूर्वक—पूर्णअनुरागके साथ—स्तुति किये गये हैं। (अतः) मेरे लिये ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति—कल्याणपरम्परा—देय है—मैं उसको प्राप्त करनेका पात्र हूं—अधिकारी हूं।'

आवश्यक सूचना

हमारे पास 'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी कुछ ऐसी फाइलें मौजूद हैं जिनमें पहली किरण नहीं है—शेष सब किरणें हैं। प्रथम वर्षकी पूरी फाइलका मूल्य यद्यपि ४) रु० है परन्तु स्टाक खाली करनेके लिये हम इन पहली किरणसे रहित फाइलोंको, लोकहितकी दृष्टिसे, १) रु० मूल्यमें ही दे देना चाहते हैं, जिससे प्रथम वर्ष की फाइलमें जो बहुमूल्य साहित्य संगृहीत है वह लोगोंके पढ़नेमें आवे और जनता उससे यथेष्ट लाभ उठावे। अतः जिन्हें आवश्यकता हो वे पोष्टेज व रजिष्टरीके खर्च सहित १।।=) शीघ्र मनीआर्डरसे भेजकर मँगा लेवें। फिर ऐसे लोकोपयोगी उत्तम साहित्यका इस कौडियोंके मूल्यमें मिलना असंभव होगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

श्वे० तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जाँच

[सम्पादकीय]

जैनसमाजमें उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी कृतिरूपसे जिस तत्त्वार्थसूत्रकी प्रसिद्धि है उसके मुख्य दो पाठ पाये जाते हैं—एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। दिगम्बर सूत्रपाठको सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ बतलाया जाता है, जो दिगम्बरसमाजमें सर्वत्र एकरूपसे प्रचलित है; और श्वेताम्बर सूत्रपाठको भाष्यमान्य सूत्रपाठ कहा जाता है, जो श्वेताम्बर समाजमें प्रायः करके प्रचलित है; परन्तु कहीं कहीं उसमें अच्छा उल्लेखनीय भेद भी पाया जाता है*। भाष्यकी बाबत श्वे० समाजका दावा है कि वह 'स्वोपज्ञ' है—स्वयं सूत्रकारका ही रचा हुआ है। साथ ही यह भी दावा है कि मूल सूत्र और उसका भाष्य ये दोनों बिल्कुल श्वेताम्बरश्रुतके अनुकूल हैं—श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर ही इनका निर्माण हुआ है, और इसलिये सूत्रकार उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे‡। दावेकी ये दोनों बातें कहाँ तक ठीक हैं—मूलसूत्र, उसके भाष्य और श्वेताम्बरीय आगमो परसे इनका पूरी तौरपर समर्थन होता है या कि नहीं, इस विषयकी जाँचको पाठकोंके सामने उपस्थित करना ही इस लेखका मुख्य विषय है।

सूत्र और भाष्य-विरोध

सूत्र और भाष्य जब दोनों एक ही आचार्यकी कृति हों तब उनमें परस्पर असंगति, अर्थभेद, मतभेद अथवा किसी प्रकारका विरोध न होना चाहिये। और यदि उनमें कहीं पर ऐसी असंगति भेद, अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं—उनका कर्ता भिन्न भिन्न है—और इसलिये सूत्रका वह भाष्य 'स्वोपज्ञ' नहीं कहला सकता। श्वेताम्बरोंके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्यमें ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है; जैसा कि नीचेके कुछ नमूनोंसे प्रकट है:—

(१) श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें प्रथम अध्यायका २३ वाँ सूत्र निम्न प्रकारहै—

'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।'

इसमें अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका नाम 'यथोक्तनिमित्तः' दिया है और भाष्यमें 'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः' ऐसा लिखकर 'यथोक्तनिमित्त' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है; परन्तु 'यथोक्त' का अर्थ क्षयोपशम' किसी तरह भी नहीं बनता। 'यथोक्त' का सर्वसाधारण अर्थ होता है—'जैसा कि कहा गया', परन्तु पूर्ववर्ती किसी भी सूत्रमें 'क्षयोपशमनिमित्त' नाम से अवधिज्ञानके भेदका कोई उल्लेख नहीं है और न कहीं 'क्षयोपशम' शब्दका ही प्रयोग आया है, जिससे 'यथोक्त' के साथ उसकी अनुवृत्ति लगाई जा सकती। ऐसी हालतमें 'क्षयोपशमनिमित्त'के अर्थमें 'यथोक्तनिमित्त'का प्रयोग सूत्रसंदर्भके साथ असंगत जान पड़ता है। इसके सिवाय, 'द्विविधोऽवधिः' इस २१वें सूत्रके भाष्यमें लिखा है—'भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च', और इसके द्वारा अवधिज्ञानके दो भेदोंके नाम क्रमशः 'भवप्रत्यय' और 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाये हैं। २२ वे सूत्र 'भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्' में अवधिज्ञानके प्रथम भेदका वर्णन जब भाष्यनिर्दिष्ट नामके साथ किया गया है तब २३ वें सूत्रमें उसके द्वितीय भेदका वर्णन भी

---

* देखो, 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक साटिप्पण प्रति' नामका सम्पादकीय लेख, अनेकान्त वर्ष ३ किरण १ (वीरशासनाङ्क) तथा पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थ-सूत्र-विवेचनकी प्रस्तावना का पृष्ठ ८४–८५

‡ श्वे० समाजके असाधारण विद्वान पं० सुखलालजी अपने तत्त्वार्थसूत्रके लेखकीय वक्तव्यमें लिखते हैं:—"उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेलपक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है।"

भाष्यनिर्दिष्ट नामके साथ होना चाहिये था और तब उस सूत्रका रूप होता—"क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्", जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदायमें मान्य है। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः उक्त सूत्र और भाष्यकी असंगति स्पष्ट है और इसलिये यह कहना होगा कि या तो 'यथोक्तनिमित्तः' पदका प्रयोग ही गलत है और या इसका जो अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' दिया है वह गलत है तथा २१ वें सूत्र के भाष्यमें 'यथोक्तनिमित्त' नामको न देकर उसके स्थानपर 'क्षयोपशमनिमित्त' नामका देना भी गलत है। दोनों ही प्रकारसे सूत्र और भाष्यकी पारस्परिक असंगतिमें कोई अन्तर मालूम नहीं होता।

(२) श्वे० सूत्रपाठके छठे अध्यायका छठा सूत्र है—

"इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।"

दिगम्बर सूत्रपाठमें इसीको नं० ५ पर दिया है। यह सूत्र श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रकी टीका और सिद्धसेनगणी की टीकामें भी इसी प्रकारसे दिया हुआ है। श्वेताम्बरोंकी उस पुरानी सटिप्पण प्रतिमें भी इसका यही रूप है जिसका परिचय अनेकान्तके तृतीय वर्षकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है। इस प्रामाणिक सूत्रपाठके अनुसार भाष्यमें पहले इन्द्रियका, तदनन्तर कषायका और फिर अव्रतका व्याख्यान होना चाहिये था; परन्तु ऐसा न होकर पहले 'अव्रत' का और अव्रत वाले तृतीय स्थानपर इन्द्रियका व्याख्यान पाया जाता है। यह भाष्यपद्धतिको देखते हुए सूत्रक्रमोल्लंघन नामकी एक असंगति है, जिसे सिद्धसेनगणीने अन्य प्रकारसे दूर करनेका प्रयत्न किया है, जैसा कि पं० सुखलालजी के उक्त तत्त्वार्थसूत्रकी सूत्रपाठसे सम्बन्ध रखने वाली निम्न टिप्पणी (पृ० १३२) से भी पाया जाता है:—

"सिद्धसेनको सूत्र और भाष्यकी यह असंगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करनेकी कोशिश भी की है।"

परन्तु जान पड़ता है पं० सुखलालजीको सिद्धसेन का वह प्रयत्न उचित नहीं जँचा, और इसलिये उन्होंने मूल-सूत्रमें उस सुधारको इष्ट किया है जो उसे भाष्यके अनुरूप रूप देकर 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' पदसे प्रारम्भ होनेवाला बनाता है। इस तरह पर यद्यपि सूत्र और भाष्यकी उक्त असंगतिको कहीं कहीं पर सुधारा गया है, परन्तु सुधारका यह कार्य बादकी कृति होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्र और भाष्यमें उक्त असंगति नहीं थी।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बरीय आगमादि पुरातनग्रन्थोंमें भी साम्परायिक आस्रवके भेदोंका निर्देश इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, योग और क्रिया इस सूत्रनिर्दिष्ट क्रमसे ही पाया जाता है; जैसाकि उपाध्याय मुनि श्रीआत्मारामजीद्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' में उद्धृत स्थानांगसूत्र और नवतत्त्वप्रकरणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"पंचिंदिया पण्णत्ता···चत्तारिकसाया पण्णत्ता···
पंचअविरय पण्णत्ता···पंचवीसा किरिया पण्णत्ता···।"

—स्थानांग स्थान २, उद्देश्य १ सू० ६० (?)

"इंदियकसायअव्वयजोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा।
किरियाओ पणवीसं इमाओ ताओ अणुकमसो॥"

—नवतत्त्वप्रकरण

इससे उक्त सुधार वैसे भी समुचित प्रतीत नहीं होता, वह आगमके विरुद्ध पड़ेगा। और इस तरह एक असंगति से बचनेके लिये दूसरी असंगतिको आमन्त्रित करना होगा।

(३) चौथे अध्यायका चौथा सूत्र इस प्रकार है—

"इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्याऽऽत्मरक्ष-लोकपाला-ऽनीक-प्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः।"

इस सूत्रमें पूर्वसूत्रके निर्देशानुसार देवनिकायोंमें देवोंके दश भेदोंका उल्लेख किया है। परन्तु भाष्यमें 'तद्यथा' शब्दके साथ उन भेदोंको जो गिनाया है उसमें दश के स्थानपर निम्न प्रकारसे ग्यारह भेद दे दिये हैं:—

"तद्यथा, इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकाधिपतयः अनीकानि प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति।"

इस भाष्यमें 'अनीकाधिपतयः' नामका जो भेद दिया है वह सूत्रसंगत नहीं है। इसीसे सिद्धसेनगणी भी लिखते हैं कि—

"सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा नानीकाधिपतयः, भाष्ये पुनरुपन्यस्ताः।"

अर्थात—सूत्रमें तो आचार्यने अनीकोंका ही ग्रहण किया है, अनीकाधिपतियोंका नहीं। भाष्यमें उसका पुनः उपन्यास किया गया है।

इससे सूत्र और भाष्यका जो विरोध आता है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। सिद्धसेनगणीने इस विरोध का कुछ परिमार्जन करनेके लिये जो यह कल्पना की है कि 'भाष्यकारने अनीकों और अनीकाधिपतियोंके एकत्वका विचार करके ऐसा भाष्य कर दिया जान पड़ता है *,' वह ठीक मालूम नहीं होती; क्योंकि अनीकों और अनीकाधिपतियों की एकताका वैसा विचार यदि भाष्यकारके ध्यानमें होता तो वह अनीकों और अनीकाधिपतियोंके लिये अलग अलग पदोंका प्रयोग करके संख्याभेदको उत्पन्न न करता। भाष्य में तो दोनोंका स्वरूप भी फिर अलग अलग दिया गया है जो दोनोंकी भिन्नताका द्योतन करता है। यों तो देव और देवाधिपति (इन्द्र) यदि एक हों तो फिर 'इन्द्र' का अलग भेद करना भी व्यर्थ ठहरता है; परन्तु दश भेदोंमें इन्द्रकी अलग गणना की गई है, इससे उक्त कल्पना ठीक मालूम नहीं होती। सिद्धसेन भी अपनी इस कल्पना पर दृढ़ मालूम नहीं होते, इसीसे उन्होंने आगे चलकर लिख दिया है—"अन्यथा वा दशसंख्या भिद्येत"—अथवा यदि ऐसा नहीं है तो दशकी संख्याका विरोध आता है।

(४) श्वे० सूत्रपाठके चौथे अध्यायका २६ वाँ सूत्र निम्न प्रकार है —

"सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च।"

इसमें लोकान्तिक देवोंके सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट; ऐसे नव भेद बतलाये हैं; परन्तु भाष्यकारने पूर्व सूत्रके भाष्य में और इस सूत्रके भाष्यमें भी लोकान्तिक देवोंके भेद आठ ही बतलाये हैं और उन्हें पूर्वादि आठ दिशा-विदिशाओं में स्थित सूचित किया है, जैसाकि दोनों सूत्रोंके निम्न भाष्योंसे प्रकट है :—

*"तदेतदमीषामनीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमिव भाष्यकारेण।"

"ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति। तद्यथा—"

"एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम्।"

इससे सूत्र और भाष्यका भेद स्पष्ट है। सिद्धसेनगणी और पं० सुखलालजीने भी इस भेदको स्वीकार किया है; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"नन्वेवमेते नवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिताः।"

'इन दो सूत्रोंके मूलभाष्यमें लोकान्तिक देवोंके आठ ही भेद बतलाये हैं, नव नहीं।"

इस विषयमें सिद्धसेनगणी तो यह कहकर छुट्टी पागये हैं कि लोकान्तमें रहने वालोंके ये आठ भेद जो भाष्यकार सूरिने अंगीकार किये हैं वे रिष्टविमानके प्रस्तारमें रहने वालोंकी अपेक्षा नवभेदरूप होजाते हैं, आगममें भी नव भेद कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं*। परन्तु मूल सूत्रमें जब स्वयं सूत्रकारने नव भेदोंका उल्लेख किया है तब अपने ही भाष्यमें उन्होंने नव भेदोंका उल्लेख न करके आठ भेदोंका ही उल्लेख क्यों किया है, इसकी वे कोई माकूल वजह नहीं बतला सके। इसीसे शायद पं० सुखलालजीको उस प्रकारसे कहकर छुट्टी पा लेना उचित नहीं जँचा, और इस लिये उन्होंने भाष्यकी स्वोपज्ञतामें बाधा न पड़ने देनेके ख़यालसे यह कह दिया है कि—"यहाँ मूल सूत्रमें 'मरुतो' पाठ पीछेसे प्रक्षिप्त हुआ है।" परन्तु इसके लिये वे कोई प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। जब प्राचीनसे प्राचीन श्वेताम्बरीय टीकामें 'मरुतो' पाठ स्वीकृत किया गया है तब उसे यों ही दिगम्बर पाठकी बातको लेकर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। (क्रमशः)

*"उच्यते—लोकान्तवर्तिनः एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ताः, रिष्ट-विमानप्रस्तारवर्तिभिर्नवधाभवन्तीत्यदोषः। आगमे तु नव-धैवाधीता इति।"

साहित्यपरिचय और समालोचन

१ जैनसाहित्य और इतिहास—लेखक, पं० नाथूरामजी प्रेमी, मालिक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग पो० गिरगाव, बम्बई। प्रकाशक, हेमचन्द मोदी, बम्बई। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ६३५। मूल्य सजिल्द प्रतिका ३) रुपया।

पं० नाथूरामजी प्रेमी जैनसमाजके साहित्य-सेवी गण्यमान विद्वान और लेखक हैं। आपसे जैनसमाज भली भांति परिचित है। आप हिन्दी साहित्यके सुयोग्य सम्पादक और प्रकाशक हैं। आपकी हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर सीरीज़में बहुत उपयोगी साहित्य प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक आपके संशोधित तथा परिवर्धित लेखोंका उत्तम संग्रह है। दि० जैनसमाजमें ऐसे गवेषणात्मक साहित्य और इतिहास-सम्बन्धी लेख लिखने तथा उनके पठन-पाठनकी ओर अभिरुचि उत्पन्न करने और जैनाचार्यों व उनके लुप्तप्राय ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेका श्रेय आपको और मुख्तार श्री० पं० जुगलकिशोरजी सरसावाको है। आप दोनों ही विद्वानोंने जैनसाहित्यकी अपूर्व सेवा की है और कर रहे हैं।

इस पुस्तकमें ४६ निबन्धोंका संग्रह है, जिन्हें प्रेमीजी ने बड़े भारी परिश्रमसे तय्यार किया है। साथमें उपयोगी परिशिष्ट भी लगा दिये हैं जिससे प्रस्तुत पुस्तककी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है, कागज़ छपाई सफाई सभी आवश्यक है। पुस्तक के सभी मन्तव्यों से पूर्णतया सहमत न होते हुए भी यह कहना ही होगा कि पुस्तक इतिहासके विद्यार्थियोंके लिये बड़े काम की चीज़ है। इसके लिये प्रेमीजीका जितना भी अभिनन्दन किया जाय थोड़ा है। आशा है आप अपने शेष लेखोंका एक दूसरा संग्रह भी शीघ्र प्रकाशित करनेमें समर्थ होंगे। अनेकान्तके पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकको मगाकर अवश्य पढ़ें।

२ जैन विवाह विधि—संग्रहकर्ता और प्रकाशक, ला० सुमेरचन्द जैन, अराइजनवीस, ११३२ छत्ता प्रतापसिंह देहली। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ४० मूल्य दो आना।

इस पुस्तकमें युक्तप्रान्त और पंजाबमें प्रचलित जैन विवाह पद्धतिका अच्छे ढंगसे संग्रह किया गया है। विवाह विधिमें काम आने वाली सामग्रियों आदिका संक्षेपमें परिचय भी दे दिया है। और कहीं कहीं संस्कृत-पाठोंका भावार्थ भी लगाया गया है। प्राक्कथनमें बाबू जयभगवानजी वकील ने विवाह-विधिपर भी प्रकाश डाला है। इस पुस्तकके मूल पाठोंका संशोधन वीरसेवामन्दिरमें कराया गया गया है जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ गई है; क्योंकि बहुधा संस्कृत के पाठ अशुद्ध पाये जाते थे, परन्तु खेद है कि इस विषयका कोई स्पष्ट उल्लेख पुस्तकमें नहीं किया गया। अस्तु, पुस्तक अनेक दृष्टियोंसे उपयोगी है और समाजको इससे लाभ उठाना चाहिये।

३ भावना-विवेक—मूल लेखक, पं० चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ अनुवादक, पं० भंवरलाल जैन न्यायतीर्थ, जयपुर। प्रकाशक, पं० श्रीप्रकाश जैन न्याय-काव्यतीर्थ, मन्त्री, सद्बोध ग्रन्थमाला, मनिहारोंका रास्ता, जयपुर। पृष्ठ संख्या २८०, मूल्य १) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तकमें ३०६ श्लोकों द्वारा तीर्थंकर प्रकृतिके बंधकी कारण-भूत दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारण भावनाओं का विवेचन किया गया है। और अनुवादमें उनका स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है जिससे स्वाध्याय प्रेमियोंको उनके स्वरूपादि समझनेमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती। अच्छा होता यदि मूलपुस्तक हिन्दी पद्योंमें ही लिखी जाती; क्योंकि लेखक महोदय हिन्दीके भी अच्छे लेखक और कवि हैं। इससे समाजकी शक्ति और समयकी बहुत कुछ बचत होती। अस्तु, पुस्तक उपयोगी, पठनीय और संग्रहणीय है।

४ मुहूर्त-दर्पण—संग्रहकर्ता और अनुवादक, पं० नेमिचन्द जैन न्याय-ज्योतिषतीर्थ, आरा। सम्पादक, पं० के० भुजबली जैन शास्त्री, अध्यक्ष जैन सिद्धान्तभवन आरा। पृष्ठ संख्या ६०। मूल्य, आठ आना।

प्रस्तुत पुस्तकमें मुहूर्तादि विषयक १२१ बातोंपर प्रकाश डाला गया है। धार्मिक और लौकिक कार्योंमेंसे किसी भी कार्यके मुहूर्तको मालूम करना हो तो इससे सहज ही में मालूम किया जा सकता है। पुस्तक अपने ढंगकी अच्छी तथा संग्रह करने योग्य है। हिन्दी में ऐसी पुस्तककी ज़रूरत थी, जिसके लिये संग्रहकर्ता शास्त्रीजी धन्यवादके पात्र हैं।

—परमानन्द जैन शास्त्री

भगवान महावीरकी झाँकी

(लेखक—बा० जयभगवान जैन, बी० ए० वकील)

महावीर कौन था ? —

महावीर कौन था? हमारे ही समान इन्सानी साँचेमें ढला, हाड मांसका बना एक पुतला—सात हाथ लम्बा कदयल कद वाला—देखनेमें तपे हुये सोनेके समान सुन्दर। उसके माथेपे मुकुट, कानोंमें कुण्डल, गलेमें हार, बगल में पटका, भुजाओंमें बाजूबन्द, हाथोंमें कङ्कण, तेड़मे तागड़ी, और कटिमें पटकेदार धोती अपार शोभा देते। बुलानेमें वह वीर, महावीर, सन्मति, वर्धमान नामोंसे पुकारा जाता। बतलानेमें वह काश्यप गोत्री, इक्ष्वाकु वंशी, लच्छवि क्षत्रिय, ज्ञातपुत्र, वैशालिक विशेषणोंसे विख्यात था। कुण्डग्रामका राजा सिद्धार्थ उसका पिता और वशिष्टगोत्रा त्रिशला उसकी माता थी। वैशालीका अधिपति चेटक उसका नाना, मथुराका राजा जितशत्रु उसका फूफा था। मगधसम्राट बिम्बसार, दशार्णपति दशरथ, वत्स-नरेश उदयन, कौशाम्बी नृप शतानीक उसके मौसा (उसके पिताके साढू) थे। वह इसी भूमण्डलमें पैदा हुआ था—जम्बु महाद्वीपके भरतदेश में—उसके विहार प्रान्तके वज्जी गणराज्यके अन्तर्गत कुण्डग्राममें—आजसे कोई २५४० वर्ष पूर्व।

करनेको तो इसी प्रकार उसका और भी बखान किया जा सकता है, पर वास्तवमें यह सब कुछ बखान उसका नहीं, उसके पञ्चभूतोंसे बने शरीरका है—शरीरके नामों और रूपोंका है—शरीर-सम्बन्धी नातेदारोंका है, शरीरके जन्मकाल और क्षेत्रका है। यह सब कुछ बखान उसे बन्दी बनाने वाले बन्धनोंका है। वह स्वयं तो इनमेंसे कुछ भी न था। वह जो कुछ भी था, इन बन्धनोंके पीछे छुपा था।

वह एक दिव्य सुपर्ण था—

फिर वह कौन था? एक दिव्य सुपर्ण,—एक अलौकिक पक्षी—अनोखे स्वभाव वाला—अनूठे वृत्तान्त वाला—बड़ा सचेत—बड़ा जागरूक—पर हाड मांसके पिञ्जरेमें बन्द एक लाचार बन्दी।

वह यहाँ हरदम तिलमिलाता रहता,—हरदम फड़फड़ाता रहता—ज़रा चैन नहीं। गोया वह अपने बन्धनों को तोड़, पिञ्जरेकी तिड़िकियोंसे निकल, कहीं और ही जाना चाहता हो, कहीं और ही रहना चाहता हो। वह बन्दी होते भी सदा भीतर ही भीतर विचरता रहता—इस भवबनके कोने कोनेको ढूढता रहता—इसकी ऊँचाई और नीचाईको इसके कुओं और मरुस्थलोंको, इसके मार्गों और पगडण्डियों को, इसकी लताओं और वृक्षोंको इसके फलों और फूलों को निहारता रहता; गोया वह यहाँ किसी खोई हुई संपत्ति को पाना चाहता हो।

वह यहाँ जब अपने विचार-पंखोंको खोलता, तो खूब ही उड़ता—ऊपर ही ऊपर—दूर ही दूर। वह इन उड़ानों में बड़ी बड़ी बुलन्दियोंको टाप जाता,—बड़ी बड़ी दूरियों को लांघ जाता। वह ज़मीन-आस्मान, नरक-स्वर्ग लोक-परलोक सब ही को नाप जाता। वह बातकी बातमें इन्हें बनाने वाले जीव अजीव आदि तत्त्वोंको, इनमें रहने वाले देव दानव, मनुष्य तिर्यञ्चोंको, इनमें वर्तने वाले शुभ-अशुभ आदि भावोंको आंखोंमेंसे निकाल जाता—गोया वह इन सबको जीत कर इनसे ऊपर उठना चाहता हो।

वह ब्रह्मलोकका वासी था—

वह इस लोकमें रहता हुआ भी इस लोकका रहने वाला न था, वह किसी और ही लोकका रहने वाला था—किसी ऐसे लोकका, जो यम लोकसे ऊपर है, पितृ लोकसे ऊपर है, ज्योतिष लोकसे ऊपर है, देवलोकसे ऊपर है—जहां ऊँच है न नीच, योग है न वियोग, रोग है न शोक, व्यथा है न पीड़ा, जवानी है न बुढ़ापा, जन्म है न मरण, जहाँ सब तरफ समता है, शमता है, मधुरता है, सुन्दरता है, अमरता है, आनन्द है। वह वास्तवमें ब्रह्मलोकका वासी था। उसीके दृश्य उसकी आंखोंमें झलकते, उसीके राग उसके कानोंमें झंकारते, उसीके भाव उसके दिलमें छलकते।

इसी लिये यहांकी कोई बात भी उसके मनको न भाती यहांकी कोई चीज़ भी उसकी आंखोंमें न समाती। यह लोक उसके लिये था ही क्या! निरा बन्ध, बंध बंध!

वह यहां जिधर निगाह डालता, उसे वहां ही निस्सारता, उदासीनता, भयानकता सी छाई नजर आती। वस्त्राभूषण उसे चलनेमें रुकावट सी महसूस होते, विषय-भोग काले काले नागसे लगते, दुनियावी विभूतियां आडम्बर सी मालूम होतीं, मकान महल दम घोटने वाले कटघरेसे जान पड़ते, इठलाती किलकिलाती युवतियां कंकालका ढेर सी लगतीं, खेलते हँसते युवक मौतका चबीना सा सूक्ष पड़ते, बड़े बड़े ग्राम और नगर जनपद और राष्ट्र उसे श्मशानकी तरह जलते, धूल बन कर उड़ते हुए दिखाई पड़ते। इतना ही नहीं, यह सारी दुनिया बड़ी तेजीके साथ सरकती हुई, काल कण्ठमें उतरती हुई, विस्मृतिके अथाह कुण्डमें विलोप होती हुई साक्षात् नज़र आती!

जब जब यहांके दुःखभरे दृश्य उसके सामने आते वह एक दम सहम सा जाता, सिमट और सुकचाकर अलगको हो जाता, वह एक गहरी चिन्तामें पड़ जाता, वह इस दुनियाको एक छोरसे दूसरे छोर तक जांच कर निश्चय करता "यह दुनिया अनित्य है, जलधाराकी तरह निरन्तर बहने वाली है, यहां किसीको कयाम नहीं, यह अनेक दुःखों से भरी है, जन्म जरासे पीड़ित है, मौतकी घटा इस पर छाई है—यहां जीवन पराधीन है, अशरण है, असहाय है।"

जब जब वह लोगोंको इस दुनियाकी चीज़ोंमें रंग-रलियां करता हुआ पाता, इनके लिये अहंकार ममकार करते हुये सुनता—इनके लिये लड़ते झगड़ते हुये देखता, तो भीतरमें बहुत ही कुढ़ता और कहता—हा! हा! हा! ये लोग कैसे विमूढ़ है, इन्हें पता नहीं कि यह लोक, जहां ये रह रहे हैं, इनका लोक नहीं, यह कालका लोक है, भूतोंका लोक है, प्राकृतिक शक्तियोंका लोक है, इन पर किसीका अधिकार नहीं, इनकी यहां जो कुछ परिपालना हो रही है, वह सब कालका ग्रास बननेके लिये ही हो रही है। यह काल बड़ा निष्ठुर है, बड़ा विघातक है, बड़ा प्रपञ्ची है—यह जिसकी पालना करता है, उसे यह खुद ही अपने हाथों रेखाकीर्ण करके हड़प कर जाता है—यह लोग इस कालसे बिल्कुल बेखबर हैं—इन्हें अपने अन्तका पता नहीं, अपने भले बुरेका पता नहीं, प्रेय और श्रेयका पता नहीं। इनका उद्धार हो तो कैसे?"

ऐसा अलौकिक पुरुष होते हुए भी अचम्भा है, कि वह तीस वर्ष तक घरमें कैसे ठहरा रहा! निस्सन्देह, वह बड़ा ही अलौकिक था, पर उसके मां बाप, उसके भाई बन्धु, उसके नातेदार तो अलौकिक न थे, वे भला यों ही उसका पल्ला कैसे छोड़ देते, यों ही उसे अपनेसे जुदा कैसे कर देते। वे उसके आज्ञाकारी स्वभावका सहारा लेकर तीस वर्ष तक उसके और उसके लक्ष्यके बीचमें खड़े रहे। इस अरसेमें इन्होंने बहुत चाहा कि किसी तरह समझा बुझा कर इसे अपना बनालें, विवाहके सूत्रमें बान्ध-जूड़ कर इसे जगका करलें इसके लिये अनेक षड्यन्त्र रचे गये—कामदेव भी आया, उसने भी अपने पुष्पबाणोंको खूब आजमाया; शैतान भी आया, उसने भी अपने मोहजालोंको खूब बिछाया; भैरव रुद्र भी आया, उसने भी लाल-पीली आंखोंसे खूब डराया, पर किसीकी भी कुछ न चली! सब ही योजनायें विफल रहीं और रहती क्यों न? वह कोई साधारण क्षत्रिय तो था ही नहीं जो मोह-लालसामें आजाता, किसी डांट डपटसे डर जाता। वह था महाक्षत्रिय, धीर वीर, महावीर, उच्च विचार वाला, दृढ संकल्प वाला, साहसी और उत्साही, पराक्रमी और पुरुषार्थी। वह था सब ही को विजय करने वाला, सब ही पर शासन करने वाला, सब ही को अपना बनाने वाला फिर वह छोटेसे गृहस्थमें तृप्त कैसे होता? छोटेसे राज्यसे सन्तुष्ट कैसे होता? थोड़ेसे शासनसे खुश कैसे होता?

तीस वर्षकी खींचातानीके बाद—आखिर वह घरसे निकला ही निकला—निरा कुमार—बच्चेकी तरह मासूम, फूलकी तरह प्रफुल्लित, अग्निकी तरह तेजस्वी, चन्द्रमाके समान सौम्य।

वह विश्वसम्राट् था—

घरसे बेघर हो, अपनी मनोरथ-सिद्धिके लिये, सबसे पहिली योजना जो उसने की, वह परित्याग की थी। "बड़ी चीज़को पानेके लिये छोटी चीज़ोंका त्याग करना ही होता है" यह सोच कर ही मानों, उसने विश्व-शासनके

लिये राजपाटका त्याग कर दिया, विश्वकल्याणके लिये कुटुम्ब परिवारका त्याग कर दिया, विश्वविभूतियोंके लिये वस्त्राभूषणोंका त्याग कर दिया, अक्षय सुखके लिये दुनियावी सुखोंका त्याग कर दिया।

"जिसको जो कुछ बनना होता है, उसके अनुरूप ही उसे अपना रंग ढंग भी बनाना होता ही है"—यह सोच कर ही मानों उसने विश्वसम्राट् बननेके लिये अपना रंग ढंग विश्वसम्राट् सरीखा ही बना लिया, वातवलयों पर ठहर, अनेक द्वीप और सागरोंसे घिरे पृथ्वीतलको अपना सिंहासन बना लिया; ऊंचाईपे छाये और तारोंसे भरे आकाशको अपना छत्रमण्डप बना लिया, दूर तक फैली हुई और किरणोंसे चकाचौन्द दिशाओंको अपना जामा बना लिया, दायें बायें बहती, कली कुञ्जोंमें खेलती समीरों को अपना चमर बना लिया; मान उत्तुङ्गोंको झुकाने वाले दिलोंको लुभाने वाले विनयको अपना मुकुट बना लिया—शत्रुओंको रुलाने वाले, दोषोंको मिटाने वाले थिदण्डको राजदण्ड बना लिया।

फिर पूर्व दिशाकी ओर बैठ उसने पूर्व सिद्धोंको याद किया, उन जैसा होनेकी भावना कर "मेरी अब किसी पापमें भी प्रवृत्ति न हो", ऐसा दृढ संकल्प किया। फिर शंका, आकांक्षा, स्नेह, ग्लानि, राग, द्वेष, हर्ष विषाद, चिन्ता क्लेश आदि सब ही विकल्पोंको छोड़ समभाव धारण कर लिया।

"ऐहिक जीवनसे विश्वजीवनकी ओर जानेके लिये राज्य और समाजके रूढिक मार्गोंको छोड़ सहजसिद्ध प्राकृतिक मार्गसे चलना जरूरी ही है"—"विश्वजीवनका भोग करनेके लिये वसतीकी कृत्रिम सीमाओंको उल्लंघ विश्वतत्त्वोंके बीचमें रहना, विश्वजीवोंसे हिलमिलके बहना जरूरी ही है"—यह जान कर ही मानो, उसने बनका मार्ग लिया। सिंह समान निर्भय, पृथ्वी समान क्षमाशील, वायुसमान स्वतन्त्र, आकाश समान निर्लेप हो वह वन और पर्वतोंके प्राकृतिक स्थलोंमें एकाकी, निस्पृह, निर्ग्रन्थ रहने लगा।

वह एक गाढ विचारक था—

वह जहां आत्मरसका एक अद्वितीय रसिया था, वहां वह आत्मतत्त्वका एक गाढ चिन्तक भी था। वह आत्मरस लेते भी हरदम आत्मचिन्तनमें लगा रहता, हर दम जीवन की समस्याओंको सुलझाता रहता। उसकी विचारणा क्या थी! एक अविरल धारा थी, जो सदा एक छोटेसे संगतारीक दुःखी जीवनमेंसे निकल एक असीम अनन्त शिव-शान्त जीवनकी ओर बहती रहती। यह विचार लहरी जब बहना आरम्भ करती तो सात तत्त्वोंमेंसे होकर कुछ इस प्रकार बहती :—

१· यह दुनियावी जीवन क्या है! एक भारी विरोध है। यह सुख चाहते भी दुःखोंसे घिरा है, ज्योति चाहते भी अन्धकारसे ढका है, पूर्णता चाहते भी अपूर्णतासे भरा है, अमृत चाहते भी जन्म, जरा, और मृत्युसे छाया हुआ है, इसका लक्ष्य कुछ और है, इसका भोग कुछ और है। ऐसा जीवन वास्तविक जीवन नहीं हो सकता।

वास्तविक जीवन तो भीतरी भावनाके अनुरूप ही होना चाहिये—सच्चिदानन्द, शिव, शान्त सुन्दर अजर, अमर, विभु भीतरी लोकमें ही बसा हुआ—बुद्धिसे नहीं, अन्तिसे ही अनुभव होनेवाला।

२· जन्म, मरण, रोग, बुढापा, अपूर्णता और अन्धकार, भूख और प्यास, चीस और चसक, निद्रा और मूर्छा आदि जो भी भाव आत्माको अरुचिकर हैं, आत्माको हानिकर हैं, आत्मामें विरोध पैदा करनेवाले हैं, आत्मामें दुःख पैदा करने वाले हैं, आत्मामें असन्तोष पैदा करने वाले हैं वे सब जीवतत्त्वका स्वभाव नहीं, अजीव तत्त्वका स्वभाव हैं—सब बाहिरमें रहने वाले, बुद्धिसे सूझने वाले, क्षेत्रसे परिमित, कालसे परिमित, ऋत (धर्म) और अनृत (अधर्म) से छाये हुये पुद्गलका स्वभाव हैं। वे सब बनने और बिगड़ने वाले, टूटने और जुड़ने वाले, नया और पुराना होने वाले, उत्तेजित और सुस्त होने वाले, पुद्गल पिण्डों का स्वभाव है।

२. यद्यपि जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व दोनोंमें आकाश पातालका अन्तर है एक भीतरमें रहने वाला अमूर्त, अविनाशी, चेतन स्वभावी है, दूसरा बाहिरमें रहने वाला, मूर्त, विनाशी, जड़स्वभावी है—परन्तु जीवनकी योगशक्ति कुछ ऐसी अद्भुत और बहुरूपिणी है कि वह उसके द्वारा अपने और पराये जिस भावको भी अपनाता है, वह उसी रूप होजाता है।

जीवजिस किस भावमें आत्मधारणा धरता है—

यह वैसा ही होनेकी कामना करता है। यह जिस रूप होनेकी कामना करता है, यह वैसा ही संकल्प विकल्प करता है। यह जिस रूप संकल्प विकल्प करता है, यह वैसा ही होनेकी चेष्टा करता है—यह जिस रूप होनेकी चेष्टा करता है, यह वैसा ही कर्म करने लगता है—यह जिस रूप कर्म करने लगता है, यह वैसा ही अभ्यस्त होता चला जाता है—यह जैसा अभ्यस्त होता चला जाता है, यह वैसा ही बन जाता है।

जब जीव पौद्गलिक भावोंमें आत्मश्रद्धा धारण कर लेता है, तो यह पुद्गल-समान ही प्रवर्तने लगता है—उस समान ही सकम्प होने लगता है, रागद्वेष करता हुआ रुचिकर पुद्गलको अपनी ओर और अरुचिकरको परे धकेलने लगता है अपने द्वारा अतिसूक्ष्म कार्माणको, कार्माण द्वारा सूक्ष्म तैजसको, तैजसद्वारा सूक्ष्मस्थूल वायुको वायु-द्वारा स्थूल सूक्ष्म अपद्रव्यको, अपद्वारा स्थूल पार्थिव द्रव्यको ग्रहण करने लगता है। इस प्रकार ग्रहण करता हुआ यह पुद्गलके समान ही सपिण्ड होजाता है।

सपिण्ड होनेपर जीव पिण्डसमान ही तुच्छ और सपरिमाण हो जाता है, उस समान ही जन्मने और मरने वाला, जवानी और बुढ़ापे वाला, सुस्ती और तेजी वाला, रोग और विकार वाला होजाता है। उस समान ही आकार और स्वभाव वाला बन जाता है, उस समान ही कीट पतंग, हाथी, घोड़ा, पशु, नर, छोटा-बड़ा, काला-गोरा, स्त्री-पुरुष हो जाता है।

४. जब जीव पुद्गल-स्वभावी न होते हुए भी पुद्गल परिणामी होजाता है, तो यह पद पद पर दुःख उपजाने लगता है। यह दुःख ही जीवनके वैभाविक परिणमनका सबसे बड़ा सबूत है। जब तक जीव पुद्गल रूप परवस्तुमें अपनी धारणा बनाये रखता है उसकी बनी हुई दुनियामें अपनी आशायें जमाये रखता है, उसके होने वाले क्रिया-कलापमें अपनी प्रवर्तना चलाये रखता है, तब तक दुःख इसका पीछा नहीं छोड़ता।

दुःख जीवनका इष्ट नहीं, तो फिर उसका कारणीभूत वैभाविक परिणमन अथवा पौद्गलिक लोक, जीवनके लिये कैसे इष्ट हो सकते हैं? यही कारण है कि जीव इस लोकमें रहता हुआ सदा बेकल रहता है, सदा असन्तुष्ट रहता है। वह सदा इसकी खामियोंकी शिकायत करता रहता है, वह सदा इसमें हेर फेर करने, इसे अपने अनुरूप बनाने, इसके जरातोंको विजय करने, इसकी सीमाओंको उल्लंघनेकी कोशिश करता रहता है।

यह सब कुछ होते हुए भी, जीव अपनी भूल-भ्रान्ति अज्ञान-अविद्या, मोह-ममताके कारण इस दुनियासे ऐसा बन्धा है, कि यह इसकी खामियोंसे ऊपर उठने की भावना रखते भी, मूढ मृगके समान इसीके पीछे पीछे चल रहा है, इसीमें बार बार चक्कर काट रहा है।

५. जीव जैसे अपने मिथ्या विश्वास, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या आचारके कारण इस दुनियासे बन्धा है, वैसे ही यह अपने सम्यक् विश्वास, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् आचार-द्वारा इससे ऊपर उठ सकता है। बाहरी पदार्थ न इसके पकड़े जानेमें कारण हैं, न वे इसके छुटकारेमें सहायक हो सकते हैं। जीव स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, स्वयं अपना दोस्त और दुशमन है, स्वयं अपना संहारक और उद्धारक है।

इस दुःख का अन्त पुद्गल का पीछा करनेसे नहीं हो सकता, उसका पीछा छोड़नेसे हो सकता है; पौद्गलिक भावोंमें प्रवृत्ति करनेसे नहीं हो सकता, उनसे निवृत्ति करने से हो सकता है, पौद्गलिक वस्तुओं की इच्छा करनेसे नहीं हो सकता, उनका त्याग करनेसे हो सकता है; पौद्गलिक दुनियाके लिये कर्म-कर्म-विधान करनेसे नहीं हो सकता उसके लिये दण्ड-दण्ड-विधान करनेसे हो सकता है।

इस बन्ध दशाका अन्त भूल-भ्रान्तियोंमें पड़े रहनेसे नहीं होता, लोकके रूढ़िक मार्गोंमें चलनेसे नहीं होता। इसका अन्त अपनी गलतियोंको निरखने और दूर करनेसे होता है, अपनी श्रद्धा अपनेमें ही जमानेसे होता है, भीतर ही भीतर अपनेको देखने और पहिचाननेसे होता है, अपनी प्रवृत्तियोंको बाहिरसे हटा कछुवेकी तरह भीतरकी ओर लेजानेसे होता है, इन्द्रियोंका संयम पालने, मन-वचन-कायके त्रियोगोंको वश करने, प्राकृतिक कठिनाईयों को सहन करने, और सब ही भावोंको आत्मद्वारा संवरण करनेसे होता है।

६. इस प्रकार जीवनका संवरण करते हुए, रागद्वेष, काम, क्रोध, लोभ माया आदि उन अनात्म भावोंको निर्जीर्ण करने और उखाड़ फेंकनेकी जरूरत है, जो अनादि अभ्यास के कारण आत्मामें अड्डा घर कर गये हैं, जो आत्माका स्वभाव ही बन गये हैं। इन भावोंको नष्ट करनेके लिये, सदा इनके प्रति जागरूक रहनेकी जरूरत है, सदा इनके प्रति आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्तकी ज़रूरत है, सदा इनसे हटकर आत्मअभ्यासी आत्मध्यानी होनेकी जरूरत है।

७. जब आत्मा बाहिरसे हट कर अपनेमें आ जाता है, तो वह अपनेको देखता हुआ सब कुछ देखता है, उसे कुछ देखना बाकी नहीं रहता, वह कृतकृत्य होजाता है। जब आत्मा परभावोंसे विमुक्त होजाता है तो वह तुष-विमुक्त चावलके समान विशुद्ध हो जाता है, वह अपनी ही सत्तामें स्थिर होजाता है। उसका फिर जन्म-मरण नहीं होता। वह अमर होजाता है, अक्षय सुखका स्वामी होजाता है, परमब्रह्म और परमात्मा होजाता है।

वह समदर्शी था—

इस प्रकारकी विचारणाके कारण, उसकी दृष्टि साम्यता से लबालब भरी थी। वह जब भी अपने आस पास यहां अन्य जीवोंको देखता, तो वह उन सबमें अपने ही समान जीवनका सार देखता, अपने ही समान उनमें चिन्मूर्त ब्रह्म का दर्शन करता।

उसे, जीवोंमें दीखनेवाले सब ही भेद विकल्प बहुरूपियेकी तरह बनाये हुये रूपोंके समान ओपरे और आर्जी महसूस होते। वे अग्निको ढकनेवाले भस्म के समान, मोती को मूँदनेवाले सीपके समान मिथ्या और निस्सार मालूम होते, वे सब शरीरसे उदय होनेवाले, शरीरमें रहनेवाले शरीरमें विलय होने वाले सूझ पड़ते। वे सब बहुरूपा, प्रकृतिके ही प्रपञ्च नज़र आते।

उसके लिये, इन भेदों-विकल्पोंमें स्वयं कोई भी जीवन न था वे सब औपाधिक चीजें थीं—जीवनकी पैदा की हुई, उसकी धारणाकी उपज, उसकी कामनाकी कला, उसकी जरूरतकी ईजाद, उसकी परिस्थितिकी सृष्टि।

उसके लिये, यह सारी विभिन्नता, जीवोंके वस्तुसारकी विभिन्नता न थी, उसकी अवस्थाकी विभिन्नता थी, उनकी शक्तिकी विभिन्नता न थी, उनकी अभिव्यक्तिकी विभिन्नता थी; उनके स्वभावकी विभिन्नता न थी, उनके विकारकी विभिन्नता थी; उनके प्रयोजनकी विभिन्नता न थी, उनके प्रयोग की विभिन्नता थी; उनके साध्यकी विभिन्नता न थी उनके साधनोंकी विभिन्नता थी; उनके मार्गकी विभिन्नता न थी, उनकी मञ्जिलोंकी विभिन्नता थी।

वह जब इस ओपरी विभिन्नताके घटाटोपके नीचे, इस बाहरी विषमताके जटिल प्रपञ्चके नीचे झांक कर देखता, तो उसे साक्षात् होता कि—"सबमें एक ही समान जीवन बह रहा है, सबमें एक ही समान भावना, एक ही समान वेदना, एक ही समान उद्वेगता काम कर रही है।"

"सब ही जीव अमृतके अभिलाषी हैं, सुखके मुतलाशी हैं, पूर्णताके इच्छुक हैं, ज्योतिके उत्सुक हैं, माधुर्यके प्यासे हैं, सुन्दरताके दीवाने हैं।"

"सब ही जीव मौतसे भयभीत हैं, दुःखसे कायर हैं, अपूर्णतासे व्याकुल है।"

"सब ही जीव मौतसे अमृतकी ओर, दुःखसे सुखकी ओर, बुरेसे अच्छेकी ओर, थोड़ेसे घनेकी ओर प्राप्तसे अप्राप्तकी ओर, अपूर्णसे पूर्णकी ओर बढ़नेमें लगे हैं।"

"यह सब कुछ होते हुए भी, यहां सब ही जीव अपनी भूलोंमें फंसे हैं, अज्ञानमें सने हैं, मोहसे ठगे हैं—सब ही अपने स्वरूपसे अपरिचित हैं, अपने अभीष्टसे अपरिचित हैं, अपने सिद्धिमार्गसे अपरिचित हैं। इसी कारण सब ही इष्ट ढूंढते भी अनिष्टको अपना रहे हैं, सिद्धि-पथ पर चलते भी असिद्धिकी ओर जा रहे हैं, आशासे लखाते भी निराशाओंसे टकरा रहे हैं, सुखको चाहते भी दुःखोंको पा रहे हैं। सब ही जीव दयाके पात्र हैं क्षमाके पात्र हैं।"

"यहां सबको अपने उत्थानके लिये दया, दान, प्रोत्साहन की जरूरत है; अपनी अभिवृद्धिके लिये सुझाव, सम्बोधन रहनुमाईकी जरूरत है; अपने विकासके लिये स्वतन्त्रता, सुभीता सहयोगकी जरूरत है। इस लिये इस लोकमे दया दान ही सबसे उत्तम धर्म है, परोपकार ही स्वोपकार है, जनसेवा ही ईश-उपासना है।"

वह सम-व्यवहारी था—

इस विचारणाके कारण जैसे उसकी दृष्टि साम्यतासे

भरी थी, वैसे ही उसकी चर्या भी साम्यतासे भरी थी। जैसे वह सब जीवोंको अपने समान देखता, वैसे ही वह सबके साथ अपने जैसा व्यवहार भी करता। वह साक्षात विश्वप्रेमकी मूर्ति था, उमड़ता हुआ दयाका सागर था।

वह जब भी बोलता, हित-मित वचन बोलता, मिसरी सी घोलता हुआ बोलता—स्पष्ट और गम्भीर—थोड़ा और सारपूर्ण, स्याद्वाद और समन्वयरूप, शंकाशूलोंको चुगता हुआ, दुःख-सन्तापको हरता हुआ, धैर्य-उत्साहको बढ़ाता हुआ, ज्योति-स्फुर्ति फैलाता हुआ, अन्धोंको आंखे निर्बलोंको बल देता हुआ।

वह जब भी चलता, बड़ा सावधान होकर चलता, आँखोंसे मार्गको शोधता हुआ चलता—दिनके समय—स्थिर गतिसे—हरितकाय भूमिको छोड़ता हुआ, नन्हीं नन्हीं सी जानोंको बचाता हुआ, सब हीकी बाधाओंको खोता हुआ। यदि कहीं मार्गमे उसे चलता हुआ कीड़ीनाल दीख पड़ता, दाना-दुनका चुगता हुआ पंछी झुण्ड नजर आता तो, इस भावसे कि कहीं उनको बाधा न हो, उस मार्गको छोड़ परेके परे अन्य मार्गसे चल देता।

वह जब भी बैठता या लेटता तो जमीन शोध कर ही बैठता और लेटता, स्थिरकायसे ही बैठता और लेटता, सबके लिये आने जानेका मार्ग छोड़ कर ही बैठता और लेटता। वह बीच बीचमें डावांडोल न होता, बारबार करवट न बदलता, इस ख़यालसे कि कहीं अनजानमें कोई सरकने वाला, कोई फुदकने वाला जानदार मसला न जाय।

वह जब भी कोई चीज़ उठाता या धरता, तो उसे झाड़ पोंछ कर ही उठाता और धरता। वह जब भी अपना मलमूत्र क्षेपण करता तो निर्जीव, प्रासुक स्थान देखकर ही क्षेपण करता। उसे हरदम खयाल रहता, कि कहीं कोई सूक्ष्म जीव नीचे दबकर न मर जाय।

वह जब भी बसतीमे आहार लेने जाता, तो मधुकर समान ही घूमता हुआ जाता, अतिथि समान अनायास ही जाता, बिना निमन्त्रण लिये हुये, बिना सूचना दिये हुये, आहारके समय पर बने-बनाये भोजनमेंसे कुछ लेनेके लिये, इस विचारसे कि कहीं उसके कारण गृहस्थियोंको स्वागत की चिन्ता न करनी पड़े, आहारकी तय्यारी न करनी पड़े।

वह जब दातारके घर भिक्षार्थी किसी फकीर याचक को खड़ा हुआ देखता, भोजनकी लालसा लिये हुये किसी कुत्ता बिल्लीको बैठा हुआ देखता, लोलुपी मक्खियोंको वहां भिनभिनाता हुआ देखता, तो यह सोच कर कि कहीं उस के कारण उन्हें आहार मिलनेमे बाधा न हो जाय, वह वहांसे खिसक आगेको हो लेता।

वह जो भी आहार लेता—छयालीस दोष टालकर ही लेता। मांस, मधु, मदिरा रहित-कन्दमूल, बीज, पुष्प, पत्र-रहित—त्रसजीवोंके विघातसे खाली—न्यायसे उपार्जित किया हुआ।

इस तरह वह प्रमाद छोड यत्नाचारसे रहता, वह न खुद मन, वचन, कायसे दूसरोंका कोई अहित करता, न दूसरों द्वारा कोई अहित कराता, न दूसरों द्वारा किये हुये अहितकी कोई अनुमोदना करता।

वह ब्रह्म-विहारी था—

वह जहाँ दूसरोंके प्रति समव्यवहारी था, वह अपने प्रति ब्रह्मविहारी था। यद्यपि बाहिरसे वह हाड मांसका बना दीखता, पर वह कभी भी हाड मांसका बनके न रहा। वह वास्तवमें ब्रह्म था और ब्रह्म होकर ही शरीरमें रहा।

वह सदा शरीरको अपना साधन मानता—अपने को उसका स्वामी जानता। वह प्रमाद छोड सदा सारथीकी तरह उसमें आरूढ रहता। वह कभी भी अपने शरीरको, उसके मन, वचन, कायके योगोंको, उसकी पञ्चेन्द्रियोंको, उनकी आदतके अनुसार रूढीक वृत्तियों और वासनाओंमें विचरने न देता—वह बुद्धिपूर्वक उनसे जो काम लेना चाहता उसीमें उन्हें प्रवृत्त होने देता।

वह सदा शरीरको अपनेसे पृथक् जानता, उसके भावो को अपनेसे पृथक् निहारता—पृथक् जैसा ही उनके साथ व्यवहार करता। जब भूख-प्यास, गर्मी, सर्दी चीसचबक, निद्रा-तन्द्रा, थकन-आलस्य, शरीरमें व्यापते, तो वह उन्हें भूक-प्यास-रूप ही जानता पर वह उन्हें अपने से भिन्न शरीरका व्यापार जानता। वह केवल उनका ज्ञाता द्रष्टा रहता, वह उनसे ज़रा भी एकमेक न होता—वह उनमें ममत्वबुद्धि धार ज़रा भी खेद खिन्न न होता।

जब काँटा कंकर चुभकर पैरमें दर्द करता, कूड़ा कर्कट पड़कर आंखोंमे पीड़ा करता, तो वह उन्हें दूर करनेका कोई भी उपाय न करता। जब कीड़ा-मकोड़ा चढ़कर शरीरमें

सरसराहट करता, मक्खी मच्छर काटकर देहमें दाह उत्पन्न करता, तो वह तनको खुजलाकर उसे शान्त करनेका कोई भी जतन न करता।

जब ध्यानस्थ निश्चल खड़े हुये शरीरपर पक्षी आ बैठते, सर्प शरीरपर चढ़ जाते, हिरण आकर शरीरसे खुजलाते, वह अपनी ठोंग और आघातोंसे शरीरमें चोट लगाते, तो वह ज़रा भी विचलित न होता, उस समय वह ऐसा मालूम होता, जैसा पाषाणका बना पुतला ही खड़ा हो।

जब धूल मिट्टी उड़कर देहपर पड़ती, तो वह उन्हें ज़रा भी न झाड़ता। वह रेचन, दमन, स्नान-मर्दन, दन्त-धावन द्वारा शरीरका कोई भी संस्कार न करता। वह उस धूल भरी देहमें रहता हुआ ऐसा सोहता, जैसे पङ्कमें धसा हुआ कमल ही हो—देह रजमें और आत्मा आकाश में।

जब गर्मीकी लू चलती, सर्दीकी तुषार पड़ती, वर्षाकी झड़ी लगती तो वह मोहीकी तरह देहको इधर उधर छुपाता न फिरता, वह देहको देह-तत्त्वोंके साथ ही अड़ा देता। सर्दीकी ऋतुमें वह बादलोंसे घिरा, तुषारसे ढका, झंझा वायुसे सटा ऐसा मालूम होता, जैसे हिमाचल ही खड़ा हो।

जब हफ्तों, पखवाड़ों, महीने, दो महीने, छह महीने तक उपवास करनेके कारण शरीर सूखकर बिल्कुल पतला पड़ जाता, खालमें नसोंका जाल चमकने लगता, भीतरमें हाड़से हाड़ बजने लगता, तो वह उठने बैठने, चलने फिरने में सहारेके वास्ते कभी लाठीका प्रयोग न करता।

जब इन लम्बे लम्बे उपवासोंके बाद वह आहार लेने नगरीमें जाता, और वहां उसे विधिपूर्वक निर्दोष आहार न मिलता, तो वह उससे ज़रा भी अधीर न होता, वह नगरीसे लौट फिर उसी तरह अपनी साधनामें लग जाता।

जब निद्राके प्राबल्यके कारण पलकें झपकने लगतीं आँखें मुंदने लगतीं, अंग टूटने लगते, तम सा छाने लगता, तो वह तमावरणको उघाड़ फौरन सचेत होजाता, उस समय वह ऐसा जान पड़ता, जैसे प्राचीके बादलोंसे उभरा हुआ बालारुण ही हो।

जब उसके सुडौल सुन्दर रूपको देख, जंगलके एकान्त का आश्रय पा, विषयासक्त नारियाँ उससे भोगकी वाञ्छा करती, अपनेको विफल मनोरथ जान खिजकर उसे अनेक पीड़ायें देती जब उसे नंगा धड़ंगा देख गावोंके अनजान आदमी चोर चोर कहकर पुकारते, जब उसे बावला जान बसतीके बच्चे उससे छेड़ छाड़ करते, उसपर ईंट-पत्थर बरसाते। छू छू करके उसके पीछे कुत्ते लगाते तो वह उन्हें अज्ञानी जान उनपर ज़रा भी कुपित न होता—वह अपनी धुनमें रमा वैसा ही विचरता रहता।

वह इसी प्रकार प्रकृतिकी शक्तियोंसे जूझता हुआ, अपने अन्तर देशका बराबर निरीक्षण और नियन्त्रण करता रहता। वह इस युद्धके बीच अपनेमें जब कभी अहंकार-लोभ ममकारकी छायाको देख पाता, राग द्वेषकी लीलाको देख पाता, क्रोध, मान माया, लोभकी तरङ्गोंको देख पाता, तो वह उन्हें अपने साम्राज्यका शत्रु जान फौरन उनका सामना करता, शत्रु समान उनकी बड़ी आलोचना करता, उन्हें ललकारकर कहता—

'क्या तुम अब भी यहां मौजूद हो? तुमने अनन्त-कालसे हरे हरे बाग दिखा मुझे खूब पागल बनाया है, नई नई आशायें सुझा आत्मद्रोही बनाया है, मेरी सब कुछ सम्पत्ति छीन मुझे रंक और कंगाल बनाया है। तुम्हारी अब कुछ भी न चलेगी, मैं तुम्हें अब खूब पहिचानता हूँ, तुम मेरे नहीं मैं तुम्हारा नहीं, तुम सब प्रकृति की सन्तान हो– मेरे शत्रु, मेरे विघातक, मेरे राज्यमें विद्रोह फैलाने वाले, उत्पात मचाने वाले, मेरे साम्राज्यको भंग करने वाले–अब तुम मुझसे बच कर कहां जाओगे?"

यों कहते कहते वह गाढ प्रायश्चित्त अग्निमें उन्हें वहीं विदग्ध कर देता।

वह केवलज्ञानी था—

इस प्रकार बारह लम्बे सालों तक दुर्धर तपस्या करते हुये—दृष्टिमें साम्यता, बुद्धिमें समन्वय, आचारमें अहिंसा, भावमें सहनशीलता करते हुये—उसने प्रकृति और उसकी मायावी शक्तियोंको, इन शक्तियोंके रचे हुये व्यूह और षड्यन्त्रोंको आखिर विजय कर ही लिया।

एक दिन वैशाख सुदी दशमीको, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रमें, संध्याके समय, जब वह ऋजुकूला नदीके तट पर कायोत्सर्ग ध्यान लगाये खड़ा था—उसे सहसा अनुभव हो आया कि—

"वह तपे हुये सोनेके समान बिल्कुल विशुद्ध है, उस में अहंकार-ममकार, राग-द्वेष, मोह-मायाका लेशमात्र भी अवशेष नहीं है, वह निरावरण सूर्यकी तरह जाज्वल्यमान आत्मस्वरूपको निरख रहा है, वह सब ही सिद्धियोंसे भरपूर है, वह सर्वस्व और परिपूर्ण है।"

"उसमें हित अहित, इष्ट अनिष्ट सम्बन्धी जो बहुत सी कामनायें उठा करती थीं, उनमेंसे आज कोई भी नहीं है, वह कृतकृत्य है। उसमें सत्य असत्य, द्वैत अद्वैत सम्बन्धी जो बहुत सी कल्पनायें बना करती थीं, उनमें से आज कोई भी नहीं है, वह सम है। उसमें साध्य-साधक, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धी जो बहुत सी तर्कना उगा करती थीं, उनमेंसे आज कोई भी नहीं है, वह शम है।"

"वह ब्रह्म है न अब्रह्म, मूर्त है न अमूर्त, देव है न मनुष्य, श्रमण है न गृहस्थ, साधक है न साध्य, ज्ञायक है न ज्ञेय, मैं है न वह—वह ज्ञान ही ज्ञान है, केवल-ज्ञान है।"

"जो कुछ भी ज्ञातव्य, द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य है, वह सब ही कुछ है, जो कुछ भी भूत, भव्य, वर्तमान है, वह सब ही कुछ है, वह सब ही ब्रह्माण्डको आत्मामें समाये हुये है, सब ही लोक और अलोक, स्वर्ग और नरक, तारे और नक्षत्र, चाँद और सूरज, द्वीप और सागर दरया और पर्वत, राष्ट्र और जनपद, ग्राम और नगर उसमें ठहरे हुये हैं। सब ही दर्शन और विज्ञान, वेद और पुराण, आगम और सूत्र उसमें बैठे हुये हैं। सब ही गति और योनि, वर्ण और जाति, पन्थ और सम्प्रदाय उसमें भरे हुये हैं। सब ही देव और दैत्य, नर और तिर्यञ्च पशु और पक्षी, द्रुम और लता उसमें बसे हुये हैं, वह ओंकार परब्रह्म है—जीवन-मुक्त है।"

केवलज्ञानकी प्राप्तिके बाद वह तीस वर्ष तक उत्तरीय भारतके सब ही देशोंमें घूमा—किसी इच्छावश नहीं, किसी जिज्ञासावश नहीं, स्वभाववश—आत्मप्रदान अर्थ। जिसके पास जो कुछ होता है वह उसका दान करता ही है—फूल सुगन्धका, कोयल मीठे स्वरका, हिरण मुश्कका, रागी संगीतका, कवि काव्यका। उसके पास था अमृत रस लबालब भरा हुआ,—छलकता और बहता हुआ—वह उसीको हर तरफ देता हुआ जगा-जिवाता और उठाता हुआ चला। उसके पास था आनन्दरस, वह उसीको हर तरफ सरसाता हुआ चला, उमगाता हुआ चला। उसके पास था ज्ञान रस—वह उसीको हर तरफ छिटकाता हुआ चला, बरसाता हुआ चला। वह सब ही को अपने समान निष्काम और आप्तकाम, वशी और स्वतन्त्र, परब्रह्म और पुरुषोत्तम बनाता हुआ चला।

वह जहाँ भी जाता, विश्वका विश्व उसके साथ जाता। जो भी उसके सम्पर्कमें आता वह निर्भय, निर्मम, निर्दोष होजाता, सर्प और नेवल, कुत्ता और बिल्ली, सिंह और व्याघ्र जैसे क्रूर जन्तु अपने वैर-विरोधोंको भूल शान्त होजाते और एक दूसरेसे प्यार करने लगते।

एक दिन कार्तिक कृष्ण अमावस्याके प्रातःकाल जब वह पावामें ठहरा हुआ था—बहत्तर वर्षोंका बोझ उसके शरीर पर पड़ा था, उसकी शरीरकी सन्धियाँ कुछ ढीली पड़ी, उसे तनमें बान्धने वाली गांठे कुछ परे सरकी, फिर क्या था, मुद्दतका मुँदा हुआ स्रोत, बन्ध टूटे प्रवाहकी तरह सब ओर से बह निकला, वह शरीरमें ठहरा हुआ पाताल और अन्तरिक्ष, जमीन और आसमान, नीचे और ऊपर, दायें और बायें, सब ही लोकोंको व्याप्त कर गया, वह विराट् पुरुषाकार होगया। पुनः क्रमशः प्रतर, कपाट, दण्डवत् होता हुआ वह शरीराकार हुआ फिर दीपशिखाके समान सीधा उठता हुआ चला गया—सीधा वहीं, जहाँ सिद्धिको प्राप्त हवामें हवा, जोतमें जोत होकर सिद्धदेव रहते हैं- आँखोंसे दूर बुद्धिसे दूर, कालसे दूर।

वह विश्वविभूति है—

वह यद्यपि आजसे २६ वी शताब्दी पूर्वमें पैदा हुआ, पर वह २६ वीं शताब्दी पूर्वका ही न था, वह भारतमें पैदा हुआ, पर वह मानव कुलका ही न था—वह विश्वविभूति था, और विश्वविभूति बनके ही रहा—सब ही कालोंके लिये, सब ही लोकोंके लिये, सब ही जीवोंके लिये।

उसने अपने गाढ चिन्तवन, गाढ तपश्चरण द्वारा जिस समस्याको हल किया है, वह वैज्ञानिकों, समाजसुधारकों, राष्ट्रीय नेताओंकी समस्याओंके समान किसी एक युगकी समस्या न थी, एक देशकी समस्या न थी, एक जातिकी समस्या न थी। वह थी त्रिकालकी समस्या, विश्वकी समस्या, प्राणिमात्रकी समस्या। वह थी दुःख और सुखकी

समस्या, लोक और परलोककी समस्या, जीवन और मरण की समस्या।

इस समस्यापरसे उसने दुखमेंसे सुखको, अपूर्णतामें से पूर्णताको, बन्धनमें से मुक्तिको, मृत्युमेंसे अमृतको पाने का जो मार्ग ढूंढा था—जिसे अपने प्रयोगमें लाकर उसने खुद संसार सागरको उल्लंघा था—वह किसी विशेष देश, विशेष जाति, विशेष सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं है; वह आज सब ही की सम्पत्ति है, सब ही उसके अधिकारी हैं, सब ही उसपर चलकर इस पारसे उस पार जा सकते हैं, उस समान शुद्ध बुद्ध और निरंजन हो सकते हैं।

वह आदर्श है—

वह जब यहाँ आया तो स्वागत करने वाले बहुत, सेवा करने वाले बहुत; और जब यहाँ से गया तो स्मरण करने वाले बहुत, स्तवन करने वाले बहुत; पर उसने इनमें किसी पर भी लक्ष्य न दिया—वह आते जाते एक ही समान रहा। बसन्तकी तरह जब आया तो मुस्कराते हुये फूलोंको खिलाते हुये, दिलोंको हँसाते हुये; और जब गया तो फिर मुड़के भी न देखा कि क्या है—बिल्कुल निर्मोह, बिल्कुल निर्लेप, बिल्कुल एकाकी। यहाँ के बन्धन यहीं तोड़े, यहाँ के पदार्थ यहीं छोड़े, अपने साथ लिया तो केवल वह जो उसका अपना था—आत्माराम।

आज हम भले ही उसे वीर, महावीर, सन्मति, वर्धमान नामों से पुकारें; निर्ग्रन्थ, कायोत्सर्ग, ध्यानारूढ आदि रूपोंसे आराधें; तप, ज्ञान, धर्मप्रवर्तन आदि कामों से याद करें; परन्तु आज वह इन सब ही चीज़ोंसे परे है, आज वह सब ही तरह मुक्त है—स्वतन्त्र है और स्वराज्य-स्थित है, आज वह अपनी अपनी ही भावुकतामें मग्न है, अपनी ही सुन्दरतामें लीन है, अपनी ही ज्योतिसे व्याप्त है, अपनी ही सत्तामें ठहरा हुआ है। आज कोई नाम, कोई धाम, कोई काम, कोई आकार रूप ऐसा नहीं जो उसकी अपार सत्ता, व्यापकता और कृतकृत्यता को अपनेमें समा सके।

आज वह ऊँचाई और नीचाई की, धूप और छायाकी, परवा और पछवा की, उतार और चढ़ावकी दुनियासे बहुत दूर है—बहुत ऊपर है। आज वह भाल-तिलकके समान लोक-तिलक बना है, ध्रुव तारेकी तरह प्रदीप्त आदर्श बना है, सब ओर लखाता हुआ, सब ओर सुझाता हुआ—

"उठो, जागो, अपने को पहिचानो।"

परीक्षामुख सूत्र और उसका उद्गम

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

जैनसाहित्यकी अमर कृतियोंमें तत्वार्थसूत्र की तरह एक न्यायसूत्र भी है, जिसका नाम है 'परीक्षामुख'—परीक्षाका द्वार, अर्थात् वह कसौटी जिसके द्वारा खरे-खोटे, सच्चे-झूठे और असली-नकलीकी ठीक जाँच की जाती है, यथार्थताका पूरा पता लगाया जाता है और इस बात का सम्यक् निर्णय किया जाता है कि प्रमाणता, न्याय अथवा सत्य किधर है। यह अपूर्व ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है, छह परिच्छेदोंमें विभक्त है और इसकी सूत्रसंख्या सब मिलाकर २०७ है। सूत्र देखनेमें बड़े ही सरल, सरस तथा नपे-तुले हैं और विचारनेमें खूब गंभीर, तलस्पर्शी तथा अर्थगौरवको लिये हुए हैं। थोड़ेमें ही बहुतका बोध करा देना—झरोखेमें से विशाल नगरको दिखला देना—उनकी प्रकृति है और वे बड़ी सुगमताके साथ कण्ठस्थ किये जा सकते हैं। सूत्र सब गद्यमें हैं; परन्तु उनके आदि और अंत में एक एक पद्य भी है। आदिम पद्यमें ग्रन्थप्रतिज्ञा को देते हुए प्रतिपाद्य विषय, उसकी उपयोगिता, प्रमाणता, प्रतिपादनकी अल्पाक्षरमय-सूत्ररूपता और जिनको लक्ष्य करके प्रतिपादन किया जारहा है उनकी विशेषताका निर्देश बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया है, जिसे देखते ही ग्रन्थ-गौरवका अनुभव होने लगता

है। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए इस परीक्षामुखसूत्रको हेयोपादेय तत्त्वोंका आदर्श बतलाया है—वह दर्पण सूचित किया है जिसमें हेय और उपादेयकी कोटिमें समा जाने वाले सारे ही तत्त्व साफ साफ झलकते हैं, उनमें यह भ्रम नहीं हो पाता कि कौन तत्त्व हेय हैं और कौन उपादेय। साथ ही ग्रन्थकारने अपनी लघुताको ऐसी सुन्दरतासे व्यक्त किया है जिससे ग्रन्थकी गुरुता एवं महत्ता कम न होने पावे। आपने लिखा है कि—'हेयोपादेय तत्त्वोंके आदर्शरूप इस परीक्षामुखसूत्रको, मुझ जैसे बालकने—अकलंकादि महाज्ञानियोंके समक्ष अपनेको अत्यल्पज्ञानी अनुभव करने वालेने—,हेयोपादेय तत्त्वोंका सम्यक्ज्ञान करानेके लिये, परीक्षा-दक्षकी तरहसे रचा है। आदि-अन्तके ये दोनो सुन्दर पद्य निम्नप्रकार है—

"प्रमाणादर्थ-संसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः॥ १॥"
"परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम्॥ २॥"

यह अद्वितीय ग्रन्थ आचार्य माणिक्यनन्दीकी पुण्य कृति है, जिनका समय विक्रमकी ८ वी-६वी शताब्दी माना जाता है। और इसलिये आज इस ग्रन्थकी रचनाको हजार वर्षसे भी ऊपर होगये हैं और यह बराबर उसी तरह सुदृढ़, सुव्यवस्थित तथा आकर्षक बनी हुई है। इस ग्रंथपर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमे प्रधान स्थान आचार्य प्रभाचन्द्रके 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड' को प्राप्त है, जिसकी संख्या १२ हजार श्लोक जितनी है। इस टीकाको पिछले टीकाकार 'लघु' अनन्तवीर्य आचार्यने 'उदारचन्द्रिका' की उपमा दी है और अपनी टीका 'प्रमेय-रत्नमाला' को उसके सामने जुगनुके प्रकाशके समान बतलाया है*। इससे प्रमेयकमलमार्तण्डका महत्व और प्रमेय-कमल-मार्तण्ड परसे इस सूत्र ग्रंथका महत्व सहज ही में अवगत हो सकता है‡। इस ग्रंथके महत्वने बहुतों को अपनी ओर आकर्षित किया है और कितने ही विद्वानोंने इसके समकक्ष दूसरे सूत्रग्रंथ बनानेकी चेष्टा भी की है परन्तु वे उसमें उतने सफल नहीं हो सके—इस ग्रंथके शब्द-अर्थका बहुत कुछ अनुसरण एवं उद्धरण कर लेनेपर भी वे अपने सूत्रोंमें वह शब्द-सौष्ठव और अर्थगौरव तथा अक्षरोंका नपा-तुलापन नहीं ला सके हैं जो इस सूत्रग्रंथमें पाया जाता है और जो वास्तवमें एक सूत्रग्रन्थको शोभा देता है।

इस सूत्ररचनाके निपुण शिल्पकार आचार्य माणिक्यनन्दीके विषयमें, जिन्हें रत्ननन्दी भी कहते हैं, यद्यपि हमें अधिक कुछ भी मालूम नही हैं—उन की एकमात्र यह कृति ही उनकी कीर्तिको अमर बनाये हुए है और उनके अन्य सब परिचयको गौण किये हुए है; फिर भी उनकी इस रचनाके सम्बन्धमें लघु अनन्तवीर्य आचार्यके निम्न वाक्यपरसे इतना जरूर मालूम है कि वह श्रीअकलंकदेवके वचनसमुद्रको मथ कर निकाला हुआ 'न्यायामृत' है—

अकलंक-वचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्याय-विद्याऽमृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥२॥
—प्रमेयरत्नमाला

इस वाक्यपरसे जहाँ यह स्पष्ट है कि आचार्य माणिक्यनन्दी अकलंकदेवके बाद हुए हैं वहाँ यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने इस ग्रन्थके निर्माणमें समुद्र मथने जैसा भारी काम किया है। समुद्रका मथना और उसे मथकर अमृत निकालना कोई आसान काम नहीं होता—वह भारी परिश्रम और असाधारण बुद्धिमत्ता से सम्बन्ध रखता है। समुद्रको मथकर अमृत निकालनेमें इंद्रादिक महाशक्तिशाली देवताओंकी प्रसिद्धि है, उन्हीं जैसा दुर्द्धर्ष, दुःसाध्य और अभूतपूर्व कार्य माणिक्यनन्दीने अकलंकदेवके वचनसमुद्रको मथकर इस सूत्र ग्रन्थके निकालनेमें किया है और उनका निकाला हुआ यह न्यायसूत्र न्यायका अमृत है—अविनाशी सार है।

यहाँ अकलंकके वचनोंको समुद्रकी जो उपमा दी

* प्रभेन्दु-वचनोदारचन्द्रिका-प्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः॥

‡ प्रमेयकमलमार्तण्डमें आचार्य प्रभाचन्द्रने इस सूत्रग्रंथको गंभीर, निखिलार्थगोचर, प्रबोधप्रद और अद्वितीय बतलाया है—
गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।

गई है उसमें कुछ भी अत्युक्ति मालूम नहीं होती। निःसन्देह अकलंका वाङ्मय समुद्रकी तरह विस्तृत, गंभीर और दुर्गम ही नहीं किन्तु नाना अर्थोंसे समृद्ध भी है—उसमें न्याय-पदार्थ प्रचुर मात्रामें भरा हुआ है। अकलंकदेव न्यायशास्त्रके प्रतिष्ठापक-रूपमें एक बहुत बड़े महर्द्धिक आचार्य होगये हैं—'प्रमाणमकलंकस्य'* और 'अकलंकन्यायात्' जैसे वाक्योंद्वारा उनकी इस विषयमें खास प्रसिद्धि है। उनसे पहले कुछ आत्माभिमानदग्ध मूढ़मति विद्वानोंके द्वारा न्यायशास्त्र मलिन कर दिया गया था, जिसपर उन्हें बड़ा खेद हुआ और उन्होंने श्रमके चक्करमें पड़कर आकुलित एवं नष्ट होते हुए प्राणियोंपर दयाभाव लाकर उस मलिनताको दूर करनेके लिये भारी प्रयास किया है—न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, आदि असाधारण महत्वके ग्रन्थोंका प्रणयन किया है और अष्टशती तथा राजवार्तिक जैसे उच्चकोटिके भाष्यग्रन्थ भी लिखे हैं। अपने इस प्रयासका उन्होंने कुछ ग्रंथोंमें उल्लेख भी किया है, जिसका एक नमूना न्यायविनिश्चय ग्रन्थका निम्न पद्य है—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥२॥

अकलंकका वाङ्मय कितना गहन-गंभीर, गूढार्थक तथा अव्युत्पन्न विद्वानोंके लिये दुर्गम-दुर्बोध है‡ और उसके कतिपय न्याय विषयोंका जो सार इस सूत्र ग्रंथमें अनुग्रह बुद्धिसे खींचा गया है वह उन विद्वानों को अकलंकके अर्थका हस्तामलकवत बोध करानेके लिये कितना अधिक दक्ष है—पर्याप्त है, यह बात प्रभाचन्द्र आचार्यके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे भी भले प्रकार जानी जाती है—

"श्रीमदकलंकार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानाऽनुग्रहेच्छा - प्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह।"

—प्रमेयकमलमार्तण्ड

इससे आचार्य माणिक्यनन्दी और उनके इस परीक्षामुखसूत्रका महत्व भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है और इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि इस सूत्रग्रंथका अकलंकके वाङ्मयपरसे उद्धार हुआ है और यह अकलंकके न्याय-विषयक कुछ प्रकरणोंका उत्तम सार है। अस्तु।

बहुत दिनोंसे मेरी इच्छा यह मालूम करनेकी थी कि अकलंकदेवके किन किन वाक्योंपरसे इस सूत्र-ग्रन्थका उद्धार हुआ है; परन्तु अकलंकके सब ग्रन्थ सामने न होनेसे वह इच्छा पूरी नहीं हो रही थी। कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका तो पहले कुछ पता भी नहीं था—केवल अष्टशती, राजवार्तिक और लघीयस्त्रय जैसे ग्रन्थ ही सामने आरहे थे। बृहत्त्रयका नाम ही सुना जाता था, जिसके तीन महान् ग्रन्थोंमें से अभी न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहकी ही खोज होकर उनका उद्धार हो पाया है शेष सिद्धिविनिश्चय की टीका तो मिल गई है परन्तु उसपरसे मूलग्रन्थका पूरा उद्धार नहीं होता। यह मूलग्रन्थ और भी अधिक

*प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमकण्टकम्॥ (धनंजयनाममाला)

‡इस विषयका अच्छा अनुभव अकलंकके 'सिद्धिविनिश्चय' जैसे ग्रंथोंके समर्थ टीकाकार आचार्य अनन्तवीर्य (महान्) के निम्नवाक्यसे हो जाता है, जिसमें वे अपनेको अनन्तवीर्य होते हुए भी, अकलंकदेवके पदोंको पूर्णतया व्यक्त करनेमें असमर्थ बतलाते हैं—

देवस्याऽनन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि॥

और आचार्य अनन्तवीर्य अकलंक-ग्रन्थोंके कितने समर्थ टीकाकार थे यह बात न्यायविनिश्चयके टीकाकार वादिराजसूरि के निम्नवाक्यसे भले प्रकार जानी जाती है जिसमें वे उक्त अनन्तवीर्यकी टीकावाणीके विषयमें लिखते हैं कि वह अकलंक-वाङ्मयकी अगाधभूमिमें संनिहित गूढ अर्थको पद पदपर व्यक्त करने वाली समर्थ दीपशिखा है—

गूढमर्थमकलंक-वाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम्।
व्यंजयत्यमलमनंतवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे॥
—न्यायविनिश्चय टीका

महत्वका सुना जाता है। हालमें मेरी योजना वीरसेवा-मन्दिरमें होजानेसे जब मैंने अपनी उक्त इच्छाको मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी–सम्पादक 'अनेकान्त' पर व्यक्त किया तब उन्होंने उसे बहुत पसन्द किया और प्रेरणा की कि ऐसा तुलनात्मक लेख जरूर लिखा जाना चाहिये और यदि वह इसी किरणमें जासके तो बहुत अच्छा हो। तदनुसार ही अकलंकका जो कुछ साहित्य मुझे अभी तक उपलब्ध हुआ है उस परसे परीक्षामुख के सूत्रोंकी तुलना करके मैं उन सूत्रोंके उद्गम स्थान को जितना मालूम कर पाया हूँ उसको अनेकान्तके पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे प्रकट करता हूँ। शेषकी तुलनाका प्रयत्न उस समय किया जायगा जब सिद्धिविनिश्चय जैसे ग्रंथ भी अपने पूर्णरूपमें सामने आजायेंगे। तुलनामें परीक्षामुखके सूत्रोंको ऊपर रक्खा गया है और अकलंकके जिन वाक्योंका आधार लेकर वे बने जान पड़ते हैं उन्हें नीचे दूसरे टाइपमें दे दिया गया है।

प्रथम परिच्छेद

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥ १ ॥

१ प्रमाणमविसंवादिज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। —अष्टशती कारिका ३६

२ प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीत-निर्णायकत्वात् (अष्ट श० का० १०१)

३ व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ —लघीयस्त्रय कारिका ६०

४ ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः (लघी० का० ५२)

५ लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयात्। (अष्टश० का० १०१)

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥ २ ॥

१ हिताहिताप्तिनिर्मुक्तिक्षमम् (न्यायविनिश्चय का० ४)

२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं। (लघी० विवृ० का० ६१)

३ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि एव प्रमाणे —प्रमाणसंग्रहविवृति का० २

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥३॥

१ सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके —लघी० वि० का० ६

२ समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्। (अष्ट श० का० ६)

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

१ अनिश्चितनिश्चयात्। (अष्ट श० का० १०१)

२ अनिर्णीतनिर्णायकत्वात्। (अष्ट श० का० १०१)

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

१ प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये। —न्याय वि० का० ४७१

२ कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः कृतस्य करणायोगात्। —लघी० वि० का० २२

३ गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात्। (अष्टश० १४)

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

१ स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्। —लघी० वि० का ६०

२ स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम्। (लघी० २३)

३ यदि च विज्ञानं स्वात्मानं न विजानीयादुत्तरकालमनधिगतस्वात्मविज्ञानः कथं ब्रूयात्? ज्ञोऽहमिति। —राजवा० पृ० ३६

४ अध्यक्षमात्मविज्ञानमपरत्रानुमानिकम्।
अन्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥ (न्या०वि० १३)

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छँस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ १६ ॥

असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत्।
सिद्धे तत्किमतोज्ञेयं सैव (धीः) किन्नानुपाधिका ॥ —न्या० वि० का० १८

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

अनवस्थेति चेन्न दृष्टत्वात्प्रदीपवत्।... दृष्टो हि प्रदीपो घटादीनां प्रकाशकः स्वस्य च। (राजवार्तिक पृ० ३५)

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

१ प्रमाणमर्थसंवादात्। (प्र० सं० का० १०)

२ प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि। (लघी० का० ४१)

३ यथयैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथामतम्। (लघी० का० २२)

४ तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादिकं प्रमाणं यथा, तत्संख्यादौ विसंवादिकत्वादप्रमाणं, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात्। (लघी० वि० का० २२)

द्वितीय परिच्छेद

तद्द्वेधा ॥ १ ॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

१ तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैव ...। (लघी० का० ६१)

२ तत्समञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे।

—लघी० वि० का० २१

३ द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः।

—प्रमा० स० वि० का० २

विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

१ प्रत्यक्ष विशदं ज्ञानं ... ...। (लघी० का० ३)

२ प्रत्यक्षं विशदज्ञानं ... ...। (प्रमा० सं० का० २)

३ ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्।

—लघी० वि० का० ३

४ प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।

—न्या० वि० का० ३

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः ...। (लघी० का० ४)

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥

१ तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

—लघी० वि० का० ४

२ यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते।

—न्या० वि० का० ४

३ तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात्। (लघी० वि० का० ५२)

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥ ६ ॥

१ नहि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात्।

—लघी० वि० का० ५२

२ नार्थः कारणं विज्ञानस्य। (लघी० वि० का० ५८)

३ अर्थस्य तदकारणत्वात्। (लघी० वि० का० ५२)

४ आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत्।

—लघी० वि० का० ५५

५ नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकम्, तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात्। (लघी० वि० का० ५६)

६ तमोवत्। (लघी० वि० का० ५६)

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च ॥ ७ ॥

१ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीष्यताम् ? ॥

—लघी० का० ५४

२ तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं मुमूर्षोर्वा यथास्वमसत्यर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम्। (लघी० वि० का० ५७)

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥ ८ ॥

१ न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥

—लघी० का० ५८

२ प्रदीपस्येव घटादिः। (लघी० वि० का० ५२)

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थव्यवस्थापयति (प्रत्यक्षमिति शेषः) ॥९॥

१ प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात्।

लघी० वि० का० ५६

२ यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः। (लघी० वि० का० ५७)

३ मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥ (लघी० का० ५७)

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

१ उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत्।

—लघी० वि० का० ५३

२ अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥

—लघी० का० ५३

३ यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु।

—लघी० वि० का० ५३

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥ ११ ॥

१ लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम्।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥

—न्या० वि० का० १६८ ½, प्रमा० सं० का० ६

२ परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम्।

—प्रमा० सं० का० ८

३ सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासं, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात्। —प्रमा० सं० वि० का० ८

४ मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् । (लघी० वि० का० ४)

५ ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलोकनम् ॥
—न्या० वि० का० ४६५

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥१२॥

१ कथञ्चित्स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चतुरादयः ॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ? ।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥
—न्या० वि० का० ३६१, ३६२

तृतीय-परिच्छेद

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

इतरस्य परोक्षता । (लघी० वि० का० ३)

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥ २ ॥

१ परोक्षं शेषविज्ञानम् । (लघी० का० ३)

२ ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥
—लघी० का० १०

३ अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः । (लघी०वि०का०१०)

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥ ३ ॥

१ प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः ।
—प्रमा० सं० का० १०

२ स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत् । (लघी०वि०का०६)

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥४॥

१ संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य (संज्ञा प्रत्यवमर्शः) ।
—लघी० वि० का० १०

२ उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात्प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ।
—लघी० का० १६

३ प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥ (लघी० का० २०)

यथा स एवायं देवदत्तः ॥ ६ ॥ गोसदृशो गवयः ॥ ७ ॥ गोविलक्षणो महिषः ॥ ८ ॥ इदमस्माद्दूरम् ॥ ९ ॥ वृक्षोऽयमित्यादि ॥ १० ॥

१ गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् गवयोऽयमिति (ज्ञानं) यथा गवयदर्शिनः, (प्रमाणान्तरम्) प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् (तथा) वृक्षोऽयमिति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् । प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किंनाम प्रमाणं ? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ।
—लघी० वि० का० १६

२ इदमल्पं महद्दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥
—लघी० का० २१

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ११ ॥

१ सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।
—प्रमा० सं० का० १२

२ समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम् । (प्रमा० सं० वि० का० १२)

३ अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥
—लघी० का० ११

४ लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् । (लघी० वि० का० ११)

५ नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम । (लघी० वि० का० ११)

६ प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।
अन्यथानुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते ॥
—न्या० वि० का० ३२७

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥ १४ ॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । (न्या० वि० का० १७०)

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥ १५ ॥

१ लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ।
—लघी० का० १२

२ अन्यथानुपपत्तिमान् हेतुरेव । (न्या० वि० का० १७६)

३ साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम् ।
—न्या० वि० २६६, प्रमा० सं० का० २१

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १६ ॥

१ साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे । (प्रमा० सं० १६)

२ सहदृष्टैश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य संभवः ।
—न्या० वि० का० ३३०

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥ १७ ॥

युगपद्भाविनामजन्यजनकसहभावनियमः ।
—प्रमा सं० वि० का० ३०

तर्कात्तन्निर्णयः ॥ १६ ॥

१ सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥
सहदृष्टैश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य संभवः ।
इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥
—न्या० वि० का० ३२६, ३३०

२ साकल्येन व्याप्तिः परीक्षातः ।
—प्रमा० सं० वि० का० ३३

३ व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः ।
—लघी० का० ४६

४ परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठते ।
—अष्टश० का० ६

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ २० ॥

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् ।
—न्या० वि० का० १७२, प्रमा० सं० का० २०

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥ २१ ॥

अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्यः ।
— प्रमा० सं० वि० का० २०

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥ ३६ ॥

त्रिलक्षणमभिधाय यदि समर्थयते कथमिव सन्धामतिशेते ।
—अष्ट श० का० ७

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३७ ॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रएवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥ ४६ ॥

सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापिसाधनात् ।
न्या० वि० का० ३८१

दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥ ४७ ॥

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय दृष्टान्तः ॥४८॥

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥ ५० ॥

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः ।
स दृष्टान्तः ...... ॥ (न्या० वि० का० ३८०)

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥ ५७ ॥

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥ ५८ ॥

१ यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्क्यसंभवः ।
हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥
प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।
अन्तरेणैव सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥
—न्या० वि० का० ३३५, ३३६

२ नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी । (प्रमा०सं०वि०का०३०)

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥ ५६ ॥

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ।
—प्र। ० सं० का० २६

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥ ६० ॥

न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥ ६१ ॥

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥ ६४ ॥

१ नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति । (लघी० वि० का० १२)

२ अन्यथाऽसम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
—प्रमा० सं० का० २६

३ भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।
श्वः आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥
—लघी० का० १४

४ तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया नहि ।
नामरूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः ॥
—प्रमा० सं० का० ३८

५ तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया नहि ।
नामरूपादिहेतुत्वं नच तद्व्यभिचारिता ॥
तादात्म्यं तु कथञ्चित्स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।
—न्या० वि० का० ३३८, ३३

परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥ ६५ ॥

१ व्याप्यसिद्धिरविशेषेण व्यापकसाधनी । यथा अनित्यं कृतकत्वात् । (प्रमा० सं० वि० का० ३१)
२ (अविरुद्ध) स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेः। —प्रमा० सं० वि० का० २६

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥ ६६ ॥

(अविरुद्ध) स्वभावकार्योपलब्धिः- अभूदात्मा स्मरणात्। —प्रमा० सं० वि० का० २६

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ६७ ॥

१ (अविरुद्ध) स्वभावकारणोपलब्धिः–भविष्यति आत्मा सत्वात् । (प्रमा० स० वि० का० २६)
२ नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा। न चात्र विसंवादोऽस्ति । (लघी० वि० का० १२)

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ ६८ ॥

उद्गाद्भरणिः प्राक्तन एव ॥ ६६ ॥

उदेष्यति शकटं उद्गाद्भरणि: कृत्तिकोदयादिति । —प्रमा० सं० वि० का० २६

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥ ७० ॥

सहचरोपलब्धिः अस्त्यात्मस्पर्शादिविशेषात् । —प्रमा० सं० वि० का० २६

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥ ७१ ॥

सदृवृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः । —प्रमा० सं० का० ३०

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥ ७२ ॥

यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः – नाविचलितात्मा भावः परिणामात् । —प्रमा० सं० वि० का० ३०

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ७३ ॥

कार्यविरुद्धोपलब्धिः–न लक्षणविज्ञानं प्रमाणं विसंवादात। —प्रमा० सं० वि० का० ३०

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥ ७४ ॥

कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलं अभावैकान्त-ग्रहणात् । (प्रमा० सं० वि० का० ३०)

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापक-कार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥ ७८ ॥

तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः । (प्रमा० सं० ३०)

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥ ७६ ॥

स्वभावानुपलब्धिः–यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः । —प्रमा० सं० का० वि० ३०

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥ ८० ॥

१ व्यापकस्यानुपलब्धिः व्याप्यनिवर्त्तनी । न निरन्वय विनाशोभावस्य अत्यन्ताभावानुपलब्धे । —प्रमा० सं० वि० का० ३१
२ व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्ध्यसिद्धी विचारतः । सदसद्व्यवहाराय तत्वान्यत्वविवेकतः ॥ — प्रमा० सं० का० ३१

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥ ८१ ॥

कार्यानुपलब्धिः–अत्र (नास्ति क्षणक्षयैकान्त इत्यत्र) कार्याभावात । (प्रमा० सं० वि० का० ३०)

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥ ८२ ॥

कारणानुपलब्धिः–अत्रैव (नास्ति क्षणक्षयैकान्त इत्यत्रैव) कारणाभावात । (प्रमा० सं० वि० का० ३०)

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥ ८४ ॥

स्वभावसहचरानुपलब्धिः–नात्रात्मा रूपादिविशेषाभावात । —प्रमा० सं० वि० का० ३०

+ + + +

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥ ६६ ॥

१ आप्तवादः स एवायं यत्रार्थाः समवायिनः । प्रमाणमविसंवादात । (न्या० वि० का० ४६०)
२ आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति । (राजवा० पृ० ३६)
३ आप्तोक्तेः··· । (न्या० वि० का० २८)

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥ १०० ॥

१ वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये । स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात संकेतं हि प्रतीक्षते ॥ —न्या० वि० का० ४२६
२ तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्तते । न्या०वि० ४३२

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥ १०१ ॥

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु । (न्या०वि० २६)

चतुर्थ परिच्छेद

सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ १ ॥

१ द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् । (न्या० वि० ३)

२ तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः । (लघी० का० ७)

३ नभेदोऽभेदरूपत्वात् नाऽभेदोभेदरूपतः ।
सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ॥
—न्या० वि० का० १८५

४ सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि । (प्रमा० सं० वि० का० ७३)

५ समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।
—न्या० वि० का० ११८

६ चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्य-विशेषात्मविषयं ।
—प्रमा० सं० वि० का० ४

७ सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् ।
—प्रमा० स० वि० का० ८

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥

१ संसर्गो नास्ति विश्लेषात् विश्लेषोऽपि न केवलम् ।
संसर्गात् सर्वभावाना तथा संवित्तिसंभवात् ॥
—न्या० वि० का० १८६

२ परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणोऽर्थ ।
—प्रमा० स० वि० का० ६७

३ परिणामे क्रियास्थितेः । (न्या० वि० का० ३८५)

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

द्रव्यमेकान्वयात्मकं । (लघी० वि० का० ६७)

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥

१ सदृशपरिणामः सामान्यं (तिर्यक्) यमलकवत् ।
—प्रमा० सं० वि० का० ११

२ सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वादन्वयि (तिर्यक्-सामान्यं) (लघी० वि० का० ६७)

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु॥५॥

एकत्वं (ऊर्ध्वतासामान्यं) तदतत्परिणामित्वात् ।
—लघी० वि० का० ६७

विशेषश्च ॥ ६ ॥

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥

१ विशेषोऽन्यव्यपेक्षया । (न्या० वि० का० ११८)

२ पर्यायः (विशेषः) पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च । (लघी० वि० ६७)

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ८ ॥

१ पृथक्त्वं (पर्यायः) एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्य-विशेषाणाम् । (लघी० वि० का० ६७)

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥ ९ ॥

व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृश परिणामः ।
—लघी० वि० का० ६७

पंचम परिच्छेद

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ १ ॥

१ प्रमाणस्य फलं तत्त्व निर्णयादानहानधीः ।
निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥
—न्या० वि० का० ४७६

२ हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं (ज्ञानं) नाप्रमाणं भवितुमर्हति । (लघी० वि० का० १९)

३ तत्फलं हानादिबुद्धयः । (लघी० का० १३)

४ अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् · अर्थनिश्चये प्रीतिरूपजायते सा फलम् । उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा । (राजवा० पृ० ३६)

५ सिद्धप्रयोजनत्वात् केवलिनां सर्वत्रोपेक्षा ।
मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोह विच्छेदः ·· ·
परम्परया हानोपादानसंवित्तिः । (अष्टश: का० १०२)

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ २ ॥

१ प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वं च प्रत्येयम् । (लघी० वि० का० ६)

२ करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् । नानात्वं च परश्वादिवत् । (अष्टश० का० १०२)

षष्ठ परिच्छेद

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥ १ ॥

तदाभासस्ततोऽन्यथा । (लघी० का० २५)

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ॥ ६ ॥

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥ ८ ॥

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥ १० ॥

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

अक्षधीः स्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽऽभिनिबोधिकैः।
व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ (लघी० २५)

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः (साध्याभासः) ॥ १२ ॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः। (न्या० वि० १७२)

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः॥२१॥

विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः। (न्या० २९९)

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥२३॥

१ असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने।
अन्यथाऽसंभवाभावभेदात स बहुधा स्मृतः ॥
—न्या० वि० का० ३६५

२ असिद्धः सर्वथाऽत्यात। (प्रमा० सं० का० ४८)

३ असिद्धः चाक्षुषत्वादिः (प्रमा० सं० का० ४३)

सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २७ ॥

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

१ अज्ञातःसंशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः(प्रमा०सं०का०४९)

२ साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः, तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात्।
—प्रमा० सं० वि० का० ४४

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। २९।

१ साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः यथा नित्यः शब्दः सत्वात्। (प्रमा० सं० वि० का० ४०)

२ अन्यथानिश्चितं सत्वं विरुद्धमचलात्मनि।
—प्रमा० सं० का० ४०

३ स विरुद्धोऽन्यथाऽभावात्। (प्रमा० सं० का० ४८)

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।३०।

१ अनिश्चितविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः। (प्रमा०सं०का०४०)

२ व्यभिचारी विपक्षेऽपि। (प्रमा० सं० का० ४९)

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्॥३१॥

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञोवक्तृत्वात् ॥ ३३ ॥

१ इत्यनैकान्तिकभेदाः निश्चितसंदिग्धव्यभिचारिणोऽनेकप्रकाराः। (प्रमा० सं० वि० का० ४२)

२ सर्वज्ञ प्रतिषेधेतु संदिग्धाः वचनादयः।
—न्या० वि० का० ३४९

३ सर्वज्ञो न वक्तृत्वा। (प्रमा० स० वि० का० ४२)

सिद्धेप्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः॥३५॥

सिद्धेऽकिञ्चित्करोहेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया।
—प्रमा० सं० का० ४४

विरुद्धोऽकिञ्चित्करो ज्ञातः। (प्रमा० सं० का० ४९)

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः॥४०॥

तदाभासाः साध्यादिविकलादयः। (न्या० वि० का० ३८०)

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्॥६१॥

नान्तर्वहि र्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः। (लघी० वि० का० ७)

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥ ६२ ॥

न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न सम्भवति अपितु।
—लघी० वि० का० ७

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः। (लघी० का० ८)

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥ ७४ ॥

१ इष्टं तत्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः।
.... उपायो न्यास इष्यते। (न्या०वि०का०४७७)

२ नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।
—प्रमा० सं० का० ८६, लघी० का० ५२

निवेदन और आभार

अन्तमें विज्ञजनोंसे निवेदन है कि उपर्युक्त तुलनामें कहीं भूल जान पड़े तो वे उसे सूचित करने की कृपा करें।

इस लेखकी तैयारीमें मुझे श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार (अधिष्टात ।वीरसेवामंदिर) से जो साहाय्य एवं सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिये मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा।

अछूतकी प्रतिज्ञा

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

[१]

प्रगति-शील व्यवसाय तब शायद नहीं था! उसकी गति थी—बीमार व्यक्तिकी नाड़ीकी तरह क्षीण! पर, तब सुख अधिक था, चांचल्य कम! और सबसे बढ़कर जो बात थी, वह यह कि तब लोगोंको सन्तोष था, अधिककी 'लालसा' नहीं! दुनियाभरकी पूँजी मेरे ही घरमें हो, यह ज़िद नहीं थी! जिसके पास जितना था, वह उतनेमें ही खुश था!…

वह भी गाँवसे रँगे-वस्त्र लाती और बाज़ारमें बेचती! और जो लाभ होता वह उसे आनन्दित करता, क्योंकि उसका मन भी असन्तोषी न था! वह काली जरूर थी, बदशकल और भोड़ी भी थी ही! लेकिन हृदयकी सुन्दर थी, साफ़ थी; भोली थी!

पर, लोग उससे बचते थे! इसलिए नहीं कि वह ग़रीब थी, मैले कपड़े पहिने रहती थी, बल्कि इसलिए कि वह अछूत थी, नीच थी! उसे छूना, ऊँचता को बदनाम करना था, अतः पाप था!

नाम था उसका—जागरा! चित्तौड़के पास चाण्डालो ने एक गाँव बसा लिया था! उसीमें रहती थी—वह! पतिका नाम था—कुरंग! शरीरका काला तो वह था ही, पर मन भी उसका सफेद नहीं था! रात-दिन जीव-हत्या, पाप, छुरी, क़त्ल, खून—इन्हीं सबमें रहते-रहते वह जो इन्सानसे हैवान बन चुका था, अपने आपेको खोकर!

वह लाख निर्दयी था सही, फिर भी 'एकके लिए' उसके पास दया थी! दया जो सार्वधर्म है, उससे शून्य रह कैसे सकता है कोई ? और उसकी दया-पात्र थी—जागरा! जागरा को वह प्यार करता था, शायद अपने प्राणों के बराबर! उसको साथ लेकर 'खाना' खाना उसके प्यारकी एक ज़ाहिरा नज़ीर थी! जिसदिन खानेके वक्त जागरा न होती अकेले ही खाना पड़ता, उस दिन उसका पेट ही न भरता! रुचि जो न रहती खानेकी ओर! हो सकता है, अटूट-दाम्पत्तिक-प्रेम छिपा हो, इसमें!

हाँ, तो उस दिन जागरा आई—चित्तौड़गढ़, वस्त्र बेचने, रोजकी तरह! पर, ग़रीबकी चीज़? मुश्किल ही से तो बिकती है! उसके भाग्यमें जो तिरस्कार, परेशानी और चिन्ता लिखी रहती है! सिरपर पोटली रखे, वह घूमती-फिरती रही—ख़रीदारकी तलाशमें! दसियों दुकानदारोंने वस्त्र खुलवाए, देखे और फिर या तो—'पसन्द नहीं आए'—कहकर या 'दाम ज्यादह माँगती हो!'—का लॉछन लगाकर नकारात्मक सिर हिला दिया!

तीसरा प्रहर भी सरकने लगा—धीरे-धीरे, रात की तरफ़! जागरा कुछ चिन्तित-सी होने लगी!

आगे बढ़ी!—

सामने सौम्य-प्रकृति धनकुबेरसागरकी दुकान थी! ··पोटली उतारी गई, वस्त्र खोले गए! और सौभाग्य, कि वे पसन्द आगए! दामोंमें भी सौदा पट गया!

जागराको भूख सता रही थी! आज मुँह-अँधेरे ही, थोड़ा-सा खाना जो उसने खाया है! फिर कुछ खाया-पिया नहीं! सुबह भी अगर भर-पेट खाया होता, तब भी एक बात थी! खा कहाँ पाई शहर आने की जल्दी में? और उस पर बोझ रक्खे घूमना दिन-भर! बोझ अकेला पोटलीका होता, तबभी ग़नीमत थी, बेचनेकी चिन्ता जो सिरपर सवार थी,

पोटलीसे भी भारी !

मुँह सूख रहा था ! जीभ तालूसे सटी जारही थी ! उठते-बैठते चक्कर-से आ रहे थे ! बड़ी करुण हो रही थी वह !

सागरने कहा—मन दयासे भीगा हुआ था उन का—'घर न चली जाओ, खाना माँग लेना गुणपाल की माँसे ! कष्ट भाग रही हो, बेकार ! बहुत भूखी हो न, क्यों ?'

जागराने कृतज्ञतासे आँखें झुकाते हुए कहा—'हाँ, आपने ठीक हो पहिचाना ! गाँवसे सवेरे ही चली आई थी, और आज दिन भर घूमते होगया—सेठ जी ! माल बिक जाता तो कबको घर पहुँच गई होती ?'

[२]

भूख हो या प्यास ये तब जोर पकड़ती हैं, जब कि मनमें खानेके लिये तय कर लिया जाता है, कि, 'चलो अब खाएँ !' जागरा भूखको भूल रही थी उधरसे चित्त खींच रही थी, तब तसल्ली थी ! लेकिन अब, जब खाना मिलनेकी आशा जाग उठी है, भूख उसे दम नहीं लेने दे रही !

वस्त्र बिक चुके हैं, पर उन्हीं पैसोंसे अब कुछ खरीदना जो बाक़ी रहा है ! सोचने लगी—'सेठजीने कह दिया है, खाना तो मिल ही जायेगा ! इधर, दिन में ही अपने कामसे निपट लूँ तो ठीक रहेगा ! फिर रात होगी । अगर कुल सौदा न खरीद सकी, तो सुबह बाज़ार खुलने तक ठहरना पड़ेगा । जानेको दोपहर हो जायगा ! थोड़ी देर भूखे रहनेकी ही बात तो है ! जब दिन-भर होगया, तो घण्टे-भरमें क्या मरी थोड़े जाती हूँ ? निश्चिन्त होकर खानेमें स्वाद भी मिलेगा कुछ ! और तभी खाकर सो भी रहूँगी—वहीं ! फिर बाज़ार न आना पड़ेगा दुबारा ! थक भी बहुत गई हूँ आज !'

जागरा जब सेठजीके घर पहुँची, तब रात हो चुकी थी ! दिये जल चुके थे, अँधियारी बढ़ती चली आ रही थी !—

'बड़े आदमी हैं, बड़ा अच्छा खाना बनता होगा इनके यहाँ ! भूख भी आज ऐसी लग रही है कि हिसाब नहीं ! घीकी पूड़ियां, ··साग,·· मीठा,··· दही-बूरा···रबड़ी ··और न जाने क्या-क्या खानेको मिलेगा—आज !'—सोचती-विचारती जागरा रास्ता खत्म कर दरवाज़े तक आई !···

किवाड़ पकड़कर दीन और क्षुधातुर-स्वरमें बोली—'माँजी ! खाना मिल जाय ! सेठजीने कहा है—घरमें ले लेना ! बड़ी भूख लगी है, माँ ! प्राण निकले जारहे हैं ! सच कहती हूँ—सेठ-सा दयावान् मैंने नहीं देखा ! मुझे उदास देखा, कि कहने लगे—'भूखी मत रहो, घरमें खाना माँग लेना, जाओ !'

'खानेको अब ? इस वक्त ? रातमें··· ?'—धनमतीने अचरज-भरे स्वरमें पूछा—'रातमें नहीं खाया करते बेटी !'

जागरा सन्न रह गई !

वह हुआ, जिसकी कि ज़रा भी आशा नहीं थी ! उसकी धारणा थी—'पहुँची नहीं कि खाना मिला !'

कठोर-उपदेशने उसे, उसकी भूखको तिलमिला दिया—एकदम !

वह बोली—'भूख जो लग रही है अब, मर जो रही हूँ इस वक्त ! दिन मुझे अब आयेगा ही, इसे कौन जानता है माँ ?'

'ज़ोरकी भूख लग रही है, इसीसे ऐसा कह रही हो ! नहीं, रात-भर मे कोई भूखा मर थोड़ा सकता है ! और मर भी जाए, तो मरना तो है ही है न, एक बार ? चाहे आज मरलो, चाहे कल ! और यों रातका खाना छोड़नेमें पुण्य जो होगा—अतीव ! वह जो किसी सुखी-घरमें पैदा कर देगा ! जहाँ खाने को बढ़िया भोजन, पहिनने को सुन्दर कपड़े और ज़ेवर की कमी न होगी !'

'माँजी ! ये धर्मकी बातें तो तुम्हीं ऊँची जाति वालोंके लिए हैं, हम लोगोंमें तो इनकी चर्चा तक नहीं ! हम ठहरे महतर-लोग, नीच, भंगी···! तुम्हारा जूठन खाने वाले—तुम्हारेसे धरम-करम हममें कहाँ ?'

यही तो तुम लोगोंकी भूल है! देखो—ऊँच-नीच सब करनीके फल हैं! आत्मा किसीका ऊँचा-नीचा नहीं होता, सब बराबर, सब एक हैं! पर, बात यह है कि तुम्हारे नीच खयालने, नीच-कर्मने उसे नीच बना रक्खा है! चाहो तो तुम लोग भी ऊँच हो सकते हो, मुश्किल नहीं है!...

'कैसे...?'

भूखको भूलने लगी जागरा!

'अच्छे काम करो, हिंसा छोड़दो! रातको न खाकर, दिनमें ही खानेसे फारिग हो लिया करो! क्योंकि दिनका खाना आदमियत है, दयाकी मोटी पहिचान है! और धर्म-कथाओंको सुनो, उनपर विश्वास रक्खो, आचरण करो! व्रत-नियम करते-कराते रहो! अवश्य अगले-जन्ममें तुम लोग ऊँच बन जाओगे—ज़रा भी शक नहीं! और नीच-जाति में भी खुदको नीच कर्मोंमें, पापोंमें डुबोए रखोगे तो याद रक्खो, और भी बड़े नीच बनोगे! करनी ही तो ऊँचनीच बनाती है न?—नीचताका फल मिलेगा—नरक! जहाँके दुःखोंकी शुमार नहीं!'

धनमती देर तक समझाती रही सीधे-शब्दोंमें कल्याणकी बातें! स्वयं विदुषी थी—धर्म-शीला!

जागराकी आत्मामें कुछ ज्योति चमक उठी। बोली—'माँजी! बातें तो तुम्हारी बड़े ज्ञानकी हैं। पर, निभ जायँ उसका भला कर सकती हैं ये! यों, सुननेसे क्या होता है?'

'निभानेकी मनमें आनेपर, कठिन नहीं है आदमी के लिए—कुछ! क्या तुम रातका भोजन छोड़कर जी नहीं सकतीं? मैं तो कहती हूँ—रातका भोजन कितना बुरा है, यह जान लेनेपर कोई रातको खा ही नहीं सकता, चाहे प्राण चले जायँ!'—धनमतीने कहा!

वह बोली—'हां, है तो रातका खाना बहुत बुरा! मुझे तो अब सबसे बड़ा पाप यही मालूम देता है! ज़रूर इसीलिए हम नीच हैं, दुखी हैं कि हमारे यहाँ रातमें भोजन होता है!'

'रातका भोजन न तो धर्मसे ठीक पड़ता है, न वैद्यकसे! और न किसी हेतुसे! सिवा हानिके लाभकी कोई बात ही नहीं, इसमें! सैंकड़ों रोग, हत्याएँ इसीसे होती हैं! छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ोंकी बात छोड़ो, कभी-कभी बड़े पंचेन्द्रिय-जीवों तकको भी अपनी आहुति दे देनी पड़ती है! अनेकों बार रातमें खाकर लोग मौतके मुँहमें समा जाते हैं! यह एक बहुत बड़ा पाप है, बेटी!'

इन्हीं सुनी बातोंकी आलोचनामें डूबी जागरा बाहरके बरामदेमें एक ओर पड़ रही! पर, आंखोंमें नींद नहीं थी! पेटमें भूख, मनमें तर्क-वितर्क और नई नई विचार-धाराएँ - नींदकी प्रतिद्वन्दताके लिए मोर्चेबन्दी कर रही थीं!

देरतक रात्रि-भोजनकी भयानकतापर अपने छोटे, ऊपरी और हल्के दृष्टिकोणसे विचारती रही! सहसा भूखकी प्रबलताने उसकी चिन्तनाको डग-मगाना शुरू किया। वह सोचने लगी—'शायद सेठानी ने मुझे टाल बता दी, देनेसे इन्कार कैसे कर सकती थीं—सेठने जो कह दिया था! सोचा होगा—बहाना करदूं, कि रातमें न खाते हैं, न खिलाते! स्त्री जो स्वभावसे ही कंजूस होती हैं! खुद न खायें मना कौन करता है पापसे डरती हैं, जान प्यारी है तो? मुझे तो दे देती। मुझसे क्या रिश्तेदारी... क्या स्नेह? जो मुझे यों......!'

सोच ही रही थी कि गुणपाल आगया! न जानें कहाँ खेलता रहा था इस वक्त तक! बच्चा जो ठहरा भविष्य चिन्तासे मुक्त!

माँने पहले डॉट बताई—हल्की-सी, फिर पलंग पर सो रहनेको कहा! प्यारसे सिरपर हाथ फेरते हुए!

वह बोला—'माँ भूख लगी है?'

जागरा अवाक् रह गई—जब उसने सुना कि माँका ममतामयी-हृदय बच्चेका भूखा सो रहना बर्दाश्त कर रहा है, लेकिन रातमें खिलानेका पाप नहीं!

उसके मनकी शल्य—भीतरका सन्देह निकल गया! वह उठ बैठी! न जानें शरीरमें कैसी सिहरन-सी होने लगी थी, रोम-रोम तन उठा था!

बोली—'माँ! बच्चा है नासमझ! भूखा न सोने दो उसे! बड़े होनेपर धर्म-पालन कर लेगा!'

धनमती हँसी!

फिर समझाया—'बेटी! धर्म हमेशाकी वस्तु है! उसके लिए वक्त मुक़र्रिर नहीं करना चाहिए! क्या पता, गई साँस वापस लौटे, न लौटे? मौत, जिन्दगी की दुश्मन हैं, उम्रकी नहीं!'

जागराकी जीवन-धारा बदलने लगी! मनमें उजेला-सा आता मालूम देने लगा उसे!—अन्धेरा हटता जा रहा हो क्षण-क्षण!

और जब सुबह वह लौटी, तब सुस्वादु-पकवानो से केवल पेट ही नहीं भरा था, उसका! बल्कि एक पावन-प्रतिज्ञा भी उसके साथ थी! ···कि प्राण रहते रातमें खाना न खाएगी वह!

× × × ×

[३]

दूसरी रातको!···

'नहीं, मुझे भूख नहीं है, जरा भी नहीं! तुम खाओ! देखो न, कितना पेट भरा है?'

'मैं ··?—मैं अकेला खाऊँ, क्यों? कभी खाया है कि आज ही ··? चल,चल; आ बैठ इधर! नखरे नहीं किया करते—हाँ!'

'मैं न खाऊँगी!'—जागराने दृढ़तासे कहा, स्वर काँप रहा था—उसका!

'क्यों ··?'

'भूख जो नहीं है।'

'अच्छा तो एक कौर, बस एक—तुझे मेरी क़सम!' कुरंगने स्वभाविक-कर्कस-स्वरको यथा-साध्य नरम करते हुए कहा!

'एक दाना भी नहीं! जरा भी नहीं! देवता! तुम भी न खाया करो, रातमें! बड़ा पाप है, रातमें खानेका! देखो···!'

'देखलिया सब! कहाँसे लगा लाई भूत यह अपने सिर? एक रात रही बाजारमें कि बन आई—बनेनी! अपने कुलकी मर्याद तोड़ती है बे-शउर! पुरखों तकने रातक खानेमें कभी ऐब नहीं निकाला, तेरे लिये आज पाप हो उसमें!—क्यों? अरे, यह तो सब ऊँच जातमें चलता है, हम चाण्डालोंमें कभी नहीं चला—समझी?'—कुरंगने जैसे बड़ी समझदारीके साथ कहा! अलबत्ता स्वर ज़रा तीव्र हो आया था!

'ऊँच अपने कर्मोंसे ही तो बनते हैं। पाप करते रहोगे, तो कभी ऊँच नहीं बन सकोगे—मालिक! हमारे कर्मोंने हमें नीच बनाया है सही, पर आत्मा हमारी नीची नहीं है! हम भी ऊँच बन सकते हैं!'

कुरंग झल्लाया!

विरोधी विचारोंसे कोई खुश भी हुआ है आज तक?·······

उत्तर न दे सकनेसे क्रोध बढ़ आया था शायद उसे! साक्षात पिशाचका रूप रखकर बोला—ऊँच बनेगी, चुड़ैल!—क्यों? बोल खाती है, कि नहीं?'

जागरामें अभय आ चुका था, प्रण-पालनकी दृढ़ताने उसे साहस दे दिया था! गम्भीर होकर बोली—'नहीं!'

कुरंगके लम्बे-चौड़े शरीरको, मजबूत हाथोंको और उसकी राक्षसी-प्रवृत्तिको चैलेंज जो था यह! और वह भी उसके द्वारा जो उसकी दासी है, अबला है, उसकी कृपाकी मुहताज है! औरत—और मर्दकी बात न माने, कैसे बर्दाश्त कर सकता था, वह? आपे से बाहर होगया!

बोला—'नहीं ·? नहीं, खायेगी, बोल? तुझे ही न खिलाया तो खिलाया किसे? मुँह न दिखाऊँ अपना!·· हरामखोर · सुअरकी बच्ची··!'

आँखें लाल, मुँह भयानक, स्वर तीव्र और कठोर हो रहा था उसका! हाथमें रोटीका टुकड़ा ले, बढ़ा जागरा की ओर!····

पर, वह जो मुँह बन्द किए हुए थी! ग्रास

मुँहमें न जा सका ! दन्त-पंक्तिने जो उसकी सहायताका वचन दे रखा था !

कुरंगकी झुँझलाहट सीमा पार कर गई ! रोटी पटक, लगा बेदर्दीके साथ जागराको मारने-पीटने !

वह अ...ल !

सहती रही सारे प्रहार ! स्त्री जो ठहरी, पुरुषकी दासी !

चोटी पकड़कर, धक्के, मुक्के, घूँसे, चाँटे, देर तक यही होता रहा ! सहज हो कोई न हारा ! कुरंग अपनी जिद पर था, और जागरा अपने प्रण पर—जान देने तक पर तुली हुई !

कुरंग चाण्डाल था, लेकिन इस वक्त होरहा था—नारकी ! मुँह धारावाहिक-गालियाँ बरसा रहा था ! ...

'प्राण ही क्यों न ले लो—मालिक ! पर, रातमें न खाऊँगी—मैं ! प्रतिज्ञा ले चुकी हूँ, उसे छोड़ूँगी नहीं ! कभी नहीं, हरगिज़ नहीं !'

घी ठंडा था, पर आग और भी धधक उठी ! छुरी निकाल दुष्ट ने जागरा के पेट में घुसेड़ दी !!!

खून से ज़मीन नहा गई ! लाश तड़प कर ठन्डी होगई ! खूनी रो उठा—'हाय ! यह क्या हुआ ...?'

× × × ×

कुछ दिन बाद !—

धनमती ने एक कन्या प्रसूतकी ! नाम रक्खा गया—'नागश्री !' बड़ी सुन्दर, बड़ी मोहक बड़ी गुणवती !!

तपोधन ऋषि ने बतलाया—नागश्री पहले जन्म में 'जागरा' थी !

संकट का समय

घोर-संकटका समय है !
पुण्य पद-पद हारता है, पापको होती विजय है !
घोर-संकटका समय है !!

पनपता है नरक, दुनिया मानवोंकी आज फीकी !
हो नहीं पाती ज़रा-सी बात भी सोची किसीकी !!
मानसिक—अनुभूतियों पर, हो चुकी ऐसी प्रलय है !
घोर-संकटका समय है !

शोक ! अपनेपर नहीं बाकी रहा अधिकार अपना !
फिर किसे अपना कहें, दें फिर किसे हम प्यार अपना ??
आज अपनी आत्मासे ही नहीं मिलता अभय है !
घोर-संकटका समय है !

पतन, जीवन बन चुका उत्थानकी आशा तिरोहित !
अमिय का भूला, हलाहल पर हुआ है चित्त मोहित !!
है नहीं पोषण कहीं पर, घूमता सर्वत्र क्षय है !
घोर-संकटका समय है !

बे-खबर अपने अहितसे, होरहा है मूढ़-मानव !
कौन जानें, पायगा स्वातंत्र्यमय चैतन्यता कब ?
आज तो परतंत्रता का विश्व-भरमें अभ्युदय है !!
घोर-संकटका समय है !!

[श्री 'भगवत्' जैन]

सामायिक पाठः

(लेखकः—पं० पन्नालालोजैनः, 'वसन्तः' साहित्याचार्यः)

(इन्द्रवज्रा)

कालादनन्ताद्भ्रमता समन्ताद्-
दुःखातिभारं भवता भवेऽस्मिन् ।
सौभाग्यभागोदयतो मयैतत्
सामायिकं सौख्यकरं सुलब्धम् ॥१॥

सर्वज्ञ ! सर्वत्र विरोधशून्य !
चञ्चद्दयासागर ! हे जिनेन्द्र !
कायेन वाचा मनसा मया यत्
पापं कृतं दत्तजनातितापम् ॥ २ ॥

भूत्वा पुरस्ताद्भवतो विनीतः
सर्वं तदेतन्निगदामि नाथ !
कारुण्यबुद्ध्या भवितो भवांश्च
मिथ्या तदंहो विदधातु धाम ॥३॥

(युग्मम्)

क्रोधेन मानेन मदेन माया-
भावेन लोभेन मनोभवेन ।
मोहेन मात्सर्यकलापकेना-
ऽशर्मप्रदं कर्म कृतं सदा हा ! ॥ ४ ॥

(उपजातिः)

प्रमादमाद्यन्मनसा मयैते
द्वये केन्द्रियाद्या भविनो भ्रमन्तः ।
निपीडिता हन्त विराधिताश्च
संरोधिताः क्वापि निमीलिताश्च ॥ ५ ॥

बाल्ये मया बोधमुज्झितेन
कुज्ञानचेष्टानिरतेन नूनम् ।
अभक्ष्यसंभक्षणकादिक हा !
पापं विचित्रं रचितं न किम् किम् ॥६॥

तारुण्यभावे कमनीयकान्ता-
कण्ठाग्रहाश्लेषसमुद्भवेन ।
स्तोकेन मोदेन विलोभितेन
कृतान्यनर्थानि बहूनि हन्त ! ॥ ७ ॥

बाला युवानो विधवाश्च भार्या
जरच्छरीराः सरलाः पुमांसः ।
स्वार्थस्य सिद्धौ निरतेन नित्यं
प्रतारिता हन्त ! मया प्रमोहात् ॥८॥

कृष्यादिकार्येषु सदाभिरक्त-
आरम्भवाणिज्यसमूहसक्तः ।
विवेकवार्तानिचयेन मुक्त-
श्चकार पापं किमहं न चित्रम् ॥ ९ ॥

न्यायालये हन्त विनिर्णयार्थं
गतेन हा हन्त मया प्रमोहात् !
चित्रोक्तिचातुर्यचितेन चारु-
सत्यस्य कण्ठं निहतं सदैव ॥ १० ॥

व्यापाद्य लोकान् रहसि प्रसुप्तान्
लोभाभिभूतो दयया व्यतीतः ।
जीवस्य जीवोपमवित्तजातं
जहार हा ! हारिमुहारुरुल्यम् ॥ ११ ॥

लावण्यलीला विजितेन्द्रभार्या
भार्याः परेषां सहसा विलोक्य ।
वसन्तहेमन्तसुमर्तुमध्ये
कन्दर्पचेष्टाकुलितो बभूव ॥ १२ ॥

लोभानिलोत्कीलितधैर्यकील.
कार्पण्यपण्यस्य निकेतनाभः ।
सङ्गाभिषङ्गेऽभिनिविक्त चित्त -
श्चकार चित्राणि न चेष्टितानि ? ॥१३॥

पापेन पापं वचनीयरूपं
मया कृत यज्जनताप्रभो ! तत् ।
वाचा न वाच्यं मयका कथञ्चित्
समस्तवेदी तु भवान् विवेद ॥ १४ ॥

त्वयाज्जनाद्या विहिता अपापाः
संप्रापिताः सौख्यसुधासमूहम् ।

ममापि तत्पापचयः समस्तो
ध्वस्तः सदा स्याद्भवतः प्रसादात् ॥१५॥
ममास्ति दोषैकक्रांतः स्वभावो-
भवत्स्वभावस्तु तदापहारः ।
यद्यस्य कार्यं स करोतु तत्त-
न्न वार्यते कस्यचन स्वभावः ॥१६॥

(अनुष्टुप्)

पठन्श्लोकततिं ह्येतां कुर्यात्सामायिकोद्यतः ।
आद्य षट्कर्मणां मध्ये प्रतिक्रमणकर्मकम् ॥ १७ ॥

※ इति प्रतिक्रमणविधिः ※

(उपजातिः)

प्रमादतो ये बहवोऽपराधा
हिंसाभिमुख्या विहिता मयैते ।
ते त्वत्प्रसादाद्विफला भवन्तु
भवन्तु दुःखस्य यतो विनाशाः ॥१८॥
पापाभिलिप्तेन ह्रियोज्झितेन
दयाव्यतीतेन महाशठेन ।
हीनेन बुद्ध्या विहितानि यानि
कृत्यानि हा ! हन्त मया प्रमादात् ॥१९॥
संवेगवातज्वलितेन तापा -
नलेन तान्यद्य निहन्तु मीहे ।
निन्दामि गर्हे च विरूपरूप -
मात्मस्वभावं बहुशो विभो हे ! ॥२०॥

(युग्मम्)

सुदुर्लभं मर्त्यभवं पवित्रं
गोत्रं च धर्मं च महापवित्रम् ।
लब्ध्वापि हा ? मूढतमेन मान्य !
जीवा वराका निहता मयैते ॥२१॥
भूत्वेन्द्रियालम्पटमानसेना-
ऽज्ञेनेव नूनं निहताः समन्तात् ।
एकेन्द्रियाद्या भवतः प्रसादात् ,
क्षान्तो भवेदद्य स मेऽपराधः ॥ २२ ॥
आलोचनायां कुटिलाश्च दोषाः
कृता मया ये विपुलाश्च भीमाः ।
भवन्तु भो नाथ ! भवत्कृपाभि-
र्मृषा वृषाराधितपादपद्म ! ॥ २३ ॥

(आर्या)

एवं भूयो भूयोनिन्दित्वात्मानमुग्रकर्माढ्यम् ।
साधुः संविदधीत प्रत्याख्यानाभिधं कर्म ॥ २४ ॥

※ इति प्रत्याख्यानकर्म ※

(शालिनी)

जीवे जीवे सन्ति मे साम्यभावाः
सर्वे जीवाः सन्तु मे साम्ययुक्ताः ।
आर्तं रौद्रं ध्यानयुग्मं विहाय
कुर्वे सम्यग्भावनां साम्यरूपाम् । २५ ।
पृथ्वी तोयं वह्निवायू च वृक्षो-
युग्माद्याद्याः सन्ति ये जीवभेदाः ।
ते मे सर्वे शान्तियुक्ता भवन्तु
साम्यात्तुल्यं नास्ति रत्नं यदत्र ।२६।
दुःखे सौख्ये, बन्धुवर्गे रिपौ वा
स्वर्णे तार्णे वा गृहे प्रेतवासे ।
मृत्यूत्पत्त्योर्वा समन्ताजिनेन्द्रो !
मध्यस्थं मे मानसं साम्प्रतं स्यात् ।२७।
माता तातः पुत्रमित्राणि बन्धु-
र्भार्या श्यालः स्वामिनः सेवकाद्याः ।
सर्वे भिन्नाश्चिच्चमत्कारमात्रा-
दस्मद्रूपाच्चिच्चमत्कारशून्याः ।२८।
मोहध्वान्तध्वस्तसद्बोधचक्षुः
स्वात्माकारं न स्म पश्यामि जातु ।
अद्योद्भिन्नज्योतिरस्मि प्रजातः
स्वात्माकारं तेन पश्यामि सम्यक् ॥२९॥

(आर्या)

एवं साम्यसुधाभर तृप्त-स्वान्तः समन्तत साधुः ।
सामायिकं तृतीय कुर्यात्सत्कर्म सन्मान्यम् ॥ ३० ॥

※ इति सामायिकं कर्म ※

(शार्दूलविक्रीडितम्)

यद्गर्भस्य महोत्सवे सुरचयैराकाशसंपातितै-
र्नानावर्णधरैर्विचित्रमणिभिः संछादितं भूतलम् ।
शुम्भद्रूपधरैस्तदीयसुगुणै रेजे यथा लाञ्छितं
तं वन्दे वृषभं वृषाञ्चितपदं भक्त्या सदा सौख्यदम् ।३१।
प्रोत्तुङ्गे गिरिराजरम्य शिखिरे क्षीरोदधेराहृतै-
श्चन्द्रकलाकलापतुलितैरम्भोभिरानन्दिताः ।

जातं यं मुदिताः सुरा रतिधरा संस्तिवन्तः स्वयं
तं वन्दे ह्यजितेश्वरं जिनवरं सत्कीर्तिरमापतिम् ॥३२॥
नो नित्यं जगतीतले किमपि हा हा विद्यते कुत्रचित्
सर्वं कालकरालकण्ठकलितं सर्वत्र संदृश्यते ।
इत्थं भोगशरीरशून्यहृदयो यः काननेष्वातपत ।
तं वन्दे खलु शंभवं भवहरं सत्सौख्यसम्पत्करम् ॥३३॥
यस्य ज्ञानदिवाकरेण दलितं ध्वान्तं ततं सर्वतो
नो लेभे वसुधातले क्वचिदपि स्थानं भ्रमत्स्वन्ततम्।
लोकालोकपदार्थबोधनकरं सद्देशनातत्परं
तं वन्दे ह्यभिनन्दननं जनचयानन्दस्य संवर्धनम्॥३४॥
शुक्लध्यानकृपाणखण्डितरिपुः स्वाधीनतां प्राप्नुवन् ।
स्वच्छाकाशनिकाशचेतनगुणं चासाद्य यः स्वात्मनः ।
लेभेऽनन्तमनश्वरं सुखवरं स्वात्मोद्भवं स्वात्मनि ।
तं वन्दे सुमतिं सदाशुभमतिं कल्याणमालाश्रितम्॥३५॥
यत्कीर्त्या धवलीकृते धवलया लोके सलोको हरिः
पाथोधिं पयसां हरो हरगिरिं हंसश्च हंसीं तथा ।
शक्रः शक्रकरेणुकं मृगयते राहुश्च राहुद्विषं
तं वन्दे कमलापतिं शिवपतिं पद्मप्रभं सत्प्रभम् ॥३६॥
लोकानन्दपयोधिवर्धनपरो योऽपूर्वताराधिपो-
मिथ्याबोधनिशाविनाशनकरो यो वासराधीशिता ।
संसाराब्धिनिमग्नजन्तुतरणिर्यो ज्ञानवाराकर-
स्तंवन्दे भवपाशनाशनकरं श्रीमत्सुपार्श्वं प्रभुम् ॥३७॥
शास्त्र-क्षीरपयोधिमन्थनकरो यो ऽमन्थरो मन्दरः
सद्वृत्तादिसुरत्नपोषणपरो यो रोहणो भूधरः
यो लोकवृजपापतापहरणे साम्भाः सदम्भोधर-
स्तं वन्दे किल चन्द्रसन्निभरुचिं चन्द्रप्रभं भास्वरम्॥३८॥
सत्कारुण्यमहोदधिं गुणनिधिं सत्कीतिपाथोनिधिं
सद्बोधाहिमरश्मिलोकितजगत्काष्ठावधिं सद्विधिम् ।
पादाब्जानतदेवराजशिरसं सत्कीर्तिमन्तं प्रभुं
वन्देऽहं विपदन्तकारकमसुश्रीपुष्पदन्तं जिनम् ॥३९॥
यस्य ज्ञानदिवेन्द्रदिव्यविपुलालोकेऽखिलालोवने
नानाशैलशिखामणिःसुरमणःक्रीडाकदम्बोच्छ्रित ।
आक्रान्तत्रिजगत्तलोऽचलपतिर्मेरुः स कीटायते
वन्दे तं जिनशीतलं शुभतमं भव्यात्मनां सौख्यदम् ॥४०॥
येनामन्दकृपाभरेण नितरां पारं भवाब्धेः परं
तीव्रांहःपरिषन्निमग्नमनसः संप्रापिताः पूरुषाः ।
स त्वं भो करुणासुधाजलनिधे ! वात्सल्यपाथोनिधे !
हे श्रेयन् ! भववर्दमे निपतितं किं मां हहोपेक्षसे ।४१।
कामक्रीसुरूचारपङ्कनिचयप्रोद्दीप्तदावानलं
बुद्धिश्रीसत्कीर्तिकान्तिविलसत्सद्रत्नरत्नालयम् ।
लोकानन्दथुसागरोच्छ्रितिकरं राकानिशावल्लभं
वन्देऽहं वसुपूज्यजं जिनपतिं मोक्षार्गलोद्घाटकम्।४२।
क्षीराम्भोनिधिफेनपुञ्जविलसद्यत्कीर्तिसंघट्टतो-
राहुर्नीलगिरिः पयोदसहितं खं नीलनीरेभवं ।
भृङ्गा मत्तमतङ्गजाश्च जगतो लुप्ता बभूवुस्तरां
तं वन्दे विमलं मलोज्झिततमं श्रीतीर्थनाथाधिपम्।४३॥
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसुतपः क्षान्त्यादयो यद्गुणा—
अन्तं नो ह्युपयान्ति देवगुरुणा संवर्ण्यमानाश्चिरम् ।
श्रीमन्तं सुरराजपूजितपदं कल्याणमालास्पदं
वन्देऽनन्तजिनेश्वरं भयहरं तं कीर्तिसम्पद्धरम् ।४४।
यः सज्ज्ञानविभूषितः सुरचयाः पूजन्ति यं सन्ततं—
ध्वस्तो येन मनोभवो बुधजनो यस्मै सदा तिष्ठते ।
यस्मान्मोहपरम्परा विगलिता यस्यास्ति दासो जगद्-
यस्मिंल्लीनतमो विकल्पनिचयस्तं धर्मनाथं भजे ।४५।
चित्तक्षोभकरेण येन नितरां चक्रेण संतापिता
योद्धारः प्रतिपक्षिपक्षसहिता राज्यस्य काले सदा ।
ध्यानाह्वेन भयङ्करेण सुतरां चक्रेण कामादयो-
वीराश्चापि हताः समाधिसमये शान्तिः स शान्तिं क्रियात्।४६
यस्य क्षान्तिदयाभिधानयमुनाभागीरथीसंगमे
स्नात्वा यान्ति जनाः शरीरनिचयं त्यक्त्वा शिवं सुंदरम् ।
कुन्थ्वाद्या अपि जन्तवो निजकृपाभारेण संरक्षिता-
येनानन्दभृतं भजामि सततं तं कुन्थुनाथं जिनम् ।४७।
शुक्लध्यानकृपाणमत्र सुतरामादाय येन क्षितौ
मोहाद्या रिपवो हता वसुमिता लोकाहिता विग्रहे ।
प्राप्ता मुक्तिवधूर्वधूत्तमशिरोभूता च येन स्वयं
वन्देऽरं भगवन्त भुजमर्मातं तीर्थेश्वरं चेतसा ।४८।
यस्य ज्ञानमहोदधौ जगदिदं बुद्बुदनिभं भासते
यद्गाम्भीर्यगुणस्य हन्तः पुरतः सिन्धुः स तुच्छोऽभवत ।
यद्धैर्येण तिरस्कृतो रतिपतिर्जाने न कुत्रोद्गत-
स्तं वन्दे मुनिनाथमल्लिजिनपं श्रीतीर्थनाथाधिपम् ।४९
चञ्चच्चन्द्रमरीचिसन्निभरुचिर्विद्वन्मरालाश्रिता
यस्योद्बोधमहोर्मिमाल्यमिलिता सत्कीर्तिमन्दाकिनी ।

लोकातापहर्ति सदा क्षितितले लोपं नयन्ती बभौ
तं वन्दे मुनिराजपूजितपदं श्रीसुव्रत सुव्रतम् ।४०।
यद्वक्त्रप्रभया पराजिततमो राकाशशी प्रत्यहं
कार्श्यं याति शरीरभारभजितं कंजं च भास्वद्दलम्।
लज्जातापचयापहारमनसा मग्नं जले नियशः—
स्तं वन्दे नमिनाथमुन्नतमतिं श्रीतीर्थनाथेश्वरम् ।४१
कष्टं भो क्षणभंगुरं लघुतरं दुःखान्तमन्तात्मकं
राज्यं लब्धुमहो न हन्त! कुरुते मायां न कां कां जनः।
इत्थं येन विचारितं तु गरिपोरं ष्ट्वामहामायितां
बाल्ये चैव ह्रियो ज्य ज्यतभवान्नेमिं नमामो हितम्।४२।
येन ध्यानगुणतुना रिपुकृता सोढा विरक्तिर्वने
येन ध्यानहुताशने गतिपतिर्नीतः समिद्ध्पताम्।
यद्राग्या शुभया जितो मधुरिमा पीयूषपिण्डस्य तं
वन्दे स्वाङ्गविभाविभासितदिशा भास्वं हि पार्श्वं भजे।४३।
दृष्ट्वा येन भवस्य दुःखचरितं राज्यादिकं प्रोज्झितं
बाल्ये चैव पराजितो हरिसुतो येन क्षितौ तेजसा।
यं ध्यायन्ति मनीषिणः प्रतिदिनं मोक्षस्य संप्राप्तये
तं सिद्धार्थनरेन्द्रनन्दनमहं भक्त्या भजे सन्ततम् ।४४।

(आर्या)

इत्थं श्लोककलापं, निपठन् साधुः समाहितः सम्यक्।
विदधीत कर्म तुर्यं बुधजनवन्द्यं स्तुर्तितयानम् ।४५।

* इति स्तुतिकर्म *

(वसन्ततिलका)

हे वीर ! हे गुणनिधे ! त्रिशलातनूज !
मज्जन्तमत्र भववारिनिधौ दयालो !
दत्त्वावलम्बनमतः कुरु मां विदूरं
मुक्त्वा भवन्तमिहकं शरणं व्रजामि ।४६।
पापप्रचण्डवनवह्निशमं नदीष्णं
सन्तातकावलितृषापरिहारदक्षम्।
सन्मानसस्यपरिवृद्धिकरं समन्तात्
त्वं वीरवारिदमहं विनमामि सम्यक् ॥ ४६ ॥
आनन्दमन्दिरममन्दमनिन्द्यमाद्यं
वन्दारवृन्दपरिवन्द्यपदारविन्दम् ।
कुन्दातिसुन्दरयशो धिजितेन्दुबिम्बं
वन्दे मुदा जिनपतिं वरवीरनाथम् ॥ ४७ ॥
गन्धर्वगीतगुणगौरवशोभमानं
सद्बोधदिव्यमहसा महता सुयुक्तम्।
वन्दे जिनं जितभवं खलु वर्द्धमानं
संवर्धमानमहिमानमुदारमोदात् ॥ ४८ ॥
नीहारहार हरहास सहासकाश-
संकाशकीर्तिं मतिवीर मुदारबोधम्।
देवेन्द्रवृन्दपरिवन्दित पादपद्मं
वन्दे विभुं जिनपतिं त्रिशला तनूजम् ।४६।

(द्रुतविलम्बितम्)

इति विनम्य महामुनिसन्मतिं
जिनपतिं सरलाकृतिमन्तिमम् ।
सुविदधातु यतिर्वर वन्दना-
भिधमिदं यतिकर्म च पञ्चमम् ।६०।

* इति वन्दनाकर्म *

(रथोद्धता)

शुक्रशोणितसमूहसंभवं
श्लेष्ममूत्रमलपुञ्जसंचितम्।
नश्वरं विविधरोगसंगतं
कायमेव बहुदुःखदं सताम् ।६१।
कायबन्धनगृहे समन्ततो·
वेष्टितेकरखरक्कब्जैः ।
हन्त हन्त बहुदुःखसंचयं
याति जीव इह सन्ततं भ्रमन् ।६२।
पोषणे न वपुषः सुखं भवे-
च्छोषणे न नितरां भवेत्तु नत्।
तेन कायपरिहाणिरेव हि
श्रेयसे बुधजनाभिसंमता ।६३।
इन्द्र-काल-धननाथपाशिनां
दिक्षु यास्ति जिनमन्दिरावलिः।
तां नमामि वरभक्तिभावतः
पापपुञ्जपरिहारहेतवे ।६४।
आनते शिरसि पाणिकुड्मलं
संनिधाय विदधे शिरोनतिम्।
कायचित्तवचसां च शुद्धये
तां करोमि सकलक्रियाततिम् ।६५।

सन्ति ये भुवनमध्यसंगताः
कृत्रिमास्तदितरे जिनालयाः ।
तेषु याश्च जिननाथमूर्तय-
स्ता नमामि सकलाः कलाञ्चिताः ।६६।
यो विदेहभुवि विद्यते सदा
तीर्थनाथनिचयः सूपूजितः ।
ज्ञानसूर्यविदिताखिलावनि—
स्तं नमामि वसुकर्महानये ॥ ६७ ॥
यत्र यत्र खलु ये महर्षयः
सन्ति संयमधरायतीश्वराः ।
तान्नमामि हृदयेन सन्ततं
प्राप्तये सकल संयमावलेः ॥ ६८ ॥
नास्ति नास्तिभुवनत्रये कचित्
साम्यभावसदृशं सुखप्रदम् ।
साम्यमेव विनिहन्ति वैरितां
साम्यमेव विदधाति बन्धुताम् ॥ ६६ ॥

(बसन्ततिलका)

पापं विलुम्पति नृणां मुदमादधाति
वैरं निहन्ति सकलं विदधाति मैत्रीम् ।
दुष्टेन्द्रियाश्वविजयं वितनोति सम्यक्
किं किं न सौख्यनिचयं विदधाति साम्यम् ॥ ७० ॥

(शालिनी)

एवं षष्ठं कर्मकृत्वा सुभक्त्या
कायोत्सर्गं सौख्यदं साधुसंघैः ।
आत्मध्यानालीनचेतोविकल्पैः
संध्या संध्यां क्रियतां शान्तभावः ।७१।

* इति कायोत्सर्गकर्म *

पन्नालालकृतः सामायिक पाठः सुखप्रदः ।
भूयात्साधुमनोध्वान्त-ध्वंसने तिग्मदीधितिः ।७२।

बासी-फूल

[श्री 'भगवत्' जैन]

कल मेरी इस सुन्दरता पर, फूले नहीं समाते थे !
देख देख प्रमुदित होते थे, आदर से अपनाते थे !!
लेकिन आज वही निर्दय हो, निष्ठुरता दिखलाते हैं !
अपनाना तो दूर रहा, उलटा मुझको ठुकराते हैं !!

कल सहर्ष वे लालायित थे, अपने गले लगाने को ।
आज वही हैं बुरा कह रहे, छूने और छुआने को !!
अरे दैव ! कुछ ही घंटों मे, क्या परिवर्तन कर डाला !
तिरस्कार की चट्टानों पर, पटक दिया जीवन-प्याला !!

अगर यही दुख देना था तो, क्यों सन्मान दिलाया था ?
पद-रज क्यों रहने न दिया, क्यों मुझको फूल बनाया था ?
नहीं जानता क्या ? गिरने से मिलती है दारुण-पीड़ा !
फिर क्यों, मेरे स्वाभिमान के साथ कर रहा तू क्रीड़ा ?

रहने दे, मत छेड़, धूलमें मुझको अब छिप जाने दे !
दुनिया को उसके दुलारका सच्चा-रूप दिखाने दे !!

* वादिराजसूरि *

[लेखक—श्री पं० नाथूराम प्रेमी]

परिचय और कीर्तन

दिगम्बर सम्प्रदायमें जो बड़े बड़े तार्किक हुए हैं, वादिराजसूरि उन्हींमें से एक हैं। वे प्रमेय-कमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्रादिके कर्त्ता प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन हैं और उन्हींके समान भट्टाकलंकदेवके एक न्याय-ग्रन्थके टीकाकार भी।

तार्किक होकर भी वे उच्चकोटिके कवि थे और इस दृष्टिसे उनकी तुलना सोमदेवसूरिसे की जा सकती है जिनकी बुद्धिरूप गऊने जीवन-भर शुष्क तर्करूप घास खाकर काव्यदुग्धसे सहृदयजनोंको तृप्त किया था।

वादिराज द्रमिल या द्राविड़ संघके थे। इस संघमें भी एक नन्दिसंघ[1] था, जिसकी अरुंगल शाखाके ये आचार्य थे। अरुंगल किसी स्थान या ग्रामका नाम था, जहाँकी मुनिपरम्परा अरुंगलान्वय कहलाती थी।

षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि[2] उनकी उपाधियाँ थीं। एकीभावस्तोत्रके अन्तमें एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि सारे शाब्दिक (वैयाकरण) तार्किक और भव्यसहायक वादिराज से पीछे हैं, अर्थात् उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता[3]। एक शिलालेखमें कहा है कि सभामें वे अकलंक देव (जैन), धर्मकीर्ति (बौद्ध), बृहस्पति (चार्वाक), और गौतम (नैयायिक) के तुल्य हैं और इस तरह वे इन जुदा जुदा धर्म-गुरुओंके एकीभूतप्रतिनिधिसे जान पड़ते हैं।[4]

मल्लिषेण-प्रशस्ति[5] में उनकी और भी अधिक प्रशंसा की गई है और उन्हें महान वादी, विजेता और कवि प्रकट किया गया है।[6]

---

१ देखो 'यापनीय साहित्यकी खोज।' अनेकान्त वर्ष ३ पृ० ६७

२ 'षट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेवमल्लवादिगलु एनिसिद श्रीवादिराजदेवरूम्।'—मि० राईसद्वारासम्पादित नगर तालुकाके इन्स्क्रिप्शन्स नं० ३६।

३ वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः। वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः।—

—एकीभावस्तोत्र

४ सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्ति-
र्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः सङ्गतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥ इ० नं० ३६

५ यह प्रशस्ति श० सं० १०५० (वि० सं० ११८५) की उत्कीर्ण की हुई है।

६ त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह।
जिनराजत एतस्मादेकस्माद्वादिराजतः॥ ४०॥
आरूढाम्बरमिन्दुबिम्बरचितौत्सुक्यं सदा यद्यश-
श्छत्रं वाक्चमरीजराजिरुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
सेव्यः सिंहसमर्च्यपीठविभवः सर्वप्रवादिप्रजा-
दत्तोच्चैर्जयकारसारमहिमा श्रीवादिराजो विदाम्॥ ४१॥
यदीयगुणगोचरोऽयं वचनविलासप्रसरः कवीनाम्—
श्रीमच्चौलुक्यचक्रेश्वरजयकटके वाग्वधूजन्मभूमौ,
निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पटुरटो वादिराजस्य जिष्णोः।
जह्युद्वाददर्पो जहिहि गमकता गर्वभूमा जहाहि,
व्यवहारेर्ष्यो जहीहि स्फुट-मृदुमधुर-श्रव्यकाव्यावलेपः॥४२॥
पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं,
निर्गन्ता स्वर्गतोऽसौ न भवति धिषणो वज्रभृद्यस्य शिष्यः।
जीवेतां तावदेतौ निलयबलवशाद्वादिनः केऽत्र नान्ये,
गर्वं निर्मुच्य सर्वं जयिनमिन-सभे वादिराजं नमन्ति॥४३॥
वाग्देवीसुचिरप्रयोगसुदृढप्रेमाणमप्यादरा—
दादत्ते मम पार्श्वतोऽयमधुना श्रीवादिराजो मुनिः।
भो भो पश्यत पश्यतैष यमिनां किं धर्म इत्युच्चकै—
रब्रह्मण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्वृत्तयः पान्तु वः॥४४॥

वे श्रीपालदेवके प्रशिष्य, मतिसागरके शिष्य और रूपसिद्धि (शाकटायन व्याकरणकी टीका) के कर्ता दयापाल[७] मुनिके सतीर्थ या गुरुभाई थे। वादिराज यह एक तरहकी पदवी या विशेषण है जो अधिक प्रचलित होनेके कारण नाम ही बन गया जान पड़ता है, परन्तु वास्तव नाम कुछ और ही होगा, जिस तरह वादीभसिंह का असल नाम अजितसेन[८] था।

समकालीन राजा

चालुक्यनरेश जयसिंहदेवकी राजसभामें इनका बड़ा सम्मान था और ये प्रख्यातवादी गिने जाते थे। मल्लिषेण-प्रशस्तिके अनुसार जयसिंहद्वारा ये पूजित भी थे—'सिंहसमर्च्यपीठविभवः।'

जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के सोलंकी वंशके प्रसिद्ध महाराजा थे। पृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज, परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परमभट्टारक, जगदेकमल्ल[९] आदि उनकी उपाधियाँ थी। इनके राज्यकालके तीससे ऊपर शिलालेख दानपत्र आदि मिल चुके हैं जिनमें पहला लेख श० सं० ९३८ का है और श० सं० ९६४ का। अतएव कमसे कम ९३८ से ९६४ तक तो उनका राज्य-काल निर्विवाद है। उनके पश्चिमी द्वितीया श० सं० ९४५ के एक लेखमें उन्हें भोजरूपकमलके लिये चन्द्र, राजेन्द्रचोल (परकेसरीवर्मा) रूप हाथीके लिये सिंह, मालवेकी सम्मिलित सेनाको पराजित करने वाला और चेर-चोल राजाओंको दण्ड देने वाला लिखा है।

वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित सिंहचक्रेश्वर या चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंहदेवकी राजधानीमें ही निवास करते हुये श० सं० ९४७ की कार्तिक सुदी ३ को बनाया था। यह जयसिंहका ही राज्य-काल है। यह राजधानी लक्ष्मीका निवास थी और सरस्वतीदेवी (वाग्वधू) की जन्मभूमि थी।

यशोधरचरितके तीसरे सर्गके अन्तिम ८५ वें पद्य[१०] में और चौथे सर्गके उपान्त्य पद्य[११] में कविने चतुराईसे महाराजा जयसिंहका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि यशोधरचरितकी रचना भी जयसिंहके समयमें हुई है।

राजधानी

चालुक्य जयसिंहकी राजधानी कहाँ थी, इसका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लगा है। परन्तु पार्श्व-नाथ-चरित्रकी प्रशस्तिके छठे श्लोकसे ऐसा मालूम होता है कि वह 'कट्टगेरी' नामक स्थानमें होगी, जो इस समय मद्रास सदर्न मराठा रेल्वे की गदग-होटगी शाखापर एक साधारण सा गांव है और जो बदामीसे १२ मील उत्तर की ओर है। यह पुराना शहर है और इसके चारों ओर अब भी शहर-पनाहके चिह्न मौजूद हैं। उक्त श्लोकका पूर्वार्द्ध मुद्रित प्रतिसे इस प्रकार है:—

लक्ष्मी वासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ,
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य।

इसमें सिंहचक्रेश्वर अर्थात् जयसिंहदेवकी राजधानी (कटक) का वर्णन है जहां रहते हुये ग्रन्थ-कर्त्ताने पार्श्वनाथ चरितकी रचना की थी। इसमें राजधानीका नाम अवश्य होना चाहिये; परन्तु उक्त पाठसे उसका पता नहीं चलता। सिर्फ इतना मालूम होता है कि वहां लक्ष्मीका निवास था, और वह कट्टगानदीके तीरकी भूमिपर थी। हमारा अनुमान है कि शुद्धपाठ 'कट्टगेरीतिभूमौ' होगा, जो उत्तरभारतके अर्द्धदग्ध लेखकों की कृपासे 'कट्टगातीरभूमौ' बन गया है। उन्हें क्या पता कि 'कट्टगेरी' जैसा अड़बड़ नाम भी किसी राजधानीका हो सकता है?

जयसिंहके पुत्र सोमेश्वर या आहवमल्लने 'कल्याण' नामक नगरी बसाई और वहाँ अपनी राजधानी

---

७ हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः॥

८ सकलभुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्ध-
स्फुरितमुकुटचूडालीढपादारविन्दः।
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुंभप्रभेदी
गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥५७॥ —म० प्र०

९ वादिराज की पदवी 'जगदेकमल्ल-वादि' है। क्या आश्चर्य जो उसका अर्थ 'जगदेकमल्ल (जयसिंह) का वादि' ही हो।

१० व्यातन्वज्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम्।

११ रणमुखजयसिंहो राजलक्ष्मी बभार॥

स्थापित की। इसका उल्लेख विल्हणने अपने 'विक्रमांकदेवचरित' में किया है।[12] कल्याणका नाम इसके पहलेके किसी भी शिलालेख या ताम्रपत्रमें उपलब्ध नहीं हुआ है, अतएव इसके पहले चालुक्योंकी राजधानी 'कट्टगेरी' में ही रही होगी। इस स्थानमें चालुक्य विक्रमादित्य (द्वि०) का ई० स० १०६८ का कनड़ी शिलालेख भी मिला है जिससे उसका चालुक्य राज्यके अन्तर्गत होना स्पष्ट होता है। कट्टगा नामकी कोई नदी उस तरफ नहीं है।

मठाधीश

पार्श्वनाथचरितकी प्रशस्तिमें वादिराजसूरिने अपने दादागुरु श्रीपालदेवको 'सिंहपुरैकमुख्य' लिखा है और न्यायविनिश्चय-विवरणकी प्रशस्तिमें अपने आपको भी 'सिंहपुरेश्वर' लिखा है। इन दोनों शब्दोंका अर्थ यही मालूम होता है कि वे सिंहपुर नामक स्थानके स्वामी थे, अर्थात् सिंहपुर उन्हें जागीरमें मिला हुआ था और शायद वहीं पर उनका मठ था।

श्रवणबेल्गोलके ४६३ नम्बरके शिलालेखमें जो श० सं० १०४७ का उत्कीर्ण किया हुआ है—वादिराजकी ही शिष्यपरम्पराके श्रीपाल त्रैविद्यदेवको होय्सलनरेश विष्णुवर्द्धन पोय्सलदेवके द्वारा जिनमन्दिरोंके जीर्णोद्धार और ऋषियोंको आहार-दानके हेतु शल्य नामक गांवको दानस्वरूप देनेका वर्णन है और ४६५ नम्बर के शिलालेखमें—जो श० सं० ११२२ के के लगभग का उत्कीर्ण किया हुआ है-लिखा है कि षड्दर्शनके अध्येता श्रीपालदेवके स्वर्गवास होने पर उनके शिष्य वादिराज[13] (द्वितीय) ने 'परवादिमल्ल जिनालय' नामका मन्दिर निर्माण कराया और उसके पूजन तथा मुनियोंके आहार-दानके लिये कुछ भूमिका दान किया।

इन सब बातोंसे साफ समझमें आता है कि वादिराज की गुरु-शिष्य-परम्परा मठाधीशोंकी परम्परा थी, जिसमें दान लिया भी जाता था और दिया भी जाता था। वे स्वयं जैनमन्दिर बनवाते थे, उनका जीर्णोद्धार कराते थे और अन्य मुनियोंके आहार-दानकी भी व्यवस्था करते थे। उनका 'भव्यसहाय' विशेषण भी इसी दानरूप सहायताकी ओर संकेत करता है। इसके सिवाय वे राजाओंके दरबारमें उपस्थित होते थे और वहाँ वाद-विवाद करके वादियोंपर विजय प्राप्त करते थे।

देवसेनसूरिके दर्शनसारके अनुसार द्राविड़संघके मुनि कच्छ, खेत, वसति (मन्दिर) और वाणिज्य करके जीविका करते थे। और शीतल जलसे स्नान करते थे। मन्दिर बनाने की बात तो ऊपर आ चुकी है, रही खेत-बारी, सो जब जागीरी थी तब वह होती ही होगी और आनुषङ्गिकरूपसे वाणिज्य भी। इसलिये शायद दर्शनसारमें द्राविड़ संघको जैनभास कहा गया है।

कुष्ठरोगकी कथा

वादिराजसूरिके विषयमें एक चमत्कारकारिणी कथा प्रचलित है कि उन्हें कुष्ठरोग हो गया था। एक बार राजाके दरबारमें इसकी चर्चा हुई तो उनके एक अनन्य भक्तने अपने गुरुके अपवादके भयसे झूठ ही कह दिया कि "उन्हें कोई रोग नहीं है।" इसपर बहस छिड़ गई और आखिर राजाने कहा कि "मैं स्वयं इसकी जाँच करूँगा।" भक्त घबड़ाया हुआ गुरुजीके पास गया और बोला "मेरी लाज अब आपके ही हाथ है, मैं तो कह आया।" इसपर गुरुजीने दिलासा दी और कहा, "धर्मके प्रसादसे सब ठीक होगा, चिन्ता मत करो।" इसके बाद उन्होंने एकीभावस्तोत्रकी रचना की और उसके प्रभावसे उनका कुष्ठ दूर हो गया।

एकीभावकी चन्द्रकीर्ति भट्टारककृत संस्कृत टीकामें यह पूरी कथा तो नहीं दी है परन्तु चौथे श्लोककी टीका करते हुए लिखा है कि "मेरे अन्तःकरणमें जब आप प्रतिष्ठित हैं तब मेरा यह कुष्ठरोगाक्रान्त शरीर

---

१२ सर्ग २ श्लोक १।

१३ इस मुनिपरम्परामें वादिराज और श्रीपालदेव नामके कई आचार्य हो गये हैं। ये वादिराज दूसरे हैं। ये गंगनरेश राचमल्ल चतुर्थ या सत्यवाक्य के गुरु थे।

यदि सुवर्ण हो जाय तो क्या आश्चर्य है[१४]?" अर्थात् चन्द्रकीर्तिजी उक्त कथासे परिचित थे। परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं यह कथा बहुत पुरानी नहीं है और उन लोगों द्वारा गढ़ी गई है जो ऐसे चमत्कारोंसे ही आचार्यों और भट्टारकों की प्रतिष्ठाका माप किया करते थे। अमावसके दिन पूनोंके चन्द्रमाका उदय कर देना, चवालीस या अड़तालीस बेड़ियोंको तोड़कर कैदमें से बाहर निकल आना, साँपके काटे हुए पुत्रका जीवित हो जाना आदि, इस तरहकी और भी अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ पिछले भट्टारकों की गढ़ी हुई प्रचलित हैं जो असंभव और अप्राकृतिक तो हैं ही* जैनमुनियोंके चरित्रको और उनके वास्तविक महत्व को भी नीचे गिराती हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सच्चे मुनि अपने भक्तके भी मिथ्या भाषणका समर्थन नहीं करते और न अपने रोगको छुपानेकी ही कोशिश करते हैं।

यदि यह घटना सत्य होती तो मल्लिषेण-प्रशस्ति (श० सं० १०५०) तथा दूसरे शिलालेखोंमें जिनमें वादिराजसूरिकी बेहद प्रशंसा की गई है, इसका उल्लेख अवश्य होता। परन्तु जान पड़ता है तब तक इस कथाका आविर्भाव ही न हुआ था।

इसके सिवाय एकीभावके जिस चौथे पद्यका आश्रय लेकर यह कथा गढ़ी गई है उसमें ऐसी कोई बात ही नहीं है जिससे उक्त घटनाकी कल्पना की जाय। उसमें कहा है कि जब स्वर्गलोकसे माताके गर्भमें आनेके पहले ही आपने पृथ्वी मंडलको सुवर्ण-मय कर दिया था, तब ध्यानके द्वारा मेरे अन्तरमें प्रवेश करके यदि आप मेरे इस शरीरको सुवर्णमय कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह एक भक्त कविकी सुन्दर और अनूठी उत्प्रेक्षा है, जिसमें वह अपनेको कर्मोंकी मलिनतासे रहित सुवर्ण या उज्ज्वल बनाना चाहता है।। आगे ५, ६, ७ वे पद्योंमें भी इसी तरह के भाव हैं: जब आप मेरी चित्तशय्यापर विश्राम करेंगे, तो मेरे क्लेशोंको कैसे सहन करेंगे? आपकी स्याद्वाद-वापिकामें स्नान करने से मेरे दुःख-सन्ताप क्यों न दूर होंगे? जब आपके चरण रखनेसे तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं तब सर्वाङ्गरूपसे आपको स्पर्श करने वाला मेरा मन क्यों कल्याणभागी न होगा? आदि।

सम्राट हर्षवर्धनके समयके विषयमें भी जो महाकवि बाणके ससुर और सूर्यशतक नामक स्तोत्रके कर्त्ता हैं एक ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है। मम्मटकृत काव्यप्रकाशके टीकाकार जयरामने लिखा है कि मयूर[१५] कवि सौ श्लोकोंसे सूर्यका स्तवन करके कुष्ठ रोगसे मुक्त हो गया। सुधासागर नामके दूसरे टीका-कारने लिखा है कि मयूर कवि यह निश्चय करके कि या तो कुष्ठसे मुक्त हो जाऊँगा या प्राण ही छोड़ दूँगा हरिद्वार गया और गंगा-तटके एक बहुत ऊँचे झाड़की शाखापर सौ रस्सियों वाले छींकेमें बैठ गया और सूर्यदेवकी स्तुति करने लगा। एक एक पद्यको कहकर वह छींकेकी एक एक रस्सी काटता जाता था। इस तरह करते करते सूर्यदेव सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उसका शरीर उसी समय निरोग और सुन्दर कर दिया[१६]। काव्यप्रकाशके तीसरे टीकाकार जगन्नाथने

१४ हे जिन, मम स्वान्तगेहं ममान्तःकरणमन्दिरं त्वं प्रविष्टः सन् यत इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णी करोषि, तत्किं चित्रं तत्किमाश्चर्यं न किमपि आश्चर्यमित्यर्थः।

*विद्वान लेखकका यह दावा कहाँ तक ठीक है इस पर दूसरे विद्वानोंको योग शक्ति और मंत्रशक्तिके गहरे अनुसंधानको सामने रखकर गंभीरताके साथ विचार करना चाहिये। सापके डसे हुए तो आजकल भी मंत्रादिकके प्रभावसे अच्छे होते हुए देखे जाते हैं, इस में असंभवता अप्राकृतिकता कुछ भी नहीं है।

—सम्पादक

१५ "मयूरनामा कविः शतश्लोकेन आदित्यं स्तुत्वा कुष्ठाद्विस्तीर्णः इति प्रसिद्धिः।

१६ पुरा किल मयूरशर्मा कुष्ठी कविः क्लेशमसहिष्णुः सूर्यप्रसादेन कुष्ठान्निस्तरामि प्राणान्वा त्यजामि इति निश्चित्य हरिद्वारं गत्वा गंगातटे अत्युच्चशाखावलम्बी शतरज्जु-शिक्यं अधिरूढः सूर्यमस्तौषीत। अकरोच्चैकैकपद्यान्ते एकैकरज्जुविच्छेदं। एवं क्रियमाणे काव्यतुष्टो रविः सद्य एव निरोगां रमणीयां च तत्तनुं अकार्षीत। प्रसिद्धं तन्मयूर-

भी लगभग यही बात कही है[१७]। हमारा अनुमान है कि इसी सूर्यशतकस्तवनकी कथाके अनुकरणपर वादिराजसूरिके एकीभावस्तोत्रकी कथा गढ़ी गई है।

हिन्दुओंके देवता तो 'कर्तुं मकर्तुं मन्यथाकर्तुं समर्थ' होते हैं, इसलिये उनके विषयमें इस तरहकी कथायें कुछ अर्थ भी रखती हैं परन्तु जिन भगवान न तो स्तुतियों से प्रसन्न होते हैं और न उनमें यह सामर्थ्य है कि किसी के भयंकर रोग को बात की बात में दूर करदें। अतएव जैनधर्मके विश्वासोंके साथ कथाओंका कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता है।*

ग्रन्थ-रचना

वादिराजसूरिके अभी तक नीचे लिखे पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं —

१ **पार्श्वनाथचरित**—यह एक १२ सर्गका महाकाव्य है और माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। इसकी बहुत ही सुन्दर सरस और प्रौढ़ रचना है। 'पार्श्वनाथकाकुत्स्थचरित'[१८] नामसे भी

शतकं सूर्यशतकाख्यपर्यायमिति।"

१७श्रीमन्मयूरभट्टः पूर्व जन्मदुष्टहेतुकगलितकुष्ठजुष्टो" इत्यादि।

* यहाँ जो निष्कर्ष निकाला गया है वह जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे समुचित प्रतीत नहीं होता। इसके लिये मैं लेखक महोदयका ध्यान उस तत्वकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जो स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यमें संनिहित है—

सुहृत्त्वयि श्री-सुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवे हितम्॥
(स्वयंभूस्तोत्र)
—सम्पादक

१८ श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरी कथा॥१-५॥ यशोधरच०

पहले मैंने भूलसे 'श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं' पदसे पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थ चरित नामके दो ग्रन्थ समझ लिये थे। मेरी इस भूलको मेरे बादके लेखकोंने भी दुहराया है। परन्तु ये दो ग्रन्थ होते तो द्विवचनान्त पद होना चाहिए था, जो नहीं है। 'काकुत्स्थ' पार्श्वनाथके वंशका परिचायक है।

इसका उल्लेख किया गया है।

२ **यशोधरचरित**—यह एक चार सर्गका छोटा-सा खण्डकाव्य है, जिसमें सब मिलाकर २९६ पद्य हैं। इसे तंजोरके स्व० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्रीने बहुत समय पहले प्रकाशित किया था जो अब अनुपलभ्य है। इसकी रचना पार्श्वनाथचरितके बाद हुई थी। क्योंकि इसमें उन्होंने अपने को पार्श्वनाथचरितका कर्त्ता बतलाया है।

३ **एकीभावस्तोत्र**—यह एक छोटा-सा २५ पद्यों का अतिशय सुन्दर स्तोत्र है और 'एकीभावंगत इवमया' से प्रारम्भ होने के कारण एकीभाव नामसे प्रसिद्ध है।

४ **न्यायविनिश्चयविवरण**—यह भट्टाकलंकदेवके 'न्यायविनिश्चय' का भाष्य है और जैन न्यायके प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें इसकी गणना है। इसकी श्लोकसंख्या २०,००० है। अभी तक यह प्रकाशित नहीं हुआ है।

५ **प्रमाणनिर्णय**—प्रमाण शास्त्रका यह छोटा-सा स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नामके चार अध्याय हैं। माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है।

अध्यात्माष्टक—यह भी एक छोटा-सा आठ पद्यों का ग्रन्थ और माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसके कर्त्ता ये ही वादिराज हैं।

त्रैलोक्यदीपिका—इस नामका ग्रंथ भी वादिराजसूरिका होना चाहिए, जिसका संकेत ऊपर टिप्पणीमें उद्धृत किये हुए "त्रैलोक्यदीपिका वाणी" आदि पद्यमें मिलता है। स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीने अपने यहाँके ग्रन्थ-संग्रहकी प्रशस्तियोंका जो रजिस्टर बनवाया था उससे मालूम होता है कि उक्त संग्रहमें 'त्रैलोक्यदीपिका' नामका एक अपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें आदिके दस और अन्तके ४८ वें पत्रसे आगेके पत्र नहीं हैं। सम्भव है यह वादिराजसूरिकी ही रचना हो। इसे करणानुयोग का ग्रन्थ लिखा है।

पार्श्वनाथचरितकी प्रशस्ति

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः ।
प्रसिद्धभागी मुनिपुङ्गवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्तिनिवहिताहाः।
तस्मिन्नभूदुद्यतसंयमश्रीस्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।
सूरिःस्वयं सिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ।२।

तस्याभवद्भव्यसरोरुहाणां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः ।
निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः।३।

तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना निश्रेयसश्रीरतिलंलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथानिबद्धा जैनी स्वबुद्धे यमनिंद्यापि ।४।

शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्निबुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमति जैनी कथेयं मया
निष्पत्ति गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये।५।

लक्ष्मीवासे वसतिकटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यन्दसिन्धुप्रबंधो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकान्तपुण्यः ॥ ६ ॥

अन्यश्रीजिनदेवजन्मविभवव्यावर्णनाहारिणः
श्रोता यः प्रसरत्प्रमोदसुभगो व्याख्यानकारी च यः ।
सोऽयं मुक्तिवधूनिसर्गसुभगो जायेत किं चैकशः
सर्गान्तेऽप्युपयाति वाङ्मयलमल्लक्ष्मीपद श्रीपदम् ।७।

समाप्तमिदं पार्श्वनाथचरितम् ।

न्यायविनिश्चयविवरणकी प्रशस्ति

श्रीमन्न्यायविनिश्चयस्तनुभृतां चेतोदगुर्वीनलः ।
सन्मार्गं प्रतिबोधयन्नपि ···निःश्रेयसप्रापणम् ।
येनायं जगदेकवत्सलधिया लोकोत्तरं निर्मितो-
देवस्तार्किकलोकमस्तकमणिभूयात्स वः श्रेयसे ॥१॥

विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया—
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
शुद्ध्यन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलंकं वादिराजं सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ।२।

भूयो भेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयं
कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रभुर्मादृशः ।
स्थूलः कोऽपि न यस्तदुक्तिविषयो व्यक्तीकृतोऽयं मया
स्थेयाच्चेतसि धीमतां मतिमलप्रक्षालनैकक्षमः ॥३॥

व्याख्यानरत्नमालेयं प्रस्फुरन्नयदीधितिः ।
क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदन्ती मानसं तमः ॥ ४ ॥

श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति-
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः ।
शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपः श्रीभृतां
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥१॥

इति स्याद्वादविद्यापतिविरचितायां न्यायविनिश्चय-
तात्पर्यावद्योतिन्यां व्याख्यानरत्नमालायां
तृतीयः प्रस्तावः समाप्तः ।

समाप्तं च शास्त्रमिदम् ।

क्षत्रचूड़ामणि और उसकी सूक्तियाँ

[ले०—पं० सुमेरुचंद जैन 'दिवाकर' न्यायतीर्थ, शास्त्री B A L L.B]

साहित्यके गद्य और पद्य नामके विभागोंमें अधिकांश कवि ऐसे पाये जाते हैं जो एक-एक क्षेत्र में ही अपना प्रमुख रखते हैं। कालिदास, भारवि, भवभूति आदि कविजन पद्यके क्षेत्रमें विख्यात हैं, तब गद्यके क्षेत्रमें बाण आदिका सम्मानपूर्ण स्थान है। यह सौभाग्य विरलोंको ही प्राप्त होता है कि गद्यके समान पद्यके क्षेत्रमें भी यशस्वी होवें। अंग्रेजी साहित्यमें भी यही बात पाई जाती है गद्य लेखकोंमें लेम्बुस्काट, डा० जानसन, मेकाले आदिका नाम प्रसिद्ध है, किन्तु वे पद्य लेखकोंमें अपना कोई उल्लेखनीय स्थान नही बना सके। इसी प्रकार उच्च कोटिके पद्यकारोंमें मिल्टन, टेनीसन, शैली, ब्राउनिंग आदि का नाम लिया जाता है, किन्तु गद्य संसारमे उनकी उस प्रकारकी कोई ख्याति नही है। उच्च गद्यलेखक और पद्यकार होनेका सौभाग्य जैन महाकवि वादीभसिहको प्राप्त है। इनके गद्यचिंतामणिके पारायणसे 'बाणोच्छिष्ट मिदं जगत्' की उक्ति अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। इनका क्षेत्र चूडामणि ग्रन्थ काव्य-जगतका निष्कलंक दीप्तिमान नक्षत्र है। इस ग्रंथमें महाकवि वादीभसिंहने क्षत्रियोंके चूडामणि महाराज जीवंधरके मनोहर चरित्रका अत्यन्त आकर्षण ढंगसे वर्णन किया है।

कथाका सार—

जीवंधरकी कथाका संक्षिप्त सार इस प्रकार है कि हेमांगद देशकी राजधानी राजपुरीमें जैन धर्मावलम्बी महाराज सत्यधर राज्य करते थे। उन्होंने अपनी महारानी विजयामें अत्यासक्त होनेके कारण मन्त्री काष्ठांगारके हाथमे राज्यका भार सौंप दिया। कृतघ्न काष्ठांगारने राज्यतृष्णाके वशीभूत होकर राज्यपर अपना कब्जा कर लिया। उस समय क्षात्रधर्मको पालन करते हुए युद्ध-भूमिमें महाराज सत्यंधरका शरीरान्त हो गया। महाराजकी रानी विजया गर्भिणी थी, अतएव क्षत्रिय राजवंशकी आशा के एकमात्र केन्द्र शिशुके संरक्षणार्थ महाराजने पहलेसे वायुयानके समान एक आकाश में उड़ने वाला मयूरयन्त्र भी बनवा रक्खा था और उसमे युद्धकी विकट स्थितिके समय महारानीको बैठाकर उड़वा दिया था। अवसरकी बात है कि वायुयान श्मशान भूमिमे पहुंचा और वहाँ महारानीके एक तेजस्वी पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। महारानी तो तपस्वियोंके एक आश्रममे रहकर अपना समय काटने लगी, और एक अत्यन्त समृद्ध वणिक्शिरोमणि श्रेष्ठि वर गधोतटके यहा बालकका पालन–पोषण हुआ। बालक जीवंधरने आर्यनंदी नामके महान् आचार्यके द्वारा अनेक विद्याओंमें विदग्धता प्राप्त की। तरुण होनेपर कुमारको ज्ञात हुआ कि मैं क्षत्रियपुत्र हूं, मेरे राज्यका अधिकारी काष्ठांगार बन बैठा है। कुछ समयके अनन्तर जन-धन आदि सब प्रकारोंके बलोंसे सुसज्जित होकर वीरशिरोमणि जीवंधरने काष्ठांगारको मारकर अपने राज्यको प्राप्त किया। काफी समय तक वैभव-विभूतिका आनन्द लेकर स्थायी शान्तिके लिए महाराज जीवंधरने अपने पुत्र सत्यंधरको राज्य-भार सौंपकर जैनी दीक्षा धारण की और महावीर भगवानके शरणमे रहकर अपनी आत्मशुद्धि की तथा परम मुक्ति प्राप्त की।

यह कथा श्री गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणमे भावको लेकर लिखी गई है। और भी अनेक कविचूडामणियोंने जीवंधर कुमारके चरित्रको वर्णन करनेमें अपनी लेखनीको सफल किया है जिनमें महाकवि हरिचन्द्रका 'जीवंधरचम्पू' तथा कन्नड भाषाके ग्रंथकार तिरुक्कदेवका 'जीवकचिंतामणि' खास तौरसे उल्लेख-योग्य हैं।

क्षत्रचूडामणिके रचयिताका असली नाम 'ओडयदेव'× था, 'वादीभसिंह' उनकी उपाधि थी। उनका समय लग-भग नवमी शताब्दीका अनुमान किया जाता है।

× देखो गद्यचिंतामणि १ श्लोक ६–७

साहित्यके विषयमें एक विद्वान्ने लिखा है :—

It is the record of best thoughts Its function is the cultivation of sympathies and imagination, the refinement of feelings and the enlargement of the moral vision'—

"यह सर्वोच्च भावोंका भण्डार है। यह सहानुभूति एवं कल्पनाशक्तिको समुन्नत करता है। इसके द्वारा भावनाएँ परिशुद्ध होती हैं तथा नैतिक दृष्टि विशाल होती है।" यह बात क्षत्रचूडामणिके विषयमें पूर्णरूपसे चरितार्थ होती है, क्योंकि ग्रंथमें सर्वत्र पवित्र विचार धाराएँ बहती हैं जिनसे भावनाएँ निर्मल होती हैं और नैतिक दृष्टिकोण भी काफी परिमार्जित तथा परिवर्धित होता है।

आचार्य वादीभसिंह ने ऐसे अमूल्य तथा अविनाशी सत्यका अपनी इस रचनामें प्रतिपादन किया है, जिसके कारण उनकी रचना अमर हो गई है। वह देश और काल की परिधिसे परिच्छिन्न न होकर विश्वव्यापिनी (universal) हो गई है। यह कृति विद्युतके समान क्षणभर चमक दिखाकर विस्मृतिके गर्भमें लीन होनेवाली नहीं है, बल्कि महासागरके समान व्यापक और मेरुके समान स्थिर साहित्यकी श्रीवृद्धि करती रहेगी।

इसकी भाषा क्लिष्टताके द्वारा जटिल नहीं बनाई गई है। यह सरल सरस तथा प्रसाद–गुण-समन्वित काव्य वैदर्भी रीतिमें लिखा गया है। इसका अलंकार सादगी है, स्वाभाविकता है। कृत्रिम भाषाके आडम्बरमें उज्ज्वल भावोंको छिपाकर दुरूह बनाने की यहां चेष्टा नहीं की गई, सरल, सरस, सजीव और सुरुचिपूर्ण सामग्री समन्वित यह ग्रंथ 'द्राक्षा' के समान छोटे बड़े सबको आह्लादजनक है।

ग्रंथकी खास विशेषता—

इस ग्रंथकी एक खास विशेषता यह है कि आचार्यश्रीने प्राय: प्रत्येक श्लोकके उत्तरार्धमें गम्भीर, मार्मिक तथा मंजुल उक्तियोंसे अमूल्य शिक्षाएँ दी हैं। वैसे तो भारवि आदि अनेक कवियोंने भी अनेक शिक्षाप्रद सूक्तियोंसे अपनी-अपनी रचनाओं को सुशोभित किया है किन्तु आचार्य वादीभसिंहकी इस रचनामें उक्तियोंकी विपुलता तथा गम्भीरता कुछ अपूर्व ही दृश्य उपस्थित करती है। सुभाषितोंके लिखनेमें गहरे अनुभव, अध्ययन तथा लोकोत्तर योग्यताकी आवश्यकता पड़ती है। यह विदग्धता तो विरलोंको ही प्राप्त होती है, कि जिनके लिखे गये चार शब्दोंको सुनकर हृदय आनंदित हो जाता है और लोग उन शब्दोंको कंठाभरण बना लिया करते हैं। टकसालमें छपे हुए सच्चे सिक्केकी किसीके राज्यमें जैसी इज्जत होती है, उससे अधिक सम्मान विश्वके साम्राज्यमें महाकवियोंकी सजीव उक्तियोंका हुआ करता है। यही कारण है कि सुभाषितका माहात्म्य एक कवि इन शब्दोंमें संकीर्तित करता है :—

> सुभाषितेन गीतेन युवतीनां च लीलया।
> मनो न भिद्यते यस्य स योगी ह्यथवा पशुः॥

अर्थात्—सुभाषित, गायन तथा तरुणियोंकी विलास-युक्त चेष्टाओं से जिसका हृदय प्रभावित नहीं होता है वह या तो योगी है अथवा पशु है।

एक कवि तो सुभाषितके रससे मुग्ध होकर यहां तक कहता है:—

> द्राक्षा म्लानमुखी जाता शर्करा चाश्मतां गता।
> सुभाषित-रसस्याग्रे, सुधा भीता दिवं गता॥

अर्थात्—सुभाषितके रसके आगे द्राक्षाका मुख मलिन हो गया, शर्करा (शक्कर-बालूरेत) अश्मपने (पाषाणपने) को प्राप्त हुई; और तो और अमृतको डरकर स्वर्गमें भागना पड़ा।

इस ग्रन्थमें प्राय: वीर और शान्तरसका वर्णन है, किन्तु करुण-रसकी भी पर्याप्त सामग्री पाई जाती है। स्वयं ग्रंथकारने इस चरित्रको अत्यन्त करुणाजनक बताया है।[1] थोड़े शब्दोंमें बहुत भावोंको प्रदर्शित करते हुए अपनी रचनाको आकर्षक बनानेमें आचार्य महाराज पूर्ण सफल हुए हैं। ग्रंथको हाथमें लेनेपर पूर्ण किए बिना छोड़नेको जी नहीं चाहता।

महाराज जीवंधरका चरित्र बड़ा ही सुन्दर चित्रित किया गया है। जीवंधरकुमारके चरित्रमें धार्मिकता, वीरता, जितेन्द्रियता, दीनदयालुता, विश्वोपकारिता, साधुता, साम्राज्य-संरक्षण-पटुता, नीतिज्ञता आदि अनेक गुणोंका

१ श्रुतशालिन् महाभाग श्रूयतामिह कस्यचित्।
चरितं चरितार्थेन यदस्यर्थं दयावहम्॥ २-६

हम निष्कलंक समन्वय पाते हैं। कुमार के गुणों के कारण सुदर्शन यक्षने उनका नाम 'पवित्रकुमार' भी रखा था[१]। उनकी धार्मिकता तथा जिनेन्द्रभक्तिके कारण 'आस्तिक्य-चूडामणि' के रूपमें उनका स्मरण किया गया है। कुमार के चरित्रसे इस बातका स्पष्टीकरण हो जाता है कि आदर्श जैन क्षत्रियका किस प्रकार उज्वल रूप रहता है। वे रणशूर तथा धर्मवीर हुआ करते थे।

कुमारके प्रतिद्वन्दी काष्ठांगारका चरित्र अत्यन्त मलिन-कोयलेसे भी काला बताया गया है, जिससे काष्ठांगारका पतन और पराभव देखनेकी आकांक्षा पाठकोंके हृदयमें शुरूसे ही उत्पन्न होती है, और जिसकी पूर्ति वीरशिरोमणि कुमारने उस दुष्टकी जिन्दगीका अंत करके की है। काष्ठांगार अपनी कृतघ्नता के कारण हेमलेटमे वर्णित 'क्लाडियस' के समान हीनचरित्र प्रतीत होता है, यद्यपि काष्ठांगार शेक्स-पियरके क्लाडियसके समान व्यभिचारी नहीं है।

जीवंधर स्वामीके पिता होनेके कारण महाराज सत्यंधर के प्रति हमारे हृदयमे सन्मानका भाव उदित होता है, किन्तु उनकी भोग–निमग्नता बहुत बुरी मालूम पड़ती है। यह अवश्य है कि विषयोंमें मग्न होते हुए भी उनमें क्षत्रियोचित तेजस्विता काफी मात्रामें मौजूद पाई जाती है। उनकी महत्ता और जीवंधरकुमार जैसे चरमशरीरी पुण्या-त्माके पूज्य पिता होनेकी विशेषता हमारे अंतःकरणमें तब अंकित होती है जब वे काष्ठांगारकी सेनासे युद्ध करते हुए 'मुधा प्राणिवधेन किम्' सोचते हुए समतापूर्वक सच्चे वीरके रूपमें मृत्युका स्वागत करते हैं और ज्ञान एवं वैराग्य के रसमें मग्न होकर अपना उद्धार कर लेते हैं। ऐसी अवस्थामें महाराज सत्यंधर अपनी अमिट महत्ता हृदयमें अंकित कर जाते हैं।

महारानी विजयाको देखकर हृदयमें करुणाका सागर उद्वेलित होने लगता है। कहां साम्राज्ञीके अनुरूप संपूर्ण सौभाग्यकी सामग्रीका उपभोग और कहां श्मशानभूमिमें गिरना और पुत्रकी प्रसूति होना! ऐसी करुण स्थितिका थोड़े किन्तु मार्मिक शब्दोंमें महाकविने इस प्रकार चित्रण किया है—

> जीवानां पाप-वैचित्रीं श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा
> पश्येयुरधुनातीव श्रीकल्पाभूदकिंचना ॥८४॥
>
> क्षण-नश्वर-मैश्वर्यमित्यर्थं सर्वथा जनः
> निर्णीयादिमा दृष्ट्वा दृष्टान्ते हि स्फुटा मतिः॥८६॥

अर्थात्—पूर्वमें जीवोंके पापकर्मोदयकी विचित्रताका वर्णन शास्त्रोंमें सुनने वाले व्यक्ति इस समय देखें कि जो महारानी लक्ष्मीके तुल्य थी, वही अब ऐसी हो गई है कि उसके पास कुछ भी नहीं बचा है।

इसको देख कर लोगोंको इस बातका निर्णय कर लेना चाहिए कि ऐश्वर्य क्षणभरमें विनाशशील है, क्योंकि उदाहरणके देखनेसे बुद्धि स्पष्ट हो जाती है।

अत्यन्त मृदुल शय्यापर पुष्पोंके डंठल जिस महारानी को पूर्वमें संतापजनक थे, अब 'दर्भशय्याप्यरोचत'–डाभ की शैया भी अच्छी लगती है। अब अपने हाथसे काट कर लाया हुआ अनाज (नीवार) ही महारानीका आहार है।" वास्तवमें किसी पदार्थको सुखदायक या दुःखप्रद मानना इस प्राणीकी मनोभावना पर निर्भर है, यही कारण है कि अकिंचना होते हुए भी विजयादेवी अपने दुःखके दिन बराबर काट रही थी, इसी कारण शेक्सपीयरने लिखा है— There is nothing good or bad, but thinking makes it so (Hamlet Act II, Scene II) कोई चीज बुरी अथवा भली नहीं है, किन्तु वह हमारे विचारके द्वारा उस प्रकारकी बुरी या भली बन जाती है।

महारानी विजयाकी आकस्मिक आपत्ति देख कर हमें सीतादेवीके बनोवासका दृश्य स्मरण हो आता है, जब उस सतीको कृतान्तवक्त्र सेनापतिने भयानक वनमें असहाय छोड़ दिया था, इतना अंतर अवश्य है कि सीताके परित्याग में कारण रामचन्द्रजीकी बुद्धिपूर्वक दी गई आज्ञा थी और विजयादेवीके सम्बन्धमें उसका दैव ही रूठा था, जिसने भयंकर विषमपरिस्थिति उत्पन्न करदी थी। भाग्य-चक्र बदलता रहता है, उसीके अनुसार विजयादेवीके दिन भी फिरे, और जीवंधरकुमारको साम्राज्य-लाभ होने पर विजयादेवी पुनः राजप्रासादमें आकर राजमाताके आदरणीय पदपर विराजमान हुईं, और कुछ समयके पश्चात साध्वीके शान्तिमय मार्गमें लग गईं।

श्रेष्ठि गंधोत्कट, माता सुनंदा, नंदाढ्य, गंधर्वदत्ता आदि रानियां, पद्मास्य आदि मित्रोंके चरित्रपर प्रकाश

१ देखो 'गद्यचिन्तामणि' काव्य

डालनेकी न तो विशेष आवश्यकता ही है और न स्थान ही। अस्तु, यत्न करनेपर भी हम अदम्य-साहसी स्पष्ट-वादिताकी जीवितमूर्ति धर्मदत्त सचिवकी निर्भीक सलाहको नहीं भुला सकते, जो उसने काष्ठांगारको प्राणोंकी बाजी खेलते हुए भी दी थी, कि राजद्रोह करनेमें तुम्हारा कल्याण नहीं है। इसी प्रकार काष्ठांगारका साला मथन भी अपनी दुष्टतापूर्ण असत् चेष्टाओंके कारण ठीक धर्मदत्तका विपरीत रूप प्रतीत होता है। यदि धर्मदत्त प्रकाशरूप कहा जाय, तो मथनको अंधकारकी उपमा देना बहुत उपयुक्त होगा।

अब हम पाठकोंका ध्यान ग्रंथकी मार्मिक बातोंकी ओर आकर्षित करेंगे।

धर्म और अर्थ—

एक समय था जब लोग धर्मका अधिक आदर किया करते थे किन्तु आजकल धर्मके स्थान को अर्थने ग्रहण कर लिया है। उसी अर्थ समस्याके ही परिणाम फैसिज्म, सोशलिज्म, इम्पीरियलिज्म, आदि नवीन नवीन वाद उठ खड़े हुए हैं। जीवनकी प्रवृत्तिको देखते हुए ज्ञात होता है कि लोग अधिकतर किसी भी उपायसे अपनी भोग-लिप्साको पूर्ण करनेमें संलग्न नजर आते हैं। ऐसी धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ सम्बन्धी विषम परिस्थितिके विषयमें आचार्य वादीभसिंहने संघर्ष निवारणकी एक सुन्दर बात कही है—

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१-१६

अर्थात्-परस्पर अविरोधरूपसे यदि धर्म, अर्थ और काम-रूप त्रिवर्गका सेवन किया जाय, तो निष्कंटक सुख मिलता है, तथा क्रमसे मुक्ति भी प्राप्त होती है।

इसका कारण महाकवि हरिचंद्रने यह बताया कि काम पुरुषार्थका मूलकारण धर्म और अर्थ पुरुषार्थ है। संपत्ति की प्राप्तिके लिए धर्मका पालन होना भी जरूरी है। जिन को एकान्तरूपसे धर्मप्रिय है उनके लिए महाकविने तपोवन की ओर जानेकी सलाह दी 'वनमेव सेव्यताम्' (धर्मशर्माभ्युदय)।

राजनीति—

राजनीतिके विषयमें विचार करते हुए आचार्य लिखते हैं कि राजाओंकी आराधना अग्निके समान विवेकपूर्वक करना चाहिये, क्यों कि वे अर्थी (depend-ent) पुरुषके जीवनका उपाय खोजते हैं किन्तु अपना तिरस्कार करने वाले व्यक्तियोंका विनाश भी कर डालते हैं।[१]

नरेशोंके प्रबल प्रभाव तथा सामर्थ्यकी ओर ध्यान दिलाते हुए कविवर लिखते हैं कि—

अयुतोभीतिता भूमेभूपानामाज्ञयाऽन्यथा।
आस्तामन्यत्तवृत्तानां वृत्तं च न हि सुस्थितम्॥३-४२

अर्थात्—राजाकी आज्ञाके अनुसार प्रवृत्ति करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं होता, किन्तु उनके प्रतिकूल प्रवृत्ति करनेमें और तो क्या बड़े बड़े सदाचारियों तकका चारित्र ठिकाने नहीं रह सकता।

अपने शासनको सफलतापूर्वक चलानेके लिए राजाओंको बहुमुखी नीतियोंका अवलम्बन लेना पड़ता है। इसका कारण यह है कि उनको विलक्षण प्रकृतिके मानवोंसे काम पड़ता रहता है अतएव बड़े विवेक और चतुरताके साथ कार्य करते रहनेपर वे सफल शासक हो पाते हैं। महाकवि शासकके लिए यह बात बताते हैं, कि उसे सहसा अपने हृदयका भी विश्वास नहीं करलेना चाहिये। देखिए वे क्या कहते हैं—

हृदयं च न विश्वास्यं राजभिः किं परो नरः।
किन्तु विश्वस्तवद्दृश्यो नटायन्ते हि भूभुजः १-१५

अर्थात्—राजाओंको (सहसा) अपने हृदयपर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, अन्य पुरुषकी तो बात ही दूसरी है, किन्तु विश्वस्तके समान अपनेको दिखाना चाहिये। राजाओंका आचरण नटके समान होता है।

राजाके लिए यह भी उचित है कि वह अपनी बातको गोप्य रखे तथा जब तक इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती है, तब तक शत्रुकी भी आराधना करे।

"आ समीहितनिष्पत्तेराराध्याः खलु वैरिणः"॥१०-२२

इसी नीतिका अवलंबन जीवंधर स्वामीके मामा महाराज गोविन्दराजने किया था, यद्यपि वे पापी काष्ठांगार का विनाश हृदयसे चाहते थे, फिर भी अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए उन्होंने काष्ठांगारके साथ जाहिरा तौर अपना स्नेहभाव प्रदर्शनमें किसी प्रकार कमी न की।

---

१ अर्थिनां जीवनोपायमपायं चाभिमानिनाम्।
कुर्वन्तः खलु राजानः सेव्या हव्यवहो यथा ॥ १०-५ ॥

जिसके प्राणोंके वे प्यासे थे, उसके ही पास उन्होंने भेट भेजकर बाह्य रूपसे सम्मानका भाव प्रदर्शित किया था।[1] मुद्राराक्षसमें राजनीतिकी विचित्रताका इन शब्दोंमे वर्णन किया गया है—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः संपूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले—
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ॥५-३॥

अर्थात्—कभी तो उसका स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होता है, कभी वह गहन हो जाती है और उसका ज्ञान नहीं हो पाता, प्रयोजनवश कभी वह संपूर्ण अंगयुक्त होती है और कभी अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है, कभी तो उसका बीज ही विनष्ट प्रतीत होता है और कभी वह बहुत फलवाली हो जाती है। अहो! नीतिज्ञकी नीति दैवके सदृश विचित्र आकार वाली होती है।

क्रोधके कारण नरेशोंका विवेक-चक्षु अंधा बन जाता है, इस कारण वे अपने विद्वेषीका यथाशक्ति नाश करते हुए, उनसे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियोंका भी संहार करनेसे नही चूका करते। महाकवि वादीभसिंहने जीवंधर कुमारको इस दुर्बलतासे दूर बताया है। काष्ठांगार जैसे पापीका संहार करनेके अनंतर महाराज जीवंधरने काष्ठांगारके कुटुम्बीजनोंके प्रति तनिक भी निष्ठुरता वा नृशंसताका बर्ताव नही किया, प्रत्युत अपनी उदारताका परिचय देते हुए उनने काष्ठांगारकी पत्नी आदिकोंको सान्त्वनारूप वाक्य कहे। इस प्रसंगमें आचार्य एक सुंदर नीति कहते हैं 'न ह्यस्थानेपि रुट् सताम्'—सज्जनोंका क्रोध अयोग्य ठिकानेपर नहीं होता (१०—४४)। सचमुचमें ऐसी ही विवेकयुक्त नीतिके कारण शासक अपनी प्रजाके हृदयका सच्चा अधिपति बन जाया करता है।

इस प्रसंगका जीवंधर चम्पूमें महाकवि हरिचन्द्रने भी बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया है जिसका आशय यह है—

"उस समय पीड़ाके कारण भागे हुए शत्रु समूहको करुणाके स्थान कुरुवंशके वीर जीवंधरकुमारने अभय घोषणा कराई और उनके दीन बंधुजनोंको बुलाकर उस समयके लिए उचित संभाषण आदिके द्वारा उनको सान्त्वना प्रदानकी—इसके अनंतर शोकके दुःखसे दीन अंतःपुरवासिनियोंको समीपमें बुला कर उस समय कुररी पक्षीके समान आक्रन्दन करती हुई काष्ठांगारकी महारानी तथा उनके पुत्रोंको देखकर करुणाकी तरंगयुक्त सान्त्वना-कलामें प्रवीण कुरुवीर जीवंधर कुमारने अमृतके समान मधुर और अनेक प्रकारकी बातोंसे आश्वासन दिया।"[1]

अनीतिपूर्ण आचरण करनेका परिणाम बुरा होता है, इस बातका निश्चय इससे होता है कि राजाको धोखादेने वाला काष्ठांगार जीवंधर महाराजके द्वारा मारा गया। इस पर आचार्य कहते हैं 'स्वयं नाशी हि नाशकः'(१०-४०)—अन्यका विनाश करनेवालेका स्वयं नाश होता है। शेक्सपियरने भी इसी भावको इस प्रकार प्रकट किया है।" "To have the engineer hoist with his own petard"

वादीभसिंह सूरिका कथन है कि इस पृथ्वीका शासन तथा उपभोग दुर्बल व्यक्तियों द्वारा नही हो सकता। यह वसुन्धरा वीरोंके द्वारा भोगने योग्य है "वीरेण हि मही भोज्या" (१०-३०)।

अत्याचारी काष्ठांगारने प्रजाके उत्पीडनमें कसर नहीं की थी। उसने जबरदस्त करके द्वारा प्रजाका खून चूस लिया था, इस कारण महाराज जीवंधरने राज्यका शासन-सूत्र हाथमें लेते ही एक दम १२ वर्षके लिए पृथ्वीको कर-रहित कर दिया था इसका कारण कविवर यह बताते हैं—भैंसोंके द्वारा गंदा किया गया पानी जल्दी निर्मल नहीं होता।[2]"

प्रतिग्राभृतमेतस्मै प्राहैषीत् स्वामिमातुलः ॥
—१० २२

[1]तदानीं संत्रासपलायमानं शत्रुबलमवलोक्य, कुरुवीरः करुणाकरः सपदि अभयघोषणां विधाय, तद्बन्धुतां दीनामाहूय तत्कालोचितसंभाषणादिभिः परिसान्त्वयामास। ततः कुरुवीरः शोकसंत्रासदीनमंतःपुरिकाजनं समीपमानीय तत्र कुररीमिवक्रन्दन्तीं काष्ठांगारमहिषीं तत्पुत्रांश्चावलोक्य कृपातरंगितः परिसान्त्वनकलाप्रवीणः पीयूषमधुराभिर्विचित्राभिर्गिरा परंपराभिः समाश्वासमानिन्ये।
(जीवंधर चम्पू १० लम्ब पेज १३२ १३३)

[2]अकरामकरोत् धात्रीं वर्षाणि द्वादशाप्ययम।
महिषैः क्षुभितं तोयं न हि सद्यः प्रसीदति ॥ ११०—५७ ॥

ग्रंथकार तप और राज्यमे समानता बताते हुए लिखते हैं—

तपसा हि समं राज्यं योगक्षेमप्रपंचतः।
प्रमादे मत्यधःपातादन्यथा च महादयात् ॥११-८॥

अर्थात्—योग और क्षेमका विस्तार करनेके कारण तपके समान राज्य भी है, क्योंकि प्रमादके होनेपर महान उदयपूर्ण अवस्थासे अधःपात हो जाता है।

अहिंसा धर्मके पालक जैन क्षत्रिय लोग जब संग्राम स्थलमे अपरिमित प्राणियोंका वध तक करते हैं, तब भला वे कहीं व्रती हो सकते हैं इस शंकाका आचार्य महाराजके इस वाक्यमे समाधान हो जाता है—

'मुधा वधादिभीत्या हि क्षत्रिया व्रतिनो मताः'

अर्थात्—अनावश्यक हिंसा आदिसे भय रखनेके कारण क्षत्रिय व्रती माने गये हैं (१०-३८)।

धार्मिक नरेश सफलता प्राप्त करनेके अनंतर सफलता के मूलकारण वीतराग परमात्माके चरणोंकी आराधनाको नहीं भूलते हैं, इसी बातको बतानेके लिए ग्रंथकारने जीवंधरस्वामीके द्वारा युद्धमे विजय होनेके पश्चात् राजपुरी राजधानीमें जाकर जिन भगवानके अभिषेक करनेका वर्णन किया है। क्योंकि भगवानकी दिव्य समीपता होने पर सिद्धिएं बिना बाधाके हो जाती हैं—

"भगवद्दिव्यसांनिध्ये निष्प्रत्यूहा हि सिद्धयः"(१०-४६)

स्वाधीनता—

स्वाधीनताके प्रति महाकविकी उक्ति बहुत महत्वास्पद है। वे स्वाधीनताको जिन्दगी और पारतंत्र्यको मृत्यु बताते हैं:—

जीवितात् पराधीनात् जीवानां मरणं वरम्।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ॥१-४०

इस प्रसंगमें महाकवि हरिचंद्रने लिखा है—

"लोके पराधीनं जीवितं परमोत्कृष्टपदवीमवाप्तमपिसरसमोचाफलनीचैनरमधुरक्षीराद्युपचारपरिपालित पंजरबद्धशुकशावकजीवनमिव विनिन्दितम्, निजबलविभवसमार्जितमृगेन्द्रपदसम्भावितस्य कुंभीन्द्रकुम्भ स्थलपाटनपटुतरखरनखरस्य मृगेन्द्रस्येव स्वतंत्रजीवन मविनिन्दितमभिनंदितमनवद्यमतिहृद्यम्, इति।"

(जीवंधरचम्पू पृष्ठ १५)

अर्थात्—परमोत्कृष्ट पदको प्राप्त भी पराधीन जीवन इस प्रकार निन्दनीय है जैसे सरस केला और अत्यन्त मधुर क्षीर आदिके उपचारसे पालन किए गए उस तोतेके बच्चेकी जिन्दगी जो पिंजरेमे बन्द है। किन्तु—अपने बलके वैभवसे प्राप्त मृगोंके इन्द्रपदमे प्रतिष्ठित गजेन्द्रोंके गंडस्थलके विदारण करनेमें प्रवीण तीक्ष्ण नख वाले सिंहके जीवनके समान स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन निन्दाविहीन अभिनन्दनके योग्य, निर्दोष और अत्यन्त हृदयहारी है।

एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि उपरोक्त स्वाधीनताका गुणगान यदि पापी काष्ठांगारके मुखसे न हुआ होता, तो वह अधिक शोभनीय मालूम पडता। यह वर्णन काष्ठांगारके मुखसे सुनकर ऐसा ही बेतुकासा मालूम पडता है जैसा कि पापकर्ममें प्रवृत्ति करने वाली वेश्याके मुखसे ब्रह्मचर्यका गुणवर्णन।

गुरु और शिष्य:—

आचार्य महाराजने गुरु और शिष्यका पद विशेष महत्वपूर्ण बताया है। गुरुको आप रत्नत्रयमे विशुद्ध, सत्पात्रका अनुरागी, परोपकारी, धर्मा चरणमें रत और संसारके समुद्रसे तारने वाला बताते हैं। शिष्यके लिए भी यह आवश्यक है कि वह गुरुभक्त, संसारसे विरक्त, नम्र, धार्मिक, शान्तहृदय, प्रमादहीन, शिष्ट तथा बुद्धिमान हो। [२–३०, ३१]

शिक्षा:—

विद्याराधनके विषयमे आचार्य महाराज उच्च शिक्षणका समर्थन करते हैं क्योंकि "अपुष्कलाहि विद्या स्यात अवज्ञैकफला क्वचित्—"अपूर्ण ज्ञानका एकमात्र फल तिरस्कार ही है। [३–४४]

इसी कारण अंग्रेजीमे भी यह कहावत प्रचलित है— "A little knowledge is a dangerous thing".

निर्दोष विद्याका सर्वत्र आदर होता है—

"अनवद्या हि विद्या स्यात लोकद्वयफलावहा"

अर्थात्—निर्दोष ज्ञान इस लोक और परलोकमें फलदायी है। [३–४५]

यदि भेदविज्ञान न हुआ, तो शास्त्रके विषयमे किया गया परिश्रम अकार्यकारी है—

'हेयोपादेयविज्ञानं नो चेत् व्यर्थः श्रमःश्रुतौ'
[२–४४]

ग्रंथकार पवित्र ज्ञानको स्वयं देनेके योग्य बताते हुए कहते हैं—'स्वयंदेया सती विद्या प्रार्थनाया तु किं पुनः" [७-७४]

अर्थात्—समीचीन ज्ञानको स्वयं देना चाहिए, यदि उसे कोई प्रार्थनापूर्वक माँगे, तो क्या कहना, उसे तो अवश्य दान करना ही चाहिए।

नीतिकारोंने बताया है कि मनुष्यमें जैसा जैसा ज्ञान बढ़ता जाय वैसा वैसा उसे अधिक विनीत और निरभिमान बनते जाना चाहिए। लेकिन इस नियमके अपवाद स्वरूप आचार्य महाराज एक खास बात बताते हैं कि—

मुग्धेष्वतिविदग्धाना युक्तं हि बलकीर्तनम् ॥८-४७

—अत्यन्त निपुण व्यक्तियोंका मूढ पुरुषोंके प्रति अपने बलका वर्णन करना उचित है। इसका कारण यह है कि—

मुग्धाः श्रुतविनिश्चेया न हि युक्तिवितर्किणः। ८-४८

'मूढ पुरुष तो जो सुन लेते हैं उसे ही निश्चय करते हैं, वे लोग कुछ तर्क-वितर्क नहीं करते हैं।'

दुर्जन और सज्जन

दुर्जनोंका वर्णन करते हुए कवीश्वरने यह लिखा है—

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ॥ १-४३

अर्थात्—मन, वचन और काम में भिन्न प्रवृत्तिका होना पापियोंका स्वरूप है।

अन्याभ्युदयखिन्नत्वं तद्धि दौर्जन्यलक्षणम् ॥ ३-४८

अन्यका अभ्युदय देखकर दुखी होना दुर्जनताका लक्षण है।

नीचत्वं नाम किं नु स्यादस्ति चेद्गुणरागिता ॥ [४-४]

यदि गुणोंमें अनुराग है, तो फिर नीचता ही क्या रही?

प्रकृत्या स्यादकृत्ये धीर्दुःशिक्षायां तु किं पुनः ॥ [३-४०]

स्वभावतः बुद्धि अकार्यकी ओर जाती है, यदि उल्टी शिक्षा भी मिल जावे, तो क्या कहना है?

इस कारण यह जरूरी है कि प्रयत्नपूर्वक बुद्धिको ठीक रास्तेपर लगाते रहना चाहिये।

ग्रंथकार कहते हैं कि जो नम्रता सत्पुरुषोंके लिए शाँतिका कारण होती है, वही दुष्टोंके लिए गर्वका कारण होजाती है—

सतां हि प्रह्वता शान्त्यै खलानां दर्पकारणं ॥५-१२॥

सचमुच ही यदि सामर्थ्य है, तो बिना दंडनीतिके दुष्टोंकी बुद्धि ठिकाने नहीं लगाई जा सकती।

दुर्जनोंको न तो स्वयं नम्रता पसंद है और न दुर्जनों की नम्रता हितकारी है—

अमतां हि विनम्रत्वं धनुषामिव भीषणम् ॥१०-१४॥

धनुषोंकी नम्रताके समान दुष्टोंकी नम्रता भयंकर होती है। उचित तो यह है कि दुर्जनोंके साथ सम्बन्ध ही न रखें, क्योंकि उनके प्रति किया गया सद्व्यवहार भी कीचड़ में गिरे हुए जलके समान होता है—

दुर्जनाप्ते हि सौजन्यं कर्दमे पतितं पयः ॥१०-१५॥

प्रायः देखा जाता है कि बुरी बातोंका जितना जल्दी और सरलतासे प्रचार हो जाता है उतनी शीघ्रतासे अच्छी बातोंका प्रचार नहीं हो पाता। इस विषयमें महाकवि वादीभसिंह एक महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं—

खलः कुर्यात् खलं लोकम् अन्यमन्यो न कंचन।
न हि शक्यं पदार्थानां भावनं च विनाशवत् ॥२-४६॥

अर्थात्—दुर्जन पुरुष जगत्को दुष्ट बना देता है, किन्तु सत्पुरुष लोकको सज्जन नहीं बना सकता। क्योंकि जिस प्रकार पदार्थोंका विनाश सम्भव है, उस प्रकार उनका बनना सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि बनाना कठिन है, बिगाड़ना बिल्कुल सरल है।

सत्पुरुषोंकी मनोवृत्ति परोपकारके लिये होती है, चाहे श्रोता भव्य हो या अभव्य—

भव्यो वा स्यान्नवा श्रोता पारार्थ्यं हि सतां मनः॥६-१०।

सत्पुरुषोंकी वृत्तिका आचार्य वर्णन करते हुए बताते हैं—

संपदापद्द्वये स्वेषां समभावा हि सज्जनाः
परेषां तु प्रसन्नाश्च विपन्नाश्च निसर्गतः ॥४-३८॥

अर्थात्—सत्पुरुष अपनी संपत्ति तथा आपत्तिमें समभाव रखते हैं अर्थात् हर्ष एवं विषाद नहीं करते। किन्तु स्वभावसे अन्यकी संपत्तिसे आनंदित और विपत्तिसे व्यथित होते हैं।

आचार्य महाराज सज्जनोंके विषयमें कहते हैं—

स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्य तत्पराः ।४-३३

परोपकारमें तत्पर सत्पुरुष अपनी आपत्तिका ख्याल नहीं करते हैं। अर्थात् दूसरे पुरुषोंके कष्टोंके निवारण करने की धुनमें मग्न रहनेके कारण उनका अपने कष्टकी ओर ध्यान ही नहीं जाता है।

वादीभसिंहसूरि एक महत्वपूर्ण बातपर इन शब्दोंमें प्रकाश डालते हैं:—

देशकालखलाः किं तैश्चला धीरेव बाधिका ।
अवहितोत्र धर्मे स्यादवधानं हि मुक्तये ॥२-५४॥

सचमुचमें देश, काल और दुर्जनोंसे क्या होता है? उनके द्वारा चंचल की गई बुद्धि ही बाधाकारी है। इस लिए धर्ममें सावधान होना चाहिये, क्योंकि उपयोग ही मुक्तिके लिए कारण होता है।

यहां आचार्यने सूक्ष्म दृष्टिसे पर्यालोचन करते हुए बाह्य निमित्तको गौण बनाते हुए आत्मपतनमें कारण अपनी ही दूषित मनोवृत्तिको बताया है।

महाकवि वादीभसिंह कहते हैं कि वस्तुका यथार्थ चिन्तवन करनेके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिका अंतःकरण मत्सरभावरूप विकारोंसे मलिन न हो—

मत्सराणां हि नोदेति वस्तुयाथात्म्यचिन्तनम् ॥१०-३५॥

सम्पत्तिः—

जिस प्रकार संसारकी अन्य वासनाएँ इस प्राणीके अंतःकरणको अन्धा बना दिया करती हैं, उसी प्रकार सम्पत्तिका मद भी बहुधा विवेक चक्षुओंको नष्ट कर दिया करता है। इसी कारण धनान्ध पुरुषोंका आचरण चक्षुषा-अन्धोंको मात करता है। इस विषयमें आचार्य महाराज बड़े मार्मिक शब्दोंमें प्रकाश डालते हैं—

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम् ।
प्रयान्तोपि न कार्यान्तं धनान्ध इति चिन्त्यताम् ॥२-५६

अर्थात—'धनान्ध पुरुष न सुनते हैं (यद्यपि उनके कान मौजूद हैं हाँ मतलबकी बातको तत्काल ग्रहण करते हैं) न समझते हैं (कारण सच्चे हितकी शिक्षाके विषयमें वे उपयोग ही नहीं लगाते हैं), न कल्याणप्रद मार्गमें प्रवृत्ति करते हैं (कदाचित उपयोगी कथनको सुनलें तथा समझ भी लें तो), प्रवृत्ति करते हुए भी कार्यके परिणाम तक नहीं जाते।

साधारणतया लोगोंकी धारणा है कि जैसे जैसे संपत्ति अधिक होती जाती है वैसे वैसे आनन्द तथा शांतिकी वृद्धि भी होती जाती है। इस विषयमें भ्रमनिवारण करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं।

धनार्जनादपि क्षेमे क्षेमादपि च तत्क्षये ।
उत्तरोत्तरवृद्धा हि पीडा नृणामनंतशः ॥ २-६७ ॥

अर्थात—संपत्तिका अर्जन करनेमें जितनी पीड़ा होती है, उससे अनंतगुणी पीड़ा उस द्रव्यके रक्षण करनेमें होती है, इसी प्रकार संपत्तिके क्षयमें अनंतगुणा दुःख होता है। इस भांति उत्तरोत्तर अनंतगुणी पीड़ा बढ़ती जाती है।

तात्पर्य यह है कि संपत्तिके कमानेसे उसके विनाश तक सब अवस्थाओंमें अधिक ही अधिक चिंता सताती है, जिससे वास्तविक शान्तिका दर्शन भी दुर्लभ हो जाता है।

धनमें अनेक बाधाएँ विद्यमान हैं किन्तु ऐसे वीतराग विरले प्राणी हैं, जिनने धनकी लालसा त्यागदी है इसी लिए एक कविने कहा है—

कनक-कामिनी-विषय बस दीखै सब संसार ।
त्यागी वैरागी महा साधु सुगन भंडार ॥

धनकी लालसा साधारणतया सभी प्राणियोंके अंतःकरणमें रहा करती है इस सम्बन्धमें ग्रंथकार कहते हैं धनाशा कस्य नो भवेत् (३-२)—धनकी आकांक्षा किसके नहीं होती? पैतृक विपुल द्रव्य होते हुए भी मनुष्य शांतिपूर्वक उसका उपभोग नहीं करता।

अस्तु पैतृक मस्तोकं वस्तु किं तेन वस्तुना ।
रोचते न हि शौण्डाय परपिंडादिदीनता ॥३-४॥

अर्थात—पैतृक सपत्ति यदि महान भी हो, किन्तु वह किस कामकी? उद्योगी पुरुष अन्यके द्रव्यकी दीनताको पसंद नहीं करते।

निर्धनता—

दरिद्रताके विषयमें आचार्य बड़े मार्मिक शब्दोंमें वर्णन करते हैं कि सचमुचमें प्राणियोंके लिए दरिद्रता मौतके समान है, यद्यपि इसमें यह विशेषता है कि यह प्राणोंके रहते हुए मृत्यु है—

अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥३-६॥

जहाँ संपत्तिशाली पुरुष 'धनैर्निष्कुलीना कुलीना भवंति'— कुलहीन होते हुए भी कुलीन माने जाते हैं, मंदज्ञानी होते हुए भी विद्वान् माने जाते हैं। अदर्शनीय और गुणहीन होते हुए भी सुंदर तथा गुणसम्पन्न माने जाते हैं वहाँ गरीबीमें विद्यमान गुणोंको भी नहीं पूछा जाता। इस कारण आचार्य लिखते हैं—

रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोखिलो गुणः ।
हन्त किं तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते ॥३-७॥

अर्थात्—निर्धनके प्रशंसनीय संपूर्ण गुण जागृत नहीं होते, और तो क्या विद्यमान ज्ञान भी शोभाको नहीं प्राप्त होता।

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि ही. ग्रे. ने अपनी अमर रचना 'एलेजी' (Elegy) में निर्धनताकी तीव्र ठंडसे तुलनाकी है और लिखा है कि इसके द्वारा आत्माका सुन्दर निर्झर बर्फके समान जम जाता है।*

नारी-निरूपणः—

गुणवती नारियोंके विषयमें आचार्यके महत्त्वपूर्ण उद्‌गार क्या हैं इसका पता इससे चल सकता है कि उनमें जीवंधरकुमारकी माता विजयाका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह महाराज सत्यंधरके राज्यासनके आधे भागमें आकर बैठी थी। इसी प्रकार सूरिकल्प आशाधरने भी गुणसम्पन्न महिलाओंकी गौरव पूर्ण अवस्था बताई है:—

धर्मश्रीशर्म-कीर्त्येक केतनं हि पतिव्रताः
(सागारधर्मामृत)

धर्म, संपत्ति, सुख तथा कीर्तिकी एकमात्र ध्वजा पतिव्रता स्त्रियां हैं। इसी प्रकार अन्य जैन ग्रंथकारोंने महिला-महिमाका वर्णन किया है, किन्तु नारी जाति-सुलभ दोषोंका वर्णन करनेमें ग्रंथकारने किसी प्रकार कमी नहीं की है।

स्त्रियोंमें ईर्ष्याकी प्रचुरताको देखकर आचार्य लिखते हैं—

'ईर्ष्या स्त्री-समुद्भवा'

ईर्ष्याकी उत्पत्ति स्त्रीसे हुई।

स्त्रियोंकी माया कषायके विषयमें कहते है कि—

मायामयी हि नारीणां मनोवृत्तिर्निसर्गतः ॥७-४६॥

'स्वभावसे स्त्रियोंकी मनोवृत्ति मायापूर्ण होती है।'

प्रतारणे विधौ स्त्रीणां बहुद्वारा हि दुर्मतिः ।७-४५।

बंचना करनेमें स्त्रियोंको दुर्बुद्धि अनेक द्वार वाली होती है।

नैसर्गिकं हि नारीणां चेतः संमोहिचेष्टितम् ।८४।

रमणियोंकी स्वाभाविक चेष्टाएँ हृदयको सम्मोहित करने वाली होती हैं। इस कारण ग्रंथकार उच्च तथा निर्मल चरित्र वाले पुरुषोंके लिए स्त्री-सम्बन्धसे बचनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

अंगारसदृशी नारी नवनीत-समा नराः।
तत्तत्सान्निध्यमात्रेण द्रवेत्पुंसां हि मानसम् ।७-४१।×
संलापवासहासादि तद्वर्ज्यं पापभीरुणा।
बालया वृद्धया मात्रा दुहित्रा वा व्रतस्थया ॥७-४२॥

अर्थात—नारी अंगारके तुल्य है और पुरुष मक्खनके समान है इस कारण नारीकी समीपतासे पुरुषका अंतःकरण द्रवीभूत होता है।

अतः पापसे डरने वाले व्यक्ति को बालिका, वृद्धा, माता, पुत्री तथा व्रतस्थाके साथ (एकान्तमें) वचनालाप, हंसी आदि छोड़ना चाहिये।

स्त्रियोंकी रुचिका वर्णन इस प्रकार करते है—

अप्राप्ते हि रुचिः स्त्रीणां न तु प्राप्ते कदाचन ।७-३५।

उपलब्ध वस्तुमे स्त्रियोंकी रुचि कभी नहीं होती, किन्तु अप्राप्त वस्तुमें उनका अनुराग रहता है।

पुरुषवर्ग उतनी जल्दी अन्यके मनोभावोंको चेष्टाओंसे नहीं पहिचान पाता, जितने शीघ्र स्त्री समझ लेती है।

निसर्गादिङ्गितज्ञानमङ्गनासु हि जायते ।७-४४।

स्वभावसे अभिप्रायोंको व्यक्त करने वाली शरीरादि सम्बन्धी चेष्टाओंका परिज्ञान स्त्रियोंमें पाया जाता है।

स्त्रियोंके सम्बन्धमें शेक्सपियरने भी लिखा है—

Frailty thy name is woman (Hamlet)

'चंचलता तेरा नाम ही तो स्त्री है!'

स्त्रियोंमें ममताका भाव अधिक मात्रामे पाया जाता है। अपनी संततिके लिए वे अपने प्राणोंकी भी चिन्ता नहीं करतीं। मुनिराज श्रीमान तुंग* ने बताया है कि हरिणी अपने शिशुकी रक्षाके लिए सिंह तकका मुकाबला करनेका अति साहस कर लेती है। इस कारण थोड़े शब्दोंमें महाकवि वादीभसिंह वर्णन करते हैं कि—

---

* But knowledge to their eyes her ample page Rich with the spoils of time did neer unroll; chill penury repressed their noble rage and froze the general current of the soul.
Greys Elegy

× मूलाचार शास्त्र तथा मनुस्मृतिमें भी इस प्रकारके भाव व्यक्त किए गए हैं।

अर्धासननिविष्टेयम् अभाषिष्ट च भूभुजः ॥१-२२

* देखो भक्तामरस्तोत्र श्लोक ५

सुत प्राणा हि मातरः ।। ८-५४ ।।

"माताके प्राण उनके पुत्र होते हैं।"

इसीसे अपनी संततिके प्रति माताओंका स्नेह अप्रतिम रहता है और अपने प्राणरूप संततिके संरक्षणके निमित्त वे ऊपरी प्राणों तककी परवाह नहीं करतीं।

जिस नारी जातिका बहुलताकी अपेक्षा कुछ ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है, वह एक तत्त्वदर्शी महात्माकी दृष्टिका वर्णन है। ब्रह्मचर्यकी उच्च श्रेणीपर समारूढ महात्मा लोग ऐसे ही विचारोंके द्वारा अपनी आत्माको पतित दुराचारके मार्गमें बचाते हैं तथा दिव्य सिद्धियां प्राप्त करते हैं। किन्तु रागी, भोगी तथा विलासी पुरुषोंकी कथा और भावना निराली रहती है।

विषयासक्तिका दुष्परिणाम—

इस विषयासक्तिमें मग्न होकर लोग बड़ेसे बड़े अनर्थ करनेसे विमुख नहीं होते। महाराज सत्यंधरकी विषयासक्ति और उसका दुष्परिणाम राज्य त्याग आदिको ध्यानमें रखकर आचार्य श्री वादीभसिंह लिखते हैं—

अधिस्त्रिरागः क्रूरोयं राज्यं प्राज्यमसूनपि ।

त्वक्षं चिता हि मुञ्चन्ति किं न मुञ्चन्ति रागिणः ।।१-७२।

अर्थात्—स्त्रीविषयक अनुराग बड़ा कठोर है, उसके कारण ठगाए गए मनुष्य विशाल साम्राज्य तथा अपने प्राणों तकको भी छोड़ देते हैं। ऐसी कौनसी चीज़ है जिसे विलासी पुरुष नहीं छोड़ देते हैं।

महाराज सत्यंधरके सिवाय ग्रंथोंमें अनेक विलासी राजाओं तथा अन्य पुरुषोंकी स्त्रियोंके प्रति आसक्तिके कारण दुर्दशाका खासा चित्रण किया गया है। तीन खंडके अधिपति अत्यन्त तेजस्वी रावणकी विश्वव्यापी अकीर्ति तथा महान दुर्गतिका कारण भी स्त्रीके प्रति अनुचित आसक्ति था। दूर जानेकी कोई ज़रूरत नहीं है जब हम अपने ही युगमें कई ऐसे विलासी नरेशोंको भी देखते हैं जिनको वनिता-विलासके कारण अपने राज्यको भी छोड़ना पड़ा। इसी प्रकार पूर्वके सम्राट अष्टम एडवर्ड और आजके ड्यूक आफ विंडसरने अपनी द्विपति-परित्यक्ता प्रेयसीके प्रति अत्यासक्तिवश जबरदस्त साम्राज्य को छोड़ दिया, किन्तु अपने रागभावको नहीं छोड़ा। इससे यह भाव स्पष्ट होजाता है कि जब अपनी जीवननिधि भोगासक्तिवश लुटा दी जाती है तब साम्राज्यका त्याग कोई बड़ी बात नहीं है। इसी कारण आचार्यने यह अमर सत्य बात बताई 'किं न मुंचन्ति रागिणः'। ऐसी स्थितिमें तार्किक चूडामणि महाकवि श्री सोमदेवकी उज्वल शिक्षा हृदय पटल पर अंकित किए जाने योग्य है—

एतदेव द्वयं तस्मात्कार्यं स्त्रीषु हितैषिभिः ।

आहारवत्प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिरथवा परा ।।

(यशस्तिलक चम्पू उत्तरार्ध पृ० ६०)

अर्थात्—अपनी भलाई चाहने वालोंको ये दो बातें करना चाहिये। या तो आहारकी भांति (मर्यादा पूर्वक) स्त्रियोंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये, अथवा निहारके समान उनसे निवृत्ति करनी चाहिये।

स्त्रियोंके विषयमें जो लोग सुख समझते हैं उसके सम्बन्धमें आचार्य महाराज कहते हैं—

अविचारितरम्यं हि रामासंपर्कजं सुखम् ।१-७४

अर्थात्—रमणीके संबंधसे उत्पन्न होनेवाला सुख तब तक ही रमणीय है जब तक कि उसके सम्बन्धमें विचार नहीं किया जाता तात्विक दृष्टिसे विचार करनेपर वह दुःखरूप है और आत्माके स्वरूप लाभमें जबरदस्त अंतराय है।

जिस प्रकार उपरोक्त विचार-सरणिसे पुरुष अपने उज्वल चरित्रकी रक्षा करता हुआ ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेसे विचलित नहीं होता, उसी प्रकार पुरुषोंके विषयमें तथा विषय जन्य सुखकी निस्सारताका विचार करते हुए महिलाएं भी दुराचारी तथा पापी पुरुषोंके आक्रमणसे अपने शील रत्न की रक्षा किया करती हैं।*

वैराग्य

युद्ध भूमिमें शरीर त्याग करनेके कुछ क्षण पूर्व महाराज सत्यंधरके हृदयमें जो विरागता उत्पन्न हुई थी, उस समयके मनोभावोंका ग्रंथकारने बड़े मार्मिक शब्दों में विवेचन किया है। सत्यंधर सोचते हैं—

* यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाय संभवः ।।
ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।
सतीत्वेन महत्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ।।
ज्ञानार्णव पृष्ठ १५१-१५२

विषयाः संग दोषोयं त्वयैव विषयी कृतः।
साम्प्रतं वा विषप्रख्ये मुंचात्मन विषये स्पृहाम॥६६॥

हे आत्मन्! विषयोंसे सम्बन्ध रखनेका दुष्परिणाम तूने ही अनुभव कर लिया है। अब तो विषके समान विषयोंमें लालसाका त्याग कर। महाराज यह भी विचारते हैं—

हे आत्मन्! यह सब सामग्री तेरे द्वारा पूर्वमें भोगी जा चुकी है। इस कारण से ही उच्छिष्ट (जूठे) राज्य का त्याग करदे। इस प्राणी के भव तो अनंत होते हैं।'

वे यह भी चिंतन करते हैं—

अवश्यं यदि नश्यंति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यात् मुक्तिः संसृतिरन्यथा॥६८॥

यदि बहुत समय तक ठहरनेके अनंतर भी विषय विनाशको प्राप्त होते हैं, तब तो उनको स्वयं छोड़ देना चाहिये। इससे आत्माको दुःखोंसे मुक्ति हो जायगी। अन्यथा कहीं विषयोंने विनष्ट होकर स्वयं छोड़ दिया, तो संसार ही रहेगा।

त्यागके समर्थनमें ग्रंथकार एक बड़ी अपूर्व तथा गंभीर बात लिखते हैं—

त्यज्यते रज्यमानेन राज्येनान्येन वा जनः।
भज्यते त्यज्यमानेन तत्त्यागोस्तु विवेकिनाम्॥ ६६॥

जिस राज्यके प्रति यह प्राणी आसक्ति धारण करता है उससे तो यह जीव छोड़ दिया जाता है, किन्तु जिन राज्यादिक पदार्थोंका यह त्याग करता है, वे विभूतियां इस की सेवा किया करती हैं। इससे विवेकी पुरुषोंको त्याग करना चाहिये।

इस विषयका खुलासा छायाके उदाहरणसे भली प्रकार हो जाता है। जब मनुष्य अपनी छायाको पकड़ने जाता है तो वह उससे दूर भागती है, किन्तु वह जब उस छायाको छोड़ कर आता है, तब वही छाया इसका पीछा करती है।

इसी प्रकार संसारी प्राणी जिन विभूतियोंकी दिन-रात कामना करते फिरते हैं, वे उनको नहीं प्राप्त होती है, किन्तु तीर्थंकर भगवान जब राज्यावस्थाकी अनुपम तथा अमूल्य विभूतिका त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा लेते हैं, तो वही विभूति अत्यंत समुन्नत होकर उनके चरणोंकी आराधना करती है, यद्यपि वे उस समवशरणकी त्रिलोकातिशायिनी विभूतिसे भी चार अंगुल ऊँचे रहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि त्यागके द्वारा ही अपूर्व पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

इसी भावको हृदयमें रखकर एक कवि लिखता है—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम।
अब जो नफरत हमने की, वो बेकरार आनेको है॥

आत्म-निरीक्षण—

ग्रंथकारने आत्मोद्धारके लिए आत्म-निरीक्षण (Introspection) को आवश्यक बताया है।

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोयं युक्तः कायेन चेदपि॥ १-८४॥

दूसरेके दोषोंके समान अपने दोषोंको देखने वाले पुरुषके समान कौन है? वह तो शरीर सहित होते हुए भी (एक प्रकारसे) मुक्त है।

विपत्ति और उसका प्रतिकार—

यह प्रवृत्ति आम-तौर पर देखी जाती है कि विपत्तिके आनेपर बड़े २ व्यक्ति घबड़ा जाया करते हैं, इस सम्बन्धमें तत्वज्ञानी वादीभसिंह सूरि कहते हैं—

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम्।
पावके नहि पातः स्यात्, आतप-क्लेश-शान्तये॥१-३०

विपत्तिके निवारणके लिए मनुष्योंको क्या शोक उचित है? सूर्यके संताप-जनित पीड़ाकी शांतिके लिए तो कोई अग्निमें नहीं गिरता?

ततो व्यापत्प्रतीकारं धर्ममेव विनिश्चितु।
प्रदीपैर्दीपिते देशे न ह्यस्ति तमसो गतिः॥ १-३१॥

इस कारण मुसीबतका इलाज धर्मका निश्चय करो। दीपकके द्वारा प्रकाशित जगहमें अंधकारका गमन नहीं होता।

विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्वं न शोकिता॥३-१७॥

'संकट दूर करनेका उपाय निर्भीकता है, शोक नहीं।' मूढ़ पुरुष उपरोक्त सत्यको भूल जाते हैं इससे उनका कष्ट दूर नहीं होता।

विपदोपि हि तद्भीतिर्मूढानां हन्त बाधिका।

'विपत्ति तथा उसका भय भी मूढ़ पुरुषोंको पीड़ा देता है।' इसीसे अंग्रेजी भाषाके एक कविने यह लिखा है—

Cowards die many a time before their deaths valiant taste of death but once.

अर्थात्—भीरु पुरुष अपनी मृत्यु आनेके पूर्व अनेकबार मरण करते हैं, किन्तु वीर पुरुष मृत्युका स्वाद केवल एक बार चखते हैं।

इसी बातको हृदयमें रखकर मजबूत अंतःकरण वाले भयंकरसे भी भयंकर पीड़ा आने पर अपने पुरुषार्थसे विमुख नहीं होते—

सत्यामप्यभिषंगार्तौ जागर्त्येव हि पौरुषम्। १-२८

संकटमें निर्भयता धारणकर पुरुषार्थ करनेका जो परिणाम होता है उसकी ओर आचार्य इन शब्दोंमें प्रकाश डालते हैं—

'सत्यायुषि हि जायेत प्राणिनां प्राणरक्षणम्। ३-१०

अर्थात्—आयु कर्मके बाकी रहनेपर प्राणियोंके प्राणों की रक्षा होजाती है।

यदि संकटमें तत्त्वज्ञान-निधि विद्यमान है, तो वह मुसीबत बड़ी विभूतिके रूपमें परिणत हो जाती है इस बातको बतलाते हुए आचार्य महाराज लिखते हैं—

दुःखार्थोपि सुखार्थो हि तत्वज्ञानधने सति। ३-२१

अर्थात्—तत्वज्ञान-धनके पास रहनेपर दुःखकी सामग्री सुखका कारण हो जाती है।

शेक्सपियरने भी As you like it नामक नाटक में लिखा है कि Sweat are the uses of adversity।

'कष्टका परिणाम मधुर होता है (यदि विवेक जागृत रहे)।' यदि मनुष्य पवित्र कार्योंको करता हुआ पुण्य संपादन करले, तो उसके पास आपत्ति कभी भी नहीं आती। इस कारण आचार्य कहते हैं—

भाग्ये जागृति का व्यथा (१-१८)

भाग्य यदि जागृत है तो फिर क्या कष्ट हो सकता है?

श्मशानमें जिस प्रकार क्षणिक वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उस प्रकार दुःखकी चिंता भी क्षणभर रहती है। दुःख के दूर होते ही, या उसके मंद होनेपर लोग उसे भूल जाते हैं और अपने कल्याणकारी उपायसे विमुख हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें आचार्य कहते हैं—

'दुःख चिंता हि तत्क्षणे'। १-३२

इस प्राणीके भाग्यचक्रकी गति बड़ी निराली है, क्षण-भरमें राजासे रंक अथवा रंकसे राजा बन जाता है। इस विचित्रताका सुंदरभाव कविवर भूधरदासकी इन पंक्तियोंमें निहित है:—

काहू घर पुत्र जायो, काहूके वियोग आयो,
काहू रागरंग, काहू रोआरोई करी है।
ऐसी जगरीतिको न देख भय-भीत होत,
हाहा नर मूढ तेरी बुद्धि कौन हरी है
मानुष जनम पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करोरनकी एक एक घरी है।

इस भावको महाकवि वादीभसिंह इन शब्दोंमें समझाते हैं:—

न हि वेद्यो विपत्क्षणः। ३-१३।

इसका तात्पर्य यह है कि किस समय विपत्ति आजाय, यह नहीं कहा जा सकता। सचमुचमें यह कौन जानता था कि रूसके सम्राट जारके दिन जो अत्यन्त चैनसे बीत रहे थे, उनका अचानक अन्त आजायगा, तथा उसे नारकीय यातनाओंके साथ अपने जीवन की अन्तिम घड़ियां गिननी पड़ेंगी।

अविवेकी व्यक्तियोंकी आदत रहती है कि वे सत्पुरुषों की बातों पर पूर्वसे विश्वास नहीं करते हैं, किन्तु ठोकरें खानेके बाद उनको अक्ल आया करती है। आचार्य महाराज कहते हैं:—

विपाके हि सतां वाक्यं विश्वसन्त्यविवेकिनः ॥१-३५॥
महाकाल कृता वांछा संपुष्णाति समीहितम्।
किं पुष्पावचयः शक्या फल काले समागते ॥१-३६॥

'अविवेकी लोग सत्पुरुषोंके वाक्योंपर उनके फलित होने पर विश्वास करते हैं।'

'असमयमें की गई अभिलाषा मनोकामनाको पूर्ण नहीं करती है। भला फलके समय आजाने पर क्या पुष्पोंका संग्रह संभव हो सकता है?'

आत्मोद्धार—

महाकवि इस बातका कारण बताते हैं कि अनेक उपाय करनेपर भी बहुतसे व्यक्तियोंका ध्यान कल्याणके मार्गकी ओर आकर्षित नहीं होता। देखिये वे क्या कहते हैं:—

शिक्षावचः सहस्रैर्वा क्षीणे पुण्ये न धर्मधीः ।
पात्रे तु स्फायते तस्मात्, आत्मैव गुरुरात्मनः ॥२-४५

'पुण्य क्षीण होने पर शिक्षाकी हजारों बातोंके द्वारा भी धर्ममें बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। वे ही शिक्षाप्रद बातें यदि पात्रमें पहुँचती हैं, तो वे वृद्धिको प्राप्त होती हैं। इस कारण आत्माका गुरु आत्मा ही है।'

बात वास्तवमें यह है कि यदि मनुष्य पात्र है—पुण्यवान् है—तो कल्याणप्रद बातें उसपर असर करती हैं और यदि व्यक्ति पुण्यहीन अपात्र है, तो वे ही अमूल्य उपदेश कार्यकारी नहीं होते। इस कारण आत्माके उद्धार करनेमें बाह्य पदार्थोंके स्थानमें आत्मशक्ति या सामर्थ्यका विशेष स्थान है। यदि अंतरंग पात्रता है, तो निमित्त कार्यकारी है, अन्यथा वह निष्फल सरीखा है।

आत्मीयतामें अनुराग

मनुष्यको आत्मीयता(अपनापन) से अधिक प्रेम रहता है। संसारकी सारी समृद्धि भी यदि पासमें हो तो भी अपने विनाशकी चिन्ता कीलकी तरह हृदयमें चुभा करती है—

पुत्रमित्रकलत्रादौ, सत्यामपि च संपदि ।
आत्मीयाऽपाय-शंका हि शंकुः प्राणभृतां हृदि ॥१-२४॥

'पुत्र मित्र, स्त्री आदि तथा संपत्तिके होने पर भी अपने विनाशकी आशंका जीवधारियोंके हृदयमें शल्यके समान पीड़ा देती है।'

यह आत्मीयता यदि किसी अकार्यके सम्बन्धमें भी हो जाती है तो उसकी सफलता तकमें यह प्राणी आनन्दका अनुभव करने लगता है। इसी बातको लेकर आचार्य महाराज कहते हैं :—

आत्मकृतमकृत्यं च सफलं प्रीतये नृणाम् ॥२-४॥

'अपने द्वारा किया गया अयोग्य कार्य यदि सफल हो जाता है, तो लोगों को वह प्रीतिका कारण होता है।'

एक दूसरा कवि भी इस बातका समर्थन करता है :—

कामयाबी हो गई, तो बेवकूफ़ी पर भी नाज़।
नाकामयाबी जो हुई, तो अक्ल भी शर्मिन्दा है॥

व्यवहार नीति

इस जगतमें सज्जन और दुर्जनोंका समुदाय पाया जाता है। दुष्ट पुरुष अपनी अयोग्य चेष्टाओं से साधुचरित्र व्यक्तियोंको पीड़ा पहुँचाया करते हैं इस लिये अपनी रक्षा करनेके लिये साधारण मनुष्यको विशेष नीति से काम लेना पड़ता है। इस विषयमें ग्रंथकार लिखते हैं:—

संसृतौ व्यवहारस्तु नहि माया-विवर्जितः ॥३-२७॥

संसारमें मायारहित व्यवहार नहीं पाया जाता।

आचार्य सोमदेवने यशस्तिलक (उत्तरार्ध पृ० १४५) में इस सम्बन्धमें और भी अधिक खुलासा किया है :—

धूर्तेषु मायाविषु दुर्जनेषु स्वार्थैकनिष्ठेषु विमानितेषु ।
वर्तेत यः साधुतया सलोकः प्रतार्यते मुग्धमतिर्न केन ।१४५

अर्थात्—जो भोला मनुष्य धूर्तों, कपटियों दुष्टो, स्वार्थियों और अपमानितोंके साथ साधुतापूर्ण व्यवहार करता है, वह किसके द्वारा नहीं ठगा जाता ?

इसी बातका समर्थन भारवि कविने अपने किरातार्जुनीय में निम्न प्रकारसे किया है :—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः

वे मूढमति अपमानको प्राप्त करते हैं, जो मायावी व्यक्ति के साथ मायावी नहीं बनते हैं।

दुनियामें परस्पर स्वार्थोंका संघर्ष होता रहता है और जो बलवान या अधिक योग्य होता है वही जीवित रहता है। Survival of the fittest वाली बात सभी जगह चरितार्थ होती पाई जाती है। इसके सिवाय 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली वृत्ति भी प्रायः देखनेमें आती है। यह दुःखकी बात है कि लोग स्वार्थवश न्यायका आदर न करके अपनेसे कमज़ोरोंको कष्ट दिया करते हैं। इस विषयमें आचार्य कहते हैं—

दुर्बला हि बलिष्ठेन बाध्यन्ते हन्त संसृतौ—११-३४

'दुःख है कि संसारमें दुर्बल प्राणी बलवानोंके द्वारा पीड़ित किए जाते हैं।'

बाह्य निमित्तका प्रभाव

कभी २ यह देखा जाता है कि लोग अपनी कमज़ोरियों को छिपानेके लिये यह कहते हुए देखे जाते हैं कि बाह्य बातोंमें क्या रक्खा है, अंतरंगकी आवश्यकता है। इसी विषय में यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो ज्ञात होगा कि बाह्य निमित्त अंतरंग भावोंको उत्पन्न करनेमें काफी सहायक होते हैं। महाकवि वादीभसिंहने बताया है कि जब महारानी विजयाने अपनेमें ही संसारकी विचित्रताका दर्शन करके विरक्त भावपूर्ण आर्यिकाकी दीक्षा धारण की,

तब माता सुनंदाने भी उनका अनुकरण किया। इस कारण ग्रंथकार कहते हैं :—

पाके हि पुण्य-पापानां भवेत् बाह्यं च कारणम् ॥११-१४॥

पुण्य पापके विपाक होनेमें बाह्य पदार्थ कारण होते हैं।

चित्तवृत्तिकी विचित्र दशा है, योगियोंके चित्त तक में कभी २ चंचलता उत्पन्न हो जाती है। बड़े उदात्तचरित्र व्यक्तियोंके अंतःकरणमें रागद्वेष उत्पन्न होकर विकृति उत्पन्न कर देते हैं। फिर भी साधारण लोगोंकी अपेक्षा उनमें विशेषता क्यों रहती है इसका कारण यह है—

यदि रत्नेऽपि मालिन्यं नहि तत् कृच्छ्रशोधनम् ॥११-२०॥

यदि रत्नमें मलिनता उत्पन्न होती है, तो उसके शुद्ध करनेमें कठिनता नहीं पड़ती—अर्थात् सरलतापूर्वक रत्नमें से मलिनता दूर की जा सकती है।

इसी प्रकार महान् आत्माओंमेंसे विकार भी सरलतासे दूर किया जा सकता है।

विषयासक्त व्यक्ति अपने इष्ट पदार्थको प्राप्त करनेमें दीनवृत्ति धारण कर लिया करते हैं, किन्तु जितेन्द्रिय पुरुष की स्थिति निराली होती है—

वांछितार्थेऽपि कार्पण्यं वशिनां नहि दृश्यते ॥ ८-५३ ॥

अर्थात्—जितेन्द्रिय पुरुष अपने मनोवांछित पदार्थ तक में दीनभाव नहीं धारण करते।

कौन नहीं जानता कि संसारमें स्नेहका बन्धन सबसे ज़बरदस्त होता है। इसी कारण जिनेन्द्र भगवानको वीत-राग शब्दसे संबोधित करते हैं, जिससे उनकी महत्ता हृदय पटल पर अंकित हो जाती है।

स्नेह-बंधनके विषयमें महाकवि लिखते हैं—

स्नेह-पाशो हि जीवानामासंसारं न मुंचति ॥८-२२॥

'प्रेमका बन्धन जीवोंको संसारपर्यन्त नहीं छोड़ता है।'

इसी स्नेहके कारण बलभद्र जैसे महानुभाव नारायणके प्राणहीन शरीरको जीवित समझकर बहुत समय तक लिए-लिए फिरते हैं। बड़े २ ज्ञानियों तकको यह प्रेमका बन्धन मोह जालमें फंसा देता है। और उस इष्ट पदार्थके वियुक्त होने पर उसकी स्मृति अत्यन्त संतापजनक होती है—

ध्यातेऽपि पुरा दुःखे भृशं दुःखायते जनः ॥ ८-१३ ॥

इसका भाव यह है कि पूर्वदुःखका ध्यान करने मात्र से यह प्राणी तीव्र पीड़ाका अनुभव करता है।

इसका कारण यह है कि आसक्तिवश यह जीव पुरातन इष्ट सामग्रीका जब स्मरण करता है, तब उनका अभाव इसे भयंकर दुःख देता है, और कालकेद्वारा इसके हृदयके जो घाव सूखसे जाते हैं, वे पुनः हरे हो जाया करते हैं और पुनः पीड़ा उत्पन्न करना शुरु कर देते हैं।

इस विषयमें महाकवि शेक्सपियरने अपनी Memory नामक कवितामें इन भावपूर्ण शब्दों द्वारा प्रकाश डाला है—

"When to the sessions of sweet silent thought
I summon up remembrances of things past
I sigh the lack of many a thing I sought
Then can I drown an eye unused to flow
For precious friends hid in death's dateless night"*

बड़े बड़े दुःखोंको भी यह मानव भूल जाता है, यदि थोड़ी भी नवीन सुखकी प्राप्ति हो जाय।

विस्मृतं हि चिरं भुक्तं दुःखं स्यात् सुख-लाभतः ॥८-११

रागभाव

मोह और ममताके कारण यह आत्मा अपने स्वरूपको समझ नहीं पाता और इससे अपनी दुर्गतिकी साधन-सामग्रीको एकत्रित किया करता है। इस कारण तत्वज्ञानी आचार्य महाराज बहुत गहरे अनुभवकी यह चिरस्मरणीय शिक्षा देते हैं :—

तीरस्थाः खलु जीवन्ति, न हि रागाब्धिगाहिनः ॥८-१

अर्थात्—रागरूप समुद्रके तटपर रहने वाले तो जीवित रहते हैं, किन्तु उस समुद्रमें प्रवेश करने वाले नहीं।

कदाचित् कोई यह सोचे कि रागादिके द्वारा ही मैं संसारके परिभ्रमण तथा दुःखोंका नाश करूँगा, तो इसके समाधानमें ग्रंथकार कहते हैं—

ग्रंथानुबंधी संसारस्तेनैव न परिच्छिदी।

रक्तं न दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन शुध्यति ॥ ६-१७

रागादि दोषों तथा बाह्य परिग्रहोंके सम्बन्धमें तो यह संसार है, उस परिग्रहके द्वारा इसका विनाश नहीं होगा। खूनसे मलिन कपड़ा खूनसे शुद्ध नहीं होता।

---

* जब मैं मधुर तथा प्रशान्त विचारोंकी बैठकोंमें पुरातन पदार्थोंकी स्मृतियोंको आमंत्रित करता हूँ, तब मैं उन अनेक वस्तुओंके अभावसे दुःखभरी सांस छोड़ता हूँ, जिनको मैं खोजता था। तब मैं मृत्युकी अमर्यादित रात्रि में छुपे हुए अमूल्य मित्रोंके लिए अश्रुपात करनेमें अनभ्यस्त अपने नेत्रको आर्द्र कर सकता हूँ।

जिस प्रकार बिल्लीके बच्चेमें क्रूरता तथा कुटिलता पर्याय-जनित होती है, वह उसका निसर्गज धर्मता है, उसी प्रकार भोगादिकमें इस प्राणीकी बिना सिखाए ही प्रवृत्ति होती है। आहारादिक सिखानेके लिए कोई स्कूली शिक्षाकी आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि अपने आप ही जीवकी उस ओर प्रवृत्ति होती है। इससे आचार्य कहते हैं :—

संसारविषये सद्यः स्वतो हि मनसा गतिः ॥ ८–८

'संसारके विषयोंमें शीघ्र ही अपने आप मनकी प्रवृत्ति होती है।'

स्वप्न-विज्ञान

महर्षि जिनसेनने अपने आदिपुराणमें बताया है कि जो स्वप्न वातादि दोषके बिना रात्रिके अन्तिम प्रहरमें दिखाई देते हैं, वे फलवान होते हैं। इसी प्रकार महाकवि वादीभसिंह भी लिखते हैं—

अस्वप्नपूर्वं हि जीवानां नहि जातु शुभाशुभम् ॥

'प्राणियोंके शुभ-अशुभ बिना स्वप्नके नहीं पाए जाते।'

उदारता

संसारके लोगोंको आनंद अपनी तृष्णाके पूर्ण होनेमें प्राप्त हुआ करता है, किन्तु महान आत्माओंको पदार्थोंके त्याग करनेमें शान्ति मिला करती है। आचार्य कहते हैं—

नादाने किन्तु दाने हि सतां तुष्यति मानसम् ॥ ७-३०॥

'सत्पुरुषोंका अंतःकरण दान देनेमें आनंदित होता है, संग्रह करनेमें नहीं।'

प्रतिष्ठित पुरुष यदि गरीबोंको कुछ द्रव्य न देकर केवल प्रेमपूर्ण वचनालाप कर लेते हैं तो वह छोटे व्यक्तियोंके लिए राज्याभिषेकके तुल्य होता है'—

मुखदानं हि मुख्यानां लघूनामभिषेचनम् ॥ ७–६ ॥

चतुर पुरुषोंके लिए ग्रंथकार यह शिक्षा देते हैं :—

चतुराणां स्वकार्योक्तिः स्वमुखान्न हि वर्तते ॥ ८–२३ ॥

'चतुर लोग अपनी कृतिका वर्णन अपने मुखसे नहीं किया करते।'

वृद्धावस्था

जिस बुढ़ापेमें मनुष्यकी तृष्णा अधिक बढ़ती जाती है और अंगप्रत्यंग शिथिल होते हैं उसके विषयमें आचार्य महाराज बताते हैं कि—'बुढ़ापा तो विरक्तिके लिए है।'

बाधकं हि विरक्तये ॥ ६-१०॥

मक्षिकापक्षसंप्रच्छे मांसास्थ्याच्छादनचर्मणि ।
लावण्यं भ्रान्तिरित्येतन्मूढेभ्यो वक्ति बाधकम् ॥६-१२॥

'मक्खीके पंखसे भी पतले मांसके ढाकने वाले चमड़ेमें लावण्यकी कल्पना भ्रम है, यह बात बुढ़ापा मूढजनोंको बतलाता है।'

हन्त लोको वयस्यन्ते किमन्यैरपि मातरम् ।
मन्यते न तृणायापि मृतिः श्लाघ्या हि बाधकात् ॥६-१४

'दुःखकी बात है कि लोग अपनी माता तकको बुढ़ापा आजाने पर तिनके बराबर भी नहीं समझते, अन्य की तो बात ही क्या? अतः बुढ़ापेसे तो मृत्यु ही प्रशंसनीय है।'

वृद्धावस्थामें क्या करना चाहिये इस विषयमें ग्रंथकार कहते हैं :—

वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।
भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्नहि दह्यते ॥ ११-१८ ॥

बुढ़ापेमें भी विवेकी पुरुषोंको दीक्षा लेना चाहिये। विद्वान् पुरुष रत्नके हारको राखके लिए दग्ध नहीं करते।

पात्रता

इस विषयमें आचार्य महाराज कहते हैं—

पात्रतां नीतमात्मानं स्वयं यान्ति हि संपदः ।

'जो अपनी आत्माको पात्र बना लेता है उसके समीप में सम्पत्तिएं स्वयमेव आती हैं।'

तात्पर्य यह है कि योग्यता लाभ करने वालोंको बिना आकांक्षाके ही मनोवांछित वस्तुका लाभ होता है।

आचार्य महाराज लिखते हैं कि मुखके देखनेसे अंतरंग हृदयकी बातोंका पता चल जाता है।—

वक्त्रं वक्ति हि मानसम् ।

इस प्रकार पूर्ण ग्रंथका पर्यालोचन करनेपर अत्यंत उपयोगी एवं कल्याणकारी सूक्तियोंका भंडार पाया जाता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति ग्रंथके अध्ययनके अनंतर इस सत्यका हृदयसे समर्थन करेगा कि, क्षत्रचूड़ामणि संस्कृत साहित्यकी एक अनूठी रचना है।

सहृदय विद्वानोंका कर्तव्य है, कि इस रचनाका अध्ययन करें, और विश्वविद्यालयोंके पठनक्रममें रखकर इसके प्रचारको व्यापक बनावें।

मध्यप्रदेश और बरारमें जैनपुरातत्व

(लेखक—मुनि कांतिसागर)

आर्यावर्त्त एक कला-प्रधान देश है, क्योंकि पुरातन-कालसे ही कलाको इस देशमें बहुत महत्व दिया जाता रहा है। इस देशने अनेक कलाविदों को उत्पन्नकर कलाको विस्तृत किया है। भारतकी प्राचीन सर्वोत्कृष्ट कलाएँ आज भी समस्त विश्वको आश्चर्यान्वित कर रही है। आज अभारतीय जितने देश कला-कौशल्य का दावा करते हैं वे संभवतः भारतीय कलाका मुकाबिला किसी हालतमें भी नहीं कर सकते। यहाँके निवासी कलाविदोंद्वारा निर्मित साहित्यमें कलाका विशेष रूपसे प्रतिपादन किया गया है। भर्तृहरिने तो यहाँ तक लिखा है कि 'कलाविहीनमानव-जीवन पशु तुल्य है।' इसीसे कलाकी सर्वव्यापकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यहां पर यह न भूलना चाहिये कि कला नाना प्रकारकी होती है। जैसे कि ग्रंथ निर्माण-कला, शिल्प-स्थापत्य-कला, गृह-निर्माणकला आदि भिन्न भिन्न प्रकार की कलाओंके विवेचन करनेका यह स्थान नहीं है। इसके लिये तो स्वतन्त्र निबन्धकी आवश्यकता है।

भारतीय प्राचीन शिल्प-स्थापत्यके इतिहासमें जैन शिल्प-स्थापत्यका एक विशेष स्थान है। उसमें भी मध्य कालीन गुर्जर-शिल्प स्थापत्य कला जितनी जैनियोंमें पाई जाती है उतनी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। भारतीय शिल्प-स्थापत्यके इतिहासमें जैन-शिल्प-स्थापत्यका हिस्सा सर्वोत्कृष्ट है। यों तो जैनियोंकी शिल्प-स्थापत्य-कला समस्त भारतमें फैली हुई है, जिनमेंसे कईके विवरण भी प्रकाशित हो चुके हैं। सी०पी० और बरार प्रान्तमें जैनियोंका काफी प्रभुत्व है। अतः यहाँ भी कुछ स्थापत्य-कलाके नमूने पाये जाते हैं। पर जैनी लोगोंद्वारा अपनी संस्कृतिके गौरवको बढ़ाने वाले उन प्राचीन--शिल्प-स्थापत्योंकी रक्षा करनी तो दूर रही, उनपर ध्यान तक भी नहीं दिया जाता। ऐसी अवस्थामें कई शिल्प-स्थापत्य यों ही नष्ट भ्रष्ट हो गये। जो कुछ भी शेष रहे हैं उनकी भी रक्षा न होगी तो न मालूम भविष्यमें क्या होगा ?

हम यहाँ पर इस प्रान्तमें पाये जाने वाले कतिपय जैन-शिल्प-स्थापत्यका संक्षिप्त परिचय कराते हैं। जो अभी तक शायद अप्रकाशित है। आशा है, यह पाठकों को रुचिकर एवं पुरातत्वज्ञोंको पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा।

रोहणखेड़—पूर्वकालमें यह नगर पूर्णोन्नतिके शिखरपर पहुँचा था ऐसा तत्रस्थित भग्नावशेषोंसे ज्ञात होता है। पुरातन कालमें रोहणाबाद नामसे उक्त शहर मशहूर था। आलमगीर (औरंगजेब) का एक सूबा भी वहां रहता था। वहांके बालाजीके मन्दिरके सामने वाले खेतमें करीब ३॥ फीट लम्बी और २ फीट चौड़ी पद्मासनस्थ प्राचीन अखंडित श्वेताम्बर जैनमूर्ति पड़ी हुई है। यद्यपि मूर्त्तिपर लेख उत्कीर्णित नहीं है, पाषाणपरसे जाना जाता है कि यह मूर्ति ६०० साल पूर्व की होनी चाहिये। मूर्त्ति बहुत ही सुन्दर एवं मनोज्ञ है। बगलमें ही तीन फीट लम्बा और दो फीट चौड़ा स्तंभाकार स्तूप बना हुआ है। जिसमें चारों ओर श्वेताम्बर मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। तथा वहाँ पर शिव मन्दिरमें चक्रेश्वरी एवं अम्बिका देवीकी कलापूर्ण मूर्तियें बहुत ही दुरावस्थामें वर्तमान हैं। इनके अतिरिक्त और बहुतसे जैनेतर देव-देवियोंकी मूर्त्तियें वहाँपर पड़ी हुई हैं। यदि कोई उक्त मूर्त्तियाँ ले जाने वाला होवे तो कोई प्रकार भी रोक टोक नहीं है।

कारंजा—वहाँसे सात कोसपर अवलिया बाबाका एक स्थान है-जहाँपर आजू बाजूके ग्रामीण लोग विश्राम करते हैं। वहाँ एक सुन्दर स्तम्भपर चारों ओर दिगम्बर जैनमूर्त्तियां उत्कीर्णित हैं। ६०० साल पूर्व

को ज्ञात होती हैं। वहांकी चट्टानोंपर और भी जैन-मूर्तियां खुदी हुई हैं। अफसोस इस बातका है कि उक्त स्तम्भ जीनेमें लगा दिया गया है। कारंजा लाड़ जैनियोंका केन्द्र है। सोलहवीं शताब्दिमें यहाँके एक जैनश्रावकने बहुतसे जिनमन्दिर एवं ज्ञानभंडारोंकी भिन्न भिन्न नगरोंमें स्थापना की थी ऐसा मेरे संग्रहके एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा-लेखसे जाना जाता है। हम वहांके नगरनिवासियोंसे उसकी सुरक्षाके लिये आशा रखें क्या?

आर्वी—यहाँके सैतवालके मन्दिरमें एक सुन्दर धातुकी मूर्ति पड़ी हुई है। यह मूर्ति उत्तर भारतीय कलाकी एवं दसवीं से तेरहवीं शताब्दि की होनी चाहिये। लेख नहीं है। अपरिचित व्यक्तियोंको ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति भगवान बुद्धदेवकी होनी चाहिये और इसीसे वे लोग इस मूर्तिको पूजा अर्चनामें नहीं लाते। पहिले लाते थे।

केलसर—यह गांव वर्धासे नागपुर जाते हुये २० वे मीलपर है। वहांके प्राचीन जीर्ण दुर्गके खंडहरों में फिरते फिरते निम्नोक्त दो मूर्तियां देखनेमें आई थीं। दुर्गके ऊपरके गणपति मन्दिरके पीछेके भागमें एक पुरातन वापिकासे करीब एक फर्लाङ्ग दूर दो फीट चौड़ी और चार फीट लम्बी दिगम्बर जैनमूर्ति खंडित अवस्थामें विद्यमान है। मालूम होता है इस मूर्तिको किसीने बुद्धिपूर्वक खंडित किया है। कलाकी दृष्टिमें इस मूर्तिका कोई खास महत्त्व नहीं है। आगे चलकर एक दूसरी सूखी वापिका—के पास जो घने खंडहरोंमें है—तीन फीट चट्टानपर श्वेताम्बर पद्मासनस्थ जैनमूर्ति खुदी हुई है। उपरोक्त मूर्तियोंसे पता चलता है कि यहांपर जैनियोंकी संख्या विशेष परिमाणमें रही होगी। कहा जाता है पुरातन कालमें यह स्थान इतना ऊँचा था जैसा कि आज नागपुर है। आज भी वर्षा कालमें वहांपर बहुतसी चीजें उपलब्ध होती हैं। संभवतः यह दुर्ग भोसलोंने बनवाया होगा।

भद्रावती—मध्यप्रदेशके इतिहासमें भद्रावती यह शुभ नाम बड़े ही गौरवके साथ लिखा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह नगरी काफी प्राचीन है। खास कर यहांपर बौद्धधर्मकी विशेषता रही है। एवं पाश्चात्य शैवमतावलम्बियोंकी संख्या अधिक रही हो ऐसा तत्रस्थित अवशेषोंसे ज्ञात होता है। फिर भी वहांपर जैनमूर्तियां भी उपलब्ध होती हैं। कितनी ही मूर्तियां जैन मन्दिरके पीछेके भागमें एक देवीके मन्दिरमें पड़ी हुई है। संभवतः ५०० वर्ष पूर्वकी होनी चाहिये। वहांसे डेढ़ मील दूरीपर एक विजासनकी गुफामें तीन विशालकाय मूर्तियां उत्कीर्णित हैं। कहा जाता है कि ये मूर्तियाँ जैन धर्म की हैं। हमारे खयालमें यह मूर्तियाँ जैनियोंकी न होकर बौद्धधर्मकी हैं। क्योंकि शरीरपर वस्त्र पड़ा हुआ है और विजासनका संबंध बौद्धधर्मसे है न कि जैनधर्मसे। यहांका पूर्ण इतिहास वर्तमानमें हम लिख रहे हैं।

सिंधी—सिंधी ग्राम केलसरसे करीब ७ मील पर है। वहांके दिगम्बर जैनमन्दिरमें बहुत सी पुरातन जैनमूर्तियाँ हैं। वहीं मन्दिरमें ३६ इञ्च ऊंची पद्मावती देवीकी कलापूर्ण बड़ी मनोज्ञ प्राचीन प्रतिमा अवस्थित है। मस्तकपर जिन भगवानकी मूर्ति रखी हुई है। मूर्तिके आभूषणोंसे ज्ञात होता है कि करीब १३ वी शताब्दिकी होनी चाहिये। यह मूर्ति शिल्पकलाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण ही नहीं अद्वितीय है। हर्षका विषय है कि प्रतिमा बिलकुल अखंडित है।

नागपुर—यह नगर मध्यप्रान्तमें व्यापारका केन्द्र होनेके कारण तथा अन्य कारणोंके सबब बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यहांके अजायब घरमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मूर्तियां काफी संख्यामें विद्यमान हैं। वहांके कुछ लेख भी मैंने लिये हैं।

सिवनी—यहांके दिगम्बर-जैनमन्दिर मध्यभारत में प्रसिद्ध है। इन मंदिरोंमें सात मूर्त्तियां इतनी प्राचीन हैं जो क्रमशः तेरहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दि की हैं। ये मूर्त्तियां घुनसौरसे लाई गई हैं।

छपारा—यहांके पंचायती मन्दिरमें एक मूर्त्ति श्याम पाषाणकी रखी हुई है जो घुनसौरसे लाई गई थी। इस मूर्तिके दोनों ओर खड़ी मूर्त्तियाँ खुदी हुई

हैं। मूर्तिके कर्णके दोनों ओर देवियोंकी मूर्तियाँ और उसके नीचेके अर्धशरीरमें देवियोकी मूर्तियां उत्कीर्णित हैं। पीछेका सिंहासन खंडित है। निम्नस्थान में दोनों ओर ग्रास बने हुये हैं। बताया जाता है कि इस मूर्तिकी जोड़ी घुनसौरमें विद्यमान है। यह मूर्ति दसवीं शताब्दिके करीबकी होनी चाहिये।

लखनादौन—यहाँ एक कायस्थके घरपर कुछ दिगम्बर जैनमूर्त्तियां रखी हैं। नगरके बाहिर एक टीला है जो शान्तिनाथ टोरिया नामसे प्रसिद्ध है। इससे पता चलता है कि यहाँपर पहिले जैनियोंका काफी प्रभुत्व रहा होगा। यहाँसे एक सड़क घुनसौरको जाती है। उसे तो जैनमूर्तियोंका केन्द्र बताया जाता है। यहाँ वर्तमान अवस्थामें भी बहुतसी ऐसी वस्तुएँ मिलती हैं जो मध्यप्रान्तीय संस्कृतिके गौरवकी अभिवृद्धि करती हैं। घुनसौर भी शायद पहिले जैनियोका केन्द्र रहा हो। जबलपुरमें भी बहुतसी ऐसी पुरातन जैनमूर्तियां पाई जाती हैं जो भारतीय मूर्त्तिनिर्माण कलामें अत्यन्त महत्व रखती हैं। सभी मूर्त्तियोंका संक्षिप्त परिचय यथावकाश कराया जावेगा।

उपरोक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि सी०पी० और बरार प्रान्तमें बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री छिपी हुई है। सच पूछा जाय तो मध्यप्रान्तके इतिहासका अभी जैसा होना चाहिये वैसा अन्वेषण ही नहीं हुआ, तो फिर जैनइतिहासके प्रति लोगोंकी उपेक्षा रहे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मध्यप्रान्तमें घूमते समय जितना पुरातत्व हमे मिला उसका संग्रह यहाँपर कर दिया गया है। आशा है कि प्रान्तीय धनीमानी व्यक्ति उपरोक्त संग्रहणीय वस्तुओंका संग्रह एवं सुरक्षा करने का श्रेय प्राप्त करेंगे। ऐसी ही आशासे लेख पूर्ण किया जाता है।

दही-बड़ोंकी डाँट

(लेखक—श्री० दौलतराम 'मित्र')

(१)

बाबू ज्ञानचंद्र बड़ा बननेकी फिक्रमें हैं, बहुत कुछ प्रयत्न भी करते हैं; परंतु अभी तक बड़ा बन नहीं पाये।

वे एक दिन कहींसे थके-थकाये घर आ रहे थे। रास्तेमें हलवाईकी दुकान पड़ी। आवाज आई—"दही बड़ोंकी चाट, ले लो दो पैसेमें आठ!"—मन चल गया! दही बड़े लेकर घर आये। बड़ोंका दोना सामने रखकर तकियेके सहारे लेट गये।

(२)

स्वप्नमें वे देखने लगे—दही बड़े कुछ बड़बड़ा रहे हैं—

ज्ञानचंद्र—महाशय, क्या कुछ कहना चाहते हैं?

बड़े—हाँ, आज आपसे दो-दो बातें करना है।

ज्ञानचंद्र—तो, कहिये।

बड़े—आप लोगोंने हमारे साथ अभी तक जबानी (रसिक) व्यवहार किया है, परंतु क्या कभी हमारे साथ हार्दिक (विचारक) व्यवहार भी किया है कि हम बड़ा कैसे बन पाये हैं?—ज्ञानूबाबू, हम आपको अच्छी तरह जानते हैं, आप भी बड़ा बननेकी बड़ी फ़िक्रमें हो। परंतु जिस तरीकेसे आप बड़ा बनना चाहते हो, उस तरीकेसे बड़ा नहीं बना जाता। यदि बड़ा बनना है बड़ा, तो तरीका हमसे सीखो! देखो बड़ा बननेके लिये परिषहें जय करना होती हैं। सुनो, हम तुम्हें अपनी बीती सुनाते हैं कि हम उर्ध्व (उड़द) जाति के धान्य बड़े कैसे बन पाये। हम

घट्टीमें दलकर दो दो टुकड़े किये गये, रात भर पानी में डाले गये, मसल मसलकर हमारी खाल उतारी गई, सिला-लोढ़ीसे रगड़ रगड़ कर पीसे गये, नमक-मिर्च-मसालेके साथ घोटे गये, तेलमें तले गये, फिर पानीमें डाले गये, निचोड़ निचोड़ कर दहीमें पटके गये,—इतनी परिषह जय की तब कहीं जाकर बड़े बन पाये हैं जनाब! बड़ा बननेके उम्मेदवार ज्ञानूबाबू, अब आप बतलाइये कि क्या इस प्रकार की परिषह आपने कभी जय की है?-हमतो तुम्हे एक लम्बे अर्सेसे देख रहे है, तुम्हारी दृष्टि(लक्ष) अभी शुद्ध नहीं है। उसमें दोष हैं—

१ तुम शंङ्कित (भयभीत) भी हो।

२ तुम कांक्षित (इंद्रियविषय-भोगाभिलाषी) भी हो।

३ तुम दीन-हीन जनोंसे ग्लानि भी करते हो। मद भी करते हो।

४-५ तुम भय, आशा, प्रीति और लोभके वश असत्यमार्गियोंकी प्रशंसा तथा संस्तव भी करते हो। और इस तरह दृढता छोड़ लोक-हितकी उपेक्षा कर जाते हो।

दही बड़े—क्यो हैं न ये दोष? बाबू, हम मानते हैं कि तुम उदार हो, पर-सेवक हो, भद्र परिणामी हो, परंतु इतनेसे ही अगर अपनेको बड़ा मान बैठो तो भूल करते हो, ज्ञानू! यह मार्ग बड़ा टेढ़ा है। देखो हम तुम्हे कुछ सलाहें बतला देते हैं, उन पर ध्यान रखते हुए चलोगे, घबड़ाओगे नहीं, तो ठीक ठिकाने पहुँच जाओगे, और दूसरोंके लिये मार्गदर्शक भी बन जाओगे—

"अगर तुम्हारा निश्चय है यह, तुम्हे बड़ा ही बनना है।
तो परजन का त्याग भरोसा, आत्म-श्रद्धा करना है॥
लोगों की पर्वाह करो मत मनमें तुम दृढ़ता धारो।
ढीले पड़कर जन-मन-रंजन की चिन्ता को भी टारो॥"*

"क्या कहते हो, यह कि शत्रु कोई न हमारा?
छिः जिसने कर्तव्य-मार्ग पर गमन विचारा—
जो वीरों की भाँति माग आक्रमणित करता—
है, अवश्य ही वह बन जाता शत्रु-विधाता॥
दुश्मन कोई है नहीं, तो तुम कर्म अपात्र हो।
अथवा कहने दीजिये, कर्म-क्षेत्र के छात्र हो॥
धोके बाजों की न कमर यदि तुमने तोड़ी।
कुपथ-गामियो की न अगर वह-टोली फोड़ी॥
तो फिर तुमने भ्रात, किया क्या हमें दिखाओ?
युद्ध-क्षेत्र में भीरु बने, क्यो हमे लुभाओ!
नाम कमाना चाहते, तजो आज ही भीरुता।
शुद्ध भाव से मित्रवर, ग्रहण करो कर्तव्यता॥*"

ज्ञानचन्द्र—(सिर झुकाकर) तथास्तु।—आप धन्य हो, आपके सदुपदेशसे मेरी आत्मा आज अंधकारोंसे प्रकाशमें आगई, इसके लिये मै आपका अत्यन्त आभारी हूँ।

(३)

आँख खुली तो ज्ञानचन्द्रने देखा–वही बड़े मौजूद है और वे सभी चुप चाप अपनी अपनी जगह बैठे हैं। परन्तु उनके अपने हृदयमें आन्दोलन शुरू है। विकार और विचार दोनोंकी गुत्थमगुत्था होरही है। अंतमें विकार हारा, विचारकी विजय हुई। दही–बड़ोंकी डाट असर कर गई।

× × ×

ज्ञानचन्द्रकी दृष्टि (लक्ष) अब शुद्ध है। उनमें आत्म-विश्वास और दृढ़ता (चारित्र) नजर आती है। अब तो वे जनमतकी नहीं, जनहित की पर्वाह करते हैं।

---

* "When you have resolved to be great abide by yourself and do not weaking try to reconcile yourself with the world." (Emerson)

* You have no enemies, you say?
Alas! my friend, the boast is poor-
He who has mingled in the pray
Of duty, that the brave endure
Must have made foes! If you have none
Small is the work you have done,
You've hit no traitor on the hip
You've never turned the wrong to right
You've been a coward in the fight
(Charles Mackay)

जैनधर्म भूषण, धर्मदिवाकर

स्व० ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीका स्मारक

सीतल सेवामन्दिर, देहलीके लिये ५००००) रु० की अपील

प्यारे जैन बन्धुओ ! स्व० ब्र० सीतलप्रसादजीने अपने जीवन कालमें जो सेवायें जैनसमाजकी की हैं वह किसी से छिपी नहीं है। उनका समस्त जीवन परोपकारमें ही व्यतीत हुआ। काल करालने उन्हें हमसे छीन लिया। ऐसे परोपकारी महान व्यक्तिका भौतिक-शरीर भले ही नष्ट हो गया परन्तु उनका यशस्वी शरीर सदैव बना रहेगा। ब्र० जीने ४० वर्ष तक देशके कोने २ में घूमकर जैनधर्मका प्रचार किया, युवकोंको समाज सेवा के लिये तैयार किया। धनिकवर्गसे खूब दान कराया, जगह २ बोर्डिंग और अनेक जैनसंस्थाएं स्थापित कराईं गरीब छात्रोंके लिये छात्रवृत्तियोंका प्रबन्ध कराया। सरल भाषामें करीब १०० ग्रन्थ लिखे। अजैन विद्वानोंमें जैनधर्मका प्रचार करके उनके हृदय पर जैनधर्मका सिक्का जमाया, तीर्थोंका प्रबन्ध कराया, बहुत से जैनोंको जिनकी श्रद्धा जैनधर्मसे हट गई थी उन्हें पक्का जैन बनाया। ब्र० जीने एक नहीं, सैकड़ों उपकार जैनसमाजपर किये हैं। जो जैन इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जायेंगे और जैनसमाज सदैव उनका ऋणी रहेगा।

भा० दि० जैन परिषद्के वह केवल संस्थापक ही नहीं थे बल्कि इसके प्राण थे। यद्यपि परिषद् उनके प्रति कृतज्ञताके ऋणको चुकानेमें असमर्थ है तथापि श्रद्धाके पुष्पके रूपमें परिषद्ने अपनी २२-३-१९४२ की मीटिंग में स्व० ब्र० जीके स्मारकके रूपमें देहलीमें सीतल सेवा मन्दिर बनवानेका प्रस्ताव पास किया है और निश्चय किया है कि एक आदर्श बस्ती बनाई जावे। जिसमें अनुसंधान मन्दिर, लाइब्रेरी, परीक्षा बोर्ड, प्रकाशन कार्यालय, शिक्षामन्दिर, सेवाश्रम, उद्योगशाला आदि धार्मिक और सामाजिक संस्थायें स्थान पा सकें। इस योजनाको चालू करनेके लिये परिषद्ने फिलहाल ५००००) का फण्ड इकट्ठा करनेकी घोषणा की है। परिषद् कार्यकारिणी समितिका विचार है कि आगरेकी दयाल बाग सरीखी आदर्श संस्था ब्रह्मचारीजीकी पुण्य स्मृति में जैनसमाजके सामने उपस्थित की जावे।

वैसे तो स्व० ब्र० जी द्वारा समस्त जैनसमाजका किसी न किसी रूपमें उपकार हुवा है। परन्तु शिक्षित भाईयोंका जो उपकार उनके द्वारा हुवा है वह किसीसे छिपा नहीं है। जैन शिक्षित भाइयोंमें जो कुछ भी धर्म प्रेम और समाज सेवाका भाव आज पाया जाता है उसका श्रेय ब्र०जीको ही है।

अतः हम जैन समाजके समस्त भाईयोंसे सादर निवेदन करते हैं कि वह ५००००) हजारके फण्डकी पूर्ति शीघ्र से शीघ्र करके इसके संयोजकों की हिम्मत और साहस बढ़ावें। स्वयं इसमें अच्छी रकम प्रदान करें तथा अपने मित्रोंसे सहायता दिलवावें। तन, मन, धनसे जैसे भी बन सके इस आयोजनाको सफल बनाकर सुयशके भागी बनें। इस संकट तथा भयानक समयमें लक्ष्मीका सदुपयोग कर लेना ही बुद्धिमत्ता है।

सहायताका तमाम रुपया सैन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, देहलीमें भा० दि० जैन परिषद्के खातेमें जमा किया जावेगा।

सहायता भेजनेके पते:
- १–सैंट्रल बैंक आफ इण्डिया, देहली
- २–बा० रतनलालजी Ex. M L.C., B. Sc. LL. B बिजनौर
- ३–बा०चन्दूलालजीजैन 'अख्तर' B.A., वकील, कोषाध्यक्ष, दरीबा कलां, देहली

निवेदक:—

१–साहू शान्तिप्रसादजी डालमियाँनगर
२–चम्पतरायजी जैन, बार. एट. लॉ०
३–साहू श्रीयांसप्रसाद जैन, डायरेक्टर भा०बीमा कं०, लाहौर
४–लालचन्द जैन Advocate, रोहतक
५–राजेन्द्रकुमार जैन, डा०इन्चार्ज भा०बी०कं०, लाहौर
६–लालचन्द जैन बीड़ी वाले, देहली
७–रतनलाल जैन Ex. M L.C महामंत्री, बिजनौर
८–बालचन्द कौछल्ल (सभापति परिषद्), सागर
९–उग्रसैन जैन, M A LL.B. मथुरा
१०–सिंघई श्रीनन्दनलाल, बीना इटावा
११–राज्यवैद्य कन्हैयालाल जैन, कानपुर
१२–जमुनाप्रसाद जैन सबजज
१३–जुगलकिशोर जैन, सरसावा
१४–सेठ लक्ष्मीचन्द, भेलसा
१५–तनसुखराय जैन, डायरेक्टर तिलक बीमा कं०,न्यूदेहली
१६–उग्रसेन जैन Principal, मेरठ
१७–चन्दूलालजैन अख्तर'B A LL.B कोषा०परिषद्,देहली
१८–लेखवती जैन Ex. M.L.C, अम्बाला
१९–महेन्द्र सम्पादक, आगरा पंच, आगरा
२०–निर्मलकुमार जैन आरा
२१–कामताप्रसाद जैन आ०मजिस्ट्रेट, अलीगंज
२२–मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत
२३–बलवीरचन्द जैन आ० मजिस्ट्रेट, मुजफ्फ़रनगर
२४–राजकिशन जैन बैंकर्स, देहली
२५–जयभगवान जैन, B.A.L.L.B. पानीपत
२६–बरातीलाल जैन, बैंकर्स, लखनऊ
२७–कबूलचन्द मित्तल, एडवोकेट, लाहौर
२८–प्रो० हीरालाल जैन M A, अमरावती
२९–राजमल गुलाबचन्द बैंकर्स, भेलसा
३०–सिंघई डालचन्द, सागर
३१–(रा.सा.) देवीसहाय अकाउंटैंट जनरल, बड़वानी
३२–भगवानदास जैन, सागर
३३–रघुवीरसिंह जैन सर्राफ, प्रकाशक वीर, देहली
३४–सिंघई कस्तूरचन्द जैन B.A.LL.B दमोह
३५–मथुरादास जैन समैया, सागर
३६–T. L. Junankar, Subjudge, खुरई
३७–रायबहादुर नांदमल, अजमेर
३८–उग्रसैन जैन बड़ौत

"हमें पता नहीं कि प्रकृतिके दरबारमें उन भयंकर समझे जाने वाले प्राणियोंका स्थान कहाँ है? परंतु हिंसा-द्वारा हम प्रकृतिके कानूनोंको कभी न समझ सकेंगे। ऐसे पुरुषोंके वर्णन हमारे पास मौजूद हैं जिनकी दया मनुष्योंको व्याप्त कर उसे लांघ गई थी, और जो भयंकर हिंस्र पशुओंके बीच रहते थे। समस्त जीवन-सृष्टिमें कोई ऐसा अतिरिक्त संबंध जरूर है कि शेर, सिंह, बाघ और सांपोंने उन मनुष्यों को कोई उपद्रव नहीं पहुँचाया जो निर्भय होकर उन पशुओंके मित्र बनकर उनके पास गये थे।"

"अगर अहिंसाधर्म सच्चा धर्म है तो हर तरह व्यवहारमें उसका आचरण करना भूल नहीं बल्कि कर्तव्य है। व्यवहार और धर्मके बीच विरोध नहीं होना चाहिये। धर्मका विरोधी व्यवहार छोड़ देने योग्य है।"सब समय सब जगह संपूर्ण अहिंसा संभव नहीं" यों कहकर अहिंसा को एक ओर रख देना, हिंसा है, मोह है, अज्ञान है। सच्चा पुरुषार्थ तो इसमें है कि हमारा आचरण सदा अहिंसाके अनुसार हो। इस तरह आचरण करने वाला मनुष्य अंतमें परम पद प्राप्त करेगा। क्योंकि वह संपूर्णतया अहिंसाका पालन करने योग्य बनेगा। और यों तो देहधारीके लिये संपूर्ण अहिंसा बीज रूप ही रहेगी।"

—'विचारपुष्पोद्यान भाग २'

एक साहित्य-सेवी पर घोर संकट

ऐसा कौन जैनी अथवा हिन्दी-साहित्यका प्रेमी होगा जो हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय हीराबाग, बम्बईके मालिक श्रीयुत पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' के नामको न जानता हो। आप जैनसमाज और हिन्दी-संसारमें वर्षोंसे साहित्य-सेवाका कार्य कर रहे हैं। आपके द्वारा सैकड़ों अच्छे-अच्छे ग्रन्थ प्रकाशमें आए हैं और हज़ारों-लाखों व्यक्तियोंने उनसे लाभ उठाया है। आपका सारा जीवन साहित्य-सेवा मे ही व्यतीत हुआ है। साहित्य-सेवाकी आपको अनुपम लगन है, इसीसे माणिकचंद्र ग्रन्थमालाके संचालकोंने शुरू से ही आपको अपनी ग्रंथमालाका मंत्री चुन रक्खा है। आप उत्तम प्रकाशक ही नहीं किन्तु श्रेष्ठ लेखक और सम्पादक भी हैं। आपके सम्पादकत्वमे कितने ही वर्षों तक 'जैनहितैषी' पत्र भी निकलता रहा है, जिसने जैन-समाजकी भारी सेवा की है। आपका हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय हिन्दीमें उत्तमोत्तम ग्रंथोंके प्रकाशनके लिए प्रसिद्ध है, जिसकी कीर्ति देश-विदेशमें व्याप्त है और अच्छे-अच्छे विद्वान आपके द्वारा प्रकाशित साहित्यके प्रशंसक हैं, आपको अच्छे ठोस एवं लोक-हितकारी साहित्यको प्रकाशन करनेकी खास धुन और लगन है—थर्डक्लास साहित्यको आप कभी अपने कार्यालयसे प्रकाशित करना उचित नही समझते। यदि अन्य कितने ही प्रकाशकोंकी तरह आपने थर्डक्लास साहित्य प्रकाशित किया होता तो आप कभीके लखपती बन गये होते; परन्तु यह आपको कभी इष्ट नहीं हुआ। आप उस प्रकारके साहित्य-प्रकाशनको देश, धर्म और समाजकी सच्ची सेवा नही समझते, इसीसे प्रकाशकोंमे आप को ऊँचा स्थान प्राप्त है और आप गौरवकी दृष्टिसे देखे जाते है। स्वभाव भी आपका बडा ही प्रेममय सौम्य, उदार, सरस, कोमल तथा दयालु प्रकृतिका बना हुआ है। आप समय-समयपर कितने ही विद्यार्थियोंको स्कालर्शिप आदिके द्वारा उनके अध्ययनमे सहायता भी पहुँचाते रहे हैं। इस तरह समाज आपके ऋणसे बहुत कुछ ऋणी है।

साहित्यसेवामें मग्न हुए आप आनन्दके साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे—'न ऊधोका लेन और न माधो का देन', कि एकाएक बम्बईमे बम-गोलोंकी आशंकासे भगदड़ मची! शान्तिभंगके खयालसे आपने भी अन्यत्र जाना उचित समझा और तदनुसार चालीसगाँवमे डेरा जमाया। अभी कुटुम्बीजनोंके साथ अपने कार्यालयका आधा सामान भी आप वहाँ भेज न पाये थे, सामानके बण्डल भी पूरी तौरसे खुलने न पाये थे कि चालीसगाँवमें जो दुर्घटना घटी उसे लिखते हुए हृदय काँपता और लेखनी थर्राती है! आपकी आशाओंका केन्द्र, आँखोंका नूर, बुढ़ापेका सहारा, इकलौता पुत्र चि० हेमचन्द मोदी अचानक टाइफाइड फीवरसे बीमार हो गया! समाचार पाते ही आप वहाँ दौड़े गये, चिकित्साके लिये बहुत कुछ दौड़-धूप की, कितने ही डाक्टरोंको जुटाया; परन्तु किसीकी एक न चली! और हेमचन्द १५ दिनकी बीमारीमें ही १६ मईको रातके १२ बजे परलोक सिधार गया!! इससे प्रेमीजीका कुलदीपक बुझ गया, उनकी आँखोंके आगे अँधेरा छागया! और उन्हें समझ नही पड़ रहा है कि अब क्या करें और कहाँ जाएँ। हेमकी युवती स्त्रीका आक्रन्दन और दो छोटे-छोटे बच्चोंका रोदन उन्हें और भी बेचैन किये देता है!!! इस घोर संकटके समय आपने अभागे पिताके रूपमें जो दर्दभरा पत्र पं० परमेष्ठिदासको लिखा है और जो 'जैनमित्र' में प्रकाशित हुआ है उसे पढ़ कर रोना आता है और प्रेमीजीकी वर्तमान मन:स्थिति एवं मनोव्यथाका साफ चित्र आँखोंके सामने खिंच जाता है। नि:सन्देह, प्रेमीजी पर यह भारी बमगोला गिरा है और इससे उनपर जो घोर संकट उपस्थित हुआ है उसका वर्णन नहीं हो सकता। हेमचन्द्र इकलौता पुत्र ही नही था किन्तु अतिशय संयमी, उदार, सुशील और ३२ वर्ष की अवस्थाको प्राप्त एक प्रतिभाशाली विद्वान पुत्र था—अनेक भाषाओंका पंडित और लेखक था। प्रेमीजीके शब्दों मे "जिसको जन्म देना हर एक पिताके लिए गौरवका कारण है।" प्रेमीजीने उसे सब योग्य बनाया था और वह उनके कार्यालयके सारे भारको सँभालता हुआ। उन्हें बहुत कुछ निश्चिन्त कर रहा था। योगका भी उसने अच्छा अभ्यास

किया था। उसके योग-विषयक दो एक लेखोंका रसास्वादन 'अनेकान्त' के पाठक भी कर चुके हैं। ऐसे सुयोग्य जवान पुत्रका बुढापेमें उठ जाना सचमुच बूढेके काँपते हुए हाथोंसे लाठीका गिर जाना है, जिसे फिर कोई पकड़ाने वाला नहीं है। एक समय था जब हेमचन्द्र छोटा बच्चा था और प्रेमीजी बहुत अस्वस्थ होगये थे—उन्हें अपने जीनेकी आशा नहीं रही थी। उस समय उन्होंने एक वसीयतनामा लिखा था, जिसमें हेमचन्द्रकी शिक्षा-दीक्षाका भार मेरे ऊपर रक्खा गया था। उनका वह संकटका समय उस वक्त टल गया था और वे स्वयं ही अपने मनोऽनुकूल हेमचन्द्र की शिक्षा-दीक्षा करने और उसे सब योग्य नानेमें समर्थ होगये थे; परन्तु आज जो संकट उनपर उपस्थित हुआ है वह अटल है—किसी तरह भी टाला नहीं टल सकता। ऐसे घोर संकटके समयमें मैं अपने मित्रको किन शब्दोंमें सान्त्वना दूँ यह कुछ भी समझ नहीं पड़ता। संसारमें होने वाली ऐसी नित्यकी घटनाओंका साक्षात् अनुभव ही उन्हें इस दुःख-संकटसे पार लँघा सकता है, धैर्य बधा सकता है और उनकी आत्मामें विवेकको जागृत करके उन्हें कल्याणक मार्गपर लगा सकता है। ऐसे अवसर पर किसी ऋषि-मुनिका निम्न वाक्य बड़ा काम देता है—

दुखी दुःखाधिकान्पश्येत् सुखी पश्येत्सुखाधिकान्।
आत्मानं हर्ष-शोकाभ्यां शत्रुभ्यामिव नार्पयेत् ॥

दुखित हृदय—
जुगलकिशोर मुख्तार

समाजके दो गण्यमान्य सज्जनोंका वियोग

(१) श्रीजिनवाणी-भक्त ला० मुसद्दीलालजी अमृतसर जैनसमाजके एक मान्य उदारदानी महानुभाव थे। आपने प्रायः सभी जैन संस्थाओंको आर्थिक सहायता प्रदान की है। इतना ही नहीं, किन्तु अनेक विद्यार्थियोंको स्कालर्शिप देकर उन्हें विद्याध्ययन करनेमें पूर्ण सहयोग व सहायता पहुँचाई है। इसके सिवाय आपने हजारों रुपयोंके जैन ग्रन्थ भारतीय जैन संस्थाओंके अतिरिक्त नैपाल, रंगून, यूरुप, अमेरिका, आष्ट्रेलिया, अफ्रीका और जापान आदि देशोंको ११६ पार्सलों द्वारा भिजवाए हैं। इससे आपकी जिनवाणी-भक्तिका अच्छा परिचय मिल जाता है। खेद है कि आपका ता० २४ अप्रैलको ८४ वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवास हो गया है। आप कुछ अर्सेसे बीमार चल रहे थे। आपने अपने जीवनकालमें अपनी सारी सम्पत्तिका वसीयत द्वारा ट्रस्ट करा दिया था, जिससे अब आगे भी आपकी ओरसे बराबर जैनसाहित्यादिकी सेवा होती रहेगी। आप जैसे सच्चे सेवकके उठ जानेसे निःसन्देह जैन समाजको भारी धक्का पहुँचा है। हार्दिक भावना है कि आपके आत्माको परलोकमें सुखशान्तिकी प्राप्ति हो और आपकी विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होकर केवलियों-श्रुतकेवलियों के चरण-शरणमें रहनेकी वह अन्तिम इच्छा पूर्ण हो जिसे आपने पत्रों द्वारा भी अनेक व्यक्तियोंपर व्यक्त किया था।

(२) बैरिष्टर चम्पतरायजी जैनसमाजके उन प्रसिद्ध कार्यकर्ताओंमेंसे हैं जिन्होंने अपने जीवनको समाज और साहित्यसेवामें लगाया है। आपने विदेशोंमें जैनधर्मके प्रचारका बड़ा कार्य किया है और गिरिराज सम्मेद शिखर के केसको संचालन करनेमें बड़ी ही तत्परतासे कार्य किया है। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन परिषद्के कायम करनेमें भी आपका पूरा-पूरा हाथ रहा है। भा० दि० जैन महासभाके भी आप सभापति रह चुके हैं। इस तरह आपकी समाज-सेवाएँ प्रशंसनीय हैं। खेद है कि आपका ता० २ जून सन् १९४२ को करांचीमें दुपहरके समय स्वर्गवास होगया है। आपके वियोगसे दि० जैनसमाजको भारी हानि पहुँची है जिसकी पूर्ति होना बहुत मुश्किल है। सुना है कि मृत्यु से पहले आप अपनी सब सम्पत्तिका विदेशोंमें जैनधर्मके प्रचारार्थ ट्रष्ट कर गए हैं, जिसका विशेष विवरण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। हम स्वर्गीय आत्माके लिए परलोकमें शान्तिकी भावना करते हुए कुटुम्बीजनोंके इस दुःखमें समवेदना प्रकट करते हैं।

—जुगलकिशोर मुख्तार

वह मनुष्य नहीं देवता था

मुलतानवासी दिगम्बरजैन–ओसवालोंके नररत्न श्रीमान ला० जिनदासजी संघवी द्वि० ज्येष्ठ वदी १३ गुरुवार ता० ११जून१६४२ को सायं साढ़ेतीन बजे अपनी ऐहिक लीला समाधिपूर्वक समेट कर देवपुरी को चल बसे हैं, यह जानकर किसे खेद नहीं होगा!

ला० जिनदासजी मानवाकारमें एक देव थे, मूर्तिमान परोपकार और सेवाकी मूर्ति थे, सच्चरित्रके आदर्श थे, नगरमान्य–न्यायाधीश थे, शरीरमें कृश किन्तु आत्मबल–मनोबलके धनी, अनुपम साहसी एवं धैर्यकी प्रतिमा थे तथा अतिथ्यसेवाके प्रमुख पाठक थे। उनकी चतुर्मुखी प्रतिभा साधारण शिक्षा पानेपर भी प्रत्येक विषयमें आगे दौड़ती थी, उनकी रसनामें अद्भुत वाणीरस था–मानो सरस्वतीने अपने हाथोंसे उस पर मंत्र लिख दिया हो। साथ ही सफल व्यापारी थे,सतत् उद्योगी और उत्साही थे, अच्छे समाज सुधारक थे, धर्मके आश्रय थे, निरभिमानी और निरीह सेवक थे, सादा रहन-सहनके प्रेमी थे, विश्व मैत्री–गुणिप्रमोद–दयालुता उनमें साकार विद्यमान थी, और इन्हीं सब गुणोंसे वे सर्वप्रिय थे।

योंतो आपकी आयु ५० वर्षसे भी अधिक संख्या पार कर चुकी थी किन्तु आपका मानसिक उत्साह युवा पुरुषोंको भी लज्जित करता था। रुग्ण-शय्या पर लेटे हुए आपने कई दिन जो मृत्युके साथ वीरतापूर्ण युद्ध किया वह दर्शनीय था। यद्यपि उसमें अंतिम विजय आपको न मिली किन्तु आपकी वीरता प्रशंसनीय रही।

ला० जिनदासजी जीवन भर परोपकारमें लगे रहे। किसीका कष्ट निवारण करनेके लिये वे अपनी भूख,प्यास,थकावट तथा व्यापार आदिको भी भूल जाते थे, अनाथ विधवाओं, दरिद्रोंको गुप्त सहायता दिया करते थे जिसका परिचय उनके पुत्रोंको भी नहीं होता था। अपने जीवनमें उन्होंने सैकड़ों दीवानी फैसले तय करके सैकड़ों परिवारोंको बरबादीसे बचाया है। अभी चारपाई पर पड़े पड़े भी दो झगड़ोंका फैसला किया था। सामाजिक सुधारमें अग्रसर होकर कुछ निर्धन भाइयोंके विवाह केवल २५) पच्चीस रुपयेके खर्चमें करा दिये, जिनमें समस्त रीति रिवाज भी कराये। मुलतानमें बाहरसे आने वाले भाइयोंका आतिथ्य सत्कार मुख्य रूपमें जिनदासजी ही करते थे। वे अपनी दुकानके निकाले हुए धर्मादेसे भी अधिक एवं उपयोगी गुप्त दान किया करते थे। जो कोईभी आड़ा मामला आता जिनदासजी अपनी प्रखरबुद्धिसे उसे झट सुलझा देते थे। विकट अवसर पर भी उन्हें तत्काल समुचित उपाय सूझ आता था। एक बार एक बरातमें बन्नूसे लौटते समय कारणवश वे डेरा इस्माइलखानमें पीछे अकेले रह गये। दरियाखांके स्टेशन पर पैदल पहुँचते समय रात्रिके प्रारम्भ समय में दो लुटेरे पठान उन्हें आ मिले। सीमाप्रान्तमें उन दिनों कांग्रेसी मंत्रिमंडल था, जिनदासजीने जेबसे कागज पैंसिल निकालते हुए कहा 'हम गांधी पुलिस हैं, तुम रातको घर से बाहर क्यों निकले, अपने नाम बताओ' यह सुन डरकर वे लुटेरे पठान भाग गये। धर्माचारमें, सदाचारमें, नैतिक व्यवहारमें वे सौटंच सोनेके समान खरे थे, और मुलतान जैनसमाजके स्तम्भ थे। उनके दृष्टिसे ओझल होजाने पर आज यहां अन्धकार होगया है!!!

आप अपने पीछे तीन सुयोग्य पुत्र, पौत्र, दौहित्र आदि बड़ा परिवार छोड़ गये हैं, आपने अपनी सावचेत दशामें अपने हाथसे लिखकर दान किया है। रुग्ण-शय्यापर पड़े आपको आध्यात्मिकचर्चाके सिवाय और कोई बात न सुहाती थी, तदनुकूल ही यथासम्भव प्रबन्ध कर दिया गया था। आध्यात्मिक रसमें लीन रह कर आपने शरीर-पीड़ासे कभी आह तक न की।

यदि ला० जिनदासजी सरीखे महात्मा सज्जन नर-रत्न प्रत्येक नगरमें मिल सके तो निःसंदेह यह पृथ्वी-तल स्वर्ग बन जावे। हमें आपके वियोगसे बहुत दुःख है।

मुलतान] —अजितकुमार जैन शास्त्री

अनेकान्तके सहायक

अब तक जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुये, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन देकर उसकी सहायक श्रेणीमें अपना नाम लिखाया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं :—

२२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
१०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) बा० शान्तिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी, कलकत्ता।
१००) सेठ जोखीरामजी बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
१००) बा० लालचन्द जी जैन, एडवोकेट रोहतक।
१००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत
१००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
५१) रा० ब० बा० उलफतरायजी जैन रि० इञ्जीनियर, मेरठ।
५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।
२५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले सहारनपुर।
२५) बा० रघुवरदयालजी जैन एम०ए० करालबाग देहली।
२५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
२५) ला० बाबूराम अकलङ्कप्रसादजी जैन, तिस्सा जिला मुजफ्फरनगर।
२५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।
२५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
२५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
२५) मुंशी सुमतप्रसाद जी जैन रि० अमीन, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

दिगम्बर जैन ग्रन्थसूचीके लिये १२५०) रु० की सहायता

श्रीमान् ला० जुगलकिशोरजी जैन, मालिक फर्म धूमीमल धर्मदास कागजी चावड़ी बाज़ार देहलीने अपनी पुण्यमाता श्रीमती फूलवती देवी धर्मपत्नी स्वर्गीय ला० सरदारीमलजीकी ओरसे दिगम्बर जैन ग्रन्थसूचीके लिये वीरसेवामन्दिर सरसावाको १२५०)रु०की सहायताका वचन दिया है, जिसमेंसे आधेसे ऊपरकी सहायता कागज आदिके रूपमें आपकी फर्मसे प्राप्त भी हो चुकी है। ग्रन्थसूची जैसे सम ुपयोगी आवश्यक कार्यके लिये आपकी इस सहायताका बड़ा मूल्य है। मैं आपके इस सद्विचार और उदारभावका हृदयसे अभिनन्दन करता हुआ आपको और माताजीको हार्दिक धन्यवाद भेंट करता हूँ। आशा है दूसरे सज्जन भी दि० जैनग्रन्थोंकी मुकम्मल सूची जैसे कार्यके महत्वको समझकर उसे अपना पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

अनेकान्तको सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको द्वितीय-तृतीयमार्गसे ४७) रु० की नीचे लिखी सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं—

२५) गुप्त सहायता सदरबाजार देहलीके एक महानुभावकी ओरसे, जिन्होंने अपना नाम पत्रमें प्रकट करनेसे मना किया है। (आपकी ओरसे १० विद्वानोंको अनेकान्त फ्री भेजा जायगा)।

१०) उदयराम जिनेश्वरदास जैन बज़ाज़, सहारनपुर (चार निर्दिष्ट संस्थाओंको अनेकान्त एक वर्ष तक फ्री भिजवानेके लिये)

५) ला० रामजीलाल भोलानाथ, शाहाबाद देहली, मार्फत ला० कुन्नलाल कुंदनलाल जैन आढ़ती नयाबाज़ार देहली (पुत्रविवाहकी खुशीमें)

५) ला० किशोरीलाल एण्ड सन्स, लाहौर मार्फत ला० छोटेलाल इंचाराम जैन बस्ती टैंकोंवाली, फीरोजपुर छावनी (पुत्रीके विवाहकी खुशीमें)

२) ला० रेशमीलाल मेठिया बघेरवाल जैन, इन्दौर, मार्फत भाई दौलतराम मित्र इन्दौर (पुत्रके विवाहकी खुशीमें)

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Registered No. A-731.

वीर-शासन-जयन्ती

अर्थात्

श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाकी पुण्य-तिथि

यह तिथि इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है और एक ऐसे '**सर्वोदय**' तीर्थकी जन्मतिथि है, जिसका लक्ष्य 'सर्वप्राणहित' है।

[illegible] अहिंसाके अवतार श्री सन्मति-वर्द्धमान महावीर आदि नामोंसे नामाङ्कित वीर भगवानका तीर्थ प्रवर्तित हुआ, उनका शासन शुरू हुआ, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहलेपहल खिरी, जिसके द्वारा सब जीवोंको उनके हितका वह सन्देश सुनाया गया जिसने उन्हें दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताया, दुःखकी कारणीभूत भूलें सुझाईं, वहमोंको दूर किया, यह स्पष्ट करके बतलाया कि सच्चा सुख अहिंसा और अनेकान्तदृष्टिको अपनानेमें है, समताको अपने जीवनका अङ्ग बनानेमें है, अथवा बन्धनसे—परतन्त्रतासे—विभावपरिणतिसे छूटनेमें है। साथ ही, सब आत्माओंको समान बतलाते हुए, आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है, उसके लिये नितान्त दूसरों पर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरोंको दोष देना भारी भूल है।

इसी दिन—पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताको यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है।

यह पुण्य-दिवस— उन क्रूर बलिदानोंके सातिशय रोकका दिवस है जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयतापूर्वक छुरीके घाट उतारे जाते थे अथवा होमके बहाने जलती हुई आगमें फेंक दिये जाते थे।

इसी दिन—लोगोंको उनके अत्याचारोंकी यथार्थ परिभाषा समझाई गई और हिंसा-अहिंसा तथा धर्म अधर्मका तत्व पूर्णरूपसे बतलाया गया।

इसी दिनसे—स्त्रीजाति तथा शूद्रों पर होनेवाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी जन यथेष्ट रूपमें विद्या पढ़ने तथा धर्मसाधन करने आदिके अधिकारी ठहराये गये।

[illegible] भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था, जिसका पता हालमें उपलब्ध हुए कुछ अतिप्राचीन ग्रंथलेखोंमें—'तिलोयपण्णत्ती' तथा 'धवल' आदि सिद्धान्तग्रंथों परसे—चला है। सावनी—आषाढ़ीके विभागरूप फसली साल भी उसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ता है, जिसकी संख्या आजकल गलत प्रचलित हो रही है।

इस तरह यह तिथि—जिस दिन वीरशासनकी जयन्ती (ध्वजा) लोकशिखर पर फहराई, संसारके हित तथा सर्वसाधारणके उत्थान और कल्याणके साथ अपना सीधा एवं खास सम्बंध रखती है और इसलिये सभीके द्वारा उत्सवके साथ मनाये जानेके योग्य है। इसीलिये इसकी यादगारमें कई वर्षसे **वीरसेवामन्दिर सरसावा** में 'वीरशासनजयन्ती' के मनानेका आयोजन किया जाता है। अन्य स्थानों पर भी किया जारहा है।

इस वर्ष—यह पावन तिथि २८ जुलाई सन १६४२ को मंगलवारके दिन अवतरित हुई है। इस दिन पिछले वर्षोंसे भी अधिक उत्साहके साथ वीरसेवामन्दिरमें वीरशासनजयन्ती मनाई जायगी और जलसा २६ ता० तक रहेगा। अन्य स्थानोंके भाईयोंको भी इस सर्वातिशायी पावन पर्वको मनानेके लिये अभीसे सावधान होजाना चाहिये और अपने २ स्थानोंपर उसे मनानेका पूर्ण आयोजन करके कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

निवेदक—

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा, जि० सहारनपुर

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

१—२५), ५०) १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

२—अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री बिना मूल्य या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढनेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

३—उत्सव-विवाहादि दानके अवसरोंपर अनेकान्तका बराबर ख़याल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रंथोंकी योजनाकर सके और उत्तम लेखोंपर पुरस्कार भी देसके। स्वतः अपनी ओरसे उपहार ग्रंथोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

४—अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे २ लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना, कराना।—'व्यवस्थापक अनेकान्त'

प्रार्थनाएँ

'अनेकान्त" किसी स्वार्थ-बुद्धिसे प्रेरित होकर अथवा आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकाला जाता है, किन्तु वीरसेवामन्दिरके महान् उद्देश्योंको सफल बनाते हुए लोक-हितको साधना तथा सच्ची सेवा बजाना ही इस पत्रका एक मात्र ध्येय है। अतः सभी सज्जनोंको इसकी उन्नतिमे सहायक होना चाहिये। सहायताके चार मार्गोंपर ख़ास तौर से ध्यान देना चाहिए।

जिन सज्जनोंको अनेकान्तके जो लेख पसन्द आएँ, उन्हें चाहिये कि वे जितने भी अधिक भाइयोंको उनका परिचय करासकें ज़रूर कराएँ।

यदि कोई लेख अथवा लेखका अंश ठीक मालूम न हो, अथवा धर्मविरुद्ध दिखाई दे, तो महज़ उसीकी वजह से किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव न धारण करना चाहिये, किन्तु अनेकान्त-नीतिकी उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्ति-पुरस्सर संयतभाषामें लेखक को उसकी भूल सुझानी चाहिये।

"अनेकान्त" की नीति और उद्देश्यके अनुसार लेख लिखकर भेजनेके लिये देश तथा समाजके सभी सुलेखकों को आमन्त्रण है।

"अनेकान्त" को भेजे जाने वाले लेखादिक कागज़की एक ओर हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होने चाहियें। लेखोंको घटाने, बढ़ाने, प्रकाशित करने न करने, लौटाने न लौटानेका, सम्पूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख वापिस मँगानेके लिये पोस्टेज ख़र्च भेजना आवश्यक है। लेख निम्न पते से भेजने चाहियें:—

सम्पादक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ज़ि० सहारनपुर

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ५	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर	जून
किरण ५	द्वितीय-ज्येष्ठ, वीरनिर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९९	१९४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[४]

श्रीअभिनन्दन-जिन-स्तोत्र

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्, दयावधूं क्षान्तिसखीम-शिश्रियत ।
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये, द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥ १ ॥

'(हे अभिनन्दन जिन !) गुणोंकी अभिवृद्धिसे—आपके जन्म लेते ही लोकमें सुख-सम्पत्यादिक गुणोंके बढ़ जानेसे—आप 'अभिनन्दन' इस सार्थक संज्ञाको प्राप्त हुए हैं। आपने क्षमासखी वाली दयावधूको अपने आश्रयमें लिया है—दया और क्षमा दोनोंको अपनाया है—और समाधितंत्र—शुक्लध्यानतंत्र—लक्ष्यको लेकर उसकी सिद्धिके लिये आप उभय प्रकारके निर्ग्रन्थत्वके गुणसे युक्त हुए हैं—आपने बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग किया है।'

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात् ।
प्रभंगुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥ २ ॥

'अचेतन-शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्मवश बन्ध है उससे उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमें 'यह मेरा है—मैं इसका हूँ' इस प्रकारके अभिनिवेश (मिथ्याऽभिप्राय) को लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वका निश्चय कर लेनेके कारण जो जगत नष्ट हो रहा है—आत्म-हित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है—उसे (हे अभिनन्दन जिन !) आपने तत्त्वका ग्रहण कराया है—जीवादितत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको बतलाकर सन्मार्ग पर लगाया है।'

क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान्व्यजिज्ञपत् ॥ ३ ॥

'क्षुधादि-दुःखोंके प्रतिकारसे—भूख-प्यास आदिकी वेदनाको मिटानेके लिये भोजन-पानादिका सेवन करनेसे—और इन्द्रियविषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक सदा अवस्थान नहीं बनता—थोड़ी ही देरकी तृप्तिके बाद भूख-प्यासादिककी वेदना फिर उत्पन्न हो जाती है और इन्द्रिय-विषयोंके सेवनकी लालसा अग्निमें ईंधनके समान तीव्रतर होकर पीड़ा उत्पन्न करने लगती है—; ऐसी हालतमें क्षुधादिदुःखोंके इस क्षणस्थायी प्रतीकार और इन्द्रिय-विषयजन्य स्वल्प सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है; इस प्रकारकी विज्ञापना हे भगवन् आपने (भ्रमके चक्करमें पड़े हुए) इस जगतको की है—उसे तत्वका ग्रहण कराते हुए रहस्यकी यह सब बात समझाई है, जिससे आसक्ति छूट कर परम कल्याणकारी अनासक्त-योगकी प्रवृत्ति हो सके।'

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।
इहाऽप्यमुत्राऽप्यनुबन्धदोषवित्कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

'आपने जगतको यह भी बतलाया है कि अनुबन्धदोषसे—परमासक्तिके वश—विषयसेवनमें अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोकमें राजदण्डादिका भय उपस्थित होने पर अकार्योंमें—परस्त्रीसेवनादि-जैसे कुकर्मोंमें—प्रवृत्त नहीं होता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें होने वाले विषयासक्तिके दोषोंको—भयंकर परिणामोंको—भलेप्रकार जानता है वह कैसे विषय-सुखमें आसक्त हो सकता है? नहीं हो सकता।—अत्यासक्तिके इस लोक और परलोक-सम्बन्धी भयंकर परिणामोंका स्पष्ट अनुभव न होना ही विषय-सुखमें आसक्तिका कारण है। अतः अनुबन्धके दोषको जानना चाहिये।'

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥ ५ ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र

'वह अनुबन्ध—आसक्तपन—और (विषयसेवनसे उत्पन्न होने वाली) तृष्णाकी अभिवृद्धि—उत्तरोत्तर विषय-सेवनकी आकाङ्क्षा—इस लोलुपी प्राणीके लिये तापकारी (कष्टप्रद) है—इच्छित वस्तुके न मिलने पर उसकी प्राप्तिके लिये और मिल जानेपर उसके संरक्षणादिके अर्थ संतापकी परम्परा बराबर चालू रहती है—दुःखकी जननी चिन्ताएँ-आकुलताएँ सदा घेरे रहती हैं। संताप-परम्पराके बराबर चालू रहनेसे प्राप्त हुए थोड़ेसे इन्द्रिय-विषय-सुखसे इस प्राणीकी स्थिति सुखपूर्वक नहीं बनती। इस प्रकार लोकहितके प्रतिपादनको लिए हुए चूंकि आपका मत है—शासन है—इस लिये हे अभिनन्दन प्रभु! आप ही जगतके शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषोंने—मुक्तिके अर्थी विवेकी जनोंने—माना है।

(५)
श्रीसुमति-जिन-स्तोत्र

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम्।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥ १ ॥

'हे सुमति मुनि ! आपकी 'सुमति' (श्रेष्ठ-सुशोभन-मति) यह संज्ञा अन्वर्थक है—आप यथानाम तथागुण हैं—; क्योंकि एक तो आपने स्वयं ही—विना किसीके उपदेशके—सुयुक्तिनीत तत्त्वको माना है—उस अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्वको अंगीकार किया है जो अकाट्य युक्तियोंके द्वारा प्रणीत और प्रतिष्ठित है—; दूसरे आपके (अनेकान्त) मतसे भिन्न जो शेष एकान्त मत हैं उनमें संपूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति—नहीं बनती। (कैसे नहीं बनती, यह बात 'सुयुक्तिनीततत्व' को स्पष्ट करते हुए अगली कारिकाओंमें बतलाई गई है) ।'

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदाऽन्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेपलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥ २ ॥

'वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है—भेदज्ञानकी—पर्यायकी दृष्टिसे अनेकरूप है तो वही अभेदज्ञानकी—द्रव्यकी दृष्टिसे एकरूप है—और यह वस्तुको भेद-अभेदरूपसे ग्रहण करने वाला ज्ञान ही सत्य है—प्रमाण है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्यों कि दोनोंमेसे एकका अभाव मानने पर दूसरेका भी अभाव हो जाता है—कारण कि दोनोंका (द्रव्यपर्यायका) परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। दोनोंका अभाव हो जानेमे वस्तुतत्व अनुपाख्य-निःस्वभाव हो जाता है और तब उसे न तो एकरूप कह सकते हैं और न अनेकरूप—वह अनिर्वचनीय ठहरता है, जिससे संपूर्ण व्यवहारका ही लोप होता है।'

सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ ३ ॥

'जो सत् है—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे विद्यमान है—उसके कथंचित् असत्वशक्ति भी होती है—परद्रव्य-क्षेत्र काल-भावकी अपेक्षा वह असत् है—, जैसे पुष्प वृक्षों पर तो अस्तित्वको लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाश पर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्-रूप है—यदि पुष्प वस्तु सर्वथा सत्रूप हो तो आकाशके भी पुष्प मानना होगा और यदि सर्वथा असत्रूप हो तो वृक्षों पर भी उसका अभाव कहना होगा। परन्तु यह मानना और कहना दोनों ही प्रतीतिके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं हैं। इस परसे यह फलित होता है कि वस्तुतत्त्व कथंचित् सत्रूप और कथंचित् असत्रूप है—स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा जहाँ वह सत्रूप है वहां पर-द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्-रूप भी है। किसी भी वस्तुके स्वरूपकी प्रतिष्ठा उस वक्त तक नहीं बन सकती जब तक कि उसमेंसे पररूपका निषेध न किया जाय। आम्रफलको अनार, सन्तरा या अंगूर क्यों नहीं कहते ? इसी लिये न कि उसमें अनारपन, सन्तरापन तथा अंगूरपन नहीं है—वह अपनेमें उनके स्वरूपका प्रतिषेधक है। जो अपनेमें पर-रूपका प्रतिषेधक नहीं वह स्वरूपका प्रस्थापक भी नहीं हो सकता। इसीसे प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वके दोनों धर्म होते हैं और वे परस्पर अविनाभावी होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता।

यदि वस्तुतत्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय—उसमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मोंका सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाय—तो वह अप्रमाण ठहरता है—उस तत्वका तब कोई व्यवस्थापक नहीं रहता। इसीसे (हे सुमति जिन !) आपकी दृष्टिसे अन्य—जीवादि तत्व कथंचित् सत्-असत्रूप अनेकान्तात्मक हैं इस मतसे भिन्न—दूसरा सत्त्वाद्वैतलक्षण अथवा शून्यतैकान्तस्वभावरूप जो एकान्त तत्त्व है—मत है वह स्ववचनविरुद्ध है—

उसकी प्रमाणता बतलानेमे प्रमाणकी सत्ता स्वीकार करनेसे उस मतके प्रतिपादकोंके 'मेरी माँ बाँझ' की तरहका स्ववचन विरोध आता है, अर्थात् सत्याद्वैतवादियोंके द्वैतापत्ति होकर उनकी अद्वैतता भंग हो जाती है और शून्यतैकान्तवादियोंके प्रमाणका अस्तित्व होकर सर्वशून्यता बनी नहीं रहती—बिघट जाती है। और प्रमाणका अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण बन नहीं सकता—वह निराधार ठहरता है।'

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रिया-कारकमत्र युक्तम् ।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ ४ ॥

'यदि वस्तु सर्वथा—द्रव्य और पर्याय दोनों रूपसे—नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती—उसमें उत्तराकारके स्वीकाररूप उत्पाद और पूर्वाकारके परिहाररूप व्यय नहीं बन सकता। और न उसमें क्रिया-कारककी ही योजना बन सकती है—वह न तो चलने-ठहरने जीर्ण होने आदि किसी भी क्रियारूप परिणमन कर सकती है और न कर्ता-कर्मादिरूपसे किसीका कोई कारक ही बन सकती है—उसे सदा सर्वथा अटल-अपरिवर्तनीय एकरूप रहना होगा, जो असंभव है। (इसी तरह) जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सर्वथा सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। (यदि यह कहा जाय कि विद्यमान दीपकका—दीपप्रकाशका—तो बुझने पर अभाव हो जाता है, फिर यह कैसे कहा जाय कि सत्का नाश नहीं होता ?' इसका उत्तर यह है कि) दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है—प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं, एक पर्यायके अभावमें दूसरी पर्यायकी स्थिति बनी रहती है, वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं होता।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ, विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतेः प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥ ५ ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र

'(वास्तवमें) विधि और निषेध—अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों कथंचित् इष्ट हैं—सर्वथा रूपसे मान्य नहीं। विवक्षासे उनमें मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है—;उदाहरणके तौरपर द्रव्यदृष्टिमें जब नित्यत्व प्रधान होता है तो पर्यायदृष्टिका विषय अनित्यत्व गौण होता है और पर्यायदृष्टि-मूलक अनित्यत्व जब मुख्य होता है तब द्रव्यदृष्टिका विषय नित्यत्व गौण हो जाता है।

इस प्रकारसे हे सुमति जिन ! आपका यह तत्त्व-प्रणयन है। इस तत्त्वप्रणयनकी और इसके द्वारा आपकी स्तुति करने वाले मुझ स्तोता (उपासक) की मतिका उत्कर्ष होवे—उसका पूर्ण विकास होवे।

भावार्थ—यहाँ स्वामी समन्तभद्रने सुमतिदेवका उनके मतिप्रवेकको लक्ष्यमें रखकर, स्तवन करके यह भावना की है कि उस प्रकारके मतिप्रवेकका—ज्ञानोत्कर्षका—मेरे आत्मामें भी आविर्भाव होवे। सो ठीक ही है, जो जैसा बनना चाहता है वह तद्‌गुणविशिष्टकी उपासना किया करता है, और उपासनामें यह शक्ति है कि वह भव्य उपासकको तद्रूप बना देती है; जैसे तेलसे भीगी हुई बत्ती जब दीपककी उपासना करती है—तद्रूप होनेके लिये जब पूर्ण तन्मयताके साथ दीपकका आलिङ्गन करती है—तो वह भिन्न होते हुए भी तद्रूप होजाती है—स्वयं वैसी ही दीपशिखा बन जाती है*।

* इसी भावको श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'समाधितंत्र'की निम्न कारिकामें व्यक्त किया है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

श्वे० तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जांच

[सम्पादकीय]

(गत किरणसे आगे)

सूत्र तथा भाष्यके इन चार नमूनों और उनके विवेचन परसे स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं, और इसलिये श्वे० भाष्यको 'स्वोपज्ञ' नहीं कहा जा सकता।

यहाँपर मैं इतना और भी बतलादेना चाहता हूं कि तत्त्वार्थसूत्रपर श्वेताम्बरोंका एक पुराना टिप्पण है, जिस का परिचय अनेकान्तके वीरशासनाङ्क (वर्ष ३ कि० १ पृ० १२१–१२८) में प्रकाशित हो चुका है। इस टिप्पणके कर्ता रत्नसिंहसूरि बहुत ही कट्टर साम्प्रदायिक थे और उन के सामने भाष्य ही नहीं किन्तु सिद्धसेनकी भाष्यानुसारिणी टीका भी थी, जिन दोनोंका टिप्पणमें उपयोग किया गया है, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उन्होंने भाष्यको 'स्वोपज्ञ' नहीं बतलाया। टिप्पणके अन्तमें 'दुर्वादापहार' रूपसे जो सात पद्य दिये हैं उनमेंसे प्रथम पद्य और उसके टिप्पणमें, साम्प्रदायिक-कट्टरताका कुछ प्रदर्शन करते हुए, उन्होंने भाष्यकारका जिन शब्दोंमें स्मरण किया है वे निम्न प्रकार हैं:—

"प्रागेवैतददक्षिण-भषण-गणादास्यमानमिति मत्वा।
त्रातं समूल-चूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात॥ १॥

टिप्पण—"दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहिष्यमानं स्वायत्तीकरिष्यमानमिति यावत्तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेवं पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः। सहमूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनं-चौरिकायामशक्यायेति।"

इन शब्दोंका भावार्थ यह है कि—'जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहोंद्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जान कर--यह देख कर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रकी मूल-चूल[१]-सहित रक्षा की है—इसे ज्योंका त्यों श्वेताम्बर-सम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूपमें ही कायम रक्खा है—वह (अज्ञातनामा) भाष्यकार चिरंजीव होवे—चिरकाल तक जय को प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मलग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है।'

यहाँ भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है, जब कि मूल सूत्रकार का नाम 'उमास्वाति' कई स्थानोंपर स्पष्ट रूपसे दिया है। इससे साफ़ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूल सूत्रकारसे भिन्न समझता था। भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरक्षकाय' विशेषण के साथ 'प्राग्वचन-चौरिकायामशक्याय' विशेषण भी इसी बातको सूचित करता है। इसके 'प्राग्वचन' का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है—जिसे प्रथम विशेषणमें 'निर्मलग्रंथ' कहा गया है, भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी मन.परिणतिके कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है। अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई ज़रूरत नहीं थी—यह उनके लिये किसी तरह भी ठीक नहीं बैठता। साथ ही, 'अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहोंद्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर'

---

१ 'चूल' का अभिप्राय आदि अन्तकी कारिकाओंसे जान पड़ता है, जिन्हें साथमें लेकर और मूलसूत्रका अंग मानकर ही टिप्पण लिखा गया है।

ऐसा जो कहा गया है उससे यह भी ध्वनित होता है कि भाष्यकी रचना उस समय हुई है जब कि तत्त्वार्थसूत्रपर 'सर्वार्थसिद्धि' आदि कुछ प्राचीन दिगम्बर टीकाएँ बन चुकी थीं और उनके द्वारा दिगम्बर समाजमें तत्त्वार्थसूत्रका अच्छा प्रचार प्रारंभ हो गया था। इस प्रचारको देख कर ही किसी श्वेताम्बर विद्वानको भाष्यके रचनेकी प्रेरणा मिली है और उसकेद्वारा तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर बनाने की चेष्टा की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी हालतमें भाष्यको स्वयं मूल सूत्रकार उमास्वातिकी कृति बतलाना और भी असंगत जान पड़ता है।

सूत्र और भाष्यका आगमसे विरोध

सूत्र और भाष्य दोनोंका निर्माण यदि श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर ही हुआ हो, जैसा कि दावा है, तो श्वे० आगमोंके साथ उनमेंसे किसीका ज़रा भी मतभेद, असंगतपन अथवा विरोध न होना चाहिये। यदि इनमेंसे किसीमें भी कहींपर ऐसा मतभेद, असंगतपन अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना होगा कि उसके निर्माण का आधार पूर्णतः श्वेताम्बर आगम नहीं है, और इस लिये दावा मिथ्या है। श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ और उसके भाष्यमें ऐसे अनेक स्थल हैं जो श्वे० आगमोंके साथ मतभेदादिको लिये हुए हैं। नीचे उनके कुछ नमूने प्रकट किये जाते हैं:—

(१) श्वेताम्बरीय आगममें मोक्षमार्गका वर्णन करते हुए उसके चार कारण बतलाये हैं और उनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, इस क्रमसे निर्देश किया है, जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है—

मोक्खमग्गगइं तच्च सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं नाणदंसणलक्खणं ॥ १ ॥
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ २ ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमुणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ ३ ॥
नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥३५॥

परन्तु श्वेताम्बर-सूत्रपाठमें, दिगम्बर सूत्रपाठकी तरह, तीन कारणोंका दर्शन, ज्ञान, चारित्रके क्रमसे निर्देश है; जैसा कि निम्न सूत्रसे प्रकट है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अतः यह सूत्र श्वेताम्बर आगमके साथ पूर्णतया संगत नहीं है। वस्तुतः यह दिगम्बरसूत्र है और इसके द्वारा मोक्षमार्गके कथनकी उस दिगम्बर शैलीको अपनाया गया है जो श्रीकुन्दकुन्दादिके ग्रंथोंमें सर्वत्र पाई जाती है।

(२) श्वेताम्बरीय सूत्रपाठके प्रथम अध्यायका चौथा सूत्र इस प्रकार है—

जीवाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।

इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ऐसे सात तत्त्वोंका निर्देश है। भाष्यमें भी "जीवा अजीवा आस्रवा बन्धः संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्वम् एते वा सप्तपदार्थास्तत्वानि" इन वाक्योंके द्वारा निर्देश्य तत्त्वोंके नामोंके साथ उनकी संख्या सात बतलाई गई है, और तत्व तथा पदार्थको एक सूचित किया है। परन्तु श्वेताम्बर आगममें तत्त्व अथवा पदार्थ नव बतलाए हैं; जैसा कि 'स्थानांग' आगमके निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते। तं जहा-जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।" (स्थान ९ सू० ६६५)

सात तत्त्वोंके कथनकी शैली श्वेताम्बर आगमोंमें है ही नहीं, इसीसे उपाध्याय मुनि आत्मारामजीने तत्त्वार्थसूत्र का श्वे० आगमके साथ जो समन्वय उपस्थित किया है उसमें वे स्थानांगके उक्त सूत्रको उद्धृत करनेके सिवाय आगमका कोई भी दूसरा वाक्य ऐसा नहीं बतला सके जिसमें सात तत्त्वोंकी कथनशैलीका स्पष्ट निर्देश पाया जाता हो। सात तत्त्वोंके कथनकी यह शैली दिगम्बर है— दिगम्बर सम्प्रदायमें साततत्त्वों और नव पदार्थोंका अलग अलग रूपसे निर्देश किया है*। दिगम्बर-सूत्रपाठमें यह सूत्र भी इसी रूपसे स्थित है। अतः इस चौथे सूत्रका आधार दिगम्बरश्रुत जान पड़ता है—श्वेताम्बरश्रुत नहीं।

*सत्तविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं।
—भावप्राभृत ९५

(३) प्रथम अध्यायका आठवाँ सूत्र इस प्रकार है—
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।

इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारोंके द्वारा विस्तारसे अधिगम होना बतलाया है; जैसा कि भाष्यके निम्न अंश से भी प्रकट है—

"सत् संख्या क्षेत्रं स्पर्शनं कालः अन्तरं भावः अल्पबहुत्व-मित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिरष्टाभिर-नुयोगद्वारैः सर्वभावानां (तत्त्वानां) विकल्पशो विस्त-राधिगमो भवति ।"

परन्तु श्वेताम्बर आगममें सत् आदि अनुयोगद्वारोंकी संख्या नव मानी है—'भाग' नामका एक अनुयोगद्वार उसमें और है; जैसा कि अनुयोगद्वारसूत्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है, जिसे उपाध्याय मुनि आत्मारामजीने भी अपने उक्त 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय' में उद्धृत किया है—

"से किं त अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते । तं जहा— संतपयपरुवणया १ दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ कालो य ५ अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं ९ चेव ।" (अनु० सूत्र ८०)

इससे स्पष्ट है कि उक्त सूत्र और भाष्यका कथन श्वेताम्बर आगमके साथ संगत नहीं है। वास्तवमें यह दिगम्बरसूत्र है, दिगम्बरसूत्र पाठमें भी इसी तरहसे स्थित है और इसका आधार षट्खण्डागमके प्रथमखण्ड जीव-ट्ठाणके निम्न तीन सूत्र हैं—

"एदेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परुवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥ तंजहा ॥ ६ ॥

संतपरुवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥ ७ ॥

षट्खण्डागममें और भी ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें इन सत् आदि आठ अनुयोगद्वारोंका समर्थन होता है।

(४) श्वे० सूत्रपाठके द्वितीय अध्यायमें 'निर्वृत्युप-करणे द्रव्येन्द्रियम्' नामका जो १७ वां सूत्र है उसके भाष्यमें 'उपकरणं बाह्याभ्यन्तरं च' इस वाक्यके द्वारा उपकरणके बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं; परन्तु श्वे० आगममें उपकरणके ये दो भेद नहीं माने गये हैं। इसीसे सिद्धसेन गणी अपनी टीकामें लिखते हैं—

"आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्ये-त्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति ।"

अर्थात्—आगममें तो उपकरणका कोई अन्तर-बाह्यभेद नहीं है। आचार्यका ही यह कहींसे भी कोई सम्प्रदाय है—भाष्यकारने ही किसी सम्प्रदाय-विशेषकी मान्यतापरसे इसे अंगीकार किया है।

इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि भाष्यका उक्त वाक्य श्वे० आगमके साथ संगत नहीं है, और दूसरी यह कि भाष्यकारने दूसरे सम्प्रदायकी बातको अपनाया है। वह दूसरा (श्वेताम्बरभिन्न) सम्प्रदाय दिगम्बर हो सकता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वत्र उपकरणके दो भेद माने भी गये हैं।

(५) चौथे अध्यायमें लोकान्तिक देवोंका निवास-स्थान 'ब्रह्मलोक' नामका पाँचवाँ स्वर्ग बतलाया गया है और 'ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः' इस २५ वें सूत्रके निम्न भाष्यमें यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ब्रह्मलोक में रहने वाले ही लोकान्तिक होते हैं—अन्य स्वर्गोंमें या उनसे परे—ग्रैवेयकादिमें लोकान्तिक नहीं होते—

"ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्य-कल्पेषु नापि परतः ।"

ब्रह्मलोकमें रहने वाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दस सागरकी और जघन्य स्थिति सातसागरसे कुछ अधिककी बतलाई गई, जैसा कि सूत्र नं० ३७ और ४२ और उनके निम्न भाष्यांशोंसे प्रकट है—

"ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्तदशेत्यर्थः ।"

"माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरो-पमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति । ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तके जघन्या ।"

इससे स्पष्ट है कि सूत्र तथा भाष्यके अनुसार लोका-न्तिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु दस सागरकी और जघन्य आयु सात सागरसे कुछ अधिककी होती है, क्यों कि लोकान्तिक देवोंकी आयुका अलग निर्देश करने वाला कोई विशेष सूत्र भी श्वे० सूत्रपाठमें नहीं है। परन्तु श्वे० आगममें लोका-न्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही प्रकारकी आयु

की स्थिति आठ सागरकी बतलाई है जैसाकि 'स्थानांग' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"लोगंतिकदेवाणं जहण्णमुक्कोसेणं अट्ठसागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।"

—स्था० स्थान ८ सू० ६२३ व्या, श० ६ उ० ५

ऐसी हालतमें सूत्र और भाष्य दोनोंका कथन श्वे० आगमके साथ संगत न होकर स्पष्ट विरोधको लिये हुए है। दिगम्बर आगमके साथ भी उसका कोई मेल नहीं है; क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति आठ सागरकी मानी है और इसीसे दिगम्बर सूत्रपाठमें "लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्" यह एक विशेषसूत्र लोकान्तिक देवोंकी आयुके स्पष्ट निर्देशको लिये हुए है।

(६) चौथे अध्यायमें, देवोंकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हुए, जो ४२ वाँ सूत्र दिया है वह अपने भाष्य-सहित इस प्रकार है—

"परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ४२ ॥"

भाष्य—"माहेन्द्रात्परतः पूर्वा पराऽनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति। तद्यथा। माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्तसागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तके जघन्या। एवमासर्वार्थसिद्धादिति।"

यहाँ माहेन्द्र स्वर्गसे बादके वैमानिक देवोंकी स्थिति का वर्णन करते हुए यह नियम दिया है कि अगले अगले विमानोंमें वह स्थिति जघन्य है, जो पूर्व पूर्वके विमानोंमें उत्कृष्ट कही गई है, और इस नियमको सर्वार्थसिद्ध विमान-पर्यन्त लगानेका आदेश दिया गया है। इस नियम और आदेशके अनुसार सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी जघन्य-स्थिति बत्तीस सागरकी और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की ठहरती है। परन्तु आगममें सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थिति एक ही प्रकारकी बतलाई है—उसमें जघन्य उत्कृष्टका कोई भेद नहीं है, और वह स्थिति तेतीस सागरकी ही है; जैसा कि श्वे० आगमके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते ! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा ! अजहण्णुक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।" —प्रज्ञा० प० ४ सू० १०२

"अजहण्णमणुक्कोसा तेत्तीसं सागरोपमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया॥ २४२॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३६

और इसलिये यह स्पष्ट है कि भाष्यका 'एवमा सर्वार्थसिद्धादिति' वाक्य श्वे० आगमके विरुद्ध है। सिद्धसेनगणी ने भी इसे महसूस किया है और इसलिये वे अपनी टीका में लिखते हैं—

"तत्र विजयादिषु चतुर्षु जघन्येनैकत्रिंशदुत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यजघन्योत्कृष्टा स्थितिः। भाष्यकारेण तु सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्यधीता तन्न विद्मः केनाप्यभिप्रायेण। आगमस्तावदयम्—"

अर्थात्—विजयादिक चार विमानोंमें जघन्य स्थिति इकत्तीस सागरकी—उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागरकी है और सर्वार्थसिद्धमें अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है। परंतु भाष्यकारने तो सर्वार्थसिद्धमें जघन्यस्थिति बत्तीस सागरकी बतलाई है, हमें नहीं मालूम किस अभिप्रायसे उन्होंने ऐसा कथन किया है। आगम तो यह है—(इसके बाद प्रज्ञापनासूत्र का वह वाक्य दिया है जो ऊपर उद्धृत किया गया है)।

(७) छठे अध्यायमें तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मके आस्रव-कारणोंको बतलाते हुए जो सूत्र दिया है वह इस प्रकार है—

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी संघसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य - बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य॥ २३॥"

यह सूत्र दिगम्बर सूत्रपाठके बिल्कुल समकक्ष है—मात्रसाधुसमाधिसे पहले यहाँ 'संघ' शब्द बढ़ा हुआ है, जिससे अर्थमें कोई विशेष भेद उत्पन्न नहीं होता। दि० सूत्रपाठमें इसका नम्बर २४ है। इसमें सोलह कारणों का निर्देश है और वे हैं—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनय-सम्पन्नता, ३ शीलव्रतानतिचार, ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५ अभीक्ष्णसंवेग, ६ यथाशक्ति त्याग, ७ यथाशक्ति तप, ८ संघसाधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति,

१४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना, १६ प्रवचन-वत्सलत्व।

परन्तु श्वेताम्बर आगममें तीर्थंकरत्वकी प्राप्तिके बीस* कारण बतलाये हैं—सोलह नहीं और वे हैं—१ अर्हद्वत्सलता, २सिद्धवत्सलता, ३प्रवचनवत्सलता, ४गुरुवत्सलता, ५स्थविरवत्सलता, ६बहुश्रुतवत्सलता, ७तपस्विवत्सलता, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ६दर्शननिरतिचारता १०विनयनिरतिचारता, ११आवश्यकनिरतिचारता, १२शीलनिरतिचारता, १३व्रतनिरतिचारता, १४क्षणलवसमाधि, १५तपःसमाधि, १६त्यागसमाधि, १७वैयावृत्त्यसमाधि, १८अपूर्वज्ञानग्रहण, १६ श्रुतभक्ति, २० प्रवचनप्रभावना, जैसाकि ज्ञाताधर्मकथाग' नामक श्वेताम्बर आगमकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है:—

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेयर-बहुसुए तवस्सीसु।
वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे अ ॥१॥
दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइचारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

इनमेंसे सिद्धवत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, तपस्वि-वत्सलता, क्षणलवसमाधि और अपूर्व-ज्ञानग्रहण नामके छह कारण तो ऐसे हैं जो उक्त सूत्रमे पाये ही नहीं जाते; शेषमेंसे कुछ पूरे और कुछ अधूरे मिलते जुलते हैं। इसके सिवाय, उक्त सूत्रमें अभीक्ष्ण संवेग, साधुसमाधि और आचार्यभक्ति नामके तीन कारण ऐसे हैं जिनकी गणना इन आगमकथित बीस कारणोंमें नहीं की गई है। ऐसी हालतमें उक्त सूत्रका एकमात्र आधार श्वेताम्बर श्रुत (आगम) कैसे हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भाष्यकारने प्रवचनवत्सलत्वका "अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष-ग्लानादीनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति"† ऐसा विलक्षण लक्षण करके, इसके द्वारा उक्त बीस कारणोंमेंसे कुछ छूटे हुए कारणोंका संग्रह करना चाहा है; परन्तु फिर भी वे सबका संग्रह नहीं कर सके—सिद्धवत्सलता और क्षणलवसमाधि जैसे कुछ कारण रह ही गये और कई भिन्न कारणोंका भी संग्रह कर गये हैं! इस विषयमें सिद्धसेनगणी लिखते हैं—

विंशतेः कारणानां सूत्रकारेण किंचित्सूत्रे किंचिद्भाष्ये किंचित् आदिग्रहणात् सिद्धपूजा-क्षणलवध्यान-भावनाख्यमुपात्तम् उपयुज्य च प्रवक्त्रा व्याख्येयम्।"

अर्थात्—बीस कारणोंमेंसे सूत्रकारने कुछका सूत्रमें कुछका भाष्यमें और कुछका—सिद्धपूजा क्षणलव ध्यान-भावनाका—'आदि' शब्दके ग्रहणद्वारा संग्रह किया है, वक्ताको ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये।

इस तरह आगमके साथ सूत्रकी असंगतिको दूर करने का कुछ प्रयत्न किया गया है; परन्तु इस तरह असंगति दूर नही हो सकती—सिद्धसेनके कथनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि सूत्रमें बीसों कारणोंका उल्लेख नहीं है। और इस लिये उक्तसूत्रका आधार श्वेताम्बर श्रुत नहीं है,। वास्तवमें इस सूत्रका प्रधान आधार दिगम्बर श्रुत है, दिगम्बर सूत्र-पाठके यह बिलकुल समकक्ष है इतना ही नहीं बल्कि दिगम्बर आम्नायमें आमतौर पर जिन सोलह कारणोंकी मान्यता है उन्हींका इसमें निर्देश है। दिगम्बर षट्खण्डागमके निम्नसूत्रसे भी इसका भले प्रकार समर्थन होता है—

"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलवदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलव-पडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए यथा थामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणाए अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति।" ३-४१

*'पढम चरमेहि पुट्ठा जिणहेऊ वीस ते इमे—
—सत्तरिसयठाणाद्वार १०

†'अर्थात्—अर्हन्तदेवके शासनका अनुष्ठान करने वाले श्रुतधारी और बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष तथा ग्लानादि जातिके मुनियोंका जो संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह करना है उसका नाम प्रवचनवत्सलता है।'

इस विषयका विशेष ऊहापोह पं० फूलचंदजी शास्त्रीने अपने 'तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' नामक लेखमें किया है, जो चौथे वर्षके अनेकान्तकी किरण ११-१२ (पृष्ठ ५८३-५८८) में मुद्रित हुआ है। इसीसे यहाँ अधिक लिखनेकी ज़रूरत नहीं समझी गई।

(८) सातवें अध्यायका १६ वाँ सूत्र इस प्रकार है:—

"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च।"

इस सूत्रमें तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके भेदवाले सात उत्तरव्रतोंका निर्देश है, जिन्हें शीलव्रत भी कहते हैं। गुणव्रतोंका निर्देश पहले और शिक्षाव्रतोंका निर्देश बादमें होता है, इस दृष्टिसे इस सूत्रमें प्रथम निर्दिष्ट हुए दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ये तीन तो गुणव्रत हैं; शेष सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं। परन्तु श्वेताम्बर आगममें देशव्रतको गुणव्रतोंमें न लेकर शिक्षाव्रतोंमें लिया है और इसी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत का ग्रहण शिक्षाव्रतोंमें न करके गुणव्रतोंमें किया है। जैसा कि श्वे० आगमके निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—पंचअणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं। तिण्णि गुणव्वयाइं, तंजहा-अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उपभोगपरिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोपवासे, अतिहिसंविभागे।"

—औपपातिक श्रीवीरदेशना सूत्र ५७

इससे तत्त्वार्थशास्त्रका उक्त सूत्र श्वेताम्बर आगमके साथ संगत नहीं, यह स्पष्ट है। इस असंगतिको सिद्धसेनगणीने भी अनुभव किया है और अपनी टीकामें यह बतलाते हुए कि 'आर्ष (आगम) में तो गुणव्रतोंका क्रमसे आदेश करके शिक्षाव्रतोंका उपदेश दिया है, किन्तु सूत्रकारने अन्यथा किया है', यह प्रश्न उठाया है कि सूत्रकारने परमआर्ष वचनका किसलिये उल्लंघन किया है? जैसा कि निम्न टीका वाक्यसे प्रकट है—

"सम्प्रति क्रमनिर्दिष्टं देशव्रतमुच्यते। अत्राह—वक्ष्यति भवान् देशव्रतं। पारमार्षवचनक्रमः कैमर्थ्याद्-भिन्नः सूत्रकारेण? आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेणादिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा।"

इसकेबाद प्रश्नके उत्तररूपमें इस असंगतिको दूर करने अथवा उस पर कुछ पर्दा डालनेका यत्न किया गया है, और वह इस प्रकार है—

"तत्रायमभिप्रायः—पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहीतम्। न चास्ति सम्भवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्या, ततस्तदनन्तरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति देशे-भागेऽवस्थानं प्रतिदिनं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखावबोधार्थमन्यथा क्रमः।"

इसमें अन्यथाक्रमका यह अभिप्राय बतलाया है कि—'पहलेसे किसीने १०० योजन परिमाण दिशागमनकी मर्यादा ली परन्तु प्रतिदिन उतनी दिशाके अवगाहनका संभव नहीं है, इसलिये उसके बाद ही देशव्रतका उपदेश दिया है। इससे प्रतिदिन, प्रतिप्रहर और प्रतिक्षण पूर्वगृहीत मर्यादाके एक देशमें-एक भागमें अवस्थान होता है। अतः सुखबोधार्थ—सरलतासे समझानेके लिये—यह अन्यथाक्रम स्वीकार किया गया है।'

यह उत्तर बच्चोंको बहकाने जैसा है। समझमें नहीं आता कि देशव्रतको सामायिकके बाद रखकर उसका स्वरूप वहां बतला देनेसे उसके सुखबोधार्थमें कौनसी अड़चन पड़ती अथवा कठिनता उपस्थित होती थी और वह अड़चन अथवा कठिनता आगमकारको क्यों नहीं सूझ पड़ी? क्या आगमकारका लक्ष्य सुखबोधार्थ नहीं था? आगमकारने तो अधिक शब्दोंमें अच्छी तरह समझाकर—भेदोपभेदको बतलाकर लिखा है। परन्तु बात वास्तवमें सुखबोधार्थ अथवा मात्र क्रमभेदकी नहीं है, क्रमभेद तो दूसरा भी पाया जाता है—आगममें अनर्थदण्डव्रतको दिग्व्रत से भी पहले दिया है, जिसकी सिद्धसेन गणीने कोई चर्चा नहीं की है। परन्तु वह क्रमभेद गुणव्रत-गुणव्रतका है, जिसका विशेष महत्त्व नहीं; यहां तो उस क्रमभेदकी बात है जिससे एक गुणव्रत शिक्षाव्रत और एक शिक्षाव्रत गुणव्रत हो जाता है। और इस लिये इस प्रकारकी असंगति सुखबोधार्थ कहदेने मात्रसे दूर नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट कहना होगा कि इसके द्वारा दूसरे शासनभेदको अपनाया गया है। आचार्यो-आचार्योंमें इस विषयमें कितना ही

मतभेद रहा है। इसके लिये लेखकका 'जैनाचार्योंका शासनभेद' ग्रन्थ देखना चाहिये।

(६) आठवें अध्यायमें 'गति जाति' आदिरूपसे नामकर्मकी प्रकृतियोंका जो सूत्र है उसमें 'पर्याप्ति' नामका भी एक कर्म है। भाष्यमें इस 'पर्याप्ति' के पांच भेद निम्नप्रकार से बतलाए हैं—

"पर्याप्तिः पञ्चविधा । तद्यथा—आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिरिति ।"

परन्तु दिगम्बर आगमकी तरह श्वेताम्बर आगममें भी पर्याप्तिके छह भेद माने गये हैं*—छठा भेद मनःपर्याप्तिका है, जिसका उक्त भाष्यमें कोई उल्लेख नहीं है। और इस लिये भाष्यका उक्त कथन पूर्णतः श्वेताम्बर आगमके अनुकूल नहीं है। इस असंगतिको सिद्धसेन गणीने भी अनुभव किया है और अपनी टीकामें यह प्रश्न उठाया है कि 'परमआर्षवचन (आगम) में तो षट् पर्याप्तियाँ प्रसिद्ध हैं, फिर यह पर्याप्तियोंकी पांच संख्या कैसी?'; जैसा कि टीकाके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"ननु च षट् पर्याप्तयः पारमार्षवचनप्रसिद्धाः कथं पंचसंख्याका ? इति" ।

बादको इसके भी समाधानका वैसा ही प्रयत्न किया गया है जो किसी तरह भी हृदय-ग्राह्य नहीं है। गणीजी लिखते हैं—"इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मनःपर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयम् ।" अर्थात् इन्द्रियपर्याप्तिके ग्रहणसे यहाँ मनःपर्याप्तिका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। परन्तु इन्द्रियपर्याप्तिमें यदि मनःपर्याप्तिका भी समावेश है और मनःपर्याप्ति इन्द्रियपर्याप्तिसे कोई अलग चीज़ नहीं है तो आगममें मनःपर्याप्तिका अलग निर्देश क्यों किया गया है? और सूत्रमें क्यों इन्द्रियों तथा मनको अलग अलग लेकर मतिज्ञानके भेदोंकी परिगणना की गई है तथा संज्ञी-असंज्ञीके भेदोंको भी प्राधान्य दिया गया है? इन प्रश्नोंका कोई समुचित समाधान नहीं बैठता, और इसलिये कहना होगा कि यह भाष्यकारका आगमनिरपेक्ष अपना मत है, जिसे किसी कारणविशेषके वश होकर उसने स्वीकार किया है। अन्यथा, इन्द्रियपर्याप्तिका स्वरूप देते हुए वह इसका स्पष्टीकरण जरूर कर देता। परन्तु नहीं किया गया; जैसाकि "त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तनाक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः" इस इन्द्रियपर्याप्तिके लक्षणसे प्रकट है। अतः श्वेताम्बर आगमके साथ इस भाष्यवाक्यकी संगति बिठलानेका प्रयत्न निष्फल है।

(१०) नवमें अध्यायका अन्तिम सूत्र इस प्रकार है—

"संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपात-स्थानविकल्पतः साध्याः ।"

इसमें पुलाकादिक पंचप्रकारके निर्ग्रन्थ मुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना आदि आठ अनुयोगद्वारोंके द्वारा भेदरूप सिद्ध किये जाते हैं, ऐसा उल्लेख है। भाष्यमें उस भेदको स्पष्ट करके बतलाया गया है; परन्तु उस बतलानेमें कितने ही स्थानोंपर श्वेताम्बर आगमके साथ भाष्यकारका मतभेद है, जिसे सिद्धसेन गणीने अपनी टीकामें 'आगमस्त्वन्यथा व्यवस्थितः', 'अत्रैवाऽन्यथैवागमः', 'अत्राप्यागमोऽन्यथाऽतिदेशकारी' जैसे वाक्योंके साथ आगमवाक्योंको उद्धृत करके व्यक्त किया है। यहाँ उनमेंसे सिर्फ एक नमूना दे देना ही पर्याप्त होगा—भाष्यकार 'श्रुत' की अपेक्षा जैन मुनियोंके भेदको बतलाते हुए लिखते हैं—

"श्रुतम् । पुलाक-बकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाऽभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः । कषायकुशील-निर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु, बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । श्रुतापगतः केवली स्नातक इति ।"

अर्थात्—श्रुतकी अपेक्षा पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि ज्यादासे ज्यादा अभिन्नाक्षर (एक भी अक्षरकी कमीसे रहित) दशपूर्वके धारी होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि चौदह पूर्वके धारी होते हैं। पुलाक मुनिका कमसे कम श्रुतआचार वस्तु है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थमुनियोंका कमसे कम श्रुत आठ प्रवचनमाता तक सीमित

*आहार सरीरे दियपज्जत्ती आणपाण-भास-मणे ।
चउ पंच पंच छप्पिय इग-विगलाऽसण्णि-सण्णीणं ॥
—नवतत्त्वप्रकरण, गा० ६

अहार-सरीरं दिय-ऊसास-वओ-मणोऽहि निव्वत्ती ।
होइ जओ दलियाओ करणं एसाउ पज्जत्ती ॥
—सिद्धसेनीया टीकामें उद्धृत पृ० १६०

है। और स्नातक मुनि श्रुतसे रहित केवली होते हैं।

इस विषयमें आगमकी जिस अन्यथा व्यवस्थाका उल्लेख सिद्धसेनने किया है वह इस प्रकार है—

"पुलाए णं भंते केवतियं सुयं अहिज्जि (ज्जे ?) ज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं णवमस्स पुव्वस्स तत्तियं आयारवत्थुं, उक्कोसेणं नव पुव्वाइं ंपुएणाइं। बउस-पडिसेवणा-कुसीला जहएणेणं अट्ठपवयण-मायाओ, उक्कोसेणं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जिज्जा। कसायकुसील-निग्गंथा जहएणेणं अट्ठपवयणमायाओ, उक्कोसेणं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जिज्जा।"

इसमें जघन्य श्रुतकी जो व्यवस्था है वह तो भाष्यके साथ मिलती जुलती है; परन्तु उत्कृष्ट श्रुतकी व्यवस्थामें भाष्यके साथ बहुत कुछ अन्तर है। यहाँ पुलाक मुनियोंके उत्कृष्ट श्रुतज्ञान नवपूर्व तक बतलाया है, जब कि भाष्यमें दसपूर्व तकका स्पष्ट निर्देश है। इसी तरह बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंका श्रुतज्ञान यहाँ चौदहपूर्व तक सीमित किया गया है, जब कि भाष्यमें उसकी चरमसीमा दसपूर्व तक ही कही गई है। अतः आगमके साथ इस प्रकारके मतभेदोंकी मौजूदगीमें जिनकी संगति बिठलानेका सिद्धसेन गणीने कोई प्रयत्न भी नहीं किया, यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त सूत्रके भाष्यका आधार पूर्णतया श्वेताम्बर आगम है।

(११) नवमें अध्यायमें उत्तमक्षमादि-दशधर्म-विषयक जो सूत्र है उसके तपोधर्म-सम्बन्धी भाष्यका अन्तिम अंश इस प्रकार है:—

"तथा द्वादश भिक्षुप्रतिमाः मासिक्यादयः आ-सप्तमासिक्यः सप्त, सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः अहोरात्रिकी, एकरात्रिकी चेति।"

इसमें भिक्षुओंकी बारह प्रतिमाओंका निर्देश है, जिनमें सात प्रतिमाएँ तो एकमासिकीसे लेकर सप्तमासिकी तक बतलाई हैं, तीन प्रतिमाएँ सप्तरात्रिकी, चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी कही हैं, शेष दो प्रतिमाएँ अहो-रात्रिकी और एकरात्रिकी नामकी हैं।

सिद्धसेन गणीने उक्त भाष्यकी टीका लिखते हुए आगम के अनुसार सप्तरात्रिकी प्रतिमाएँ तीन बतलाई हैं—चतुर्दश-रात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी प्रतिमाओंको आगम-सम्मत नहीं माना है, और इसलिये आप 'सप्तचतुर्दशैकविंशति-रात्रिक्यस्तिस्रः' इस भाष्यांशको आगमके साथ असंगत, आर्षविसंवादि और प्रमत्तगीत तक बतलाते हुए लिखते हैं:—

"सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति नेदं पारमर्षवचनानुसारि भाष्यं; किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवं विधमार्षविसंवादि निब-न्धीयात् ? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम्। दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीया सप्तरात्रि-कीति सूत्रनिर्भेदः। द्वे सप्तरात्रे त्रीणीति सप्तरात्रीति सूत्रनिर्भेदं कृत्वा पठितमज्ञेन सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रि-क्यस्तिस्र इति।"

अर्थात्—'सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' यह भाष्य परमआर्षवचन (आगम) के अनुकूल नहीं है। फिर क्या है ? यह प्रमत्तगीत है—पागलों जैसी बरड़ है अथवा किसी पागलका कहा हुआ है। वाचक (उमास्वाति) पूर्वके ज्ञाता थे, वे कैसे इस प्रकारका आर्षविसंवादि वचन निबद्ध कर सकते थे ? आगमसूत्रकी अनभिज्ञतासे उत्पन्न हुई भ्रान्तिके कारण किसीने इस वचनकी रचना की है। 'दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीया सप्तरात्रिकी' ऐसा आगमसूत्रका निर्देश है- इसे 'द्वेसप्तरात्रे त्रीणिति सप्तरात्राणीति' ऐसा सूत्रनिर्भेद करके किसी अज्ञानीने पढ़ा है और उसीका फल 'सप्तचतु-र्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' यह भाष्य बना है।

सिद्धसेनकी इस टीकापरसे ऐसा मालूम होता है कि सिद्धसेनके समयमें इस विवादापन्न भाष्यका कोई दूसरा आगम संगतरूप उपलब्ध नहीं था, उपलब्ध होता तो वह सिद्धसेन-जैसे ख्यातिप्राप्त और साधनसम्पन्न आचार्यको जरूर प्राप्त होता, और प्राप्त होनेपर वे उसे ही भाष्यके रूपमें निबद्ध करते—आपत्तिजनक पाठ न देते, अथवा दोनों पाठोंको देकर उनके सत्याऽसत्यकी आलोचना करते। दूसरी बात यह मालूम होती है कि सिद्धसेन चूंकि पहलेसे भाष्यको मूल सूत्रकारकी स्वोपज्ञकृति स्वीकार कर चुके थे और सूत्रकारको पूर्ववित् भी मान चुके थे, ऐसी हालतमें जिस तत्कालीन श्वे० आगमके वे कट्टर पक्षपाती थे उसके विरुद्ध ऐसा कथन आनेपर वे एकदम विचलित हो उठे हैं

और उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि किसीने यह अन्यथा कथन भाष्यमें मिला दिया है, यही कारण है कि वे उक्त भाष्यवाक्यके कर्ताको अज्ञानी और उस भाष्यवाक्यको 'प्रमत्तगीत' तक कहनेके लिए उतारू होगये हैं। परन्तु स्वयं यह नहीं बतला सके कि उस भाष्यवाक्यको किसने मिलाया, किसके स्थानपर मिलाया, क्यों मिलाया, कब मिलाया और इस मिलावटके निर्णयका आधार क्या है? यदि उन्होंने भाष्यकारको स्वयं मूलसूत्रकार और पूर्ववित् न माना होता तो वे शायद वैसा लिखनेका कभी साहस न करते। उनका यह तर्क कि वाचक उमास्वाति पूर्वके ज्ञाता थे, वे कैसे इस प्रकारका आर्षविसंवादि वचन निबद्ध कर सकते थे।' कुछ भी महत्त्व नहीं रखता जब अन्य कितने ही स्थानोंपर भी आगमके साथ भाष्यका स्पष्ट विरोध पाया जाता है और जिसके कितने ही नमूने ऊपर बतलाये जा चुके हैं। पिछले (नं० १०) नमूनेसे प्रदर्शित भाष्यके विषयमें जब सिद्धसेन गणी स्वयं यह लिखते हैं कि "आगमस्त्वन्यथा व्यवस्थितः"—आगमकी व्यवस्था इसके प्रतिकूल है, और उसकी संगति बिठलानेका भी कोई प्रयत्न नहीं करते, तब वहाँ भाष्यकारका पूर्ववित् होना कहाँ चला गया? अथवा पूर्ववित् होते हुए भी उन्होंने वहाँ 'आर्षविसंवादि' वचन क्यों निबद्ध किया? इसका कोई उत्तर सिद्धसेनकी टीका परसे नहीं मिल रहा है और इसलिये जब तक इसके विरुद्ध सिद्ध न किया जाय तब तक यह कहना होगा कि भाष्यका उक्त वाक्य श्वे० आगमके विरुद्ध है और वह किसीके द्वारा प्रक्षिप्त न होकर भाष्यकारका निजी मत है। और ऐसे स्पष्ट विरोधोंकी हालतमें यह नहीं कहा जा सकता कि भाष्यादिका एकमात्र आधार श्वेताम्बर-श्रुत है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ ये सब प्रमाण, जो ऊपर दो भागोंमें संकलित किये गये हैं, इस बातको बतलानेके लिए पर्याप्त हैं कि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं और न दोनोंकी रचना सर्वथा श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर अवलम्बित है, उस में दिगम्बर आगमोंका भी बहुत बड़ा हाथ है* और कुछ मन्तव्य ऐसे भी है जो दोनों सम्प्रदायोंसे भिन्न किसी तीसरे ही सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं अथवा सूत्रकार तथा भाष्यकारके निजी मतभेद हैं। और इसलिये उक्त दोनों दावे तथ्यहीन होने से मिथ्या हैं। आशा है विद्वज्जन इस विषयपर गहरा विचार करके अपने-अपने अनुभवोंको प्रकट करेंगे। जरूरत होनेपर जाँच-पड़तालकी विशेष बातों को फिर किसी समय पाठकोंके सामने रक्खा जायगा।

ता० १८—७—१९४२] वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा

* इस विषयकी विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिये 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' नामका वह निबन्ध देखना चाहिए जो चतुर्थ वर्षके 'अनेकान्त' की प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

शान्ति-भावना

[१]

आज प्रलयकी आँधी आई,
पाप-घटा है सिर पर छाई;
पुण्य देवके प्राण टूटते,
धर्म माँगता मौन विदाई!
क्रान्ति, शान्तिको चली हड़पने-
पर, उसका ही नाम मिटेगा!
विश्वशान्तिका शंख बजेगा!!

[२]

ढोंग और पाखण्ड बढ़े हैं,
द्वेष-दम्भ खम ठोक खड़े हैं!
न्याय-नीतिका गला घोटने—
हिंसाके जल्लाद बढ़े हैं!
जगकी नस-नसमें वीरोंका—
रक्त,—अहिंसा-भाव भरेगा!
विश्वशान्तिका शंख बजेगा!!

[श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

वह देवता नहीं, मनुष्य था !

(श्री दौलतराम 'मित्र')

"हमने माना हो फरिश्ते शेखजी !
आदमी होना बहुत दुश्वार है !!"*

× × ×

बाबू सूरजमलजी जैन ता० ७ जुलाई १६४२ को इन्दौर में ५३ वर्षकी आयु पार करके उस पार चले गये ।

म० गांधीके कथनानुसार मृतकका तो गुणगान ही करना चाहिये । बाबूजीने मनुष्यत्व प्राप्त किया था, वे मनुष्य थे । फिर भी मुझे यह कह देनेमें जरा भी संकोच नहीं होरहा है कि उनमें मनुष्योचित कमजोरियाँ भी थीं ।

यह सूरत सौम्य और प्रतिभाशाली थी । इस प्रतिमामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण झलकते थे ।

शरीर रोगी था और आर्थिक स्थिति खराब थी, फिर भी परोपकारके लिये वे आपत्तियोंका खयाल न करते थे । ×

द्विजेन्द्रलालरायने अपने 'उसपार' नाटकमें ऐसे (बाबूजी जैसे) एक व्यक्तिकी कल्पना की है, जिसका नाम भोलानाथ है । आशा लेकर आये हुए गरीबके सामने अपनी आर्थिक स्थितिका खयाल छोडकर इनका हाथ आगे बढ़ ही जाता था । इनके पास गया हुआ व्यक्ति कभी निराश होकर लौटता किसीने नहीं देखा।

बाबूजीने अपना तन, मन, धन सबके लिये खुला रख छोड़ा था, जिसका जी चाहता उपयोग कर लेता । लोगोंने दुरुपयोग भी किया पर उन्होंने किसीकी शिकायत नहीं की । वे खुद या दोस्तोंकेद्वारा यह ज्ञात हो जानेपर कि दूसरा उनका दुरुपयोग कर रहा है, वे उसे दुरुपयोग करने देते । यह बात उन्हें प्यारी थी ।

सैकड़ों छात्रोंको पढ़ाईमें तथा सैकड़ों गृहस्थोंको रोजी से लगानेमें उन्होंने अपनी सारी शक्ति खपा डाली ।

मतभेदी तो क्या मतद्वेषी लोगोंसे भी वे प्रेम करते थे।

बाबूजी प्राचीन संस्कृतिके काफी हिमायती थे । भले ही संस्कृतिके किसी अंश या अंगको वे न अपना सके हों, परन्तु उसका उन्होंने कभी विरोध नहीं किया । जैसे नित्य देवपूजा ।

सुधारक भी वे पूरे थे । यह बात उनके लेखोंसे स्पष्ट ज़ाहिर होती है ।

राजपुरुषोंका चित्त हरण कर लेनेका कठिन काम है, उसे भी वे साध लेते थे । और उसका उपयोग वे असहाय लोगोंके बिगडे काम बनाना तथा जैनधर्मके प्रचारमें करते थे । जनहितके लिये वे राजपुरुषोंसे विरोध भी कर बैठते थे । एक बार ऐसे विरोध करनेके कारण उन्हे इन्दौरसे बाहर होना पडा था ।

बाबूजी कितने कर्मठ और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, इस बातका पता यों लग जाता है कि वे किसी समय एक साथ २१ पारमार्थिक संस्थाओंका नेतृत्व करते थे ।

बुद्धिमत्ता उनमें इतनी थी कि उनके साधारण— स्वाभाविक—नैसर्गिक—ज्ञानके आगे विशेष ज्ञानीजनोंको झेंप जाना पडता था ।

उनका जैनधर्मपर श्रद्धान एक आकस्मिक घटना— कुलधर्मके रूपमें नहीं था, किन्तु परीक्षा प्रधानताके रूपमें था । जैनधर्म प्रचारके लिये जो अष्टनिमित्त बतलाये गये हैं उनमेंसे बहुतसे निमित्तोंके जरिये उन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया है । इस परसे यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि वे मुक्तिके अधिकारी हैं ।*

वे सबके थे, पर मेरी समझमें मेरे ज्यादा थे । एक वक्त हम दोनों सुख-दुखकी बातें कर रहे थे कि मैं अपने अश्रु विन्दुओंसे उनका पाद-प्रक्षालन करने लगा तो उन्होंने भी मेरा मस्तकाभिषेक कर डाला ।—वे मुझे एक चीज़ दे गये हैं—मैंने उनसे कुछ सीखा है । मैं उनका कृतज्ञ हूं । मैं जानता हूं, बाबूजीके निंदक भी हैं । उसका कारण है—

"द्विषंति मंदाश्चरितं महात्मनाम् ।" (कालीदास)

* "जो फरिश्ते कर सकते हैं, कर सकता इंसान भी ।
पर फरिश्तेसे न हो, जो काम है इंसानका ।" (जौक)

× पुमानत्यंत मेधावी चतुरश्चैकं समश्नुते ।
अल्पायुरनपत्यो दरिद्रो वा रुजान्वितः ॥"
"स्वापदं नहि पश्यंति सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ।" क्ष.चू.

* निमित्तैरष्टधा प्रोक्तं तपोभिर्जनरञ्जकैः ।
धर्मोपदेशनैरन्यवादि दर्पातिशातनैः ॥
नृपचेतोहरैः श्रव्यैः काव्यैः शब्दार्थसुंदरैः ।
सद्भिः शौर्येण तत्कार्यं शाशनस्य प्रकाशनं ॥
रुचिप्रवर्तने यस्य जैनशाशनभासने ।
हस्ते तस्य स्थिता मुक्तिरिति सूत्रे निगद्यते ॥ (उत्तर पुराण)

राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्षकी जैनदीक्षा

[ले०—श्री प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल० एल० बी०]

राष्ट्रकूटवंशके राजा अमोघवर्ष (प्रथम) इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मान्यखेट राजधानी बसाई, जो अपने वैभव और सौन्दर्यमें इन्द्रपुरीसे भी बढ़ गई थी। इनके राज्यकालकी प्रशस्तियां शक संवत् ७३८ से ७९९ तककी मिली हैं।[१] उनसे पूर्वके राजा गोविन्द-राज (तृतीय) का एक ताम्रपत्र शक ७३५ (सन् ८१३) का पाया जाता है, तथा अमोघवर्षका एक लेख शक ७८८ का उनके राज्यकालके ५२वें वर्षका है। इन उल्लेखोंपरसे उनके राज्यका प्रारम्भ सन ८१४-८१५ सिद्ध किया गया है।[२] इससे ज्ञात होता है कि अमोघ-वर्षने सन ८१५ से ८७७ तक ६२-६३ वर्ष अवश्य राज्य किया।

अमोघवर्ष नरेश किस धर्मके अनुयायी थे, इस प्रश्नका उत्तर भी उनके सम्बन्धके अनेक ताम्रपत्र, शिलालेख व साहित्यिक उल्लेखोंसे चल जाता है। एक कुशल नीतिज्ञ राजा किसी धर्म विशेषका पक्ष-पाती या विरोधी नहीं हो सकता। तदनुसार अमोघ-वर्षके हिन्दूधर्म व जैनधर्मके प्रति सत्कारके अनेक उल्लेख मिलते हैं। तो भी हिन्दूधर्म सम्बन्धी उल्लेख होनेपर भी इतिहासकारोंने यह स्वीकार कर लिया है कि अमोघवर्षकी यथार्थ चित्तवृत्ति जैनधर्मकी ओर थी। इस सम्बन्धके प्राप्त उल्लेखोंका परिचय कराकर सर रामकृष्णगोपाल भंडारकरने अपने दक्षिणके इतिहासमें लिखा है[३]—

"From all this it appears that of all the Rashtrakuta princes Amoghararsha was the greatest patron of the Digambara Jainas; and the statement that he adopted the Jain faith seems to be true."

अर्थात्—उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह प्रतीत होता है कि समस्त राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे अमोघवर्ष सबसे बड़ा दिगम्बर जैनियोका संरक्षक था; और उसके जैन धर्म स्वीकार करनेकी बात भी यथार्थ प्रतीत होती है।

उसी प्रकार विश्वेश्वरनाथजी रेऊने भी कहा है कि[४] "इससे ज्ञात होता है कि यह राजा दिगम्बर जैन-मतका अनुयायी और जिनसेनका शिष्य था।······ इसमें प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्थामें इस राजाने राज्यका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तनमें बिताया था।" उसी प्रकार डाक्टर अल्तेकरने स्वीकार किया है कि[५]—

"In religion Amoghavarsha had great leaning towards Jainism"

अर्थात "धर्मके सम्बन्धमें अमोघवर्षका भारी झुकाव जैनधर्मकी ओर था।"

जिन उल्लेखोंपर से उक्त इतिहासकारोने अमोघ-वर्षके जैनधर्मके अनुयायी या जैनधर्मकी ओर विशेष आकर्षित होनेकी बात स्वीकार की है, वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं:—

(१) वीरसेनाचार्यने अपनी धवलाटीका इन्हींके कालमें शक ७३८ में समाप्त की थी, तथा उनके शिष्य जिनसेनाचार्यने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यकी अन्तिम

---

१ रेउः भारतके प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ३६ आदि।

२ Altekar: The Rashtra Kuta and their times. P. 71.

३ Bhandarkar; The early History of the Deccan P. 95.

४ रेउः भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ४४-४५

५ Altekar : The Rastrakutas and their times. P. 88.

प्रशस्तिमें इनको सदा राज्य करते रहनेका आशीर्वाद दिया है।[1] इसी पार्श्वाभ्युदय काव्यकी सर्गान्त पुष्पिकाओंमें जिनसेनाचार्य अमोघवर्ष नरेशके 'परमगुरु' कहे गये हैं।[2]

(२) जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्रने उत्तर-पुराणमें कहा है कि अमोघवर्ष नृपति जिनसेनाचार्य को प्रणाम करनेसे अपनेको पवित्र समझता था।[3]

(३) 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नामक एक छोटासा सुन्दर सुभाषित काव्य है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि श्वेताम्बर जैनियोंने उसे अपनाकर विमल-सूरिकृत प्रकट किया है और हिन्दुओंने शंकराचार्य कृत मानकर उसका आदर किया है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायने इसे अमोघवर्षकृत ही माना है और इस का समर्थन एक तिब्बती अनुवादमें भी होगया है।[4] इस काव्यके आदिमें कर्ताने वर्धमान तीर्थंकरको नमस्कार किया है।[5] और अन्तके पद्यमें कहा गया है कि "यह विद्वानोंकी सुन्दर अलंकाररूप रत्नमालिका राजा अमोघवर्षकी बनाई हुई है, जिन्होंने विवेकसे राज्यका त्याग कर दिया।[6]

इन उल्लेखोंपरसे ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष नरेशने न केवल जैनधर्मकी ओर झुकाव ही दिखाया था, किन्तु जैनगुरुओंकी वे बड़ी भक्ति करते थे। अन्तिम उल्लेखसे तो ज्ञात होता है कि अन्ततः वैराग्य से उन्होंने राजपाट त्याग ही कर दिया था। किन्तु राज्य त्यागकर उन्होंने क्या किया, इस विषयपर उक्त इतिहासज्ञोंने अपना भिन्न भिन्न मत प्रकट किया है। सर भंडारकरने तो अपने इतिहासमें इतना ही कहा है कि "उनका जैन धर्म स्वीकार करना ठीक प्रतीत होता है!" रेऊजीका कहना है कि—"इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्थामें इस राजाने राज्यका भार अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तनमें बिताया था।" डा० अल्तेकरने बतलाया है कि अमोघ-वर्षके राज्य त्यागके सम्बन्धका उल्लेख एक ताम्रपत्र में भी पाया जाता है। यह ताम्रपत्र अमोघवर्षके ५२वें राज्यवर्षका, शक ७८८ का, लिखा हुआ है। किन्तु उस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि उन्होंने एक नहीं अनेक बार राज्य त्याग किया था। इस परसे डा० अल्तेकरका मत है कि—

It would seem that he was often putting his Yuvaraj or the ministry in charge of the administration, in order to pass some days in retirement and contemplation in the company of his Jaina gurus. This again shows the pious monarch trying to put into practice the teachings boh of Hinduism and Jainism which require a pious person to retire from life of the advent of old age in order to realise the highest ideals of human life"

अर्थात्—पूर्वोक्त उल्लेखपरसे ऐसा मालूम होता है कि अमोघवर्ष कई बार अपने युवराजको या मंत्रि-मण्डलको राज्यभार सौंपकर कुछ दिन एकान्तवास और ध्यानके लिये अपने जैनगुरुओंके साथ बिताया करते थे। इससे भी यही ज्ञात होता है कि ये धर्मात्मा नरेश हिन्दू और जैनके उन उपदेशोंको अपने आचरण में उतारनेका प्रयत्न करते थे, जिनके अनुसार धर्मिष्ठ

१ 'भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः'

२ इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघ-दूतवेष्ठिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः।

३ यस्यप्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्—
पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्॥

४ Bhandarkar: Early History of the Decean, P. 95.

५ प्रणिपत्य वर्धमानं, प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये।
नागनरामरवंद्यं देवं देवाधिपं वीरम्॥

६ विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितऽमोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥

मनुष्यको अपनी वृद्धावस्थामें संसारके झंझटोंसे अलग होकर जीवनके उच्चतम आदर्शको प्राप्त करना चाहिये।

तब क्या प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें अमोघवर्षके किसी ऐसे ही एक अल्पकालीन राज्यत्यागका उल्लेख है और उसी अल्पकालमें वह रचना करके वे पुनः सिंहासन पर आ बैठे होंगे? यह बात तो सच है कि जब शक ७८८ के लेखमें उनके राज्यत्यागका उल्लेख है, तब किसी अल्पकालीन त्यागका ही वहां अभिप्राय हो सकता है; क्योंकि उसके पश्चात शक ७८६ व शक ७६६ के भी उनके लेख पाये गये हैं। किन्तु जिस राज्य-त्यागका उल्लेख 'प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका' में पाया जाता है, वह त्याग ऐसा अल्पकालीन प्रतीत नहीं होता। उस ग्रन्थके भीतर जो भाव भरे हैं, वे लेखकके स्थायी वैराग्यके परिचायक हैं और अन्तमें 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' विशेषण लगाया गया है। उसमे तो यही जान पड़ता है कि राजाका इस बारका त्याग क्षणिक नहीं, स्थायी था, उन्होंने विवेकपूर्वक यह त्याग किया था। पर राज्य छोड़कर उन्होंने किया क्या, यह फिर भी अनिश्चित ही रहा। क्या वे गृहस्थ रहकर एकान्तमे धर्मचिन्तन करते रहे, या हिन्दू-संन्यासी या जैनमुनि बन गये? पं० नाथूरामजी प्रेमीका मत है कि[1]—

"यह बात अभी विवादापन्न ही है कि अमोघवर्ष ने राज्यको छोड़कर मुनि-दीक्षा ले ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावककी कोई उत्कृष्ट प्रतिमा का चरित्र ग्रहण कर लिया था। हमारी समझमें यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा ली होती, तो प्रश्नोत्तर-रत्नमाला में वे अपना नाम 'अमोघवर्ष' न लिखकर मुनि अवस्थामें धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्यका त्याग करनेके समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्षकी थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना संभव प्रतीत नहीं होता।"

उपर्युक्त उपलब्ध प्रमाणोंपरसे यह निष्कर्ष निकालना सयुक्तिक ही है। पर इस विषयके निर्णयके लिये एक और बड़ा प्रमाण उपलब्ध है, जिसकी ओर अभी तक इतिहासज्ञोंका पूर्ण ध्यान नहीं गया। अमोघवर्ष नृपका उल्लेख महावीराचार्य ने भी अपने गणितसार-संग्रहमे किया है और इस उल्लेखकी सूचना उपर्युक्त समस्त इतिहासज्ञोंके लेखोंमें पाई जाती है। किन्तु गणितसारसंग्रहके पूरे उल्लेखका किसीने अभी तक गंभीर अध्ययन नहीं किया, और इसीलिये उसमे उपर्युक्त विषयपर जो प्रकाश पड़ना चाहिये था वह अभी तक नहीं पड़ सका। अब हम यहां महावीराचार्य द्वारा गणितसारसंग्रहमें दी हुई अमोघवर्षकी प्रशस्तिका परिचय कराते हैं।

गणितसारसंग्रहके प्रारंभमे मंगलाचरण है जिसके प्रथमपद्यमे अलंघ्य, त्रिजगत्सार, अनन्तचतुष्टयके धारी महावीर जिनेन्द्रको नमस्कार किया गया है। दूसरे पद्य मे उन महाकान्तिधारी जैनेन्द्रको प्रणाम किया गया है, जिन्होंने संख्याके ज्ञानरूपी प्रदीपसे समस्त जगत्को प्रकाशित कर दिया है। तीसरेसे आठवे पद्य तक अमोघवर्षकी प्रशस्ति है, जो इस प्रकार है—

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥ १ ॥
पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि।
भस्मसाद्भावमीयुस्तेऽवन्ध्यकोपोऽभवत्ततः ॥ २ ॥
वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानुवशः परैः।
नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः ॥ ३ ॥
यो विक्रमक्रमाक्रांतचक्रिचक्रकृतक्रियः।
चक्रिकाभञ्जनो नाम्ना चक्रिकाभञ्जनोऽञ्जसा ॥४॥
यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः।
रत्नगर्भो यथाख्यातचारित्रजलधिर्महान् ॥ ५ ॥
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥ ६ ॥

इस प्रशस्तिपर विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखकने यहाँ अमोघवर्षकी राजवृत्तिके साथ-साथ द्व्यर्थक विशेषणोंद्वारा उनकी मुनिवृत्तिका वर्णन किया है। यही नहीं, किन्तु अंत तक जाते-जाते राजवृत्ति-वर्णन बहुत गौण और मुनिवृत्तिवर्णन ही

१ विद्वद्रत्नमाला, पृ० ८४।

प्रधान होगया है। प्रथमपद्यमें अमोघवर्ष प्राणीरूपी सस्यसमूहको संतुष्ट व निरीति और निरवग्रह करनेवाले और स्वेष्टहितैषी कहे गये हैं। यहाँ राजाके ईति-निवारण और अनावृष्टिकी विपत्तिके निवारणके साथ साथ सब प्राणियोकी ओर अभय और रागद्वेष-रहित वृत्तिका उल्लेख है। इस प्रकार वे आत्मकल्याण-परायण होगये थे, यह "स्वेष्टहितैषिणा" विशेषण से स्पष्ट है। दूसरे पद्यमें उनके पापरूपी शत्रुओंका उनकी चित्तवृत्तिरूपी तपोज्वालामें भस्म होनेका उल्लेख है। राजा अपने शत्रुओंको अपने क्रोधकी अग्निमें भस्म कर डालता है; इन्होंने कामक्रोधादि अंतरंग शत्रुओंको कषायरहित चित्तवृत्तिसे नष्ट कर दिया था। वे अबन्ध्यकोप होगये थे, उनके क्रोधकषायका बंध नहीं रहा था। तीसरे पद्यमें उनके समस्त जगतको वशीभूत करने, किन्तु स्वयं किसीके वशीभूत न होनेसे उन्हें "अपूर्व मकरध्वज" कहा है। यहाँ भी उनके चक्रवर्तित्वकी अपेक्षा उनके समस्त इन्द्रियों व सांसारिक भावनाओंको जीतकर वीतरागत्व प्राप्त कर लेनेकी ओर विशेष लक्ष्य है। चौथे पद्यमें उनकी एक 'चक्रिका भञ्जन' पदवीकी सार्थकता सिद्ध की है। राजमंडलको वश करनेके अतिरिक्त यहां स्पष्टतः उनके क्रमशः तपस्या-वृद्धि-द्वारा संसारचक्र-परिभ्रमणका क्षय करनेका उल्लेख है। पांचवें पद्यमें उनकी विद्याप्राप्ति और मर्यादाओंकी वज्रवेदिका द्वारा उनकी ज्ञानवृद्धि और महाव्रतोंके परिपालनका उल्लेख किया गया है 'रत्नगर्भ' विशेषणसे स्पष्टतः उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारणका भाव प्रगट किया गया है। उनके 'यथाख्यात चारित्रके जलधि' विशेषणमें तो निःसंशयरूपसे उनके पूर्णमुनि और उत्कृष्टध्यानी होनेका वर्णन है। 'यथाख्यातचारित्र' जैनसिद्धांतकी एक विशेषसंज्ञा है जो मुनिसकलचारित्रको धारण करके भावोंकी विशुद्धिद्वारा समस्त कषायोंको शांत या क्षीण कर देता है उसे ही यथाख्यात चारित्रका धारी करते हैं। इस पद्यमें तो अमोघवर्षके मुनित्वके वर्णन होनेमें कोई संदेह ही नहीं रहता। अंतिम पद्यमें उनके एकांत छोड़कर अनेकान्तस्याद्वादन्यायका अवलंबन करनेका स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे नृपतुङ्गदेवके शासन अर्थात् धर्म शासनकी वृद्धिकी आशा की गई है।

इस प्रकार इस प्रशस्तिसे कोई संदेह नहीं रहता कि राष्ट्रकूट-नरेश नृपतुङ्ग अमोघवर्षने राज्य त्यागकर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी और उन्होंने अपनी चित्तवृत्तिको विशुद्ध और निर्मल बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा था!

अब रह जाती है प्रेमीजीकी यह शंका कि यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी, तो फिर उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं बदला? पर यह आवश्यक नहीं है कि मुनि-दीक्षा लेनेपर नाम अवश्य ही बदलना चाहिये। विशेषतः जब इतना बड़ा सम्राट् दीक्षा लेता है, तो उसके पूर्व नामके साथ जो यश और कीर्ति सम्बद्ध रहती है, उसकी रक्षार्थ लोग उसके उसी नामको क़ायम रखना पसंद करते हो। इसी कारण मौर्यनरेश चंद्रगुप्तका नाम उनके मुनि हो जाने पर भी चन्द्रगुप्त ही कायम रहा पाया जाता है। अत एव प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें उसके लेखकका राज्यत्याग और दीक्षाधारणके पश्चात् भी यदि अमोघवर्ष नाम उल्लिखित किया गया है, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

अमोघवर्षके वृद्धत्वके कारण उनके दीक्षाग्रहण करनेकी असंभावना भी प्रबल नहीं है। राज छोड़नेके समय अमोघवर्ष वृद्ध तो थे, पर ८० वर्ष के नहीं। उनके शक ७८८ के ताम्रपत्रमें उल्लेख है कि उनके पिता गोविन्दराज जब अपनी उत्तरभारतकी विजय पूर्ण कर चुके थे, तब अमोघवर्षका जन्म हुआ था। गोविंदराजकी उत्तरभारतकी विजयका काल सन ८०६ से ८०८ तक सिद्ध होता है। अतएव जब वे सन् ८१४-८१५ में सिंहासनारूढ़ हुए, तब उनकी अवस्था केवल ६ वर्षकी[१] और जब सन् ८७७ के लगभग उन्होंने राज त्यागा, तब उनकी आयु ७० वर्ष से कुछ कम की ही सिद्ध होती है। इस समय तक जिनसेनाचार्य और संभवतः उनके शिष्य गुणभद्रका स्वर्गवास हो चुका था, इसीसे उनकी किन्हीं भी प्रशस्तियों

१ Altekar: The Rashtra Kutos and thier times. P. 71-72.

में उनके मुनि होने का उल्लेख नहीं आ सका। महावीराचार्यने अपना गणितसारसंग्रह अमोघवर्षके दीक्षा-ग्रहण कर लेनेके और उनके जीवनकालके भीतर ही किसी समय लिखा होगा।

श्रीयुक्त एम० गोविन्द पैने अपने एक लेखमें[1] प्रकट किया है कि अमोघवर्षके जैनधर्म स्वीकार करने सम्बन्धी सभी आधार निर्मूल मालूम पड़ते हैं। इस सम्बन्धमें उनका प्रथम आक्षेप यह है कि उक्त नरेशके "५२ वें वर्षके शासनमें 'स वोऽव्यात्' इस प्रकारका हरिहर-स्तुति सम्बन्धी शिरोलेख रहनेसे तब तक उनने जैनधर्मको ग्रहण नहीं किया था, ऐसा कहनेमें कोई आक्षेप नहीं दीखता।" किन्तु एक तो इस उल्लेखपर से उक्त नरेशके ५२ वें वर्षके पश्चात् जैन दीक्षा ग्रहण करनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। और दूसरे शासन शिरोलेख आदि राज्य कर्मचारियों द्वारा प्रायः राज्य-विभागकी परंपरानुसार लिखे जाते हैं, वे सदैव किसी राजाकी निजी धार्मिक मनोवृत्तिके सच्चे परिचायक नहीं कहे जा सकते। पै जी का दूसरा आक्षेप यह है कि उत्तरपुराणमें जो अमोघवर्षके जिनसेनकी वन्दनाका उल्लेख है वह "जिनसेन और अमोघवर्षके बीचमें एक समय परस्पर भेंटका प्रगट मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा अर्थ उससे अनुमान करना ठीक नहीं मालूम होता।" पार्श्वाभ्युदयकी जिन सर्गान्त पुष्पिकाओं में जिनसेनको अमोघवर्ष राजाका परमगुरु कहा है, वे पुष्पिकाएँ उनके मतसे जिनसेनकी स्वयं रचना न होकर "उस काव्यके टीकाकार योगिराट् पंडिताचार्य द्वारा या और किसीके द्वारा जोड़ी गई होंगी।" गणित-सारसंग्रहमें उसके कर्त्ता-द्वारा ग्रन्थका रचनाकाल नहीं दिया गया, इससे यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि वहां उल्लिखित अमोघवर्षसे उपर्युक्त नरेशका ही तात्पर्य है; क्योंकि "अमोघवर्ष-नृपतुङ्ग उपाधियोंसे युक्त नरेश बहुत से होगये हैं। अथवा यह वही राजा माना जाय तो भी उक्त उल्लेखसे उसका जैनधर्मका स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता। प्रश्नोत्तररत्नमालिकाकी जो अमोघवर्षके राज्यत्यागका उल्लेख करने वाली अन्तिम पुष्पिका है वह शेष काव्यके छंदसे भिन्न छंदमें होनेके कारण काव्यका मौलिक अंश न होकर पीछेसे जोड़ा हुआ छंद हो सकता है।" इत्यादि। पैंजीके ये सब आक्षेप तभी कुछ सार्थकता रखते हैं जब पहले से ही यह निश्चय कर लिया जाय कि अमोघवर्षने कभी जैनधर्म ग्रहण नहीं किया था। यदि एकाध ही उल्लेख अमोघवर्षके जैनत्वके संबन्धका होता तो भी उक्त प्रकारकी आपत्ति कुछ मूल्यवान् हो सकती थी। पर अनेक ग्रन्थोंके उल्लेखोंको उक्त प्रकार बिना किसी आधारके, केवल शक पदसे ही अप्रमाण ठहराना उचित नहीं जंचता। अमोघवर्षके जैनत्वकी मान्यताकी प्रचीनता और मौलिकताको असिद्ध करनेमें कोई प्रबल दलील पैंजीके लेखमें नहीं पाई जाती। अमोघवर्ष-सम्बन्धी समस्त उल्लेखोंपरसे उनके जैनत्व स्वीकार करनेमें कोई ऐतिहासिक विसंगति उत्पन्न नहीं होती*।

१. नृपतुंगका मतविचार, अनेकान्त, वर्ष ३, पृ. ५७८ आदि।

* जैनसिद्धान्तभास्करकी हालकी किरण (भाग ६ कि१) से उद्धृत।

जरूरी सूचना

गत किरणमें पृष्ठ १०६ पर जो 'आवश्यक सूचना' अनेकान्तके प्रथम वर्षकी ११ किरणोंवाली फाइलके लिये निकाली गई थी उसमें पोष्टेजके ग्यारह आने सहित एक रुपया ग्यारह आने १॥ﺇ) की जगह गलती से १।॥ﺇ) छप गये, इससे फाइल मँगाने वालों को जो चार आने अधिक भेजने पड़े, उसके बदलेमें उन्हें 'बनारसी-नाममाला' भेज दी गई। अतः आगे को जो सज्जन उक्त फाइल मँगाएँ उन्हें एक रुपया ग्यारह आने शीघ्र मनीआर्डरसे भेजने चाहियें। फिर फाइलें नहीं मिल सकेंगी—थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर-शासन और उसका महत्त्व

[ले०—पं० दरबारीलाल जैन, न्यायाचार्य]

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् वीरने आजसे २४९८ वर्ष पूर्व बिहार प्रान्तके विपुलाचल पर्वतपर स्थित होकर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी पुण्यवेलामें, जब सूर्यका उदय प्राचीसे हो रहा था, संसारके संतप्त प्राणियोंके संतापको दूर कर उन्हें परमशान्ति प्रदान करने वाला धर्मोपदेश दिया था। उनके धर्मोपदेशका यह प्रथम दिन था। इसके बाद भी लगातार उन्होंने तीस वर्ष तक अनेक देश-देशान्तरोंमे विहार करके पथभ्रष्टोंको सत्पथका प्रदर्शन कराया था, उन्हें सन्मार्ग पर लगाया था। उस समय जो महान् अज्ञान-तम सर्वत्र फैला हुआ था, उसे आपने अमृत-मय उपदेशों द्वारा दूर किया था, लोगोंकी भूलोंको अपनी दिव्य वाणीसे बताकर उन्हें तत्त्वपथ ग्रहण कराया था, सम्यक्‌दृष्टि बनाया था। उनके उपदेश हमेशा दया एवं अहिंसासे ओत-प्रोत हुआ करते थे। यही कारण था कि उस समयकी हिंसामय स्थिति अहिंसामें परिणत होगई थी और यही वजह थी कि इन्द्रभूति जैसे कट्टर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी, जिन्हें बादको भगवान् वीरके उपदेशोंके संकलनकर्ता—मुख्य गण-धर तकके पदका गौरव प्राप्त हुआ है, उनके उपाश्रयमे आये और अन्तमे उन्होंने मुक्तिको प्राप्त किया। इस तरह भगवान् वीरने अपने अवशिष्ट तीस वर्षके जीवनमें संख्या-तीत प्राणियोंका उद्धार किया है और जगतको परम हित-कारक सच्चे धर्मका उपदेश दिया है। वीरका यह सब दिव्य उपदेश ही 'वीरशासन' या 'वीरतीर्थ' है और इस तीर्थको चलाने—प्रवृत्त करनेके कारण ही वे 'तीर्थंकर' कहे जाते हैं। वर्तमानमे उन्हींका शासन तीर्थ चल रहा है, परन्तु वीर-शासन क्या है ? उसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कौनसे हैं ? और उस में क्या-क्या उल्लेखनीय विशेषतायें हैं ? इन बातोंसे बहुत कम सज्जन अवगत हैं। अस्तु, यहां इन्ही बातोंपर संक्षेपमें कुछ विचार किया जाता है। आशा है पाठकोंको यह रुचि-कर और कुछ लाभप्रद ज़रूर होगा।

समन्तभद्र स्वामीने, जो महान् तार्किक एवं परीक्षा-प्रधानी प्रसिद्ध जैन आचार्य थे और जो आजसे लगभग १६०० वर्ष पूर्व हो चुके हैं, भगवान् महावीर और उनके शासनकी खूब परीक्षा एवं जांच की है—'युक्तिमद्वचन' अथवा 'युक्तिशास्त्राविरोधिवचन' और 'निर्दोषता' की कसौटी पर उन्हें और उनके शासनको खूब कसा है। जब उनकी परीक्षामे भगवान् महावीर और उनका शासन सौटंची स्वर्णकी तरह ठीक साबित हुये तभी उन्हें अपनाया है, इतना ही नही किन्तु भगवान् वीर और उनके शासनकी परीक्षा करनेके लिये अन्य परीक्षकों तथा विचारकोंको आमन्त्रित किया है—निष्पक्ष विचारके लिये खुला चैलेंज दिया है।* समन्तभद्र स्वामीके ऐसे कुछ परीक्षा-वाक्य थोड़े से ऊहापोहके साथ नीचे सानुवाद दिये जाते हैं:—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
—आप्तमीमांसा

'हे वीर ? देवोंका आना, आकाशमे चलना, चमर, छत्र, सिंहासन आदि विभूतियोंका होना तो मायावियों—इन्द्रजालियोंमें भी देखा जाता है, इस वजहसे आप हमारे महान्-पूज्य नहीं हो सकते। और न इन बातोंमे आपकी कोई महत्ता या बड़ाई है।

समन्तभद्र स्वामीने ऐसे अनेक परीक्षा—वाक्यों द्वारा उनकी और उनके शासनकी परीक्षा की है, जिनका कथन सूत्ररूपमे आप्त-मीमांसामें दिया हुआ है। परीक्षा करनेके बाद उन्हें उनमे महत्ताकी जो बात मिली है और जिसके कारण भगवान् वीरको 'महान्' तथा उनके शासनको 'अद्वितीय' माना है, वे ये हैं:—

त्वं शुद्धि शक्त्योरुदयस्य काष्ठां,
तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपां।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः॥ (युक्त्यनुशासन)

* देखो युक्त्यनुशासन का० ६३

'हे जिन ! आपने शुद्धिके—ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के क्षयसे उत्पन्न आत्मीय ज्ञान-दर्शनके—तथा शक्तिके—वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे उत्पन्न आत्मबलके—परम प्रकर्ष को प्राप्त किया है—आप अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्यके धनी हुए हैं—साथ ही अनुपम एवं अपरिमेय शान्तिरूपताको—अनन्तसुखको—भी प्राप्त कर लिया है, इसीसे आप 'ब्रह्मपथ' के—मोक्षमार्गके—नेता हैं और इसीलिए आप महान् हैं—पूज्य हैं। ऐसा हम कहने—सिद्ध करनेके लिए समर्थ हैं।'

समन्तभद्र वीरशासनको अद्वितीय बतलाते हुए लिखते हैं:—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै—
र्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ (युक्त्यनुशासन)

हे वीर जिन ! आपका मत—शासन नय और प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और अन्य समस्त एकान्तवादियोंसे अबाध्य है —अखण्डनीय है, साथ में दया अहिंसा, दम—इन्द्रियनिग्रहरूपसंयम, त्याग—दान अथवा समस्त परिग्रहका परित्याग और समाधि—प्रशस्त ध्यान इन चारोंकी तत्परताको लिये हुये है, इसलिए वह 'अद्वितीय' है।

दयाके बिना दम-संयम नहीं बन सकता और संयमके बिना त्याग नही और त्यागके बिना समाधि—प्रशस्त ध्यान नहीं हो सकता, इसीसे वीरशासनमें दया-अहिंसाको प्रधान स्थान प्राप्त है।

'वीर-शासन' की इस महत्ताको बतलानेके बाद समन्तभद्र उसे 'सर्वोदयतीर्थ' भी बतलाते हुए लिखते हैं—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं-
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम्
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
—युक्त्यनुशासन

हे वीर ! आपका तीर्थ-शासन अथवा परमागम-द्वादशाङ्गश्रुत—समस्त धर्मों वाला है और मुख्य, गौणकी अपेक्षा करके समस्तधर्मोंकी व्यवस्थासे युक्त है—एक धर्मके प्रधान होने पर अन्य बाकी धर्म गौण मात्र हो जाते हैं—उनका अभाव नहीं होता। किन्तु एकान्तवादियोंका आगम-वाक्य अथवा शासन परस्पर निरपेक्ष होनेसे सब धर्मों वाला नहीं है—उनके यहां धर्मोंमें परस्परमें अपेक्षा न होनेसे दूसरे धर्मोंका अभाव होजाता है और उनके अभाव हो जाने पर उस अविनाभावी अभिप्रेतधर्मका भी अभाव हो जाता है। इस तरह एकान्तसे न वाच्यतत्त्व ही बनता है और न वाचकतत्त्व ही। और इसलिये हे वीर जिनेन्द्र ! परस्परकी अपेक्षा रखनेके कारण—अनेकान्तमय होनेके कारण—आपका ही तीर्थ-शासन सम्पूर्ण आपदाओंका अंत करने वाला है और स्वय निरंत है—अंतरहित अविनाशी है तथा सर्वोदयरूप है—समस्त अभ्युदयों—आत्मिक और भौतिक विभूतियोंका कारण है। तथा सर्व प्राणियोंके अभ्युदय-अभ्युत्थानका हेतु है। समन्तभद्रके इन वाक्योंसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः 'वीर शासन' ही सर्वोदय तीर्थ कहलानेके योग्य है। उसमें वे विशेषतायें एवं महत्तायें हैं जो आज विश्वके लिये वीरशासनकी देन कही जाती हैं या कही जा सकती हैं। वे विशेषतायें कुछ निम्न प्रकार हैं—

१ अहिंसावाद, २ साम्यवाद, ३ स्याद्वाद और ४ कर्मवाद। इनके अलावा वीरशासनमें और भी वाद हैं—आत्मवाद, ज्ञानवाद, चारित्रवाद, दर्शनवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, परिग्रहपरिमाणवाद, प्रमेयवाद आदि, किन्तु उन सबका उल्लिखित चार वादोंमें ही प्रायः अन्तर्भाव होजाता है। प्रमाणवाद और नयवाद ये ज्ञानवादके ही नामान्तर हैं और इनका तथा प्रमेयवादका स्याद्वादके साथ सम्बन्ध होनेसे स्याद्वादमें, और बाकीका अहिंसावाद तथा साम्यवादमे अन्तर्भाव हो जाता है।

१—अहिंसावाद—'स्वयं जियो और जीने दो' की शिक्षा भगवान् महावीरने इस अहिंसावाद द्वारा दी थी। जो परम आत्मा, परमब्रह्म, परमसुखी होना चाहता है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये—उसे अपने समान ही सबको देखना चाहिये—अपना अहिंसक आचरण बनाना चाहिये। मनुष्यमें जब तक हिंसक वृत्ति रहती है तब तक आत्मगुणोंका विकास नहीं हो पाता—वह दुःखी, अशान्त बना रहता है। अहिंसकका जीवमात्र मित्र बन जाता है—सर्व वैरका त्याग करके जातिविरोधी जीव भी उसके उपा-

आश्रयमें आपसमें हिलमिल जाते हैं। क्रोध दम्भ, द्वेष गर्व, लोभ आदि ये सब हिंसाकी वृत्तियां हैं। ये सच्चे अहिंसक के पासमें नहीं फटक पाती हैं। अहिंसकको कभी भय नहीं होता, वह निर्भीकताके साथ उपस्थित परिस्थितिका सामना करता है, कायरतासे कभी पलायन नहीं करता। अहिंसा कायरोंका धर्म नहीं है वह तो वीरोंका धर्म है। कायरता का हिंसाके साथ और वीरताका अहिंसाके साथ सम्बन्ध है। शारीरिक बलका नाम वीरता नहीं, आत्मबलका नाम वीरता है। जिसका जितना अधिक आत्मबल विकसित होगा वह उतना ही अधिक वीर और अहिंसक होगा। शारीरिक बल कदाचित ही सफल होता देखा गया है, लेकिन सूखी हड्डियों वाला भी आत्मबल हमेशा विजयी और अमोघ रहा है।

अतः अहिंसा पर कायरताका लांछन लगाना निराधार है। भगवान् महावीरने वह अहिंसा दो प्रकारकी वर्णित की है—१ गृहस्थकी अहिंसा, २ साधुकी अहिंसा।

(१) गृहस्थ अहिंसा—गृहस्थ चार तरहकी हिंसाओंमें—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पीमें—केवल संकल्पी हिंसाका त्यागी होता है, बाकीकी तीन तरहकी हिंसाओंका त्यागी वह नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं है कि वह इन तीन तरहकी हिंसाओंमें असावधान बन कर प्रवृत्त रहता है।—नहीं, आत्मरक्षा, जीवननिर्वाह आदिके लिये जितनी अनिवार्य हिंसा होगी वह उसे करनी पड़ती है, फिर भी वह अपनी प्रवृत्ति हमेशा सावधानीसे करेगा। उसका व्यवहार हमेशा नैतिक होगा। यही गृहस्थधर्म है, अन्य क्रियाएँ—आचरण तो इसीके पालनके दृष्टिबिन्दु हैं।

२—साधु-अहिंसा—सब प्रकारकी हिंसाओंके त्यागमें से उदय होती है, उसकी अहिंसामें कोई विकल्प नहीं होता। वह अपने जीवनको सुवर्णके समान निर्मल बनानेके लिये उपद्रवों, उपसर्गोंको सहनशीलताके साथ सहन करता है। निन्दा करने वालोंपर रुष्ट नहीं होता और स्तुति करने वालोंपर प्रसन्न नहीं होता। वह सब पर साम्यवृत्ति रखता है। अपने को पूर्णसावधान रखता है। तामसी और राजसी वृत्तियोंसे अपने आपको बचाये रखता है। मार्ग चलेगा तो चार कदम ज़मीन देखकर चलेगा, जीव-जन्तुओंको बचाता हुआ चलेगा, हित-मित वचन बोलेगा, ज्यादा बकवाद नहीं करेगा। गरज़ यह कि जैनसाधु अपनी तमाम प्रवृत्ति सावधानीसे करता है यह सब अहिंसाके लिये, अहिंसातत्व की उपासनाके लिये'परमब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये'"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं' इस समन्तभद्रोक्त तत्वको हासिल करने के लिये। इस तरह जैनसाधु अपने जीवनको पूर्ण अहिंसामय बनाता हुआ, अहिंसाकी साधना करता हुआ, जीवनको अहिंसाजन्य अनुपम शांति प्रदान करता हुआ, विकारी पुद्गलसे अपना नाता तोड़ता हुआ, कर्म-बन्धनको काटता हुआ अहिंसामें ही—परमब्रह्ममें ही—शाश्वतानन्दमें ही—निमग्न होजाता है—लीन होजाता है—सदाके लिये—हमेशाके लिये—अनन्तकालके लिये। फिर उसे संसारका चक्कर नहीं लगाना पड़ता। वह अजर, अमर, अविनाशी होजाता है। सिद्ध एवं कृतकृत्य बन जाता है यह सब अहिंसाके द्वारा ही। वीर-शासनकी जड़—बुनियाद—आधार और विकास अहिंसा ही है।

वर्तमानमें हमारा जैनसमाज इस अहिंसा-तत्व को कुछ भूल-सा गया है इसी लिये जैनेतर लोग उसके वाह्याचारको देखकर 'जैनी अहिंसा' 'वीर अहिंसा' पर कायरताका कलंक मढ़ते हुये पाये जाते हैं। क्या ही अच्छा हो, जैनी लोग अपने व्यवहारमें अहिंसाको व्यावहारिक धर्म बनाये रखनेसे सच्चे अर्थोंमें 'जैनी' बनें, आत्मबल पुष्ट करें, साहसी, वीर बनें, जितेन्द्रिय होवें। उनकी अहिंसा केवल चिंवटी- खटमल, जूँ आदि की रक्षा तक ही सीमित न हो, जिससे दूसरे लोग हमारे दम्भपूर्ण व्यवहार-निरा अहिंसा के व्यवहारको देखकर वीर प्रभुकी महती दैन अहिंसापर कलंक न मढ सकें।

२ साम्यवाद—यह अहिंसाका ही अवान्तर सिद्धान्त है, लेकिन इस सिद्धान्तको हमारे जीवनमें अहिंसाकी ही भाँति अपनाये जानेकी आवश्यकता होनेसे 'अहिंसावाद' के समकक्ष इसकी गणना करना उपयुक्त है; क्योंकि भगवान् वीरके शासनमें सबके साथ साम्य-भाव-सद्भावनाके साथ व्यवहार करनेका उपदेश है, अनुचित राग और द्वेष का त्यागना, दूसरोंके साथ अन्याय तथा अत्याचारका बर्ताव नहीं करना; न्यायपूर्वक ही अपनी आजीविका सम्पादित करना, दूसरोंके अधिकारोंको हड़प नहीं करना-

दूसरोंकी आजीविका पर नुक्सान नहीं पहुँचाना, उनको अपने जैसा स्वतन्त्र और सुखी रहनेका अधिकारी समझकर उनके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—यथायोग्य भाईचारेका व्यवहार करना, उनके उत्कर्षमें सहायक होना, उनका कभी अपकर्ष नहीं सोचना, जीवनोपयोगी सामग्रीको स्वयं उचित और आवश्यक रखना और दूसरोंको रखने देना संग्रह, लोलुपता, चूसनेकी वृत्तिका परित्याग करना ही 'साम्यवाद' का लक्ष्य है—साम्यवादकी शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है। यदि आज विश्वमें वीरप्रभुकी यह साम्यवाद की शिक्षा प्रसृत हो जावे तो सारा विश्व सुखी और शांतिपूर्ण होजाय।

३ **स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद**—इसको जन्म देनेका महान् श्रेय वीरशासनको ही है। प्रत्येक वस्तुके खरे और खोटेकी जाँच 'अनेकान्त दृष्टि'—'स्याद्वाद' की कसौटीपर ही की जाती है। चूंकि वस्तु स्वयं अनेकान्तात्मक है उसको वैसा माननेमें ही वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था होती है। स्याद्वाद के प्रभावमें वस्तुके स्वरूप-निर्णयमें पूरा २ प्रकाश प्राप्त होता है और सकल दुर्नयों एवं मिथ्या एकान्तोंका अंत हो जाता है तथा समन्वयका एक महानतम प्रशस्त मार्ग मिल जाता है। कुछ जैनेतर विचारकोंने स्याद्वादको ठीक तरह से नहीं समझा। इसीसे उन्होंने स्याद्वादके खंडनके लिये कुछ दूषण दिये हैं। शंकराचार्यने 'एकस्मिन्नसंभवात्' द्वारा एक जगह दो विरोधी धर्म नहीं बन सकते हैं। यह कहकर स्याद्वादमें विरोध दूषण दिया है। किन्हीं विद्वानोंने इसे संशयवाद, छलवाद कह दिया है, किन्तु विचारनेपर उसमे इस प्रकारके कोई भी दूषण नहीं आते हैं। स्याद्वाद का प्रयोजन है यथावत वस्तुतत्त्वका ज्ञान कराना, उसकी ठीक तरहसे व्यवस्था करना, सब ओरसे देखना और स्याद्वादका अर्थ है कथंचिनवाद, दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, सर्वथा एकान्तका त्याग, भिन्न भिन्न पहलुओंसे वस्तुस्वरूप का निरूपण, मुख्य और गौणकी दृष्टिसे पदार्थका विचार†। स्याद्वादमें जो स्यात् शब्द है उसका अर्थ ही यही है‡ कि किसी एक अपेक्षासे—सब प्रकारसे नहीं—एक दृष्टिसे—है।

'स्यात्'शब्दका अर्थ 'शायद' नहीं है जैसा कि 'भारतीय दर्शन-शास्त्रका इतिहास' के लेखक विद्वान्ने भी समझा है। वे अपनी इस पुस्तकमें लिखते हैं कि "स्याद्वादका वाच्यार्थ है 'शायदवाद' अंग्रेज़ीमें इसे 'प्रोबेबिलिज़्म' कह सकते हैं। अपने अतिरंजितरूपमें स्याद्वाद संदेहवादका भाई है*।" इसपर और आगे पीछेके जैनदर्शन सम्बन्धी उनके निबन्ध पर आलोचनात्मक स्वतंत्र लेख ही लिखा जाना योग्य है। यहां तो केवल स्याद्वादको 'सदेहवाद' का भाई समझनेके विचारका चिंतन किया जायगा। उक्त लेखक यदि किसी जैन विद्वानसे 'स्याद्वाद' के 'स्यात' शब्दके अर्थको निबन्ध लिखनेके पहिले अवगत कर लेते तो इतनी स्थूल गलती उन जैसोंसे—भारतीयदर्शनशास्त्रका अपनेको अधिकारी विद्वान् समझने वालोंसे—न होती। जैनविचारकोंने स्यात्' शब्दका अर्थ जो मैं ऊपर कर आया हूँ, वह बताया है। देवराज व्यक्ति में अनेक सम्बन्ध विद्यमान हैं—किसीका मामा है तो किसी का भानजा, किसीका पिता है तो किसीका पुत्र, इस तरह उसममें कई सम्बन्ध मौजूद हैं मामा अपने भानजेकी अपेक्षा, पिता अपने पुत्रकी अपेक्षा, भानजा अपने मामाकी अपेक्षा, पुत्र अपने पिताकी अपेक्षासे है; इस प्रकार देवराजमें पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व स्वस्त्रीयत्व आदि धर्म निश्चित रूप ही हैं—संदिग्ध नहीं हैं और वे हर समय विद्यमान हैं। 'पिता' कहे जानेके समय पुत्रपना उनमेंसे भाग नहीं जाता है—सिर्फ गौण होकर रहता है। इसी तरह जब उन का भानजा उन्हें 'मामा-मामा' कहता है उस समय वे अपने मामाकी अपेक्षा भानजे नहीं मिट जाते' उस समय भानजापना उनमें गौणमात्र होकर रहता है। स्याद्वाद इस तरह से वस्तुधर्मोंकी गुत्थियोंको सुलझाता है—उनका यथावत निश्चय कराता है‡—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे ही वस्तु 'सत'—अस्तित्ववान् है और परद्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे ही वस्तु 'असत'—नास्तित्ववान है आदि सात भङ्गों द्वारा ग्रहण करने योग्य और छोड़ने योग्य (गौण कर देने योग्य) पदार्थोंका स्याद्वाद हस्तामलकवत् निर्णय करा देता है। संदेह या भ्रमको वह पैदा नहीं

† देखो आप्तमीमांसा का० १०४

‡ देखो आप्तमीमांसा का० १०३

* देखो, 'भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास' पृ० १३५

‡ देखो आप्तमीमांसा का० १५

करता है। बल्कि स्याद्वादका आश्रय लिये बिना वस्तुतत्त्व का यथातथ्य निर्णय हो ही नहीं सकता है। अतः स्याद्वाद को संदेहवाद समझना नितांत असाधारण भूल है। भिन्न दो अपेक्षाओंमे विरोधी सरीखे दीख रहे (विरोधी नहीं) दो धर्मोंके एक जगह रहनेमे कुछ भी विरोध नहीं है। जहा पुस्तक अपनी अपेक्षा अस्तित्वधर्म वाली है वहां अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नास्तित्व धर्मवाली भी है, पर— निषेधके विना स्वस्वरूपास्तित्व प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्याद्वादमें न विरोध है और न अन्य कोई दूषण; वह तो वस्तुनिर्णयका—तत्त्व-ज्ञानका अद्वितीय अमोघ शस्त्र है, सबल साधन है। वस्तु चूंकि अनेक धर्मात्मक है और उसका व्यवस्थापक स्याद्वाद है इस लिये स्याद्वादको ही अनेकान्तवाद भी कहते हैं। किन्तु 'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद'मे वाच्य-वाचक-संबंध है।

४ कर्मवाद—कर्म जड है, पौद्गलिक है, उसका जीवके साथ अनादिकालिक सम्बन्ध है। कर्मकी वजहसे ही जीव पराधीन और सुखदु:खका अनुभव कर्ता है। कर्मसे अनेक पार्यायोंको धारण करके चतुर्गति संसारमे घूमता है। कभी ऊँचा बन जाता है तो कभी नीचा, दरिद्र होता है तो कभी अमीर, मूर्ख होता है तो कभी विद्वान् अंधा होता है तो कभी बहिरा, लंगड़ा होता है तो कभी बौना, इस तरह शुभाशुभ कर्मोंकी बदौलत दुनियाके रंगमंच पर नटकी तरह अनेक भेषोंको धारण करता है—अनगिनत पर्यायों में उपजता और मरता है। यह सब कर्मकी बिडम्बना—कर्म की प्रपञ्चना है। वीरशासनमें कर्मके मूल और उत्तरभेद और उनके भी भेदोंका बहुत ही सुन्दर, सूक्ष्म, विशद विवेचन किया गया है। बंध, बंधक, बन्ध्य और बन्धनीय तत्त्वों पर गहरा विचार किया गया है। जीव कैसे और कब कर्मबंध करता है इन सभी बातोंका चिंतन किया गया है। कर्मवादसे हमें शिक्षा मिलती है कि हम स्वयं ऊँचे उठ सकते हैं और स्वयं ही नीचे गिर सकते हैं।

वीरशासनमे जीवादि सात तत्त्वों, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग और प्रमाण, नय, निक्षेप आदि उपायतत्त्वोंका भी बहुत ही सम्बद्ध एवं संगत, विशद व्याख्यान किया गया है। प्रमाणके दो भेद करके उन्हींमे अन्य सब प्रमाणोंके अन्तर्भावकी विभावना कितने सुन्दर एवं युक्तिपूर्ण ढंगसे की गई है। वह एक निष्पक्ष विचारक को आकर्षित किये बिना नहीं रहती है। नयवाद तो जैन-दर्शनकी अन्यतम महत्वपूर्ण देन है। वस्तुके अंशज्ञानको नय कहते हैं वे नय अनेक हैं, वस्तुके भिन्न भिन्न अंशोंको ग्रहण करने वाले नय ही हैं। ज्ञाताकी हमेशा प्रमाण-दृष्टि नहीं रहती है कभी उसका वस्तुके किसी खास धर्मको ही जाननेका अभिप्राय होता है उस समय उसकी नय-दृष्टि होती है और इसी लिये ज्ञाताके अभिप्रायको भी जैनदर्शनमें नय माना है। चूंकि वक्ताकी वचन-प्रवृत्ति भी क्रमशः होती है—वचनोंद्वारा वह एक एक अंशका ही प्रतिवचन कर सकता है इसलिये वक्ताके वचन-व्यवहारको भी जैनदर्शन में 'नय' माना है। अतएव ज्ञानात्मक और वचनात्मकरूप से अथवा ज्ञाननय और शब्दनयके भेदसे नय वर्णित हैं। इस तरह वीरशासन अधिक वैज्ञानिक एवं तात्त्विक है। उसके अहिंसा, स्याद्वाद जैसे विश्वप्रिय सिद्धान्तोंसे उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता भी अधिक बढ जाती है।

वीरशासनके अनुयायी हम जैनोंका परम कर्तव्य है कि भगवान् वीरके द्वारा उपदेशित उनके 'सर्वोदय तीर्थ' को विश्वमें चमत्कृत करें और उनके पवित्र सिद्धान्तोंका हम स्वयं ठीक तरह पालन करें तथा दूसरोंको पालन करावे, और उनके शासनका प्रसार करें।

श्रमण-संस्कृति और भाषा

[लेखक—पं० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य]

श्रमण-संस्कृतिका आधार—

हम भारतीय संस्कृतियोंको मुख्यरूपसे तीन स्थूल भागोंमें बाँट सकते हैं। पहिला विभाग तो वह जिसमें वेद को प्रमाण मानने वालों का वर्ग आता है, जिसे हम 'वैदिक-संस्कृति' कहेंगे। यहाँ यह विचार प्रस्तुत नहीं है कि वेद ईश्वरने बनाया है अथवा यह स्वयं सिद्ध अपौरुषेय है; किन्तु धर्मके विषयमें वेदका निर्बाध अधिकार मानना ही इस संस्कृतिकी असाधारण विशेषता है। दूसरे विभागमें वेदकी प्रमाणताका खंडन करनेके साथ ही साथ परलोक आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सत्ताका लोप करने वाले भौतिक जीवनवादी चार्वाक तथा तत्त्वोपप्लववादी आते हैं। ये लोग वैदिक-अग्निहोत्र आदि क्रियाकाण्डोंको द्विजोंकी आजीविकाके साधनसे अधिक कुछ नहीं मानते। इसे हम पाणिनीयकी परिभाषाके अनुसार 'नास्तिकसस्कृति' या भौतिक-संस्कृति' कह सकते हैं। तीसरी संस्कृति वह है जो लोक परलोक, भूतोंसे भिन्न स्वतन्त्र जीवनतत्त्व, निर्वाण आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको स्वीकार करके भी वेदकी प्रमाणताका तथा वैदिक याज्ञिक क्रियाकाण्डोंका तात्त्विक और व्यावहारिक विरोध करती है। यह तीसरी संस्कृति है 'श्रमण-संस्कृति'। इसमें जैन और बौद्ध समानरूपसे सम्मिलित हैं। यद्यपि जैन-संस्कृति ऋषभदेवके समयसे या उससे भी पूर्वसे बराबर चली आती है ऐसी जैन शास्त्रोंकी मान्यता है और बौद्ध-ग्रन्थोंमें बौद्धसंस्कृतिको भी इसी तरह अनादि स्वीकार किया गया है पर हम यहां पर जैनसंस्कृतिका भ० महावीर के समयसे तथा बौद्धसंस्कृतिका भ०बुद्धके समयसे ही विचार करेंगे। इन संस्कृतियोंका जो कुछ रूप आज जैन वाङ्मय या बौद्ध पिटकोंमें मिलता है उसका सीधा स्रोत महावीर और बुद्धसे निकलता है। भ० महावीरके २५० वर्ष पहले जैनियोंके २३वें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ हुए थे। आचार्य धर्मानन्द कोसाम्बी श्रमण संस्कृतिका आदिस्रोत भ० पार्श्वनाथके जमानेसे कहते हैं। और उनका यह स्पष्ट मत है कि अहिंसा, जो श्रमण संस्कृतिका मूल आधार है, पार्श्वनाथके समयसे आविर्भूत हुई है। जैनियोंकी अहिंसा, जिसमें मनुष्योंके साथ ही साथ पशु-पक्षी, यहां तक कि वृक्ष आदि उद्भिज जन्तुओंके संरक्षण पर पर्याप्त भार दिया गया है, बहुत पुरानी है। इसका एक इतिहास-पुराण-सिद्ध उदाहरण यह है कि भ० नेमिनाथने, जो जैनियोंके २२वें तीर्थंकर थे तथा कर्मवीर कृष्णके चचेरे भाई थे, अपनी बरातमें आए हुए क्षत्रियकुमारोंके भोजनके लिए होने वाले पशुवधकी आशंकासे विवाह ही नहीं कराया था। और वे पशुओंको मुक्त कर योगसाधन करने गिरनार पर्वतपर चले गये थे। अस्तु।

श्रमण-संस्कृति और वैदिकसंस्कृतिका महत्त्वका मतभेद यह था कि धर्म तथा धर्मके साधनोंके विषयमें वेदको आखिरी प्रमाण मानना या अपने साक्षात्कार—अनुभवको? वैदिक संस्कृतिका स्पष्ट मत था कि धर्म और उसके नियमों का साक्षात्कार या अनुभव किसी भी प्राणीको नहीं हो सकता। धर्मके विषयमें तो जो वेदमें लिखा गया है वही अन्तिम सत्य है। और इसी आधारसे वैदिक यज्ञोंका, जिनमें गोमेध, अश्वमेध और नरमेध जैसे अतिहिंसक यज्ञ भी शामिल थे, वेदके वचनोंसे प्रचार किया जाता था। इनके मतसे कोई भी मनुष्य पूर्णज्ञानी और वीतरागी नहीं हो सकता, अतीन्द्रिय धर्म आदि पदार्थोंका साक्षात्कार किसी भी महर्षिको नहीं हो सकता। अतः धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी व्यवस्थाके लिए वेदकी आज्ञा अन्तिम है। इसी आशयसे बादरायण साबर आदि ऋषियोंने लिखा है कि—"चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः" "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" अर्थात् वेदप्रणीत ही धर्म है, तथा धर्ममें वेद ही प्रमाण हैं। उसमें तर्ककी कोई आवश्यकता नहीं है। "तर्काप्रतिष्ठानात्" यह ब्रह्मसूत्र तर्ककी अप्रतिष्ठा स्पष्ट शब्दों

मे घोषित कर रहा है। वेदको अपौरुषेय भी इन्हें इसीलिये मानना पड़ा कि ये पुरुषके अन्तिम ज्ञानविकास और वीतरागताको असम्भव ही मानते हैं।

परन्तु श्रमण-संस्कृति इस वेदकी दुहाई देकर धर्मके नाम पर होने वाले हिंसाकाण्ड तथा अन्य ऐसे ही क्रिया-काण्डोंसे ऊब रही थी। इसे मनुष्यकी बुद्धि पर वेदका ताला लगाना असह्य हो उठा। वह इस वैदिक-याज्ञिक हिंसाका न केवल व्यावहारिक ही विरोध करना चाहती थी किन्तु उसे इसका तात्त्विक विरोध करना भी इष्ट था। इसीलिए श्रमणसंस्कृतिके सन्देशवाहक महावीर और बुद्ध ने धर्मके विषयमें वेदाज्ञाका विरोध किया और बताया कि मनुष्य अपनी साधनाके द्वारा धर्मका और धर्मके नियमों का साक्षात्कार कर सकता है। देशकाल आदिकी परिस्थिति के अनुसार अपने अनुभवके आधार पर उनमें हेर-फेर कर सकता है। अमुक वेदमें ऐसा लिखा है इसीलिये अपने अनुभवकी हत्या नहीं की जा सकती। मनुष्य अपनी साधनासे अपने ज्ञानका चरम विकास कर सकता है और उससे धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार कर सकता है। वह पूर्ण वीतरागी भी हो सकता है। इसीलिए महावीर और बुद्धने प्रथम ही अपनी तपःसाधना से कैवल्य या बोधिको प्राप्त किया। पीछे अपने द्वारा अनुभूत धर्म-मार्गको जनताके हितके लिए प्रकाशित किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमे कहा कि—

"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो नत्वादरात्"

अर्थात्—भिक्षुओ, हमारे प्रति आदर और श्रद्धाका भाव होनेके कारण ही हमारे वचनोंको आंख मूंदकर नहीं मानना, किन्तु उनकी अच्छी तरह परीक्षा करके ही उन्हे ग्रहण करना। इस तरह जहां वैदिक संस्कृतिमें वेदाज्ञाका प्राधान्य था वहां श्रमण-संस्कृतिने धर्म और उसके नियमों के विषयमे मनुष्यके अनुभवको प्रधान माना। इस संस्कृति मे 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' जैसे अन्धश्रद्धाको बढ़ाने वाले नियमों का सख्त विरोध किया गया और बताया गया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी साधनासे अपना इतना विकास कर सकता है कि उसे धर्मका साक्षात्कार भी हो सकता है। इन संस्कृतियों । ह मौलिक मतभेद ईसाकी सातवीं शताब्दीके वि। भट्टकुमारिल और धर्मकीर्तिके वाक्योंमें अत्यन्त स्पष्टतासे उत्तर आया है—

वैदिक विद्वान् कुमारिल कहते हैं[1] कि—हम जो सर्वज्ञता का निषेध कर रहे हैं उसका तात्पर्य यह है कि कोई भी मनुष्य धर्मज्ञ नहीं हो सकता। धर्ममें तो वेद ही अन्तिम प्रमाण है। धर्मके अतिरिक्त यदि वह संसारके अन्य समस्त कीड़े मकौड़े आदि पदार्थोंको जानना चाहता है तो खुशीसे जाने, पर धर्ममें तो वेदको ही प्रमाण मानना होगा, वह धर्मका साक्षात् अनुभव नहीं कर सकता।

श्रमण विद्वान् धर्मकीर्ति ठीक इससे विपरीत कहते हैं[2] कि—मनुष्य संसारके समस्त पदार्थोंको जानता है या नहीं यह कोई महत्त्वकी बात नहीं है। हमे तो यह सिद्ध करना है कि वह अपने इष्ट तत्त्व-धर्मका साक्षात्कार कर सकता है या नहीं ? दुनियाभरके कीड़े-मकौड़े आदिको संख्याके ज्ञानका भला जीवनमें क्या उपयोग हो सकता है? हमे तो यह देखना है कि वह अपने अनुष्ठेय धर्मका साक्षात अनुभव कर रहा है या नहीं ? उसका धर्म अनुभव के आधारसे ही निकलना चाहिए। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की परिस्थितिके अनुसार आत्मसंशोधनके नियमोंको स्वयं साक्षात्कार कर सकता है। अतः हम तो मनुष्यको धर्मज्ञ बनाना चाहते हैं। धर्म जैसी जीवनकी महत्त्वपूर्ण वस्तुको वेदके सुपुर्द नहीं किया जा सकता। आदि। यही कारण है कि—श्रमणसंस्कृतिके अग्रदूतोंने अपने जीवनमें उतरे हुए अपने द्वारा अनुभूत आत्मशोधनके नियमोंका जनताको उपदेश दिया है। उन्होंने अहिंसा आदि तत्त्वोंको किसी पुस्तकमे नहीं पढ़ा किन्तु अपने जीवनमें पढ़ा। इनका जीवन अहिंसासे इतना तादात्म्य हो गया था कि इन्हें चिर-कालीन वैदिक परम्पराका स्पष्ट विरोध करना पड़ा। उस समय इन्हे नास्तिक कहा गया और न जाने क्या २ इनके साथ व्यवहार हुआ। अस्तु। अब मैं इस संक्षिप्त भूमिका के बाद भाषाके प्रश्न पर श्रमण-संस्कृतिका दृष्टिकोण उपस्थित करता हूँ।

---

१ "धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥" (तत्त्वसंग्रहमें उद्धृत)

२ "सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥ तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्॥" (प्रमाणवार्तिक)

भाषादृष्टि—

श्रमणसंस्कृतिके अग्रदूत महावीर और बुद्धने जिस समय मगधभूमिको अपने पुण्यजन्मसे पूत किया था उस समय न केवल वहां यज्ञहिंसामूलक क्रियाकाण्डोंका ही प्रचार था; किन्तु भाषाके विषयमें भी विचित्र रूढ़ि प्रचलित थी। याज्ञिक द्विज वैदिक मंत्रोंके स्वरसाधनपूर्वक पाठ कर लेने मात्रसे धर्म मानते थे, क्योंकि उस समय वैदिक मंत्रों की अर्थपरम्परा लुप्तप्राय हो गई थी। यास्काचार्य अपने निरुक्त मे वैदिक मन्त्रोका स्पष्ट अर्थ नही करके मात्र तद्विषयक विविध मत-मतान्तरोका उल्लेख करके ही चुप हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय वैदिक मन्त्रोंकी अर्थ परम्परा प्रायः टूट चुकी थी और इसका यह स्वाभाविक परिणाम था कि मात्रअमुक प्रकारसे स्वर-साधनापूर्वक वैदिक मन्त्रोके उच्चारण मात्रसे धर्म माना जाय।

वैदिकमन्त्र वैदिकसंस्कृतमे रचे गये हैं। उसी वैदिक-संस्कृतका ही विकसितरूप लौकिक संस्कृत है। भारतवर्षके धर्मोंका पुश्तैनी ठेका प्राचीन कालसे ही धर्मजीवी ब्राह्मण वर्गने ले रक्खा था। यही कारण है कि धर्मजीवी ब्राह्मण वर्गने धार्मिक कार्योंके सिवाय लौकिक व्यवहारमे भी संस्कृत भाषाके प्रयोगको ही साधु और पुण्य साधक होनेका फ़तवा दे दिया। उस समय मगध देशकी आमफ़हम जनभाषा मागधी थी। मागधी प्राकृत भाषाका ही एक प्रकार है। प्राकृत भाषाको, जो उस समयकी जनसाधारणकी बोली थी, धर्मजीवी ब्राह्मणवर्गने मात्र अनादर और तिरस्कारकी दृष्टि से ही नही देखा बल्कि उसका उच्चारण करना तक पाप-रूप घोषित किया। इसी पुराने प्राकृत भाषाद्वेषके उद्गार पातञ्जल-महाभाष्य आदिमे पाये जाते हैं। भाष्यकार[1] लिखते हैं कि "तस्माद् ब्राह्मणेन म्लेच्छित वै नापभाषित वै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।"=ब्राह्मणको अपशब्द या म्लेच्छ शब्दोंका उच्चारण नहीं करना चाहिये। जितने अपभ्रंश हैं वे सब म्लेच्छ शब्द हैं। वाक्यपदीय[2] में एक पुराना ऋषिवाक्य पाया जाता है कि "साधूनां साधुभिस्तस्माद् वाच्यमभ्युदयार्थिभिः"—धर्मार्थी साधु-पुरुषोंको साधुशब्द बोलना चाहिये। तैत्तिरीय संहिता[3] में "तस्मादेषा संस्कृता वागुद्यते" इसलिये संस्कृत वाणी बोलनी चाहिये, यह लिखकर संस्कृत भाषाको ही साधु-शब्दवाली कहा है। पातञ्जल महाभाष्य[4] शाबरभाष्य[5] वाक्यपदीय[6] आदिमें स्पष्ट लिखा है कि—गौ आदि संस्कृत शब्द ही साधु हैं तथा गौशब्दके गावी गोणी गोता गोपोतलिका आदि प्राकृतरूप अपभ्रंश हैं, असाधु हैं, व्याकरण से सिद्ध न होनेके कारण दुष्टशब्द हैं। इनका उच्चारण वज्र बनकर बोलने वालेका नाश कर देता है, आदि।

शब्दोंके साधुत्व असाधुत्वके इस दुर्विचारने उस समय धर्मको मात्रशब्दोंके अन्दर ही कैद कर रखा था। संस्कृत भाषामे कुछ भी कह दीजिये वह धर्मवाक्य हो जाता था। उत्तरकालीन ब्राह्मण आचार्योंने तो यहां तक लिख दिया है कि जो ब्राह्मण अपभ्रंश शब्दोंका उच्चारण करता है उसे प्रायश्चित करके शुद्ध होना चाहिये। शब्द शास्त्रियोंने इसीलिये संस्कृतशब्दोंमें ही वाक्यशक्ति मानी है, प्राकृत और अपभ्रंश शब्दोंमे नही। जहां व्यवहारमे प्राकृत शब्दों से अर्थबोध होता है वहां यह असङ्गत कल्पना की गई कि "प्राकृत शब्दोंको सुनकर प्रथम ही संस्कृत शब्दोंका स्मरण आता है फिर उनसे अर्थबोध होता है।"

इस तरह जब संस्कृत बोलीका यह दुरभिमान अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त हो रहा था और प्राकृत या मागधी भाषा को स्त्री, शूद्र तथा जनसाधारणकी बोली कहकर तिरस्कार की दृष्टिसे देखा जाता था उस समय भगवान् महावीरने अपनी तप-साधना करके कैवल्य प्राप्त किया। इस अहिंसा की तेजोमूर्त्तिने अपना उपदेश कर्मकाण्डजीवी ब्राह्मणवर्ग की तरह संस्कृतभाषामें न देकर सर्वजनहिताय सर्वान्तः-सुखाय अर्धमागधी भाषामे दिया। उन्हें कुछ इने-गिने संस्कृतभाषियोंके साथ भाषाविनोद नहीं करना था, उस दिव्य अहिंसकका तो लक्ष्य था संसारकी समस्त कषाय-ज्वालासे सन्तप्त प्राणियोंको शान्ति और अहिंसाके उपदेश देनेका।

हरिभद्र सूरिने दशवैकालिक टीकामें एक प्राचीन श्लोक उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है कि—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः उपदेशः प्राकृतः कृतः॥"

१. पस्पशा आह्निक। २. वाक्यपदीय १।१४१। ३. ६।४।७। ४. पस्पशाह्निक। ५. १।३।२८। ६. १।१४६।

अर्थात् अपने चारित्रकी उन्नति चाहने वाले बालक, स्त्री तथा मूर्खसे मूर्ख लोगोंके उपकार के लिये भगवान्का उपदेश सबकी बोली प्राकृत भाषामें होता था। आचार दिनकरमें भी—"थीबालवायणत्थं पाइयमुइयं जिणवरेहिं" स्त्री और बालक जैसे अल्पज्ञानियोंके समझनेके लिये जिनवरने प्राकृत भाषामें उपदेश दिया" इस आशय की प्राचीन गाथा उद्धृत है।

अर्धमागधी भाषा उस समय आधे मगध देशकी जनसाधारण की बोली थी। भगवान् महावीरका विहारक्षेत्र भी मगधदेश, सूरसेन तथा विहारके आस-पासका भाग रहा है, इसलिये यह समुचित ही था कि वहांकी जनताकी बोलीमें ही भगवानका उपदेश हो। महावीरकी तरह बुद्धने भी अपने उपदेश मागधी भाषामें ही दिये हैं। इसी मागधी भाषाको पाली भाषा कहते हैं*। त्रिपिटिकोंकी भाषा तो मागधी ही है। पाली संज्ञा तो मागधी भाषाके त्रिपिटिक वाक्योंकी है।

बुद्धने स्पष्ट कहा है कि "अनुजानामि भिक्खवे सकाय-निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितु"—भिक्षुओ! अनुमति देता हूं अपनी भाषामें बुद्धवचन सीखनेकी" (चुल्लवग्ग)। महावीर और बुद्धकी इस भाषा क्रांतिको रूढिवादी विप्रवर्गने अपने लिये चुनौती समझा। इसीका यह अवश्यम्भावी परिणाम हुआ कि प्राकृत भाषाको नीचों की भाषा कहा गया, नास्तिकोंकी बोलीके नामसे पुकारा गया। उत्तरकालमें कालिदास आदिके नाटकोंमें स्त्री और शूद्रपात्रों द्वारा प्राकृत भाषाका ही प्रयोग कराया गया है।

भ० महावीर विश्वकी विभूति थे। वे अपने और भव्य श्रोताओंके बीच भाषाकी कल्पित दीवालको कैसे रख सकते थे। उनकी दयामय आत्मा तो प्राणिमात्रके दुःख दूर करनेके लिये उनसे तादात्म्य करना चाहती थी, वह भाषाके इस कल्पित, अहङ्कारपोषक बन्धनको कैसे बरदास्त कर सकती थी। यही कारण है कि इस अहिंसक विभूतिने लोकापवादकी जरा भी परवाह नहीं करके प्राणिमात्रके हितके लिए, उन तक अपना पवित्र सन्देश पहुंचाने के लिये, उन्हें शब्दजालसे हटाकर धर्मके प्राणकी सीधी अनुभूति करानेके लिये सबकी बोली अर्धमागधीमें उपदेश दिया।

आचार्य प्रभाचन्द्र क्रियाकलापकी टीकामें तथा श्रुतसागरसूरि दर्शनप्राभृत (गा० ३५) की टीकामें 'अर्धमागधी'का अर्थ लिखते हैं कि "अर्धं भगवद्भाषायां मगधदेशभाषात्मकम्, अर्धञ्च सर्वभाषात्मकम्" अर्थात भगवानकी भाषामें आधे शब्द तो मगधदेशकी भाषाके हैं तथा आधे सभी भाषाओं के। यह युक्तिसंगत भी है क्यों कि मगधदेशमें उत्पन्न होनेके कारण भगवानकी मातृभाषा मागधी तो थी ही, इसके साथ ही साथ अपनी आवाज सभी भाषाभाषियों तक पहुंचाती थी। अतः उसमें उस समयकी अन्य सभी भाषाओंके शब्दोंका आना भी लाजिमी था। इसी लिए तो आज महात्मा गान्धीकी हिन्दी अर्धगुजराती होकर भी हिन्दुस्तानीके रूपमें विकसित हो रही है।

युगप्रधान आचार्य समन्तभद्र आदिने भगवानकी वाणीको सर्वभाषास्वभाव[1] कहा है। यतिवृषभ आचार्य त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लिखते हैं[2] कि भगवान्की दिव्यवाणी १८ महाभाषा और ७०० लघुभाषाओंसे समृद्ध थी। भाषाके इन विशेषणोंसे उसका स्वरूप साफ साफ ज्ञात हो जाता है कि वह भाषामें किसी खास भाषाके शब्दोंमें कैद नहीं थी उसमें तो संसारकी सभी महाभाषाओं और लघुभाषाओंके प्रचलित शब्द विद्यमान थे तभी तो उनका उपदेश सब तक पहुंचता था। आ० हेमचन्द्र तो स्पष्ट ही उसे सर्वभाषापरिणत[3] कहते हैं। मेरे विचारसे भगवान्की वाणीका 'निरक्षरी' विशेषण भी 'सर्वभाषात्मक' अर्थमें लगाया जा सकता है। 'निःशेषाणि अक्षराणि यस्यां सा'

*देखो भिक्षु जगदीश काश्यप एम० ए० लिखित "पालि-महाव्याकरण" की प्रस्तावना।

१"तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।"—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ९६। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० २ टि० ३।

२"अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा य सत्तसयसंखा।
अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ॥
एदासि भासाणं तालुवदंतोट्ठकण्ठवावारं।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो॥"
त्रिलोकप्रज्ञप्ति गा० ६१-६२

३"सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे।"
—काव्यानुशासन श्लोक १।

ऐसी व्युत्पत्तिसे निःशेष अर्थात् सभी हैं अक्षर जिसमें ऐसा अर्थ ध्वनित होता है जो संभवतः उसकी सर्वभाषात्मकता का सूचन करता है। अस्तु।

अन्य अनेक आचार्योंने भगवानकी वाणीके विषयमें बड़ी श्रद्धासे अनेक प्रकारका विवेचन किया है। इस समय छोटे लेखमें उनके विवेचनका अवसर नहीं है। यहाँ तो वह परिस्थति तथा उस प्रेरणाके बीजका दिग्दर्शन कराना ही इष्ट है जिस प्रेरणाने उस समयकी लब्धप्रतिष्ठ भाषाके खिलाफ जबर्दस्त बगावत कराई और भगवानका उपदेश सर्वजनसुखाय स की बोलीमें दिलाया।

इस तरह जब महावीर और बुद्ध जैसे युगान्तरकारी महापुरुषों द्वारा अर्धमागधी भाषाको तत्त्वज्ञोंकी भाषा होने का सम्मान मिला और विप्रवर्गके द्वारा प्राकृत भाषाका तिरस्कार भी धीरे-धीरे कम हुआ तब प्राकृतभाषाकी उत्पत्तिके विषयमें कहा जाने लगा कि प्राकृत भाषा तो संस्कृतसे ही उत्पन्न हुई है।

नाट्यशास्त्र, प्राकृतसर्वस्व, प्राकृतचन्द्रिका, षड्भाषा-चन्द्रिका, प्राकृतसग्रह, त्रिविक्रमकृत प्राकृत व्याकरण आदि सभी प्राकृत व्याकरणोंमें "प्रकृतिः संस्कृतं तत आगत प्राकृतम्=प्रकृति अर्थात् संस्कृतसे उत्पन्न हुई भाषा प्राकृत" यही व्युत्पत्ति की गई है। हेमचन्द्राचार्य भी इसी प्रवाहमें बहे हैं। पर इसका स्पष्ट विरोध प्रभाचन्द्राचार्यने न्याय-कुमुदचन्द्रमें किया है* । वे लिखते हैं कि 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' अर्थात् जनसाधारणकी बोलचालकी स्वाभाविक भाषा ही प्राकृतभाषा है। यही जब व्याकरणके नियमों द्वारा संस्कारको प्राप्त होती है तब संस्कृत कहलाती है। प्राकृत और संस्कृत शब्द ही प्राकृतकी स्वाभाविकता अनादिता तथा संस्कृतकी आदिमत्ताको द्योतन करते हैं। मेघसे बरसे हुए जलकी तरह प्राकृत भाषा स्वाभाविक तथा एकरूप होती है। वह सभी बाल-बच्चों स्त्रियों आदिकी अपनी बोली है। रुद्रटकृत काव्यालङ्कारके टीका-कार श्री नमिसाधुने भी "प्राक्कृतं प्राकृतम्" अर्थात् सबसे पहिले प्रयुक्त होने वाली भाषा आदि लिखकर प्राकृतको अनादि तथा स्वाभाविक सिद्ध किया है।

इस तरह युगप्रवर्तक भगवान् महावीरने लोकापवाद की उपेक्षा करके अपने दिव्य सन्देशोंको सबकी बोली अर्धमागधीमें ही कहा। भाषा तो भावोंकी व्यञ्जनाका साधन है। उनकी इस भाषाक्रान्तिने जगत्के प्राणियोंको अपनी ही बोलीमें धर्म समझकर उन्हें अपूर्व शान्ति दी, इससे भाषाके नाम पर होने वाली धर्मकी दूकानदारी बन्द हुई। यद्यपि हमारा दुर्भाग्य है कि भगवानकी उस अर्ध-मागधी भाषाके पुनीत उपदेश आज ठीक उस रूपमें उप-लब्ध नहीं हैं। पर यह भी कम सौभाग्यकी बात नहीं है कि उन उपदेशोंकी मूलधारा उत्तरकालीन आचार्योंके असीम पुरुषार्थसे हमें उपलब्ध है और वह भगवान्के उपदेशोंके मूलतत्त्वकी यथार्थ झलक हमें करा ही देती है। यह भाषाक्रान्ति हमें प्रेरणा देती है कि हम आजकलकी लोकभाषामें भगवान्के अहिंसामय उपदेशोंको सर्वजन-हितार्थ जनसाधारण तक पहुँचावें।

यही कारण है कि मध्यकालीन आचार्योंने उस समय की लोकभाषामें ग्रन्थ बनानेकी पद्धति चालू रखी। अप-भ्रंश भाषा जो निर्विवादरूपसे आजकी हिन्दीकी जननी है, जैनाचार्योंके साहित्यभंडारसे गौरवान्वित हुई है। अप-भ्रंश कालके बाद जब गुजराती, मराठी, कनड़ी, तामिल आदि प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने रूपमें विकसित हुईं तब तत्तत्प्रान्तवासी आचार्योंने गुजराती, कनडी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें भी अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं। कनडी और तामिलका उच्चकोटिके साहित्यकोषमें जैनाचार्योंकी पर्याप्त पूंजी है। बनारसीदास, भगवतीदास, भूधरदास आदि कवियोंने अपनी रचनाओंसे हिन्दीभाषा को समृद्ध करनेमें पूरा पूरा भाग लिया है। अस्तु।

श्रमण-संस्कृतिकी बुनियाद अहिंसाके ऊपर होनेके कारण उसकी उदार तथा संग्राहकदृष्टिमें भाषाकी सङ्कीर्णता कैसे टिक सकती थी। वह भाषाको भाव व्यक्त करनेका साधन मानती है साध्य नहीं। साधन तो सुविधानुसार द्रव्यक्षेत्रकाल आदि की परिस्थितिके अनुसार अनुभवसे बदले जाते हैं तथा कालकी अव्याहत गतिसे जमानेके अनुसार स्वयं बदलते रहते हैं। बिना इनके बदले लक्ष्य की सिद्धि होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है।

यदि हम इसी अहिंसक तथा सर्वसंग्राहक उदारदृष्टिसे

* न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भा० पृ० ७५६ से।

विचार करें तो महात्मा गांधी तथा कांग्रेसका 'हिन्दुस्थानी' भाषाका सिद्धान्त उपयोगी उचित और आवश्यक प्रतीत हुए बिना न रहेगा। उनकी राष्ट्रीय अहिंसक भावनाका यह सहज फल है। जब जान या अनजानमें हमारे खाने-पीने पहिनने, चलने आदिके साधनोंमें लहरोंकी तरह अनेकों परिवर्तन हो रहे हैं और हमारी बोलचालमें स्टेशन, रेल, पोस्टआफिस आदि विदेशी शब्द भी पूरी तरह घुलमिल गए हैं तथा हमारी हिन्दीभाषा भी जब अनेक प्रान्तीय भाषाओंके तथा उर्दू अरबीके शब्दोंको हमेशासे पचाती आई है तब 'हिन्दुस्थानी' के नामपर ही न जाने क्यों इस प्रकारका हायतोबा किया जाता है।

कोई भी संस्था जिसका आधार और विकास अहिंसा सिद्धान्तके आधारसे होगा उसे सबकी बोली बोलना होगा सबके उद्धारकी चेष्टा करनी ही होगी। यही कारण है कि श्रमण-संस्कृति सदासे लोकभाषा के द्वारा ही सर्वजन-हिताय सर्वजनसुखाय जनताजनार्दनको अहिंसकमार्ग दिखाती आई है और उसकी इस सार्वजनीन भावनामें ही उसकी प्राणप्रतिष्ठा है। यह संस्कृति साधनोंके विषयमें अहङ्कारको बढ़ाने वाले ऐकान्तिक आग्रहको स्वीकार ही नहीं कर सकती। इसका तो मुख्य लक्ष्य है सबकी बोलीमें सबके हितके लिए सब तक अहिंसाकी पुण्य विचारधारा पहुंचाना।

जैनशास्त्र-भण्डार सोनीपतमें मेरे पाँच दिन

[ले०—बा० माईदयाल जैन, बी० ए० (आनर्स) बी० टी०]

सोनीपत मेरा दूसरा निवास-स्थान है। यह देहलीसे २८ मील उत्तरकी तरफ देहली-अम्बाला-कालका-रेलवेपर स्थित पुराना प्रसिद्ध नगर है। यहाँ चार जैनमन्दिर और दो चैत्यालय हैं। पंचायती मन्दिर विशाल है, इतना बड़ा मन्दिर दूर-दूर तक देखनेमें नहीं आया। जैनियोंकी बस्ती होनेके साथ-साथ यह नगर जैनपंडितोंके लिये भी प्रसिद्ध है। स्वर्गीय पं० मथुरादास, पं० मेहरचन्द, पं० मुसद्दीलाल, पं० उमरावसिंह और मुन्शी अमनसिंह जैसे विद्वान यहींपर हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने समयमें जैनसमाजकी खूब सेवा की है और धर्मके मार्गको कायम रक्खा है। आज भी पं० निरंजनदासजी हर प्रकारसे अपना समय देकर हर रोज शास्त्र पढ़ते और समाजकी निःस्वार्थ भावसे धार्मिक सेवा करते हैं। परन्तु खेद है कि यहांके समग्र समाजमें अब आगेको कोई ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आता जो इस काममें पंडितजीको सहयोग दे सके अथवा उनके बाद इस धर्म-कार्यको चालू रख सके।

मुझे इन गर्मियोंकी छुट्टियोंमें निजी कार्यसे सोनीपत जाना पड़ा और कुछ अवकाश होनेके कारण यह इरादा किया कि यदि सुयोग लग गया तो जैनशास्त्र-भण्डार सोनीपतके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची बना कर श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर सरसावाको भेजूंगा, जिसे वे उपयोग में ला सकें और जिसमेंसे कुछ आवश्यक ग्रन्थोंको उस बृहत् दिगम्बर-जैन ग्रंथ-सूचीमें भी शामिल कर सकें जो गतवर्षसे वहां तैयार हो रही है। मुझे तथा सोनीपत जैनसमाजको अत्यन्त हर्ष होगा, यदि इस परिश्रमके फलस्वरूप एक भी उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशमें आगया। मेरा विश्वास है कि ४०-५० ग्रंथ इस सूचीमें ऐसे हैं जो अभी तक प्रकाशमें नहीं आए हैं।

इस शास्त्र-भण्डारमें ४०० हस्तलिखित और ६०० मुद्रित ग्रन्थ हैं और उनमें कुछ वृद्धि होती ही रहती है।

यद्यपि मैं अपने ही घर गया था, तथापि मैं इसे अपनी एक साहित्यिक यात्रा ही समझता हूँ। इसलिए

यह स्वाभाविक था कि मेरे हृदयमें आरम्भसे लेकर कार्य-समाप्ति पर्यन्त जैन साहित्य-सम्बन्धी विचार उठते रहे।

जैनसमाजकी सबसे बड़ी निधि, कोष अथवा सम्पत्ति जैनशास्त्र है। इनसे जैनसमाजको जीवन मिला है, संसारके मनुष्योंको सुख-शान्ति तथा आध्यात्मिकताका उपदेश मिला है और गिरते हुए प्राणियोंको उठनेमें सहारा मिला है। जैनसमाजका समस्त वैभव, समस्त धन-सम्पत्ति भी इसपर न्योछावर कर दी जाय, तो भी कुछ नहीं। हमारे ऋषियों, मुनियों और आचार्योंकी हमको तथा संसारको यह सबसे बड़ी देन है। इन शास्त्रोंमें उनकी वर्षोंकी गहन तपस्या महान् साधना और गहरे चिन्तनका फल संनिहित है। कौनसा विषय है, जिसपर उन्होंने अपने अमूल्य विचार प्रकट नहीं किए? साहित्यका कौनसा अङ्ग है जिसकी पूर्तिके लिए उन्होंने जीवन नहीं लगाया? भारतवर्षकी प्राकृत, संस्कृत, अर्ध-मागधी, गुजराती, अपभ्रंश, मराठी, तामिल, कनडी, हिंदी आदि कौनसी भाषा है जिसमें उन्होंने ग्रंथ-रचना नहीं की? ग्रन्थोंके लेखन-कार्यमें लेखकोंकी पीठ झुक गई, गरदन मुड़ गई, दृष्टि स्थिर होगई, मुख नीचा पड़ गया और उन्होंने ये ग्रन्थ सैकड़ों कष्ट सहकर भी लिखे। उनका आदेश था कि इनका पुत्रोंके समान पालन किया जाय।[1]

किन्तु हमने उनके महान ऋणका बदला जिस कृतघ्नतासे चुकाया उसको लिखते कलम कांपती है, बदनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं और आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। उनको कभी स्वप्नमें भी यह विचार न आया होगा कि जिन ग्रन्थोंको वर्षोंके अध्ययन, साधन, अनुभव तथा चिंतनके बाद वे लिख रहे हैं, वे ऐसे आदमियोंके हाथोंमें पहुँच जायेंगे जो उनकी रक्षा करने, उनको समझने तथा उनके द्वारा दूसरोंको मुक्तिका मार्ग दिखानेमें असमर्थ होंगे। उनकी आज्ञा तो यह थी कि जैन ग्रन्थोंकी पूर्णतया रक्षा करते हुए उनके आदेशोंका सर्वत्र प्रचार किया जाय। परन्तु आज कौन नहीं जानता कि जैनियोंने अपने आचार्यों की इस आज्ञाकी बहुत कुछ उपेक्षा की है और उनकी इस लापरवाहीके कारण अधिकांश जैनग्रन्थ तंग-तारीक-गीली कोठड़ियोंमें पड़े दीमकों तथा चूहोंके भोजन बने रहे। वर्षों तक वे बिना धूप देखे सड़ते रहे, जीर्ण-शीर्ण होते रहे और आखिरको रद्दीमें बेचे गये या फेंक दिए गये। न वे हमारे काम आ सके और न दूसरोंके। लक्ष्मीके लोलुप और झूठी प्रभावनाके इच्छुक जैनसमाजने हाथी, घोड़ों, रथों, धर्मशालाओं तथा बिम्बप्रतिष्ठाओं पर तो अपना नामवरीके वास्ते रुपया पानीकी तरह बहाया, किन्तु अपने शास्त्रोंकी रक्षा तथा प्रचारके लिए कुछ भी न किया। पचासों वर्षकी जागृतिके इस दौरमें भी, क्या कोई कह सकता है कि जैनसमाजने अपने शास्त्रोंकी रक्षा तथा प्रचारके लिए उस धनका सावाँ भाग भी खर्च किया जो उसने मन्दिर-मूर्तियों, धर्मशालाओं, प्रतिष्ठाओं, औषधालयों और धर्मके नाम पर की जाने वाली मुकद्दमेबाजी पर खर्च किया है? किया भी कैसे जाता? जबकि जैनसमाजको ज्ञान-विज्ञानके साथ सच्चा प्रेम न हो और उसके सिर पर झूठी नामवरीका भूत सवार हो! विनयके नामपर इन शास्त्रोंकी कितनी अविनय हुई है, इसे आज कौन नहीं जानता? हमने जैनधर्मके जीवन-स्रोतोंको सूखने और सड़ने दिया। इसका जो फल होना चाहिये था, वही हुआ। जैनधर्म, उसके उच्च सिद्धान्तों और जैन संस्कृतिको न हम समझ पाए और न दूसरे। जैनधर्म और उसके इतिहासके बारेमें हम ही नहीं किन्तु अन्य विद्वान भी अपरिचित रह गए और खूब भ्रम फैले। सच पूछिये तो इसकी तमाम जिम्मेवारी हमारे ऊपर ही है। क्या हम आज भी अपनी भूल सुधार सकते हैं? क्या जैन समाज जैन साहित्यके उद्धार तथा प्रचारके लिए दस-बीस ट्रस्ट बना सकता है? आजसे बीस वर्ष पहले मैंने हिन्दी जैनगजटमें एक लेख द्वारा जैनसमाजका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। आज मैं फिर ये शब्द लिख रहा हूँ।

---

१ भग्नपृष्ठ-कटि-ग्रीवा स्तब्धदृष्टिरधोमुखम्
कष्टेन लिखितं शास्त्रं पुत्रेन प्रतिपालयेत्।

मेरी तजवीजें निम्नलिखित हैं:—

(१) जैन साहित्यके तमाम ग्रंथोंको शीघ्रसे शीघ्र माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाकी तरह मूलरूपमें प्रकाशित किया जाय।

(२) उच्चकोटिके जैनग्रन्थोंका मातृभाषा हिन्दीमें अनुवाद किया जाय। और उसके प्रकाशनार्थ सस्ता साहित्य-मण्डलके ढङ्गकी संस्था क़ायम की जाय।

(३) भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओंमें जैनग्रन्थोंके अनुवाद प्रकाशित करनेके लिए कुछ सुव्यवस्थित ट्रस्ट क़ायम किये जायें।

(४) जगह जगह जैन पुस्तकालय और केन्द्रोंमें केन्द्रीय सिद्धान्त भवन स्थापित किये जायें, जहां समस्त ग्रंथोंका संग्रह रहे।

(५) जैन शास्त्रोंके अच्छे आलोचनात्मक, सस्ते तथा सुसम्पादित संस्करण निकाले जायें।

(६) तमाम शास्त्रोंकी प्रशस्तियोंको संग्रह करके उन्हें बहुतसे भागोंमें प्रकाशित किया जाय।

(७) प्रत्येक आचार्यके ग्रन्थोंको सुसम्पादित रूपमें उनकी जीवनीके साथ प्रकाशित किया जाय।

(८) जैनसाहित्यमें पारगामी विद्वान तैयार करनेके लिये संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, पाली, कन्नड आदि भाषाओंके एम० ए०, शास्त्रियों तथा आचार्यों को विशेष छात्रवृत्ति देकर दो-दो साल साहित्यिक खोजमें ट्रेनिंग दी जाय। ऐसे विद्वानोंको वीरसेवा मन्दिर सरसावा, भण्डारकरइन्स्टीट्यूट पूना, स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें भेजा जाय तथा प्रोफेसर हीरालालजी और डाक्टर ए० एन० उपाध्यायके पास छोड़ा जाय ताकि वे उनके काममें सहायता भी दे सकें और ट्रेनिंग भी पा सकें।

(९) जैन विद्यालयोंके धर्म-न्याय आदिके अध्यापकों और जैन विद्वानोंके वेतनका स्टैंडर्ड इतना ऊँचा किया जाय कि सेवाके अलावा बतौर आजीविकाके यह काम आकर्षक बन जाय। इसको सम्मानका काम बनाया जाय। बाज़ारके कम्पीटीशन की चीज़ पंडितोंको न बनाया जाय। २५),३०)रु० की मासिक वृत्तिके लिए कोई भी स्वाभिमानी जैन अपने बच्चोंको विद्यालयोंमें पढ़नेके लिए न भेजेगा। इस मामलेमें समाजको वणिक-बुद्धिको छोड़कर क्षत्रिय-उदारतासे काम लेना चाहिए।

उपरोक्त उद्गारोंको लिखनेके बाद अब मैं जैन शास्त्रभण्डार सोनीपतके अपने कुछ अनुभव लिखता हूँ, ताकि उनसे और भी परिचित हो जाएँ।

मैंने वहां ५ दिन ८ घंटे प्रतिदिनके हिसाबसे काम किया। पहिले दिन काम बहुत कम हुआ और सहायक भी केवल दोपहरके बाद ही मिले। कुल तीस ग्रन्थोंका विवरण लिख सका। कुछ निराशा हुई और काम लम्बा नज़र आया। अगले दिन एक-दो और सहायक मिल गए और काममें प्रगति आने लगी। इस प्रकार जिस कामके लिये आरम्भमें एक भी सहायक न था, उसके लिए बादमें काफी सहायक होगए। सोनीपतमें जैन जनताके दृष्टिकोणमें अब बहुत परिवर्तन पाया और सब इस कार्यकी आवश्यकता तथा महत्त्वको समझने लगे हैं। जितने ग्रन्थ पं० उमरावसिंहकी प्रेरणासे संवत् १९५०-६० के बीच भण्डारमें आए, इतने कभी नहीं आये। उस जमानेमें लोगोंकी अवस्था भी अच्छी थी और था लोगोंमें उत्साह। उस उत्साहका पंडितजीने खूब उपयोग किया। हस्तलिखित ग्रंथोंकी लिपिमें इतना अन्तर है और इतना परिवर्तन होता रहा है, कि एक ही भण्डारके ग्रंथ देवनागरी अक्षरोंके विकास या भिन्नता को खूब प्रकट करते हैं। लेखकोंमें शुद्ध तथा सुन्दर लेखनका खूब रिवाज था। आज सुन्दर लेखनकी तरफ न अध्यापकोंका ध्यान है और न विद्यार्थियों का। इसकी तरफ जनताको ध्यान देनेकी ज़रूरत है। भण्डारोंसे शास्त्र देने और वापिस लेनेकी सुव्यवस्था होनी चाहिए, यह नहीं कि जो शास्त्र जाय उसके वापिस आनेकी चिंता ही न रहे। बहुतसे शास्त्र इसी तरह गुम होते हैं। स्वाध्याय करनेके पश्चात शास्त्रके पृष्ठ क्रमवार लगाने चाहिएँ। इस मामलेमें लगभग ५० प्रतिशत ग्रन्थोंमें गड़बड़ पाई गई। जितने शास्त्र क्रमसे लगे रहेंगे, उतनी ही आसानी रहेगी और समय कम लगेगा। जहां तक हो एक वेष्टनमें एक ही

ग्रन्थ रखा जाय। वेष्टनपर बाहर ग्रंथनामकी चिट-परचो तथा नम्बरका कार्ड लगना चाहिए। सूची-रजिस्टर वेष्टन-नम्बरसे तथा अनुक्रम-नम्बरसे तैयार रहने चाहिएँ, जिससे शीघ्र पता लग सके। जीर्ण ग्रन्थोंकी दूसरी प्रतियां तैयार करानी चाहिएँ और जो शास्त्र फटनेको हों उनकी पारदर्शक कागजसे मरम्मत करानी चाहिए। वर्षमें एक बार भंडारकी पड़ताल, संभाल तथा व्यवस्था जरूर होजानी चाहिए। दूसरे भण्डारोंसे प्रतियाँ मँगानेका क्रम जारी रखना चाहिए तथा हर जगह एक-दो लेखकोंको प्रेरणा देकर तैयार रखना चाहिए। और पंचोंको शास्त्रोंके देनेमें व्यर्थकी अड़चनें न डालनी चाहिएँ। इन बातोंपर अमल होनेसे भंडार सुव्यवस्थित और उपयोगी बन सकते हैं।

आबू-आन्दोलन

सिरोही राज्यका आबू पर्वत अपनी प्राकृतिक सुन्दरता और शुभ्रवातावरणके कारण न केवल आज ही भारतका एक प्रसिद्ध ग्रीष्म-प्रवास बना हुआ है, बल्कि यह हमेशासे यहांके ऋषि-मुनियोंका एक तपोवन और धर्म-ध्यानके साधक भव्य भारतीयोंका एक तीर्थस्थान बना रहा है। इसी कारण यहांपर करोड़ोंकी विपुल सम्पत्ति लगाकर देलवाड़ा, अचलगढ़, अधरदेवी, गुरु वशिष्ठ और गुरु शिखरजी इत्यादिके अनेक अनुपम, ऐतिहासिक जैन और अजैन मन्दिर बने हुए हैं। इन मन्दिरोंके दर्शनोंसे अपने जीवनको पवित्र करनेके लिए हर साल हजारों हिन्दू यात्री भारतके सब ही देशोंसे चलकर यहां आते हैं।

परन्तु कितना घोर अन्याय है कि दूर-दराजसे कष्ट उठाकर आने वाले इन यात्रियों पर सिरोही सरकारने यात्री-टैक्स लगाया हुआ है। इस टैक्सका अन्याय केवल इस बातसे ही प्रगट नहीं है कि यह यात्रियोंकी धर्म-भावनामें अड़चन डालनेके कारण उनके धार्मिक स्वतन्त्रताके जन्मसिद्ध अधिकारको छीनने वाला है, बल्कि इसलिये भी कि यह टैक्स अंग्रेज, एङ्गलो इण्डियन आदि अन्य लोगोंसे न लिया जाकर केवल मन्दिरोंके दर्शनार्थ आने वाले हिन्दू यात्रियोंसे ही लिया जाता है। इस पर गजब यह है कि यह टैक्स न तो यात्रियोंको किसी प्रकार की रक्षा व सुभीता पहुँचानेके काम आता है, न दीन-दुखी लोगोंके दुःखहरणके काम आता है, न यह मन्दिरोंकी दुरुस्ती-मरम्मत, न मूर्तियोंकी पूजा-आरती, न पुजारियोंके भोजन-वस्त्रके किसी काममें लाया जाता है। इस टैक्सके लगानेमें यदि कोई नीति है तो यह कि सिरोही सरकार हिन्दू यात्रियोंकी धर्मपरायणतामेंसे अपनी धन-लालसाको पूरा करना चाहती है। यह टैक्स सरासर पाप और अन्याय पर अवलम्बित है।

इस टैक्सके विरोधमें कर्मवीर ला० तनसुखराय जी जैनकी अध्यक्षतामें जो आन्दोलन मुद्दतसे चल रहा है, वह सर्वथा सराहनीय है। लालाजी और उनके अनथक साथियोंके अटूट परिश्रमके कारण आज इस आन्दोलनने भारतकी तमाम हिन्दू जनता का ध्यान और सद्भाव अपनी ओर खींच लिया है। अब यह आन्दोलन बिना सफलमनोरथ हुए किसी प्रकार भी शान्त होने वाला नहीं है। इसके लिये लालाजी और उनके साथी बड़े ही धन्यवादके पात्र हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि सिरोही महाराज अपनी उदारता और विचारशीलताको काममें लाकर इस आन्दोलनको सत्याग्रहकी सीमा तक न बढ़ने देंगे, वह हिन्दू जनताकी पुकारसे प्रभावित होकर शीघ्र ही इस टैक्सको हटा देंगे और यात्रियोंको सब ही प्रकारकी सुविधाएँ पहुँचानेमें अपनी धर्मपरायणताकापूरा-पूरा सबूत देंगे।

वीर-सेवा-मन्दिर] —जयभगवान जैन वकील

पद्य-कहानी

एक मुनि-भक्त

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

कोढ़ फूट निकला था तनमें, गिरता था आमिष गलगल !
इतनी थी दुर्गन्धि कि जिससे, पूरित था सारा जंगल !!
सड़े व्रणों में से बहता था—रक्त, पसेव, पीव क्षण-क्षण !
इन सब के अतिरिक्त और था—दुष्ट मक्खियों का पीड़न !!
उफ़ ! कितनी पीड़ा थी फिर भी थे प्रसन्न-मन योगीश्वर !
सोच रहे थे-'मुझको क्या है, 'मैं' हूँ वह हूँ अजर-अमर !!'
धर्म—क्रियाओंमें सतर्क थे, योग—साधनामें तत्पर !
शारीरिक—रोगों पर उनकी, पड़ती फिर किस तरह नज़र ?

× × × ×

जलने वालों की दुनियामें, कमी नहीं है रही कभी !
कुछ दुष्टोंने महाराज से, कहदी यह दास्तान सभी !!
बोले नृप—'कोढ़ी गुरु हैं क्या', सेठ सामने हुए जभी !
मनमें भीरु, सशंक वाणिकवर, दृढ़ होकर बोले फिर भी !!
'मिथ्या-भाषी है वह मानव, जिसने दिया घृणित-संवाद !
निश्चय बुरी भावना द्वारा, खड़ा किया है नया-विवाद !!
गुरु का तन तो परम दीप्तिमय, जिसमें नहीं वासना-आग !
भाग्यवान वह हृदय, पनपता सेवा का जिसमें अनुराग !!'
एक सभासद बोल उठा तब, उसी समय अवसर पाकर !—
'सत्य-झूठ का निर्णय खुद ही, कर न लीजिएगा जाकर !!'
बोले—'ठीक, स्वयं ही कल हम, सत्य- झूठ को परखेंगे !
झूठ बोलने वाले की हिम्मत कितनी है ?—देखेंगे !!'
धन—कुबेर तब मौन, सोचमें डूबे, अपने घर आए !
एक मानसिक व्यथा, एक चिन्ता का बोझ साथ लाए !!
लगे खोजने बैठ सदनमें, विकट—समस्याओं का हल !—
भूख—प्यास भूले बैठे हैं, हृदय होरहा है चंचल !!—
'सौ—सौ टुकड़े हो सकते हो, तो वह बेशक हो जाएँ !
'गुरु कोढ़ी हैं !' निंद्य—शब्द यह कैसे जिह्वा पर आएँ ?
मुनि—निन्दाके महापाप को, किस प्रकार मैं अपनालूँ ?
जिनकी स्तुति करता आया, क्या उनकी निन्दा कर डालूँ ?
गुरु का तन नीरोग नहीं है, देखेगा नृप-गर्वीला !
निश्चय ही तब हो जाएगा, उसका बदन लाल—पीला !!
मुझे न अपने प्राणों का भय, चाहे जब उनको ले ले !
फिक्र मुझे है, मेरे कारण मुनि—तन कष्ट नहीं झेले !!
मुनि—निन्दाके भयमें मैंने, किया असत्य—वचन व्यवहार !
लेकिन अब मुनि-संकट का लगता है मुझको पाप-अपार !!'
घबराई 'मुनि—भक्त'—ठकी; भागा वह असहाय वहाँ !
दुखिया, दुखको भूल, शान्तिमय पाते हैं सन्तोष जहाँ !!
अस्ताचल की ओर जा रहा था उदास—मुखसे दिनकर !
हल—वाहक भी लौट रहे थे, ले—लेकर हल अपने घर !!
सेठ चला—विह्वल-सा, घबराया-सा योगीश्वरके पास !
बोला सविनय भक्तिपूर्ण, लेकर ठंडी—सी एक उसास !!
गुरुने पहले ही सोचा—'क्यों आज सेठजी इतने वक्र—
आए हैं', अवश्य है कारण, रह न सकेगा जो अव्यक्त !!'
'योगीश्वर ! मैं सन्ध्या को, इसलिये आज फिर आया हूँ !
एक धर्म—संकटका मैं संवाद साथमें लाया हूँ !!
कल नरेश दर्शनका मिस ले, आएँगे करने अपमान !
अविनय होनेके पहले ही, अतः कीजिए प्रभु ! प्रस्थान !!'
बोले वादिराज-गुरु—'आखिर यह सब क्या है, समझाओ !
जो कुछ हुआ उसे थिरता से, धीरे-धीरे कह जाओ !!'

× × × ×

सुनकर बोले मुनि नायक तब,—'भक्त ! न इतना घबराओ !
होने दो प्रभात, तुम निर्भय होकर अपने घर जाओ !!'
सेठ निरुत्तर, खड़े रहे, जैसे लकवे ने हों मारे !
बरस पड़े हों आसमानसे या मस्तक पर अँगारे !!
योगिराज मुसका कर बोले—'चिन्ताओं को ठुकराओ !
प्रभु का लेते हुए नाम तुम, हर्षित हो वापस जाओ !!'
लौटे सेठ अभय होकर पर, थी मनमें फिर भी हलचल !—
'मुझे अभय कर देनेसे ही, क्या बाधा जाएगी टल ?

अभय-दान जब योगीश्वरके श्रीमुखसे मैंने पाया !
फिर क्या शंका? अटल-गिरा जब, गिर-भी साथ-साथ लाया !!

× × × ×

जैसे-तैसे रात बिता कर, राज-भवनकी ओर चले !
फिर नरेशके साथ तपोनिधिके दर्शन करने निकले !!
सेठ देख कर दंग रह गए, मुनिवरकी निरोग-काया !
अचरज !—यह क्या इन्द्रजालने फैलादी अपनी माया ??
सोने-सा अतिदीप्त, रोगसे शून्य, तपोबलसे जगमग !
गुरुका देख शरीर, सेठ रह गए खड़े कुछ दूर अलग !!
मत्तार्धाश क्रोधमें डूबे, सोच उठे अपने भीतर— !
'मुझसे भी जा झूठ बोलता, है वह कितना घातक नर ?
मृत्यु-दण्ड दूँगा मैं उसको, है बेशक संगीन-कुसूर !
साधु-अवज्ञा कर, करडाली उसने मानवता चकचूर !!'
भावोंकी भाषा पढ़ कर गुरु, कहने लगे दयार्द्र-वचन !—
क्रोध-कालिमाके द्वारा क्यों, करते अपना मैलामन ?
कहने वाले ने पृथ्वीपति ! कुछ भी मिथ्या कहा नहीं !
लेकिन यह जरूर है तनमें, रोग आज है रहा नहीं।

देखो यह उँगलीमें जैसा कोढ़ अभी भी है सुस्थित !
इसी तरहका सब शरीर था, गलित, घृणित या दुर्गन्धित !!
मुनिनिन्दासे मलिन न हो जाए उनका पवित्र-जीवन !
साधु-सुभक्त वणिकने इस ही लिए किया मिथ्या-भाषण !!
मुझे नहीं तनकी चिन्ता थी, रहे रोग अथवा जाए ?
थी इसकी चिन्ता कि धर्मका नाम कहीं न डूब जाए !!'
बोले—नृप और वणिक साथ ही—'कैसे प्रभुवर रोग गया ?
राज-रोगसे मुक्त हुए, किस तरह मिला यह स्वास्थ्य नया ??'
साधु-शिरामणि बोले—'प्रभुकी अटल-भक्तिको क्या मुश्किल ?
लेकिन इतना है कि चाहिए, आत्मशक्ति इसके काबिल !!
रत्न-राशिमय 'पुर' हो जाता, जिस पुरमें प्रभुवर आते !
'उर' में आए हुआ स्वर्ण-तन, यह सुन क्यों विस्मय लाते ?'
चमत्कार यह देख उपस्थित-जन आनन्द-विभोर हुए !
मुनिनिन्दक भी लज्जित होकर, भक्ति-मार्ग की ओर हुए !!
साधु-भक्त वह सेठ और साधना-मुग्ध पृथ्वी-पालक !
देखा—दोनों मुनि-चरणों में, झुका रहे अपने मस्तक !!
जय-घोष से गगन-हृदयको जनता चीरे देती थी !
'भगवत्'-धर्मोत्थान मुदित लख, लोकोत्तम-सुख लेती थी !!

❀ जीवन इसका नाम नहीं है ! ❀

[श्री 'भगवत्' जैन]

१

चिथड़ों से शरीर को ढक कर,
सह जाता सरदी की बाधा !
कभी कभी भूखा सो रहता,
भरता उदर किसी दिन आधा !!
इतना होने पर, सोने का—कोई एक मुकाम नहीं है !!
'जीवन' इसका नाम नहीं है !!

२

कड़ी-ठोकरोंमें भी, मुर्दा—
स्वाभिमान सोता रहता है !
सिर्फ गुलामीको लेकर ही,
अत्याचारोंको सहता है !!
दुख-ही-दुखमें डूबा रहता, पाता कुछ आराम नहीं है !
'जीवन' इसका नाम नहीं है !!

३

खेल-कूद, खाने-पीने का,
नहीं व्यवस्थित-अवसर पाया !
सदा आँसुओंका जल लेकर,
अपना अन्तर्दाह बुझाया !!
जीते रहनेका भी शायद, दुनिया में कुछ काम नहीं है !
'जीवन' इसका नाम नहीं है !!

४

निर्धनताने कुचल दिए हैं,
दिलके सब अरमान हठीले !
सूख नहीं पाते यह आँसू—
रहते पलक हमेशा गीले !!
क्षीण-काय, जर्जर-शरीर पर, चिकना-चुपड़ा चाम नहीं है !
'जीवन' इसका नाम नहीं है !!

५

लिए दीनता को फिरता है, मानवता की याद भुलाए !
मृत्यु-गोदमें सो रहनेको, घड़ी - घड़ी मनमें ललचाए !!
किन्तु मृत्यु वह पाए कैसे ? जबकि जेबमें दाम नहीं है !
'जीवन' इसका नाम नहीं है !!

प्रश्नोत्तरी

[लेखक—श्री बा० जयभगवान जैन, बी० ए० वकील]

प्रश्न—आर्य कौन है ?

उत्तर—जो आचार विचारमें श्रेष्ठ है, साहस और सहिष्णुता में श्रेष्ठ है; जो जीवनको एक यज्ञ समझता है, जो सारी दुनियाको एक यज्ञ समझता है, जो आत्मोत्कर्षके लिये दोषों की बलि देनेमें संकोच नहीं करता, जो लोक उपकारके लिये स्वार्थोंकी आहुति देनेमें ढील नहीं करता, जो प्राणों को निछावर करके भी सदा विश्वहितके लिये अग्रसर रहता है।

प्रश्न—सनातन कौन है ?

उत्तर—जो जीवन और जगतके पुरुष और प्रकृति, ब्रह्म और मायारूप सनातन तत्त्वोंका जानता है, जो मायामें फँसे ब्रह्मके सनातन विकास-मार्गको समझता है, जो अपनी श्रद्धाको शोधता हुआ, ज्ञानको निर्विकल्प बनाता हुआ आचारको विश्व-व्यापि करता हुआ सदा आगेको बढ़ता रहता है, जो आगे बढ़ता हुआ, सदा दूसरोंको बढ़नेके लिये स्वतन्त्रता और सुभीता देता रहता है सुभाव और सहयोग देता रहता है।

प्रश्न—जैन कौन है ?

उत्तर—जो "जिन"के समान आत्म-शत्रुओंको जीतने वाला है, राग द्वेष कषायोंको जीतने वाला है, इन्द्रिय-विषय-वासनाओंको जीतने वाला है, मन-वचन-काय योगोंको वश करने वाला है, जो द्वन्द भरी दुनियामें निर्द्वन्द रहने वाला है, जो जड़ भरी दुनियामें जागरुक रहने वाला है, जो पुद्गल भरी दुनियामें चैतन्यरूप रहने वाला है जो सब तथ्यों का समन्वय करने वाला है, सबको ज्ञान और आनन्द देने वाला है, सब ओर दया और अहिंसा फैलाने वाला है।

प्रश्न—बौद्ध कौन है ?

उत्तर—जो 'बुद्ध'के समान सर्वव्यापी बोधि रखने वाला है, जो चार आर्य सत्योंमें विश्वास रखने वाला है, जो इच्छाओंको दुःखका मूल समझने वाला है, जो इच्छाओंका निरोध करने वाला है; सब ही विकल्पोंमें मौन धरने वाला है, सदा निष्काम होकर वर्तने वाला है, जो अपना और दूसरोंका उद्धार करने वाला है। अपने और दूसरोंको सुखी बनाने वाला है।

प्रश्न—मुसलमान कौन है ?

उत्तर—जो अल्लाह की एकतामें ईमान रखता है, जो सब ओर अल्लाह ही अल्लाहको देखता है, जो सबको अल्लाहमें ठहरा हुआ देखता है, सबको अल्लाहमें ढका हुआ देखता है जो सबको अल्लाहके बन्दे समझता है, जो सब हीके साथ भाईयों-जैसा व्यवहार करता है, प्रेम और वात्सल्य का बर्ताव करता है।

प्रश्न—ईसाई कौन है ?

उत्तर—जो ईश्वरको प्रेम पूर्णपिता समान जानता है, अपनेको ईश्वर का पुत्र मानता है, लोकको ईश्वरका कुटम्ब समझता है। जो लोककी रक्षा पालना करता हुआ अपने पिताके गौरवको बढ़ाता है। जो सबके साथ सत्य का व्यवहार करता है। अपने दोषोंकी क्षमा मांगता हुआ दूसरोंके दोषों को क्षमा करता है जो खुद किसीसे बैर नहीं करता, जो अपने वैरियोंसे प्रेम करता है, विरोधियों के लिये प्रार्थना करता है, गाली का जवाब आशीर्वादसे देता है, बुराई का बदला भलाईसे देता है। जो मन-सेवा को ईश-उपासना समझता है, जो दुनयाके पाप धोनेके लिये, लोकके दुःख दूर करनेके लिये सदा अपनी कुरबानी देनेको तय्यार रहता है।

प्रश्न—सिक्ख कौन है ?

उत्तर—जो सन्त पुरुषोंका शिष्य है, सन्तोंकी संगतिमें रहने वाला है, सन्तोंकी आज्ञाको मानने वाला है, सन्तोंके मार्ग पर चलने वाला है। सन्तों के समान दुःख-सुखकी परवाह नहीं करता, लाभ अलाभकी परवाह नहीं करता, निन्दा-स्तुति की परवाह नहीं करता। जो सदा लोक हितार्थ कामोंके लिये उद्यत रहता है, लोक उद्धारके लिये सीस चढ़ानेको तय्यार रहता है,

जीव-स्वरूप-जिज्ञासा

प्रश्नावली

[बहुत अर्सेसे मेरी यह प्रश्नावली पड़ी हुई है। कुछ विद्वानोंके सामने इसे पहले रक्खा भी था; परन्तु पूरा सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका। अतः कई मित्रोंके अनुरोधसे आज इसे प्रकाशित करके सभी विद्वानोंके सामने रक्खा जाता है। आशा है विद्वज्जन यथेष्ट समाधान करनेकी ज़रूर कृपा करेंगे।]

(१) चैतन्यगुणविशिष्ट सद्गतिसूक्ष्म अखण्ड पुद्गल-पिण्ड (काय) को यदि 'जीव' कहा जाय तो इसमें क्या हानि है—युक्तिसे कौनसी बाधा आती है?

(२) जीव यदि पौद्गलिक नहीं है तो उसमें सौक्ष्म्य स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार, क्रिया और प्रदेश-परिस्पन्द कैसे बन सकता है?

(३) जीवके अपौद्गलिक होनेपर आत्मामें पदार्थोंका प्रतिबिम्बित होना—दर्पणतलवत् झलकना—भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्बका ग्राहक पुद्गल ही होता है—उसीमें प्रतिबिम्बग्रहणकी अथवा छाया को अपनेमें अंकित करनेकी योग्यता पाई जाती है।

(४) तत्त्वार्थसूत्रादिमें सौक्ष्म्य-स्थौल्यको पुद्गलकी पर्याय माना गया है और जीवमें संकोच-विस्तार होनेसे सौक्ष्म्य-स्थौल्य स्पष्ट है, तथा 'आत्मप्रवाद' पूर्वमें जीव का नाम 'पुद्गल' भी दिया है, जैसा कि उक्त पूर्व का वर्णन करते हुए 'धवला' सिद्धान्तटीकाके प्रथम खण्डमें 'उक्तं च' रूपसे जो दो गाथाएँ दी हैं उनके निम्न अंशोंसे तथा वहीं 'पोग्गल' शब्दके प्राकृतमें ही दिये हुए निम्न अर्थसे प्रकट है :—

"जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"
"छव्विहसंठाणं बहुविहदेहेहि पूरदि गलदित्ति पोग्गलो।"

श्वेताम्बरोंके भगवतीसूत्रमें भी जीवको पुद्गल नाम दिया है; कोशोंमें भी "देहे चात्मनि पुद्गलः" रूपसे पुद्गल का आत्मा अर्थ भी दिया है। बौद्धोंके यहाँ तो आत्मवाचक पुद्गल नामका प्रयोग पाया जाता है*। तब जीवको पौद्गलिक क्यों न माना जाय?

(५) जीवको 'परंज्योति' तथा 'ज्योतिस्वरूप' कहा गया है और ध्यानद्वारा उसका अनुभव भी 'प्रकाशमय' बतलाया गया है—अन्तःकरणके द्वारा वह प्रत्यक्ष भी होता है। ये सब बातें भी उसके पौद्गलिक होने को सूचित करती हैं—उद्योत और प्रकाश पुद्गलका ही गुण माना गया है। ऐसी हालतमें भी जीवको पौद्गलिक क्यों न माना जाय?

(६) अमूर्तिकका लक्षण पंचाध्यायीके "मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत्" (२–७) इस वाक्यके अनुसार यदि यही माना जाय कि जो इन्द्रियगोचर न हो वह अमूर्तिक, तो जीवके पौद्गलिक होते हुए भी उसके अमूर्तिक होनेमें कोई बाधा नहीं आती। असंख्य पुद्गलोंके प्रचयरूप होकर भी कार्माणवर्गणा जैसे इंद्रियगोचर नहीं है और इसलिये अमूर्तिक है, ऐसा कहा जा सकता है। इसमें क्या बाधा आती है? यदि निराकार होना ही अमूर्तिकका लक्षण हो तो उसे खरविषाणवत् अवस्तु क्यों न समझा जाय?

(७) पुद्गलके यदि दो भेद किये जाँय—एक चैतन्यगुणविशिष्ट और दूसरा चैतन्य-गुणरहित, चैतन्यगुणविशिष्ट पुद्गलोंको केवल 'वर्णवन्तः'—वह भी 'चक्षुरगोचरवर्णवन्तः' माना जाय और दूसरोंको 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः' माना जाय और उन्हींमें रूपादिकी रसादिकेसाथ व्याप्ति स्वीकार कीजाय तो इसमें क्या हानि है? ऐसा होनेपर प्रथम भेदरूप जीवोंको तत्त्वार्थसारके कथनानुसार (८-३२) 'ऊर्ध्वगौरवधर्माणः' और द्वितीय भेदरूप पुद्गलोंको 'अधोगौरवधर्माणः' कहना भी तब निरापद् हो सकता है। अन्यथा, अपौद्गलिकमें गौरवका होना नहीं

* देखो, अनेकान्त वर्ष १ पृ० ३६३।

बनता)। गुरुता-लघुता यह पुद्गलका ही परिणाम है।

(८) यदि पुद्गलमात्रको स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इन चार गुणोंवाला माना जाय—उसीको मूर्तिक कहा जाय और जीवमें वर्ण गुण भी न मानकर उसे अमूर्तिक स्वीकार किया जाय तो ऐसे अपौद्गलिक और अमूर्तिक जीवात्माका पौद्गलिक तथा मूर्तिक कर्मोंके साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे बन सकता है? इस प्रकारके बन्धका कोई भी दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है। और इसलिये ऐसा कथन (अनुमान) अनिदर्शन होनेसे (आप्तपरीक्षाकी **'ज्ञानशक्त्यैव निःशेष-कार्योत्पत्तौ प्रभुः किल। सदेश्वर इति ख्यातेऽनुमानमनिदर्शनम्'** इस आपत्तिके अनुसार) अग्राह्य ठहरता है—सुवर्ण और पाषाणके अनादि बन्धका जो दृष्टान्त दिया जाता है वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकारसे सुवर्ण-स्थानीय जीवके पौद्गलिक होने को ही सूचित करता है—यदि ऐसा कहा जाय तो इसपर क्या आपत्ति खड़ी होती है?

(९) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णमेंसे कोई भी गुण जिसमें हो उसे मूर्तिक माननेपर (**'स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः'** आदि पंचाध्यायी २-९) और जीवको वर्णगुणविशिष्ट स्वीकार करनेपर (जिसका कुछ आभास **'शुक्लध्यान'** शब्दके प्रयोगसे भी मिलता है) जीव भी मूर्तिक ठहरता है और तब मूर्तिक जीवका मूर्तिक कर्मोंके साथ बद्ध होकर विकारी होनेमें कोई बाधा नहीं आती। वह सजातीय-विजातीय-पुद्गलों का ही बन्ध ठहरता है। यदि ऐसा कहा जाय तो वह क्योंकर आपत्तिके योग्य हो सकता है?

(१०) रागादिकको 'पौद्गलिक' बतलाया गया है (**'अन्ये तु रागाद्याः हेयाः पौद्गलिका अमी'**, (पंचा० २-४५७) और रागादिक जीवके अशुद्ध परिणाम हैं—बिना जीवके उनका अस्तित्व नहीं। यदि जीव पौद्गलिक नहीं तो रागादिक पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे? रागादिकका अस्तित्व क्या जीवसे अलग सिद्ध किया जा सकता है? इसके सिवाय अपौद्गलिक जीवात्मामें कृष्ण-नीलादि लेश्याएँ भी कैसे बन सकती हैं?

नोट—सम्पूर्ण प्रश्नों और उनके सम्पूर्ण अवयवोंका अच्छा समाधानकारक उत्तर विशदरूपसे युक्तिपुरस्सर दिया जाना चाहिये, जिससे इस विषयपर गहरा विचार होकर जिज्ञासाकी तृप्ति हो सके। प्रस्तुत विषयकी जो बातें ठीक जान पड़ें, उन्हें निरापद् बतलाते हुए उन की पुष्टिमें और जो कोई अच्छी बात कही जा सकती अथवा युक्ति दी जा सकती हो उसे भी कृपया साथमें उल्लेखित कर देना चाहिये। इस सब कृपाके लिये मैं बहुत आभारी हूँगा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ज़ि० सहारनपुर

जिज्ञासु—
जुगलकिशोर मुख्तार

—×—

अनेकान्त-बहिर्लापिका

संधिः कः[1] पवनस्य, मित्र! वद ते चेच्छब्दशास्त्रज्ञता।
केन[2] स्त्रीपुरुषा भवन्ति वशगा वित्तेश्वराणां क्षितौ॥
नक्षत्राणि विभान्ति कुत्र[3], मनसो हर्षः कुतो[4] योषिताम्।
मत्प्रश्नोत्तरमध्यमाक्षरगतं पत्रं[5] सदा वर्द्धताम्॥

—धरणीधर शास्त्री काव्यतीर्थ

१ पो अनं, २ धनेन, ३ आकाशे, ४—कान्ततः ५ मध्याक्षरैर्नाम "अनेकान्त"

सेठ भागचन्दजी सोनीके भाषणके कुछ अंश

[श्रीमान् रा० ब० सेठ भागचन्दजी सोनी अजमेरने ता० १६ जून १६४२ को 'श्री ऐलकपन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन ब्यावर' के वार्षिकोत्सवपर सभापति-पदसे जो भाषण दिया है उसके कुछ खास अंश अनेकान्तके पाठकोंको जाननेके लिये नीचे प्रकट किये जाते हैं :— —सम्पादक]

"अगर हमारे समस्त सरस्वती-भवन मिलकर संगठित रूपसे वीतराग-वाणीकी अमृतधारा बहाना शुरू करदें— भारतमे सर्वत्र ऐसी 'प्याऊ' का रथ चलादें जो हमारी मृगतृष्णाको दूरकर हमें स्वस्थचित्त करके सुपथपर बढनेके लिए नवीन उत्साह और अटूट आशा दे, तो हमारी सेवा सर्वाङ्गीण पूर्ण हो जाय और हमारा यह मनुष्य-जीवन सार्थक हो जाय।

उपाय और साधन

इसके लिए अवश्य ही हमें उपाय-चिन्तन करना होगा, जिनमेंसे कुछ उपाय ये हो सकते हैं, जिनका हम नीचे उल्लेख कर रहे हैं :—

(१) ऐसे एक मासिक पत्रकी योजना की जाय, जिसमें किसी भी तरहका वाद-विवाद न छिड़कर केवल धर्म और धार्मिकोंके सम्बन्धमें तात्त्विक और व्यावहारिक प्रकाश फैलाने वाली रचनाएँ प्रकाशित हुआ करें, यानी—एक जीव-तत्त्वको (अथवा यों कहिये कि अपनेको) केन्द्र बनाकर, अत्यन्त सरलता और स्पष्टताके साथ, आजकी पद्धति और आजकी भाषामें ऐसी तात्त्विक और साथ ही व्यवहारिक आलोचना और उपदेशना हुआ करे, जिससे—अनुकूल, प्रतिकूल और तटस्थ तीनों ही प्रकृतिके पाठक और श्रोताओंको नपी-तुली भाषा मे सुलझी और छनी हुई यथावत् चीज मिला करे; ताकि वे उसे अपनी बुद्धि और रुचिके अनुसार आत्म-कल्याणका मार्ग तय कर सकें, और चाहें तो उसपर चलने के लिये आगे कदम भी बढ़ा सकें।

दृष्टान्तके तौरपर हिन्दू-समाजके 'कल्याण' मासिक पत्रका नाम लिया जा सकता है, जिसका एकमात्र यही ध्येय है कि अपने पाठकोंमें धार्मिक अभिरुचि पैदा की जाय। यहाँ प्रसंगवश इतना कह देना बेजा न होगा कि हिन्दीमें जितने भी राष्ट्रीय और साहित्यिक पत्र या पत्रिकाएँ निकलती हैं, उन सबमें 'कल्याण' अधिक संख्यामें प्रकाशित होता है, जिससे हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि अगर शुद्ध धर्म और धार्मिकोंके सम्बन्धमें बोलने वाला कोई पत्र निकाला जाय, तो पाठकोंका अभाव न रहेगा; अवश्य ही इसके लिए यह जरूरी है कि उस पत्रमें किसी भी तरहकी आपसी वैमनस्यकी चर्चा या वाद-विवाद वगैरह कुछ भी न छपना चाहिए। इसके बिना न तो समाजमें कल्याणकी अभिरुचि ही पैदा की जा सकती है और न मौजूदा पत्र-पत्रिकाओंके बेढंगे ढंगमें किसी तरह का शुभ परिवर्तन ही लाया जा सकता है। यह काम कुछ चुने हुए मन्दकषाय, शान्तबुद्धि और स्व-पर-विवेकी बुधजनोंके द्वारा ही सुसम्पन्न या सफल हो सकता है। और इस बातका हमें शुरूसे ही पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा; नहीं तो पूरी कीमत चुकाकर भी हम उस चीज़से वंचित रह जायंगे जिसके लिये हमने दाम चुकाये थे।

दूसरा काम—सरस्वती भवनोंका यह होना चाहिए, और समाजको भी उससे लाभ उठाना चाहिए कि जो भी ग्रन्थ लिखाये जायँ, उनका शुद्ध प्रतियोंसे अच्छी तरह मिलान करा लिया जाय ताकि अल्पज्ञानी और कहीं-कहीं या प्रायः करके विपरीत—ज्ञानी शास्त्र लेखकों (प्रतिलिपि करनेवालों) से कीगई भूलोंसे हमारे ज्ञानमें कोई फर्क न आवे। इस कामको हमारे सरस्वती-भवन बड़ी आसानीसे कर सकते हैं। इससे हमारे श्रुत या शास्त्रोंकी सुरक्षाके साथ-साथ उनकी विशुद्धिकी रक्षा होती रहेगी।

इस दिशामें, मुद्रित ग्रन्थोंकी तरफसे भी हमें निश्चिन्त नहीं रहना चाहिये—बल्कि उसमें तो एक साथ हजारों ग्रन्थोंमें एक सी ग़लतियाँ रह सकती हैं और अकसर रहा करती हैं—और जब कि इस कालमें मुद्रित ग्रन्थोंका पठन-

पाठन करने वालोंकी संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है तब हमारा यह भी एक कर्तव्य हो जाता है कि उनकी, शुद्धा शुद्धिके विषयमें समाजको परित्याग कराया जाय; और प्रेरणा की जाय कि अमुक-अमुक ग्रन्थोंमें अमुक-अमुक अशुद्धियाँ हैं, जिन्हें हर एक पाठक सुधार कर पढ़ें। दूसरे इस तरह मुद्रित ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताका भी पता लगता रहेगा। इसके लिये यह ज़रूरी है कि सरस्वती-भवनोंके पुस्तकाध्यक्ष निरन्तर इन सब बातोंकी देख-भाल करते रहें।

तीसरा काम—यह है कि हिन्दी अंग्रेजी आदि सार्वजनिक पत्र-पत्रिकाओं में जैनधर्म, जैनसमाज और हमारे पुराण-पुरुषोंके सम्बन्धमें जो आये-दिन कुछ-न-कुछ ऊटपटांग बातें छप जाया करती हैं, सरस्वती-भवनकी तरफसे उनका उचित-रीत्या निराकरण हुआ करे।

चौथा काम—यह होना चाहिये कि ऐसे अजैन विद्वान् जो जैनधर्मके सम्बन्धमें कुछ जानकारी हासिल करना चाहते हों उन्हें भवनोंकी तरफसे ज्ञानसामग्री दी जाय, और साथ ही अगर वे विद्वान् लेखक या सम्पादक हों तो हर तरहसे उन्हें प्रोत्साहन देकर उनसे जैनधर्मके सम्बन्धमें लेखादि लिखाये और प्रकाशित किये जायँ। इस विषयमें हमें बौद्धोंकी ओर दृष्टि डालनी चाहिए, जिनके प्रचारका सबसे बड़ा साधन ही यही है, जिसका मैं ऊपर जिकर कर चुका हूं। यह काम स्वर्गीय पं० पन्नालालजी बाकलीवाल ने अपने जीवनकालमें बड़ी खूबीके साथ किया था। उनका हमें अनुकरण करना चाहिये।

पाँचवाँ काम—रिसर्च या अनुसन्धान और शोधका है। इसकी भी बड़ी-भारी ज़रूरत है; क्योंकि इसके बिना न हम जैनेतर विद्वानोंको जैनधर्मकी ओर आकर्षित ही कर सकते हैं और न हम खुद ही वास्तविकतासे स्पष्टतया वाकिफ हो सकते हैं। ये सब काम ऐसे हैं जिन्हें सरस्वती-भवनोंकी सहायतासे अच्छी तरह किया जा सकता है। कहनेका मतलब यह कि हमारे सरस्वती भवनोंके द्वारा—संग्रह, रक्षा और सदुपयोग ये तीनों काम एक साथ होने चाहिएं; क्योंकि इन तीनोंका परस्पर ऐसा श्रृंखला-सम्बन्ध है कि इनमें से एक कड़ी टूटते ही सर्वत्र शिथिलता आ जाती है।

अगर हम अपने तीनों सरस्वती-भवनोंको एकत्र मिला कर उसे किसी ऐसे केन्द्र-स्थानमें स्थापित करनेकी आयोजना करें जहाँसे त्रिशक्ति एक होकर बड़े दायरेमें बड़ा काम कर सके, तो मैं समझता हूँ—इससे कम खर्चमें ज्यादा लाभ हो सकता है। आशा है इस बातपर भवनके स्थायी अध्यक्ष महोदय और प्रबन्ध-समितिके सदस्यगण विचार करेंगे। मुझे बड़ी खुशी होगी, अगर आप इस विचारको किसी दिन कार्य-रूपमें परिणत करनेकी ठान लें।

इस दिशामें ग्रन्थागारोंके ग्रन्थाध्यक्षोंका भी बहुत-कुछ कर्तव्य है। साधारणतः पुस्तकालय या ग्रन्थालय यही कहते पाये जाते हैं कि 'हमारे पास ग्रन्थ-सूची है, उठाकर स्वयं देख लो और अपने कामकी चीज ढूंढ लो।' मगर हम देखेंगे कि इस तरहकी मनोवृत्तिमें आमंत्रण या बुलावा नहीं है, पाठकके मनको अपने नज़दीक खींचनेकी आन्तरिक भावना नहीं है, और साथ ही ग्रन्थ-सूचीमें भी ऐसा कोई स्पष्ट परिचय नहीं जिससे आकृष्ट होकर लोग स्वयं उसके पास पहुंच जायँ। जिस ग्रन्थागारमें उसकी आभ्यन्तरिक विभूतिका परिचय और परिचयमें पाठकके चित्तको खींचने की आन्तरिक भावना नहीं है, और साथ ही ग्रन्थ-सूचीमें भी ऐसा कोई स्पष्ट परिचय नहीं जिससे आकृष्ट होकर लोग स्वयं उसके पास पहुंच जायँ। जिस ग्रन्थागारमें उसकी आभ्यन्तरिक विभूतिका परिचय और परिचयमें पाठकके चित्तको खींचनेका आग्रह होगा, वह स्वयं आगे बढ़कर जिज्ञासुओंको अपने घर बुला लेगा। इसे हम ग्रन्थागारकी दानशीलता या उदारता कह सकते हैं, जो उसकी जाग्रत जीवनी-शक्तिका परिचायक है। ग्रन्थागारकी तरफसे ऐसी प्रकृतिगत महानता और दानशीलताका परिचय ग्रन्थाध्यक्ष ही दे सकते हैं, और इस तरह वे अच्छे पाठकोंकी संख्या बढ़ाकर समाजमें अच्छे ज्ञानी पैदा कर सकते हैं। इसके लिए यह ज़रूरी है कि ग्रन्थाध्यक्ष—सरस्वती-भवनकी अल्मारियोंमें अच्छी तरह सिलसिलेवार ग्रन्थ सजाने और उनका हिसाब रखनेके साथ-साथ अपने यहाँके ग्रन्थ या शास्त्रोंका सुलझा हुआ विशद ज्ञान भी प्राप्त करलें; ताकि वे सुलझे हुए तरीकेसे आजकी भाषामें पाठकोंको उसका कल्याणकारी परिचय करा सकें। मतलब यह कि ग्रन्थाध्यक्ष केवल ग्रन्थ-भण्डारका भण्डारी ही न

(शेषांश टाइटलके तीसरे पृष्ठ कालम २ पर)

श्रीचारुकीर्ति भट्टारक-भण्डार मूड़बिद्रीके कुछ हस्त लि० ग्रन्थोंकी सूची

मूड़बिद्री ज़ि० साउथकनारामें अनेक शास्त्रभण्डार हैं, जिनमें भट्टारक श्रीचारुकीर्तिजीका भण्डार अन्य भण्डारोंसे अच्छा बड़ा है। इस भण्डारके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी एक सूची अपने को ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईके अध्यक्ष पं० रामप्रसादजीकी मार्फत प्राप्त हुई है, जिसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूँ। सूचीमें ग्रन्थ प्रतियोंकी संख्या ११३६ दर्ज है, जिनमें एक एक ग्रन्थकी कई कई प्रतियाँ भी शामिल हैं। ग्रन्थ-संख्या ८०० के करीब होगी। अधिकांश ग्रन्थ या तो मूलतः कनडी भाषामें हैं और या कन्नडभाषाके अनुवाद तथा टीका-टिप्पण को लिये हुए हैं। ग्रन्थसूची किसी अच्छे जानकार विद्वानके द्वारा तय्यार की गई मालूम नहीं होती—वह बहुत कुछ असावधान हाथोंसे बनाई गई है, और ऐसी मोटी मोटी त्रुटियोंसे भी परिपूर्ण है जिन्हें देखकर आश्चर्य तथा खेद होता है! और यह ख़याल आता है कि भट्टारकी जैसी संस्थामें, जहाँ थोड़ेसे इशारेपर अच्छे विद्वान काम करने वाले मिल सकते हैं, ऐसी ग़लत सूची क्यों तय्यार करके रक्खी जाती है? और क्यों ऐसी मुकम्मल सूची तय्यार नहीं कराई जाती जो अपने भण्डारके ग्रन्थोंके नाम, कर्ता, विषय, भाषा, श्लोकसंख्या और रचना तथा लिपि-कालादि-सम्बन्धी अभ्रान्त यथार्थ परिचय दे सके, ऐसा करना इस प्रकारकी संस्थाओंका खास कर्तव्य है और वह साहित्यसेवाका प्रधान अंग है। इस विषयमें उपेक्षा धारण करना और लापर्वाही बर्तना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता। अस्तु; उक्त सूचीपर से यहाँ सिर्फ उन ग्रन्थोंकी ही कुछ सूची दी जाती है जो अनेकान्तकी गत किरणोंमें प्रकाशित सूचियोंमें नहीं आए हैं। इस सूचीके तय्यार करनेमें जहाँ तक अपनी पहुँचके भीतर हो सका उक्त सूचीकी मोटी मोटी भूलोंको दूर करनेका यत्न किया गया है, फिर भी ग्रन्थ-प्रतियाँ सामने न होनेसे पहुँचसे बाहरकी कुछ भूलोंका रह जाना संभव है, जिनका सुधार बादको हो सकेगा। भट्टारकजीसे सादर अनुरोध है कि वे मूलग्रन्थ-प्रतियोंपरसे इस सूची को जँचवाएँ और यदि कहीं भूल मालूम पड़े तो उससे शीघ्र ही सूचित करने की कृपा करें। साथ ही, जिन ग्रन्थोंका रचना-काल उन ग्रन्थोंपरसे उपलब्ध होता हो उसे भी लिखकर भिजवानेकी कृपा करें और जो ग्रन्थ इनमें अजैन हो उसके विषयमें स्पष्ट लिख देवें कि वह अजैन है। आशा है दि० जैनग्रन्थसूचीके निर्माण-विषयके इस सत्कार्यमें आपका इतना सहयोग वीरसेवामन्दिरको ज़रूर प्राप्त होगा। और इस कृपाके लिये मैं आपका बहुत आभरी हूंगा।

—सम्पादक

भं० सं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	आनुमानिक श्लोक-संख्या	विषय
३५४	अण्णालचरिते	केशवण्ण	कन्नड	६	×	प्रथमानुयोग
४७६	अण्णालचरित्र	×	,,	३८	३००	,,
२६८	अनन्तनोहिचरित्र	कवि आदिनाथ	,,	११	२६५	,,
१७३	अनन्तनोहिपूजाविधान	×	,,	४१	६८७	पूजा
४०३	अनुप्रेक्षा	सोमदेव	,,	१४	४४	भावना
५३	अपराजितशतक	कविरत्नाकर	,,	१३	१००	द्रव्यानुयोग
८०५	अभिधानकोष (अपूर्ण)	नागवर्म	,,	१८	७००	कोष
१७६	अमृतनंद्यलंकार	अमृतनन्दि	संस्कृत	४१	६८७	अलंकार

नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	आनुमानिक श्लोक-संख्या	विषय
१६३	अमृताशीति (सकन्नडटीका)	योगीन्द्रदेव, टी० बालचन्द्र	संस्कृत कन्नड	२३	७२४	स्तोत्र
१३६	अर्हत्प्रतिष्ठासार (अपूर्ण)	कौमारसेन	संस्कृत	६१	३०६२	प्रतिष्ठा
३१२	अर्हनाथाष्टक	नागचन्द्र	कन्नड	१	८	स्तोत्र
२६६	अहिंसाचरित्र	पायगण	संस्कृत	१०	४००	प्रथमानुयोग
३८६	आगमसार	वीरचन्द्र	,,	८	२५३	....
४०६	आगमसारटीका	पद्मनन्दि	,	.	५००	...
६५	आत्मावबोधन	पद्मनन्दि	,,	६	...	....
५४२	आदिनाथपुराण	कवितागुणार्णव (?)	कन्नड	१०४	६०००	पुराण
६०७	आप्तस्वरूप	....	,,	२०	...	...
२३६	आलोचनामूल	पद्मनन्दि	संस्कृत	३	३३	...
११४	आरोग्यचिन्तामणि	दामोदर	,,	३७	१३६२	वैद्यक
६०४	आरोग्यस्तवन	शुभकीर्ति	संस्कृत	२	६०	स्तोत्र
६७४	आस्रवसंतति	प्रभाचन्द्र	प्राकृत	१०	४०	....
६५२	इष्टोपदेश	केशव	संस्कृत	४	५४	...
३१	इष्टोपदेश	मेघचन्द्र यतीश्वर	,,	६	१०५	....
७४८	उणादिवृत्ति	दुर्गसिंह	,,	४५	१०००	व्याकरण
३२	एकत्वसप्तति टीकासहित	पद्मनन्दि, टी०	सं०, कन्नड	१५	७१	....
५६५	ऋषिमंडलस्तव	मल्लिषेण	,,	२	८	स्तोत्र
४५६	ऋषिमंडलस्तोत्र	प्रभाचन्द्र	,,	४		स्तोत्र
३०६	कन्नडभारत (अजैन)	वेदव्यास संन्यासी	,,	३३	३३४२	पौंडवकथा
२४२	कल्याणकारक	पूज्यपाद (?)	,,	६३	६४०	वैद्यक
११४	कुमुदचन्द्रसंहिता	वादीभकुमुदचन्द्र	,,	८४	३६०७	संहिता
१५६	कृष्णचरित	....	,,	७	१३८	प्रथमानुयोग
१४६	क्रियाकलाप	बंधुवर्मा	,,	५२	४६००	....
३१२	क्रियाकाण्ड	बालचन्द्र	,,	१	१५	....
२३६	क्रियाकाण्डचूलिका	पद्मनन्दि	,,	१७	२०३	...
३८१	क्रियापाठ	बंधुवर्मा	,,	३५	७००	....
२४	कर्मप्रकृति	कनकनन्दि	प्राकृत	६	३७	द्रव्यानुयोग
२६६	कर्मप्राभृत	..	,,	१४	१५६	...
२०६	गणितशास्त्र	श्रेष्ठिचन्द्र	संस्कृत	३०	१६८	गणित
१७४	गणितशास्त्र	श्रीधर	,,	३८	२३५०	,,
७२५	गद्यचिंतामणि	वादीभसिंह	,,	७(?)	३०० (?)	काव्य
३५४	गुणरत्नमालाचरित्र	बोम्मणरस	,,	७	१२६	प्रथमानुयोग
२५२	गौलिशकुन	मल्लिषेण	कन्नड	२	३५	शकुनशास्त्र

भंडार नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	आनुमानिक श्लोक-संख्या	विषय
३६४	गोम्मटस्वामिचरित्र	चदुरचन्द्र	कन्नड	५५	७६२	प्रथमानुयोग
६५	गोमट्टसारटीका	केशवरण्ण	,,	१६३	२०६००	द्रव्यानुयोग
३२६	गोमटेश्वरस्वामिचरित्र	भुजबलिमुनि	,,	३४	६७२	प्रथमानुयोग
१६६	चन्द्रनाथाष्टक	माणिक्यदेव	,,	३	८	....
३६४	चन्द्रप्रभस्वामिगद्य	पूज्यपाद	संस्कृत	३	४०	काव्य
५७७	चन्द्रप्रभचरित्र	ब्रह्मकवि	,,	१२०	१७३६	प्रथमानुयोग
२६६	चन्द्रलोकालंकार	जयदेव	,,	८६	१६२४	अलंकार
२	चिन्तामणिटीका	समन्तभद्र (?)	,,	१६	....	व्याकरण
६५२	चिन्तामणिस्तवन	सोमदेव	,	४	७७	स्तवन
१५५	जगन्नाथविनयचरित्र	जगन्नाथकवि	कन्नड	१२३	३६६५	...
२६६	जयकुमारषट्पद	प्रभुराज	,,	६६	१०३३	....
३४१	जयकुमारचरित्र	प्रभुराज	,,	२२	५७५	प्रथमानुयोग
३६६	जिनबिम्बलक्षण		संस्कृत	३६		शिल्पशास्त्र
७७८	जीवंधरचरित्र (अपूर्ण)	बसवरण्ण	कन्नड	२०	५३५	प्रथमानुयोग
५८०	जीवंधरचरित्र	ब्रह्मरय	संस्कृत	१६	३८०	,, ,,
२१४	जीवंधरषट्पद	भास्कर	कन्नड	६३	२७००	प्रथमानुयोग
५०८	ज्ञानचन्द्रषट्पद	कल्याणकीर्ति	,,	४६	...	....
२५१	तत्त्वनिश्चय	प्रवरकीर्ति	संस्कृत	६	११४	....
२५	तत्त्वरत्नप्रदीपिका	बालचन्द्र	,,	१४५	८८०५	....
६३१	तत्त्वार्थवृत्ति (अपूर्ण)	माघनन्दी	,,	३४	७२७	....
६४	तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति ?	दिवाकरभट्टारक	कन्नड	..	२६(?)	....
४५६	त्रिपदाशीति	पद्मनन्दि	संस्कृत	६	....	....
३५२	त्रिभंगी-टीका	देवसूर्य	....	४०	....	....
४७६	त्रिलोक प्रज्ञप्तिसार	रामचन्द्र	....	६०	२२५०	द्रव्यानुयोग
१६४	त्रिलोकसार-व्याख्यान	अभयचन्द्र	प्राकृत	१२६	५०३६	....
३१२	त्रिषष्टिमहापुराण	मल्लिषेण	कन्नड	६२	२०००	....
२८५	त्रैलोक्यरत्नामणि	नागेन्द्र	,,	१	१३	....
१४७	दानपंचाशत्	पद्मनन्दी	संस्कृत	२	५३	..
१८०	दानसार	प्रभाचन्द्रदेव	कन्नड	१५	७५०	....
१४७	देशव्रतोद्योतन	पद्मनन्दी	संस्कृत	२	२५	....
१०६	द्रव्यसंग्रह-लघुवृत्ति (अपूर्ण)	बालचन्द्र	....	७	...	...
२१	द्वादशानुप्रेक्षा	विजयरण्ण	कन्नड	५६	१३००	चरणानुयोग
१२१	धर्मनाथपुराण	बाहुबलीव्रती	,,	१६७	१२००	प्रथमानुयोग
८८	धर्मपरीक्षा	वृत्तविलास	,,	....	७००	....

भंडार नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	आनुमानिक श्लोक सं०	विषय
२०	धर्मामृतकथा	नयसेन	कन्नड़	३८	१५००	..
७२३	धर्मरायनीति	....	संस्कृत	४७	४००	....
२३६	धर्मोपदेशामृत मूल	पद्मनन्दी	,,	१७	२०३	....
५६४	ध्यानलक्षण	....	कन्नड़	४६	७००	....
३६६	ध्यानस्तव	भास्करनन्दी	संस्कृत	५	१००	....
३३६	ध्यानस्वरूप	...	कन्नड	६	३४०	ध्यान
४५६	ध्यानामृत	अभयचन्द्र	संस्कृत	६	६१	,,
६७	नागकुमारचरित्र	बाहुबलीकृत	कन्नड़	६	२२५	प्रथमानुयोग
६८३	नागकुमारचरित	रत्नयोगीन्द्र	संस्कृत	५	५००	..
२५२	नाड़ीपरीक्षा	पूज्यपाद	,	३	३८	वैद्यक
५३	नानार्थरत्नाकर	नागवर्म	कन्नड	३	११३	.
४३२	नानार्थसंग्रह	रामचन्द्र	संस्कृत	१७४	४०००	...
३२१	नन्दीश्वरचरित्र	चन्द्रय्य उपाध्याय	कन्नड	३	६३	..
४५४	नांदिमंगल	.	संस्कृत	५२	७५०	पूजा
६६	नित्यपंचाशतक	नन्दिगुरु	,,	.	..	....
३६६	नीतिरसायन	शुभचन्द्र	कन्नड	५	११५	...
१२२	नेमिनाथपुराण	कर्णपार्य	,,	१३०	६०००	पुराण
१६६	न्यायदीपावली (विवेकव्याख्यान	अमृतनंदि	संस्कृत	८	१००८?	....
४६८	पदार्थसार	माघनन्दी	,,	८६	२७३०	...
३२२	पदार्थसार (अपूर्ण)	....	प्राकृत	६३	२५५६	...
३६८	पदार्थसार टीका (अपूर्ण)	टी० नेमिचन्द्र	कन्नड	२२१	६६००	....
४५८	पदार्थसार	याचरण	,,	४२	८५०	...
६०७	परमागमसार	पार्श्वकीर्ति	संस्कृत	१३	....	...
७२२	परमात्मप्रकाश-टीका	बालचंद्र	कन्नड	३८	१००३	....
४७४	परीषहजय	मुकन्दक	,,	२	३८	....
१६३	पंचगुरुमोक्षपदलक्षण	बालेन्दु	,,	२	२५	....
३११	पंचपरमेष्ठिबोल	बालचन्द्र	,,	३	४०	....
३७१	पंचपरमेष्ठिव्याख्यान	माघनंदि	,,	३२	....	....
२३	पंचपरूवणा	कनकनंदी	प्राकृत	६	३७?	....
७०८	पंचसंसार	नेमिचन्द्र	,,	२०	१०४०	...
१२६	पंचास्तिकाय-टीका	पद्मप्रभमलधारी	कन्नड	६६	१०५०	द्रव्यानुयोग
३२	पंपरामायणसटीक	कविपंप, टी०भ० सहस्रकीर्ति	कन्नड	१२८	६५६३	प्रथमानुयोग
१६६	पार्श्वनाथाष्टक (अपूर्ण)	माणिक्यदेव	कन्नड	४	८?	....
३२१	पार्श्वनाथपुराण,	पार्श्वनाथ	,,	८२	६००	....

भंडार नंबर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	अनुमानिक श्लोक-संख्या	विषय
३८६	पार्श्वनाथस्तोत्र	इन्द्रनंदी	संस्कृत	३	३०	स्तवन
२०२	पार्श्वाभ्युदय काव्य	जिनसेन	,,	१३	३६४	काव्य
३००	पुण्याश्रव (अपूर्ण)	नागराज	,,	११७	८०००	...
४४४	पुरुदेवचरित्र (अपूर्ण)		,,	२४	२६२	प्रथमानुयोग
३१६	पुष्पदन्तपुराण	गुणवर्म	कन्नड	१२३	३४५२	,,
३१	पूर्वानुप्रेक्षा	बाहूबली	प्राकृत	१३	१०३	
२३८	प्रतिक्रमणत्रय	प्रभाचन्द्र	संस्कृत	११७	१०००	
३०२	प्रतिष्ठाकल्प	कुमुदचन्द्र	,,	६२	१६६२	प्रतिष्ठा
४००	प्रभंजनगुरुचरित्र	मंगरस	कन्नड	७२	१५१२	प्रथमानुयोग
६६८	प्रभंजनगुरुचरित्र (अपूर्ण)	यशोधर	संस्कृत	५	३२७	,,
४१८	प्रद्युम्नचरित्र	महासेन	,,	६४	१५१७	,,
७१३	प्रमाणनिर्णय	महासेन (?)	,,	२२	४०६	
७३१	प्रमाणपदार्थ (अपूर्ण)	समन्तभद्र	,,	४०	२०००	
१६६	प्रमाणमालातात्पर्य	चित्सुखमुनि	,,	६	७६० ?	
११०	प्रवचनपरीक्षा	मल्लिषेण	,,	६	३६१	
५६१	प्रवचनसारटीका	बालचन्द्र	कन्नड	८१	४१८	
३५३	प्रश्नोत्तरमालिका	विमलकवि	,,	३	३२	
१७५	बंधूपदेश	बालचन्द्र	संस्कृत	३	५०	
२८०	ब्रह्मसूरिसंहिता	ब्रह्मसूरि	,,	४८	१३२०	वैद्यक
३८०	व्याधिचिकित्सा	पूज्यपाद, नेमीचन्द्र, पद्मनंदी	,,	४३	११५०	चिकित्सा
४४८	भरतेश्वरपुराण		कन्नड	१००	२०००	
२६१	भव्यजनकंठरत्नाभरण	अभयचन्द्र	संस्कृत	३०	६००	
३८२	भावनापंचक	मुकुन्द	,,	.	३२००	
७०८	भावसंग्रह	कनकनंदी	प्राकृत	१७	४००० ?	करणानुयोग
४३७	भाषाभूषण	नागवर्मा	संस्कृत	५६	६००	व्याकरण
६००	भुजबलीकल्याण	पद्मनन्दी	,,	६	७५	
३०	मल्लिनाथपुराण	नागचन्द्र	,,	८६	३५४२	प्रथमानुयोग
१०६	महापुराणटिप्पण	गुणभद्र	,,	१७८	८५१०	,,
१६५	महाभिषेक	गुणभद्र	,,	४०	२०००	
४६६	मोक्षप्राभृत-टीका	बालचन्द्र	कन्नड	२०	६३०	द्रव्यानुयोग
६७५	यशोधरचरित्र	जानकी (?)	संस्कृत	१६	३८०	प्रथमानुयोग
२२५	यशोधरचरित्र	चन्दनवर्णी	कन्नड	१२२	३५००	,,
६८६	यशोधरचरित्र	प्रभंजन	संस्कृत	४	३६१	,,
२४१	यशोधरचरित्र-टीका	लक्ष्मण	,,	४२	१३२०	

भंडार नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	अनुमानिक श्लोक-संख्या	विषय
२६०	योगरत्नाकर	कवीन्दु (कविचन्द्र)	कन्नड	१०	५०३	
२०८	योगीन्द्रगाथा	प्रभाकर	प्राकृत	४१	५०७	
७१५	योगीन्द्रगाथा (हे)	देवेन्द्र	,,	८	२०५	
२०६	रत्नाकरशतक	हंसराज	कन्नड	१६	१२७	
५३	राघवपांडवीयंकाव्यं-टीका	अरलश्रेष्ठि	संस्कृत	१३४	२६००	
४३१	लिंगानुशासन (अपूर्ण)	समन्तभद्र	,,	४	२३०	
१४२	लोकलोचनालंकार (अपूर्ण)	अभिनवगुप्त	,,	५४	३५७०	
१७८	लोकस्वरूप	चन्द्रकवि	कन्नड	१२	१३६	
७०८	लोकस्वरूप	मेरुनंदि	प्राकृत	१२	...	
४७३	वर्धमानकाव्य	पद्मकवि	संस्कृत	१००	१७००	
६३०	वर्धमानपुराण	वाणिवल्लभ	कन्नड	६८	४३४३	
७३५	वर्धमानपुराण (अपूर्ण)	केशव	संस्कृत	७६	२५००	
२७	वास्तुशास्त्र (अपूर्ण)	सनत्कुमारमुनि	,,	१२	१३०	
७१५	विदग्धतार्किक	देवेन्द्र	,,	१८	१३००	
७४३	विद्यानुवादांग	हस्तिमल्ल	,,	६०	१०५०	मंत्रशास्त्र
५६	विंशतिप्ररूपणा	पद्मप्रभ	प्राकृत	५३	...	
६०४	वृषभनाथगद्य	हस्तिमल्ल	संस्कृत	....	....	
२३८	वृषभनाथगद्य	पुष्पसेन	,,	७	११०	
४५६	व्रतस्वरूप	विमल	,,	३	३२	
६७८	शब्दसम्पत्तिशास्त्र	नागवर्मा	,,	१२	४४७	
२६६	शब्दानुशासनं	मू० शाकटयन	,,	१७६	६०००	
७०३	शांतिनाथपुराण (अपूर्ण)	ब्रह्मदेव	,,	१३७	३४००	प्रथमानुयोग
६३०	शास्त्रसारसमुच्चय (अपूर्ण)	अग्गलकवि	कन्नड	१००	३३०६	
१६६	शीलगुणवर्णन (अपूर्ण)	माणिक्यदेव	...	१३	१११	
४५२	श्रावकाचार	विद्यानंदि	संस्कृत	१०८	१०२४	
१५८	श्रीपालचरित्र	केशवगण	कन्नड	४६	८१२	प्रथमानुयोग
२६	श्रीपुराण	हस्तिमल्ल	संस्कृत	२१	१०००	,,
५२१	श्रुतकीर्तिमुनिचरित्र	....	संस्कृत	४८	३५०	
४४३	शृंगारसुधाब्धि	मंगरस	संस्कृत	६०	१५८०	
२५४	षट्कारकाणि	विनश्वरनंदि	संस्कृत	५८	११७३	
३१५	षटदर्शनप्रमाण	शुभचन्द्र	संस्कृत	१४	२००	न्याय
३७१	सकलागमसार	....	,,	४८	१७४०	
२२८	सत्यशासनपरीक्षा	विद्यानंदि	,,	६६	२४७३	
६५८	समयपरीक्षा	ब्रह्मदेव	,,	५२	६०३	

भंडार नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	श्लोकसंख्या	विषय
३८३	समयसार	अमृतनंदि	संस्कृत	६	२०२	
७४१	समवशरणस्तोत्र	हस्तिमल्ल	,,	२	२३	
६	समाधिशतक	पद्मनंदि	,,	२	१००	
१६८	समाधि-टीका	पद्मरत्न	,,	१६	१५३०	
५६५	सरस्वतीस्मय	गौतमस्वामी	,,	३	५४	
७८०	सहजात्मप्रकाशिका	कनकचन्द्र	,,	५२	१३०	
४८०	सहजात्मप्रकाशिका	योगीन्द्र	,,	६८	६००	
४७२	सिद्धरसगद्य	शांतिकीर्ति	,,	८	१३	
६७२	सिद्धान्तसार	भावसेन	,,	२०	७००	
७२६	सिद्धान्तप्रकृति (अपूर्ण)	गौतम	,,	४२	१०००	
२८५	सिंहनायोपगमन	केशवगण	,,	१	१५	
३७१	सुवर्णभद्राचार्यचरित्र	कविपद्मनाभ	,,	२१	२६२	
२८१	स्याद्वादभूषण	अभयचन्द्र	,,	१३	१४१३	
६६३	स्वरूपसंबोधन-टीका	केशवसेन	,,	७	२०१	
३१	स्वरूपसंबोधनपंचविंशतिका	पद्मनन्दि	,,	४	६२५	

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

पंचायती मन्दिर सोनीपतके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची

सोनीपत जि० करनालके पंचायती मन्दिरमें जैनशास्त्रोंका एक अच्छा भण्डार है। हालमें बाबू माईदयालजी जैन बी० ए०, डिप्टीगंज, देहलीने अपने पांच दिन इस भण्डारको देखने और उसकी नई सूची बनानेमें खर्च किये हैं, जैसा कि उनके लेख 'जैनशास्त्रभण्डार सोनीपत में मेरे पांच दिन' शीर्षकसे प्रकट है, जो इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है। बाबू साहबने इस शास्त्रभंडारकी सूची तय्यार करके भेजने का जो परिश्रम उठाया है उसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूं। इसी तरह दूसरे विद्वान भी यदि थोड़ा थोड़ा परिश्रम उठाएँ तो बृहत् सूचीका काम बहुत कुछ सरल तथा प्रामाणिक हो सकता है। इस महत्वके काममें सभी विद्वानोंके योग देनेकी जरूरत है और उन्हें ऐसा करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये। अस्तु; बाबू साहबने जो सूची तय्यार करके भेजी है, उसमें ३७२ ग्रंथ हैं। इनमेंसे जिन ग्रन्थोंकी एकसे अधिक प्रतियाँ हैं उनका नोट सूची के कैफियत (विशेष विवरण) के खानेमें किया हुआ है। इससे हस्तलिखित ग्रंथोंकी संख्या प्रायः इतनी हो समझनी चाहिये। इस सूची परसे नीचे उन ग्रन्थोंकी ही सूची दी जाती है, जो अनेकान्तकी गत किरणोंमें अब तककी प्रकाशित सूचियोंमें नहीं आए हैं। बाबू साहबने यह भी सूचित किया है कि इस भण्डारके किसी ग्रंथकी यदि कोई कापी कराना चाहे तो कराई जा सकती है, यह बड़ी अच्छी बात है। सोनीपतके भाइयोंकी इस उदारतासे साहित्यप्रेमी जन यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। संपादक

वेष्टन नं०	ग्रंथ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचनासं०	लिपिसंवत्
१६	आदिपुराण	रायमल	हिन्दी	८०३		
६६	उत्तरपुराण	खुशालचंद्र	,,	२६३	१७६८	
१६७	कविप्रबन्ध	...	संस्कृत	११७		
१३३	कायबल चौपाई	गुणकीर्ति	,,	१६	१७६२	
३५६	चारुदत्तचरित्र	भारमल्ल	,,	—		
३२४	त्रैलोक्यसार	जवाहरलाल	,,	२३७		१६००
१३७	नेमिनाथपुराण	हेमचंद्र	,,	१३०		१७२३
२२	पद्मपुराण	रायमल	,,	५०६	१८२३	
८२	पंचास्तिकायटीका	पं० टोडरमल (?)	,,	१००	१८७६	
१६२	पार्श्वनाथचरित्र	भ० सकलकीर्ति	,,	१००		
२८८	प्रतिष्ठापाठ	प्रभाकरसेन	,,	११		१६६०
१२७	प्रद्युम्नचरित्र	जिनचंद्र	प्राकृत	८२		
६	प्राकृतकोष	...	,,	४८		
६४	प्राकृतव्याकरण	आचार्य श्रीचंद्र	,,	१३	१६५०	
१७४	भद्रबाहुचरित्र	किसनसिंह	हिन्दी	३०	१७८३	
३	भवनभाव	हरजसराय	,,	६		
११२	मित्रविलास	घीसामल	,,	३४		
१३४	मृगावती चौपाई	कर्मचंद्र	,,	२०	१६०५	
३०१	मृत्युमहोत्सव	अकलंक	संस्कृत	२०		१६१८
१५१	लघुसामायिक	भविराज	,,	३	१८६५	
४२	वर्द्धमानपुराण	नवलशाह	,,	१५०	१६२८	
१७०	बीसविहरमानपूजा	अमरचंद्र	,,	३१		१६२५
११५	श्रीपालचरित्र	रामदास	,,	११५		
१५६	सम्यक्त्वकौमुदी	कासीदास	,,	६४	१७२२	
२१३	सुकुमालचरित्र (जीर्ण)	आचार्य वीरनंदी	प्राकृत	५३		१६१५
१२०	सूत्रपंचर्या (?)	...	,,	११६		
८६	हरिवंशपुराण	पं० लखमीदास	हिन्दी	२०८	१८२६	

वीरसेवामन्दिर, सरसावा।

अनेकान्तके सहायक

अब तक जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुये, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन देकर उसकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं :—

२२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
१०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी, कलकत्ता।
१००) सेठ जोखीरामजी बैजनाथ जी सरावगी, कलकत्ता।
१००) साहू श्रेयाँसप्रसादजी जैन, लाहौर।
१००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
१००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैनपंचान, पानीपत
१००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
५१) रा०ब०बा० उलफतरायजी जैन रि०, इञ्जीनियर, मेरठ
५०) ला० दलीपसिंह कागज़ी और उनकी मार्फत, देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।
२५) ला० रूढ़ामलजी जैन शामियाने वाले सहारनपुर।
२५) बा० रघुबरदयालजी जैन एम०ए० करोलबाग, देहली।
२५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
२५) ला० बाबूराम अकलङ्कप्रसादजी जैन, तिस्सा जिला मुजफ्फरनगर।
२५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।
२५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
२५) बा० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
२५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन रि० अमीन, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

वीरसेवामन्दिरको फुटकर सहायता

'अनेकान्त' की किरण १-२ में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिर सरसावाको ५६) रु० की फुटकर सहायता निम्न सज्जनोंकी ओरसे प्राप्त हुई है, जिसके लिए दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं :—

२५) ला० कुन्थदासजी जैन, बाराबंकी (पिता श्री गुलाबरायजीके स्वर्गवासके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे)
२१) ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, दरियागंज, देहली।
५) बा० पन्नालालजी जैन अग्रवाल व ला० रतनलालजी जैन कपड़े वाले (पुत्र-पुत्रीके विवाहकी खुशीमें)।
५) ला० बाबूरामजी जैन, मालिक फर्म बाबूराम मूलचंद मोरगंज, सहारनपुर (लायब्रेरीमें कोई जैनग्रन्थ मँगानेके लिये) अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

'अनेकान्त' को सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको द्वितीयमार्गसे १७॥) रु० की जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्नप्रकार है और इसके लिए दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

१०) गुप्त सहायता, सदरबाज़ार देहलीके उन्हीं परोपकारी महानुभावकी ओरसे जो इससे पहले इसी मदमें ३६॥) की सहायता भेज चुके हैं और जिन्होंने अपना नाम पत्रमें प्रकट करनेसे मना किया है। (४ विद्वानोंको और 'अनेकान्त' फ्री भेजनेके लिए)।
७॥) ला० लक्ष्मीचन्दजी जैन सेठी, केकड़ी जि० अजमेर (पांच संस्थाओं तथा व्यक्तियोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक अर्धमूल्यमें देनेके लिये)।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

(पृष्ठ २०८ का शेष)

बनकर उनके स्वयं ज्ञानी बनें और समाजको ज्ञानी बनानेका सतत प्रयत्न करते रहें। मैं मानता हूं कि ये सब बातें मुंहसे कह देना आसान है, किन्तु करना कठिन है; क्योंकि इसके लिये दानियोंमें भी सुलझी हुई सदिच्छा होना आवश्यक है। जब तक उनकी समझमें यह बात भलीभाँति नहीं बैठ जाती जब तक ग्रन्थागार या ग्रन्थाध्यक्ष इस दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। निस्सन्देह दानियों की सदिच्छासे ही ऐसा साधक बुधजनोंका संग्रह हो सकता है, इसलिये उनका ध्यान तो इस ओर सबसे पहिले जाना चाहिये।"

Registered No. A- 731.

अनेकान्तके प्रेमी सज्जन

अनेकान्तसे प्रेम रखने वाले सज्जन सात प्रकारके हैं—

पहले प्रेमी वे—जो 'अनेकान्त' पत्रको प्रेमके साथ मँगाते हैं, पढ़ते हैं और दूसरोंको पढ़नेके लिये देते हैं; ये प्रेमी ग्राहक सज्जन हैं।

दूसरे प्रेमी वे—जो 'अनेकान्त' पत्रको स्वयं मँगाते ही नहीं किन्तु दूसरोंको मँगानेकी प्रेरणा करते हैं और उन्हें ग्राहक बनाते हैं तथा अनेकान्तके लेखोंका परिचय देते हैं; ये प्रेमी प्रचारक सज्जन हैं।

तीसरे प्रेमी वे—जो यह चाहते हैं कि 'अनेकान्त' पत्र बराबर चालू रहकर समाजकी ठोस सेवा करता रहे। सेवाके लिये उसे अधिकाधिक प्रोत्साहन मिले तथा घाटेके कारण उसके बन्द होनेकी नौबत न आवे, और इसलिये जो पच्चीस, पचास, सौ या सौसे अधिक रुपयोंकी एकमुश्त सहायता प्रदान करके उसके सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाते हैं; ये प्रेमी सहायक सज्जन हैं।

चौथे प्रेमी वे—जो 'अनेकान्त' की सेवाओंसे प्रसन्न होकर विवाह-शादी आदि दानके अवसरोंपर अनेकान्तका बराबर खयाल रखते हैं और उसे स्वयं सहायता भेजते तथा दूसरोंसे भिजवाते हैं, ये प्रेमी अनुसहायक सज्जन हैं।

पाँचवें प्रेमी वे—जो 'अनेकान्त' के लिये उपहार या पुरस्कारकी योजना करते हैं, उसके ग्राहकोंको उपयोगी ग्रन्थ उपहारमें देते-दिलाते हैं तथा लेखकोंको उत्तम लेखोंके लिखनेकी प्रेरणाके लिये पुरस्कार निकालते हैं, अनेकान्तमें प्रकाशित ऐसे लेखोंपर पुरस्कार देते हैं या उन्हें पुस्तकाकारमें अलग प्रकाशित करके वितरण करते हैं, और इस तरह अनेकान्तके प्रचारमें सहायक बनते हैं; ये प्रेमी प्रचार-सहायक सज्जन हैं।

छठे प्रेमी वे—जो 'अनेकान्तमें लिखना अधिक पसन्द करते हैं, उसके योग्य लेखोंके लिये बराबर परिश्रम करते हैं और अपने लेखोंसे उसे ऊँचा उठाना तथा समृद्ध बनाना जिन्हें सदा इष्ट रहता है; ये प्रेमी सुलेखक सज्जन हैं।

सातवें प्रेमी वे—जो 'अनेकान्त' के लेखोंसे प्रभावित होकर यह चाहते हैं कि अनेकान्त-साहित्यसे जो लाभ हम उठा रहे हैं उसे वे दूसरे विचारक लोग भी उठाएँ जो अनेकान्तसे बिल्कुल अपरिचित हैं, उसके मंगानेकी प्रेरणासे रहित हैं अथवा मँगानेके लिये थोड़े बहुत असमर्थ हैं, और इसलिये जो अपनी ओर से उन्हें अथवा जैन-जैनेतर संस्थाओंको अनेकान्त बिना मूल्य या अर्ध मूल्यमें भिजवाते हैं; ये प्रेमी परोपकारक सज्जन हैं। ऐसे परोपकारियोंके परोपकार-कार्यमें अनेकान्त-कार्यालय भी कुछ हाथ बँटाता है, अर्थात वे चारको यदि अनेकान्त बिना मूल्य भिजवाना चाहते हैं तो उनसे १२) रु०के स्थानपर १०) रु० ही लेता है।

अनेकान्तके ऐसे—सभी प्रेमियोंके बढ़नेकी इस समय नितान्त आवश्यकता है, जिससे अनेकान्त पत्रको इच्छानुसार ऊँचा उठाया जासके और इसके जिस साहित्यके सृजनमें इतना अधिक परिश्रम किया जाता है वह लोकमें अधिकाधिकरूपसे प्रचार पासके—जनता उससे समुचित लाभ उठासके।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ज़ि० सहारनपुर।

प्रकाशक, मुद्रक पं० परमानंद शास्त्री वीरसेवामंदिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलालद्वारा श्रीवास्तवप्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

१—२५), ५०) १००) या इससे अधिक रक़म देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना

२—अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओं को अनेकान्त फ्री बिना मूल्य या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

३—उत्सव-विवाहादि दानके अवसरोंपर अनेकान्तका बराबर ख़याल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रंथोंकी योजनाकर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी देसके। स्वतः अपनी ओरसे उपहार ग्रंथोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

४—अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे २ लेख लिख कर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना, कराना।—'व्यवस्थापक अनेकान्त'

प्रार्थनाएँ

"अनेकान्त" किसी स्वार्थ-बुद्धिसे प्रेरित होकर अथवा आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकला जाता है, किन्तु वीरसेवामन्दिरके महान् उद्देश्योंको सफल बनाते हुए लोक हितकी साधना तथा सच्ची सेवा बजाना ही इस पत्रका एक मात्र ध्येय है। अतः सभी सज्जनों को इसकी उन्नति में सहायक होना चाहिये। सहायताके चार मार्गोंपर खास तौर से ध्यान देना चाहिए।

जिन सज्जनों को अनेकान्तके जो लेख पसन्द आएँ, उन्हें चाहिये कि वे जितने भी अधिक भाइयोंको उनका परिचय करासकें ज़रूर कराएँ।

यदि कोई लेख अथवा लेखका अंश ठीक मालूम न हो, अथवा धर्मविरुद्ध दिखाई दे, तो महज़ उसीकी वजह से किसीको लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव न धारण करना चाहिये, किन्तु अनेकान्त-नीतिकी उदारतासे काम लेना चाहिये और हो सके तो युक्त-पुरस्सर संयतभाषामें लेखक को उसकी भूल सुझानी चाहिये।

"अनेकान्त" की नीति और उद्देश्यके अनुसार लेख लिखकर भेजनेके लिये देश तथा समाजके सभी सुलेखकों को आमन्त्रण है।

"अनेकान्त" को भेजे जाने वाले लेखादिक काग़ज़की एक ओर हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होने चाहियें। लेखोंको घटाने, बढ़ाने, प्रकाशित करने न करने, लौटाने न लौटानेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख वापिस मँगानेके लिये पोस्टेज ख़र्च भेजना आवश्यक है। लेख निम्न पतेसे भेजने चाहियें :—

सम्पादक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ज़ि० सहारनपुर

अनेकान्तका मूल्य—वार्षिक ३) छह मासका २) एक किरणका ।=) आना

वर्ष ५ किरण ६-७ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर | जुलाई-अगस्त
आषाढ-श्रावण वीरनिर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९९ | १९४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[६]

श्रीपद्मप्रभ-जिन-स्तोत्र

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयाऽऽलिंगितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥ १ ॥

'पद्म-पत्रके समान द्रव्यलेश्याके—रक्तवर्णाभ-शरीरके—धारक (और इसलिये अन्वर्थसंज्ञक) हे पद्मप्रभजिन! आपकी (आत्मस्वरूप तथा शरीररूप) सुन्दरमूर्ति पद्मालया—लक्ष्मीसे आलिंगित रही है—आत्मस्वरूप मूर्तिका अनन्तज्ञानादि-लक्ष्मी ने तथा शरीररूपमूर्तिका निःस्वेदतादि-लक्ष्मीने दृढ आलिंगन किया है, और इस तरह आपकी उभय प्रकारकी मूर्ति उभय प्रकारकी लक्ष्मीके—शोभाके—साथ तन्मयताको प्राप्त हुई है। और आप भव्यरूप कमलों-को विकसित करनेके लिये—उनका आत्मविकास सिद्ध करनेके लिये—उसी तरह भासमान हुए हैं जिस तरह कि पद्मबन्धु—सूर्य पद्माकरोंका—कमलसमूहोंका—विकास करता हुआ सुशोभित होता है।'

बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मी-ज्वलितां विमुक्तः ॥ २ ॥

'आपने प्रतिमुक्ति-लक्ष्मीकी प्राप्तिके पूर्व—अर्हन्त अवस्थासे पहले—लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको धारण किया है—उस समय गृहस्थावस्थामें आप यथेच्छ धन-सम्पत्तिके स्वामी थे, आपके यहां लक्ष्मीके अटूट भण्डार भरेथे, साथ ही अवधि-ज्ञानादि-लक्ष्मीसे भी विभूषितथे और सरस्वती आपके कण्ठमें स्थित थी। बादको विमुक्त होने पर—जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्थाको प्राप्त करने पर-आपने उस पूर्णशोभा वाली सरस्वतीको–दिव्य वाणीको–ही धारण किया है जो सर्वज्ञ-लक्ष्मीसे प्रदीप्त थी—उस समय आपके पास दिव्यवाणीरूप सरस्वतीकी ही प्रधानता थी, जिसके-द्वारा जगतके जीवोंको उनके कल्याणका मार्ग सुझाया गया है।'

शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते बालार्क-रश्मिच्छविरालिलेप ।
नराऽमराऽऽकीर्ण-सभां प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥ ३ ॥

'हे प्रभो ! प्रातःकालीन सूर्य-किरणोंकी छविके समान—रक्तवर्ण आभाको लिये हुए आपके शरीरकी किरणोंके प्रसार (फैलाव) ने मनुष्यों तथा देवताओंसे भरी हुई समवसरण-सभाको इस तरह आलिप्त (व्याप्त) किया है जिस तरह कि पद्माभमणि-पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है।'

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥ ४ ॥

'(हे पद्मप्रभ जिन !) आपने कामदेवके दर्प (मद) को चूर चूर किया है और सहस्रदल कमलोंके मध्यभाग पर चलने वाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा नभस्तलको पल्लवोंसे व्याप्त-जैसा करते हुए, प्रजाकी विभूति के लिये—उसमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—भूतल पर विहार किया है।'

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाऽऽखंडलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुताऽतिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥ ५ ॥

'हे ऋषिवर ! आप अज हैं—पुनर्जन्मसे रहित हैं—, आपके गुणसमुद्रके लवमात्रकी भी स्तुति करनेके लिये जब इन्द्र पहले ही समर्थ नहीं हुआ है, तो फिर अब मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है ? यह आपके प्रति मेरी अति भक्ति ही है जो मुझ बालकसे—स्तुति-विषयमें अनभिज्ञसे—इस प्रकारका यह स्तवन कराती है।'

[७]

सुपार्श्व-जिन-स्तोत्र

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥ १ ॥

'यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—विभाव-परिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादि स्वात्म-स्वरूपमें अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषों का—जीवात्माओंका—स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषय-सुखका अनुभव—स्वार्थ नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुःखकी—शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ-अस्वार्थका स्वरूप शोभन पार्श्वों-शरीरांगोंके धारक (और इसलिये अन्वर्थ-संज्ञक) भगवान सुपार्श्वने बतलाया है।'

अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥ २ ॥

'जिस प्रकार अजंगम (जड़) यंत्र स्वयं अपने कार्यमें प्रवृत्त न होकर जंगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर अजंगम है—बुद्धिपूर्वक परिस्पन्द-व्यापार से रहित है—और एक यंत्र-की तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है। साथ ही, बीभत्सु है—घृणात्मक है, पूति है—दुर्गन्धि-युक्त है,—क्षयि है—नाशवान है—और तापक है—आत्माके दुःखोंका कारण है। इस प्रकारके शरीरमें स्नेह रखना—अतिअनुराग बढ़ाना—वृथा है—उसमें कुछ भी आत्मकल्याण नहीं सध सकता—,यह हितकी बात हे सुपार्श्वजिन ! आपने बतलाई है।'

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाऽऽविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥ ३ ॥

'आपने यह भी ठीक कहा है कि हेतुद्वयके—अन्तरंग और बाह्य अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणों-के—अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लक्षण है ऐसी यह भवितव्यता (जो हितका समुचित एवं समर्थ उपदेश मिलने पर भी किसी की हित में प्रवृत्ति नहीं होने देती) अलंघ्यशक्ति है—किसी तरह भी टाली नहीं टलती। अहंकारसे पीडित हुआ भवितव्यतानिरपेक्ष संसारी प्राणी (यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादि) अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादिक कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता।'

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वांछति नाऽस्य लाभः।
तथाऽपि बालो भय-काम-वश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥ ४ ॥

आपने यह भी बतलाया है कि—यह संसारी प्राणि मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंघ्यशक्ति भवितव्यतावश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण अथवा निर्वाण चाहता है परन्तु (भावीकी उसी अलंघ्यशक्तिवश) उसका लाभ नहीं होता। फिर भी यह मूढ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्तायमान होता है। डरने तथा इच्छा करने मात्रसे बनता तो कुछ भी नहीं, उलटा दुःख-संताप उठाना पड़ता है।'

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयाऽपि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ॥ ५ ॥

'(हे सुपार्श्वजिन !) आप सम्पूर्ण तत्त्वसमूहके—जीवादि विश्व तत्त्वोंके—प्रमाता हैं—संशयादि रहित ज्ञाता हैं, माता जिस प्रकार बालकको हितकी–उसके भलेकी–शिक्षा देती है उसी प्रकार आप हेयोपादेयके ज्ञानसे रहित बालक-तुल्य जनसमूहको हितका—निःश्रेयस (मोक्ष) तथा उसके कारण सम्यग्दर्शनादिका—उपदेश देने वाले हैं, और जो गुणावलोकीजन है—गुणोंकी तलाशमें रहने वाला भव्यजीव है—उसके आप नेता हैं—स्वयं बाधक कारणोंको हटाकर आत्मीय अनन्तदर्शनादि गुणोंको प्राप्त करलेनेके कारण उसे उन गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग दिखाने वाले हैं। इसीसे मैं भी इस समय भक्ति पूर्वक आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूं—मेरे भी आप नेता हैं, मुझे भी आपके सनुशासनके प्रतापसे आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग सूझ पड़ा है।'

[८]

श्रीचन्द्रप्रभ-जिन-स्तोत्र

चंद्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्त-कषाय-बन्धम् ॥१॥

'मैं उन श्रीचन्द्रप्रभ-जिनको वन्दना करता हूँ, जो चन्द्रकिरण-सम-गौरवर्णसे युक्त जगतमें द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान् (और इस लिये 'चन्द्रप्रभ' इस सार्थक संज्ञाके धारक) हुए हैं, जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीता है—सम्पूर्ण क्रोधादिकषायोंका नाशकर अकषायपद एवं जिनपद प्राप्त किया है—और (इसी लिये) जो ऋद्धिधारी मुनियों—गणधारिकोंके स्वामी तथा महात्माओंके द्वारा बन्दनीय हुए हैं।'

> यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेष-भिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।
> ननाश बाह्यं बहु मानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥ २ ॥

'जिनके शरीरके दिव्यप्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे—परम शुक्लध्यानके तेज द्वारा—प्रचुर मानस अन्धकार—ज्ञानावरणादि कर्मजन्य आत्माका समस्त अज्ञानान्धकार उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ *जिस प्रकार कि सूर्यकी किरणोंसे (लोकमें फैला हुआ) अन्धकार भिन्न-विदीर्ण होकर नष्ट हो जाता है।'*

> स्वपक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।
> प्रवादिनो यस्य मदार्द्र गण्डा गजा यथा केशरिणो निनादैः ॥ ३ ॥

'जिनके प्रवचनरूप सिंहनादोंको सुनकर अपने मत-पक्षकी सुस्थितिका घमण्ड रखने वाले—उसे ही निर्बाध एवं अकाट्य समझकर मदोन्मत्त हुए—प्रवादिजन (परवादी) उसी प्रकारसे निर्मद हुए हैं जिस प्रकार कि मदझरते हुए मस्त हाथी केसरीसिंहकी गर्जनाओंको सुनकर निर्मद हो जाते हैं।'

> यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाऽद्भुतकर्मतेजाः।
> अनन्तधामाऽक्षर-विश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥ ४ ॥

'जो अद्भुत कर्मतेज थे—अपने योगबलसे जिन्होंने पर्वत-समान कठोर कर्म पटलोंका छेदनकर सदाके लिए अपने आत्मासे उनका सम्बन्ध विच्छेद किया था अथवा शुक्लध्यानाग्निके द्वारा उन्हें भस्मीभूत किया था—,(ऐसा करके) अनन्त तेजरूप अविनश्वर विश्वचक्षुको जिन्होंने प्राप्त किया था—केवलज्ञान-केवलदर्शनके द्वारा जो विश्व तत्त्वोंके ज्ञाता-द्रष्टा थे,—और जो सब ओरसे दुःखोंके पूर्णक्षयरूप मोक्षके शास्ता—उपदेष्टा थे—जगतको जिन्होंने मोक्षमार्ग का यथार्थ उपदेश दिया था, और इस तरह (इन्हीं गुणोंके कारण) जो सम्पूर्ण लोकमें—त्रिभुनमें—परमेष्ठिताके—परमआप्तताके—पदको प्राप्त हुए थे।'

> स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाऽभ्र-कलंक-लेपः।
> व्याकोश-वाङ्न्याय-मयूख-मालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥ ५ ॥
> —स्वयम्भूस्तोत्र

'वे दोषा = रात्रि, अभ्र = मेघ और कलंक = मृगछालादिके लेपसे रहित अथवा रागादिक दोषरूप अभ्र-कलंकके आवरणसे वर्जित और सुस्पष्ट वचनोंके प्रणयनरूप—स्याद्वादन्यायरूप-किरणमालासे युक्त, भव्य-कुमुदनियोंके लिए चन्द्रमा, ऐसे पवित्र भगवान् श्रीचन्द्रप्रभजिन मेरे मनको पवित्र करो—उनके वन्दन कीर्तन, पूजन, भजन, स्मरण और अनुसरणरूप सम्यक् आराधनसे मेरा मन पवित्र होवे।'

तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया)

आचार्य उमास्वाति या उमास्वामीका 'तत्त्वार्थसूत्र' अखिल जैनसमाजका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, तत्त्वार्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। इस सूत्रग्रन्थकी आदिमें मूलकारका कोई मंगलाचरण है या कि नहीं, और यदि है तो वह कौनसा पद-वाक्य है, यह बात अर्सेसे विवादापन्न चली आती है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि इस ग्रन्थके शुरूमें—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रथमसूत्रसे पहिले—आप्तस्तुति आदिके रूपमें—कोई मंगलाचरण नहीं है, परन्तु दूसरे विद्वानोंका यह स्पष्ट मत है कि इस ग्रन्थकी आदिमें मंगलाचरण-पद्य ज़रूर है और वह निम्न प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥१॥

जिन विद्वानोंकी यह मान्यता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें कोई मंगलाचरण नहीं है वे इस मंगल-पद्यको तत्त्वार्थसूत्रकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' का बतलाते हैं, जो श्रीपूज्यपाद-रचित है; क्योंकि सर्वार्थसिद्धिके शुरूमें भी यह मंगलश्लोक बिना किसी टीका-टिप्पणके पाया जाता है। इस मतको पुष्ट करनेके लिये हालमें एक लेख श्रीमान् न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी शास्त्री काशीका, जैनसिद्धान्तभास्कर में, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस शीर्षकके साथ प्रकट हुआ है और वह मैसूर राज्यके ग्रास्थान विद्वान् पं० शान्तिराजजी शास्त्रीके 'जैनबोधक' में प्रकाशित 'किमयं तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थस्य मंगलश्लोकः' इस शीर्षक संस्कृतलेखको लक्ष्य करके लिखा गया गया है; जैसा कि लेखके आदि-अन्तमें दिये हुए दोनों फुटनोटोंसे प्रकट है। अस्तु; पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने अपने लेखमें जो युक्तियाँ दी हैं उनमें कितना बल है, वे उनके अभिमतको सिद्ध करनेके लिये समर्थ हैं या कि नहीं और उक्त मंगल-पद्य वास्तवमें उमास्वातिकृत है, या पूज्यपादकृत, इन सब बातोंको स्पष्ट करके बतला देना ही आजके मेरे इस लेखका विषय है।

शास्त्रीजीके निर्णयका मुख्य आधार और उसकी जाँच

पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने, जिन्हें इस लेखमें आगे 'शास्त्री' पदसे उल्लेखित किया जायगा, अपने निर्णयका मुख्य आधार विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षाके 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः' इत्यादि पद्य और अष्टसहस्रीके 'शास्त्रावतार रचित-स्तुति-गोचराप्तमीमांसितं' इत्यादि मंगलश्लोकपर रक्खा है। इसीसे आप अपने लेखके शुरूमें ही इन पद्योंका उल्लेख करते हुए लिखते हैं :—

"यह (उपर्युक्त) श्लोक सर्वार्थसिद्धिके मङ्गलश्लोकके रूपमें उपलब्ध है। आचार्य विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षा इसी श्लोकमें वर्णित आप्तस्वरूपके परीक्षणके लिये बनाई है। आप्तपरीक्षाके अन्तमें स्वयं लिखते हैं :—

श्रीमत्तत्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्॥
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्।
विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥

अर्थात्—जो रत्नोंके उद्भवका स्थान है, उस अद्भुत समुद्रके समान तत्त्वार्थशास्त्रके प्रोत्थानारम्भकाल—उत्पत्ति का निमित्त बताते समय या प्रोत्थान-भूमिका बाँधनेके प्रारम्भकालमें शास्त्रकारने जो स्तोत्र रचा और जिस स्तोत्रमें वर्णित आप्तकी स्वामी (समन्तभद्राचार्य) ने मीमांसा की, उसकी मैं यथाशक्ति परीक्षा कर रहा हूँ।

अष्टसहस्रीके मङ्गलश्लोकमें भी आचार्य विद्यानन्द यही बात लिखते हैं :—

'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-
मीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयाऽस्य'।

अर्थात् शास्त्र—तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार-अवतरणिका-भूमिकाके समय रची गई स्तुतिमें वर्णित आप्तकी मीमांसा करने वाले आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थका व्याख्यान किया

जाता है। यहाँ 'शास्त्रावतार' शब्द आप्तपरीक्षाके 'प्रोत्थानारम्भकाल' का समानार्थक है। विद्यानन्दके इन उल्लेखोंमे निम्नलिखित बातोंका स्पष्ट सूचन होता है—

१—आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोकमें वर्णित आप्तकी परीक्षाके लिये लिखे जारहे हैं।

२—इसी श्लोकमें वर्णित आप्तकी मीमांसा स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपनी आप्त मीमांसामें की है।

३—यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताते समय या उसकी अवतरणिका-भूमिका बांधते समय शास्त्रकारने बनाया है।

तीसरी बात से यह स्पष्ट होजाता है कि जिस शास्त्रकार ने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताया या उसकी उत्थानिका-भूमिका या अवतरणिका बांधी, उसी शास्त्रकार ने उस भूमिकाके प्रारम्भमें इस मङ्गलमय-स्तोत्रको रचा है। यहां यदि यह तत्त्वार्थ शास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र है, तो उसकी उत्पत्तिका निमित्त बताने वाले या भूमिका-अवतरणिका बाँधने वाले आचार्य पूज्यपाद हैं। इन्होंने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें ही तत्त्वार्थसूत्रका निमित्त बताया है और उसी भूमिकाके प्रारम्भमें इस जैनवाङ्मयके अमर रत्नरूप मङ्गल-श्लोकको रचा है।

इस तरह विद्यानन्दके उक्त उल्लेख हमे इस स्पष्ट परिणामपर पहुचा देते हैं कि उक्त मङ्गलश्लोक आचार्य पूज्यपादके द्वारा तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिकाको बाधते समय सर्वार्थसिद्धिके मंगलरूपमें रचा गया है।

वस्तुतः यह मंगलश्लोक आचार्य पूज्यपादने ही बनाया है।"

शास्त्रीजीने श्रीविद्यानन्दाचार्यके उक्त दोनों उल्लेखोंपर से स्पष्ट सूचनको जो तीसरी बात कही है और उसका पुन. स्पष्टीकरण करते हुए जो निष्कर्ष निकाला है उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है और यह जान पड़ता है कि शास्त्रीजीने उक्त मंगलश्लोकके सम्बन्धमें आचार्य विद्यानन्दके अभिमत को ठीक तौरसे समझनेके लिये पूरा प्रयत्न नहीं किया—न तो उन्होंने उक्त दोनों पद्यो के अर्थपर गंभीरताके साथ गहरा विचार किया है और न उन्हे विद्यानन्दके दूसरे वाक्योंकी स्पष्ट रोशनीमें ही पढ़ा है। और इस लिये वे अपनी किसी गलत धारणाके वश उक्त पद्योंमें प्रयुक्त हुए 'प्रोत्थानारम्भकाले' और 'शास्त्रावताररचितस्तुति' जैसे पदोंका गलत अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। 'शास्त्रावतार-रचितस्तुति' का सीधा और सरल अर्थ होता है—'शास्त्रके अवतार=रचनारम्भके समय रची गई स्तुति'—अर्थात तत्त्वार्थ शास्त्र (सूत्र) की आदिमें रचा गया वह मंगल स्तोत्र जिसके विषयभूत आप्तकी स्वामी समन्तभद्रने मीमांसा की है और जिस आप्त मीमांसाकी अलंकृत रूपसे अष्टसहस्री टीका लिखनेकी विद्यानन्द आचार्य अपने उक्त वाक्यमें प्रतिज्ञा कर रहे हैं। स्वयं विद्यानन्दके निम्नवाक्यसे भी इसकी पुष्टि होती है, जो उनकी आप्तपरीक्षाका समाप्तिसूचक अन्तिम पद्य है और जिसमें 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ'—तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें—इस पदके प्रयोगद्वारा उक्त 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' मंगल-श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण सूचित किया गया है—

इति तत्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥ १२४ ॥

ऐसी हालतमें विद्यानन्दके 'शास्त्रादौ' और 'शास्त्रा-वतार' शब्दोंका जो वाच्य 'तत्वार्थसूत्रका प्रारम्भ' है वही वाच्य उनके उस 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदका भी है, जो आप्तपरीक्षाके उक्त अन्तिम पद्यसे ठीक पूर्ववर्ती पद्य 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र' में पाया जाता है। प्रथसंदर्भको देखते हुए दूसरा कोई भी भिन्न अर्थ उसका नहीं हो सकता। 'उत्थान' शब्दका अर्थ उद्यम (यत्न) और उद्गम (उत्पत्ति) भी है*। इन दोनोंमेंसे कोई सा भी अर्थ लेने पर 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थकी संगति 'शास्त्रावतार' और 'शास्त्रादौ' जैसे पदोंके अर्थके साथ ठीक बैठ जाती है,

* जैसाकि निम्न कोषवाक्योंसे प्रकट है:—
(१) उत्थानमुद्गमे तंत्रे उद्युक्ते हर्षेण रणे" (विश्वलोचन)
(२) उत्थानं उद्यमे तंत्रे पौरुषे पुस्तके रणे।
प्राङ्गणोद्गमदर्पेषु"" (मेदिनी)
(३) उत्थानं पौरुषे तंत्रे संनिविष्टोद्गमेऽपि च। (अमर)
(४) Rise, origin, effort, activity (V. S. Apte)

और वह तत्वार्थसूत्रकी रचनाके प्रयत्नारम्भ समयको अथवा उसकी उत्पत्तिके आरम्भकालको सूचित करने लगता है। परन्तु शास्त्रीजीने 'प्रोत्थान' का अर्थ जो 'शास्त्र की उत्पत्तिका निमित्त बतलाना' तथा 'भूमिका बांधना' किया है उसकी उपलब्धि कहींसे भी नहीं होती, और इसलिये वह उनकी निजी कल्पना ही जान पड़ती है। इसी कल्पनाको लेकर शास्त्रीजीने 'शास्त्रावतार' का अर्थ "तत्वार्थशास्त्रके अवतार–अवतरणिका–भूमिकाके समय" ऐसा किया है और लेखके पिछले हिस्सेमें आप्तपरीक्षाके अन्तिम श्लोकको उद्धृत करके उसमें आए हुए 'तत्वार्थ-शास्त्राद।' पदके विषयमें यह अनुरोध किया है कि उसका अर्थ भी 'तत्वार्थशास्त्रकी भूमिका के प्रारम्भमें' यही करना चाहिये। साथ ही उस 'भूमिका' को वह भूमिका बतलाया है जो श्रीपूज्यपादाचार्यकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके शुरूमें पाई जाती है। यह सब कथन आपका आ० विद्यानन्दके उक्त प्रयोके साथ कुछ भी संगत मालूम नहीं होता। एक विलक्षण बात आपने और भी कही है और वह यह कि 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदका जो अर्थ उन्होंने 'तत्वार्थ-सूत्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाने वाली सर्वार्थसिद्धिकी भूमिका' सुझाया है उसी अर्थमें उक्त 'तत्वार्थशास्त्रादौ' पद प्रयुक्त हुआ है।' इसप यदि कोई कहे कि उक्त पद की शब्दरचनापरसे तो ऐसा आशय नहीं झलकता, प्रत्युत इसके 'तत्वार्थसूत्रकी आदिमें' ऐसा आशय स्पष्ट झलक रहा है, तो ऐसे प्रश्नकर्ताकी बातको हृदयमें धारण करके शास्त्रीजी लिखते हैं—" ३२ अक्षर वाले इस छोटेसे श्लोकमें अधिककी गुञ्जाइश ही नहीं है।" इस पर शास्त्रीजीसे सहज हीमें यह पूछा जा सकता है कि 'अधिक की गुञ्जाइश नहीं' इसका क्या मतलब ? क्या विद्यानन्द आचार्यको अपना अन्तिम वक्तव्य उस ३२ अक्षर वाले अनुष्टुप् छन्दमें देनेके लिये कोई मजबूरी थी, जिसमें वे अपने आशयको पूरी तौर पर व्यक्त भी न कर सकें ? यदि नहीं तो फिर आचार्य महोदयका यदि वैसा आशय था तो क्या वे उसे व्यक्त करनेके लिये दूसरे अधिक अक्षरोंवाले बड़े छंद का प्रयोग नहीं कर सकते थे ? कर सकते थे तो 'अधिक की गुंजाइश नहीं' ऐसी स्थिति पैदा ही नहीं होती और न ऐसा कहने में किसी औचित्यकी गुंजाइश ही रह जाती है। दूसरे, ३२ अक्षरोंके उक्त अनुष्टुप् छंदमें भी उक्त भावको व्यक्त करनेके लिए काफी गुंजाइश थी—वे अधिक नहीं तो 'तत्वार्थशास्त्रादौ' पदके स्थान पर 'तत्वार्थवृत्त्यादौ' पद बनाकर ही उसे व्यक्त कर सकते थे, क्योंकि सर्वार्थसिद्धिको 'तत्वार्थवृत्ति' भी कहते हैं और यह बात उसके अन्तके पद्योंसे भी जानी जाती है*। परन्तु श्रीविद्यानन्द आचार्य को शास्त्रीजीका उक्त आशय अभिप्रेत नहीं था, जैसा कि आगे चलकर और भी स्पष्ट किया जायगा, और इसी लिए उन्होंने अपने अभिप्रेता-नुसार 'तत्वार्थशास्त्रादौ' पदका सम्यक प्रयोग किया है जो उनके 'प्रोत्थानारम्भकाले' जैसे दूसरे पदों पर भी अच्छा प्रकाश डालता है। अतः शास्त्रीजीके उक्त सुझाव और तर्कमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता, वह व्यर्थकी खींचातानी पर अवलम्बित जान पड़ता है और श्रीविद्यानंद-के उन तीनों पद्यों परसे किसी तरह भी फलित नहीं होता, जिन्हें शास्त्रीजीने अपने लेखमें प्रमाणवाक्यके तौरपर उद्धृत किया है।

आचार्य विद्यानन्दका अभिमत

अब मैं श्रीविद्यानन्दाचार्यके कुछ दूसरे वाक्योंद्वारा इतना और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि वे तत्त्वार्थ-सूत्रकी आदिमें मंगलाचरण मानते थे और वह मंगलाचरण उनकी दृष्टिमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि श्लोकके सिवाय और दूसरा कुछ नहीं था—

(१) शास्त्रकी आदिमें परमेष्ठिके गुणस्तोत्ररूप आध्यानकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए श्रीविद्या-नन्दाचार्य अपने श्लोकवार्तिक-व्याख्यानके शुरूमें ही (पृ० २ पर) लिखते हैं —

"कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं तस्य श्लोकवार्तिकं वा तद्-व्याख्यानं वा येन तदारंभे परमेष्ठिनामाध्यानं विधी-यते इति चेत् तल्लक्षणयोगत्वात्। तच्च तत्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः। प्रसिद्धे च

* सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा,
तत्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥ १ ॥
तत्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्वाः,
शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या ॥ २ ॥

तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात्......तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम् ।......तदारंभे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम् ।"

यहां यह शंका उठाई गई है कि 'तत्त्वार्थसूत्रके तत्त्वार्थसूत्रको श्लोकरूपमें वार्तिकको तथा वार्तिकके व्याख्यानको शास्त्रत्व कैसे प्राप्त है, जिससे उनके आरंभमें परमेष्ठिके आध्यानका विधान किया जाता है?' फिर इस शंकाका समाधान करते हुए लिखा है कि 'शास्त्रका लक्षण पाये जानेसे ये सब शास्त्र हैं। शास्त्रका अमुक लक्षण है और वह दशाध्यायरूप तत्त्वार्थसूत्रके साथ घटित होता है, इसलिये तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र है।... तत्त्वार्थसूत्रके शास्त्र सिद्ध होने पर उसके वार्तिकके शास्त्रपना सिद्ध ही है क्योंकि वह तत्त्वार्थसूत्रका अर्थ है।.. और इसी तरह वार्तिकके व्याख्यानको भी शास्त्र कहा गया है। अतः—शास्त्र होनेसे—उनके आरम्भमें परापर-गुरुप्रवाहका आध्यान युक्त है।'

इससे स्पष्ट है कि यदि दशाध्यायरूप प्रकृत तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भ में मंगलाचरण न किया गया होता तो विद्यानन्द उसके आरम्भमें (तदारम्भे) मंगलके किये जानेका उल्लेख न करते और न तत्त्वार्थके मंगल तथा शास्त्रत्वके आधार पर अपने द्वारा श्लोकवार्तिकमें किये गये मंगलकी पुष्टि करते। अतः तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरण ज़रूर किया गया है।

(२) अब वह मंगलाचरण कौनसा है? इसकी पर्यालोचना करते हुए विद्यानन्दके श्लोकवार्तिकान्तर्गत निम्न उल्लेखोंसे भी यह जाना जाता है कि वह मंगलाचरण 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोक ही है—

> प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
> सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥ २॥
> सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।
> श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥३॥
>
> —श्लोकवार्तिक पृ० ४

यहां विद्यानन्दने, तत्त्वार्थशास्त्र (सूत्र)के आदिमें सूत्रकी उपपत्ति बतलाते हुए* मुनीन्द्र (उमास्वति) के द्वारा संस्तुत आप्तके लिये उन्हीं तीन विशेषणोंका उल्लेख किया है जिनका उल्लेख 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगलश्लोकमें किया गया है। 'मुनीन्द्र' से विद्यानन्दका अभिप्राय 'उमास्वाति' से ही है, जिन्हें आगे भी 'इतियुक्तं मुनीन्द्राणामादिसूत्रप्रवर्तनम्' (वा० २४८) जैसे वाक्योंके द्वारा आदिम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' का प्रवर्तक लिखा है। और यह बात श्लोकवार्तिकके पूर्वापर-सम्बन्धको मिलानेसे विचारशील पाठकोंको भले प्रकार अवगत हो सकती है। पूज्यपाद आचार्यको उक्त सूत्रका प्रवर्तक नहीं कहा जासकता—वे उसके मात्र व्याख्याकार अथवा वृत्तिकार थे।

(३) विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीके निम्न वाक्योंसे भी इसकी पुष्टि होती है, जिनमें उस शास्त्रको निःश्रेयसशास्त्र (मोक्षशास्त्र) बतलाते हुए उसकी आदिमें स्तुत आप्तके लिये उन्हीं विशेषणोंका उसी क्रमसे और भी स्पष्ट उल्लेख किया है जिनका जिस क्रमसे उल्लेख उक्त मंगलश्लोकमें पाया जाता है—

(क) "तदेतेदं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ-विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसा विदधानाः" स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः ।" (पृष्ठ ३)

(ख) "शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया, कर्मभूभृद्भेतृतया, विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता ।"

(पृष्ठ २९४)

(४) श्रीविद्यानन्दके आप्तपरीक्षागत वाक्योंसे इस विषयकी और भी अधिक पुष्टि होती है। यथा:—

> श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।
> इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥२॥

इसमें 'मोक्षमार्गकी संसिद्धि परमेष्ठिके प्रसादसे होती है इस लिए 'मुनिपुङ्गव' शास्त्रकी आदिमें उनके गुणोंका स्तोत्र करते हैं' यह बतलाया गया है। और 'मुनिपुङ्गव' पदके लिए स्वोपज्ञ टीकामें 'सूत्रकारादयः' पदका प्रयोग करके यह स्पष्ट किया गया गया है कि मुनिपुङ्गव' शब्दका

---

* ननु च तत्वार्थशास्त्रस्यादसूत्रं तावदनुपपन्नं... ।

वाक्य यहाँपर प्रधानतः 'सूत्रकार' है और ये सूत्रकार तत्त्वार्थ-सूत्रके कर्ता वे ही उमास्वाति आचार्य हैं जिनके सूत्रवाक्यको इसी द्वितीयश्लोककी टीकामें "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रेभ्यो भवतीति सूत्रकारमतम्' वाक्यके साथ उद्धृत किया है। और आगे भी 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः इति सूत्रकारवचनात (पृ०६०) जैसे वाक्योंके साथ उद्धृत किया है। श्लोकवार्तिकादिमें भी सूत्रकारनाम-से सूत्रवाक्यों अथवा सूत्रकारके मतका उल्लेख पाया जाता है*।

उक्त श्लोकके अनन्तर ही आप्तपरीक्षामें परमेष्ठिका जो गुणस्तोत्र उद्धृत किया है और जिसे टीकामें प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा शास्त्रकी (तत्त्वार्थसूत्रकी) आदिमें सूत्रकार (उमास्वाति) द्वारा कहा हुआ बतलाया है तथा जिसपर ही स्वोपज्ञ टीका सहित आप्तपरीक्षा रची गई है वह अपने प्रस्तावना-वाक्य-सहित इस प्रकार है—

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकारा प्राहुरितिनिगद्यते—
मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥ ३ ॥

इससे स्पष्ट है कि यह मंगलश्लोक, जिसे लेखकेशुरूमें उद्धृत किया गया है, विद्यानन्दकी दृष्टिमें सूत्रकार उमास्वाति की कृति है और उनके शास्त्र तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें कहा हुआ मंगलाचरण है। आप्तपरीक्षाकी टीकामें इस मंगल-श्लोककी व्याख्याका उपसंहार करते हुए विद्यानन्दने इस मंगलश्लोकके लिये साफ तौरपर सूत्रकारके साथ उमास्वाति (स्वामी) का नाम भी दे दिया है, जैसाकि उसकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है—

"साक्षान्मोक्षमार्गस्य सकलबाधकप्रमाणरहितस्य (कारादिभि)रुमास्वामि(ति)प्रभृतिभिः प्रतिपाद्यते।"
(पृ० ६४)

* जैसाकि नीचे लिखे कुछ नमूनोंसे प्रकट है—
(क) सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणार्पणात् 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यमिति' सूत्रितम्। (पृ० ११२)
(ख) यस्माद्-आद्ये परोक्ष मत्याह सूत्रकारः (पृ० १८२)
(ग) इत्यशेषविवादानां निरासायाह सूत्रकृत्—'जीवाजीवा-स्रवबन्धनिर्जरामोक्षास्तत्वं।' (पृ० ६१)
(घ) तथा सूत्रकारोऽत्र 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, इति तल्लक्षणो ब्रवीति' (पृ० ८३)—श्लोकवार्तिक
(ङ) तथोक्तं सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य इति सूत्रकारैः (पृ०२८१)
(च) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, तत्प्रमाणे, इति सूत्रकारवचनात् (पृ० २८१) —अष्टसहस्री

यः प्रणेता स एव विश्वतत्त्वज्ञताश्रयस्तत्वार्थसूत्रकारैः†

† मुद्रित प्रतिमें 'सूत्रकारैः' ऐसा पाठ है जो अशुद्ध जान पड़ता है, उसके स्थानपर 'सूत्रकारादिभिः' होना चाहिये; क्योंकि विद्यानन्दने ग्रन्थके द्वितीय पद्यमें आए हुए 'मुनि-पुङ्गवाः' पदके लिये स्वोपज्ञ टीकामें 'सूत्रकारादयः' पदका प्रयोग किया है और उपसंहारमें वही बात कही गई है जो शुरूमें प्रस्तुत की गई थी। इसमें विद्यानन्दके पूर्वापर कथनकी संगति भी ठीक बैठ जाती है। इसके सिवाय, अष्टसहस्रीमें भी उन्होंने 'साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्वार्थेन च मुनिभिः सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते' इस वाक्यमें 'सूत्रकारा-दिभिः' पदका स्पष्ट प्रयोग किया है। मुद्रित तथा हस्त-लिखित प्रतियोंमें भी इस प्रकारकी अशुद्धिका होना कोई असाधारण बात नहीं है। ऐसी स्पष्ट पकड़ी जाने वाली अशुद्धियाँ अक्सर देखनेमें आती हैं। आप्तपरीक्षा-टीका की उक्त पंक्तियोंसे १० पंक्तियोंके अनन्तर ही मुद्रित प्रति के उसी ६४ वें पृष्ठपर टीकाका एक पद 'तत्वार्थविद्यानं-महोदयालंकारेषु" इस रूपमें छपा है जो साफ तौर पर अशुद्ध जान पड़ता है। क्योंकि एक तो इसमें विद्यानंदका 'द' अक्षर छूट गया है और दूसरे 'लंकारेषु' के पहले या तो 'च' अक्षर छूटा हुआ मालूम होता है, जिससे 'आदि' शब्दके द्वारा अन्य ग्रन्थ अथवा ग्रंथोंका भी समावेश हो सके। अथवा 'देवागम' अलंकारका नाम छूटा हुआ है अन्यथा, तत्वार्थालंकार और विद्यानन्दमहोदया-लंकार इन दो ग्रन्थोंके लिये बहुवचनका प्रयोग नहीं हो सकता था। बहुवचनका प्रयोग तीसरे ग्रन्थके नाम अथवा संकेतको जरूर माँगता है। साथ ही 'विद्यानन्दमहोदय' के साथमें 'अलंकार' शब्द भी कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है; क्योंकि अभी तक इस ग्रन्थके लिये अन्यत्र कहीं भी 'अलंकार' शब्दका प्रयोग देखनेमें नहीं आता।

इस उल्लेखपरसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उक्त श्लोकको शास्त्रकी-आदिमें मंगलरूपमें प्रथम प्रयुक्त करने वाले आचार्य उमास्वाति है, और इस लिये यह उन्हींकी कृति हैं। दूसरे आचार्य जिन्होंने इस श्लोकको अथवा इसमें प्रयुक्त हुये आप्तके विशेषणोंको अपनाया है वे 'आदि' तथा 'प्रभृति' शब्दोंके वाच्य उत्तरवर्ती आचार्य है। उन्हींमें पूज्यपाद आचार्यका समावेश है, जिन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें इस श्लोकको अपनाया है। यदि यह श्लोक पूज्यपाद आचार्यकी कृति होता तो विद्यानन्द अपने उक्त वाक्यमें 'उमास्वाति' के स्थानपर उन्हींका नामोल्लेख करते और 'उमास्वाति' का नाम कदापि न देते।

श्रीविद्यानन्दके ग्रन्थोंकी इस सारी परिस्थितिके सामने मौजूद होते हुए यह कहना कि 'उक्त मंगलश्लोक विद्यानन्द के मतानुसार आचार्य उमास्वातिकी कृतिरूप तत्त्वार्थशास्त्र का मंगलाचरण नहीं है किन्तु उसकी टीका सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें ग्रन्थोत्पत्ति-विषयक भूमिका बाँधते समय स्वयं पूज्यपादने उसे रचा है' और यहाँ तक दावा बांधना कि– "वस्तुतः यह मंगलश्लोक आचार्य पूज्यपादने ही बनाया है," "इस मंगलश्लोकको उमास्वातिकृत किसी भी तरह नहीं माना जा सकता," मुझे तो अतीव असमूलक जान पड़ता है। मैं समझता हूँ कोई भी सहृदय एवं विचारवान् विद्वान्, जिसके सामने विद्यानन्दके ग्रन्थोंकी उक्त सारी परिस्थिति हो, ऐसा कहने अथवा दावा करनेके लिये तय्यार नहीं होगा। मालूम होता है किसी ग़लत फ़हमीकी वजहसे शास्त्रीजीकी गलत धारणा बन गई है और उसीका यह सब परिणाम है।

विद्यानन्दकी दृष्टिमें सूत्र और सूत्रकार

एक दूसरी भारी गलतफ़हमी शास्त्रीजीने और भी प्रदर्शित की है, जिसे देखकर बड़ा ही विस्मय होता है! आप अपने लेखके मध्यभागमें लिखते हैं :—

'परन्तु विद्यानन्द आचार्य ही आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत लिखते हैं— 'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते मोक्षमार्गस्य ·····" द्वारा पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। पर जब हम विद्यानन्दकी लेखन-शैलीका ध्यानसे समीक्षण करते हैं तब यह उलझन सुलझ जाती है, आचार्य विद्यानन्दकी शैलीकी यह विशेषता है कि वे अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको सूत्रकार और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको सूत्र लिखते हैं। उदाहरणार्थ– तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं — तेनेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम् इत्येतत् सूत्रोपात्तमुक्तं भवति । ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा । द्रव्यपर्याय, सामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ सूत्रकारा इतिज्ञेयमा-कलंकावबोधने।" इस अवतरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोकन्यायविनिश्चय (पृ० ३) का है। आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में ही वे "तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः" शब्द लिखकर न केवल उमास्वामीको ही सूत्रकार लिखते हैं। अपि तु प्रभृतशब्दसे अन्य पूज्यपाद आचार्योंको भी सूत्रकार होना सूचित करते हैं। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको उद्धृत करनेके कारण विद्यानन्दका झुकाव उसे उमास्वातिकृत माननेकी ओर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो विद्यानन्द राजवार्तिकको सूत्र तथा अकलङ्कको भी सूत्रकार लिख सकते हैं, वे यदि सर्वार्थसिद्धिकारको सूत्रकार लिखते हैं, तो कोई अनहोनी या आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि तो राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक के लिये आधारभूत सूचनाकारिणी होनेसे सूत्रकल्प ही रही है।"

इससे मालूम होता है कि शास्त्रीजी को जब यह जान पड़ा कि विद्यानन्द तो स्वयं अपनी आप्तपरीक्षामें इस मंगलश्लोकको सूत्रकार-नामके साथ उद्धृत करते हैं— सूत्रकारकृत बतलाते हैं और 'सूत्रकार' शब्द आमतौरपर तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वातिके लिये प्रसिद्ध है तब आपने आप्तपरीक्षाकी टीकामें प्रयुक्त हुये 'सूत्रकार' शब्दके वाच्य पर पर्दा डालनेके लिये विद्यानन्दकी लेखन-शैलीकी अनोखी कल्पना करके यह सुझानेकी चेष्टा की है कि—"वे (विद्यानन्द) अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको सूत्रकार और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रंथको सूत्र लिखते हैं।" साथमें एक असंगत उदाहरण भी दे डाला है, और इस तरह अपने पाठकोंको यह मान लेनेके लिये बाध्य

करने का प्रयत्न किया है कि विद्यानन्दने उक्त 'सूत्रकार' शब्दके प्रयोग-द्वारा पूज्यपादका ही वहां उल्लेख किया है और उक्त मंगलश्लोकको पूज्यपादका ही बतलाया है। परन्तु शास्त्रीजीका यह सब लिखना, सुझाना और बतलाना ग़लत है, भ्रममूलक है और भारी ग़लतफ़हमीपर अवलम्बित है। नीचे इसीको स्पष्ट करके बतलाया जाता है:—

श्लोकवार्तिकका जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उसमें 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्द जरूर पाये जाते हैं, परन्तु वे 'राजवार्तिक' और 'अकलंकदेव' के लिये प्रयुक्त नहीं हुए हैं—उनका स्पष्ट प्रयोग क्रमशः 'तत्त्वार्थसूत्र' और उसके कर्ता 'उमास्वाति' के लिये हुआ है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

'आद्ये परोक्षम्' यह तत्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायका ११ वां सूत्र है, जिसमें परोक्षका लक्षण 'आदिके दो—मति और श्रुति—ज्ञान परोक्ष हैं' ऐसा बतलाया है। इसके अनन्तर ही 'प्रत्यक्षमन्यत्' यह १२ वां सूत्र है, जिसमें प्रमाणके दूसरे भेद प्रत्यक्षका लक्षण 'शेष तीन—अवधि, मनः पर्यय और केवल—ज्ञान प्रत्यक्ष हैं' ऐसा प्रतिपादन किया है। राजवार्तिककार-अकलंकदेवने इसी सूत्रोपात्त लक्षणको इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकार-ग्रहणं प्रत्यक्षम्' इस वार्तिकद्वारा प्रतिपादित किया है। इसपर यह शंका उठाई गई है कि 'इस वार्तिकमें प्रत्यक्षका जो लक्षण किया गया है वह सूत्रके लक्षणके साथ संगत मालूम नहीं होता। वार्तिकगत प्रत्यक्षके लक्षणमें इन्द्रिय-अनिन्द्रियकी अनपेक्षा, व्यभिचाररहितता और साकार-ग्रहणत्व इन तीन बातोंका उल्लेख है, जो सूत्रोपात्त (सूत्र-कथित) प्रत्यक्षके लक्षणमें नहीं पाई जातीं। अतः सूत्र और वार्तिकमें विरोध है।' इस शंकाका जो समाधान स्वयं अकलंकदेवने अपने राजवार्तिकमें किया है वह शंकासहित इस प्रकार है—

"किं गतमेतदियता सूत्रेण ? आहोस्विदेवं वक्तव्यमिति, गतं प्रतिपन्नं, कथमिति चेदुच्यते—

अक्षं प्रतिनियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः॥ वार्तिक २॥
अधिकारादनाकार-व्यभिचारव्युदासः॥ वा० ३॥

अधिकृतमेतत्ज्ञानं, सम्यक् इति च, ततोऽनाकारस्य दर्शनस्य, व्यभिचारिणो ज्ञानस्य च व्युदासः कृतो भवति।"

इसमें वार्तिकगत लक्षणको उक्त सूत्रके साथ संगत बतलाते हुए जो स्पष्टीकरण किया गया है वह यह है कि— 'प्रत्यक्ष ज्ञान चूंकि अक्षके प्रति नियत है—एकमात्र आत्माके ही आश्रित है—इस लिये प्रत्यक्ष कहनेसे परापेक्षकी—इन्द्रियाऽनिन्द्रियकी अपेक्षाकी—निवृत्ति हो जाती है, और ज्ञान तथा सम्यक्का अधिकार होनेसे अनाकाररूप दर्शनकी और विभंगरूप व्यभिचारी ज्ञानकी भी निवृत्ति हो जाती है' और इस तरह वार्तिकगत तीनों बातोंकी मूलसूत्रके साथ संगति ठीक बैठ जाती है।'

उक्त शंका तथा राजवार्तिकगत समाधानको लेकर और अकलंकके न्यायविनिश्चयगत दूसरे भी प्रत्यक्ष-लक्षणको सामने रखकर और उसे भी सूत्रसंगत बतलाते हुए, विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिकमें जो समाधान प्रस्तुत किया है उसीका एक अंश—अगले-पिछले अंशोंको छोड़कर—शास्त्रीजीने अपने उक्त उदाहरणमें उद्धृत किया है। यहाँ वह पूरा समाधान, पाठकोंको वस्तुस्थितिका ठीक बोध करानेके लिये, नीचे दिया जाता है—

"ज्ञानग्रहणसम्बन्धात्केवलावधिदर्शने।
व्युदस्येते प्रमाणाभिसम्बन्धादप्रमाणता॥ २॥
सम्यगित्यधिकाराच्च विभंगज्ञानवर्जनं।
प्रत्यक्षमिति शब्दाच्च परापेक्षानिवर्तनम्॥ ३॥

न ह्यक्षमात्मानमेवाश्रितं परमिन्द्रियमनिन्द्रियं वापेक्षते यतः प्रत्यक्षशब्दादेव परापेक्षानिवृत्तिर्न भवेत्। तेनेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं'-मित्येतत् (वार्तिकं) सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः—

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्॥ ४॥
सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलंकावबोधने।
प्रधानगुणभावेन लक्षणस्याभिधानतः॥ ५॥

यदा प्रधानभावेन द्रव्यार्थात्मवेदनं प्रत्यक्षलक्षणं तदा स्पष्टमित्यनेन मतिश्रुतमिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं व्युदस्यते, तस्य साकल्येनास्पष्टत्वात्। यदा तु गुणभावेन

तदा प्रादेशिकप्रत्यक्षवर्जनं तदपाक्रियते, व्यवहाराश्रयणात्। साकारमिति वचनान्निराकारदर्शनव्युदासः। अंजसेति विशेषणाद्विभंगज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षाभासमुत्सारितं। तच्चैवं विधं द्रव्यादिगोचरमेव नान्यदिति विषयविशेषवचनाद्दर्शितं। ततः सूत्र-वार्तिकाऽविरोधः सिद्धो भवति।"

इसमें बतलाया है कि—'ज्ञानग्रहणके सम्बन्धसे—ज्ञानका अधिकार होनेसे—केवलदर्शन और अवधिदर्शनरूप निराकारग्रहणका निराकरण होजाता है, ज्ञानके साथ प्रमाण का सम्बन्ध होनेसे अप्रमाणता चली जाती है, सम्यकका अधिकार होनेसे विभंगज्ञानका परिहार हो जाता है और 'प्रत्यक्ष' शब्दसे परापेक्षाकी—इन्द्रियानिन्द्रियसहकारिताकी—निवृत्ति हो जाती है। चूंकि प्रत्यक्ष एकमात्र अक्षके—आत्मा के—ही आश्रित होता है, परकी—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की—अपेक्षा नहीं रखता, इसलिये 'प्रत्यक्ष' शब्दसे परापेक्षाकी निवृत्ति नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और इसलिये "इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं" (प्रत्यक्षम्) यह जो 'प्रत्यक्षमन्यत' सूत्रका वार्तिक है वह सूत्रोपात्तरूपसे उक्त हुआ है—सूत्रोक्त विषयका ही प्रतिपादक है। और इसलिये 'द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विशेषरूप अर्थ एवं आत्माके—स्व-परके—स्पष्ट, साकार और अांजस (सम्यक्) ज्ञानको सूत्रकार प्रत्यक्षका लक्षण कहते हैं' यह बात अकलंकके ज्ञानमें रही है—उनके वार्तिकादि ग्रंथोंका ऐसा आशय है—यह जानना चाहिये; क्योंकि प्रधान और गौणभावसे लक्षणका कथन किया गया है।' इसके बाद प्रधान और गौण लक्षणके स्पष्टीकरणके साथ ज्ञानके स्पष्ट, साकार और अंजसा विशेषणोंकी सार्थकता बतलाते हुए उनकी संगति उन विशेषणोंके साथ बिठलाई है जो राजवार्तिकके उक्त वार्तिकमें पाये जाते हैं। और अन्तमें नतीजा निकालते हुए लिखा है कि—'इससे सूत्र और वार्तिकका अविरोध सिद्ध होता है' अर्थात् सूत्र और वार्तिकमें कोई विरोध नहीं है।

इस सारी वस्तुस्थिति परसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दने यहाँ कहीं भी राजवार्तिकके लिये 'सूत्र' शब्दका और अकलंकदेव के लिए 'सूत्रकार' शब्दका प्रयोग नहीं किया है। 'सूत्रोपात्त' और 'सूत्र-वार्तिकाऽविरोधः' इन दो पदोंमें 'सूत्र' शब्दका जो प्रयोग है वह उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रके उस १२ वें 'प्रत्यक्षमन्यत' सूत्रके लिए है जिसके साथ 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' इत्यादि अकलंक-वार्तिकके विरोधका परिहार किया गया है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इत्यादि अकलंक-कारिका की भी संगति बिठलाई गई है। विद्यानन्दने अकलंककी इस न्यायविनिश्चय-गत कारिकाको अपना वार्तिक बनाया है, इसमें 'प्राहुः' क्रियाका जो कर्ता अध्याहृत था उसे अगले पद्यवार्तिकमें 'सूत्रकाराः' पदके द्वारा व्यक्त किया है और यह 'सूत्रकाराः' पद उन सूत्रकार आचार्य उमास्वाति के लिए ही प्रयुक्त किया है जिनके उक्त १२ वें सूत्रके साथ अकलंक-वार्तिकके विरोधका परिहार किया गया तथा अकलंक-कारिकाकी भी संगति बिठलाई गई है। स्वयं अकलंकदेवने, राजवार्तिकमें, अपने उक्त वार्तिकको उक्त १२ वें सूत्रके साथ संगत सिद्ध किया है, जैसा कि ऊपर दिए गए उसके अवतरणसे प्रकट है, और कारिकामें जिन स्पष्टं, साकारं अंजसा विशेषणोंका प्रयोग किया है वे क्रमशः वार्तिकगत इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं, साकारग्रहणं, अतीतव्यभिचारं पदोंके ही वाचक हैं, इसलिये अकलंकके ध्यानमें 'प्राहुः' क्रियाका कर्ता उन सूत्रकारसे भिन्न नहीं हो सकता जिनके सूत्रके साथ अकलंकदेवने राजवार्तिकमें अपने वार्तिककी संगति बिठलाई है। स्वयं अकलंकदेव तो उस 'प्राहुः' क्रियाके कर्ता किसी तरह भी नहीं हो सकते। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीने उक्त अवतरणमें आए हुए 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंका जो वाच्य क्रमशः 'राजवार्तिक' और 'अकलंकदेव' बतलाया है वह बिलकुल ही भ्रममूलक तथा वस्तुस्थितिके विरुद्ध है।

मालूम होता है श्लोकवार्तिकके उक्त अवतरणमें 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंको अकलंकवाक्योंके अनन्तर प्रयुक्त हुए देखकर शास्त्रीजी, अपनी इष्टसिद्ध समझते हुए एक दम हर्षोत्फुल्ल हो उठे हैं और उस हर्षावेशमें उनकी दृष्टि नीचेके 'ततः सूत्र-वार्तिकाऽविरोधः सिद्धो भवति' इस वाक्यपर भी नहीं गई, और न उन्हें यह समझ पड़ा है कि यहां 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्द उस सूत्र तथा उसके

कर्ता उमास्वाति के लिये हुए हैं जिनके जिस सूत्रकथनके साथ अकलङ्कवार्तिकके विरोधका परिहार किया है। अन्यथा, उक्त अवतरणके गहरे अध्ययनका अथवा शास्त्रीजीके ही शब्दोंमें ध्यानसे समीक्षणका' परिणाम ऐसी मोटी गलती कदापि नहीं हो सकता था। शायद इसी अवतरणमें आए हुए सूत्र' और' सूत्रकार' शब्दोंको राजवार्तिक और अकलङ्कदेवके लिये प्रयुक्त हुए समझकर शास्त्रीजीने विद्यानन्दकी लेखन शैलीकी यह अनोखी कल्पना कर डाली है कि— 'विद्यानन्द अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको 'सूत्र' लिखते हैं।' अन्यथा विद्यानन्दके साहित्यपरसे ऐसी उपलब्धि नहीं होती। नीचे के अवतरणोंपर से पाठक देखेंगे कि उनमें विद्यानन्दने कहीं अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको 'सूत्र' लिखा है? कहीं भी नहीं लिखा है। साथ ही यह भी मालूम करेंगे कि 'अकलङ्कदेवका उल्लेख उन्होंने अकलङ्कादि नाम देकर तथा उन्हें 'वृत्तिकार' और 'वार्तिककार' आदि लिखकर किया है—'सूत्रकार' लिख कर नहीं :—

(क) श्लोकवार्तिकके अवतरण—

१–अनन्तधर्मिणि वस्तुनि विवक्षा चाविवक्षा च भगवद्भिः समन्तभद्रस्वामिभिरभिहितास्मिन् विचारे। पृ० ६१

२ द्विरसत्त्याविशेषोऽत्राऽकलंकैरप्यधायि यः (वा.१७८) पृ० १८२

३–वार्तिककारेणैवमुक्तं "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" पृ० २०५

४–भावाद्येकान्तवाचानां स्थितं दृष्टेष्टबाधनं। सामन्तभद्रतो न्यायादिति नात्र प्रपंचितम्। पृ० २३६

५–श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रन्थमनुवादपुरस्सरं विचारयति। पृ० २३६

६–अत्राऽकलङ्कदेवाः प्राहुः। पृ० २३६

७–इति व्याख्यानमाऽकलङ्कमनुसर्तव्यम्। पृ०२४०

८–नाऽकलङ्कवचोबाधा संभवत्यत्रजातुचित। पृ०२४१

९–'श्रुतं शब्दानुयोजनादेव' इत्यवधारणस्याऽकलङ्काभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात। पृ० २४२

१०–सिद्धं वाऽत्राऽकलङ्कस्य महतो न्यायवेदिनः। पृ० २७७

११–कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः। पृ० २८०

१२–द्विप्रकारं जगौ जल्पं श्रीदत्तो जल्पनिर्णये पृ० २८०

१३–तत्रेहतात्त्विके वादेऽकलंकैः कथितो जयः। पृ०२८१

१४–जातिरकलंकोकलक्षणा? (पृ० ३०६) जातिलक्षणमकलङ्कप्रणीतमस्तु किमपरेण। पृ० ३१०

(ख) अष्टसहस्रीके अवतरण—

१–तद्वृत्तिकारैरपि ततएवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात्। पृ० २

२–स्वयं ग्रन्थकारेणारम्भत्राभिधानात, 'त्वं शंभवा—इतिस्तोत्रप्रसिद्धेः। पृ० ६२

३–वृत्तिकारास्त्वकलङ्कदेवा एवमाचक्षते कपिलमतानुसारिणां। पृ० १०१

४–तदुक्तंन्यायविनिश्चये–"तत्रशौद्धोदनेरेव" पृ० ११६

५–तदुक्तं न्यायविनिश्चये-"अभिलापतदंशानां" पृ० १२०

६–इति व्याख्यानमकलङ्कदेवैर्व्यधायि। पृ० १३६

७–इति तात्पर्यव्याख्यानमकलंकदेवानाम्। पृ० १४७

(ग) प्रमाणपरीक्षाके अवतरण—

१–नैकं स्वस्मात्प्रजायतेइति समन्तभद्रस्वामिभिरभिधानात। पृ० ५६

२–तथा चोक्तं तत्त्वार्थवार्तिककारैः,-'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षमिति। पृ० ६८

३–तत्त्वार्थवार्तिकारैरभिधानात्। पृ० ६६

४–तदुक्तमकलङ्कदेवैः— पृ० ६६, ७६

५–तथा चाभ्यदापि कुमारनन्दिभट्टारकैः। पृ० ७०

(घ) पत्रपरीक्षाके अवतरण—

१–तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्तदाह—पृ० ३

२–श्रीमदकलङ्कदेवस्य प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं प्रमाणमित्यादिवत। पृ० ४

३–अकलङ्कवचो यद्वत्साध्यैसाधनसूचकम्। पृ० ५

४–श्रीमत्समन्तभद्रार्यैर्युक्तिविद्भिस्तथोक्तितः। पृ० ५

(ङ) आप्तपरीक्षा-टीकाकेअवतरण—

१–तथा चोक्तमकलङ्कदेवैः–'इन्द्रजालादिषु।' पृ०४६

२–कृतमेव समन्तभद्रस्वामिभिः। पृ० ५१

(च) युक्त्यनुशासन-टीकाके अवतरण—

१–विस्तरतो देवागमे तस्य समन्तभद्रस्वामिभिः प्रतिपादनात्। पृ० ८६

२–प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधि–प्रतिषेधकल्पना सप्तभंगीति वार्तिककारवचनात्। पृ० १०७

(छ) सत्यशासनपरीक्षा-के अवतरण—

यह ग्रन्थ यद्यपि इस समय मेरे सामने नहीं है और न वीरसेवामन्दिरमें ही मौजूद है, फिर भी इस ग्रन्थ के परिचयका जो लेख स्वयं शास्त्रीजीने अनेकान्त वर्ष ३ किरण ११ मे प्रकाशित कराया है और उससे भी पूर्व जैनहितैषी भाग १४ के अङ्क नं० १०-११ मे मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी ने जो परिचायक नोट निकाला है उन दोनोंपर से यह स्पष्ट जाना जाता है कि इस ग्रन्थमें 'उक्तं च भट्टाकलङ्कदेवैः' 'उक्तं च स्वामि समन्तभद्राचार्यैः' जैसे वाक्योंके साथ अकलङ्क और समन्तभद्रके वाक्य उद्धृत पाये जाते हैं। शास्त्रीजीने सिद्धिविनिश्चयके 'यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता' इस कारिकांशको उद्धृत करके बतलाया है कि इसे "अकलङ्कदेवका नाम निर्देश करके ही उद्धृत किया है।"

सात ग्रन्थोंके इन बहुतसे अवतरणोंपरसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य उमास्वातिसे भिन्न अपने पूर्ववर्ती दूसरे किसी भी आचार्यको इन अवतरणोंमें सूत्रकार नहीं लिखा है और न उनके किसी ग्रन्थको 'सूत्र' नामसे या सूत्रनामके साथ उल्लेखित किया है, और इस लिए शास्त्रीजीने विद्यानन्दकी लेखन-शैलीके सम्बन्धमे जो नई कल्पनाकी है वह बड़ी ही अनोखी तथा निराधार जान पड़ती है और कहींसे भी उसका समर्थन नहीं होता। स्वयं चुनकर रक्खा हुआ शास्त्रीजीका उदाहरण ही जब उसका समर्थन करने में असमर्थ हो गया है तब दूसरे किन आधारोंपरसे वह फलित होती है अथवा उसका समर्थन होता है, इसे शास्त्रीजी ही बतला सकते हैं।

रही आप्तपरीक्षा टीकाके 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामि-प्रभृतिभिः' इस उल्लेखमे प्रयुक्त हुए 'प्रभृति' शब्दके द्वारा अन्य पूज्यपाद आदि आचार्योंको सूत्रकार सूचित करनेकी बात, वह नहीं बनती; क्योंकि इसमें 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' यह पाठ अशुद्ध है, इसकी जगह 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' होना चाहिये; जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है—और एक फुटनोट-द्वारा उसका अच्छा स्पष्टीकरण भी किया जाचुका है। ऐसी हालतमें 'तत्त्वार्थसूत्रकार' शब्दका एक मात्र वाच्य यहाँ आचार्य उमास्वाति हैं—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वातिसे भिन्न दूसरे आचार्य 'आदि' तथा 'प्रभृति' शब्दोंके वाच्य हैं। और इस लिए विद्यानन्दने उमास्वातिके बाद प्रभृति' शब्दके प्रयोगद्वारा अन्य पूज्यपादादि आचार्यों को 'तत्त्वार्थसूत्रकार' सूचित नहीं किया है। यदि थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय कि दूसरे आचार्योंको भी सूत्रकार सूचित किया है तो भी उससे यह फलित नहीं होता कि उन्हे भी 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगलश्लोकका कर्ता बतलाया है; क्योंकि एक ही कृतिके भिन्नकालवर्ती दो कर्ता हो नहीं सकते—दूसरे तो उसके अनुसर्ता ही कहे जा सकते हैं; तब उक्त मंगलश्लोक-गत विषयके प्रतिपादनमें उमास्वातिका नाम खास तौरसे देने और दूसरे किसी भी आचार्यका नामोल्लेख साथमें न करनेसे यह साफ़ जाना जाता है कि विद्यानन्दने उमास्वाति आचार्यको ही उक्त मंगलश्लोकका कर्ता सूचित किया है, दूसरे पूज्यपादादि आचार्य, जिन्होंने इस मंगल-श्लोकको अथवा इसमें प्रयुक्त हुए आप्तके विशेषणोंको अपनाया है, वे सब इसके अनुसर्ता ही हैं—कर्ता नहीं। और जब यह सिद्ध होजाता है कि उमास्वाति आचार्य 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगलश्लोकके कर्ता हैं और उन्होंने इसे अपने तत्त्वार्थशास्त्रकी आदिमें रक्खा है, तब इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि यही श्लोक प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है।

उमास्वातिकृत न होनेके कारण और उनकी जाँच

उक्त वस्तुस्थितिपरसे, यद्यपि, 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मङ्गलस्तोत्रको उमास्वातिका कहने से इनकार करने के लिये कोई कारण नहीं रहता, फिर भी शास्त्रीजी ऐसे कुछ दूसरे कारण भी उपस्थित कररहे हैं जिनकी वजह से उन्हें उक्त मंगलस्तोत्रको सूत्रकार उमास्वातिका

माननेमें संकोच हो रहा है। अतः उन कारणोंकी भी जाँच कर लेना आवश्यक जान पड़ता है, जिससे यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाय और उक्तमंगलश्लोकको तत्त्वार्थ सूत्रका मंगलाचरण माननेमें किसीको भी संकोच न रहे। शास्त्री जी अपने उन कारणोंको उपस्थित करते हुए लिखते हैं:—

"निम्न लिखित कारणोंसे यह स्तोत्र स्वयं सूत्रकार उमास्वातिका तो नहीं मालूम होता—

१—जहाँ तक प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ देखनेमें आए हैं, उनमें कहीं भी मंगलाचरण करनेकी पद्धति नहीं है।

२—यदि यह सूत्रकार-कृत होता, और तत्त्वार्थसूत्रका ही अंग होता, तो उसकी व्याख्या करने वाले पूज्यपाद अकलङ्क और विद्यानन्द आदि आचार्योंने अपने सवार्थ-, सिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि व्याख्या-ग्रन्थोंमें इसका व्याख्यान अथवा निर्देश अवश्य किया होता।

३—यदि पूज्यपादने स्वयं इसे नहीं बनाया होता और वे इसे सूत्रकारकृत समझते तो वे सर्वार्थसिद्धिमें इसका व्याख्यान अवश्य करते।

४—सर्वार्थसिद्धिपर प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण नामकाका एक विवरण उपलब्ध है। इसमें इस मंगलको सर्वार्थसिद्धिका मानकर उसका यथावत व्याख्यान किया है।

५—तत्त्वार्थसूत्र थोडे-बहुत हेर-फेरके साथ श्वेताम्बर-परम्परामें भी मान्य है। उसपर एक स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ भाष्य भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय उपाध्याय आदि आचार्योंने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। इन सभी व्याख्याओंमें इस मंगलस्तोत्रका उल्लेख तक नहीं है। यदि यह स्वयं उमास्वातिकृत होता, तो कोई कारण नहीं था कि इन श्वेताम्बर व्याख्याओं में न पाया जाता। इस श्लोकमें कोई भी ऐसी साम्प्रदायिक वस्तु नहीं है, जिससे साम्प्रदायिकताके कारण इसके छोड़नेका प्रसंग आता। यदि इन प्राचीन आचार्योंको यह ज्ञात होता कि यह श्लोक सूत्रकार का है, तो वे इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्नको कभी भी नहीं छोड़ते। वे इसपर व्याख्या करते और स्वतन्त्र ग्रन्थ तक रचते।

इत्यादि कारणोंसे यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह श्लोक स्वयं सूत्रकार-कृत नहीं है, किन्तु पूज्यपादकृत है।"*

(१) इन कारणोंमें से प्रथम कारणके सम्बन्धमें पहले तो मैं यह कह देना चाहता हूं कि यह कोई ऐसा हेतु नहीं जो विषयका निर्णायक हो सके, क्योंकि शास्त्रीजीके देखनेमें यदि कोई ऐसे प्राचीन ग्रन्थ न भी आए हों जिनमें मंगला-चरण किया गया हो तो इसपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि उमास्वातिकाल तक सूत्रग्रन्थोंमें मंगलाचरणकी पद्धति नहीं थी। दूसरे, यह बतला देना चाहता हूं कि ऐसे अनेक प्राचीन सूत्रग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही जैन परम्पराओंमें पाये जाते हैं जिनमें मंगलाचरण किया गया है। नीचे उनमें से कुछ के नाम मंगलाचरणकी सूचना सहित प्रकट किये जाते है:—

(क) दिगम्बर जैन सूत्रग्रन्थ—

१ षट्खण्डागमसूत्र—यह पुष्पदन्त-भूतबली आचार्य विरचित अतिप्राचीन सूत्रग्रंथ है। इस के प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' की आदिमें 'णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं' इत्यादि प्रसिद्ध णमोकारमंत्र मंगलाचरणके रूपमें दिया है, और 'वेयणा' खण्डकी आदिमें 'णमो जिणाणं' इत्यादि ४४ मंगलसूत्र दिये हैं, जिनकी बाबत 'धवला' टीकामें लिखा है कि 'ये गोतमस्वामि-प्रणीत 'महाकम्मपयडीपाहुड' के आदिके मंगलसूत्र हैं, वहींसे लाकर भूतबलि आचार्यने इन्हें उस कम्मपयडी पाहुडके उपसंहाररूप इस वेदनाखंडकी आदिमें मंगलके लिये रक्खा है, और इसलिये ये एक प्रकारसे अनिबद्ध तथा

*यह उद्धरण शास्त्रीजीके लेखके उस आदिम अंशके बाद का है जो इस लेखके शुरुमें उद्धृत किया गया है और इसके अनन्तरका वह अंश है जिसे ऊपर मध्यभाग वाला अंश प्रकट किया है और जो "परन्तु विद्यानन्द आचार्य ही" इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है।

दूसरे प्रकारसे निबद्ध मंगलके रूपमें है।' इससे सूत्रग्रंथोंकी आदिमें मंगलाचरणकी पद्धति गौतम स्वामी तक पहुंच जाती है, जहांसे आगम-सूत्रोंका प्रारंभ होता है।

२ प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि—ये श्री कुंदकुदाचार्यके सूत्रग्रंथ हैं, जिनमे 'एस सुरा-सुरमणुसिंदवंदियं०', 'इंदसदवंदियाणं' इत्यादि रूपमे मंगलाचरण किया गया है। कुंदकुंदाचार्य उमास्वातिसे पूर्ववर्ती हैं। "प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें इनका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी सिद्ध किया है' ऐसा शास्त्रीजीने स्वयं न्यायकुमुदचंद्रकी प्रस्तावना (पृ० २४) मे विना किसी आपत्तिके उल्लेखित किया है।

(ख) श्वेताम्बरीय सूत्रग्रंथ—

१ भगवतीसूत्र—इसमे 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपमें कई मंगलसूत्र दिये हैं।

२ दशाश्रुतस्कन्धसूत्र—इसमें भी 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि नमोकारमंत्रको ही मंगलाचरण के रूपमे दिया है।

३ नन्दीसूत्र—इसमें 'जयइ जगजीवजोणी' आदि तीन गाथाओं द्वारा मंगलाचरण किया है।

४ निशीथसूत्र—इसमे 'नमो सुयदेवयाए' रूपमे मंगलका विधान है।

५ दशवैकालिकसूत्र—इसमे 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इत्यादि रूपसे मंगलाचरण किया है।

६ जीतकल्पसूत्र(जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत)—इसमे 'कयपवयणप्पणामो' इस रूपमे मंगलाचरण है।

७ तत्वार्थसूत्र—इसके शुरूमें मूलसे सम्बन्धित जो ३१ कारिकाएँ स्वयं उमास्वातिकृत मानी जाती हैं उनमें नमस्कारात्मक मंगलाचरणकी एक कारिका निम्न प्रकार है, जिसके अनन्तर ही दूसरी कारिका* ग्रन्थ रचने की प्रतिज्ञाको लिए हुए हैं—

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम्।
पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय ॥२१॥

उपर्युक्त प्रमाणोंपरसे प्रकट है कि प्राचीन सूत्रग्रंथोंमे भी मंगलाचरणकी पद्धति रही है, शुभ कार्यकी आदिमें मंगलाचरण करना शिष्ट एवं आस्तिक परम्पराके अनुकूल है—प्रतिकूल नहीं, और इसलिये कुछ ग्रन्थोंमें यदि मंगलाचरण नहीं भी पाया जाता तो मात्र उस परसे यह कल्पना कर लेना कि, उमास्वातिने भी मंगलाचरण न किया होगा, ठीक नहीं है। वह उमास्वाति द्वारा मंगलाचरणके किये जाने अथवा उसके औचित्यमें कोई बाधक नहीं हो सकता। प्रकटरूपसे मंगलाचरणका करना–नकरना अथवा मंगलाचरण करके उसे शास्त्रनिबद्ध करना–न करना यह सब हर किसीकी अपनी रुचिपर निर्भर है। और इस लिये शास्त्रीजीके पहले कारणमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता।

(२) दूसरे कारणके सम्बन्धमे मेरा निवेदन इस प्रकार है :—

(क) प्रथम तो यह मंगलश्लोक बहुत सुगम है—शब्दार्थकी दृष्टिसे इसकी व्याख्याकी ऐसी कोई जरूरत नहीं रहती। दूसरे, हर प्रकारके टीकाकारके लिये यह लाजिमी नहीं कि वह ग्रंथके मंगलाचरणकी भी व्याख्या करे—कितने ही टीकाकार तो मूलके भी अनेक पद-वाक्योंकी टीका करना आवश्यक नहीं समझते, और इसलिये उन्हें यों ही अथवा 'सुगमं' आदि लिखकर छोड़ते हुए देखे जाते हैं। 'धवला' जैसी विस्तृत टीका तकमें भी ऐसे बहुत स्थल पाये जाते हैं। तीसरे, ऐसे स्पष्ट उदाहरण भी उपलब्ध हैं, जिनमे मूलग्रन्थपर टीका अथवा भाष्य लिखते समय मूलके मंगलाचरणकी कोई व्याख्या नहीं की गई। नमूनेके तौरपर श्वेताम्बर सम्प्रदायके 'कर्मस्तव' नामके द्वितीय कर्मग्रंथ और 'षडशीति' नामके चतुर्थ कर्मग्रंथ को पेश किया जा सकता है, जिन दोनोंमे मंगलाचरण किया गया है परन्तु उनके भाष्योंमे मूलके मंगलाचरणपर कुछ भी नहीं लिखा गया—मंगलाचरणका व्याख्यान या भाष्य करना तो दूर रहा, उसके पदोंका निर्देश तक भी

* वह दूसरी कारिका इस प्रकार है:—

तत्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघु ग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहित-मिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥

नहीं किया गया है। चौथे, तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका जो स्वोपज्ञ भाष्य कहा जाता है उसमें उन ३१ सम्बन्धकारिकाओंका कोई भाष्य नहीं है जो मूलके साथ सम्बद्ध हैं* और जिनमें मंगलाचरण तथा ग्रन्थप्रतिज्ञाकी वे कारिकाएँ भी शामिल हैं जिन्हें इस लेखमें पहले उद्धृत किया जा चुका है। ऐसा भी नहीं कि स्वोपज्ञ भाष्य अथवा टीका होनेसे मंगलाचरणके पद्योंकी टीका ही न की जाती हो; क्योंकि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का जो 'जीतकल्प' सूत्र है उस की स्वोपज्ञ टीकामें गणीजीने उसके मंगलाचरणकी स्वयं व्याख्या की है। इसी तरह पं० आशाधरजीने भी अपने 'धर्मामृत' की स्वोपज्ञ टीकामें मंगलपद्योंकी व्याख्या की है। और इसलिये इस सबके निष्कर्षरूपमें यही कहना संगत होगा कि मूलके मंगलाचरणादि किसी भी अंशकी व्याख्या करना- न करना यह सब व्याख्याकारकी रुचि-विशेषपर अवलम्बित है।

(ख) पूज्यपाद आचार्यने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको अपना लिया है, इससे भी उनपर उक्त मंगलश्लोककी व्याख्या करना कोई आवश्यक नहीं रहा। दूसरे आचार्योंने उमास्वातिकृत 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगलश्लोकको तथा इसमें प्रयुक्त हुए आप्तके विशेषणोंको अपनाकर आप्तस्वरूपका प्रतिपादन किया है, इसी बातको बतलानेके लिये विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्त-परीक्षा-टीका और अष्टसहस्रीमें 'सूत्रकारादयः प्राहुः' 'तत्वार्थसूत्रकारादिभिः उमास्वातिप्रभृतिभिः प्रतिपाद्यते' 'मुनिभिः सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते' जैसे वाक्योंमें 'आदि' और 'प्रभृति' शब्दोंका प्रयोग किया है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। दूसरेके मंगलाचरणको अपनाने की बात भी कोई अनोखी तथा नई नहीं है—महाकम्मपयडी पाहुडके 'णमो जिणाणं' आदि ४४ मंगलसूत्रोंको 'वेदनाखण्ड' में अपनाया गया है और 'णमोअरिहंताणं' आदिरूपसे जो णमोकारमंत्र षट्खंडागम, भगवतीसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध और जीवाभिगम आदि सूत्रग्रंथोंका मंगलाचरण बना हुआ है, उसे भी किसीने किसीपरसे अपनाया ही है। इसी तरह दिगम्बर 'प्राकृतपंचसंग्रह' के बन्धोदय-सत्वाधिकार और श्वे० 'कर्मस्तव' ग्रंथका मंगलाचरण भी एक है, जिससे प्रकट है कि वह किसी एकके द्वारा रचा गया और दूसरेके द्वारा अपनाया गया है। ऐसी हालत होते हुए सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगलश्लोककी टीकाका न पाया जाना कोई विरोधी असर नहीं रखता।

(ग) दूसरे दो ग्रन्थ (राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक) वार्तिक हैं और वार्तिकका लक्षण है—'सूत्रोंकी अनुपपत्तिको बतलाना, अनुपपत्तिका परिहार करना और सूत्रसंबंधी विशेष कथन करना, जैसा कि श्री विद्यानन्दके श्लोकवार्तिक-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्।" (पृ० २)

ऐसी हालतमें वार्तिकोंके लिये उनके स्वरूपसे ही यह आवश्यक नहीं रहता कि वे सूत्रोंके अतिरिक्त मंगलाचरण की भी व्याख्या करें। और जब वार्तिकोंके लिये ही वह आवश्यक नहीं तब उनके भाष्योंके लिये तो कैसे आवश्यक हो सकता है ? क्योंकि वे वार्तिकानुसारी ही होते हैं। अतः राजवार्तिक जैसे ग्रंथोंमें यदि मंगलाचरणकी व्याख्या न मिले तो वह कोई अनहोनी बात नहीं है। इसके सिवाय राजवार्तिककार अकलंकदेवने, उक्त मंगलश्लोकको लक्ष्य करके लिखी गई आप्तमीमांसा (देवागम) की वृत्तिमें 'मङ्गलपुरस्सरस्तव' जैसे शब्दोंके द्वारा यह सूचित किया है कि उक्त मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्रके अवतारके समय रचा गया है*। और विद्यानन्दने तो श्लोकवार्तिकमें उक्त मंगलश्लोक-गत आप्तके विशेषणोंको लेकर आप्तके स्वरूपका बहुत कुछ व्याख्यान भी किया है, आप्तके उक्त विशेषणोंकी सिद्धिपर ही आदिमसूत्रका प्रवर्तन बन सकता है यह बतलाया है, जिसका कुछ उल्लेख इसी लेखमें पीछे 'विद्यानन्दका अभिमत'

* जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रकी उस सटिप्पण-प्रतिसे भी प्रकट है जिसका परिचय पं० जुगलकिशोरने अनेकान्तके तीसरे वर्षकी प्रथम किरणमें पृ० १२१ से १२८ तक दिया है। पं० सुखलालजी भी अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें, इन्हें "मूलग्रंथको ही लक्ष्य करके लिखी गई" बतलाते हैं।

* जैसा कि अष्टसहस्रीमें दी हुई उक्त शब्दोंकी निम्न व्याख्या परसे भी प्रकट है—

"मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते। मंगलं पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात्।.."

उपसंहार और आभार

ऊपरके इस संपूर्ण विवेचनपरसे नीचे लिखी बातें बिल्कुल स्पष्ट और सन्देह-रहित हो जाती हैं :—

१—आचार्य विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाके अन्तिम पद्यों और अष्टसहस्री में गद्यमें ऐसी कोई सूचना नहीं की कि 'तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाने वाली भूमिकादि बाँधते समय आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकाके प्रारम्भमें स्वयं उक्त मंगलश्लोकको बनाकर रक्खा है' और न उन शब्दोंपरसे ही ऐसी कोई सूचना मिलती है जिनकी तरफ शास्त्रीजीने संकेत किया है। उन शब्दोंका स्पष्ट आशय इतना ही है कि तत्त्वार्थशास्त्र (सूत्र) की आदि में—उसके रचनारम्भके समय—शास्त्रकारने—सूत्रकार उमास्वातिने—'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादिरूपसे उस मंगलस्तोत्रकी रचना की है जिसकी आप्तपरीक्षामें 'संक्षेपतोऽन्वयरूप' व्याख्या की गई है।

२—श्रीविद्यानन्द आचार्यके श्लोकवार्तिक सव्याख्यान, आप्तपरीक्षा सटीक और अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थोंपरसे उनका यह स्पष्ट अभिमत पाया जाता है कि उक्त मंगलस्तोत्र एकमात्र सूत्रकार उमास्वातिकी कृति है और उन्होंने उसे अपने तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरणके तौरपर रचकर रक्खा है।

३—आचार्य विद्यानन्दकी दृष्टिमें 'सूत्रकार' शब्दका वाच्य आचार्य उमास्वाति और 'सूत्र' शब्दकावाच्य उनकी एकमात्र कृति 'तत्त्वार्थसूत्र' रहा है। शास्त्रीजीने जो उदाहरण उपस्थित किया है, वह बिल्कुल गलत तथा भ्रममूलक है। उसमें पाये जाने वाले 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंका प्रयोग क्रमशः 'राजवार्तिक' और 'अकलङ्कदेवके लिए न होकर 'तत्त्वार्थसूत्र' और उसके कर्ता 'उमास्वाति' के लिये किया गया है। और इस लिये शास्त्रीजीका यह लिखना कि 'विद्यानन्द अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको 'सूत्र' लिखते हैं' बिल्कुल निराधार है, और यह निराधारता उन प्रचुर प्रमाणोंसे और भी दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट हो जाती है जो ऊपर पृ० २२१ पर उद्धृत किए गए हैं।

४—उक्त मङ्गलश्लोकके उमास्वाति-कृत न होनेमें जो पाँच कारण शास्त्रीजीने उपस्थित किए हैं उनमें कुछ भी दम तथा सार नहीं है—सूत्रग्रन्थोंकी आदिमें मंगलाचरणकी प्रथाका पता उमास्वातिके पूर्ववर्ति समयमें गोतमस्वामी तक चलता है, किसी भी टीकाकारके लिए यह आवश्यक तथा लाज़िमी नहीं कि वह उसके मंगलाचरणकी भी व्याख्या करे, श्लोकवार्तिकमें व्याख्याका न होना बतलाना गलत है, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपादने मूलके उक्त मंगलश्लोकको अपना लिया है इससे उनपर उसकी व्याख्याका करना और भी आवश्यक नहीं रहा, सर्वार्थसिद्धिपर प्रभाचन्द्रका वह अक्रम तथा अव्यवस्थित विवरण कोई विरोधी असर नहीं रखता और श्वेताम्बर आचार्योंके लिये तो अपनी टीकाओंमें इस मंगलश्लोककी व्याख्या आदिका कोई कारण ही नहीं रहता जब उनके यहाँ पहलेसे सूत्रपाठ अलग स्थिर कर लिया गया है और उसमें उक्त मंगलश्लोकको स्थान नहीं दिया गया है, बल्कि शुरूकी सम्बन्धकारिकाओंमें दूसरे ही मंगलाचरणकी कल्पना की गई है।

आशा है शास्त्रीजी इसपरसे पुनः विचार करके अपने निर्णयको बदलेंगे और दूसरे विद्वान् पाठक भी इस विषयको निर्णीत करार देंगे कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगल-श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है और सूत्रकार उमास्वातिकी कृति है। विद्वानोंसे अपना अपनाअभिमत प्रकट करनेके लिए सानुरोध निवेदन है।

इस लेखके लिखनेमें मुझे मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजीका पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूँ। आपका भी इस विषयमें यही मत तथा निर्णय है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा ज़ि० सहारनपुर

है। स्वयं विद्यानन्दके वाक्योंसे ही वह स्पष्टतया सूत्रकार उमास्वाति-कृत सिद्ध होता है। ऐसी हालतमें उक्त सुझाव निरर्थक है। समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें पं० जुगलकिशोर मुख्तारका लिखा हुआ 'समन्तभद्रका समय और डाक्टर के०बी० पाठक' नामका वह लेख देखना चाहिए, जो 'जैन-जगत' के ६ वें वर्षके अङ्क १५-१६ में प्रकाशित हुआ है। उसमें दी हुई सभी युक्तियोंका जब तक कोई सबल उत्तर नहीं दिया जाता तब तक यों ही चलती सी बात कह देना ठीक नहीं है। और इसीसे यहाँ उसके विषयमें विशेष कुछ भी लिखना उचित नहीं समझा गया—वह इस लेखका विषय नहीं है।

❀ श्रीदादीजी ❀

आप नानौता जिला सहारनपुर के उन रईस स्वर्गीय ला० सुन्दरलालजीकी धर्मपत्नी हैं, मेरे पिताकी सगी मामी होने से मेरी दादी हैं। स्थानीय जनता आपको बडीजी तथा दादीजीके नामसे ही पुकारती है। यों आपका नाम 'रामी' बाई है। आपकी अवस्था इस समय ८३ वर्षकी है। आपका जन्म देवन रि० फरीदकोट (पंजाब) में वि० संवत १९१७ में हुआ था। आपके पिताका नाम कन्हैयालाल और माताका अनोखीथा।

यद्यपि जन्मसे आप अग्रवाल वैश्यकुलमें उत्पन्न हुई थीं, परन्तु विवाहित होते ही आप जैनधर्ममें ऐसी परिणत होगईं जैसी कि पण्डिता चंदाबाईजी। भले ही आपकी शिक्षा विशेष नही हुई—साधारण भक्तामरादि स्तोत्र, भजन-संग्रह, भूधरजैनशतक और पूजापाठकी पुस्तकें ही आप पढ लेती हैं, फिर भी आपने शास्त्र खूब सुने हैं और जैनाचार-सम्बन्धी व्रत नियम-उपवास तथा शीलसंयमादि की कोई भी बात ऐसी उठा नहीं रक्खी जिसपर आपने दृढताके साथ अमल न किया हो। मुख्य मुख्य यात्राएं भी आपने सब ही की हैं—तीन महीने दक्षिण देशीय यात्रामें आप सकुटुम्ब मेरे साथ भी रही हैं और पूर्वकी यात्राओंमें भी खण्डगिरि उदयगिरि तक साथ रही हैं।

आपका स्वभाव जीवन-भर बडा ही नम्र, प्रेमपूर्ण और सेवा-परायण रहा है। कोई भी अतिथि घरपर आये उसे आपने सादर भोजन कराये बिना जाने नहीं दिया। अतिथि-सेवामें आप बहुत दक्ष हैं। आपमें पुरुषों जैसा पुरुषार्थ और वीरों जैसी हिम्मत तथा हौसला रहा है। चार-चार भैंसों तक की धार आपने अकेले एक साथ निकाली हैं। जिस कामके लिए पुरुष भी उकता जाय उसको आप सहज साध्यकी तरह सम्पन्न करती रही हैं। इस वृद्ध अवस्थामें भी आपका इतना पुरुषार्थ अवशिष्ट है कि आप भोजन बना लेती हैं, चक्की चला लेती हैं और गाय-भैंसको दुहने तथा दूध-दहीके बलोनेका काम भी कर लेती हैं। साथ ही एक आश्चर्यकी बात यह है कि अंगोंमें बहुत कुछ शिथिलता आ जाने और शरीरपर झुर्रियां पड जानेपर भी आपके सिर का एक भी बाल अभी तक सफेद नहीं हुआ है।

कोई ४४ वर्षकी अवस्था में आपको वैधव्यकी प्राप्ति हुई उसके छः वर्ष बाद ही आपका देव-कुमार-सा इकलौता पुत्र 'प्रभुदयाल' भी चल बसा! जो बहुत ही बुद्धिमान तथा साधु-स्वभावका था। उससे थोडे ही दिन बाद आप की पुत्री 'गुणमाला' बाल-विधवा होगई! और फिर आपकी पुत्रवधू भी २-३ वर्ष-की पुत्री 'जयवन्ती' को छोड-कर चल बसी!! इससे आपके ऊपर भारी संकटका पहाड टूट पडा! परन्तु इस दुःखावस्था में भी आपने धैर्य तथा पुरुषार्थ नहीं छोडा, कर्तव्यसे मुख नहीं मोडा और आप मर्दोंकी भांति बराबर निर्भय होकर जमींदारीके कार्य-संचालनमें लगी रहीं।

पुत्री गुणमाला तथा पोती जयवन्तीको शिक्षा देना भी अब आपका ही कर्तव्य रह गया था, जिसकी ठीक पूर्ति दोनोंको घरपर रखनेसे नहीं हो सकती थी। अतः आपने दोनोंको मेरे पास देवबन्द शिक्षाके लिए भेज दिया। जब मेरी धर्मपत्निका देहान्त हो गया तब मैंने इन्हें पंडिता चन्दाबाईजीके आश्रममें आरा भिजवा दिया और इनकी शिक्षाका समुचित प्रबन्धकर दिया। नगरके लोगों और

अनेक इष्टजनोंने दादीजीसे कहा कि तुम ऐसी दुःख-संकटकी अवस्थामें इन्हें बाहर क्यों भेजती हो? अपनी छातीसे लगाकर क्यों नहीं रखती? परन्तु विद्यासे प्रेम रखने वाली और अपने आश्रितजनोंका भला चाहने वाली दादीजीने उनकी एक नहीं सुनी और स्वयं अकेलेपनके कष्ट झेलकर भी वर्षों तक इन्हें बाहर ही रखकर शिक्षा दिलाई। इन दोनोंके प्रति चन्दाबाईजीकी श्रद्धा बहुत बढ़ी-चढ़ी है। गुणमालाका सती-साध्वी-जैसा जीवन आपको पसन्द आया और जयवन्तीकी बुद्धिमत्ता तथा सुशीलता मनको भा गई। इसीसे जब कभी पंडिताजीकी इच्छा होती है वे इन्हें अपने पास बुला लेती हैं, यात्रादिकमें अपने साथ रखती हैं और स्वयं भी कई बार इधर इनके पास आई हैं और सदैव इनके हितका ख़याल रखती हैं। चि० जयवन्तीको आपने 'जैनमहिलादर्श' की उपसंपादिका भी नियत कर रक्खा है।

अपनी आशाकी एकमात्र केन्द्र चि० जयवन्तीका भले प्रकार पालन-पोषण एवं सुशिक्षण सम्पन्न करके और प्रतिष्ठित घरानेके योग्य वर बा० त्रिलोकचन्द बी० ए० के साथ उसका सम्बन्ध जोड़कर दादीजीने सोचा था कि वह ज़मींदारीका सारा भार चि० त्रिलोकचन्द वकीलके सुपुर्द करके निश्चिन्त हो जावेगी और अपना शेष जीवन पूर्णतया धर्मध्यानके साथ व्यतीत करेंगी; परन्तु दुर्दैवको यह भी इष्ट नहीं हुआ—अभी सम्बन्धके छह वर्ष भी पूरे न होने पाये थे कि त्रिलोकचन्दका अचानक स्वर्गवास होगया! जयवन्ती भी बालविधवा बन गई! पुत्रके पहिले ही चल बसनेसे उसकी गोदभी खाली होगई! और दादीजीकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया!

इस तरह दादीजीका जीवन एक प्रकारसे दुख और संकटकी ही करुण कहानी है! परन्तु आपने बड़ी वीरताके साथ संकटोंका सामना किया है और धैर्यको कभी भी हाथसे जाने नहीं दिया। आप सदा बातकी सच्ची और धुनकी पक्की रही हैं। दूसरे थोड़ेसे भी उपकारको आपने बहुत करके माना है। जिसे आपने एक बार वचन दे दिया, फिर लाख प्रलोभन मिलने तथा प्रचुर आर्थिक लाभ होनेपर भी आप उससे विचलित नहीं हुईं—इस विषयकी कई रोचक घटनाएं हैं, जिन्हें यहां देने के लिए स्थान नहीं है। पैसा आप कभी फिजूल खर्च नहीं करतीं, परन्तु ज़रूरत पड़ने पर उसके खुले हाथों खर्चनेमें कभी संकोच भी नहीं करतीं। इन्हीं सब बातोंमें आपका महत्व संनिहित है।

मेरे मुख्तारकारी छोड़ने पर आपने नानौतासे देवबन्द आकर मुझे शाबाशी दी और मेरी कमर हिम्मतकी थप-थपाई। इसपर गृहिणीको कुछ बुरा भी लगा, क्योंकि पिता भाई आदि और किसीने भी मेरे इस कार्यका इस तरहसे अभिनन्दन नहीं किया था। परन्तु बादको आपके समझाने पर वह भी समझ गई।

देहली-करौलबाग़ में जब समन्तभद्राश्रम था तब एक बार सारे स्टाफ़के बीमार पड़ जाने और अनेकान्तके प्रूफ़ आदि कार्योंकी भाग मारीके कारण मुझे पाँच दिन तक भोजन नहीं मिला था उस समय खबर पाकर आप ही नानौतासे देहली पहुँची थीं और आपने छठे दिन मुझे भोजन कराया था। वीरसेवामन्दिरकी स्थापनाके अवसरसे आप उसके हरएक उत्सवमें आतिथ्य-सेवाके लिए स्वयं पधारती रही हैं अथवा अपनी सुयोग्य पुत्री गुणमाला तथा पोती जयवन्ती को भेजती रहीं हैं जिससे मुझे कोई विशेष चिन्ता करनी नहीं पड़ी। इसके सिवाय, बीमारियोंके अव-सर पर आप बराबर मेरी खबर लेती रहीं हैं, माताकी तरह से मेरे हितका ध्यान रखती और मुझे धैर्य बँधाती रही हैं। इस समय भी आप मेरी बीमारीकी खबर पाकर और यह जानकर कि सारा आश्रम बीमार पड़ा है, वीरसेवामन्दिर में पधारी हुई हैं और रोटी-पानीकी कुछ व्यवस्था कर रही हैं। सत्कार्योंके करनेमें मुझे सदा ही आपसे प्रेरणा मिलती रही है—कभी भी आप मेरी शुभ प्रवृत्तियोंमें बाधक नहीं हुईं। इन सब सेवाओंके लिए मैं आपका बहुत ही उपकृत हूं और मेरे पास शब्द नहीं कि मैं आपका समुचित आभार प्रकट कर सकूँ।

वीरसेवामन्दिरसे आप विशेष प्रेम रखती हैं और सदा उसकी उन्नतिकी भावनाएँ करती रहती हैं। हालमें आपने वीरसेवामन्दिरको १०१) रु० की सहायता भी प्रदान की है।

जुगलकिशोर मुख्तार

जैन समाजके होनहार युवकरत्न, बाल प्रोफेसर मोहनलाल जी जैनकी पुनीत सेवामें सादर समर्पित

अभिनन्दन पत्र ।

होनहार युवक ! आज आपको अपने मध्य देखकर हमारा हृदय खुशीके मारे उछल रहा है। आप जैनसमाजके ही नहीं अपितु भारतवर्षके एक होनहार युवक हैं। आप विश्वविख्यात राममूर्तिजीके समान योग द्वारा शारीरिक शक्तिको संगठित करके आश्चर्यजनक खेलोंका प्रदर्शन करनेवाले जैन समाजके प्रथम युवकरत्न हैं।

वीर बालक ! आप प्रतापगढ़ निवासी सेठ अमृतलालजी जैनके सुपुत्र हैं। अभी आपकी आयु सिर्फ १३ वर्षकी ही है। इतनी कम आयुमें ही आप योग, आसन, एक्रोबेटिक्स, वेलेंसिंग, लाठी, बनेटी, तलवार, भाला आदि व्यायामके अनुकरणीय एवं आकर्षक प्रयोगोंमें अति निपुण हैं। आप-सा पुत्र पानेके लिये आपके माता पिता बधाईके पात्र हैं।

जैन समाजके गौरव ! आपने इतनी अल्प आयुमें ही, सीनेपर तथा हाथ परसे मोटर साइकिल उतरवाना, फांसी लगवाना, लोहेकी सलियोंको गर्दन व छातीसे मोड़ना तथा १०० पौण्ड वजनके पत्थर आदिको दांतसे उठानेमें दक्षता दिखा कर अपने जैन कुलको ही नहीं अपितु समस्त जैन समाजके गौरवको ऊँचा किया है, तदर्थ आप धन्यवादके पात्र हैं।

कुल दीपक ! आपकी शिक्षाकी तरफ जब हम अपने विचारोंको फेंकते हैं तो हमारा दिल खुशीके मारे उन्मत्त सा होकर बार बार यही कहता है कि आपने इतने अल्पकालमें जो योग विद्यामें इतनी दक्षता प्राप्त की है उसका श्रेय आपके गुरु प्रोफेसर सत्यपालजीको है, जो "शक्ति-योगाश्रम बम्बई" में भारतकी बाल सन्तानों को योग विद्या में निपुणता प्रदान कर रहे हैं। आपके गुरुने अनेक विद्यार्थियोंका अध्ययन किया है, उनकी बाण-विद्या को देखकर सहसा मुँह कह उठता है कि आपके शिक्षक तो कलियुगी अर्जुन हैं। अतः हमारी हार्दिक भावना है कि आप इस श्रेयस्करी शिक्षामें उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अपनी जातिका उत्थान करें।

जैन जातिके उज्वल भविष्य ! आपके आश्चर्यचकित कर देनेवाले कार्योंसे प्रभावित होकर प्रतापगढ़ स्टेट, मल्हारगढ़ स्टेट, लुनावाडा आदि स्टेटों, श्रीमानों, आफिसरों आदि अनेक महानुभावों ने ही आपको स्वर्ण, रजतपदक एवं कप व सार्टिफिकेट प्रदान नहीं किये बल्कि केप्टेन जेम्स कमाण्डर इनचीफ, डलहौजी इण्डियन रायल नेवीकी ओरसे भी सार्टिफिकेट तथा ५०) रु० इनाम मिले हैं। भारतके बड़े २ पत्रों ने भी आपकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। आपका उज्ज्वल मुख, कान्तिरूप शरीर और व्यायामके कार्य जैन समाज के प्रत्येक युवक के हृदय में स्फूर्ति, बल और साहस पैदा करते हैं। अतः आप जैन जातिके उज्ज्वल भविष्य हैं।

वीर हृदय ! आपकी योग विद्याकी दक्षता किसको मोहित नहीं कर सकती ! आपने इस थोड़ीसी उम्र में इतनी शिक्षा प्राप्त कर के जिस वीर-हृदय का परिचय दिया है। उस के लिये हमारी वीर भगवान्से यही प्रार्थना है कि आप चिरायु हों और अपनी जाति और देशका मुख उज्ज्वल करते हुए संसार में उन्नति-शिखर पर आरूढ़ हों। अन्तमें हम आपकी योग्यताकी सराहना करते हुए भावना करते हैं कि आप संसार-विजयी हों।

देहली ता० ८-६-१९४८ } हम हैं आपकी उन्नतिके इच्छुक
वीर-सेवक-संघ देहलीके सदस्यगण

स्व० लाला जिनदासजी संघवी

मुलतानवासी जिन श्रीमान् ला० जिनदासजी संघवी दि० जैन ओसवालका स्वर्गवास गत द्वितीय ज्येष्ठ वदी १३ गुरुवारके दिन ता० २१ जून १९४२ ई० को हो चुका है और जिनके देहावसानका समाचार पाठक 'अनेकान्त' की गत किरण नं० ३-४ में 'वह मनुष्य नहीं देवता था' इस शीर्षकके नीचे पढ़ चुके हैं, आज उन्हींका यह भव्य चित्र पाठकोंको भेंट किया जाता है।

पं० अजितकुमारजी जैन शास्त्री, मुलतानके शब्दोंमें 'आप मूर्तिमान परोपकार और सेवाकी मूर्ति थे, सच्चरित्रके आदर्श थे, नगरमान्य-न्यायाधीश थे, शरीरसे कृश किन्तु आत्मबल-मनोबलके धनी, अनुपम साहसी एवं धैर्यकी प्रतिमा थे तथा आतिथ्यसेवाके प्रमुख पाठक थे। आपकी चतुर्मुखी प्रतिभा साधारण शिक्षा पानेपर भी प्रत्येक विषयमें आगे दौड़ती थी। आपकी रसनामें अद्भुत वाणीरस था—मानों सरस्वती ने अपने हाथोंसे उसपर मंत्र लिख दिया हो। साथ ही आप सफल व्यापारी भी थे, सतत उद्योगी और उत्साही थे, अच्छे समाज-सुधारक थे, धर्मके आश्रय थे, निरभिमानी और निरीह सेवक थे, सादा रहन-सहन, के प्रेमी थे; विश्वमैत्री-गुणिप्रमोद, दयालुता आपमें साकार विद्यमान थी। आपकी आयु ५० वर्षसे भी अधिक पार कर चुकी थी किन्तु आपका उत्साह युवा पुरुषोंको भी लज्जित करता था और इन्हीं सब गुणोंसे आप सर्वप्रिय थे।' निःसन्देह आपके निधनसे जैनसमाजको भारी क्षति पहुंची है,। आपको सद्गतिकी प्राप्ति हो और कुटुम्बी जनोंको धैर्य मिले, यही अपनी भावना है। शास्त्रीजीने अपने उक्त लेखमें प्रकट किया था कि "आपने अपनी सावचेत दशामें अपने हाथसे लिखकर दान किया है।" परन्तु अभी तक उसकी कोई तफसील अपनेको जाननेको नहीं मिली, अच्छा हो उसे प्रकट कर दिया जाय। —सम्पादक

गोम्मटेश्वरका दर्शन और श्रमणबेलगोलके संस्मरण

(ले०—पं० सुमेरचन्द जैन दिवाकर, बी० ए० न्यायतीर्थ)

श्रमणबेलगोल मैसूर रियासत का अत्यन्त महत्त्वशाली स्थल है। यह हासन रेलवे स्टेशनसे ३२ मील और मैसूरसे करीब ६० मीलपर है। बेंगलोरसे यह ६० मीलके लगभग है। मैसूरके दीवानसाहबने एक बार कहा था कि सम्पूर्ण सुन्दर मैसूरराज्यमें श्रमणबेलगोल सदृश अन्य स्थान नहीं है, जहां सुन्दरता एवं भव्यताका मनोहर सम्मिश्रण पाया जाता हो।"

यह स्थान जैनियोंके लिये तो अत्यन्त पूज्य है ही, किन्तु कलाके पुजारियोंके लिये भी अत्यन्त आदरणीय एवं दर्शनीय स्थल है। श्रमणबेलगोलमें जैनश्रमण-तपस्वी भगवान गोम्मटेश्वर (बाहुबली) की अत्यन्त उन्नत और नयनाभिराम मूर्ति विद्यमान हैं, साथ ही वहां का मनोज्ञ कल्याणी सरोवर जो कनडमें बेलगोल कहा जाता है, विशेष आकर्षक है। वहांसे श्रवण गोम्मटेश्वरका सुन्दर दर्शन नगरवासियों को होता है, इस प्रकार उस प्रदेशको श्रमणबेलगोला कहना संगत है।

सन् १९४० की २६ फरवरीके महामस्तकाभिषेक महोत्सवपर श्रमणबेलगोल जानेका हमे शुभावसर प्राप्त हुआ था। उस समय एक दिन रात्रिको करीब ४ घंटे भगवान बाहुबलीकी भव्यमूर्तिके शरणमें बैठनेका सौभाग्य मिला था, तब प्रभुका दर्शनकर चित्तमें अनेक कल्पनाएं उत्पन्न होती थी· खेद इतना ही था, कि लेखनकी सामग्री पासमें न होनेसे उन कल्पनाओंको न लिख सका, फि भी कुछ कल्पनाएँ स्मृति-पथमें विद्यमान ही रह आईं। कई बार ऐसा विचार हुआ, कि श्रवणबेलगोलके संस्मरणरूप में कुछ लिखूं, किन्तु साथमें यह भी खयाल होता था, कि यदि एक बार पुनः दर्शन करके लिखूं तो विशेष आनन्द प्राप्त होगा। सौभाग्यकी बात है, कि बैंगलोर गोमटेश्वर-रक्षिणी कमेटीकी बैठकमें सम्मिलत होनेके लिए २१ दिसम्बरको जाना पड़ा, अतः दक्षिणके जैन तीर्थोंकी वंदना के साथ २ पुनः भगवान गोमटेश्वरके लोकोत्तर दर्शनका पुण्य अवसर प्राप्त होगया।

मैं ३ जनवरी को वहां पहुंचा। रात्रिको भगवानकी मूर्तिपर प्रकाश (Flood light) प्रवाह की व्यवस्था हासनके श्रेष्ठि श्री पुट्टस्वामी तथा उनके पुत्रोंकी सहायतासे होगई है, किन्तु जब हम वहां पहुंचे तो ज्ञात हुआ कि महायुद्धके कारण प्रकाशका कार्य बन्द कर दिया गया है, ताकि भावि अनिष्टकी सम्भावना न हो। प्रभु बाहुबलिकी मूर्तिके दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा थी, अतः हम जैनवेदमहा-पाठशालाके स्थानीय एक छात्रको साथमें लेकर पर्वतपर चले गये, उसी समय चन्द्रदेव अपनी चतुर्दश कलाओंसे अलंकृत हो उदित हुए थे। जिस पर्वत पर प्रभु विराजमान हैं, उसे इन्द्रगिरि, विध्यागिरि अथवा दोड्डबेट्ट (बड़ा पहाड) कहते हैं। यह जमीनसे तो ४७० फीट ऊँचाई पर है, किन्तु समुद्र-तलसे ३३४७ फीट पर है। पर्वतका व्यास चौथाई मीलके लगभग है। नीचे से ऊपर तक पहुचनेके लिए लगभग ५०० सीढ़ियाँ पहाडमें ही उत्कीर्ण हैं। प्रवेशद्वार बड़ा आकर्षक है; वहाँसे पर्वत बड़ा मनोहर दिखाई देता है। अन्य पर्वतोंके समान वह भीषण या दुर्गम नहीं दीखता है। पाषाण अत्यन्त चिकना और ढाल लिए हुए चित्तको हरण करता है। पर्वतके आसपासकी सम्पूर्ण सामग्री ऐसी है जो नेत्रोंको आनन्द एवं शान्ति प्रदान करती है। हम प्रवेशद्वारमेंसे होकर पर्वत पर चढने लगे। क्षणभरमें अर्थात् १० मिनटके भीतर ही हम गोम्मटेश्वरस्वामीके समीप पहुच गए। उस समय चित्त-वृत्ति सबसे प्रथम भगवान बाहुबलिके दर्शनको आकुलित हो रही थी, अतः आसपासमें अन्य अनेक सुन्दर मन्दिरोंके विराजमान होते हुए भी हम प्रभुके चरण-कमलोंके दर्शनार्थ सीधे पहुंचे।

उनके चरणोंकी वन्दना करनेके अनन्तर हम एक

जगहसे उनकी वीतराग मुद्राका दर्शन करने लगे। उस समय जो आनन्द तथा शान्ति प्राप्त हुई, वह वाणीके द्वारा प्रकाशमें नहीं लाई जा सकती। पहले हम कुछ स्तोत्र पाठ कर रहे थे, किन्तु भगवानके सौन्दर्य निरीक्षणमें चित्त-वृत्ति ऐसी लगी कि स्तोत्र-पाठ रुक गया। जैसे बहुत दिनके भूखे व्यक्ति को अमृत तुल्य पदार्थका आहार प्राप्त होता है और वह महान आनन्दका अनुभव करता है, उसी प्रकार हमारे नेत्र भी अत्यन्त आसक्तिपूर्वक भगवान का दर्शन कर रहे थे। उस समय यह समझमें आया कि भगवानकी रूप-मधुरिमाके पान करनेको क्यों इन्द्र महाराज आश्चर्ययुक्त हो सहस्र नेत्रधारी बने? वास्तवमें जी यही चाहता था, कि क्यों नेत्रोंके पलक बीचमें बन्द होकर व्यवधान करते हैं और ऐसे सौन्दर्यके सिन्धुको कैसे छोटेसे नयनपात्रोंसे पीऊं। प्रतीत होता था कि यदि इन्द्र भी दर्शनको आवे, तो वह पुनः सहस्राक्ष बने बिना न रहेगा, विचित्र बात है कि यहांके सौन्दर्यका अगणित रसज्ञ नेत्रोंने पान किया, किन्तु उस सौन्दर्यके सिंधुमें कोई कमी नहीं आई, जो संभवतः शास्त्रोंमे वर्णित संसारी जीवराशिके समान कही जा सकती है, जिसमें व्यय होते हुए भी पूर्ण क्षयकी कल्पना नहीं की जा सकती।

भगवान बाहुबली महान थे, इस बातको समझनेके लिए हमें वहां कल्पनाशक्तिको ज़ोर देनेकी कोई भी जरूरत नहीं पड़ती। यदि छोटी सी मूर्ति होती हैं तो हमें यह कल्पना करनी पड़ती है कि इस लघु शरीरमें महान् आत्माकी स्थापना की गई है। विशालकाय मूर्तिको देखकर स्वयं हृदय उनकी महत्ताका अनुभव करता है। प्रभु बाहुबलि यथार्थमें जैसे महान महिमाशाली हुए हैं, उसी प्रकार का भाव उनकी मूर्तिमें प्रगट होता है। चाहे वृद्ध हो, चाहे बालक, चाहे अज्ञ हो, चाहे विज्ञ, प्रत्येक व्यक्तिके अन्तःकरणमें भगवानकी महत्ता अंकित हो जाती है और वह अपनी लघुताका अनुभव करता है। कितना ही बड़ा तथा वैभवशाली व्यक्ति क्यों न हो, यहां दर्शन करते ही वह अपनी लघुताका अनुभव करता है और महान बननेकी आकांक्षा करता है।

प्रभुका दर्शन करते समय यह विचार ही नहीं आता है कि यह मूर्ति है, प्रतिबिम्ब है, अचेतन है; इसमें वीतराग प्रभुकी स्थापना की गई है। हृदय तो यह अनुभव करता है कि मूर्ति सजीव है, साक्षात् गोम्मटेश्वर है। दर्शन करते हुए क्षणभर नेत्रोंको बन्द करनेपर ऐसा अनुभव होता है, मानो हम योगीश्वर बाहुबलीके साक्षात् सम्पर्कमें हों।

कभी यह भी भाव उत्पन्न होता था, कि मूर्तिमें भी जब भावोंको प्रभावित करनेकी सामर्थ्य है, तब फिर साक्षात् कामदेव भगवान बाहुबलिका जिनमुद्रा धारण करनेपर कितना न असर पड़ता होगा!

यही भाव महाकवि शेक्सपियरके एक पद्यमें शब्दमात्र के परिवर्तन द्वारा प्रस्तुत प्रसंगके लिये स्व० जस्टिस जुगमन्दरलालजैनीने लिखा है—

Ah me! how sweet is Jina itself possessed, When but Jina's shadows are so rich in joy Romes and Jubet.

अहा! स्वरूपमें निमग्न जिनेन्द्र कितने मनोहर न होंगे, जबकि उनकी छायामात्र इतने आनन्दरस से परिपूर्ण है। हजार वर्षके लगभग जिस मूर्तिको प्रतिष्ठित हुए व्यतीत हो गए, वह आज भी देखनेमें नवीन सरीखी मालूम होती है। मैसूरमें कुछ प्रोफेसर दर्शनार्थ अनेक बार आए। हाल ही दर्शन कर लौटते समय कहने लगे, ऐसा प्रतीत होता है, कि ५-७ वर्ष पूर्व मूर्तिका निर्माण हुआ होगा। साधारण दृष्टिसे देखने पर तो यह मालूम पड़ता है कि कुछ ही दिन पूर्व प्रतिमा बनाई गई होगी।

मूर्तिका प्रत्येक अंग नवीनताके अमृतरससे परिपूर्ण मालूम होता है। जितने बार भी दर्शन करो, वह सदा दर्शनीय ही रहती है। प्रभुके दर्शन करनेसे प्रतीत होता है कि वास्तवमें जो रमणीय वस्तु होती है, उसके सौन्दर्यका भण्डार अक्षय होता है। संस्कृतके कविका यह कथन यहां अक्षरशः चरितार्थ होता है कि—

"पदे पदे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः"

'पद पदमें जिसमें नवीनता पाई जाती है, वही रमणीयताका स्वरूप है।

अंगरेज कवि कीट्स (Keats) की उक्ति भी गोम्मटेश्वर स्वामी का दर्शन करनेपर पूर्णसंगत मालूम होती है। वह कहता है—

A thing of beauty is a joy for ever, Its loveliness increases it will never pass into nothingness.

'सौन्दर्यसंपन्न पदार्थ सतत आनंद प्रदान करता है। उसकी रमणीयता बढ़ती ही जाती है और कभी भी उसका अभाव नहीं होता।'

हमारा अनेक बारका अनुभव है, कि गोमटेश्वर स्वामी का बार-बार निरीक्षण करने पर भी सदा नवीनता विद्यमान रहती है, इसीसे पुनः पुनः दर्शन करके चित्त तृप्त नहीं होता। हमने ता० ३ की रात्रिको प्रभुका बहुत समय तक दर्शन किया, जब कि चन्द्रदेव अपनी विमल चंद्रिकामे ज्योतिर्मय भगवानका अभिषेक कर रहे थे। ता० ४ को प्रभातसे मध्याह्न तक भी हमने चार पांच घंटे दर्शन किये, जब कि सूर्य-प्रकाशसे भगवानकी छविका पूर्णतया दर्शन होता था। ता० ५ को भी हमने प्रभु का दर्शन किया; किन्तु दर्शनकी पिपासा शान्त नहीं हुई। मूर्तिका सौन्दर्य और नवीनता पूर्ववत् ही दिखाई देती थी।

इंद्रगिरि-शिखर पर निराश्रयस्थित ५७ फीट ऊंची भगवानकी मूर्तिके पृष्ठ भागमें आकाशकी नीलिमा बहुत भली मालूम पड़ती है। सूर्यका आना तथा जाना, चंद्रमा का नक्षत्र-मालिका-सहित उदित होना और अस्ताचलगामी होना यह बताते हैं मानों प्रकृति देवी अपने तेजस्वी प्रकाशपुञ्जोंसे भगवानकी नीराजना—आरती करती हो।

न मालूम कितनी बार वहां जाड़ा-गर्मी-वर्षा-ऋतुओं का आगमन हुआ, किन्तु गोमटेश्वर अपने प्राकृतिक रूपमें सदा विद्यमान हैं। आस-पासकी क्षणभगुर प्रकृतिमें परिवर्तनका तमाशा सदा दीखता है, किन्तु अविनाशी आनंदके अधिपति प्रभुमें कोई चचलता या क्षणभगुरताका दर्शन नहीं होता। उनकी वही शान्त-गंभीर-आत्मनिमग्नमुद्रा आत्मविजय, कामविजय तथा स्वाधीनवृत्तिको प्रकाशित करती है। उनके नेत्र यद्यपि खुले हुए हैं, किन्तु उनके सूक्ष्मदर्शनसे प्रतीत होता है, कि भगवान बहिर्जगतको देखते हुए भी अंतर्द्रष्टाके रूपमें विद्यमान हैं। उनके नेत्र स्वयं अनेकान्तदृष्टिके भावको व्यक्त करते हैं। यह पता नहीं चलता कि गोमटेश्वर चुपचाप खड़े होकर सामने क्या देख रहे हैं। मालूम पड़ता है, कि उनकी अविचल दृष्टि सर्वाङ्गीण अविनाशी सत्यको देख रही है। ओठोंपर स्मित की सूक्ष्म आभा दीखती है, जो संभवतः उनके चिद्रूप दर्शनसे उत्पन्न आत्मानंदकी द्योतिका हो। वह स्मित सदा विद्यमान रहता है। भयंकर वर्षा, तीव्र शीत एवं भीषण उष्णता उस स्मितपर कुछ भी असर नहीं पहुंचाती; कारण वह अविनाशी आत्माके स्वाभाविक आनंदका द्योतक है। और बाह्य सामग्रियें उस प्रभुके शान्ति-रस पानमे बाधा नहीं पहुंचा सकती; क्योंकि वह आत्मनिमग्नता योगीश्वरोंके भी आराध्यदेव भगवान गोम्मटेश्वर की है।

दिशाकी अपेक्षा मूर्ति उत्तरमुखी कही जाती है, किन्तु गुण आदिकी दृष्टिसे वह अनुत्तर है। उनकी शांतमुद्रा, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, शोक, भय, मोह, क्षुधा, तृषा, मृत्यु आदि विकारोंके विजेतापनेको घोषित करती है।

आजका विश्व अनेक व्याधियोंसे, विविध आपत्तियोंमे निमग्न होकर पीड़ाके कारण कष्ट पा रहा है। वह यदि भगवान गोम्मटेश्वरके चरणोंका आश्रय ले, तो उसे प्रभुकी मौनी मूर्ति यह उपदेश देगी, कि यदि तुम्हें शांति चाहिये, तो मेरे पास आ जाओ, और मेरे समान जगतके माया-जालका त्याग कर प्रकृतिप्रदत्त मुद्राको धारण करो। क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका परित्याग करो; देखें तुम्हारा दुःख कैसे नहीं दूर होता है? जब गोम्मटेश्वरके चरणों के समीप बैठनेसे दुःख-ज्वाला शांत होती है, तब उनकी मुद्राको धारण करके उनके मार्गपर चलनेसे क्यों न दुःखों का क्षय होगा?

प्रकृतिकी मौन वाणीको समझनेकी जिसे योग्यता प्राप्त है वह जान सकता है, कि प्रभुकी मूर्ति कितनी अमूल्य शिक्षाएँ प्रदान करती है। प्रकृतिका उपासक कवि वर्ड्सवर्थ तो यह कहता है कि—"One impulse from a vernal wood teaches me more of moral good and bad than all the sages can."

'वसंत श्री-संपन्न वनसे प्राप्त भावना मेरे हृदयको इतना शिक्षित करती है कि जितनी शिक्षा—नैतिक गुण का परिज्ञान—बड़े बड़े साधुओं के द्वारा नहीं प्राप्त होती है।'

जिस व्यक्तिकी आत्मा प्रकृतिसे शिक्षा प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त कर चुकी है, वह शेक्सपियर के शब्दोंमें—

"Books in the running brooks sermons in stones and good in every things"–'बहने वाले झरनोंमें ग्रंथोंको, पाषाणोंमें धर्मोपदेशोंको एवं प्रत्येक वस्तुमें भली बातोंको पाता है।

गोम्मटेश्वरस्वामीका दर्शन करनेवाला प्रत्येक विचारशील व्यक्ति उनकी मौनी मुद्रासे बहुत कुछ सीख कर आता है और इतना अधिक सीखता है, कि उनकी वीतरागताकी छाप हृदय-पटल पर सदा अंकित रहती है। उनके दर्शनसे यह बात समझमें आजाती है कि वीतरागताके भावोंसे पूर्ण दिगम्बर मुद्रा सर्वत्र शांति तथा निर्विकारता का साम्राज्य उत्पन्न करती है। पूज्यपाद स्वामीके शब्दोंमें कहना होगा कि 'वाणी का बिना प्रयोग किये वे आकृतिसे मोक्षमार्गका उपदेश देते रहते हैं।'

शिक्षा-मर्मज्ञोंका कथन है कि चित्रोंके द्वारा भी बहुत शिक्षा दी जासकती है। इस बातका प्रशस्त उदाहरण गोम्मटेश्वर स्वामीकी मूर्ति है, कि जिनके दर्शनसे पुण्य-वृत्तियों का अनायास एवं स्थायी उपदेश प्राप्त होता है। जिस प्रकार चुम्बक लोहेको अपने पास आकर्षित करता है, उसी प्रकार वीतराग प्रभुकी मूर्ति दर्शकोंके चित्तोंको अपनी ओर आकर्षित करके अपनी गहरी मुद्रा अंकित कर देती है। कैसा ही मलिन मनोवृत्ति वाला मानव उनके दर्शनको जावे उसके हृदयमें उज्वल विचारोंका प्रकाश फैले बिना नहीं रहेगा। जो जैनधर्मकी आदर्श पूजा के भावको समझना चाहते हैं वे एक बार भगवानके दर्शन करें, तब उनको विदित होगा, कि यहाँ आदर्शके गुणोंकी आराधना किस प्रकार की जाती है।

भगवान बाहुबलि लोकोत्तर पुरुष थे। उन्होंने चक्रवर्ती भरतको भी जीत लिया था और अन्तमें साधु-वेष अंगीकार किया था। उनके प्रतिबिम्बमें भी विश्वविजयीपनेका भाव पूर्णतया अङ्कित मालूम पड़ता है, यही कारण है, कि बड़े बड़े राजा-महाराजा तथा देश-विदेशके प्रमुखपुरुष प्रभुकी प्रतिमा के पास आते हैं, और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

संसारमें कठिन होनेके कारण पाषाणको अभिमानका प्रतीक बताते हैं। वही मानका उदाहरण कहा जाने वाला पाषाण, जब प्रभुकी अनुपम मुद्रासे अंकित होगया, तो वह मानका नाशक एवं मार्दव भावका उद्बोधक कहा जाने लगा। क्या यह अनुपम बात नहीं है? उन प्रभुकी दृष्टि जहां पड़ती है, वहाँ समता और मृदुताका प्रकाश फैला मालूम होता है इसी भावको द्योतन करनेके लिए विंध्य-गिरिके सामनेकी पाषाण-राशि एवं चंद्रगिरिका प्रस्तर-समूह स्निग्ध एवं चिकना बन गया और उसका ऊँचा-नीचापना दूर होकर उसमें भी समता एवं सौन्दर्यका वास होगया।

भगवान बाहुबलिका प्रभाव और प्रताप त्रिभुवनमें विख्यात था। प्रतीत होता है कि, इसी कारण उस पाषाण पिण्डने कठोर होते हुए भी मृदुता धारण की और कुशल शिल्पीने जहां जैसा भाव अंकित करना चाहा वहां उसको अनुकूलता प्रदान की; तभी तो ऐसी भावमयी मूर्तिका निर्माण हुआ जो मनुष्योंकी तो बात ही क्या, देवताओंके द्वारा भी वंदनीय एवं दर्शनीय है।

कोई कोई व्यक्ति यह सोचते हैं कि, जब महाराज बाहुबलिने दृष्टि, जल तथा मल्लयुद्धमें सम्राट भरतको पराजित कर दिया था, तब उनको राज्य-शासन करना था, यह क्या? कि, तत्काल तपस्वी बन गए! उनकी शंका है कि विजेता बाहुबलिने क्यों दीक्षा ली?

भगवान के दर्शन करते हुए उक्त शंकाका समाधान हमें इस रूपमें प्राप्त हुआ कि—यदि बाहुबलि स्वामीने दीक्षा न ली होती तो क्या होता? भले ही बाहुबलिने भरतेश्वरको पराजित कर दिया था, फिर भी भरत महा-राजके चित्तमें न्यायानुसार राज्य देनेकी भावना नहीं थी। तभी तो उन्होंने हार जानेपर भी बाहुबलिपर चक्रका प्रहार किया था। यह दूसरी बात है कि वह चक्ररत्न बाहुबलिस्वामी का, कुटुम्बी होनेके कारण, कुछ न कर सका। इस घटनासे बाहुबलिको भरतके अंतःकरणको समझनेका मौका मिल गया। उन्होंने सोचा और समझा—यदि मैं राज्य करना चाहता हूं तो भरतके साथ सदा कलह हुआ करेगी, इससे मुझे मेरी प्रिय शांति नहीं मिलेगी और हमारे पिता भगवान आदिनाथको भी लोग भला-बुरा कहेंगे। और उपहास करते हुए कहेंगे, कि उनके पुत्र बहुत अयोग्य निकले, कि जो बंधुत्वको छोड़कर पतित प्राणियोंकी तरह निरंतर झगड़ते ही रहते हैं। इस तरह राज्यधारणसे न मुझे शांतिलाभ होगा, और न पिताकी कीर्तिका ही रक्षण होगा। अतः वे सोचने लगे, कि ऐसा

मार्ग अङ्गीकार करना चाहिए, जिससे शांति लाभ हो कीर्तिका रक्षण होगा, और भरतकी भी अभिलाषा पूर्ण हो। आखिर वह मेरा ही ज्येष्ठ भाई है। इन सब बातोंकी प्राप्ति एक राज्य-परित्यागसे हो सकती है। भरत राज्यको बहुत भले ही मानते हो, किन्तु बाहुबलिकी दृष्टिमे राज्य बहुत चिंताका बढ़ाने वाला ही था। यही कारण है, कि जब भरतका दूत बाहुबलिके समीप यह कहनेको पहुंचा, कि आप भरतकी अधीनता स्वीकार कीजिए, तब बाहुबलिने कुशल-क्षेमकी चर्चा करते हुए पूछा था—"बहुचिंतस्य चक्रिणः कुशलं किम्" ?—अधिक चिंताओंसे लदे हुए चक्रवर्तीकी कुशल तो है न ? यहा 'बहुचिंत्यस्य' शब्दके द्वारा बाहुबलिकी आत्माको आचार्यने पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है, कि वे राज्यको आनंदका साधन न मानकर उसे भाररूप तथा चिंताका कारण समझते थे। उनकी मनोवृत्ति का एक अंग्रेज कवि भी इस प्रकार समर्थन करता है:—

"Uneasy lies the head that wears a crown."

'जिस मस्तक पर राजमुकुट विराजमान रहता है, वह सदा बेचैनीका अनुभव करता है।' बाहुबलि राज्यवृद्धिको आकुलताका वर्धन अनुभव करते थे, इसीसे जहां उनके भाई भरत राज्यपर राज्यविजय प्राप्त करते जाते थे, वहाँ बाहुबलि अपने पोदनपुरमे पूर्णतया संतुष्ट थे और उनके चित्तमें साम्राज्यवृद्धिकी लालसा नही थी। यदि बाहुबलि का आत्म-गौरव संकटमें न आता तो वे भरतके साथ युद्धके लिए भी तैयार न होते। भरतके साथ युद्ध करनेमें बाहुबलिकी राज्य-कामना कारण नहीं थी, किंतु अपने क्षत्रियत्व तथा वीरत्वकी मर्यादाका संरक्षण करना था। अपने गौरव की रक्षा करते हुए साम्राज्यकी प्राप्ति आनुषंगिक फल था। इस कारण बाहुबलिने क्षणभरमे यही गंभीर विचार किया, कि मेरेलिये अपनी शांति और कुलके गौरवकी रक्षार्थ सम्मान पूर्ण तथा कल्याणप्रद एक ही मार्ग है, और वह यह कि मैं राज्यके संकीर्ण क्षेत्रसे निकल कर प्राकृतिक दिगम्बर मुद्राधारणकरूं और विश्वमैत्रीका अनुभव करूं।

भगवान बाहुबलिके दीक्षा लेनेको इस प्रकार भी युक्तियुक्त बताया जा सकता है कि संसारके पदार्थोका कुछ ऐसा स्वभाव है, कि उन्हे जितना जितना भोगो उतनी उतनी तृष्णाकी वृद्धि होती जाती है। इस सम्बन्धमें अग्नि और ईंधनका उदाहरण प्रसिद्ध है। जब बाहुबलिने षट्खंडविजेता भरतको पराजित करदिया, तब उनकी जयाकांक्षा और बढ़ गई तथा उनकी उत्कंठा विश्वविजयी बननेकी हुई। चारो दिशाओंमें दृष्टिपात करनेपर उनको कोई शत्रु नही दिखाई दिया, किन्तु जब अंतःकरणमें दृष्टि गई, तो एक नही अपरिमित शत्रुओंका—महाशत्रुओंका समुदाय देखा, जो मोहके नेतृत्वमें इस आत्माके गुणोंका नाशकर इसे सदा दुःख दिया करते थे। उस समय वीरशिरोमणि बाहुबलि का पौरुष जागा। उनने सोचा, यदि मैंने इन शत्रुओंका दमन न किया, तो मेरा वीरत्व वृथा है। अतः जयशील बाहुबलिने पापवासनाओंको निर्मूल करनेके लिये विशाल साम्राज्यका त्याग किया और एक आसनसे खड़े होकर कर्मों का नाश करनेके लिए घोर तपश्चर्या आरंभ कर दी, और अंतमें कैवल्यका लाभ करके 'कर्मारिविजयी जेता" की प्रतिष्ठा प्राप्त की। अतः यह विचार भी संगत प्रतीत होता है, कि विश्वविजेता बननेके लिए बाहुबलि स्वामीने साम्राज्यका परित्याग किया।

यह भी कहा जाता है, कि जब भरतने राज्यकी ममता के कारण नीति मार्गके विपरीत बाहुबलिपर चक्र-प्रहार कर उनके प्राण लेनेका भाव व्यक्त किया और वह विफल हुआ, तब बाहुबलि स्वामीके अंतःकरणमे सहज-विरक्तिने जन्म लिया कि-"धिक्कार है, इस राज्य-तृष्णा और भोगाकांक्षाको, जिसके कारण भाई भाईके प्राणोंका ग्राहक बनता है।" यथार्थमे सांसारिक विभूतियोंमें एक न एक आपत्ति लगी रहती है। सच्ची निर्भीकता तो वैराग्य भावमें ही प्राप्त होती है—'वैराग्यमेवाभयम्।' उनके करुणापूर्ण अंतःकरणमे यह भी विचार उत्पन्नहोना संभव है कि मैंने व्यर्थ ही नश्वर राज्यके पीछे अपने जयशील, चक्रवर्ती बननेवाले भाईकी आशाओंपर पानी फेर दिया और उनके संतापका कारण बन बैठा। ऐसे ही कुछ सत्कारण थे जिनने विजयी बाहुबलिके अंतःकरणको प्रभावित किया, प्रकाशित किया और इसीसे उन्होंने उस मुद्राको धारण किया, जो प्रकृतिसे प्राप्त है, जिसमे संपूर्ण विश्व अंकित देखा जाता है, और जो निर्विकारता तथा पूर्ण पवित्रताको प्रगट करती है।

भगवानके शरीरसे लिप्त माधवीलता और सर्प आदिका

समूह इस बात को ज्ञापित करते हुए प्रतीत होते हैं कि अब बाहुबलि मानव-समाजके ही प्रेम-पात्र नहीं हैं, वे तो जीवमात्रके हितैषी हो गए, इस लिए हरप्रकारके प्राणी उन के प्रति आत्मीय भाव धारणकर अपना स्नेह व्यक्त करते हैं।

ऐसा भी विचार आता है कि माधवीलता और सर्पराज उन पुण्य और पाप वासनाओंके द्योतक हैं, जिनको बाहुबलीने वीतराग, वीतद्वेष बननेके कारण अपने अन्तःकरणसे बाहर निकाल दिया है, अतएव वे बाहर ही विद्यमान रहकर उनका संसर्ग नहीं छोडना चाहते हैं।

हमारे चित्तमें एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि महाराज चामुंडरायने ही यदि भगवानकी मूर्तिका निर्माण करवाया, यह इतिहासज्ञोंकी मान्यता सत्य है, तब चामुंडरायने बाहुबलिकी मूर्तिको क्यों पसन्द किया ? वे चाहते, तो आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव या अन्य तीर्थंकर परमदेवकी मूर्ति बनवाकर धर्मकी महिमा प्रकाशित करनेके साथ-साथ अपनी आत्माका भी कल्याण कर सकते थे। आखिर तीर्थंकरका पद विशेष महत्वका है, इसे सभी स्वीकार करते हैं ?

तत्काल ही इसका समाधान यह सूझ पडा कि—मूर्तिके निर्माण कराने वाला व्यक्ति महान् सैनिक था, इसीसे उसको समरमार्तण्ड, वैरिकुलकालदण्ड आदि क्षत्रियोचित पदोंसे अलंकृत किया जाता था। वह बाहुबलिके समान पराक्रम, शक्ति तथा मनोवृत्तिकी प्राप्ति चाहता था। जिस प्रकार बाहुबलिने अपने पराक्रम एवं बाहुबलसे चक्रवर्ती तक को पराजित कर दिया और अन्तमें जिनेश्वरी मुद्रा धारणकर कर्मचक्रको निर्मूल किया, उसी प्रकार चामुंडराय भी अत्यन्त समुन्नत शत्रुको परास्त करके कर्म शत्रुओंपर विजय प्राप्तिकी कामना करता था। इसीसे बाहुबलिका आदर्श चामुंडरायके लिये अत्यंत आकर्षक था।

आचार्य विद्यानन्दने कहा है—'जो जिसके गुणोंकी प्राप्तिकी आकांक्षा करता है वह उसकी वन्दना करते हुए देखा जाता है,' इसी नियमके अनुसार लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रके सफल सैनिक बाहुबलिके आदर्शको अपना लक्ष्य बनाना चामुंडराय जैसे सैनिकके लिए अत्यन्त उपयुक्त तथा संगत था। इसी कारण उसने शिल्पीको बाहुबलिकी अनुपम मूर्ति बनानेको कहा। मूर्तिकी अलौकिकताको देखकर प्रतीत होता है कि उनने शिल्पीको यह प्रेरणा अवश्य की होगी, कि जैसे इस अल्पकालमें बाहुबलि के विजयका इतिहास एक अनूठी घटना है उसी प्रकार उनकी मूर्ति भी इतनी अपूर्व हो जो संसार भरको विस्मय-सागरमें निमग्न करदे। हुआ भी ऐसा ही, महाराज चामुंडराय की मनोकामना शतप्रतिशत पूर्ण हुई। इसीसे सिद्धान्त चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्य, अपने गोम्मटसार-कर्मकाण्डमें, इस मूर्तिके निर्माता चामुण्डराय (गोम्मटराय) को आशीर्वाद देते हुए लिखते हैं—

'जेण विणिम्मिय-पडिमा-वयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्व-परमोहि-जोगेहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ॥

अर्थात्—जिसके द्वारा निर्मापितकी गई मूर्तिके मुखका सर्वार्थसिद्धिकेदेवो और परमावधि-सर्वावधि ज्ञानके धारक योगीन्द्रोंने दर्शन किया है वह गोम्मटराजा* जयवन्त हो।

इस अप्रतिम सौन्दर्य-समन्वित प्रतिमाको देखकर कभी तो चित्त चामुण्डरायके महत्व एवं सौभाग्यकी ओर आकर्षित होता है, कभी उस शिल्पीकी ओर जिसके मस्तकमें सबसे पहले गोम्मटेश्वरका लोकोत्तर काल्पनिक चित्र आया, और जिसने अपनी कलाके द्वारा ऐसी मूर्ति उस पाषाण पिण्डमें से निकाल दी, जैसी कि आज तक लोगोंके देखने सुननेमें भी अन्यत्र नही आई। आज उस शिल्पीके नामका पता नही है, किन्तु अमर कलामयकृति करके वह वास्तवमें अमर हो गया। उसकी पवित्र कलाके प्रति संपूर्ण विचारक अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। वैसे तो अपूर्व कलाकी अन्य वस्तुएँ भी विश्वमें विख्यात हैं, किन्तु इस मूर्तिनिर्माणकी कलाको कोई नहीं पाता। कारण? यह पुण्यकला है, इससे मनुष्यके अंतःकरण में विषयाशक्तिके भाव नहीं रहने पाते और वह एक अनुपम पवित्र प्रकाशमें अपनी आत्माको आलोकित पाता है। इस प्रकारकी उज्वल तथा जीवनमें निर्मलताकी पुण्य धारा बहाने वाली चमत्कारपूर्ण कलामयकृति और कहां है ? यहाँ हमें अन्य वस्तुके साथ उपमान-उपमेय-भाव का संबन्ध करना असंगत प्रतीत होता है और यह कहना

*चामुण्डरायका खास नाम 'गोम्मट' होनेसे उनके आराध्यदेव बाहुबलिको 'गोम्मटेश्वर' (गोम्मटका ईश्वर) कहते हैं।

पड़ता है कि गोम्मटेश्वरकी मूर्ति गोम्मटेश्वर की मूर्तिके समान है। जब अन्य तत्सदृश वस्तु ही नहीं, तब तुलना किसके साथ की जाय, अतः अतुलनीय कहना पूर्णतया संगत है।

कहते हैं कि जिस कलाकारने इस कलामय मूर्तिका निर्माण किया था वह लगभग १२ वर्ष तक अत्यन्त पवित्रताके साथ रहा था और उसने उच्च सात्विक जीवन बिताया था। उसकी सच्ची पवित्र साधनाको इतनी सफलता मिली, कि उसकी महिमाके लिए शब्द नहीं हैं।

कभी-कभी हृदय उस पाषाणको धन्य कहता है, जो भले ही एकेन्द्रिय जीव रहा, किन्तु जिसको गोम्मटेश्वरकी त्रिभुवनवंदित मुद्रा धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और जो अनन्त प्राणियोंके कल्याणका निमित्त बना, बनता है और बनता रहेगा।

गोम्मटेश्वरके समीप आनेपर मस्तक सदा उन्नत रहता है, चित्तमें किसी प्रकार की चिन्ता या भीति नहीं रहती, घरेलू छोटी मोटी आकुलताएं नहीं सतातीं × । ठीक है महान आत्माका आश्रय पाकर कौन महान नहीं बनता है? गोम्मटेश्वरके चरणोंके समीप बैठने पर ऐसा प्रतीत होता है, मानों हम सब प्रकारकी झंझटोंसे मुक्त होकर ऐसे आश्रयको प्राप्त कर चुके हैं जहाँ भविष्यमें कोई आपत्तिकी आशंका नहीं है।

फर्गुसन महाशयका कथन है कि—"मिश्र देशके सिवाय संसार भरमें अन्यत्र इस मूर्तिसे अधिक विशाल और प्रभावशाली मूर्ति नहीं है। मिश्रमें भी कोई मूर्ति इससे अधिक ऊँची नहीं है।"

डा० कृष्ण एम० ए० पी० एच० डी० लिखते हैं—"शिल्पीने जैनधर्मके संपूर्ण त्यागकी भावना इस मूर्तिके अङ्ग-अङ्गमें अपनी छैनीसे पूर्णतया भरदी है। मूर्तिकी नग्नता जैनधर्मके सर्वत्यागकी भावनाका प्रतीक है। एकदम सीधे और मस्तक ऊँचा किए खड़े इस प्रतिमाका अङ्ग-विन्यास पूर्ण आत्मनिग्रहको सूचित करता है। ओठोंकी दयामयी मुद्रासे स्वानुभूत आनन्द और दुःखी दुनियाके साथ सहानुभूतिकी भावना व्यक्त होती है।"

गोम्मटेश्वरकी मूर्ति कतिपय भावुकहृदयोंके लिये सदा नवीन कल्पनाओं तथा भावनाओंको प्रदान करती है। बारहवीं सदीके विद्वान बोप्पणपंडितने 'नक्षत्रमालिका' नामकी २७ पद्यमय कविताद्वारा भगवान का गुणकीर्तन कन्नड भाषा में किया है, इसके एक पद्य में कवि बड़ी मार्मिक बात कहता है कि—

"अत्यन्त उन्नत आकृति वाली वस्तुमें सौन्दर्यका दर्शन नहीं होता है, जो अतिशय सुन्दर वस्तु होती है वह अतीव उन्नत आकारवाली नहीं होती है; किन्तु गोम्मटेश्वर की मूर्तिमें यह लोकोत्तर विशेषता है कि अत्यन्त उन्नत आकृतिधारी होनेपर भी अनुपमसौन्दर्यसे विभूषित है।"

यथार्थमें महिमाशाली भगवानगोमटेश्वरका जितना भी वर्णन किया जाय थोड़ा है। उनके दर्शनका आनन्द स्वानुभवका विषय है, जिसे मनुष्य कभी भी भूल नहीं सकता।

इस प्रसंगमें हमे महाकवि भगवज्जिनसेनाचार्यकी भगवान बाहुबलिको लक्ष्यकरके लिखी गई यह अमर उक्ति स्मरण हो आती है कि—

जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यैः,
अधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा,
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम्॥

'जगमें जयशील योगीश्वरोंके द्वारा जिनकी महिमा परिज्ञात है, आदरणीय व्यक्तियोंके द्वारा सम्मानित इन इन योगिराज बाहुबलि भगवानको जो हृदयमें बारंबार स्मरण करता है, उसकी आत्मा शान्त अंतःकरण वाली होती हुई जैनेश्वरी तथा अजेय विजयश्रीको प्राप्त करती है।'

उस गोम्मटेश्वर बाहुबलि भगवानका दर्शन कर लौटे हुए कई दिन बीत गए, किन्तु वह पुण्यस्मृति सदा ही चित्तमें विराजमान रहती है। उन बाहुबलि प्रभुके श्रीचरणोंको परोक्ष प्रणाम है।

× कविवर रवीन्द्रनाथ टागोर ऐसे ही प्रदेशकी कामना अपनी गीताञ्जलिमें व्यक्त करते हैं।

Where the mind is without fear and the head is held high,
Where knowledge is free,
Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls, ...
. . . . Into that heaven of freedom, my father let my country awake
'GITANJALI'

आदमी, जानवर, या बेकार ?

[एक स्केच]

(लेखक—श्री 'भगवत्' जैन)

एकबार नहीं, कई बार कॉन्स्टेबिलकी ठोकर मारते हुए मैंने उसे देखा है ! और देखा है दयापात्रोंको पैसा देते हुए भी !······

वह रास्तेमें ज़रा हट कर, फुट पाथ पर बैठी रहती है—अपने बच्चेको फटे-टाटके टुकड़ेपर बैठाले हुए ! आस-पास दुर्गन्धि उड़ा करती है, मक्खियाँ भिन-भिनाया करती हैं !

वह जो कोढ़िन है ! सारा शरीर घावोंसे भर रहा है ! गल रहा है ! हाथोंकी उँगलियाँ गिर चुकी है ! हथेली भर बाकी हैं ! वह चिथड़े में ढकी है—बदबूके मारे ठहरा नहीं जाता उसके पास !

जाने कैसे पाप किये हैं—उसने ? घड़ी-भरको चैन नहीं मिलता ! पीड़ाके मारे तो रोती ही रहती है ! पर, दूसरी वेदना जो उसपर और है—'अन्न !'

असर कुछ-कुछ बच्चे पर भी है ! उसका शरीर भी ऐसा हो रहा है जैसे-छलनी ! मक्खियाँ उसे भी बहुत परेशान करती हैं ! रोता वह भी खूब है जी खोलकर ! रक्त-माँस-हीन चार सालका बच्चा ऐसा लगता है, जैसे-दो-ढाईसे अधिक नहीं !

कितनी घृणामयी है उसकी माँ ! कितना दयनीय-जीवन है उसका, यह वह नहीं जानता !

उम्र है चालीसके करीब ! पर मुसीबतोंने, कष्टोंने और शरीरकी भयंकर, नरक-दुख-प्रदर्शक बीमारीने उसे एक दम परतंत्र, मुहताज, अपाहिज और जीर्ण-शीर्ण बना दिया है !

'बाबू एक पैसा, दुखिया—अपाहिज—मुहताजको एक······पैसा !'

जब-जब मैं उस रास्ते जाता हूँ, बराबर यह आवाज़ मेरे कानोंमें आती है ! सुबह, दिन, दोपहर, रात और आधी-आधी रात तक भी, जब मैं 'सैकिन्ड-शो' देखकर लौटा हूँ, मैंने इस करुण-पुकारको सुना है !

छुट्टीका दिन था—इतवार ! साग-सब्जी लेकर घर लौट रहा था कि—

'बाबू एक पैसा, दुखिया—अपाहिज—मुहताजको एक पैसा ······!'

पैर अनायास रुक गए ! एक इकन्नी निकालकर मैंने उसके आगे फेंक दी !

गुदड़ा-लपेटी हथेलियोंमें उसने इकन्नी उठाकर बरतनमें छिपाई और कृतज्ञ-दृष्टिसे निहारने लगी—मेरी ओर !

पर, बच्चा रोता ही रहा, उसी तरह ! मेरी इकन्नी ने उसपर कोई असर नहीं किया ! मुझे लगा—जैसे बच्चे को इससे भी कुछ अधिक चाहिए ! वह पैसेके महत्वको अभी नहीं समझ पाया है !······

झोलेमें अमरूद निकालकर मैंने उसके आगे डाल दिए !

वह बहल गया !

रास्ते-भर मैं सोचता गया—उम्रके साथ-साथ ही मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ती है ! और आवश्य-कताओंके साथ-साथ ही जीवनकी कटुताएँ !

बच्चा अमरूदसे बहलता है !

भिखारिन इकन्नीसे !

मैं पाँच रुपयेकी तरक्कीसे खुश हो गया ! और साहब पाँच सौ रुपये पाने पर भी जले-भुने रहते हैं !

× × ×

'नो वेकैन्सी'(जगह नहीं है) का बोर्ड टँगा रहने पर भी, दफ्तरमें नौकरी तलाश करने वालोंकी कमी नहीं रहती ! औसतन प्रतिसप्ताह, दर्जन-भर तो आते ही हैं ! जिनमें कुछ ग्रेज्युएट, कुछ अंडर-ग्रेज्युएट और

कुछ यों ही !

आशा लेकर आते हैं, और फटकार लेकर लौटते हैं ! मुसीबत तो यह है कि सभ्यताका बर्ताव उनपर कारगर ही नहीं होता ! नौकरी क्या माँगते हैं—पूरा मुर्दाचिरापन या : करके आते हैं, शायद ! मरने-मारने, लड़ने-झगड़नेको उतारू ! आखिर फटकार ही उनसे पिंड छुड़ानेमें समर्थ होती है !

उस दिन भी एक आया—शरीरका तन्दुरुस्त, उम्रका नौजवान ! गोरा-चिट्टा, साफ-सुथरा ! कपसोल का जूता, ढीला पजामा और ऊपर घरका धु या, पुराना कोट ! निचोडनकी सिकुडनें अभी भी बाकी थीं ! सिरपर लम्बे-लम्बे बाल थे—सँभाले हुए ! पर, तेल उनमें नहीं था, पानी से भीगे हुए थे, तभी शायद काढ़ लिये गये थे, अस्त-व्यस्त नहीं थे ! जमे थे सच !···

साहब सुबह से दो उम्मीदवारोंको फटकार चुका था ! काम के वक्त यह तूफाने-बदतमीजी उसे पसन्द नहीं था !······

क़लम चलाते-चलाते ही साहबने डाट बताई—'चले जाओ, जगह नहीं है यहाँ !'

'मगर सुनिये तो······?'

'जरूरत नहीं !'

और उसने अपनी योग्यताके गवाह—सार्टीफिकेटस्—मेजपर पटक ही दिए !

साहब झल्लाया—'आदमी हो या जानवर ?'

'आदमी ! तीन दिनका भूखा आदमी अगर 'आदमी' ही रह सकता है, तो साहेब ! मुझे भी आदमी ही कहना होगा !'—दबंगपनके साथ उसने उत्तर दिया !

साहबका मुँह मारे क्रोधके लाल हो आया—'शट्अप !'

और घन्टी बजादी !

दर्बान आगया !

वह भी कुछ उग्र हो गया, मुँह उसका भी सुर्ख हो रहा था ! बोला—'जानवर हो तुम ! जो आदमियत के बर्ताव को भी भूले हुए हो ! पैसा पाकर—दोनों वक्त खाना पाकर तुम अपने को आदमी समझ बैठे ! लेकिन तुम आदमी नहीं; नारकी हो, हैवान हो, जानवर हो ! जिसके दिल न·······!'

दर्बान ने धक्का देकर निकाल बाहर किया !

साहब बड़बड़ाता रहा, न जानें क्या ? ···मैं चुप, काम में लगा रहा !

× × ×

"बाबू, दुखिया-अपाहिज—मुहताजको एक पैसा ··· एक···पैसा !!!'

पिछले दो इतवारों में दो इकन्नियां मैं उसे दे चुका था ! दयाके सबब, या पुण्य के लोभ से—कुछ भी समझिए !

एक इकन्नी फैंक मैं चला कि वह बोली—'बाबू !'

मैंने पास आकर पूछा—'क्यों ?'

घिघियाकर वह बोली—'एक 'दुअन्नी' और दे सकेंगे ?'

मैं कुछ उदार-सा हो गया था ! जेबसे दुअन्नी निकाल, उसे देते हुए कहा—

'यह लो ! क्यों ? क्या करोगी—इतने पैसोंका ?'

'बाबू एक आदमी को चाहिये ! वह बेचारा···!'

'तुम्हारा आदमी है ?'

'मेरा अपना और कोई नहीं है—इसके सिवा !'—बच्चेको हाथ लगाते उसने कहा !

बदबूसे पास खड़ा होना मुश्किल हो रहा था ! पर, उसकी बात जान लेने की इच्छा भी बलवती हो उठी !

मैंने पूछा—'तब ?'

वह कहने लगी—

'परसों, परले दिनकी बात है !—बारहसे कुछ ज्यादे बजे होंगे, तब मैं सोनेको चली, बाबू ! अपनी झोंपड़ी की तरफ ! झोंपड़ी उधर है जमनापार ! जहाँ ताँगे—इक्के खड़े रहा करते हैं ! रोज पुलपर होकर जाती हूँ ! उस दिन जो गई तो देखा एक बाबू जान देने के लिये लहराती हुई-धारामें कूदे जा रहे हैं, मैंने उन्हें पकड़ लिया··· !'

'ऐ ? तुमने बचा लिया उसे ? अच्छा ? क्या वह भी कोढ़ी है !

'नहीं, बाबू! वह कोढ़ी नहीं है! अगर कोढ़ी होता, तब क्या वह यों मरने जाता! कोढ़ियों को आत्म-हत्या करने की जरूरत नहीं पड़ती—बाबू जी! उनपर तो कठोर-से-कठोर आदमीको भी तरस आता है, दया आती है! और मैं जानती हूँ—शायद कोई कोढ़ी भूखा भी रातको न सोता होगा! पर, वह जो कोढ़ी नहीं है, इसीलिए तो आत्म-घातको उतारू था! दुनिया उसपर दया नहीं कर सकती, तरस नहीं ला सकती—क्योंकि वह तन्दुरुस्त है! बिना भेषके भीख नहीं, यह तो पुराना मसला है! आज तो भीख के लिए भेष ही नहीं, बीसियों बातों की जरूरत पड़ती है। पेशा जो हो गया है!..'

मैंने पूछा—'फिर तुम्हें उसपर दया कैसे आई?'

वह बोली—'पहले दया नहीं! कर्तव्य सूझा कि 'मरने वाले को बचाना चाहिए!' फिर जब उसकी बातें सुनीं तो जी पानी-पानी बन गया!...'

'ऐसा क्या कहा, उसने?' मैं पूछ बैठा!

कहने लगी—'उसने कहा, मैंने नौकरी तलाशकी, गिड़गिड़ाकर भीख माँगी, पर मुझे समाजसे कोई चीज न मिली! उल्टी फटकार, डाट, डपट और अपमान! आखिर चोरीपर नज़र डाली, लेकिन वह मुझसे हो न सकी! मैं निराश होकर अपने जीवनको अब खत्म कर देना चाहता हूँ! क्योंकि दुनियाको मेरी ज़रूरत नहीं! दुनियामें, मेरे लिये जगह नहीं, अन्न नहीं—कुछ नहीं!' वह रो उठा! जान उसकी भूखके मारे निकली जा रही थी! उसने बताया कि चार दिनसे उसके मुँहमें एक दाना भी नहीं गया!'

'ओफ़!' अनिच्छा, मेरे मुँहसे निकला!

वह बोली—'मेरा मन जानें कैसा हो उठा! दिन-भरकी कमाईके साढ़े-सात आने मैंने उसके हाथों में देकर कहा—लो भैय्या! पहले खाना खाओ, फिर दूसरी बातें होंगी!'

'ऐं तुमने सब पैसे उसे दे दिये? क्या सोचकर?'

'यही सोचकर कि वह दुनियाका सबसे बड़ा दया-पात्र है। जिसके लिए आदमी कहलाने वालोंके पास भी सहानुभूति नहीं!'

× × ×

दूसरे दिन मैं उसे लेकर उसकी झोंपड़ी तक गया, उस 'दया-पात्र' को देखने! रास्तेमें उसने कहा—'अब वह मेरे यहाँ ही रह रहे हैं! मैं कह रही हूँ—कि वह भी कोढ़ी बन जाएँ, तो खानेका घाटा न रहेगा!'

मैंने कहा—"कोढ़ी बनजाएँ' का क्या मतलब?'

बोली—'आप नहीं जानते? 'भीख' भी आज अभागे हिन्दुस्तानमें एक पेशा है! और नक़ली कोढ़ी बनना है एक तरीक़ा, व्यापारकी तरह! वैसे दया जो किसीको नहीं आती!'

मैंने लपककर पूछा—'क्या तुम भी नक़ली-कोढ़िन हो?'

वह हँसी और बोली—'यों सब नक़ली ही नहीं होते—बाबू! पर यह सच है कि—मैं उतनी कोढ़िन नहीं हूँ, जितनी कि आप मुझे देखते हैं!'

झोपड़ी आगई!

मैंने उस दया-पात्र को देखा तो दंग रह गया! दफ्तरमें आने वाला वही उम्मेदवार ही तो था!..

× × ×

मैंने उसे एक छोटी दूकान करादी है! अपेक्षाकृत चैन में है वह! पर, वह इस पर बहुत शर्मिन्दा है कि भूखमें उसने बुरा खाना खाया। हालाँकि कोढ़िनके पैसे अदाकर चुका है! लेकिन फिर भी उसके दिलमें एक कसक है!

रत्नाकर वर्णी और उनका रत्नाकराधीश्वर शतक

(ले०—प० के० भुजबली जैन शास्त्री)

रत्नाकर वर्णी उल्लेखनीय प्राचीन कन्नड़कवियोंमें से अन्यतम हैं। कवि रत्नाकरसिद्ध, रत्नाकर-अण्ण आदि नामोंसे भी ये विश्रुत थे। देवचन्द्रका प्रसिद्ध कथाग्रन्थ 'राजावलिकथे' से ज्ञात होता है कि ये मूडबिद्रीके सूर्यवंशी राजकुलके देवराजके सुपुत्र थे और इनका 'रत्नाकर' नाम अपने माता-पिताके द्वारा ही रखा हुआ जन्मनाम था। इनका वर्णीपद दीक्षा-प्राप्त है। वर्णीजीके दीक्षागुरु मूडबिद्रीके भट्टारक चारुकीर्ति थे। रत्नाकरने बाल्यावस्थामें ही काव्य, अलंकारादि विषयोंमें पाण्डित्य प्राप्त कर आचार्य कुन्दकुन्दके प्राभृतत्रय, आचार्य पूज्यपादके समाधिशतक, श्रीपद्मनन्दीके स्वरूपसंबोधन आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थोंका मनन किया था। ये कारकलके भैररस ओडेयरके राजदरबारमें 'शृंगारकविराजहंस' की उपाधि प्राप्त कर आस्थानस्थित सभी विद्वानोंपर अपना सिक्का जमाये हुए थे। रत्नाकरका समय उपर्युक्त 'राजावलिकथे' के मतसे शालिवाहन शक १४७६ (ई० सन १५५७) है। इस समय कन्नड भाषामें रत्नाकरप्रणीत मुख्य चार ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—१ भरतेशवैभव, २ अपराजितेश्वरशतक, ३ रत्नाकराधीश्वरशतक और ४ त्रिलोकशतक। शतकत्रयोंमेंसे पहला शतक उत्पलचम्पकमाला छंदमें, दूसरा शार्दूलमत्तेभमें एवं तीसरा कंदमें रचित है। ये ग्रन्थ 'शतक' कहलानेपर भी वास्तवमें सपाद-शतक हैं। इन शतकोंमेंसे प्रथम दोमें वैराग्यका तथा अन्तिममें त्रिलोकका वर्णन है। साहित्यिकदृष्टिसे भी तीनों ग्रन्थ बहुत ही उत्तम हैं। इनका भरतेशवैभव सांगत्य (छन्दका एक भेद) में रचा हुआ एक सर्वोत्तम काव्य है। इसमें सम्राट् भरतकी जीवनी बड़े रोचक ढंसे चित्रित है। यह ग्रन्थ भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय और अर्ककीर्त्तिविजय इस प्रकार पांच भागोंमें विभक्त है। इसमें ६६६६ पद्य हैं। जनश्रुति ऐसी है कि कविने लगभग दस हज़ार पद्यपरिमित इस महान ग्रन्थको नौ महीनोंमें ही पूर्ण किया था। इसीसे इनकी कविताशक्तिका परिचय मिल जाता है। कविकी शैली सरल है; अतः इनके पूर्वोक्त ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे भावुक पाठकोंके सरस हृदयमें सहसा एक अनिर्वचनीय आनन्द स्वयमेव उमड़ आता है। अपनी कृतियोंको क्लिष्ट बनाना कविको सर्वथा इष्ट नहीं था। इस बातको उन्होंने स्वयं अपने मुँहसे कहा है और उसको अन्त तक यावल्लक्ष्य निबाहा भी है। रत्नाकर अपने हृद्गत बडे से बड़े विचारोंको भी थोड़े शब्दोंमें हस्तामलकवत् स्पष्ट वाचकोंके सामने रखने की अनुपम शक्ति रखते थे। इस प्रकारका सामर्थ्य सभीमें नहीं होता। कविका रचनाचातुर्य भी विलक्षण था। इसके लिये आपके भरतेशवैभवका 'भोगविजय' ही उज्ज्वल निदर्शन है। वस्तुतः कथाभाग इसमें बहुत कम है, फिर भी कविने प्रकरणोंद्वारा केवल तीन दिनकी बातोंको बढ़ाकर छोटे-छोटे १६ प्रकरणोंमें वर्णन किया है। इसका वर्णनक्रम बीसवीं शताब्दीके उच्चकोटिके उपन्यासोंसे कुछ भी कम नहीं है। 'भोगविजय' का कथाभाग नाटकोंके समान आस्थान-रंगसे प्रारम्भ होता है। ये कवि प्रत्येक विषयमें पूर्ण दक्ष थे; अतः जिस विषयको अपने हाथमें लेते थे उसे निचोड़कर ही छोड़ते थे। कविकी शृंगारवर्णन-सम्बन्धी असमशक्तिको देखकर उनकी 'शृंगार-कवि-हंसराज' यह उपाधि सर्वथा अन्वर्थ जँचती है। इनकी कृतियां हास्य,शान्त आदि अन्यान्य रसोंसे भी परिपूर्ण हैं। रत्नाकरके शतकद्वयमें तो तत्त्वज्ञान एवं वैराग्य कूट-कूटकर भरा

है। 'भरतेशवैभव' में भी तत्त्वज्ञानकी कमी नहीं है। खासकर योगविजय, मोक्षविजय एवं अर्ककीर्तिविजय तत्त्वज्ञानका भाण्डार ही हैं। रत्नाकर कोरे लेखक ही नहीं थे; परन्तु एक सच्चे आत्मानुभवी भी। इसके लिये इनके मुखसे निकले हुये अनुपम, बहुमूल्य वचन ही ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'राजावलिकथे' से विदित होता है कि रत्नाकर एक अच्छे योगज्ञ भी थे। कथा के कर्त्ताका कहना है कि अपने गृहस्थाश्रममें जिस समय कवि कारकलके भैररस ओडेयर के राजदरबार मे आस्थानकविके पदपर थे, उस समय उनपर राजकुमारी सहसा आसक्त हो गयी थी। ये उससे मिलने के लिये योग-द्वारा वायु-धारणकर सदैव सौधाग्रमे खिड़की द्वारा आया-जाया करते थे। अकस्मात् जब एक रोज यह बात राजाको ज्ञात हुई तब उसी रोज भयसे रत्नाकरने अपने गुरु महेन्द्र-कीर्त्तिसे दीक्षा लेली। अस्तु, मै अब रत्नाकरजीके 'रत्नाकराधीश्वरशतक' के कुछ प्रारम्भिक पद्योंका हिन्दी अनुवाद 'अनेकान्त' के पाठकोंके समक्ष रख रहा हूँ।

'श्रृङ्गारकविहंसराजके प्रभु हे रत्नाकराधीश्वर! शोभायमान लेपनद्रव्य, सुन्दर और सुगन्धित पुष्पों की माला, अनर्घ्य रत्नोंका हार और बहुमूल्य वस्त्र ये सभी केवल शरीरके अलंकार हैं, इसलिये ये त्याज्य हैं। आत्मस्वरूपकी श्रद्धा, आत्माका ज्ञान और विशिष्ट चारित्र ये तीनों चित्तके अलंकार हैं, इसलिये ये उपादेय हैं, यह समझकर आपने इन त्रिरत्नोंको मुझे प्रदान करनेकी कृपा की है॥ १॥

हे रत्नाकराधीश्वर! जीवाजीवादि तत्वोंमें उत्पन्न होनेवाली प्रीति ही सम्यग्दर्शन है, उन तत्वोंको भले प्रकार समझना सम्यग्ज्ञान है और इस सम्यग्ज्ञानकी सहायतासे किसी प्राणीको किसीप्रकारकी पीड़ा उत्पन्न न हो इस ढंगसे चलना सम्यक्चारित्र है; यह कहकर इन्हीं तीनोंको आपने मुक्तिका कारण बताया है॥२॥

हे रत्नाकराधीश्वर! षड्द्रव्य, (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) पञ्चास्तिकाय, (जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय) सप्ततत्व, (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष) नवपदार्थ (जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप) इन्हें भले प्रकार जान कर भी वास्तवमें आत्मा शरीरसे भिन्न है, शरीर अचेतन है, आत्मा चेतनास्वरूपी है; यो विचार करनेवाला ही सुखी है न? ॥ ३॥

हे रत्नाकराधीश्वर! आपने बताया है कि आत्मा केवलज्ञानगम्य है। शरीरके समान वह चक्षुरिंद्रियगोचर नहीं होता। जिस प्रकार पत्थरमें सुवर्ण, पुष्पमें सुगन्ध, दूधमें घी और लकड़ीमे आग अव्यक्तरूपमें व्याप्त है यो समझकर अभ्यासद्वारा ही वह प्राप्त होता है॥ ४॥

हे रत्नाकराधीश्वर! जिस प्रकार पत्थरमें दिखाई देनेवाली कान्ति सुवर्णका गुण, वृक्षमे दिखाई देने वाला सार भागका चिन्ह और दूधमें दिखाई देने वाली मलाई घीका चिन्ह कहा जाता है उसी प्रकार इस शरीरमे दिखाई देने वाली चेतना, ज्ञान, वचन आदि जीवके गुण हैं यो आपने फरमाया है॥ ५॥

हे रत्नाकराधीश्वर! जिस प्रकार पत्थरको शोधने से सुवर्ण, दूधको मथनेसे मक्खन और लकड़ीको जोरसे रगड़नेसे आग प्राप्त होती है उसी प्रकार शरीर में आत्माको जुदा मानकर अभ्यास करनेसे क्या आत्माको देखना असाध्य है? ॥ ६॥

हे रत्नाकराधीश्वर! उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप, मंगलमय, अतिशयोंसे युक्त, दूसरोंकी सहायता के विना स्वस्वरूपको प्राप्त, सुखस्वभाव, बाधारहित और विषयासक्तिसे विमुख आत्मा इस शरीरमें पैर के अंगूठेसे लेकर मस्तक तक सर्वाङ्ग व्याप्त है॥ ७॥

हे रत्नाकराधीश्वर! धूपसे नहीं सूखनेवाला, आग से नहीं जलनेवाला, पानीसे नहीं भीगनेवाला, तेज से तेज तलवारसे भी नहीं कटने वाला, ज्ञान-दर्शन-स्वरूप यह आत्मा परवस्तुओंके चिन्तनसे अपने स्वरूपको भूलकर क्षुधारोगादिसे नष्ट होनेवाले इस शरीरमें मिल गया है। इसलिये अपने स्वरूपके चिन्तनसे ही यह सुखी हो सकता है न? ॥ ८॥

हे रत्नाकराधीश्वर! नाशस्वभावी, निश्चेष्ट, सदोष इस जड़ शरीरको यह आत्मा अपनी चैतन्य-शक्तिसे सारथीके समान चलाता है, मृदंगकारके समान बुलवाता है और नटके समान नचवाता है; देखो इसका सामर्थ्य! ॥ ९॥

अपभ्रंश भाषाका शान्तिनाथचरित्र

(ले०— पं० परमानंद जैन शास्त्री)

अनेकान्तके चौथे वर्ष की पाँचवीं किरणमें नया-मन्दिर देहलीके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी जो एक सूची प्रकाशित की गई थी उसमें छह ग्रन्थोंको, जिनका सम्प्रदायादि-विषयक निर्णय नहीं हो सका था, 'संदिग्ध सम्प्रदाय-ग्रन्थ' शीर्षकके नीचे प्रकट किया गया था। उनमें से आज चौथे ग्रन्थ 'शान्तिनाथचरित्र' का संक्षिप्त परिचय अनेकान्तके पाठकोंको कराया जाता है जिससे ग्रन्थकारके सम्प्रदाय तथा नामादि-विषयक सारा सन्देह भी दूर हो जाता है।

यह शान्तिनाथ चरित्र अपभ्रंश भाषाका एक दिगम्बर ग्रन्थ है। इसके रचयिता कवि महिन्दु (महीचन्द्र या महाचन्द्र) हैं, जो इल्लराजके पुत्र थे। इससे अधिक ग्रन्थकारका कोई विशेष परिचय उक्त ग्रन्थप्रतिपरसे उपलब्ध नहीं होता। इस ग्रन्थकी रचना अग्रवाल वंशके मंडनस्वरूप गर्ग-गोत्रीय भोजराजसुत ज्ञाना (ज्ञानचन्द्र)के पुत्र विद्वान् श्रावक साधारणकी प्रेरणासे की गई है*। जैसाकि निम्न पद्य और तदनन्तरके संधि वाक्यसे प्रकट है :—

भो सुणु बुद्धीसर वरमहि दुहुहर, इल्लराजसुश्र णाखिज्जइ।
मयणाणसुश्र साहारण दोसणिवारण वरणरेहि धारिज्जइ॥

'इय सिरिसंतिणाहचरिए णिरुवमगुणरयणसंभरिए अयणाणमयो (?) इल्लराजसुश्र-महिंदुविरइए सिरिणाणा-सुश्र-संघाहिव-महाभव्व साहारणस्स णामंकिए भव्वियण-जणमणाणंदयरे सिरिइट्टिदेव - णमोयारकरणं सेणिय महाराय सिरिवड्ढमाणसमवसरणगमणं धम्मक्खाण-निसुणणं पढमो परिच्छेश्रो सम्मत्तो ॥छ॥'

कविवर महाचन्द्रने इस ग्रन्थकी रचना योगिनीपुर (दिल्ली) में बादशाह बाबरके राज्यकालमें विक्रम सं० १५८७ के कार्तिक मास के प्रथमपक्षकी पंचमीके दिन पूर्ण की है†। ग्रंथकी श्लोक-संख्या मूलमें ४३०० (तेतालीससयइं) दी है, परंतु ग्रन्थप्रतिको समाप्त करते हुए लेखक ने उसे ५००० हजार सूचित किया है, जिसका अभिप्राय संधिवाक्यों आदिको भी गणना करके श्लोकसंख्या बतलाने का जान पड़ता है। इस ग्रन्थमें १३ परिच्छेद हैं। पत्र संख्या १५३ है। यह प्रति ग्रन्थ-रचनासे एक वर्ष बाद अर्थात् वि० सं० १५८८ में फाल्गुण वदी पंचमीके शुभदिन विष्णुदास लेखक के द्वारा लिखीगई है। विष्णुदास ऊधाब्राह्मण (मूदव)का पुत्र था। संभवतः उसीके द्वारा ग्रन्थका प्रथम प्रति लिखी गई, इसीसे उसका नाम मूलमें 'विण्हुण वि ऊधापुत्तएण' आदि वाक्योंके द्वारा संनिविष्ट किया गया है।

ग्रन्थप्रशस्तिमें कविने योगिनीपुर (दिल्ली) का सामान्य परिचय कराते हुए काष्ठासंघके माथुरगच्छ और पुष्करगणके तीन मुनियों (भट्टारकों) का नामोल्लेख किया है—यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्र-सूरि। इसके बाद ग्रंथका निर्माण कराने वाले साधारण नामक अग्रवाल श्रावकके वंशादिका विस्तृत परिचय दिया है। और ग्रंथके द्वितीयादि परिच्छेदके प्रारम्भमें एक एक संस्कृत पद्यद्वारा भगवान शांतिनाथ का जयघोष करते हुए उनसे, पुष्पदन्तके महापुराणकी तरह, साधारणकेलिये श्री और कीर्तिआदिकी रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। उन पद्योंको अलग परिशिष्टमें दे दिया गया है और उनसे ग्रन्थकार कविकी संस्कृत-रचना-चातुर्यका भी अच्छा परिचय मिल जाता है। ग्रंथका मंगलाचरण निम्न प्रकार है:—

जिणमय-तरु कंधर गुय भुविकंधर सुरवइ संतिहु पयजुयलु।
उत्तमु तहु केरउ सुक्खजणेरउ चरिउ कहमि पणविवि श्रमलु॥

इसके बाद 'जय आइणाह जय णाह णाह। जय अजिय गयं रइ-पीभणाह।' आदि रूपसे चतुर्विंशति तीर्थंकरों और जिनवाणीकी स्तुति की गई है। पश्चात आचार्य, उपाध्याय, साधु और सम्यग्दर्शनादिको नमस्कार किया गया है। इसके बाद धर्मकथा कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। इसके अनंतर ग्रंथमें अकलंक, पूज्यपाद, नेमिचन्द्रसैद्धान्तिक, चतुर्मुख, स्वयंभू,

---

* एयहि मज्झ साहारणु कारावउ एहु गंथु तेण।

† विक्कमरायहु ववगयकालइ, रिसि वसुसरभुवि अंकालइ।
कत्तियपढमपक्खि पंचमदिणि हुउ परिपुण्णवि उग्गंतइ इणि॥

पुंष्पदन्त, यशःकीर्ति, रइधू , गुणभद्रसूरि और सहणपाल× नामके आचार्यों तथा विद्वान कवियोंका स्मरण किया गया है। ग्रन्थका प्रशस्ति आदिके रूपमें अन्तिम भाग इस प्रकार है :—

प्रशस्ति

अहुणा णामावलि, वरणवि आउलि पभणउ अइसुहयारी।
सिरिवीरु णवेपिणु हियइ धरेविणु सुद्धविदा पहुकेरी।

पद्धडी—इह जोयणिपुरु पुरवरहँ सारु।
जहु वरयणि इह सक्कु वि असारु ॥
सालत्तय मंडिउ सो विभाइ।
कोसी सहि परिहा दुग्गणाइ ॥
जो वण-उववण-मंडिउ विचित्तु।
णं मेरुवि चेईहर-पवित्तु।
तणिणयउ वि जउँणा-णइ वहेइ।
णं गंग वि ईसहु सहु वहेइ।
खड गोउराइँ अइजिगि मिगंति।
खणमुहहु वि णं अवयारु दिंति।
जहु रक्खइ गोउव दंडधारि।
अरियण-गणाह जो संपहारि।
पच्चंत णिवइ संगहइ दंडु।
रायाहिराउ वव्वरु पयंडु।
मिच्छाहिउ अइवविणाय जाणु।
महमूलणोव्व जणदिएणमाणु।
जहिं चाउवएणपय सुहि वसंति।
णियणिय किरियाइवि रत्तचित्ति।
तहिं चेत्तालउ उत्तुंग सहइ।
धयमंडिअ मोक्ख [सु] मग्गु वहइ।
जहिं मुणिवर सत्थइं वायरंति।
महजएण-पूय सावय करंति ॥
तहिं कट्ठसंघ माहुर वि गच्छि।
पुक्खरगण मुणिवर चइविलच्छि।
जसमुत्ति वि जसकित्ति वि मुणिंदु।
भव्वयण-कमल-वियसण-दिणिंदु।
तहु सीसु वि मुणिवरु मलयकित्ति।
अणवरय भमइ जगि जाह कित्ति।
तहु सीसु वि गुणगणरयणभूरि।
भुवणयलि सिद्ध गुणभद्द सूरि।

सोरठा—तहु पयभत्तउ साहु भोयराउ जाणिज्जइ।
गुणवड्ढियइणिवास जोयणिपुरि णिवसिज्जइ ॥१॥

चौपाई—जे तित्थयर वि गोत्तु णिवद्धउ।
करि पयट्ठ सुहपुएण वि लद्धउ।
संघाहिउ गयपुरि संजायउ।
अयरवालु संघह सहु आयउ।
गग्गगोत्त-णिम्मलगुणसायरु।
सुथिरे मेरुवि तेय-दिवायरु।

पद्धडी—तहु भज्जवि चील्हाही वि सार।
णाहहु गामिणि णं गंगफार।
तहु पुत्त पंच णं मेरुपंच।
मह-वयइ पंच णं समिइ पंच।
पहिलारउ संघहु भारधरणु।
चउभेयसंघ बहुभत्ति-करणु।
संघाहिउ खीमसिचंद सारु।
तहु विणिण भज्ज गुणगणविसारु।
पढम वि धीकाही गुणवरिट्ठ।
बीई नानिगही अइव इट्ठ।
तहु पुत्त चयारि वि चउ णिओय।
छीथा पढमउ भज्ज वि अमोय।
तिहुणाही णामे णेमिदासु।
तीउ वि जायउ ससि किरणहासु।
तहु कामिणी वि गज्जो वि णाम।
बीयउ सुउ पिरथीमल्लु नाम।
तहु पिययम हिउराही पसिद्ध।
तहु पुत्त चयारिवि गुण समिद्ध।
पढमउ उधरणु रणयउ वि बीउ।
गुणगणगरिट्ठ धणराउ तीउ।

चौपई—चउत्थउ मानसिघु वि भणिज्जइ।
खीमचंद सुउ तीयउ गिज्जइ।

पद्धडी—इंदेव कीउ सो इंदराउ।
रावणाही कामिणि जो सराउ।
तहु पुत्त विणिण णं लच्छपिल्ल।

× अकलंकसामि सिरिपाइपूय। इंदाइ महाकइ अट्ठभूय।
सिरि णेमिचंद सिद्धंतियाइं। सिद्धंतसार मुणि णवियताइं।
चउमुह-सुयंभु-सिरि पुप्फयंतु। सरसइणिवासगुणगण महंतु।
जसकित्तिमुणीसर जसणिहाणु। पंडियरइधू कइगुण अमाणु।
गुणभद्दसूरि गुणभद्दठाणु सिरि सहणपालु बहु बुद्धिजाणु।

मंती वि हासु ताग्णु रसिल्ल ।
पुणु चउथउ चंदु वि चंदहासु ।
दोदाही बहु सुउ सामिदासु ।
घत्ता—भोयहु सुउ वीयउ गुणगण जूयउ,
णाणचंदु पभणिज्जइ ।
तिहु भामिणि गुणगणरामिणि ।
सउराजही कहिज्जइ ।
पद्धडी–तहु तिण्णि अंगसू तिण्ण रयण ।
णं तिण्णि लोय ते सुद्धवयण ।
पढमउ मस्मेयवि जत्तकरणु ।
सारंगु वि णामे सुद्धकरणु ।
तहु ललण तिलोकाही गुणाल ।
राका-ससहर-दिप्पंतभाल ।
चौपई–बीयउ संघहु भार-धुरंधरु ।
देवसत्थगुरु-भत्ति वि आयरु ।
पद्धडी–जिण सह पोमिणि महिरायहंसु ।
पावारिणाय जो पवरहंसु ।
जुवणाय-सेतु जयजत्तकारि ।
विहवेण विजित्तउजेमुरारि ।
चौपई–पंडियरसउह दापणुगिज्जइ ।
पंडियाह गुणणाय भणिज्जइ ।
साधारणु णामे सो भाणिउ ।
उवमारहिउ वि जण अहि माणिउ ।
तहु वणिया सीवाही णामे ।
ण सरधोरणि पेसिय कामे ।
पद्धडी–तहु चारि तणुब्भव गुणमहंत ।
जेट्ठु वि सुअ अभयहु चंदु संत ।
चौपई–चंदणाही अज्जहि रमइल्लउ ।
बीयउ जेट्ठ वि मल्लु गुणिल्लउ ।
वर भद्दासही भज्ज अलंकिउ ।
तीयउ जितमल्लो वि असंकिउ ।
सो पिया वि समदो रइ माणइ ।
पुणु चउत्थु सोहिलु पिउ भाणइ ।
तासु णारि भीखणाही पावण ।
णं मंदोयरि सीलहु भायण ।
संघाहिव णाणातेउ पुत्तु ।
संघाहिउ ताल्हणु गुणविचित्तु ।
संघवइ वि भोयहु तीउ तोउ ।
सिरियचंदु माणंतु भोउ ।
घत्ता—तहु भज्जा गुणहि मणोज्जा ।
हरराजही य भणिज्जइ ।
सीलेण वि सीया अहव विणीया ।
णं सुतार जणा गिज्जइ ।
पद्धडी–तहु भुल्लणु णामें तोउ जाउ ।
वे कामिणी हि मंडियउ काउ ।
पढमी उधरणा पुत्ती विचित्त ।
बीया चूहडही पियहु रत्त ।
सं-भोयहु तुरिउ वि तोउ सालु ।
गजभल्ल णासु गुणियणा-रसालु ।
वे कामिणि भरहाविपालधी य ।
दुइया साल्हाही अइविणीय ।
तहु अंगब्भउ सयतण रमालु ।
पूढणाही भज्ज हि अइ रमालु ।
तहु कुच्छिजाउ सुहवंतु सूखु ।
णा हंसपिल्लु णामेण सूखु ।
पुण भोयहु पंचमु पुत्तुमाहु ।
रणमलु णामे अच्चंत साहु ।
वे भज्जहि मोहिउ जासुमणु ।
पढमा चूहडही भज्ज-रयणु ।
तहु जटमल्लु वि णामे विणीउ ।
तहु थीय वि रावणधी य णीउ ।
तहु पुत्त चयारि वि कामकासु ।
पढमउ हिमराउ वि वुहविमेसु ।
चौपई–वीयउ मेइणिमल्लु पउत्तउ ।
तीयउ वाइ विमल्लु वि उत्तउ ।
पद्धडी–चउथउ चउहत्थु वि दाणजुत्तु ।
सं-रणमल्लहु वीयउ कलत्तु ।
पंथुही तहु सुउ सूरदासु ।
पिउमाइभत्तु जिणवर वि दासु ।
एयाहँ मज्झि साहारणेण ।
कारा वि उ एहु गंथु तेण ।
चौपई–कम्मक्खय वि णिमित्तें सारउ ।
संतिणाह चरिउ वि गुणारउ ।
आयहु गंथ पमाणु विलक्खिवउ ।
तेयालसइ गणि कइयण अक्खिउ ।
पद्धडी–विणणाहेण वि ऊधा पुत्तगण ।

भूदेवेण वि गुणगणजुएण ।
लिहियाउ चितेण वि सावहाणु ।
इहु गंथ विबुहसर-जाणभाणु ।
चौपई–विक्कमरायहु ववगयकालइ ।
रिसि-वसुसर-भुवि-अंकालइ ।
कत्तिय-पढम-पक्खि पंचमिदिणि ।
हुउ परिपुण्ण वि उग्गंतइ इणि ।
घत्ता–जावहिमहि-सायरु गयणु दिवायरु मेरु-महीहरु चंदउ ।
जउण वि गंगाणइ जिणवाणीसइ एहु सत्थु ता णंदउ ॥
इति श्री शांतिनाथचरित्र समाप्तमिति ग्रं० ५००० ।
सम्पूर्णः शुभं भवतु ।

सं० १५८८ वर्षे फाल्गुण वदि ५ शुभदिने लि०विश्नदासु।
यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धं न विशुद्धं वा ममदोषो न दीयते ॥
संवत् १७६४ वर्षे कार्तिकवदी पंचमी पोथी लिई
मोल मुकुंददासगर माखनपुरके वासी ने ।

परिशिष्ट

[शान्तिनाथचरित्रके परिच्छेदोंमे पायेजाने वाले संस्कृत पद्य]

सद्वचनांबु सज्जलनिधौ वैदग्ध्यभंगाकुले,
तत्सेवानलिनीदले स्थिरमना यो राजहंसायते ।
सत्काव्यांबुजलोभिजैनमधुपैर्गीतः सुकीर्तिर्मुहुः,
शुश्रूषुं जिनशान्तिनाथमुनिपस्तं पातु साधारणं ॥१॥
यत्कीर्तेर्मुविसागरस्य च गुणैर्वादो भवत्सा जयत ,
तेजस्वी वडवानलेन पवनेनोत्थापितो वेगवान ।
शीतत्वं भजते कथं न यदि वा सीमानमासेवते,
श्री शांतिर्गुणराजिगाजिवपुषं तं पातु साधारणं ॥२॥
दृप्यन्मोहमदान्धकारपटले श्री यामिनी कामिनी–
न भव्यजना मनःकजवरे कास्यैकभास्वद् द्युतिः ।
श्रीमच्छान्तिजिनेश्वरो गुणगुणैर्युक्तः सदा ज्ञानवित
श्रीअग्रोतकवंशमंडनमणेः साधारणस्य श्रिये ॥ ३ ॥
यो रागारिविमर्दको गुणगुणैर्युक्तः सदा साधुभिः,
सेव्यो क्रोध-विमान-मत्सर-भयान्मुक्तो जिनोषोडशः।
सः कैवल्यविराजमानविरतः संसारविच्छित्तये.
श्रीमच्छान्तिजिनेश्वरो गुणनिधेः साधारणस्य श्रिये।४॥
रस इव नवकीर्तिष्पीयते प्राज्ञभृङ्गैः,
विकचकुमुदराशेर्यस्य साधारणस्य ।
निहततिमिरपंके शांतिचन्द्रोदये यं,
भजयति भुवि रागी दत्तचित्तस्सुधीषु ।५।
यः संमोहपरागपुञ्जहरणे संमीरणः सूकरो,
मायाभूमिविदारणे विनियतं सत्सारसीरो बली ।
स श्रीशांतिजिनाधिपो विजयते संसारसंतापहृत ,
सत्साधारणसेवकस्य नियतं दद्यान्छितं सुन्दरम ।६।
यः पंचमः पार्थिवचक्रवर्ती,
श्री धर्मचक्री स तु षोडशोपि ।
स शान्तिनाथः करुणाम्बुनाथः,
साधारणस्य श्रियमातनोतु ॥ ७ ॥
सुललितपदयुक्ता सर्वदोषैर्विमुक्ता,
जडमतिभिरगम्या मुक्तिमार्गे सुरम्या ।
जिनमदनमदानां चारुवाणी जिनानां
परचरितमयानां पातु साधारणानां ॥८॥
यो नित्यं सकलाकलासु कुशलो विज्ञानवान सद्व्रती,
भुक्त्वा भोगमनेकधा च विभवं सच्चक्रवर्तिश्रियं ।
मुक्तो यो भवसागराज्जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा,
श्रीसाधारणश्रावकस्य सततं कुर्यान्मनो वांछितं ।।९।।
कनकमयगिरीन्द्रे चारुसिंहासनस्थः,
प्रमुदितसुरवृन्दैः स्नापितो यः पयोभिः ।
स दिशतु जिननाथः सर्वदा सर्वकामा–,
नुपचितशुभराशेः साधुसाधारणस्य ॥ १० ॥
भुवनतिलक-तुल्यो यो गुणौघैरतुल्यः,
सकलसुखनिकेतो ज्ञानतत्त्वैकहेतुः ।
जिनरतिपतिरूपो ज्ञातलोकस्वरूपो ,
हृदि वसतु जिनेन्द्रः साधु-साधारणस्य ॥ ११ ॥
यं सर्वदेवाः स्तुतिभिः स्तुवंति
संसेवते भूतिगणोऽणिमाद्यः ।
स वीतरागो भवतु प्रसन्नः
साधारणस्येह गुणालयस्य ॥ १२ ॥
प्रकाशिताशेषपदार्थसार्थो, दोषोदयानंतरितः कदाचित।
भवत्वपूर्वो जिननाथभानुः साधारणस्याखिलकार्यकर्ता।१३

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

———

'चूनड़ी ग्रन्थ'

(लेखक—पं० दीपचन्द जैन पाण्ड्या)

प्रास्ताविक निवेदन

अजमेर जिलेमें नसीराबाद छावनीसे दो मील की दूरी पर 'देराटू' नामका एक गांव है, वहांके जैनमन्दिरके शास्त्रभंडारकी शोध करते हुए आजसे कोई ५ वर्ष पहिले मुझे एक प्राचीन हस्तलिखित गुटका मिला था, जो इस समय मेरे पास है। यह गुटका कुरुजांगल देशके अन्तर्गत सुवर्णपथ दुर्गमें—सोनीपत नगरमें—वि० सं० १५७६ ज्येष्ठकृष्णा प्रतिपदाको, सिकन्दरशाहके पुत्र सुलतान इब्राहीमके राज्य-काल में लिखा गया था *। और इस अग्रवालवंशी जिंदलगोत्रीय साधु जोल्हाके पुत्र संघई मेघाने लिखाकर गुणचन्द्र भट्टारकके शिष्य ब्रह्म० मांडणको भेट किया था। संघई मेघा गुणचन्द्र भट्टारककी आम्नाय-में था। गुटकेके अन्त में गुणचन्द्र भट्टारककी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

"... काष्ठासंघ माथुरान्वये पुष्करगणे [१] आचार्य श्रीमाह(ध)वसेन देवान [२] तत्पट्टे भट्टारक श्री उद्धरसेनदेवान, [३] तत्पट्टे भ० श्रीदेवसेनदेवान्, [४] तत्पट्टे भ० श्रीविमलसेनदेवान्, [५] तत्पट्टे भ० श्रीधर्मसेनदेवान, [६] तत्पट्टे भ० श्रीभावसेनदेवान, [७] तत्पट्टे भ० श्रीसहस्रकीर्तिदेवान्, [८] तत्पट्टे भ० श्रीगुणकीर्तिदेवान, [९] तत्पट्टे भ० श्रीयशःकीर्तिदेवान्, [१०] तत्पट्टे भ० श्रीमलयकीर्तिदेवान, [११] तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रदेवान, [१२] तत्पट्टे भ० श्री० गुणचंद्र तच्छिष्य ब्र० मांडण—एषां गुरूणामाम्नाये"—(इसके बाद विन्दुवाले स्थान पर गुटका लिखाने वाले संघई मेघाकी वंशपरम्परा तथा कौटुम्बिकपरिचय दिया है)।

---

* स्वस्ति श्री विक्रमार्क-संवत्सर १५७६ जेठ वदि १ पडिवा शुक्रदिने कुरुजांगलदेशे सुवर्णपथनाम्निसुदुर्गे सिकन्दरसाहितत्पुत्रसुल्तान (इ) ब्राहिमुराज्यंप्रवर्तमाने ····

(इसके बाद 'काष्ठासंघे' आदि गुरुपरम्परा वाला पाठ है)

प्रस्तुत गुटका ३६० पत्रोंका है। प्रत्येक पत्रमें २३-२४ अक्षरोंकी ३०-३२ पंक्तियां हैं। गुटके के अंत में उसकी श्लोकसंख्या ८५०० दी है। परन्तु यह गुटका १८१ वे पत्रसे प्रारंभ होता है। इससे पूर्व के पत्र प्राप्त नहीं हो सके, जिनके खोज जानेकी जरूरत है। उपलब्ध भागमें जो जो अप्रकाशित पाठ मिले हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) अध्यात्मप्रकृति संस्कृतमें। इस रचनाका निम्न अन्तिम अंश ही १८१ वे पत्रके शुरूमें पाया जाता है। शेष समूचा ग्रंथ पूर्व पत्रों में ही समाप्ति।

"णीयमुदर्करम्यं। निःकर्म शर्ममयमेतिद शी(शां)-तरं सः। २। इति अध्यात्मप्रकृति १४८।"

(२) सोड़ढलु-श्रावककृत आगमके छप्पय, जिनमें २४ दंडकोंका वर्णन है।

(३, ४) विनयचन्द मुनिकृत 'कल्याणकरासु' और 'चूनड़ी'।

(५) पंचमेरु संबंधी बीस विहरमाण तीर्थंकर जयमाला।

(६) भ० जयकीर्तिकृत पार्श्वभवान्तर के छंद।
नं २ से ६ तक के पाठ अपभ्रंश भाषाके हैं।

(७) भद्रबाहुरासके अन्तर्गत चन्द्रगुप्तके १६ स्वप्न, प्राचीन हिन्दीमें है।

(८) पं० सोमदेव बघेरवालकृत आस्रवत्रिभंगीकी लाटी (पुरानी गुजराती) भाषाकी टीका, अपूर्ण। यह टीका नेमिचंद्र सि० चक्रवर्तीकी आस्रवत्रिभंगी पर जो श्रुतमुनिने कनडीमें टीका लिखी थी उसके आधार पर बनाई गई है।

(९) हरिवंशपुराणकी मेधावी(मीहा)कृत संस्कृतव्याख्या का अंश—समवसरण वर्णन, संस्कृतमें।

(१०, ११) संस्कृतमें दो मालागद्य, जो फूलमालके

लिये उत्सवों पर पढ़ी जाती है।

इन उपर्युक्त पाठोंमेंसे आज यहां अनेकान्तके पाठकोंके लिये 'चूनड़ी' ग्रन्थको प्रकाशित किया जाता है, जो अपभ्रंश भाषामें है।

'चूनड़ी' एक प्रकारकी रंगीन ओढ़नी होती है, जिसे छीपे-रंगरेज रंगते और सूतसे बांध-बांधकर उसमें रंग-बिरंगी बूंदे डालते हैं अथवा उसपर बेल-बूंटे आदि छापते हैं। चूनड़ीका दूसरा नाम चुण्णी-चूर्णी भी है जिसका अर्थ होता है बिखरे हुए प्रकीर्णक विषयोंका लेखन अथवा चित्रण। ग्रन्थकारने भोली महिलाद्वारा की गई पतिसे ऐसी चूनड़ीके लिखाने-छपानेकी प्रार्थनाको हृदयस्थ करके जिसे ओढ़ कर जिनशासनमें विचक्षणता प्राप्त होवे, इस ग्रन्थ-की रचना की है और इसका नाम चूनड़ी या चूनड़िया रक्खा है तथा इसे चुण्णी भी बतलाया है। यह सब नाम ग्रन्थगत ध्रुवक और ३, ४, १४, ३०, ३१ नंबर के पद्योंमें पाये जाते हैं। और इस लिये यह रचना-जिसमें जैनशासन संबंधी कितनी ही चर्चाओंका सांकेतिकरूपमें संग्रह किया गया है, एक स्मृतिपटका काम देती है जिस पर नजर पड़ते ही अनेक तात्विक विषयोंकी स्मृति हो आती है और उनकी याद सदैव ताजा बनी रहती है। जिन स्त्रियोंको चूनड़ी छपानेका शौक है वे यदि इस प्रकारकी तात्विक चर्चाओं वाली चूनड़ी छपाकर ओढ़ा करें तो कितना अच्छा हो। चूनड़ी छपानेकी यह कल्पना अच्छी सुन्दर जान पड़ती है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता माथुर-संघीय भट्टारक बाल-चन्द्रके शिष्य भ० विनयचन्द्र हैं, जिन्होंने इसे गिरिपुर (डूंगरपुर-गिरनार?) में निवास करते हुए अजयनरेशके राजविहारमें बैठकर बनाया था। ग्रंथ पर एक विस्तृत संस्कृत टीका भी है परन्तु वह किसकी बनाई हुई है यह टीका परसे उपलब्ध नहीं होता। विनयचंद्र मुनि-की 'कल्याणकरासु' और 'चूनड़ी' इन दो रचनाओं के सिवा अन्य रचनाएँ अपने को ज्ञात नहीं हैं, जिन्हें मालूम हो उन्हें प्रकट करना चाहिये। अस्तु; इस प्रास्ताविक निवेदनके बाद मूल 'चूनडी' ग्रंथको नीचे उद्धृत किया जाता है।

ग्रन्थारम्भ

विणएँ वंदिवि पंच-गुरु,
मोह-महा-तम-तोडण-दिणयर।
णाह लिहावहि चूनडिय,
मुद्धउ प-भणइ पिउ जोडिवि कर। ध्रुवकं।
पणवउँ कोमल-कुवलय-णयणी।
[अमिय-गब्भ जण-सिव-यर-वयणी।] [१]
प-सरिवि सारद-जोण्ह जिम,
जा अंधारउ सयलु वि णासइ!
सा महु णि-वसउ माणसहि,
हंस-वधू जिम देवि सरासइ [२] ॥ १ ॥
माथुर-संघहँ उदय मुणीसरु।
पणविवि बालइंदु गुरु गण-हरु॥
जंपइ विणय-मयंकु मुणि,
आगमु दूगमु जइविण जइ वि ण जाणउँ।
मा लेज्जउ अवराहु महु,
भवियहु इह चूनडिय बखाणउँ॥ २॥
हीरा-दंत-पंति-पयडंती।
गोरउ पिउ बोलइ वि-हसंती॥
सुंदर जाइ सु-चेइहरि [३],
महु दय किज्जउ सुहय [४] सुलक्खण।
लइ छिपावहि चूनडिय,
हउँ जिण-सासणि सुट्ठु वियक्खण॥ ३॥
वल्लह! जइ ण लिहावणि आवहि।
छिंपुलडा महुं वयणु सुणावहि॥
तिण्णि लोय तिहि-भंगि-जुय,
चउ-दह रज्जु लिहहि उड्ढ-त्तें।
सत्त रज्जु तलि सुर-गिरिहँ,
उप्परि सत्त सत्त पिंड-त्तें॥ ४॥
मेरु-महा-गिरि-जंबू दीवहु।
खार-समुद्द-परिट्ठिय-सीमहु॥
दीव-समुद्द असंख गणि,

१—ब्रेकेट वाला पाठ मूल-प्रति में त्रुटित है उसे अपनी ओर से पूरा किया गया है। २—सरस्वतीदेवी।

३—चैत्यालयमें। ४—सुभग।

मज्झ-लोइ सत्तरु-सय खेत्तइँ ।
सरिस तीस कुल-पव्वयहिँ,[1]
अज्ज-मिलेच्छ-भोय-महि-जुत्तइँ ॥ ५ ॥
पुणु छ एणवइ कु-भोय-धरा-लइँ ।
लवण-काल-णामइँ मयरालइँ[2] ।
ऊसप्पिणि-अवसप्पिणिय,
छह-छह-कालइँ लिहहि णिरुत्तइँ ।
कोडा-कोडिउ सायरहि,
एक एक दस दस पवि-हत्तइँ ॥ ६ ॥
चउदह कुल-यर जिण चउ-वीसइँ ।
लिहि पुराण बारह चक्केसइँ ॥
वासु-एव बलएव णव, णव पडि-वासु एव संचारहि ।
कामएव णारय[3] सुमरि, पुणु एयारह रुद्द पयारहि ॥७॥
दंसण-सुद्धि-पमुह अणुसरियइँ ।
सोलह कारण लिहि जिणचरियइँ ॥
तिहिं भेयहि सम्मत्तु लिहि,
सत्त-भेय-मिच्छत्तु स[4] संभरि ।
पंच णाण अण्णाण तय,
दंसण चारि पयत्तें[5] उद्धरि ॥ ८ ॥
लिहि एयारह सावय-पडिमइँ ।
बारह भिक्खु-पडिम मुणि गम्मइ ॥
अट्ठावीस वि मूलगुण,
बारह-विह तउ दस-विहसंजमु ।
सहस-अट्ठारह सीलु भणि,
पंचाचारु म वीसरि उत्तिमु ॥ ६ ॥
गुणहँ लक्खु चउरासी टिप्पहि ।
चउदह जीव-समास-वियप्पइँ ॥
चउदह लिहि गुणठाण पुणु,
वीस परूवण चउहह मग्गण ।
छह पज्जत्ती पाण दह,
चारि वि गइ तह सिद्धि णिरंजण ॥ १० ॥
णाणावरण पंच दुइ वेयण
णवदंसण-आवरण महावण (?) ॥

1 कुलपर्वत=कुलाचल 2 समुद्र 3 नवनारद 4 स=सा-मत 5 यत्नसे

अट्ठावीस वि मोहणिय,
आव चारि दुइ गोत्त म छंडहि ।
णाम-पयडि तेणवइ पुणु,
अंतराय लइ पंच वि मंडहि ॥ ११ ॥
णव पयत्थ सत्त वि लिहि तच्चइँ ।
छह दव्वइँ पंचत्थिय सच्चइँ ॥
दुइ पमाण णव सुणहि णय,
चारि वि णामाइय णिक्खेवइँ ।
सइ छत्तीसा तिण्णि सय,
बारसंग संठवि संखेवइँ ॥ १२ ॥
चउदह पुव्व पयिण्णय[1] चउदह ।
अवहि-णाणु जाणहि छह-भेयहँ ॥
लिहि संपुण्णु समोसरणु,
सत्त-पयारु संघु जिण-समयहँ ।
मण-पज्जव दुहु-भेद ठिउ,
तिण्णि सयइँ तिसट्ठि लिहि कुमयहँ ॥ १३ ॥
लइ लेहणि सहु वुत्तउ[2] किज्जइ ।
चूनडिया-वट मंडिवि दिज्जइ ॥
सत्त सरीरइँ चारि सण,
चारि वि वयणइँ पणरह जोयइँ ।
पणरह लिहहि पमाय[3] पुणु,
उउदह मल परिहारहि तेसइँ ॥ १४ ॥
गुत्तिउ सल्ल दंड तिहि भेयहि ।
सोलह-विह कसाय सा वेयहि ॥
सुमरि असंजम सत्तरह,
णोकसाय णव जोणिउ लिहि णव ।
छह लेसइँ दस धम्म धरि,
चारि सण्ण भय सत्त ति-गारव ॥ १५ ॥
चारि झाण चउ-भेयहि कलियइँ ।
सम्मतहो गुण अट्ठ जि कहियइँ ॥
लिहहि दोस पणवीस तहिं,
अट्ठ वि अंगइँ तस्स सरीरहो ।
विणउ विसेसहि पंच-विहु,
जं करेवि मुणि गयभवतीरहो ॥ १६ ॥

1 प्रकीर्णक 2 कहना 3 प्रमाद

अट्ठोत्तरु सउ हिंसा भेयइँ ।
दस-विहु सच्चु असच्चु वि वेयहिं ॥
बंभु पयासहि भेय णव,
बहिरंतर दस-चऊदह-गंथइँ ।
आयरियहँ छत्तीस गुण,
अइरि विणाणिय लिहि थिर-हत्थहिं ॥ १७ ॥
बारह अनुपेहा लिहि बंधुर ।
मुणि बावीस परीसह दुद्धर ॥
तेतीसइँ अच्चासणइँ,[1]
रयणत्तउ लिहि सिवसुह-मासणु ।
अणु-गुण-सिक्खा-वय सहिउ,
बारह-विहु वउ सावय-सासणु ॥ १८ ॥
किरिया तेवण्णइँ गिहि-धम्महो ।
तेरह रिसि-धम्महो णिच्छद्मनहो[2] ॥
पंचवीस लिहि भावणइँ,
तिण्णि समय तह जीवहो जंतहो[3] ।
अट्ठ वि गुण देव-त्तणहँ,
लिहि मिच्छत्त अणंत गुणं तहो ॥ १६ ॥
सासण-गुण कोडिउ बावण्णइँ ।
मिस्स-ठाण ते दुगुण पवण्णइँ ॥
सत्त-कोडि-सय सम्मगुणि,
तेरह-कोडिउ सावय-ठाणहो ।
तिहिंऊणी णवकोडि[4] लिहि,
मुणिवर-णवविह-गुण-परिमाणहो ॥ २० ॥
इग-अडयाल-सत्त-उणहत्तरि ।
पंच-अट्ठ लिहि जिण-भवणं तरि ॥
दस देवहं संघाय मुणि,
दस-विह भावण वसुविह विंतर ।
पंच-पयारइँ जोइसिय,
बारह कप्पवासि लिहि सुर-वर ॥ २१ ॥
पंच भाव णव लद्धि जिणिंदहं ।
सत्त रिद्धि लिहि गण-हर-विंदहं ॥
पंच चड्डरियइँ दिसि वि दस,
पवयण-माउ अट्ठ दस मुंडण !
चउ मंगल-उत्तम-सरण,
पच्चय[1] सत्त चारि मण-खंडण ॥ २२ ॥
तिण्णि काल किरिया पणवीस वि ।
लिहि अंतयड-अणुत्तर दस विह ॥
आराहण भयवय लिहहि,
जा चालीसहि सुत्तहिं बद्धी ।
पंच मरण जेत्तहिं कहिय,
चेयण तिहिं भेयहिं सु-पसिद्धी ॥ २३ ॥
पंच णिग्गंथ सत्त सिय-भंगइँ ।
णव णिहि चउदह रयण समग्गइँ ॥
बुद्धिइँ चउ बल सत्त मुणि,
दव्व स-पज्जय-गुण संभालहि ।
दस आलोयण-दोस लिहि,
आवस्सण छ-ज्जीव स चालहि ॥ २४ ॥
चउतीसइँ लिहि अइसय-सारइँ ।
छ-व्विह पुग्गलु छह आहारइँ ॥
छह संठाणइँ संहणण,
दसविह एसण सुद्धि लिहहि तह ।
अंतराय बत्तीस मुणि,
विज्जावच्च-भत्ति दस दस विह ॥ २५ ॥
पंडिय-मरण तिण्णि तह णाणइँ ।
अट्ठ विवेय पंच कल्लाणइँ ॥
दायारहो लिहि सत्तगुण,
छिंपहि अट्ठ सुद्धि दसभासइँ ।
सत्तरि-सय वेयड्ढ गिरि,
पुरउ दहोत्तरु-सउ खग-वासइँ ॥ २६ ॥
कप्प-वासि पडलइँ तेसट्ठि वि ।
लिहि अक्खर पूरिवि चउसट्ठि वि ॥
पंच वण्ण छह रस गणहि,
सत्त वि सर दुइ गंध णिरुत्तइँ ।
अट्ठ फरिस चउ दाण मुणि,
अट्ठवीसइँ विसय समग्गइँ ॥ २७ ॥
पाडिहेर[2] अट्ठ वि जिणविंदहँ ।
पडिलेहण-गुण पंच मुणिंदहँ ॥

१ अत्यासना (मूलाचारोक्त) २ निश्छद्म=निष्कपट
३ विग्रह गतिमे जानेवाले जीवके। ४तीन कम नौकोटि संख्या

१ प्रत्यय मात (?) २ प्रातिहार्य ।

पंच-अट्ठमय-पंच-तिय,
अट्ठावीस-इग्यारह-अंकइँ।
अंगहँ पुव्व हैं इत्तियइँ,
चउदह एइँ सायार म संकहि ॥ २८ ॥
लिवि[1] अट्ठारह कला बहत्तरि।
चउसट्ठि वि विण्णाण मणंतरि ॥
रिउ छह बारहमास लिहि,
पुढविभेय-छत्तीस विसेसहि।
सत्तवीस अणगार-गुण,
जिण-हर सहस-कूडु महुँ दरिसहि ॥ २९ ॥
सत्ता-उदय-उदीरणकम्मइँ।
लिहि सविसेस विहिय जिण-धम्महिं ॥

[1] लिपि

गंठिउ लिहिवि समप्पियउ,
मुद्धउ धरि गय ओढिवि चुण्णी।
विणयचंद-मुणि-वयण सुणि,
उत्तम-सावय-धम्मि पवण्णी ॥ ३० ॥
ति-हुयणि गिरिपुरु जगि विक्खायउ।
सग्ग-खंडु णं धर-यलि आयउ ॥
तहिं णिवसंते मुणिवरें,
अजय-णरिंदहो राय-विहारहिं।
वेगे विरइय चूनडिय सोहहु,
मुणिवर जे सुय धारहिं ॥ ३१ ॥

॥ इति श्री भट्टारक-विनयचंद्रप्रणीता चूर्णिका समाप्ता ॥

वीर-शासन-जयन्ती

वीरके सन्देशका संवाद लेकर मास सावन,
आगया शासन-जयन्तीका सुदिन शुभ पर्वपावन॥
लोभ पापाचार-अत्याचारको जगसे मिटाने,
भेद भावोंको हटाकर साम्यमय जगको बनाने।
औ' अहिंसा धर्मका संसारमें संगीत गाने,
दानवोंको मनुजताका पाठ आये थे पढ़ाने॥
त्यागका आदर्श बन जो तज चुके थे राज्य-शासन।
आगया उन वीरका शासन-जयन्ती पर्वपावन॥
घोर था आतङ्क भू पर, कट रहे थे पशु विचारे!
सान्त्वना उनको मिली थी, आप हीके आ सहारे॥
दलित-पतितों औ' अछूतोंको उठा उरसे लगाया।
स्वार्थके संसारमें परमार्थ-नद जिनने बहाया॥
थे लगे करने तभी सब निडर होकर आत्मचिन्तन।
आगया उन वीरका शासन-जयन्ती पर्वपावन॥
द्वेष-मिथ्याचार-हिंसाको हटाकर आत्मबलसे,
दुःख जीवोंका किया था दूर जिनने भूमितलसे।
विश्वमें सद्ज्ञानकी तब छा गई थी शुभ घटाएँ,
वृष्टि ज्ञानाऽमृत हुई, थीं चल पड़ी मंजुल हवाएँ॥
हर्षसे 'व्याकुल' अवनिका नृत्य करता एक कण-कण।
आगया उन वीरका शासन-जयन्ती पर्वपावन* ॥

श्रीओमप्रकाश शर्मा 'व्याकुल'
सरसावा

*वीरसेवामन्दिरमें वीरशासनजयन्तीके अवसरपर पठित।

चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य

(लेखक—श्री पं० नाथूरामजी 'प्रेमी')

वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय

जिस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रीकी प्रसिद्धि है उसी तरह दिगम्बर सम्प्रदायमें चामुण्डराय या चावुण्डराय की । उनका घरू नाम गोम्मट था और 'राय', राजा राचमल्लद्वारा मिली हुई पदवी थी, इस लिये गोम्मटराय नामसे भी उनका उल्लेख मिलता है। डा० आदिनाथ उपाध्येने अपने एक लेखमें[1] सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि बाहुबली स्वामीकी मूर्तिका नाम गोम्मटजिन या गोम्मटेश्वर इसी कारण प्रसिद्ध हुआ है कि वह चामुण्डरायद्वारा निर्मापित हुई थी और आचार्य नेमिचन्द्रका पंच-संग्रह भी गोम्मट-सार गोम्मट-संग्रह, या गोम्मट-संग्रह-सूत्र इसी लिये कहलाया कि वह चामुण्डरायके लिये उनके प्रश्नके अनुरूप धवलादि सिद्धान्तों परसे संग्रह किया गया था । अण्ण भी उनका एक बोलचालका नाम था। केवल 'राय' या 'देव' नामसे भी उनका उल्लेख किया गया है। चामुण्डराय ब्रह्म-क्षत्रिय कुलके थे[2] । इस कुलके विषय में हम कुछ पता नहीं। संभव है, उनके पूर्वज पहले ब्राह्मण रहे हों और पीछे क्षात्र-वृत्ति करने लगे हों।

वे गंगवंशी[3] राजा राचमल्लके अमात्य (मन्त्री) और सेनापति थे। राचमल्ल (चतुर्थ) का राज्य-काल श० सं० ८९६ से ९०६ (वि० सं० १०३१-४१) तक निश्चित है। ये गंग-व्रज मारसिंहके उत्तराधिकारी थे। मारसिंह आचार्य अजितसेनके शिष्य थे और उन्हींके समीप बंकापुर (धारवाड़) में उन्होंने समाधिपूर्वक देहत्याग किया था[4]। वे बड़े भारी योद्धा थे और उन्हों ने अनेक जैनमन्दिर निर्माण कराये थे। जगदेकवीर राचमल्ल भी उन्हींकेसमान जैनधर्मपर श्रद्धा रखते थे।

चामुण्डराय केवल महामात्य ही नहीं, वीर सेनापति भी थे। उन्होंने अपने स्वामीके लिए अनेक युद्ध जीते थे, गोविन्दराज, वेकोंडुराज आदि अनेक राजाओंको परास्त किया था और इसके उपलक्ष्यमें उन्हें समर-धुरंधर, वीर मार्तण्ड, रणरंगसिंह, वैरिकुल-कालदण्ड, असहायपराक्रम, प्रतिपक्षराक्षस, भुजविक्रम, समर-परशुराम आदि विरुद प्राप्त हुए थे और कौनसी उपाधि किस युद्धके जीतनेपर मिली, इसका भी उल्लेख मिलता है। अपनी सत्यप्रियताके कारण वे सत्ययुधिष्ठिर भी कहे जाते थे।

जैन धर्मनिष्ठ होनेके कारण जैन-ग्रन्थकारोंने उन्हें सम्यक्त्वरत्नाकार, शौचाभरण, गुणरत्नभूषण, देवराज आदि विशेषण भी दिये हैं[5]।

गोम्मटराय या चामुण्डराय तीन कामोंके लिए विख्यात हैं—गोम्मट-संग्रहसूत्र(गोम्मटसार), गोम्मट-

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ अङ्क ३-४ ।

२ बाहुबलिचरितमें चामुण्डरायको 'ब्रह्म-क्षत्रिय-वैश्य-सुक्ति-सुमणिः' कहा है ।

३ यह वंश मैसूर प्रान्तमें ईसाकी चौथीसे लेकर ग्यारहवीं सदी तक रहा है। आधुनिक मैसूरका अधिकाश भाग गंगराजाओंके ही अधिकारमें था। इनकी राजधानी पहले कोलार (पालार नदीके किनारे) थी, जो पीछे कावेरीके तटपर तलकाड चली गई थी। इस राजवंशका जैनधर्मसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। गोम्मटसारके टीकाकर्ता अभयचन्द्रने इसे 'सिंहनन्दिमुनीन्द्राभिनन्दित' राजवंश कहा है। कई जगह सिंहनन्दिको इस राजवंशकी जड़ जमाने वाला भी बतलाया है ।

४ देखो, जैन शिलालेख-संग्रहका ३८ वाँ लेख ।

५ आचार्य नेमिचन्द्रने श्लिष्टरूपमें तीर्थंकर भगवानको भी ऊपर लिखे विशेषण देकर चामुण्डरायका संकेत किया है, जैसाकि गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी निम्नगाथाओंमें प्रकट है-

(क) असहायजिणवरिंदे असहायपरक्कमे महावीरे ।३९८

(ख) णमिऊण णेमिचंदं असहायपरक्कमं महावीरं । ८७

(ग) णमिऊण णेमिणाहं सच्चजुहिट्ठिरणमंसिय घिजुग ।४५१

(घ) णमह गुणरयणभूसण सिद्धंतामियमहद्धिभवभावं ।८९६

(ङ) गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥९६७

(च) णमिऊण वड्ढमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं ।३५८

शिखर या चंद्रगिरिके ऊपरके गोम्मटजिन और दक्षिण कुक्कुटजिन। गोम्मटसारमें आचार्य नेमिचन्द्रने इन तीनोंकी जय मनाई है। इनमेंसे गोम्मटजिन नेमिनाथ की इन्द्रनीलमणिकी उस प्रतिमाके लिए कहा गया है जो पहले चामुण्डराय-वस्तिमें थी परन्तु अब उसका पता नहीं कि कहां गई और अब उसके बदलेमें एचणके बनवाये हुए मन्दिरमेंसे नेमिनाथकी दूसरी प्रतिमा लाकर स्थापित कर दी गई है जो पाँच फीट ऊँची है और दक्षिण-कुक्कुट जिन बाहुबलि स्वामीकी उस विशाल मूर्तिके लिए कहा गया है जो जगत्प्रसिद्ध है। एक प्रवाद था कि भरत चक्रवर्तीने उत्तरमें बाहुबलिकी प्रतिमा निर्माण कराई थी, जो कुक्कुट सर्पोंसे व्याप्त हो गई थी। इसे वही न समझ लिया जाय, यह उससे पृथक् है, इसे बतलानेके लिए दक्षिण विशेषण दिया गया है[६]।

उक्त बाहुबलि स्वामीकी विशाल प्रतिमाके सुन्दर और आकर्षक मुखके विषयमें कहा गया है कि उसे सर्वार्थसिद्धिके देवोंने और सर्वावधि-परमावधि-ज्ञानके धारी योगियोंने दूरसे देखा[७]।

उनके बनवाये हुए जिन मन्दिरका नाम 'ईसिप-भार' या 'ईपत्प्राग्भार' था जो कि शायद इस समय चामुण्डरायवस्तिके नामसे प्रसिद्ध है। कहा गया है कि उसका तलभाग वज्र जैसा है, और उसपर सोने का कलश है[८]।

चामुण्डरायने एक स्तंभ भी बनवाया था जिसके ऊपर यक्षोंकी मूर्तियाँ थीं और जिनके मुकुटोंके किरण-जलसे सिद्धोंके चरण धुलते रहते थे[९]। डा० उपाध्ये का खयाल है कि यह स्तंभ 'त्यागद ब्रह्मदेव' स्तंभ है, जो विन्ध्यगिरिपर है।

ये गंगवज्र मारसिंहके गुरु अजितसेनाचार्यके ही शिष्य थे। अजितसेन अपने समयके बहुत बड़े प्रभावशाली आचार्य थे और वे आर्यसेनके शिष्य थे। गोम्मटसारके कर्त्ताने उन्हें ऋद्धिप्राप्त गणधरदेवादि-सदृश गुणी और भुवन-गुरु कहा है। चामुण्डरायके पुत्र जिनदेवन भी इन्हींके शिष्य थे।

चामुण्डराय जैनधर्मके उपासक तो थे ही, मर्मज्ञ विद्वान भी थे। उनका कनड़ी भाषाका त्रिषष्ठिलक्षण महापुराण (चामुण्डराय-पुराण) प्रसिद्ध है उपलब्ध गद्य-ग्रन्थोंमें यह सबसे प्राचीन गिना जाता है। इसके प्रारम्भ में लिखा है कि यह चरित्र पहले (कूचि (?) भट्टारक,तदनन्तर नन्दिमुनीश्वर तत्पश्चात् कविपरमेश्वर और फिर जिनसेन-गुणभद्र इस प्रकार परम्पराक्रमसे चला आया है और उन्हींके अनुसार मैं भी लिखता हूँ।

गोम्मटसारके अन्तमें एक गाथा है जिससे ऐसा भास होता है कि गोम्मटसारकी कोई ऐसी टीका (कनड़ी टीका) भी उन्होंने लिखी थी जिसका नाम वीरमत्तण्डी था[१०]।

६ गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कुड जिणो जयउ॥ ९६८

७ जेण विणिम्मिय पडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥९६९॥

८ वज्जयलं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेणकयं जयउ सो राओ ॥९७०॥
सिद्धलोक या आठवीं पृथ्वीका नाम 'ईपत्प्राग्भार' है। उसीके अनुकरणमें यह नाम रक्खा गया है। देखो, त्रिलोकसारकी ५५६ वीं गाथा।

९ जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥९७१—क.का.

१० गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो (सा) राओ (अइ) चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी।
इस गाथाका ठीक अन्वय नहीं बैठता। पाठ भी शायद कुछ अशुद्ध है। परन्तु यदि सचमुच ही चामुण्डरायकी कोई देसी या कनड़ी टीका हो, जिसका कि नाम 'वीरमत्तण्डी' था, तो वह केशववर्णीकी कर्नाटकी वृत्तिसे जुदा ही होगी, यह निश्चित है। एक कल्पना यह भी होता है कि उन्होंने गोम्मटसारकी कोई देसी (कनड़ी) प्रतिलिपि की हो। केशववर्णीकी कनड़ी-वृत्तिके लिए देखिए डा०उपाध्यायका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका ऑन गोम्मट सार : इट्स आथर एण्ड डेट' शीर्षक लेख। (इंडियन कल्चर जिल्द ७, नं० १। तथा (अ० वर्ष ४ कि० ३-४)

चारित्रसार नामका एक संस्कृत ग्रन्थ भी चामुण्डरायका बनाया हुआ कहा जाता है परन्तु वह एक तरहसे संग्रह ग्रन्थ है और बहुत करके तत्त्वार्थकी सर्वार्थसिद्धि टीकापरसे संग्रह किया गया है।

समसामयिक आचार्य

चामुण्डरायके समयमें अनेक बड़े-बड़े विद्वान आचार्य हो गये हैं। उनमें से एक तो उनके गुरु अजितसेन थे जिनका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है और जो बहुत करके सेनसंघके थे। उन्हें 'भुवनगुरु' कहा गया है[११]। दूसरे हैं अभयनन्दि-जिनके, वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि और नेमिचन्द्र नाम के शिष्य थे। इनमेंसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती प्रसिद्ध गोम्मटसार और त्रिलोकसारके कर्त्ता हैं। वे स्वयं अपनेको अभयनन्दिका ही शिष्य लिखते हैं[१२]।

वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि उनके ज्येष्ठ गुरु भाई थे और इस लिये उन्होंने एक दो जगह उनको भी गुरुतुल्य मानकर नमस्कार किया है और अपनेको उनका वत्स (वत्स) या शिष्य भी कहा है[१३]।

ये वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभ महाकाव्यके कर्त्ता हैं। इन्होंने इस काव्यकी प्रशस्तिमें लिखा है कि मेरे गुरु का नाम अभयनन्दि था जो देशीगणके आचार्य थे। अभयनन्दिके गुरु विबुधगुणनन्दि और प्रगुरु (दादागुरु) गुणनन्दि थे[१४]।

आचार्य नेमिचन्द्रने लिखा है कि जिनके चरणों के प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य संसार-समुद्रसे पार हो गए उन अभयनन्दि गुरुको नमस्कार हो[१५]। इससे भी मालूम होता है कि ये वीरनन्दि चन्द्रप्रभकाव्यके कर्त्ता ही हैं जो अपनेको अभयनन्दि का शिष्य बतलाते हैं। आगे इन सबके अस्तित्वकाल पर जो विचार किया गया है, उससे भी यही निश्चय होता है।

इन्द्रनन्दि नामके अनेक आचार्य हो गये हैं। हमारा ख़याल है कि श्रुतावतार या श्रुतपंचमी कथाके कर्त्ता इन्द्रनन्दि यही होंगे; क्योंकि श्रुतावतारसे मालूम होता है कि वे सिद्धान्तशास्त्रोंसे खूब अच्छी तरह परिचित थे और गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में उन्हें श्रुतसागरपारगामी लिखा भी है।

कनकनन्दिके विषयमें इतना ही मालूम होता है कि गोम्मटसारकी रचनामें उनका भी हाथ था और वे शायद इन्द्रनन्दिसे छोटे थे। कर्मकाण्डकी एक गाथाके अनुसार उन्होंने इन्द्रनन्दि गुरुके पास सब सिद्धान्त सुनकर सत्त्व-स्थानकी रचना की थी[१६]।

---

११ अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू।
भुवणगुरू जस्सगुरू सो राओ गोम्मटो जयउ ।७३३। जी.का.

१२ इदि णेमिचन्द्रमुणिणा णप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥—त्रि.सार०

१३ णमिऊण अभयणंदि सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥७८५—क० का०
णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहद्धि भवभाव।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥८९६—क.का.
वीरिंदणंदिवच्छेण प्पसुदेणभयणंदिसिस्सेण।
दंसणचरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचंदेण ॥६४८—ल०सा०

१४ बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः।
सदग्रणीर्देशिगणाग्रगण्यो गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा॥१॥
गुणग्रामाम्भोधेः सुकृतवसतेर्मित्रमहसा—
मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुरिव।
स तच्छिष्यो ज्येष्ठः शिशिरकरसौम्यः समभवत्
प्रविख्यातो नाम्ना विबुधगुणनन्दीति भुवने ॥ २ ॥
मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः
सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥ ३ ॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत्।
स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः सता
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशाः ॥

१५ जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं इन्द्रणंदिगुरुं ॥४३६क. का.

१६ वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयल सिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठम॥३९६॥क०का०

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार आराके जैन सिद्धान्त-भवनमें कनकनन्दि आचार्यका रचा हुआ 'त्रिभंगी' नामका एक ग्रन्थ है जो १४०० श्लोक प्रमाण है और वे यही कनकनन्दि होंगे[१७]।

त्रिलोकसारकी व्याख्याके कर्त्ता माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव आचार्य नेमिचन्द्रके शिष्य मालूम होते हैं। मूलग्रन्थमें भी इनकी कई गाथायें सम्मिलित हैं और वे मूलमें शामिल की गई हैं। गोम्मटसारमें भी इनकी कई गाथायें संग्रह की गई हैं जो संस्कृत टीका की उत्थानिकासे मालूम होती हैं। संस्कृत गद्यमय क्षपणासार भी, जो कि लब्धिसारमें शामिल है, इन्हीं माधवचन्द्रका है।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी गोम्मटसार और त्रिलोकसार नामकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं और ये दोनों ही संग्रह ग्रन्थ हैं। इन दोनोंकी ही अधिकांश गाथायें धवलसिद्धान्त और तिलोयपण्णत्तिसे सार रूपमें संग्रह की गई हैं। इनमें से गोम्मटसार तो चामुण्डरायकी ही प्रेरणासे उन्होंने बनाया है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है उन्हींके गोम्मटराय नामपर इसका नामकरण किया गया है। गोम्मटसार का परिशिष्टरूप लब्धिसार भी यतिवृषभके कषाय प्राभृतपर से इन्हीने संग्रह किया है। आचार्य नेमिचन्द्र की अन्य किसी रचनाका हमें पता नहीं है।

जिस तरह चक्रवर्ती अपने शासन-चक्रसे भारतवर्ष के छह खण्डोंको स धता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह आचार्य नेमिचन्द्रने अपने बुद्धिरूप चक्रसे पट्खंडागमको साधा। इसी लिए वे सिद्धान्त-चक्रवर्ती कहलाये[१८]।

समय-विचार

प्रारम्भमें ही कहा जा चुका है कि चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्लके मन्त्री थे और उनका राज्यकाल वि० सं० १०३१ से १०४१ तक है।

चामुण्डरायने अपना चामुण्डरायपुराण श० सं० ९०० अर्थात् वि० सं० १०३५ में समाप्त किया था।

कनड़ी भाषाके सुप्रसिद्ध कविरन्नने अपना 'पुराणतिलक' (अजितपुराण) नामकग्रन्थ श०सं०९१५ अर्थात् वि०सं० १०५०में समाप्त किया था। उसने अपने ऊपर चामुण्डरायकी विशेषकृपा होनेकाउल्लेख किया है।

इससे चामुण्डरायका समय विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध निश्चित होता है।

माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवने तिलोयसार-टीकामें लिखा है कि चामुण्डरायको प्रतिबुद्ध करने के लिए नेमिचन्द्र सि० च० ने इस ग्रन्थकी[१९] रचना की और इसी तरह गोम्मटसारकी मन्दप्रबोधिका टीकाके कर्त्ता अभयचन्द्र कहते हैं[२०] कि गंगनरेश राचमल्ल के महामात्य चामुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप यह ग्रन्थ बनाया गया। इससे उक्त दोनों ग्रन्थोंके कर्त्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियों—वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि, माधवचन्द्र—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध ठहरता है।

श्रीवादिराजसूरिने अपना पार्श्वनाथचरित्र काव्य श० सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त किया है[२१] और उन्होंने उसके प्रारम्भमें पूर्व कवियोंकी स्तुति करते हुए वीरनन्दिके चन्द्रप्रभ - काव्यका स्पष्ट उल्लेख किया है[२२]। अर्थात् वि० सं० १०८२ तक उक्त काव्यकी ख्याति हो चुकी थी और इससे भी पूर्वोक्त समयकी पुष्टि होती है।

---

१७ जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ पृ० १६५-६६

१८ जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं। ३९७-क०का०

१९ ...सैद्धान्तदेवश्रुतरनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेन अशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमारचयन्

२० सिद्धनंदिमुनीन्द्राभिनन्दितगंगवंशललाम श्रीमद्राचमल्ल - देवमहीवल्लभमहामात्यपदविराजमान रणरंगमल्लासहाय पराक्रमगुणरत्नभूषणसम्यक्त्वरत्ननिलयादिविविधगुणनाम-नामसमासादितकीर्ति श्रीचामुण्डरायभव्यपुण्डरीक द्रव्या-नुयोगप्रश्नानुरूपम् ...

२१ शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने, मासेकार्तिकनाम्नि बुधमहिते शुद्धे तृतीयादिने। सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनी कथेयं मया, निष्पत्तिंगमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये॥ पा०च

२२ चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनःप्रिया। कुमुद्वतीव नो

वीरसेवामन्दिरमें वीर-शासन-जयन्ती-उत्सव

इस वर्ष वीरसेवामन्दिर सरसावामें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा और द्वितिया ता० २८-२९ जुलाई सन १९४७ दिन मंगलवार-बुधवारको पिछले वर्षोंकी अपेक्षा और भी अधिक समारोहके साथ वीर-शासनजयन्तीका उत्सव मनाया गया। स्थानीय प्रमुख सज्जनोंके अलावा बाहर-से—सहारनपुर, देहली, मथुरा, अम्बाला, मुजफ्फर-नगर, पंचकूला, सलावा, खतौली, तिस्सा, मल्हीपुर, अबदुल्लापुर, जगाधरी, बनारस, नानौता आदि स्थानों से—अनेक गण्यमान्य श्रीमान और विद्वद्गण पधारे थे, जिनमें ला० प्रद्युम्नकुमार जैन रईस सहारनपुर, ला० अर्हद्दास सहारनपुर, ला० उदयराम जिनेश्वरदास, ला० बेनीप्रसाद तथा ला० रूढ़ामलजी सहारनपुर, पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य सहारनपुर, पं० राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ, प्रधान-मन्त्री दि० जैन संघ मथुरा, बा० जैनेन्द्रकुमार देहली, श्रीमती लेखवतीजी अम्बाला, पं० चन्द्रकुमारजी शास्त्री एम० ए० अम्बाला, पं० कृष्णचन्द्रजी अधिष्ठाता जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला, बा० कौशलप्रसादजी जैन मैनेजिंग डायरेक्टर भारत आयुर्वेदिक केमिकल्स सहारनपुर, बा० रूपचन्द्रजी एम० ए० हेडमास्टर जैन हाई स्कूल सहारनपुर, श्री० कर्मानन्दजी सहारनपुर, पं० शील-चन्द्रजी न्यायतीर्थ सहसम्पादक 'विश्वमित्र' देहली, पं० शंकरलालजी शर्मा, पं० श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री मंत्री परिषद आफिस देहली, मा० चेतनदासजी बी० ए० मल्हीपुर, डा० कैलाशचन्द्रजी सहारनपुर, बा० विजयमूर्ति एम० ए० दर्शनाचार्य बनारस, ला० विमलप्रसादजी सदर बाजार देहली, ला० बाबूरामजी जैन रईस तिस्सा, हकीम चंद्रसैन जैन तिस्सा, ला० त्रिलोकचन्द्र जैन, मंत्री जैन मिडिल स्कूल खतौली, ला० जौहरीमल शर्राफ देहली, पं० बाबूलालजी जैन तिस्सा, पं० काशीरामजी शर्मा 'प्रफुल्लित' सहारनपुर, पं० धर्मदासजी खतौली, ला० हुकमचन्द्रजी सलावा, ला० तनसुखराय तिस्सा, श्रीमती जयवन्तीदेवी सह-सम्पादिका जैन 'महिलादर्श' और रतनगुणमाला नानौता आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रथम दिन सुबह ५ बजे बड़े ही आनन्द तथा उत्सवके साथ प्रभातफेरी हुई, जिसमें स्थानीय और बाहरके बहुत प्रतिष्ठित सज्जनोंने भाग लिया। प्रभात-फेरीका झण्डा मुख्तार साहब लिए हुए चल रहे थे। इसके बाद झण्डाभिवादन किया गया। १२ बजे के बाद जलूस निकाला गया। जुलूस के बीच-बीचमें स्थानीय जैन धर्मप्रेमी वैद्य पं० रामनाथजी शर्मा जुलूस का प्रयोजन और वीर-शासनका महत्व जनताको बहुत ही अच्छे ढंगसे समझाते जाते थे तथा श्री माणिक गवैयेके भावपूर्ण मनोहर गायन होते थे।

२॥ बजे जुलूसके वीरसेवामन्दिरमें वापिस आ जानेके बाद मनोनीत सभापति श्री०ला०प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुरके सभापतित्वमें सभाका कार्य प्रारंभ हुआ। यद्यपि लालाजी साहब कुछ अस्वस्थ थे किन्तु अपनी अस्वस्थताका खयाल न कर वीरसेवा-मन्दिरके प्रेम और आग्रहको पाकर आपने जल्सेमें पधारनेकी कृपा की थी। सभाका कार्य प्रारम्भ होनेके सर्वप्रथम स्थानीय कन्यापाठशालाकी छात्राओं और जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूलाके ब्र० रवीन्द्रकुमारने हार-मोनियम पर सुमधुर मंगलगान किये। तदन्तर मेरे मंगलाचरण किये जानेके बाद सभापतिका चुनाव किया गया। सभापतिजीने वीरसेवामन्दिरकी महत्ता और उसके कार्यकी उपयोगिता बतलाते हुए मार्मिक भाषण दिया, उसके बाद पं० शीलचन्द्र जैन न्याय-तीर्थ, पं० रामनाथ वैद्य, बा० जयभगवान वकील और पं० माणिकचन्द्र न्यायाचार्य के प्रभावक एवं महत्वपूर्ण व्याख्यान हुए। व्याख्यानके मध्यमें पं० ओमप्रकाश, पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित', कुमारी लज्जावतीके क्रमशः 'वीर-संदेश' 'वीरकी कहानी' और 'वीर-शासन' पर बहुत ही सुन्दर भावुक कविताएँ हुईं। शामके भोजनका समय हो जानेके कारण

अन्य विद्वानोंके इस समय भाषण न हो सके अतः सभा रात्रिके लिए स्थगित कर दी गई।

रात्रिमें श्री० माणिक गवैयेके गायन होनेके अनन्तर श्रीयुत बा० जैनेन्द्रकुमारजी की अध्यक्षतामें सभा प्रारम्भ हुई। पं० राजेन्द्रकुमार जैन न्यायतीर्थका कार्यारंभके पहिले मंगलाचरण हुआ। श्री० कर्मानंद पं० कृष्णचन्द्र, पं० श्रेयांसकुमार, पं० बाबूलाल, श्री० प्रेमलता 'कौमुदी' आदिके व्याख्यान हुए, तथा कविताएँ और गायन भी हुए।

दूसरे दिन अधिक पानी बरसनेके कारण नियमित सभा तो नहीं हो सकी किन्तु सुबह ६ बजेसे १ बजे तक विद्वानोंकी महत्वपूर्ण गोष्ठी हुई, जिसमें बा० जैनेन्द्रकुमार, पं० राजेन्द्रकुमार, बा० जयभगवान, श्री० कर्मानन्द, बा० कौशलप्रसाद, श्री लेखवती, पं० परमानंद शास्त्री आदिने प्रमुख भाग लिया। मैं भी इस गोष्ठीमें सम्मिलित था। बा० जैनेन्द्रकुमारजीके समाधानकारक उत्तरोंमें बड़ा आनंद आता था। क्या ही अच्छा हो, जल्सोंके समय इसी तरह विद्वानोंकी साहित्य-गोष्ठियाँ हों, और विभिन्न विषयों पर तत्व-चर्चा की जायँ तो विद्वानोंको ही नहीं, बरन् अन्य लोगोंको भी बड़ा लाभ हो और सामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला जा सके।

मध्याह्न में श्री लेखवती जैनके नेतृत्वमें महिलाओं की सभा हुई जिसमें अनेक महिलाओंके उत्तम व्याख्यान हुए।

आगन्तुक सभी सज्जनोंने वीरसेवामन्दिरके कार्यों की प्रशंसा की। न्यायाचार्य पं० माणिकचंद्र जैनने बहुत खुशी प्रकट की। आपके वे शब्द ये हैं—"खुशी की बात है कि वीरसेवामंदिरमें यह पुण्य दिवस पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कई वर्ष से मना रहे हैं। बालोपयोगी जैनधर्मकी पुस्तकें यहांसे प्रकट हों तो बहुत अच्छा होगा; क्योंकि यहां अच्छे विद्वान मौजूद हैं।"

अन्तमें मुख्तार साहबने बड़े ही मार्मिक शब्दों द्वारा अपनी लघुता प्रकट की और सबका आभार प्रदर्शित किया तथा सभापतिजी और अन्य आगन्तुक सज्जनोंको हार्दिक धन्यवाद दिया।

स्थानीय सज्जनोंमें बा० नानकचंद्र, वैद्य रामनाथ, ला० जम्बूप्रसाद, ला० अनन्तप्रसाद, ला० महाराजप्रसाद, ला० रोढामल, ला० सुखमालचंद, बा० प्रद्युम्नकुमार, बा० तिलोकचंद्र, ला० नेमिचंद्र आदि धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने इस जल्सेमें हमें किसी न किसी रूपमें सहायता पहुंचाई है। इस तरह यह जल्सा बड़े आनंद एवं समारोहके साथ संपन्न हुआ।

दरबारीलाल जैन कोठिया

थिर हो बैठ हृदयमें सोचो, अमित कालसे क्या करते हो?

पथिक!

भूले पथिक! कहाँ फिरते हो?

मार्ग विपर्यय है यह तेरा
अनय-असुर ने किया अँधेरा
विषय-व्यालने तुझको घेरा

ज्ञान-प्रकाश जगा जीवनमें;
जन्म-मरण-दुख क्यों भरते हो?

करण-कंटकाकीर्ण विजनमें
मनोवृत्तियों के भव-वनमें
राग-द्वेष के शल्य-सदन में

मायाके इस विकट जालमें,
जान बूझ क्यों पग धरते हो?

भूले पथिक! कहाँ फिरते हो?

तेरा है जगसे क्या नाता?
सोच अरे क्यों भूला जाता?
काम-क्रोध-मद क्यों अपनाता?

कुटिल-काल के चंगुल में फँस,
अन्धकूपमें क्यों गिरते हो?

अमर ज्ञानकी ज्योति जगाओ;
शुद्ध-चिरन्तन-चिन्मय ध्याओ;
कर्म-वृन्दकी चिता जलाओ;

'दद्दू' दिव्य ज्ञान-दर्शन से,
क्यों नहिं भव-सागर तरते हो?

दद्दूलाल जैन
रि० हेडमास्टर

बुद्धिवाद-विषयक कुछ विचार

(संग्रहकर्ता—दौलतराम 'मित्र')

(१) "बुद्धि हमें जीवनकी अनेक अवस्थाओंमे पार ले जाती है सही, परन्तु संकट और प्रलोभन-के समय तो वह हमारा साथ नहीं देती।"

(२) "बुद्धिवाद तभी तक प्रशंसनीय है जब तक कि वह सर्वज्ञता का दावा न करने लगे। सर्वज्ञता का दावा करने पर तो वह (बुद्धि) भयङ्कर राक्षसी है।"

(३) "अकेला (कोरा) बुद्धि-विकास मनुष्यको विकृत, धूर्त, और अप्रामाणिक बनाता है।"

(४) "अतिशय तर्क-वादसे बुद्धि तेजस्विनी नहीं बनती, तीव्र भले ही होती हो। तर्क-वितर्ककी अतिशायितासे बुद्धिको भ्रष्ट होते किसने न देखा होगा?"

(५) "प्रलोभन देनेमें और मोहोत्पादन करनेमें बुद्धि अग्रणी है।"

(६) "जगतमें जो आर्थिक अनीति-असमानता फैल-ती है, उसका बड़ा सबब बुद्धिका दुरुपयोग है। कृषि इत्यादि कर्मोंको छोड़कर बुद्धिके-द्वारा आजीविका प्राप्त करना बुद्धिका दुरुपयोग कहलाता है।"

(७) "मनुष्य का सारा जीवन तर्क-शास्त्रके आधार पर नहीं बीतता। अकसर मनुष्य तर्क-शास्त्रका विरोधी बर्ताव करके भी अपने विवेक और बल-वीर्यका परिचय देता है।"

(८) "बेशक संसार में ऐसे पदार्थ भी हैं जो बुद्धि-के खिलाफ नहीं, किन्तु उससे परे हैं। यह बात नहीं कि हम बुद्धिकी कसौटी पर उनकी परीक्षा करना नही चाहते, लेकिन वे स्वयं ही बुद्धिकी मर्यादामे नहीं आते है। वे अपने सहजरूपके कारण बुद्धिको थकादेते हैं।"

(म० गांधी)

(९) "इस संसारमें हम बुद्धिके द्वारा थोड़ी ही चीज़ोंको समझ सकते हैं। इसीसे ज्ञानियोंको ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होता जाता है, वे नम्र बनते जाते हैं। क्योंकि ज्ञान तो अपने अज्ञानका पहाड़ देखनेमें हैं। जितना ही गहरा वह उतरता है, उतना ही वह देखता है कि वह तो कुछ भी नही जानता। बल्कि जितना वह जानता है वह सबका सब उसका अनुमान-कल्पना-मात्र है।" (म० गांधी)

(१०) "हम जानते थे इल्मसे कुछ जानेगे।
मगर जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी।"

(उस्ताद 'ज़ौक़')

(११) "बुद्धिसे पूछा कि तेरे इन्द्रियाँ नही, परन्तु सब कुछ ज्ञान है; आँखें नहीं, परन्तु सब कुछ देखती है; किन्तु वह क्या शै है कि जिसके आगे तू भी सिर झुकाती है?—वह बोली—जिस हृदयेश्वर के विरह मे मै नित जलती हूँ, जब उसके दर्शन होते हैं तो मैं अपने प्राण निछावर कर देती हूँ। उसके होते मै नहीं रह जाती।"

(एक ईरानी कवि)

(१२) "फ़ुरसत मिली जो बोलने की तो ज़बाँ नहीं।
जब तक रही ज़बाँ तो हम बेज़बाँ रहे॥"

(मीर-असर)

(१३) "इस संसारमे आकस्मिकघटना-उथलपुथल-नामकी कोई चीज नही हैं। जो कुछ होता है, नियमानुसार होता है। बात केवल यही हैं कि हमारी बुद्धि की पामरता इतनी ज्यादा है कि हम उस नियमकी गतिसे अनभिज्ञ रहते हैं।"

(म० गांधी)

श्रवणबेल्गोल और इन्दौरके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची

अपनेको जिन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूचियाँ प्राप्त हुई हैं उनमेंसे दो भण्डार श्रवणबेल्गोलके हैं—एक भट्टारकजीका और दूसरा पं० दौर्बलि जिनदास शास्त्रीका, जिनमें क्रमशः ५०५ और ४६४ हस्तलिखित ग्रन्थ दर्ज सूची हैं। एक अमरग्रंथालय नामका शास्त्रभण्डार उदासीनाश्रम तुकोगञ्ज, इन्दौरका भी है, जिसकी सूची में १८१ ग्रन्थ दर्ज हैं। इन तीनों ग्रन्थसूचियों परसे आज सिर्फ उन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी एक सूची भण्डार-क्रमसे नीचे प्रकाशित की जाती है, जो अनेकान्तमें इससे पहले प्रकाशित हुई सूचियोंमें नहीं आए हैं। इसमे पाठकोंको और कितने ही नये ग्रंथोंका सामान्य परिचय प्राप्त होगा और उनको देखने-जानने आदिकी प्रेरणा मिलेगी।

—सम्पादक

वे. नं.	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र सं.	आनु. श्लोकसं.	विषय
	(१)भट्टारकजीका भंडार					
१३०	अनन्तनाथपुराण	कवि जनार्दन	कन्नड	६२	६३००	प्रथमानुयोग
२४८	अशौचविधि	ब्रह्मसूरि	संस्कृत	४६	१०००	×
१८२	अंजनादेवीचरित्रे	कवि मायरण	कन्नड	११५	४०००	प्रथमानुयोग
३६०	आराधनासार	देवेन्द्रशयनगणी	संस्कृत	...	×	चरणानुयोग
३२२	आराधनासार	वीरसेन	,,	६१	१५००	,,
२७६	आराधनासार-टिप्पण	सूरसेन	कन्नड	३२	५००	,,
२४०	आराधनासार	नागसेन	संस्कृत	४६	२०००	,,
३३५	उदितोदयचरित्रे	शिखामणि	द्राविड	६५	१५००	प्रथमानुयोग
४५	कर्तृरत्नप्रदीपिका	बालचन्द्रदेव	कन्नड	१८५	८०००	×
२६५	कन्विगिरकाव्य	अण्डय्य	,,	५४	२०००	प्रथमानुयोग
५४	जिनशतक	दामनन्दी	संस्कृत	१४४	४०००	×
१४४	त्रिभंगीव्याख्या	माधवचंद्र	कन्नड	६६	२०००	करणानुयोग
२०६	दानसार	दामनन्दी	संस्कृत	८७	३०००	×
२	दीक्षापटल	×	,,	६	५०३	चरणानुयोग
५४	धन्यकुमारचरित्र	दामनन्दी	,,	×	×	प्रथमानुयोग
१२५	नागकुमारचरित्र	शिखामणि	,,	६७	५०००	,,
५४	नागकुमारचरित्र	दामनन्दी	,,	×	×	,,
१६८	नाभिराजीयं	नाभिराज	कन्नड	१८२	४०००	,,
२५	नेमिनाथपुराण	माणिक्यदीप	,,	२२२	७०००	,,
३८६	परूवणा	पद्मप्रभ	प्राकृत	१३४	१५००	करणानुयोग
५२	प्रतिक्रमणव्याख्या	श्रीनन्दीगुरु	संस्कृत	×	..	×
८६	प्रमेयकंठिका	शांतिषेण	,,	२२	×	न्याय

वे. नं.	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र सं.	आनु-श्लोकसं.	विषय
१४१	प्रमेयरत्नालंकार	पंडिताचार्य चारुकीर्ति	संस्कृत	१४५	५०००	
८६	प्रवचनपरीक्षा	जिनेन्द्रचन्द्र	"	१५	×	^
१३३	प्रवचनपरीक्षा	नेमिचन्द्र	"	६७	१०००	×
३८७	प्रश्नोत्तरस्तोत्र	धर्मचन्द्रगणि	"	६२	१०००	स्तवन
८६	प्राकृतमंजरी	पंडिताचार्य चारुकीर्ति	"	×	×	×
१८	प्राभृतत्रय-टीका	मल्लिषेण	"	१०८	१२००	अध्यात्म
२६४	पंचपरमेष्ठिगलुव्याख्यान	×	तामिल	७४	१४००	
२२	पंचप्रकरण	विद्यानन्दी	संस्कृत	१४२	५०००	न्याय
११७	पार्श्वाभ्युदयकाव्यटीका	पंडिताचार्य चारुकीर्ति	..	१२२	४०००	प्रथमानुयोग
१८४	पुष्पांजलिकाव्य	उदयकीर्ति	''	४२	६०७	×
३८२	बाहुबलिस्वामिचरित्र	पंडिताचार्य चारुकीर्ति	"	३६	५००	प्रथमानुयोग
२१८	महाशांतिहोम	नेमिचन्द्र	"	५४	१५००	×
११०	मंत्रवाद	×	तामिल	८२	३०००	× मंत्र
२२६	माघनन्दिसंहिता	माघनन्दी	संस्कृत	२१८	२५००	
१६	युक्त्यनुशासन	गुणभद्र ?	"	×	×	×
२२७	योगरत्नाकर	जयकीर्ति	कन्नड	४४	१०००	×
१५६	रयणसारव्याख्या	×	''	६४	१०००	×
१२८	लघीयस्त्रयवृत्ति	अभयचन्द्र	संस्कृत	३१	×	न्याय
१३५	लीलावती	नेमिचन्द्र	कन्नड	×	२०००	गणित
१०६	लोकचूणामणि	×	तामिल ?	६४	२०००	×
६	वैद्यसारसंग्रह (अपूर्ण)	नरसिंह शास्त्री	कन्नड	५३	३२००	×
११२	सनत्कुमारचरित्र	पायण्णवर्णी	संस्कृत	१३६	७०००	प्रथमानुयोग
८६	सप्तभंगितरंगिणी	विमलदास	"	२८	४०००	न्याय
१५५	समयपरीक्षा	ब्रह्मदेव	"	८०	१५००	
३६६	सम्यक्त्वकौमुदी	विष्णुसेन	"	×	×	कथा
२६	समाधिशतकटीका	जिनदास	"	×	१५००	×
१७२	संगीतसमयसार	पार्श्वदेव	"	४०	१५००	×
१८१	शब्दमणिदर्पण	केशिराज	कन्नड	१०२	३०००	×
६३	शाकटायनपाठ	नागवर्मा	संस्कृत	१६२	४०००	व्याकरण
१६५	शृंगारमणिचंद्रिके	विजयण्ण	"	६३	२५००	
११६	हरिवंशपुराण	मंगरस	कन्नड	१४५	१०००	प्रथमानुयोग

वे० नं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र सं०	श्रानु-श्लोकसं०	विषय
	(२) दौर्बलि जिनदास	भण्डार				
१०७	अलंकारचूडामणि	हेमचन्द्र	संस्कृत	१२६	३३२०	अलंकार
३०८	आगमसार	×	कन्नड	१४६	१६०६	×
२८०	आन्ध्रव्याकरण	पवननंदि	तामिल	१७०	६०००	व्याकरण
२४५	कदम्बपुराण	चन्द्रसागरवर्णी	संस्कृत	१३	×	प्रथमानुयोग
२७७	कविराजमार्ग	नृपतुङ्गदेव	कन्नड	४०	×	×
६६	क्षत्रचूडामणिपंजिका	×	संस्कृत	११	६० ?	काव्य
२७८	गणरत्नमहोदधि	वर्धमान	,,	१२५	×	×
११७	छंदोनुशासन	जयकीर्ति	,,	३१	५००	×
६२	जिनेन्द्रमाल	केशवार्य	,,	६३	१८०७	×
३१६	जीवकचिन्तामणि	×	तामिल	११५	३००	कथा
१३८	ज्ञानार्कोदय	कनकसेन	संस्कृत	१४	६६०	×
२३३	तत्त्वार्थवृत्ति	दौर्बलिजिनदास	कन्नड	५५	२०००	द्रव्यानुयोग
३०६	तामिलव्याकरण	×	द्राविड	८३	२०००	×
४२	त्रैलोक्यचूडामणि(अपूर्ण)	×	कन्नड	३	३६	×
७५	दानसार	पंकजनन्दि	संस्कृत	७२	१५२१	×
४५	ध्यानपद्धति	सोमदेवपण्डित	,,	५	४०	×
४२	ध्यानलक्षण	×	कन्नड	५	६०	×
८५	नयविस्तार	×	संस्कृत	६	१५०	×
२६६	नेमिदूतकाव्य	विक्रम	,,	१६	×	×
१६४	नीलकेशी	×	मलियालम	१०४	६००८	×
६	प्रकृतिसमुत्कीर्तन	प्रभाचंद्र	संस्कृत	१०	२१८	×
१७	प्रमेयकमलमार्तण्ड-टिप्पण	भट्टअकलंक	,,	४०	२००१	न्याय
१६०	पार्श्वनाथचरित्र	सकलकीर्ति	,,	१३१	१८५०	प्रथमानुयोग
५२	मैथिलीकल्याणनाटक	कविवर हस्तिमल	संस्कृत	४०	१०००	×
३१	राघव-पाण्डवीयकाव्यटीका	पुष्पसेन	,,	२४३	७१०६	×
८६	राजवार्तिकटिप्पण	×	,,	४६	×	×
३०२	रामचन्द्रचरित्र	पद्मनाथ	कन्नड	४५	१२१०	×
२६७	लघुपुराण	×	संस्कृत	१६	१६४	×
५८	लीलावती	कवि राजकुञ्जर	कन्नड	१३८	५५००	गणित
५	समयसारप्रकाश	प्रभाचंद्र	संस्कृत	४४	३००६	अध्यात्म
८२	सरस्वतीकल्प	अरिष्टनेमि	संस्कृत	८	४००	×
११६	स्थविरकल्प	×	,,	३	११२	×
७	स्मरपराजय	जिनदेव	,,	३०	१०६०	×
१६२	श्रीपुराण	गुणभद्र	,,	३२६	१२ ००	प्रथमानुयोग

वे. नं.	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र सं०	आनु-श्लोकसं.	विषय
	(३) अमरग्रन्थालय,	तुकोगंज				
२०१	अरिष्टाध्यायी	×	प्राकृत	२४	७००	
७१	ज्ञानदीपिका	हरिचन्द्रराय	हिन्दी	३७	१०५०	
१८४	ज्योतिषसार-संग्रह	रत्नभानु	संस्कृत	३०	३००	
८२	ढालवाण	टेकचन्द	हिन्दी	२६	१०००	
८१	ढुंढियामत-खंडन	बख्सीराम	,,	३६	८००	
२००	तिथि-निर्णय	सिंहनन्दी	संस्कृत	२३	३००	
१४१	त्रेपनक्रिया	गौतमगणी	,,	४३	१०००	
६७	धर्मसार श्रावकाचार	शिरोमणि	,,	४५	११००	
२१	परमात्मप्रकाश टीका	दीपचन्द	हिन्दी	२७	१०००	
७२	पिंडस्थध्यानचक्र	×	संस्कृत	१०	४००	
६५	पद्मनंदिपंचविंशतिकाटीका	टेकचन्द	,	६०	३०००	
१४७	पाक्षिकश्रावकचन्द्रिका	मरकत(पन्नालाल गोधा)	हिन्दी	८८	६५००	
८४	प्रश्नमाला	टेकचन्द	संस्कृत	६	१६०	
६४	बुद्धिप्रकाश	अमरचन्द	हिन्दी	१२	६००	
८७	भावदीपिका	जोधराज	ढूंढाणी	१६२	३५००	
३१	मरकतविलास	कविवर मरकत(पन्नालालगो	हिन्दी-पद्य	१६८	७०००	
२०२	मूलसंघपट्टावली	×	,,	६	२५०	
५४	वसुनन्दिश्रावकाचारटीका	चंपालाल	,, गद्य	४१६	१३५००	
११८	विद्यानुवाद	भ० देवेन्द्रकीर्ति	संस्कृत	२७०	६८६७	
४३	विवेकविलास	पं० दौलतराम	हिन्दी	४७	१२१५	
४१	विवेकविलास	पं० प्रभाचन्द्र	,,	१६	४००	
१५६	व्रतोद्यापनश्रावकाचार	अभ्रदेव	संस्कृत	४२	८००	
१२७	शांतिहवन विधि	×	,,	४६	१६००	
३६	शुद्धोपयोग	भागचन्द	हिन्दी पद्य	१४	१६०	
४६	श्रावक धर्मसंग्रह	दरयावसिंह सोधिया	,,	१५४	६०००	
६६	श्रावकाचार	लक्ष्मीचन्द्र	प्राकृत	१६	३००	
५८	षट्कर्मश्रावकाचार	लक्ष्मीचन्द्र	संस्कृत	४८	१८००	
६१	सम्यक्त्वप्रकाश	डालूराम	हिन्दी	१२६	४६५०	
१३७	सम्यक्त्व प्रकाश	येलचन्द	प्राकृत	४८	६००	
१८०	सम्यक्त्वलीलाविलास	विनोदीलाल	,,	१०६	४४००	
६१	सम्यग्दर्शनचन्द्रिका(न टी)	मरकत(पं.पन्नालालगोधा)	,, गद्य	७१०	३३७२५	
१६२	सर्वज्ञपरीक्षा	×	हिन्दी	१८	७००	
६६	सहस्रनामटिप्पण	पद्मनन्दी	संस्कृत	२२	६००	
१६३	स्वरूपानन्द	दीपचन्द	हिन्दी	१५	३५०	
४४	स्वानुभवदर्पण(प.प्र.प.)	मुंशी नाथूराम	हिंदी पद्य	२८	४५०	

वीरसेवामन्दिर, सरसावा जिला सहारनपुर।

अनेकान्तके सहायक

अब तक जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुये, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन देकर उसकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं :—

२२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
१०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी, कलकत्ता।
१००) सेठ जोखीरामजी बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
१००) बा० लालचंदजी जैन, एडवोकेट रोहतक,
१००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैनपंचायत पानीपत
१००) ला० ततसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
५१) रा०ब०बा० उलफतरायजी जैन रि०इञ्जीनियर, मेरठ।
५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई।
२५) ला० रूड़ामलजी जैन शामियानेवाले सहारनपुर।
२५) बा० रघुवरदयालजी जैन एम ए० करौलबाग देहली।
२५) सेठ गुलाबचंदजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
२५) ला० बाबूराम अकलङ्कप्रसादजी जैन, तिस्सा जिला मुजफ्फरनगर।
२५) सवाई सिघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।
२५) ला० दीपचंदजी जैन रईस, देहरादून।
२५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
२५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन रि० अमीन, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनेकान्त को सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको द्वितीय और तृतीय मार्गसे ६३॥) की और सहायता प्राप्त हुई है, जो निम्न प्रकार है और जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

२५) गुप्त सहायता, सदर बाज़ार देहलीके उन्हीं परोपकारी महानुभावकी ओरसे जो इससे पहले इसी मदमें ४६॥) रुपयेकी सहायता भेज चुके हैं और जिन्होंने अपना नाम अभी तक पत्रमें प्रकट करनेसे मना कर रक्खा है। (१० व्यक्तियोंको और 'अनेकान्त' फ्री भेजनेके लिये)। यह सहायता आपने स्वयं वीर-शासन-जयन्तीके अवसर पर वीर सेवामन्दिरमें पधार कर प्रदान की है।
११) रा० ब० ला० हुलासरायजी जैन रईस सहारनपुर (स्वयं वीर सेवामन्दिरमें पधार कर)।
१०) बा० महावीर प्रसादजी जैन बी० ए० एल एल बी०, वीर स्वदेशीभंडार, सरधना जि० मेरठ। (चार व्यक्तियोंको एक वर्ष तक अनेकान्त फ्री भिजवानेके लिये)
१०) रखबचन्द राजमल जावरा वाले छोटा सराफा, इन्दौर। (४ व्यक्तियोंको अनेकान्त फ्री भिजवानेके लिये) मार्फत भाई दौलतरामजी 'मित्र' इन्दौर।
५) रायसा० ला० आदीश्वरलालजी देहली, (अपने पिता बा० प्यारेलालजी वकील देहलीके स्वर्गवासके समय निकाले गये दानमें से)।
२॥) पं० दरबारीलालजी जैन न्यायाचार्य, सरसावा (एक व्यक्तिको अनेकान्त फ्री भिजवानेके लिये)।

६३॥)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिरको फुटकर सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीर सेवामंदिर सरसावाको ५) रुपयेकी सहायता ला० इन्द्रसैन बाबूमलजी जैन, टिम्बरमर्चेन्ट, अब्दुल्लापुरसे (लायब्रेरीमें कोई जैन ग्रंथ मंगानेके लिये) प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर'

विलम्बका कारण

प्रेस कर्मचारियों तथा वीर सेवामन्दिरके भी सभी विद्वानोंके, सम्पादकजी सहित, बीमार पड़जानेके कारण अनेकान्तकी इस किरणके प्रकाशनमें आशातीत विलम्ब हो गया है। पाठक इसके लिये हमें क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक 'अनेकान्त'

Registered No. A-731.

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार आराके जैन सिद्धान्त-भवनमें कनकनन्दि आचार्यका रचा हुआ 'त्रिभंगी' नामका एक ग्रन्थ है जो १४०० श्लोक प्रमाण है और वे यही कनकनन्दि होंगे[१७]।

त्रिलोकसारकी व्याख्याके कर्त्ता माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव आचार्य नेमिचन्द्रके शिष्य मालूम होते हैं। मूलग्रन्थमें भी इनकी कई गाथायें सम्मिलित हैं और वे मूलमें शामिल की गई हैं। गोम्मटसारमें भी इनकी कई गाथायें संग्रह की गई हैं जो संस्कृत टीका की उत्थानिकासे मालूम होती हैं। संस्कृत गद्यमय क्षपणासार भी, जो कि लब्धिसारमें शामिल है, इन्हीं माधवचन्द्रका है।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी गोम्मटसार और त्रिलोकसार नामकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं और ये दोनों ही संग्रह ग्रन्थ हैं। इन दोनोंकी ही अधिकांश गाथायें धवलसिद्धान्त और तिलोयपण्णत्तिसे सार रूपमें संग्रह की गई हैं। इनमें से गोम्मटसार तो चामुण्डरायकी ही प्रेरणासे उन्होंने बनाया है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है उन्हींके गोम्मटराय नामपर इसका नामकरण किया गया है। गोम्मटसार का परिशिष्टरूप लब्धिसार भी यतिवृषभके कषाय प्राभृतपर से इन्होंने संग्रह किया है। आचार्य नेमिचन्द्र की अन्य किसी रचनाका हमें पता नहीं है।

जिस तरह चक्रवर्ती अपने शासन-चक्रसे भारतवर्ष के छह खण्डोंको साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह आचार्य नेमिचन्द्रने अपने बुद्धिरूप चक्रसे षट्खंडागमको साधा। इसी लिए वे सिद्धान्त-चक्रवर्ती कहलाये[१८]।

समय-विचार

प्रारम्भमें ही कहा जा चुका है कि चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्लके मन्त्री थे और उनका राज्यकाल वि० सं० १०३१ से १०४१ तक है।

चामुण्डरायने अपना चामुण्डरायपुराण श० सं० ९०० अर्थात् वि० सं० १०३५ में समाप्त किया था।

कनड़ी भाषाके सुप्रसिद्ध कविरत्नने अपना 'पुराणतिलक' (अजितपुराण) नामकग्रन्थ श०सं०९१५ अर्थात् वि०सं० १०५०में समाप्त किया था। उसनेअपने ऊपर चामुण्डरायकी विशेषकृपा होनेकाउल्लेख किया है।

इससे चामुण्डरायका समय विक्रमकी ग्यारहवी सदीका पूर्वार्ध निश्चित होता है।

माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवने तिलोयसार-टीकामें लिखा है कि चामुण्डरायको प्रतिबुद्ध करने के लिए नेमिचन्द्र सि० च० ने इस ग्रन्थकी[१९] रचना की और इसी तरह गोम्मटसारकी मन्दप्रबोधिका टीकाके कर्त्ता अभयचन्द्र कहते हैं[२०] कि गंगनरेश राचमल्ल के महामात्य चामुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप यह ग्रन्थ बनाया गया। इससे उक्त दोनों ग्रन्थोंके कर्त्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियों—वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि, माधवचन्द्र—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध ठहरता है।

श्रीवादिराजसूरिने अपना पार्श्वनाथचरित्र काव्य श० सं० ९४४ (वि० सं० १०८२) में समाप्त किया है[२१] और उन्होंने उसके प्रारम्भमें पूर्व कवियोंकी स्तुति करते हुए वीरनन्दिके चन्द्रप्रभ - काव्यका स्पष्ट उल्लेख किया है[२२]। अर्थात वि० सं० १०८२ तक उक्त काव्यकी ख्याति हो चुकी थी और इससे भी पूर्वोक्त समयकी पुष्टि होती है।

---

१७ जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ पृ० १६५-६६

१८ जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं। ३९७-क०का०

१९ सैद्धान्तदेवश्रुतनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेन अशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमारचयन्

२० सिद्धनंदिमुनीन्द्राभिनन्दितगंगवंशललाम श्रीमद्राचमल्ल-देवमहीवल्लभमहामात्यपदविराजमान रणरंगमल्लासहाय पराक्रमगुणरत्नभूषणसम्यक्त्वरत्ननिलयादिविविधगुणनाम-नामसमासादितकीर्ति श्रीचामुण्डरायभव्यपुण्डरीक द्रव्या-नुयोगप्रश्नानुरूपम् ...

२१ शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने, मासेकार्तिकनाम्नि बुधमहिते शुद्धे तृतीयादिने। सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनी कथेयं मया, निष्पत्तिंगमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये॥ पा०च

२२ चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनःप्रिया। कुमुद्वतीव नो

विषय-सूची

स्वास्थ्य और आभार

अबकी बार अतिवृष्टिके फलस्वरूप मलेरिया ज्वरकी जो वबा फैली उससे अपना सारा ही आश्रम पीड़ित होगया! बहुत कुछ संयमके साथ रहने और महीनों से एक वक्त भोजन करनेके कारण मैं समझता था कि इस वबासे बचा रहूँगा परन्तु अन्तको मुझे भी उसकी बलि चढ़ना ही पड़ा ? और उसने मुझे कोई डेढ़ महीने तक रगड़ा !! इतनी कमजोरी हो गई कि उठते-बैठते और दो कदम चलते चक्कर आने लगे। अस्तु; अब मेरा स्वास्थ्य उत्तरोत्तर सुधर रहा है। आशा है जो भारी कमजोरी पैदा हो गई है वह शनैः शनैः दूर हो जायगी। आश्रमके दूसरे विद्वान भी प्रायः ठीक हैं। मेरी तथा आश्रमके अन्य विद्वानोंकी अस्वस्थताको मालूम करके जिन सज्जनों ने चिन्ता व्यक्त की है और सहानुभूति के पत्र भेजे हैं उन सबका मैं हृदयसे आभारी हूँ, और उन्हें यह सूचित करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है कि मैं चंदरोजसे अपना कुछ काम धीरे धीरे करने लगा हूँ। इधर खाली बैठे मुझे चैन नहीं और उधर मेरे काममें कोई हाथ बटानेवाला भी नहीं—इसीसे बीमारीकी हालतमें भी मुझे अनेकान्तादिका कितना ही काम मजबूरीको करना ही पड़ा है और उससे मेरे स्वास्थ्यके सुधरनेमें विलम्ब हुआ है, और हो रहा है।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

वार्षिक ३) तीन रुपये —। अनेकान्तका मूल्य। — एक प्रतिका ।) छह आना

वर्ष ५ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर | सितम्बर-अक्तूबर
किरण ८-९ | भाद्रपद आश्विन वीरनिर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९९ | १९४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[९]

श्री सुविधि-जिन-स्तोत्र

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावं। त्वया प्रणीतं सुविधे! स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः॥१॥

'(शोभन विधि-विधानके प्रतिपादन द्वारा अन्वर्थ-संज्ञाके धारक) हे सुविधि (पुष्पदन्त) जिन! आपने अपने ज्ञानतेजसे उस प्रमाण-सिद्ध तत्त्वका प्रणयन किया है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है—अनेकान्तात्मक होनेसे किसीकी भी इस एकान्तमान्यताको स्वीकार नहीं करता कि वस्तु-तत्त्व सर्वथा (स्वरूप और पररूप दोनोंसे ही) सत् (विधि) आदि रूप है। यह समालीढ पद—सम्यक् अनुभूत तत्त्वका प्रतिपादक 'तदतत्स्वभाव' जैसा पद—आपसे भिन्न मत रखने वाले दूसरे मत प्रवर्तकोंके द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है।'

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्तथाप्रतीतेस्तव तत्कथंचित्। नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात्॥२॥

'(हे सुविधि जिन!) आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं (असद्रूप) है; क्योंकि (स्वरूप-पररूपकी अपेक्षा उसके द्वारा) वैसी ही सत् असद्रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता मानने पर शून्य दोष आता है—अविनाभाव सम्बन्धके कारण विधि और निषेध दोनोंमेंसे किसीका भी तब अस्तित्व बन नहीं सकता, संकर दोषके भी आ उपस्थित होनेसे पदार्थोंकी कोई व्यवस्था नहीं रहती, और इस लिये वस्तु-तत्त्वके लोपका प्रसंग आ जाता है।'

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः। न तद्विरुद्धं बहिरंतरंग-निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते। ३।

'यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्त्वका नित्य और अनित्य दोनों रूप होना तुम्हारे मतमें विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह बहिरंग निमित्त—सहकारी कारण, अन्तरंग निमित्त—उपादान कारण, और नैमित्तिकके—निमित्तोंसे उत्पन्न होने वाले कार्यके सम्बन्धको लिये हुए है—द्रव्यस्वरूप अन्तरंग कारणके सम्बन्धकी अपेक्षा नित्य है और क्षेत्रादि-रूप बाह्य कारण तथा परिणाम-पर्यायरूप कार्यकी अपेक्षा अनित्य है।'

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या। आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः।४।

'पदका वाच्य—शब्दका अभिधेय—प्रकृतिसे—स्वभाव से—एक और अनेक दोनों रूप है—समान्य और विशेषमें अथवा द्रव्य और पर्यायमें अभेद-विवक्षाके होने पर एकरूप है और भेद-विवक्षाके होने पर अनेकरूप है—'वृक्षाः' इस पदज्ञानकी तरह। अर्थात जिस प्रकार 'वृक्षाः' यह एक व्याकरण-सिद्ध बहुवचनान्त पद है, इससे जहाँ वृक्षत्व सामान्यका बोध होता है वहाँ वृक्षविशेषोंका भी बोध होता है। वृक्षत्व-वृक्षपना अथवा वृक्ष जातिकी अपेक्षा इसका वाच्य एक है और वृक्ष विशेषकी—आम, अनार, शीशम, जामुन आदिकी—अपेक्षा इसका वाच्य अनेक है; क्योंकि कोई भी वृक्ष हो उसमें सामान्य और विशेषके दोनों धर्म रहते हैं, उनमेंसे जिस समय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय वह धर्म मुख्य होता है और दूसरा गौण, परन्तु जो धर्म गौण होता है वह उस विवक्षाके समय कहीं चला नहीं जाता— उसी वृक्षवस्तुमें रहता है, कालान्तरमें वह भी मुख्य हो सकता है। जैसे 'आम्राः' कहने पर जब 'आम्रत्व' धर्म मुख्य होकर विवक्षित होता है तब 'वृक्षत्व' नामका सामान्यधर्म उससे अलग नहीं हो जाता—वह भी उसीमें रहता है। और जब 'आम्राः' पदसे आम्रत्व सामान्यरूपसे विवक्षित होता है तब आम्रके विशेष देशी, कलमी, लगड़ा, मालदा, फज़ली आदि धर्म गौण (अविवक्षित) होते हैं और उसी आम्र पदमें रहते हैं। यही हालत द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा अविवक्षाकी होती है। एक ही वृक्ष द्रव्य-सामान्यकी अपेक्षा एकरूप है तो वही अंकुरादि पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूप है। दोनोंमें जिस समय जो विवक्षित होता है वह मुख्य और दूसरा गौण कहलाता है। इस तरह प्रत्येक पदका वाच्य एक और अनेक दोनों ही होते हैं।

(यदि पद-शब्दका वाच्य एक और अनेक दोनों हो तो 'अस्ति' कहने पर 'नास्तित्व' के भी बोधका प्रसंग आनेसे दूसरे पद 'नास्ति' का प्रयोग निरर्थक ठहरेगा, अथवा स्वरूपकी तरह पररूपसे भी अस्तित्व कहना होगा। इसी तरह 'नास्ति' कहने पर 'अस्तित्व' के भी बोधका प्रसंग आएगा, दूसरे पदका प्रयोग निरर्थक ठहरेगा अथवा पररूपकी तरह स्वरूपसे भी नास्तित्व कहना होगा। इस प्रकारकी शंकाका समाधान यह है कि—) अनेकान्तात्मक वस्तुके अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करने पर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादनसे जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे आकांक्षी—सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात—'स्यात्' शब्दका साथमें प्रयोग—गौणकी अपेक्षा न रखने वाले नियममें—सर्वथा एकान्त मतमें—निश्चितरूपसे बाधक होता है—उस सर्वथाके नियमको चरितार्थ नहीं होने देता जो स्वरूपकी तरह पररूपके भी अस्तित्वका और पररूपकी तरह स्वरूपके भी नास्तित्वका विधान करता है (और इस लिये यहाँ उक्त प्रकारकी शंकाको कोई स्थान नहीं रहता)।

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम्। ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममाऽपि साधोस्तव पादपद्मम्

'हे सुविधि जिन! आपका यह 'स्यात्' पदरूपसे प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणके आशयको लिये हुए है—विवक्षित और अविवक्षित दोनों ही धर्म इसके वाच्य हैं—अभिधेय हैं। आपसे—आपके अनेकान्त मतसे—द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियोंके लिये यह वाक्य अपथ्य रूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है; क्योंकि दोनों धर्मोंका एकान्त स्वीकार करनेसे उनके यहां विरोध आता है। चूंकि आपने ऐसे सातिशय तत्त्वका प्रणयन किया है इस लिये हे साधो! आपके चरण कमल जगदीश्वरों—इन्द्र-चक्रवर्त्यादिके द्वारा वन्दनीय हैं, और मेरे भी द्वारा वन्दनीय हैं।'

श्री अकलंक और विद्यानन्दकी राजवार्तिकादि कृतियोंपर-
पं० सुखलालजीके गवेषणा-पूर्ण विचार

[पं० सुखलालजी सघवी श्वेताम्बर जैनसमाजके गण्यमान्य चोटीके विद्वानोंमें हैं। आप बड़े ही अध्ययन-शील व्यक्ति हैं—तुलनात्मक अध्ययन आपका बढ़ा चढ़ा है। आपने जैन-जैनेतर दर्शनोंका खूब तुलनात्मक अभ्यास किया है। बीसियों वर्षमें श्रीअकलंक और विद्यानन्द आचार्योंके तत्त्वार्थ-राजवार्तिक और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थ आपके अध्ययनका खास विषय बने हुए हैं। आपने इन आचार्योंके ग्रन्थोंकी दूसरे दिगम्बर साहित्य, श्वेताम्बर साहित्य और अजैन दर्शनसाहित्यके साथ जो तुलना की है तो उसपरसे इन ग्रन्थोंका बहुत कुछ महत्व आपपर प्रस्फुटित हुआ है और उसने आपके हृदयपर अमिट छाप जमाई है। इसीसे आप इन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंके मुक्तकण्ठसे प्रशंसक हैं और बराबर इनकी गुण-गरिमाको विद्वानों पर ख्यापित करते रहते हैं। अनेक बार इनके विषयमें आपने अपने गवेषणापूर्ण विचार बिना किसी संकोचके प्रकट किये हैं। आपके ये विचार अनेक ग्रन्थों—ग्रन्थप्रस्तावनाओं, प्राक्कथनों और टिप्पणियों आदिके विभिन्न पृष्ठोंमें बिखरे पड़े हैं। पढ़ते समय मैं अक्सर उनपर मार्क कर दिया करता था। बहुत दिनोंसे मेरी इच्छा थी कि उनका एकत्र संग्रह करके उन्हें 'अनेकान्त' के पाठकोंके सामने रक्खा जाय, जिससे नई मालूमातके साथ साथ अधिकांश पाठकोंके ज्ञानकी वृद्धि हो सके, परन्तु अनवकाशादिके वश अभी तक मेरी वह इच्छा पूरी नहीं हो रही थी। आज उस इच्छाकी आंशिक पूर्तिके रूपमें पंडितजीके ऐसे विचारोंका एक संग्रह उनके १ तत्त्वार्थ-सूत्र सविवेचनाकी 'परिचय' नामक प्रस्तावना, २ प्रमाणमीमांसाकी 'प्रस्तावना', ३ प्रमाण मीमांसाके भाषा टिप्पणों और ४ अकलंक ग्रन्थत्रयके 'प्राक्कथन' परसे उद्धृत करके अनेकान्त-पाठकोंके सामने रक्खा जाता है। आशा है इसपर से पाठकोंको कितनी ही नई बात जाननेको मिलेंगी, नई नई बातें खोजनेकी और विद्वानोंकी प्रवृत्ति होगी, उनके हृदयपर इन ग्रन्थोंका महत्व सविशेष रूपसे अंकित होगा और दिगम्बर श्रीमानोंको इस बातकी प्रेरणा मिलेगी कि वे अपने इन अद्वितीय ग्रन्थरत्नोंके उत्तमोत्तम संस्करण प्रकाशित कराकर इनके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करें, जिससे विद्वत्समाजकी दृष्टिको अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हो सकें। राजवार्तिक श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंके जो संस्करण अभी तक प्रकाशित हुए हैं वे बहुत ही थर्डक्लास, श्रीहीन, अवर्पण शून्य, त्रुटियोंसे परिपूर्ण और अशुद्धियोंसे भरे हुए हैं। इसीसे जैन-जैनेतर विद्वानोंकी प्रवृत्ति उनके पठन-पाठनकी ओर बहुत ही कम होती है। उत्तम संस्करणोंका प्रकाशित करना जहाँ भक्ति और साहित्य सेवाका एक अंग है वहाँ वह लोकोपकारका भी बहुत बड़ा साधन है, अतः इस ओर समाजके श्रीमानोंका शीघ्र ही ध्यान जाना चाहिये। —सम्पादक]

१ तत्त्वार्थसूत्रके परिचयमें—

"ये (भट्ट अकलङ्क) जैनन्याय-प्रस्थापक विशिष्ट गण्यमान्य विद्वानोंमेंसे एक हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ[1] उपलब्ध हैं, जो हरएक जैनन्यायके अभ्यासी के लिये महत्वकी हैं।" प० पृ० ५६

"ये (विद्यानन्द) भारतीय दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी हैं और इन्होंने तत्त्वार्थ पर 'श्लोकवार्तिक' नामकी पद्यबद्ध विस्तृत व्याख्या लिखकर कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसक ग्रन्थकारोंकी स्पर्द्धा की है और जैनदर्शन पर किये गये मीमांसकोंके प्रचण्ड आक्रमण का सबल उत्तर दिया है।" प० पृ० ६०

"सर्वार्थसिद्धिमें जो दार्शनिक अभ्यास नजर आता है उसकी अपेक्षा राजवार्तिकका दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ़ जाता है। राजवार्तिकका एक ध्रुवमंत्र यह है कि उसे जिस बातपर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अनेकान्त' का आश्रय लेकर

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि (फुटनोटकी रचनानुसार)

ही कहता है। 'अनेकान्त' राजवार्तिककी प्रत्येक चर्चा को चाबी है। अपने समय पर्यन्त भिन्न भिन्न संप्रदायों के विद्वानोंने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किये और अनेकान्तवादकी जो त्रुटियाँ बतलाईं उन सबका निरसन करने और 'अनेकान्त' का वास्तविक स्वरूप बतलानेके लिये ही अकलंकने प्रतिष्ठित तत्वार्थसूत्रके आधार पर सिद्धलक्षणवाली सर्वार्थसिद्धिका आश्रय लेकर अपने राजवार्तिककी भव्य इमारत खड़ी की है।" प० पृ० ६१

" तत्वार्थ श्लोकवार्तिकमें जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शनका खंडन है वैसा तत्वार्थसूत्रकी दूसरी किसी भी टीकामें नहीं। तत्वार्थ श्लोकवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकमें चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं; उलटा बहुतसे स्थानोंपर तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककी अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातोंकी चर्चा तो श्लोकवार्तिकमें बिलकुल अपूर्व ही है। राजवार्तिकमें दार्शनिक अभ्यासकी विशालता है तो श्लोकवार्तिकमें इस विशालताके साथ सूक्ष्मताका तत्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैनवाङ्मयमें जो थोड़ी बहुत कृतियां महत्व रखती हैं उनमेंकी दो कृतियाँ 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं। तत्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्यमेंसे एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिककी तुलना कर सके, ऐसा दिखलाई नहीं देता।" प० पृ० ६२

"प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैनदर्शनका प्रामाणिक अभ्यास करनेके पर्याप्त साधन हैं; परन्तु इनमेंसे 'राजवार्तिक' गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्वार्थ के संपूर्ण टीकाग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूरी करता है। ये दो वार्तिक यदि नहीं होते तो दसवीं शताब्दी तकके दिगम्बरीय साहित्यमें जो विशिष्टता आई है और इसकी जो प्रतिष्ठा बंधी है वह निश्चयसे अधूरी ही रहती।" प० पृ० ६३

" सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके साथ सिद्धसेनीय वृत्तिकी तुलना करनेसे इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि जो भाषाका प्रासाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें है, वह सिद्धसेनीय वृत्तिमें नहीं।" प० पृ० ६५

२ प्रमाणमीमांसाकी प्रस्तावनासे—

" उसी परिस्थितिमेंसे अकलङ्क जैसे धुरंधर व्यवस्थापकका जन्म हुआ। संभवतः अकलङ्कने ही पहिले-पहल सोचा कि जैन परंपराके ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता आदि सभी पदार्थोंका निरूपण तार्किक शैलीसे संस्कृत भाषामें वैसा ही शास्त्रबद्ध करना आवश्यक है जैसा ब्राह्मण और बौद्ध परंपराके साहित्यमें बहुत पहिलेसे होगया है और जिसका अध्ययन अनिवार्य रूपसे जैन तार्किक करने लगे हैं। इस विचारसे अकलंकने द्विमुखी प्रवृत्ति शुरू की। एक ओर तो बौद्ध और ब्राह्मण परंपराके महत्वपूर्ण ग्रंथोंका सूक्ष्म परिशीलन और दूसरी ओर समस्त जैन मन्तव्योंका तार्किक विश्लेषण। केवल परमतोंका निरास करने ही से अकलङ्कका उद्देश्य सिद्ध हो नहीं सकता था। अतएव दर्शनान्तरीय शास्त्रों के सूक्ष्म परिशीलनमेंसे और जैनमतके तलस्पर्शी ज्ञानसे उन्होंने छोटे-छोटे पर समस्त जैनतर्क-प्रमाणशास्त्रके आधारस्तम्भभूत अनेक न्याय-प्रमाण-विषयक प्रकरण रचे जो दिङ्नाग और खासकर धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकोंके तथा उद्योतकर कुमारिल आदि जैसे ब्राह्मण तार्किकोंके प्रभावसे भरे हुए होने पर भी जैन मन्तव्योंकी बिलकुल नये सिरे और स्वतन्त्र-भावसे स्थापना करते हैं। अकलङ्कने न्याय-प्रमाणशास्त्रका जैन परंपरामें जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषायें की, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण प्रमेय आदिका वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वादकथा आदि परमत-प्रसिद्ध वस्तुओंके सम्बन्धमें जो जैन प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अब तकमें जैनपरम्परामें नहीं पर अन्य-परंपराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्कशास्त्रके अनेक पदार्थोंको जैन-दृष्टि से जैनपरंपरामें जो सात्मीभाव किया तथा आगम-सिद्ध अपने मतव्योंको जिस तरह दार्शनिकोंके सामने रखने योग्य बनाया, वह सब उनके छोटे-छोटे ग्रन्थोंमें विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्वका तथा न्याय-प्रमाण स्थापना युगका द्योतक है।" प्र० पृ० १४

"माणिक्यनन्दी अकलङ्कके ही विचार-दोहनमे से सूत्रोंका निर्माण करते हैं। विद्यानन्द अकलंकके ही सूक्तोपर या तो भाष्य रचते हैं या पद्यवार्तिक बनाते हैं या दूसरे छोटे छोटे अनेक प्रकरण बनाते है। अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे तो अकलंकके संक्षिप्त सूक्तोपर इतने बड़े और विशद तथा जटिल भाष्य व विवरण कर डालते हैं कि जिससे तब तकमे विकसित दर्शनान्तरीय विचार-परंपराओं का एक तरहसे जैन वाङ्मयमें समावेश हो जाता है। दूसरी तरफ श्वेताम्बर परम्पराके आचार्य भी उसी अकलंक स्थापित प्रणालीकी ओर झुकते हैं। हरिभद्र जैसे आगमिक और तार्किक ग्रन्थकारने तो सिद्धसेन और समन्तभद्र आदिके मार्गका प्रधानतय, अनेकान्त-जयपताका आदिमें अनुसरण किया, पर धीरे-धीरे न्याय-प्रमाणविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ-प्रणयनकी प्रवृत्ति भी श्वेताम्बर-परंपरामें शुरू हुई। श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनने न्यायावतार रचा था। पर वह निरा प्रारंभ-मात्र था। अकलंकने जैनन्यायकी सारी व्यवस्था स्थिर कर दी।"

प्र० पृ० १५

"धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदिमे बल पाकर तीक्ष्ण दृष्टि अकलंकने जैनन्याय का विशेष निश्चय-व्यवस्थापन तथा जैन प्रमाणोंका संग्रह अर्थात् विभाग, लक्षण आदि द्वारा निरूपण अनक तरहसे कर दिया था। अकलंकने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदिकी सिद्धिके द्वारा धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ बौद्धोंको जवाब भी दिया था। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्द ने आप्त की, पत्रकी और प्रमाणोंकी परीक्षा द्वारा धर्म-कीर्तिकी तथा शान्तरक्षितकी विविध परीक्षाओंका जैन परंपरामें सूत्रपात कर ही दिया था। दिगम्बर परंपरामे अकलंकके संक्षिप्त पर गहन सूक्तोंपर उनके अनुगामी अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द और वादिराज जैसे विशारद तथा पुरुषार्थी तार्किकोंने विस्तृत व गहन भाष्य-विवरण आदि रचकर जैन न्यायशास्त्रको अति-समृद्ध बनाने का सिलसिला भी जारी कर ही दिया था।" प्र० पृ० १६

३ प्रमाणमीमांसाके टिप्पणोंसे—

"जैनन्यायके प्रस्थापक अकलङ्कने कहीं 'अनधिगतार्थक और अविसंवादि' दोनो विशेषणोंका प्रवेश किया और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषणका भी समर्थन किया है।" टि० पृ० ६, ७

"क्षमाश्रमण (जिनभद्र) जाने यह सब कुछ किया फिर भी उन्होंने कहीं यह नहीं बतलाया कि जैन प्रक्रिया परोक्षप्रमाणके इतने भेद मानती है और वे अमुक हैं।

इस तरह अभी तक जैनपरंपरामें आगमिक ज्ञान-चर्चाके साथ ही साथ, पर कुछ प्रधानतासे प्रमाण-चर्चा हो रही थी, फिर भी तार्किकोंके सामने दूसरे प्रतिवादियोंकी ओरसे यह प्रश्न बार बार आता ही था कि जैनप्रक्रिया अगर अनुमान, आगम आदि दर्शनान्तर प्रसिद्ध प्रमाणोंको परोक्षप्रमाणरूप स्वीकार करती है तो उसे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह परोक्ष प्रमाणके कितने भेद मानता है, और हरएक भेदका सुनिश्चित लक्षण क्या है? जहां तक देखा है उसके आधारसे निःसंदेह कहा जा सकता है कि उक्त प्रश्न का जवाब सबसे पहिले भट्टारक अकलङ्कने दिया है और वह बहुत ही स्पष्ट तथा सुनिश्चित है। अकलङ्कने अपनी लघीयस्त्रयीमे बतलाया कि परोक्ष प्रमाणके अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, तर्क और आगम ऐसे पाँच भेद हैं। उन्होंने इन भेदोंका लक्षण भी स्पष्ट बाँध दिया। हम देखते हैं कि अकलङ्कके इस स्पष्टीकरणने जैनप्रक्रियामे आगमिक और तार्किक ज्ञान-चर्चामें बराबर खड़ी होनेवाली सब समस्याओंको सुलझा दिया। इसका फल यह हुआ कि अकलङ्कके उत्तरवर्ती दिगम्बर - श्वेताम्बर सभी तार्किक उसी अकलङ्कदर्शित रास्ते पर ही चलने लगे और उन्हींके शब्दोंको एक या दूसरे रूपसे लेकर यत्र तत्र विकसित कर अपने अपने छोटे और बृहत्काय ग्रन्थोंको लिखने लग गये। अकलंकने परोक्षप्रमाणके पाँच भेद करते समय यह ध्यान अवश्य रक्खा है कि जिससे उमास्वाति पूर्वाचार्योंका समन्वय विरुद्ध न होजाय और आगम तथा निर्युक्ति आदिमे मतिज्ञानके पर्यायरूपसे

प्रसिद्ध स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इन शब्दों की सार्थकता भी सिद्ध होजाय। यही कारण है कि अकलङ्कका यह परोक्ष प्रमाणके पंच प्रकार तथा उनके लक्षण-कथनका प्रयत्न अद्यापि सकल जैन तार्किक मान्य रहा। आ० हेमचन्द्र भी अपनी मीमांसामें परोक्षके उन्हीं भेदोंको मानकर निरूपण करते हैं। टि० पृ० २२, २३

"यद्यपि प्रत्यक्षके लक्षणमें विशद या स्फुट शब्दका प्रयोग करनेवाले जैनतार्किकोंमें सबसे पहिले अकलङ्क ही जान पड़ते हैं तथापि इस शब्दका मूल बौद्धतर्कग्रन्थोंमें है क्योंकि अकलङ्कके पूर्ववर्ती धर्मकीर्ति आदि बौद्धतार्किकोंने इसका प्रयोग प्रत्यक्षस्वरूप-निरूपणमें किया है।" टि० पृ० २६, २७

"यद्यपि आ० हेमचन्द्र वादी देवसूरिके समकालीन और उनके प्रसिद्ध ग्रंथ स्याद्वादरत्नाकरके द्रष्टा हैं एवं जिनभद्र, हरिभद्र और देवसूरि तीनोंके अनुगामी भी हैं, तथापि वे धारणाके लक्षणसूत्रमें तथा उसके व्याख्यानमें दिगम्बराचार्य अकलंक और विद्यानन्द आदिका शब्दशः अनुसरण करते हैं।" टि०पृ० ४८

"प्रमाणलक्षण-सबंधी परमतोंका प्रधानरूपसे खंडन करनेवाला जैनतार्किकोंमें सर्वप्रथम अकलङ्क ही हैं। उत्तरवर्ती दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी तार्किकोंने अकलङ्क-अवलम्बित खण्डन मार्गको अपनाकर अपने-अपने प्रमाणविषयक लक्षण ग्रंथोंमें बौद्ध, वैदिक-सम्मत लक्षणोंका विस्तारके साथ खण्डन किया है।" टि० पृ० ४८-४९

"अनेकान्तवादके ऊपर प्रतिवादियोंके द्वारा दिये गए दोषोंका उद्धार करने वाले जैनाचार्योंमें व्यवस्थित और विश्लेषणपूर्वक उन दोषोंके निवारण करने वाले सबसे प्रथम अकलंक और हरिभद्र ही जान पड़ते हैं।" टि० पृ० ६४

"जैसे अनेक विषयोंमें आ० हेमचन्द्र अकलंकका खास अनुसरण करते हैं वैसे ही इस चर्चामें भी उन्होंने मध्यवर्ती फलोंको सापेक्षभावसे प्रमाण और फल कहने वाली अकलंक स्थापित जैन शैलीको सूत्रमें शब्दशः स्थान दिया।" टि० पृ० ६९

"अकलंकोपज्ञ प्रत्यभिज्ञाकी यह व्यवस्था जो स्वरूपमें जयन्तका मानसज्ञानकी कल्पनाके समान है वह सभी जैन तार्किकोंके द्वारा निर्विवादरूपसे मान ली गई है।" टि० पृ० ७६

"जब जैन परम्परामें तार्किक पद्धतिसे प्रमाणके भेद और लक्षण आदिकी व्यवस्था होने लगी तब सम्भवतः सर्वप्रथम अकलंकने ही तर्कका स्वरूप, विषय, उपयोग आदि स्थिर किया, जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्किकोंने किया है।······चिरायात आर्य परम्पराके अति परिचित ऊह या तर्क शब्दको लेकर ही अकलंकने परोक्षप्रमाणके एक भेदरूपसे तर्क प्रमाण स्थिर किया।" टि० पृ० ७७

"अतएव जैन परम्पराके सामने निग्रह स्थानका स्वतन्त्रभावसे निरूपण करनेका ही प्रश्न रहा जिसको भट्टारक अकलंकने सुलझाया। उन्होंने निग्रहस्थानका लक्षण स्वतन्त्र भावसे ही रचा और उसकी व्यवस्था बांधी, जिसका अक्षरशः अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकोंने किया है।······ जहाँ तक देखनेमें आया है उससे मालूम होता है कि धर्मकीर्तिके लक्षणका संक्षेपमें स्वतन्त्र खण्डन करने वाले सर्वप्रथम अकलंक हैं और विस्तृत खण्डन करने वाले विद्यानन्द और तदुपजीवी प्रभाचन्द्र हैं।" टि० पृ० १२१

"इस तरह धर्मकीर्तिने जय-पराजयकी ब्राह्मण-सम्मत व्यवस्थामें संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था की इसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गई कि अनेक प्रसङ्गोंमें यह सरलतासे निर्णय करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन है या नहीं। इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलतासे निर्णय करनेकी दृष्टिसे भट्टारक अकलंकने धर्मकीर्ति कृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। अकलंकके संशोधनमें धर्मकीर्ति-सम्मत सत्यका तत्त्व तो निहित है ही, पर जान पड़ता

है अकलंककी दृष्टिमें इसके अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव अकलंकने कह दिया कि किसी एक पक्षकी सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्षकी असिद्धि ही उसका पराजय है। अकलंकका यह सुनिश्चितमत है कि किसी एक पक्षकी सिद्धि दूसरे पक्षकी असिद्धिके बिना हो ही नहीं सकती। अतएव अकलंकके मतानुसार यह फलित हुआ कि जहां एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरेकी असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्षकी सिद्धि हो उसी की जय। अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दोंमें जय और पराजय समव्याप्तिक हैं। कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजय शून्य नहीं। धर्मकीर्तिकृत व्यवस्थामें अकलंककी सूक्ष्म अहिंसा प्रकृतिने एक त्रुटि देखली जान पड़ती है। वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरणमें कर्त्तव्य पालन न करने मात्रसे अगर प्रतिवादीको पराजित समझा जाय तो दुष्ट साधनके प्रयोगमें सम्यक् साधक प्रयोग रूप कर्त्तव्यका पालन न होनेसे वादी पराजित क्यों न समझा जाय ? अगर धर्मकीर्ति वादीको पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादीको भी पराजित नहीं मानना चाहिए। इस तरह अकलंकने पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादीको पराजित मान लेनेकी व्यवस्था को एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्णसमभाव मूलक सीधा मार्ग बांध दिया कि अपने पक्षकी सिद्धि करना ही जय है। और ऐसी सिद्धिमें दूसरे पक्षका निराकरण अवश्य गर्भित है। अकलंकोपज्ञ यह जय-पराजय व्यवस्थाका मार्ग अन्तिम है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्यने या ब्राह्मण विद्वानोंने आपत्ति नहीं उठाई। जैन परंपरामें जय-पराजय व्यवस्थाका यह एक ही मार्ग प्रचलित है, जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकोंने किया है और जिसके समर्थनमें विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि ने बड़े विस्तारसे पूर्वकालीन और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषयमें भट्टारक अकलंकके ही अनुगामी हैं।"

टि० पृ० १२२, १२३

"सिद्धसेनने अपरोक्षत्वको प्रत्यक्षमात्रका साधारण लक्षण बनाया। पर उसमें एक त्रुटि है जो किसी भी सूक्ष्मप्रज्ञ तार्किकसे छिपी रह नहीं सकती। वह यह है कि अगर प्रत्यक्षका लक्षण अपरोक्ष है तो परोक्षका लक्षण क्या होगा ? । अगर यह कहा जाय कि परोक्षका लक्षण प्रत्यक्षभिन्नत्व या अप्रत्यक्षत्व है तो इसमें स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है। जान पड़ता है इस दोषको दूर करनेका तथा अपरोक्षत्वके स्वरूपको स्फुट करनेका प्रयत्न सर्वप्रथम भट्टारक अकलंकने किया। उन्होंने बहुत ही प्राञ्जल शब्दोंमें कह दिया कि जो ज्ञान विशद है वही प्रत्यक्ष है। उन्होंने इस वाक्य में साधारण लक्षण तो गर्भित किया ही पर साथ ही उक्त अन्योन्याश्रय दोषको भी टाल दिया। क्यों कि अब अपरोक्ष पद ही निकल गया जो परोक्षत्वके निर्वचनकी अपेक्षा रखता था। अकलंककी लाक्षणिकताने केवल इतना ही नहीं किया पर साथ ही वैशद्यका स्फोट भी कर दिया। वह स्फोट भी ऐसा कि जिसमें सांव्यवहारिक पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्षका संग्रह हो। उन्होंने कहा कि अनुमानादिकी अपेक्षा विशेष प्रतिभास करना ही वैशद्य है। अकलंकका यह साधारण लक्षणका प्रयत्न और स्फोट ही उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तार्किकोंके प्रत्यक्ष लक्षणमें प्रतिबिम्बित हुआ। किसीने विशदके स्थानमें 'स्पष्ट' पद रखा तो किसीने उसी पदको ही रखा।

आचार्य हेमचन्द्र जैसे अनेक स्थलोंमें अकलंकानुगामी हैं, वैसे ही प्रत्यक्षके लक्षणके बारेमें भी अकलंकके ही अनुगामी हैं। यहां तक कि उन्होंने तो विशद पद और वैशद्यका विवरण अकलंकके समान ही रखा। अकलंककी परिभाषा इतनी दृढमूल होगई कि अन्तिम तार्किक उपाध्याय यशोविजयजीने भी प्रत्यक्षके लक्षणमें उसीका आश्रय किया।" टि०पृ०१३५

"भट्टारक अकलंकने उस सिद्धसेनीय लक्षण प्रणयन मात्रमें ही संतोष न माना। पर साथ ही बौद्ध तार्किकोंकी तरह वैदिक परम्परासम्मत अनुमानके भेद-प्रभेदोंके खण्डनका सूत्रपात भी स्पष्ट किया, जिसे विद्यानन्द आदि उत्तरवर्ती दिगम्बरीय तार्किकोंने विस्तृत व पल्लवित किया।" टि० पृ० १४०

४ अकलंक ग्रन्थत्रय*के 'प्राक्कथन' से—

"भट्टारक अकलंकने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजर्तिक संस्कृतमें लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्यका तरह तर्कशैलीकी होकर भी आगमिक ही है। परन्तु जिनभद्रकी कृतियोंमें ऐसी कोई स्वतंत्र संस्कृत कृति नहीं है जैसी अकलंककी है। अकलंकने आगमिक ग्रंथ राजवार्तिक लिख कर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकारसे विशेषावश्यकके स्थानकी पूर्ति तो की, पर उनका ध्यान शीघ्र ही ऐसे प्रश्न पर गया जो जैन-परम्पराके सामने जोरोंसे उपस्थित था। बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रोंकी कक्षामें खड़ा रह सके ऐसा न्याय-प्रमाणकी समग्रव्यवस्था वाला कोई जैन प्रमाण-ग्रंथ आवश्यक था। अकलंक जिनभद्रकी तरह पांच नय आदि आगमिक वस्तुओंकी केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप न रहे, उन्होंने उसी पंचज्ञान, सप्तनय आदि आगमिक वस्तुका न्याय और प्रमाणशास्त्र रूपसे ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैनन्याय और प्रमाण ग्रंथोंके स्वतंत्र प्रकरणों की मांग पूरी हुई। उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्कका मार्ग भी सिद्धसेन तथा समन्तभद्रके द्वारा परिष्कृत हुआ ही था, फिर भी प्रबल दर्शनान्तरोंके विकसित विचारोंके साथ प्राचीन जैन निरूपणका तार्किक शैलीमें मेल बिठानेका काम जैसा तैसा न था, जो कि अकलंकने किया। यही सबब है कि अकलंककी मौलिक कृतियाँ बहुत ही संक्षिप्त हैं फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगेके जैनन्यायका वे आधार बन गई हैं।"

प्रा० पृ० ६-१०

"यह अकलंकदेव, स्वामी समन्तभद्रके उक्त सिद्धान्तों के उत्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक हैं। जिन-मूलभूत तात्त्विक विचारोंका और तर्क—मर्यादाका स्वामी समन्तभद्रने उद्बोधन या आविर्भाव किया उन्हींका भट्ट अकलंकदेवने अनेक तरहसे उपबृंहण, विश्लेषण, संचयन, समुपस्थापन, संकलन और प्रसारण आदि किया।

इस तरह भट्ट अकलंकदेवने जैसे समन्तभद्रोपज्ञ आर्हतमतप्रकर्पक पदार्थोंका परिस्फोट और विकास किया वैसे ही पुरातन-सिद्धान्त-प्रतिपादित जैन पदार्थोंका भी, नई प्रमाण-परिभाषा और तर्क पद्धतिसे, अर्थोद्घाटन और विचारोद्बोधन किया। जो कार्य श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जिनभद्रगणी, मल्लवादी, गन्धहस्ती और हरिभद्रसूरिने किया वही कार्य दिगम्बर संप्रदायमें अनेक अंशोंमें अकेले भट्ट अकलंकदेवने किया और वह भी कहीं अधिक सुन्दर और उत्तम रूपसे किया। अतएव इस दृष्टिसे भट्ट अकलंकदेव जैन-वाङ्मयाकाशके यथार्थ ही एक बहुत बड़े तेजस्वी नक्षत्र थे। यद्यपि संकुचित विचारके दृष्टिकोणसे देखने पर वे सम्प्रदायसे दिगम्बर दिखाई देते हैं और उस सम्प्रदायके जीवनके वे प्रबल बलवर्द्धक और प्राणपोषक आचार्य प्रतीत होते हैं तथापि उदार दृष्टिसे उनके जीवनकार्यका सिंहावलोकन करने पर, वे समग्र आर्हतदर्शनके प्रखर प्रतिष्ठापक और प्रचण्ड प्रचारक विदित होते हैं। अतएव समुच्चय जैनसंघके लिये वे परम पूजनीय और परमश्रद्धेय माननेयोग्य युगप्रधान पुरुष हैं।" पृ० १, २

*यह ग्रन्थ जिस सिंघी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुआ है उसके संचालक और प्रधान सम्पादक हैं श्री जिनविजय मुनि। आप भी श्वेताम्बर जैनसमाजके गण्यमान्य कोटिके विद्वानोंमें हैं और बड़े ही अध्ययनशील तथा विचारक हैं। आपने इस ग्रन्थके 'प्रास्ताविक' में जो विचार इस संबंधमें व्यक्त किये हैं वे भी पाठकोंके जानने योग्य हैं, और वे इस प्रकार हैं :—

"मोक्षमार्गस्य नेतारम्"

[न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार काशी]

ने जून ४२ के 'भास्कर' में इसी शीर्षकसे एक लेख लिखा था। इसके पहिले न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग तथा प्रमेयकमलमार्तण्डकी प्रस्तावनामें समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र' उपशीर्षक से 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगलश्लोकके विषयमें अपना मत प्रकट कर चुका हूं। हमारे इस अंशका प्रतिवाद श्रीमान पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई ने 'समन्तभद्रका समय' शीर्षक देकर 'जैनगजट' के ६ और १६ जुलाई सन् ४२ के अंकोंमें तथा 'जैन बोधक' वर्ष ५८ के २२, वें अंकमें किया है। श्री पं० जिनदासजी शास्त्री शोलापुरने भी 'जैन बोधक' वर्ष ५८ के २२, २३ अंकोंमें इसका प्रतिवाद किया है। वयोवृद्ध साहित्यसेवी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके सहयोगसे 'अनेकान्त' के जुलाई ४२ के अंकोंमें 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक देकर एक लेख अपने अनुरूप भाषामें चि० भाई दरबारीलालजी न्यायाचार्यने भी लिखा है। मुझे आश्चर्य इस बातका हुआ कि इस लेखके अन्तमें मुख्तार सा० के सहयोगके लिये तो आभार प्रदर्शित किया गया है पर जिन पं० रामप्रसादजी और पं० जिनदासजी शास्त्रीके लेखोंकी सामग्रीसे लेख सप्राण हुआ है और जिनकी सामग्रीके पिष्टपेषण एवं पल्लवनसे इस लेखका कलेवर बढ़ा है उनका नामोल्लेख भी नहीं किया गया है। अतः मैं तो पं० रामप्रसादजी तथा जिनदासजी शास्त्रीके लेखोंको मुख्यतः सामने रखकर उसके उत्तरणीय अंश पर अपने विचार प्रकट कर रहा हूं। इन लेखोंका उत्तर हो जाने पर 'अनेकान्त' के लेखमें कोई खास महत्त्वका अनुच्छिष्ट उत्तरणीय भाग नहीं रहजाता है। हां, कुछ प्रमाद, अनभिज्ञता जैसे मुख्तारी शैलीके साधु शब्दोंकी दक्षिणा और कुछ छोटे मोटे आक्षेप अवश्य बच जाते हैं। जिनमें अपने पुराने सम्बन्धके नाते दक्षिणा तो मुझे स्वीकार कर ही लेनी चाहिये उसके बदलेमें तो मैं शुभ भावनाएं ही दे सकता हूं। शेषके विषयमें मैं अपने विचार इसी लेखका उपसंहार करते समय आक्षेप-परिहारके रूपमें प्रकट करूंगा। मेरी न तो वैसी भूमिका या वृत्ति ही है और न ऐसा सहयोग ही मिला है, न इतना समय ही है जिससे एसे लेखोंका 'यथातथा' के रूपमें उत्तर दूँ।

संशोधकके नाते मैं सर्वप्रथम पं० रामप्रसादजी शास्त्री द्वारा (जैन गजट ६ जुलाई) सुझाए गये उस संशोधनको साभार स्वीकार करता हूं जिसमें उन्होंने यह बताया है कि—'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १७४ में आये हुये सूत्र और सूत्रकार पदोंका वाच्य राजवार्तिक और अकलंक न होकर तत्त्वार्थसूत्र और उमास्वाति हैं'। इसी तरह पं० जिनदासजी शास्त्रीका (जैन बोधक वर्ष ५८ अंक २२ में) यह लिखना भी एक हद तक ग्राह्य मालूम होता है कि—'आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २६) में 'तत प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकः सर्वविदस्तदोष' इत्यादि लिख कर 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकमें वर्णित आप्तका विवेचन किया है।'

पर मेरी तो यह अनुपपत्ति थी, जो अब भी कायम है कि जिस प्रकार विद्यानन्द व्याख्यापद्धतिसे उत्थानवाक्य जोड़ कर तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक शब्दका व्याख्यान करते हैं उसके एक भी शब्दको नहीं छोड़ते उसी तरह वे इस श्लोकमें वर्णित आप्तको तत्त्वार्थसूत्रका आद्यवक्ता मान कर जब प्रथम सूत्रकी पीठिकामें उसकी सिद्धि करते हैं तब उन्हें यदि इस मंगलमय श्लोकको स्पष्टतः सूत्रकारकृत मानना इष्ट था तो वे इसका भी उत्थानवाक्य आदि देकर व्याख्या भी अवश्य ही करते। अस्तु।

कुछ अनुपपत्तियाँ

आचार्य विद्यानन्दके 'सूत्रकारा प्राहुः' आदि अन्य उल्लेखोंको मुख्यार्थक मानकर यह मान भी लिया जाय कि विद्यानन्द इस श्लोकको सूत्रकारकृत मानते थे तो भी

अभी ३ प्रश्न अवशिष्ट रह जाते हैं जो इस मान्यतामें अनुपपत्ति उत्पन्न करते हैं—

(१) आप्त परीक्षाके 'प्रोत्थानारम्भकाले' वाक्यमें आये हुए प्रोत्थान पदका वास्तविक अर्थ क्या हो सकता है? सभी शब्दोंके अर्थोंका प्रचलन मात्र कोषोंके आधारसे ही नहीं होता है। अनेक शब्दोंके प्रचलनमें व्यवहार कोषकी अपेक्षा नहीं भी करता। दर्शनशास्त्रोंमें साधारण पद्धतिमें उत्थान या उत्थानिका शब्दका प्रयोग किसी श्लोक या पंक्तिकी भूमिकाके अर्थमें होता है। 'इस श्लोककी उत्थानिका क्या है?, इस पंक्तिका उत्थानवाक्य क्या है?' आदि प्रयोग दार्शनिकों की जबानपर चढ़े रहते हैं। इस लिए प्रोत्थान' का व्यवहारसिद्ध अर्थ भूमिका ही होता है। फिर यदि विद्यानन्दको 'तत्त्वार्थसूत्रका आरम्भ ही इष्ट था तो आरम्भ पद देने में ही लाघव था। प्रोत्थान और आरम्भ दोनों पदोंका प्रयोग अपना खास अर्थ रखता है। जिसका अनुसरण करने पर उनका पूर्वाचार्य परम्परामें समन्वय किया जा सकता है।

(२) आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में लिखे गये "तत्त्वार्थ सूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः" ये शब्द क्या विद्यानन्दकी दृष्टिमें उमास्वामिकी तरह प्रभृति शब्दसे सूचित होने वाले अन्य आचार्योंके ग्रन्थोंको तत्त्वार्थसूत्र मानने की ओर स्पष्ट सकेत नहीं कर रहे हैं? और क्या ये ही शब्द उमास्वामि के साथ ही साथ प्रभृति शब्दसे बोधित होने वाले तत्त्वार्थ-विवेचक पूज्यपादादि आचार्योंको स्पष्टतः 'सूत्रकार' नहीं कह रहे हैं? बिना किसी प्राचीन प्रतियोंके आधारके 'तत्त्वार्थ सूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना विद्वद्ग्राह्य नहीं हो सकती। इसीमें तो विवाद है कि विद्यानन्द उमास्वामिके साथ अन्य पूर्वाचार्योंको सूत्रकार समझते थे या नहीं? प्रभृतिशब्दसे बोधित होने वाले अन्य आचार्योंको तत्त्वार्थसूत्रकार लिख कर विद्यानन्दने स्वयं सूत्र शब्दको गौणार्थक सूचित किया है। उनकी दृष्टिमें सूत्रका अर्थ शास्त्र मालूम होता है।

(३) विद्यानन्दके सामने यह श्लोक था यह निर्विवाद है और उन्होंने प्रथम सूत्रकी पीठिकामें उक्त श्लोकमें वर्णित आप्तके साथ उसका आद्यवक्तृत्व सम्बन्ध जोड़ा यह भी ठीक है। पर प्रश्न तो यह है कि वे उसे स्पष्टतः तत्त्वार्थसूत्रका अंग भी मानते थे क्या? यदि मानते थे तो उन्हें श्लोकवार्तिकमें स्पष्टतः उसका तत्त्वार्थसूत्रके अंगके रूपमें सोत्थान व्याख्यान करना था।

यह कहना कि 'विद्यानन्द अष्टसहस्री और आप्त-परीक्षामें इस श्लोकका व्याख्यान कर आए हैं अतः श्लोक-वार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया' सगत नहीं मालूम होता। क्योंकि जो वाक्य या श्लोक जिस शास्त्रका अंग होता है उसका वहीं विस्तार या संक्षेपसे व्याख्यान करना आवश्यक है। यदि व्याख्यान नहीं किया जाता है तो उसकी सूचना व्याख्याकार वहां पर अवश्य दे देता है। जैसे धवलाटीकामें महाबन्धनामक छठवें खंडका व्याख्यान नहीं किया पर वीरसेन स्वामीने उसकी सूचना यथावसर अवश्य दे दी है (देखो षट्खण्डागम् प्रथम पुस्तक, प्रस्तावना पृ० ६७) दूसरी बात यह है कि विद्यानन्द अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके पहिले तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक बना चुके हैं क्योंकि उन्होंने अष्टसहस्री (पृ० ४७) तथा आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में श्लोकवार्तिकका निर्देश किया है। अतः बादमें रचे गए अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके आधार पर श्लोकवार्तिकके प्रारम्भमें उक्त मंगल श्लोककी व्याख्या न करनेकी बातको संगत बताना ठीक प्रतीत नहीं होता। तिस पर भी, अष्टसहस्री उक्त मंगल श्लोकको लक्ष्य करके लिखी गई है यह भी अनिश्चित है।

विद्यानन्दकी मान्यतामें पूर्वाचार्यपरम्परा के समर्थनका अभाव

इन सब अनुपपत्तियोंके रहते हुये भी उनके 'सूत्रकाराः प्राहुः' आदि अन्य उल्लेखोंको मुख्यार्थक मानकर यह भी मान लिया जाय कि वे इस श्लोकको सूत्रकारकृत मानते थे तो यह महत्त्वका प्रश्न विचारणीय है कि उन्हें अपने पूर्वाचार्योंकी भी ऐसी कोई परम्परा प्राप्त थी क्या? विद्यानन्दके पूर्ववर्ती जिन दि० आचार्योंके तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर लिखे गये टीकाग्रंथ उपलब्ध हैं उन पूज्यपाद और अकलंक आचार्यका इस विषयमें क्या अभिप्राय था?

आ० पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके किसी भी अंशको बिना व्याख्या और उत्थानके नहीं छोड़ते वे उसके एक एक शब्दका व्याख्यान करते हैं। यह उनकी व्याख्या-पद्धति है। वे सर्वार्थसिद्धिमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मगल-श्लोककी न तो उत्थानिका ही लिखते हैं न उसकी व्याख्या

ही करते हैं। यदि सरल होनेके कारण उन्हें इसकी व्याख्या करना इष्ट नहीं था तो 'सुगमम्' लिख कर छोड देते। सर्वार्थसिद्धिकी लिखित प्रतियोंमें यह श्लोक बिना किसी उत्थानवाक्यके ही पाया जाता है। और न किसी भी प्रतिमें इसकी कोई व्याख्या ही मिली है बल्कि मूल तत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें यह श्लोक नहीं भी है। उदाहरणार्थ—जिस प्रतिके आधारसे निर्णयसागरका प्रथम-गुच्छक छपा है वह।

आचार्य पूज्यपाद इस मंगलश्लोकको रचकर तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताते हुये 'कश्चिद् भव्यः' इत्यादि लिखते हैं। इसका भाव यह है—एक भव्य निर्ग्रन्थाचार्यसे पूंछता है कि भगवन् आत्माका हित क्या है? वे उत्तर देते हैं कि मोक्ष। भव्य फिर पूंछता है कि—मोक्ष क्या है और उसकी प्राप्तिका क्या उपाय है? आचार्य इसी प्रश्नके उत्तरमें 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रथम सूत्रको कहते हैं। इस तरह पूज्यपाद आचार्य द्वारा बताई गई भूमिकाके अनुसार यदि तत्त्वार्थसूत्रकी भव्यके प्रश्नके अनुसार उत्पत्ति हुई है तो सूत्रकारको मंगलाचरण करनेका कोई अवसर या प्रसंग ही नहीं था। यदि पूज्यपादकी दृष्टि से यह मंगलश्लोक सूत्रकारकृत होता तो वे श्रुतसागरसूरि की तरह प्रथमसूत्रकी "अथ[1] श्रीमदुमास्वामिभट्टारक निर्ग्रन्थाचार्यवर्योऽतिनिकटीभव्यपरमनिर्वाणेन आसन्नभव्येन द्वैपायकनाम्ना भव्यवरपुण्डरीकेण सम्पृष्टः—भगवन् किमात्मने हितमिति? भगवानपि तत्प्रश्नवशात् सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रोपलक्षितसन्मार्गसम्प्राप्यं मोक्षो हितः इति प्रतिपादयितुकाम इष्टदेवताविशेषं नमस्करोतीति।" ऐसी उत्थानिका बांधते। इस उत्थानिकामें श्रुतसागरसूरिने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोकको सूत्रकारकृत माननेकी अपनी पूर्व धारणाके कारण सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकामें विचित्र परिवर्तन करके नई उत्थानिका बनाली है। और इसमें उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि 'भव्यने प्रश्न किया कि, भगवन् आत्माका हित क्या है? भगवान उसका उत्तर देनेके लिये इष्ट देवता नमस्कार करनेके निमित्त 'मोक्षमार्गस्य' मंगल श्लोक बनाते हैं।' यह एक अपने ढंगका अभूतपूर्व प्रश्नोत्तर है। जिसमें प्रश्नका उत्तर देनेके लिये वक्ता ऐसा मंगलश्लोक बना रहा है जिसमें उसके प्रश्नका कोई उत्तर नहीं है। उत्तर तो प्रथम सूत्रमें है। सर्वार्थसिद्धिमें ऐसा विचित्र प्रश्नोत्तरक्रम नहीं है क्योंकि पूज्यपाद आचार्य उक्त श्लोक को सूत्रकारका नहीं मानते थे, बल्कि उन्होंने इसे स्वयं ही रचा था अतः उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्थानिकामें इस श्लोकको श्रुतसागरसूरिकी तरह विचित्र ढंगसे शामिल करनेकी आवश्यकता ही नहीं हुई। यही कारण है कि पूज्यपादने इस श्लोककी न तो उत्थानिका ही लिखी और न व्याख्या ही जब कि वे तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक अंशकी सोत्थान व्याख्या करते हैं।

इसी तरह अकलंकदेव राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक अंशका या तो वार्तिक बना कर या उनका सीधा ही विशद व्याख्यान करते हैं। यदि वे भी उक्त मंगल श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अंग समझते तो इसकी व्याख्या करते। तथा इसकी उत्थानिका बांधकर इस श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रके अंग होनेकी सूचना देते। अकलंकदेव जिस सर्वार्थसिद्धिको सामने रख कर अपना तत्त्वार्थवार्तिक बनाते हैं उस सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें यह मंगलश्लोक विद्यमान है, इस लिये यदि उनका पूज्यपाद आचार्यसे इस विषयमें मतभेद था अर्थात वे उसे स्वयं पुज्यपादका नहीं मान कर सूत्रकार का मानते थे तो वे प्रथम सूत्रकी उत्थानिकासे पहिले इस श्लोकका सूत्रकारकृत होना सूचित कर ही देते। और यदि उन्हें यह श्लोक बहुत सरल होनेके कारण व्याख्याके लायक नहीं जँचा था तो इसे वे जैसाका तैसा बिना व्याख्याके ही ग्रन्थमें शामिल तो करते ही। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रका कहीं भी अंगच्छेद नहीं किया है किन्तु उन्हें जहाँ भी सूत्रोंमें पाठभेद उपलब्ध हुये उनका निर्देश एवं समालोचन तक किया है। जो अकलंक इस तरह तत्त्वार्थसूत्रकी अखण्डता की सुरक्षा कर रहे हैं वे पहिले ही पहिले मंगलश्लोकके ही विषयमें यों ही चुप्पी साध कर उसे अमंगल करें यह अकलंकदेवकी सूक्ष्मेक्षिकाके अपरिज्ञानका ही फल है। पर जब अकलंकदेव स्वयं इस विषयमें असन्दिग्ध थे और वे निश्चित रूपसे इसे पूज्यपादका मानते थे तब उन्हें प्रारम्भमें इसे तत्त्वार्थसूत्रके अंगके रूपमें व्याख्या करनेकी या निर्देश करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी।

[1] देखो सर्वार्थसिद्धि सोलापुर संस्करणकी भूमिका पृ० २०

आचार्य विद्यानन्दकी मान्यताका आधार—

इस तरह हम देखते हैं कि जब आ० विद्यानन्दको इस श्लोकको सूत्रकारकृत माननेके लिये अपने पूर्वाचार्योंकी कोई परम्परा प्राप्त नहीं थी तब उनकी इस धारणाका क्या आधार है इस बातकी स्वतंत्र भावसे जांच की जाय। इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखने वाले सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द हैं। उनकी इस परम्परासे अप्राप्त धारणाके पक्षमें यदि उत्तरकालीन श्रुतसागरसूरि आदिका इसे सूत्रकारकृत मानकर व्याख्या करना अपना मत देना है तो विपक्षमें उनके पूर्ववर्ती पूज्यपाद अकलंकदेवका इसे तत्त्वार्थसूत्रका अंग न मानकर व्याख्या न करना एवं इसकी उत्थानिका तक नहीं बाँधना एवं अकलंकदेवके द्वारा इसका निरुत्थान निर्देश तक न करना अपना कई गुना बल रखता है। और इस पक्षमें हम उन समस्त तत्त्वार्थटीकाकार श्वेताम्बराचार्योंको नहीं भुला सकते जिनने एक मतसे इस महत्त्वके असाम्प्रदायिक श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अंग नहीं माना है। मालूम होता है कि आ० विद्यानन्दको जब अपनी धारणाके पक्षमें पूर्वाचार्योंकी परम्परा नहीं मिली और उनका व्याख्यान करना प्रबल बाधक जँचा इसी लिये उन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इसे तत्त्वार्थसूत्रका अंग मान कर व्याख्या नहीं की, न इस श्लोककी उत्थानिका ही बांधी और न निरुत्थान निर्देश ही किया। हाँ, इस श्लोकमें प्रतिपाद्य विशेषणोंसे विशिष्ट आप्तकी तत्त्वार्थसूत्रका आद्यवक्ता मान कर उसका समर्थन अवश्य किया है। वे यदि अपनी धारणाको पर्याप्त बलवती, पूर्वाचार्य प्रसिद्ध समझते और उसे तत्त्वार्थसूत्रका अंग समझते तो पूज्यपाद अकलंक आदिके इसे अव्याख्यात रखनेके कार्यमें शामिल न होते।

अब हमें यह विचारना है कि आ० विद्यानन्दकी उक्त श्लोकको सूत्रकारकृत माननेकी धारणाका क्या आधार है। यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्यके लिए कम संभव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके आलम्बनके बना लेते। मालूम होता है कि आ० विद्यानन्दने अष्टशतीके "देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशय-परीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं " इस प्रारम्भिक अंशके आधारसे अपनी यह धारणा बनाई है। वे मंगलपुरस्सर शब्दका अर्थ अष्टसहस्रीमें 'मंगलं पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालः तत्र रचितः स्तवः मङ्गलपुरस्सरस्तवः" यह लिखते हैं। अर्थात् मंगल होता है पहिले जिसके वह मंगलपुरस्सर, इस अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसे वे कालनामके अन्य पदार्थकी कल्पना करते हैं और ऐसे कालको शास्त्रावतार काल कहते हैं। तथा शास्त्र शब्दसे निःश्रेयस शास्त्र लेकर यह मान लेते हैं कि अकलंक देव इस अष्टशतीमें 'मङ्गलपुरस्सरस्तव' शब्दसे निःश्रेयस शास्त्रके आदिमें किया हुआ 'स्तव' ले रहे हैं और उसी स्तव अर्थात् 'मोक्षमार्गस्यनेतारम्' स्तवमें वर्णित आप्तकी परीक्षा इस आप्तमीमांसा ग्रन्थमें की जा रही है और इसी मान्यतावश वे आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्रीके अन्तमें "स्वामिमीमांसितं तत्" और 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता' "शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैव अन्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता" यह लिखकर सूचित करते हैं कि समन्तभद्र स्वामीने आप्तमीमांसा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मङ्गल श्लोकपर बनाई है।

परन्तु जब हम 'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सर' इस पंक्ति के ऊपर लिखे गये अष्टशतीके मंगलश्लोकोंके अन्तिमभागके साथ इसका अनुसन्धान करते हैं तो इस पंक्तिका दूसरा ही सीधा अर्थ निकलता है। अष्टशतीका दूसरा मंगल-श्लोक यह है:—

> तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेः।
> भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ॥
> येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं।
> कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥"

अर्थात् जिन समन्तभद्रने इस कलिकालमें भव्यजीवोंके भावोंको अकलंक करनेके लिए सर्वपदार्थविषयक स्याद्वाद-समुद्रके तीर्थको प्रकट किया उसके तरणका उपाय बताया उनको नमस्कार करके भगवानके स्तवनरूप जो उन्हींकी देवागमस्तव नामकी कृति है उसका विवरण करता हूं। इसमें 'देवागमः स्तवः' पद ध्यान देने योग्य हैं। इसके अनन्तर ही वे देवागमेत्यादि मंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव ··· ' यह पंक्ति लिखते हैं। इस पंक्तिमें भी अकलंकदेव वही बात कहते हैं कि

"देवागम आदि मंगलपूर्वक किया गया जो स्तव अर्थात् जिसमें देवागम नभोयान आदि मंगलसूचक पद विद्यमान हैं ऐसा जो स्तव उस देवागमस्तवके विषयभूत परम आप्तके गुणातिशयकी परीक्षाको स्वीकार करने वाले ग्रन्थकार ...।' यहाँ देवागमेत्यादि मंगलपुरस्सरस्तव' पदमें अष्टशतीके मंगलश्लोकमें स्पष्टतया निर्दिष्ट 'देवागमस्तव' ही ग्रहण किया गया है। स्याद्वाद विद्यालयकी अष्टशतीकी लिखित प्रति 'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तव' इस पंक्तिके अनन्तर 'देवागमनभोयान' यह आप्तमीमांसाकी कारिका लिखकर फिर 'आज्ञाप्रधाना हि ...' आदि अष्टशतीवाक्य लिखा गया है। अतः 'देवागमेत्यादि' पदको श्लोककी आद्य प्रतीकके रूपमें लिखे जानेकी कोई आशंका नहीं रहती। अकलंकदेव देवागम आदि पदोंको मंगलार्थक मानकर देवागमस्तवको मंगलशून्य होनेकी आशंकाका निराकरण कर रहे हैं। जिस प्रकार शंकराचार्यने अपने शांकरभाष्यमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसू० १।१।१) इस बादरायण सूत्रमें आये हुये 'अथ' शब्दको अधिकारार्थक होते हुए भी उसके श्रवणमात्रको मंगलरूप माना[1] है उसी तरह अकलंकदेव यहाँ देवागमनभोयान आदि शब्दोंको मंगलार्थक मान रहे हैं। और इसी लिए देवागम इत्यादि मंगल शब्द हैं पहिले जिसके ऐसे स्तवको उन्होंने देवागमस्तव कहा है। शांकरभाष्यकी भामती[2] टीकाके रचयिता सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आ० वाचस्पति मंगलशब्दों के श्रवणको मंगलार्थक सिद्ध करनेके लिये अन्यनिमित्तसे लाये गये जल भरे कलशके दर्शनका चेतोहर दृष्टान्त देते हैं। उसी तरह यहाँ यद्यपि देवागमनभोयान आदि शब्द अन्य प्रयोजनसे अर्थात् शंकाकारकी शंकाकेरूपमें प्रयुक्त हुये हैं फिर भी वे भगवान्‌के अतिशयोंका वर्णन करने वाले होनेसे मंगलरूप हैं ही।

इस तरह हमें तो यही मालूम होता है कि आ० विद्यानन्दकी उक्त धारणामें अकलंकका 'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तव' पद ही कारण हुआ है। और इसी लिये उन्होंने इसका सीधा अनुवाद न कर 'शास्त्रावतार-रचित स्तुति' जैसे शब्दोंसे किया है।

यह एक स्वतंत्र प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्रने वस्तुतः 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोकपर आप्तमीमांसा बनाई है या नहीं। यदि बनाई है तो इसका उनके समय पर कितना प्रभाव पड़ता है। इसकी विवेचना फिलहाल इस लेखका विषय नहीं है।

मैंने अपने पहिले लेखमें विद्यानन्दके मतका पूज्यपादादि आचार्योंके मतसे समन्वय करनेके लिये प्रोत्थानारम्भकालेमें आये हुये प्रोत्थान पद पर जोर दिया था। अब भी यदि विद्यानन्दके मतका समन्वय करना है तो विद्यानन्दके सूत्रकार और सूत्र शब्दको मुख्यार्थक न मान कर गौणार्थक मानना होगा और प्रोत्थानारम्भकाले पदके प्रोत्थान शब्दके प्रकाशमें उनके अन्य उल्लेखोंको देखना होगा।

आक्षेप-परिहार—

अपने इस लेखका उपसंहार करनेके पहिले मैं 'अनेकान्त'के लेखमें लिखी गई कुछ अनुपपत्तिके योग्य बातोंका आक्षेप-परिहारके रूपमें उत्तर देना आवश्यक समझता हूं—

आक्षेप—(अनेकान्त पृ० २२३-२२४) 'ततस्तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम्' तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इस वाक्यके 'तदारम्भे' पदसे दशाध्यायीरूप तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें मंगल किये जानेका उल्लेख है। और 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' में मुनीन्द्र (उमास्वाति) के द्वारा संस्तुत आप्तका कथन है।

परिहार—यहाँ 'तदारम्भे' पदमें आये हुये तत् शब्द का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र न होकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक है। इस सन्दर्भमें विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रसे लेकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तकको शास्त्र सिद्ध करते हैं और फिर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके आदिमें किये गए 'श्रीवर्धमानमाध्याय' मंगलश्लोकका औचित्य 'युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम्' अंशसे सिद्ध कर रहे हैं। यहाँ 'आध्याय' और 'आध्यानम्' पदोंका ध्यानसे विचार करने पर उक्त अर्थकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है।

---

१ "अर्थान्तरप्रयुक्तएव ह्यथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति" ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य १।१।१

२ "अर्थान्तरेषु आनन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्याश्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवत् मंगलं कुर्वन् मङ्गलप्रयोजनो भवति अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्"-भामती १।१।१ योगसू० तत्त्ववै० १।१। प्रमाणमी० पृ० २।

'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' विशेषणकी सार्थकता बताते हुए विद्यानन्द स्वयं आगे (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७) लिखते हैं कि—"विनेयमुख्यसेव्यतामन्तरेण सतोपि सर्वज्ञ-वीतरागस्य मोक्षमार्गप्रणेतृत्वानुपपत्तेः। प्रतिग्राहकाभावेपि तस्य प्रणयने अधुना यावत्तत्प्रवर्तनानुपपत्तेः" अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग इसका आद्य प्रवक्ता हो भी आय पर जब तक उसके कहे गए उपदेशको ग्रहण करने वाले गणधर आदि मुख्यविनेय नहीं होंगे तब तक मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं हो सकता। यदि विनेयजनोंके अभावमें भी उपदेश दिया गया होता तो आजतक उसकी परम्परा नहीं आ सकती थी। इस सन्दर्भमें 'मुनीन्द्रसंस्तुत्व' विशेषणसे विद्यानन्द यह सूचित कर रहे हैं कि सर्वज्ञके पास गणधर आदि मुख्य विनेय रहते हैं तभी उनमें मोक्षमार्ग प्रणेतृत्व बन सकता है, न कि इसके द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक की उमास्वातिकर्तृकताका सूचन हो रहा है।

आक्षेप (पृ० २२५)—आप्तपरीक्षाके 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' इस उल्लेखमें 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' यह शुद्ध पाठ होना चाहिये।

परिहार—ये ही तो ऐसे इतिहासप्रधान उल्लेख हैं जिनसे ग्रंथकारकी ऐतिहासिक दृष्टि पर प्रकाश पड़ता है। अतः विना प्राचीन प्रतियोंके आधारके 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' इस लक्षणशुद्ध पाठकी जगह 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' इस अन्य पाठकी कल्पना इतिहासके क्षेत्रमें ग्राह्य नहीं हो सकती।

आक्षेप—(पृ० २३१) प्राचीन दि० श्वे० सूत्रग्रंथ हैं जिनमें मंगलाचरण पाया जाता है।

परिहार—मेरा तात्पर्य है कि प्राचीन संस्कृत भाषा-निबद्ध सूत्रग्रंथोंमें मंगलाचरण करनेकी पद्धति दृष्टिगोचर नहीं होती—जैसे ब्रह्मसूत्र, मीमांसासूत्र, वैशेषिकसूत्र न्यायसूत्र, योगसूत्र, आदि। उसी तरह तत्त्वार्थसूत्र ऐसे ही सूत्रग्रन्थोंकी कोटिका है। इसके लिये षट्खंडागम आदि का हवाला देना उपयोगी नहीं है। और न इससे मेरे विचारमें कोई बाधा ही उपस्थित होती है।

आक्षेप (पृ० २३२)—तत्त्वार्थसूत्रमें मूलसे सम्बन्धित ३१ कारिकाएँ उमास्वातिकृत मानी जाती हैं उनमें नमस्कारात्मक मंगलाचरणकी कारिका है।

परिहार—प्रचलित मान्यतानुसार तत्त्वार्थसूत्र बना चुकने के बाद उमास्वातिने भाष्य बनाते समय इन कारिकाओंको मूलग्रंथको लक्ष्य करके भाष्यके अंगरूपसे बनाया है। श्रीमान् पं० सुखलालजीने इस विषयमें जो शब्द लिखे हैं, जिन्हें अधूरा उद्धृत किया गया है, ध्यान देने योग्य हैं—"भाष्यके प्रारम्भमें जो ३१ कारिकाएँ हैं वे सिर्फ मूल-सूत्ररचनाके उद्देश्यको ऊतलानेकी पूर्ति करती हुई मूलग्रन्थ को ही लक्ष्य करके लिखी गई मालूम होती हैं।" अतः जब यह मंगलकारिका भाष्यकी ही अंग है तब उसको व्याख्यानका प्रश्न ही नहीं उठता।

आक्षेप (पृ० २३२) मूलग्रन्थके मंगलाचरणके व्याख्यान करनेकी पद्धति पहिले थी जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदायके कर्मस्तव और षडशीति नामके द्वितीय और चतुर्थकर्म ग्रन्थ।

परिहार—हर एक ग्रन्थकारकी पद्धति और प्राचीन भाष्यों तथा चूर्णियोंके स्वरूपपर सावधानीसे विचार करने पर इस आक्षेपको स्थान नहीं रहता। कर्मग्रन्थोंके प्राचीन भाष्य विशेषावश्यकभाष्यकी तरह अविकलव्याख्यानात्मक-भाष्य न होकर आवश्यकनिर्युक्ति के मूलभाष्यकी तरह पूरक-भाष्य हैं। और इस लिए उनमें मूलग्रन्थके हरएक वाक्य का व्याख्यान होना आवश्यक नहीं है। यही सबब है कि उनमें न केवल मंगलगाथाका ही व्याख्यान छोड़ा गया है किन्तु मध्यकी अनेक गाथाओंका भी उनमें भाष्य नहीं है। परन्तु पूज्यपाद और अकलंककी व्याख्यापद्धति ऐसी नहीं है। वे मूलग्रन्थके 'च तु' जैसे शब्दोंको भी अव्याख्यात नहीं छोड़ते। अतः इनके विषयमें मंगलश्लोकको अव्याख्यात या निरुत्थानरूपसे अनिर्दिष्ट छोड़नेकी बात कहना इनकी शैलीके न समझनेका ही फल है।

दूसरे, कर्मग्रन्थोंमें यदि मंगलगाथाओंका व्याख्यान नहीं है तो वे मूलग्रन्थसे बहिष्कृत तो नहीं की गई हैं उनमें यथास्थान निर्दिष्ट हैं तब राजवार्तिकमें उनके निर्देश न करने का क्या कारण है? अनेक पुराने भाष्य ऐसे हैं जिनका परिमाण मूलग्रन्थसे कम है जैसे आवश्यक निर्युक्तिका मूल-भाष्य अतः कर्मग्रन्थोंके ऐसे ही पूरकभाष्योंसे सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक आदि अखंड व्याख्याग्रन्थोंकी तुलना करना उचित नहीं जान पड़ता।

आक्षेप (पृ० २३३) राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक वार्तिक हैं। वार्तिकका लक्षण है 'सूत्राणामनुपपत्तिचोदना-

नत्परिहारो विशेषाभिधानं च' । अतः वार्तिकोंके लिये उनके स्वरूपसे ही यह आवश्यक नहीं रहता कि वे सूत्रोंके अतिरिक्त मंगलाचरणकी भी व्याख्या करें ।

परिहार—वार्तिकका लक्षण कुछ भी क्यों न हो पर प्रश्न तो यह है कि जब अकलंकदेव और विद्यानन्द उमास्वामीके एक भी शब्दको विना व्याख्या या उत्थानिकाके नहीं छोड़ते, उनपर वार्तिक बनाते हैं, उत्थानिका लिखते हैं, और अविकलव्याख्याप्रायवृत्तिमें उनकी व्याख्या करते हैं तब मंगलश्लोक क्यों उन्होंने अछूता छोड़ा । अथवा, यदि उसपर वार्तिक लिखना इष्ट नहीं था तो उसकी तत्त्वार्थसूत्र के अन्य मूलशब्दोंकी तरह सीधी व्याख्या तो की जासकती थी । अकलंकदेवने तत्त्वार्थसूत्रके जिन अनेकसूत्रोंपर वार्तिक लिखना आवश्यक नहीं समझा उनकी व्याख्या अवश्य की है—उदाहरणार्थ—५-२८, ७-४, ५, आदि, ८-२६, ६-४४, १०-६ आदि । यदि यह श्लोक तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का अवयव है तो सूत्रग्रन्थका अवयव होने से अन्य सूत्रोंकी तरह यह भी मंगलसूत्र ही हुआ, और इसलिए इसपर वार्तिक बनना न्यायप्राप्त है । सूत्र गद्यरूप ही हों पद्यात्मक नहीं यह नियम तो है ही नहीं ।

श्लोकवार्तिकमें किया गया वार्तिकका लक्षण आपके किये गए अर्थके अनुसार अव्यापक हो जाता है; क्योंकि दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयपर लिखे गए प्रमाणवार्तिकमें यह लक्षण नहीं पाया जाता—यतः एक तो प्रमाणसमुच्चय सूत्रग्रन्थ नहीं है । दूसरे उसमें अन्यवार्तिकोंकी तरह मुख्यरूपसे अनुपपत्ति-परिहारकी शैली नहीं है । अतः वार्तिकके लक्षणमें आए हुए सूत्रपदका अर्थ है मूलभाग या व्याख्येय अंश । उसमें कहीं मूलभाग या व्याख्येय अंश का अनुपपत्ति-परिहारके रूपमें विवेचन होता है और कहीं विशेषाभिधानमात्र । अतः वार्तिकके लक्षणके आधारसे मंगलश्लोकके अव्याख्यानका समर्थन करना उचित नहीं है ; वार्तिकका एक व्यापक लक्षण है—'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थ-चिन्तावारि तु वार्तिकम्', (हैमकोश) अर्थात् उक्त अनुक्त और दुरुक्त पदार्थोंका विचार करने वाला वार्तिक होता है । अतः यदि तत्त्वार्थसूत्रमें यह मंगलश्लोक उक्त है तो उसकी चिन्ता करना वार्तिकको अवसर प्राप्त है ही ।

आक्षेप(पृ०२३३)'–मंगलपुरस्सरस्तव' शब्दोंमें अकलंक का अभिप्राय भी इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत माननेका है ।

परिहार—इसका उत्तर हमारे इसी लेखमें पहिले विस्तारसे दिया जा चुका है ।

आक्षेप (पृ० २३४)—विद्यानन्द और श्लोकवार्तिकके अनन्तर आदि शब्दका प्रयोग प्रमाद और अनभिज्ञता है ।

परिहार—जैनसिद्धान्तभास्करके जून सन् ४२ के अंक में मैंने जो टीका न करने वाले आचार्योंकी सूचीमें विद्यानन्द के बाद तथा श्लोकवार्तिकके बाद आदि शब्दका प्रयोग किया है वह अनेक श्वेताम्बर व्याख्याकारोंको तथा उनके व्याख्याग्रन्थोंको लक्ष्यमें रखकर किया है । क्योंकि तत्त्वार्थ-सूत्र समानरूपसे दोनों सम्प्रदायोंको मान्य है । कहा जा सकता है कि श्वेताम्बराचार्योंका जब आगे विशेषरूपसे निर्देश किया है तब यहाँ आदि पदसे क्यों उनका निर्देश किया है ? इसका उत्तर यह है कि आगे 'मंगलश्लोककी' असाम्प्रदायिक स्थिति पर जोर देनेके लिए उन आचार्यों का पृथक् निर्देश करके बताया है कि यह श्लोक अत्यन्त असाम्प्रदायिक है अतः श्वे० व्याख्याकारोंको साम्प्रदायिकता के कारण उसे छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ।

जैनसिद्धान्तभास्कर (पृ० १२) में मैंने स्वयं श्रुतसागर सूरि बालचन्द्र योगेन्द्रदेव आदिके मतकी आलोचना की है अतः उन आचार्योंसे मैं अपरिचित था यह बताकर मेरे ऊपर जो अनभिज्ञता या प्रमाद जैसे साधुशब्दोंकी पात्रता का आरोप किया है वह उन्हींके योग्य है ।

आक्षेप—(पृ० २३५) तत्त्वार्थवृत्ति पदविवरणमें इस मंगलश्लोकका यथावत व्याख्यान नहीं है, मामूली निर्देश है ।

परिहार—इस विवरण ग्रन्थकी जितनी मर्यादा एवं शैली है उसीके अनुसार 'यथावत व्याख्यान' शब्दको लगाइये । ग्रन्थकार जिसका जिस रूपसे व्याख्यान करना चाहता है वही उसका 'यथावत' व्याख्यान है ।

आक्षेप (पृ० २३५)—चुने हुये हेतुओंके सिवाय अन्य कारणोंको सूचन करनेके लिये 'इत्यादि' शब्द यों ही लिख दिया है, इत्यादि शब्दका प्रयोग कुछ महत्व नहीं रखता ।

परिहार—मेरे लेखके पीछे जिन युक्तियोंकी पृष्ठभूमिका थी उन्हें मैंने इस लेखमें लिखा है । वे महत्वकी हैं या नहीं यह लिखना मेरा कार्य नहीं है ।

(शेष पृष्ठ ३२८ पर)

जीवन है संग्राम !

[ले०—श्री 'भगवत्' जैन]

[१]

'...लात मारे ज़मीनमें, तो पानी निकल पड़े ! और उस पर माँगने चला है—भीख ! हः ह... ! हिन्दुस्तानमें जैसे और कोई पेशा रह ही नहीं गया ! जिसे देखो, भीख माँगता है ! कोई थका-दुबला हो, तो एक बात भी है ! यह हट्टा-कट्टा, लम्बा-चौड़ा नौकरी करे तो आठ-आने लाए ! लेकिन करे क्यों ? मशक्कत जो पड़ती है—उसमें...!'

वह रुका, मुँहमें पानका बीड़ा ठूसनेके लिए ! फिर एक पीक छोड़ते हुए, बड़े भले मानुसकी तरह सभ्यता-पूर्वक बोला—'जा, जा बाबा ! हमें बख्श !'—और चल दिया हिकारतकी नज़रसे देखता, सिगरेट और माचिसके बक्सोंको जेबमें डालता हुआ !

पनवाड़ी अपनी दूकानदारीमें मशगूल था ! सम्भव है, उसे पता तक न चला हो, कि उसका कोई ग्राहक किसी भिखारीसे उलझ कर उसे खरी-खोटी सुना गया है !

पर, निरंजन देखता-भर रह गया—एक टक ! उसे जो ग्लानि, क्षोभ और पीड़ा हो रही है, वह किसे बताए ? वह किसे कहे—कौन सुनेगा, कि वह पहली बार आज लाचार होकर भीख माँगने निकला है ! जब नहीं देख सका है—भूखसे व्याकुल पत्नीका मुँह ! नहीं सुन सका है, रोते-तड़पते बच्चेका आर्त्तनाद ! वह खुद भूखा रह सकता है, एक दिन, दो दिन ! और उतने दिन, जब तक उसकी आखिरी साँस न आ जाय ! लेकिन उन्हें वह खुली आँखों तड़पते हुए कैसे देखे, जिनकी परवरिशकी जिम्मे-दारी उसके हाथोंमें है ? नहीं, वह अपने बच्चेके लिए—अपनी पत्नीके लिए—भीख माँगेगा, अपमान सहेगा, और वह सब कुछ करेगा, जो उसके वशमें होगा, जिसे वह कर सकता है !...'

'ऐ, ऐ ! एक तरफ़ हट !'

निरंजनकी विचार-धारा टूटी ! नज़र उठाकर उसने देखा—एक सूट-बूट धारी नौजवान सामने खड़ा है, पनवाड़ी सिगरेटका बक्स उसकी ओर बढ़ा रहा है ! वह सरक गया, एक ओर ! फिर उसे होश आया—'अच्छे कपड़े हैं, सिगरेट ख़रीद रहा है, शायद पैसे वाला है !'

वह फिर बढ़ा ! कुछ कहने ही जा रहा था, कि जैन्टिलमैन बाबूने आप ही पूँछ दिया—क्यों ?'

निरंजन घबरा-सा गया ! अभ्यस्त भिखारी जो न था ! जल्दीसे बोला—'बाबू ! भीख !'

'क्या भीख ?'

निरंजन चकराया ! सोचा—'अभी डाँट बताता है, शायद मार न बैठे ? कैसी मुसीबतमें पड़ा हूं—आज !' कुछ सोच कर बोला—'नौकरी लगादो, बाबू—मेरी !'

'अक्खखखख: खः !' बाबू हँसे, इस ज़ोरसे कि पनवाड़ी चौंका, और उसके सभी ग्राहक ! सबमें कौतुक, कि बात क्या हुई ?

वह बोले—'नौकरी ? नौकरी इन्द्र देवताके सिंहासनसे भी मुश्किल है—आज ! समझा...?'

निरंजन चुप !

उन्होंने उपस्थित-जनकी ओर मुखातिब होकर कहा—'अच्छा भिखारी है, भीखमें नौकरी मांग रहा है, ठीक है कुछ ? न पैसा, न दो पैसा ! एक दम नौकरी ? जैसे नौकरीको कुछ समझा ही नहीं ! अक्यों...! नौकरी पारस-पत्थर, चिन्तामनीसे भी बढ़ कर हो रही है ! पता है—कुछ ?'

खड़े हुए लोगोंने समर्थन किया उनकी बातका ! जैसे सभी उसका कड़ुवा-घूँट पिए हुए हों, सभी भुक्त-भोगी हों !

ज़रा अधिक खुलकर वे बोले—'मैं दूसरोंकी नहीं कहता—'खुद छः महीनेसे नौकरीकी तलाशमें दर-दर भटक रहा हूँ, जगह-जगह दुत्कार खाता हूँ। पर, वह है जो आज तक नहीं मिल रही ! यह तो चीज़ क्या, पढ़ा न, लिखा ! मुझे देखो, सैकड़ो किताबें चाटे, हज़ारों रुपये फूके बैठा हूँ ! कितने सार्टीफ़िकेट ज़ेबमें भरे हुए हैं !

पर, नौकरीके नाम पर कोई आठ रुपए तकको नहीं पूछता—यह तमाशा है!

एक खाँ साहेब जो धेलेकी बीडियाँ खरीदनेको खड़े हुए थे, और रह-रह कर पनवाड़ीके लम्बे आईनेमें अपनी सूरत देखते जाते थे बोले—'वाकया है, सच कह रहे हो—बाबूजी! यही बात कल एक दूसरे जैन्टिलमैन भी सुना रहे थे। मैं ही उन्हें अपने तांगेमें लाया था, बेचारे बड़े सीधे थे! कहते थे कि और देखता हूं महीने दो महीने—लगती है नौकरी तो ठीक! नहीं तो अब बे-मौत मरना ही तय किया है। बेचारे अतिया गए थे—जिन्दगीसे! बीबी थी, बच्चे थे, और सबको चाहिए खाना! आए कहाँसे? बड़े परेशान थे!'

'एक वे अकेले क्या परेशान थे, दुनिया परेशान है! क्या नौकर-पेशा, क्या मजदूर, दूकान्दार?'—एक दूसरे सज्जन बोल उठे, जो शायद या तो छोटे-मोटे दुकानदार थे या दलाल! पान खाने आए थे, और खाकर उल्टे पैरों लौट रहे थे, जल्दी ही। पूरी बातें उनने सुनी न थीं, न सुनने की दिलचस्पी थी उन्हें।

निरंजन जितना सुन रहा था, समझ उससे ज्यादह रहा था! बातें जो उसी की समस्या को लेकर उठीं थीं। वह चुप था, और सोच रहा था—'कितनी भयानक है दुनिया? और कितना कठिन है जीवन-संघर्ष? ताज्जुब है, लोग जीवित कैसे रहते आ रहे हैं?'

× × ×

[२]

चिराग जल चुके! निरंजनके पैर घरकी ओर बढ़ रहे हैं—विवश, हताश, निर्जीव सदृश! रात सबके लिए आई जरूर है, पर निरंजनको लग रहा है, जैसे वह उसकी चेष्टा पर भी अँधेरी-चादर डालनेका दावा कर रही है! दिनमें वह घूमता-फिरता तो रहा है, अपनी उस पीड़ाको भूला-सा तो रह सका है, जो उसे भूखसे भी ज्यादह दुःख पहुँचाती रही है! जो असह्यताकी सीमा पर जा चढ़ी है! बेशक, उसे आज एक दाना भी भीख के नामपर नहीं मिला है, पर आशाकी सुनहरी-तसवीर तो उसकी दृष्टि-पथ पर झूलती रही है न? बीबी-बच्चेकी करुण-मूर्ति तो आँखों के आगेसे ओझल रही है, न? जिसे वह अपने लिए सब से बड़ा संकट मानता आ रहा है—इन दिनों!

झोंपड़ी पास आती जा रही है और निरंजनका दिल घबराता-सा जा रहा है डरता-सा जा रहा है! वह सोचने लगता है—'काश! वह दुनियामें अकेला होता!'

वह स्वयं भूखा मर सकता है, पर बीबी-बच्चेको तड़पते देखना उसे सह्य नहीं! यही तो उसकी समस्या है! ...स्त्री बीमार है! और उसका मर्ज है वह, जो एलोपेथी होम्योपेथी या आयुर्वेद किसीमें भी स्थान नहीं पा रहा! वह भूखसे व्याकुल है। पिछले दिनों, जो कुछ पेटमें डालने लायक मिला है, वह सब उसने अपने पुत्र और अपने पतिको खिलाया है, स्वयं भूखी रही है! क्यों कि यही तो स्त्री-हृदयकी ममता नामसे पुकारी जाने वाली चीज़ है!

झोंपड़ीसे अभी दूर ही था कि बच्चेके रोनेकी आवाज़ सुनाई दी! वह सिर थामकर वहीं बैठ गया! उसे चक्कर-सा आ रहा था! सिर्फ़ बच्चेकी दीनताने ही उसे बैठनेके लिए विवश किया हो, सो बात नहीं, दिन-भरकी दौड़-धूप और खाली पेटकी निष्ठुरता भी इसमें साझीदार थी! ...

सुस्त-सा, निरंजन खड़ा था, और रोता बच्चा पैरोंमें चिपटा आ रहा था! न जाने कबसे रो रहा था? पर, निरंजन पर उसके रोनेका कोई प्रभाव न हो रहा था—वह गुम-सुम था! पत्थरकी तरह! फटे-टाट पर स्त्रीका निर्जीव-शरीर पड़ा हुआ था! आँखे खुली हुई थी, मुंह फटा हुआ! सूखी-सी जीभ दीख रही थी, जो एक दम सफ़ेद थी! ...

निरंजनकी आँखोंने न आँसू डाला एक बूंद! न मुँहने 'आह!' भरी! सम्भव है, उसे स्त्रीकी मृत्युमें अपने एकाकी जीवनकी—झलक दिखलाई दी हो!

देर तक खड़ा रहा, पागलकी तरह! देखता रहा बगैर पलक मारे स्त्रीकी ओर! उसे लगा जैसे वह मेरी ही राह देखते-देखते पर-लोक गई है! दर्वाजेकी ओर ही उसका मुँह है, नजर है! और अब मुँह खोलकर जैसे पूछ रही है—'क्या आज कुछ मिला? बच्चेके लिए, अपने लिए कुछ जुटा सके? हँ? नहीं! तो बच्चा कैसे जियेगा? तुम भूखे कैसे रहोगे? तुम्हें तो भूखसे चक्कर आने लगते हैं तबियत खराब हो जाती है!' 'बोलो न?'

निरंजनकी सारी शक्तियाँ स्त्रीके मृत-शरीर पर टिकी हुई हैं! वह कई बार इशारेसे बच्चेको चुप करनेका निष्फल प्रयत्न कर चुका है! कई बार हाथसे झटककर उसे अपनेसे दूर हटा चुका है। पर, वह न चुप हुआ है न दूर! चुप करना, भूखकी शान्ति पर था! और दूर हटना माँके आधार पर! अब इसमें उसका क्या अपराध?

लेकिन निरंजनको लगा यह बुरा! वह झल्लाकर बोला—'मुझे खा ले!'

और तभी उसके मनमें एक पैशाचिकता उत्पन्न हुई!—'वह दुनियामें अकेला जरूर नहीं हैं लेकिन अकेला रह सकता है!'

बच्चा रोता रहा!

निरंजनका मन धधक उठा! उसने सोचा—'खाना चाहिए, खाना नहीं है तो जबर्दस्ती ज़िन्दगीके लिए झगड़ना क्यों?'

चुप हो चुप हो! नहीं हुआ चुप! किसके आगे रोता है किसे पिघलाना चाहता है—रोकर? हो चुप!' और निरंजनने झमकर बच्चेका मुंह बन्द कर दिया—दोनों हाथोंसे! पिताने पुत्रके—उसी पुत्रके, जिसे दुनियामें रत्न कहा जाता है, जिसकी प्राप्ति पर कठिनतासे कमाया धन, पानीकी तरह बहाकर, खुशियां मनाई जाती हैं, दम घोटनेकी कोशिश की! तब तक मुंह बन्द-सोस बन्द—किए रहा, जब तक कि वह बिल्कुल चुप न होगया!…

बालकका छोटा-सा अस्थि-पञ्जर निर्जीव पड़ा था!—असहाय!…

निरंजनमें आसुरी-शक्ति काम कर रही थी! पिताका दिल उसके सीनेमें नहीं था, मानवत्वसे रीता था वह उस समय! न जाने क्या करना चाहता था और क्या कर रहा था? शायद अपने 'आपमें नहीं था!

स्त्रीके मृतक शरीरके समीप लाकर बच्चेको लिटा दिया। और सन्तोषके स्वरमें बोला—'बस, सोते रहो आनन्दसे साथ-साथ!'

एक नजर दोनोंको देखकर निरंजन उठा आत्म-हत्या करनेका निश्चय लेकर! और बोला, भरी आवाज़में—घबराओ नहीं! मैं भी तुम्हारे पास आता हूं, बराबर ही सोऊँगा, अटूट निद्रामें!'

गला दबाया!

पहले धीरे-धीरे! फिर ज़रा ज़ोरसे! मुँह लाल हो गया। आँखोंमें आँसू निकल आए! शरीर काँप उठा!

रुक गया, निरंजन! शायद यह सोचा हो, कि दूसरेको मारना जितना सहज है, मरना उतना आसान नहीं!

फाँसी लगानेकी तजवीज़ सोची गई हल्की-इच्छामें! झोंपड़ीमें न छत थी न कड़ी, न कुन्दा!

सोचने लगा—'मुझे मरनेकी ज़रूरत क्या? जिनके दुखमें मरना सुख मालूम देता था, वह तो मर ही चुके! अब?—अकेला हूं—सारे संसारमें! चिन्ता किसकी? एक टुकड़ा मिला, वही बहुत! न मिला फिक्र नहीं जी का जंजाल मिटा!,

और तब कठोरताका पुतला निरंजन रातके अँधेरेमें झोंपड़ीसे निकल कर न जाने कहाँ ग़ायब हो गया!

× × × ×

बात बहुत पुरानी हो चुकी है! इतनी, कि जितना निरंजन! कालें बालोंमें सफ़ेदी आगई है! तनी हुई खाल में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, और होगया है हृदयमें एक मौलिक परिवर्तन! वह अब एक पुराना भिखारी है! माँगनेके सैकड़ों हथकण्डे उसे याद हैं! जीभ बगैर प्रयत्नके—'दाता! भिखारीको एक पैसा मिले!'—उगल देता है!

सब कुछ है! पर, निरंजन सुखी आज भी नहीं हो सका है! उसका वह स्वप्न, स्वप्न ही रहा कि 'अकेलेको चिन्ता क्या?' आज भी उसके आगे चिन्ताएँ रहती हैं! माँगने-खानेका काम आज भी उसे करना पड़ता है! और मुसीबत यह है कि उसके खाने लायक भी भीख उसे नहीं मिलती। कई दिन, कई रातें ऐसी होती हैं, जब वह भूखा घूमता और सोता है!

रातको जब अकेला सोता है, तो आँखोंमें आंसू भर-भर आते हैं! कभी निकलता भी एकाध उद्‌गार तो रुँधे कंठसे—मेरा बच्चा! ओफ़! आज कितना बड़ा होता?'

सोचता—'दुनियामें आज मैं बिल्कुल अकेला हूं! तब एक नज़र ऐसी थी, जो मुझे सहानुभूतिसे देखती थी, दर्दसे देखती थी! आह! वह कितना चाहती थी मुझे! मुझे भूखा देख, उसकी छाती फटती थी! और आज?

मैं दो दिनसे भूखा हूँ—कौन जानता है? किसे चिन्ता है—मेरी ?'

× × × ×

[३]

ढालू-ज़मीन पर फिसलने वाला व्यक्ति भले ही बलशाली क्यों न रहे, लेकिन जब फिसलता है, तो रुकता नही! बीचमें रुकना बहुत मुश्किल पड़ता है, फिसलने वालेको! यही बात पतनके रास्ते पर कदम धरने वालेके लिए भी है! प्रायः पतन अपनी चरम-सीमा पर पहुँच कर ही सन्तोषित होनेका आदी है!...

निरंजन भूखा है! और भूख है दुनियामें, हज़ार बदकारियोंसे एक! भूखे पेटको जो तर्क जो प्रयत्न सूझते हैं, वे अमानुषिक और पापमय ही होते हैं! औचित्य उनमें नही रहता!

वह नहरके पुल पर आ खड़ा हुआ है—डूब-मरनेके लिए! भूखों मरनेसे आत्मघात करना उसे उचित और सुगम जान पड़ा है! लेकिन जीवनकी ममता अभी भी उसका पीछा छोड़नेको तैयार नहीं है!

वह सोच रहा है—नौकरीके लिए गिड़गिड़ाया, न मिली! भीख माँगने पर उतारू हुआ हूँ, तो आज उसमें भी भूखों मरनेकी नौबत आ रही है! मुझे आज भीखका अनुभव है? मैं जानता हूं, कि पिछले दिन मैंने किस तरह बिताए हैं? और समझ चुका हूं कि लोग अन्न देनेसे पहले अपमान देनेमें अपनी शान समझते हैं! भिखारीके हाथ पर एक पैसा रखने वाला अपनेको अच्छा समझ उठता है, यह मुझसे छिपा नहीं है! ख्याति, प्रतिष्ठाके लिए लोग लाखोंका दान करते हैं पर दीन-गरीबको मुट्ठी भर अन्न देने वाले कितने हैं?—यह मुझे मालूम है!'

उत्तेजित निरंजन देख रहा है, लहरोंकी तरफ! जो बन, बनके बिगड़ रही हैं! क्या वह भी इन्हीं लहरोंकी तरह मिटने वाला है, इन्हीं लहरोंमें? विचार बढ़ रहे हैं—'मर जाऊँगा, चला जाऊँगा, किसीको पता तक न चलेगा! कोई रोने वाला जो नहीं है! यह भी क्या जीवन?'

तब ? ज़िन्दा ही क्यों न रहा जाय? लेकिन भूखा रह कर ज़िन्दा रहना जो सम्भव नहीं! फिर ? लोग राज़ीसे जब देना नहीं चाहते, तो भूखेको जबर्दस्ती लेनेका हक है! हः हः हः !'

निरंजन हँसा! शायद भूखकी व्यग्रता पर! और तब, भूखने उसे एक रास्ता सुझाया—'चोरी!'

'ठीक! मैं अब चोरी करूँगा और निश्चय ही इस नए पेशेमें मुझे भूखा न रहना होगा! लेकिन पकड़ा गया तो ?—जेल! बस, इतना ही तो, और क्या? वहाँ खानेकी फिक्र न रहेगी न?'

× × × ×

सुबहके साढ़े-तीन, चार बजेका वक्त! कुछ-कुछ अँधेरा! यमुनाके सवेग जलकी कल-कल ध्वनि! स्नानार्थियोंका कोलाहल! गंगा-दसहराका दिन!

निरंजन आज पहली बार चोरीकी ताकमें घूम रहा है! आज भी उसके मनमें वैसी ही धड़कन है, जैसी पहली बार भीख माँगनेके वक्त थी! पर, आज मुँह पर दीनता नहीं, हेकड़ी है!

लोगोंकी भीड़का ठिकाना नहीं! स्त्री, पुरुष, बूढ़े बच्चे सब तट पर कपड़े उतार-उतार कर स्नानके लिए जा रहे हैं!

निरंजनकी घात लगी। वह दूर रक्खी एक पोटलीको उठाकर चला—पहले धीरे-धीरे! फिर ज़रा तेज़! क़िस्मत! कि किसीने उसे देखा नहीं! सम्भव है, उस पोटलीकी निगरानी करनेवाला हो ही न? या उसकी नज़र दूसरी ओर हो।

निरंजन खुश है! खुश है कि आज पहले ही प्रयत्नमें वह सफल-मनोरथ हुआ है। पोटली दबाये वह चला जा रहा है—एकान्तकी खोजमें! जहां वह पोटली खोल सके! देख सके कि उसमें क्या है? कितना लाभ हुआ है उसे?

रास्तेसे हटकर, वह बैठा पोटली खोलने! खुशीसे चमकती आंखोंसे पोटलीको देखता हुआ!

स्नानार्थियोंका दल अब भी जा-आ रहा था, यहा-वहा!

निरंजनकी उत्सुकता पर जैसे वज्रपात हुआ! वह चौंक पड़ा!—'ऐं? पोटलीमें बच्चा? किसका बच्चा है?'

देर तक बँधे रहनेसे बच्चा गुम-सुम था ! लगी जो ठन्डी हवा तो चैतन्यता लौट आई। रोने लगा वह !

निरंजन चुप !

सोच रहा है—'बच्चा ? बच्चेका पिता हूं मैं ! उसका पिता हूं मैं ! उसका पोषण करना ही मेरे भाग्यकी कठोर आज्ञा है, वही मेरा जीवन है !'

और बच्चा उसने गलेसे लगा लिया ! पर वह चुप न हुआ निरंजन बोला—'भूखा है तू ? क्यों रे ? चल, मैं तुझे दूध पिलाऊँगा, अब मैं समझ गया हूं—जबरन मुँह बन्द करनेसे कभी कोई चुप नहीं होता ! जिसके बिना काम न चले, उतना तो मिलना ही चाहिए न ?'

बच्चेको चुमकारता-पुचकारता वह सड़क तक आगया ! पर बच्चेका रोना बन्द न हुआ !

कई स्त्रियाँ, जिनके साथमें उनके पति भी थे, जा रहे थे घरको, स्नानसे निवृत्त होकर ! बच्चेको रोता देख स्त्रीने पतिसे कहा—'कैसा रो रहा बच्चा ? बेचारे की माँ मर चुकी है—शायद ?'

पतिने स्त्रीका मनोभाव परख, निरंजनसे कहा—'क्यों रुला रहा है रे, बच्चेको ? क्या माँ नहीं है इसकी ?'

निरंजनने दीनता पूर्वक उत्तर दिया—'माँ ! इसकी मर चुकी है—बाबूजी ! भूखा रोता है ओ ओ...रे.. देख, बाबूजी कहते हैं चुप हो जा—बेटा ! चुप रोते नहीं है, हाँ !'

पतिने पत्निकी ओर देखा, पत्निका मुँह दयार्द्र हो रहा था !—

बोली—कैसा सुन्दर बच्चा है ?'

और उसी समय, पतिने एक रुपया निरंजनकी ओर फेंकते हुए कहा—'ले, बच्चेको दूध पिलाना !'

और वे सब आगे बढ़ गए !

निरंजन विक्षिप्तकी भाँति खड़ा, कभी बच्चेकी ओर देखता है, कभी चाँदनीमें चमकते रुपएकी तरफ़ ? न जाने कौनसी स्मृति उसे दुख दे रही है !

बच्चा रो रहा है !

बच्चेका पिता स्तब्ध है। पर आँखे उसकी बह रहीहैं, दिल उसका सिसक रहा है ! शायद निरंजनकी बड़ी दान-वताको चुराई हुई छोटी-सी मानवताने पराजित कर दिया !

वासनाओंके प्रति—

—रचयिता—श्री 'भगवत्' जैन

तुम क्यों मँडराया करती हो, मेरे जीवनके आस-पास ?

मैं तभी तुम्हारे वशमें था—
जब अपनेपन को भूला था !
अध्यात्म-वादसे रीता था—
अन्धा था, लँगड़ा-लूला था !!
पर, आज दिखाई देता है—अपने भीतर मुझको प्रकाश !

उस दिन जब तुम मुस्काती थी,
मैं बनता था उसका भिक्षुक !
पर, आज सत्यता इसमें है—
हूँ तुम्हें त्यागनेका इच्छुक !!
तुम खिलखिलकर हँसती हो जब, तब मैं होजाता हूँ उदास !

तुम मेरे मनमें बैठी थीं—
मैं तुममें खुदको पाता था !
थे एकमेक हम-तुम दोनो—
बस, एक प्रेमका नाता था !!
मालूम न था, ले शत्रु-भाव, रोके थी तुम मेरा विकास !

अब मेरे मनमें जाग उठी—
लोकोत्तम-सुखकी एक लहर !
अन्धी आँखोंमें लौट सकी—
फिर वही ज्ञानकी दृष्टि प्रखर !!
'सुख' समझे बैठा था जिसको वह था यथार्थमें सुखाभास !

मैं जान चुका हूं भली-भाँति—दुनियाकी मायावी-बन्दिश !
हूँ देख चुका, सजनी ! तुममें—कितना रस है, कितना है विष ?
अब मुझे न बाँधो, रहने दो, अपने सारे असफल प्रयास !
तुम क्यों मँडराया करती हो, मेरे जीवनके आस-पास ?

चलती चक्की

(ले०—डाक्टर भैयालाल जैन, Ph. D.)

दुनिया बहुत तेजीसे घूम रही है, समय पलक मारते ही बदल रहा है। जो जातियां सजग हैं वे अपना अस्तित्व कायम रखनेके लिए, संसारके रुखको देख कर, समयकी गतिके साथ अपना कदम बढ़ा रही हैं। छोटीसे छोटी और बिलकुल पिछड़ी हुई जातियां भी अपने उत्थानके प्रयत्न में कमर कसके जुट पड़ी हैं। एक अभागा जैन समाज ही ऐसा है जो मुर्देसे बाजी लगा कर सोया है। और इसकी दुर्गति ऐसी हालतमें हो रही है जब इस समाजके अन्दर बड़े बड़े वैभवशाली धनकुबेर मौजूद हैं।

रूढ़िवाद, जो समाजोन्नतिके मार्गका रोड़ा है, इस समाजसे दिनोंदिन चुम्बककी नाई चिपकता जाता है और धर्मके वे अंग जो किसी वस्तुके ट्रेडमार्कके समान जैनत्वका पता देते हैं, समाजसे ऐसे लोप होते जाते हैं जैसे गंजेके सिरसे बाल।

पहिले जहाँ प्रत्येक जैनी देव-दर्शन करना, जल छान कर पीना और रात्रिमें भोजन न करनेको अपना पवित्र कर्तव्य समझता था, वहां आज-कल इन बातोंका नियमित-रूपसे पालन करने वाले मुश्किलसे २५ प्रतिशत मिलेंगे। देवदर्शनके लिये मन्दिर जाना तो अब लोगोंको भार मालूम पड़ने लगा है। पर्यूषण पर्वमें शर्मा-शर्मी यदि १० दिनके लिए जाते भी हैं तो आपसमें गाली-गलौज तथा लात-जूता करके धर्मकी खूब प्रभावना करते हैं! बिना छना पानी पीना तो अब बहुत मामूली बात होगई है, यहां तक कि होटलोंमें जाकर महाअशुद्ध सोडा लेमन इत्यादि झूठे गिलासोंसे पीनेमें भी जैनी भाई अपनी शान समझने लगे हैं! रातको खाना भी अब फैशनमें दाखिल होगया है!

जो लोग पाँव तले चींटी दबजानेसे भी पाप समझते थे उनके लिए नर-हत्या तक कर डालना बाएँ हाथका खेल हो गया है! पिछले कुछ वर्षोंमें ऐसे लोगों पर कत्ल के मुकदमे चलना इसका प्रमाण है।

जो जैनसमाज नैतिक आचरणमें आदर्श माना जाता था उसका ऐसा घोर पतन हुआ है कि कई दुराचारी अपनी विधवा बहू या भौजाईके साथ बलात्कार कर अपना मुँह काला करते हैं। गर्भ रहजाने पर भ्रूणहत्या करते हैं। यदि गर्भ न गिरा तो किसी गुण्डेको रुपया देकर उसका हमल सबूत कर देते हैं और बच्चा हो जाने पर उस बेचारी अहिंसा-धर्मकी पालने वाली अबलाको उस मांसाहारी गुण्डेके सुपुर्द कर देते हैं! तुर्रा यह है कि इन दुष्कृत्यों पर पंच-परमेश्वरोंकी स्वीकृतिकी मोहर भी लग जाती है और वे नर-पिशाच अपने उच्च वर्णकी डींग होकते हुए, समाज की छाती पर कोदों दला करते हैं! उफ! कैसा भयंकर अत्याचार!!

सहानुभूति तथा जातिप्रेम तो जैन समाजसे बिलकुल ही रफूचक्कर हो चुका है। छोटे २ ग्रामोंमें कोई रोजगार धंधा न होनेसे हजारों जैनी भूखों मरते हैं, उनकी सन्तानको विद्या-प्राप्तिके कोई साधन न होनेसे मूर्खतामें जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। ग़रीबीके कारण उनमेंसे धर्म भी लोप हो रहा है। बीमार होने पर बेचारोंका दवा-इलाजका कोई प्रबन्ध न होनेसे सैकड़ोंकी संख्यामें प्रतिवर्ष मृत्युके मुँहमें धसते चले जाते हैं, जिससे समाजकी संख्या घटती चली जाती है। एक ओर घोर निर्धनताके कारण ऐसी भयंकर दुर्दशा है, दूसरी ओर समाजके धनकुबेर अपने इन असहाय बन्धुओंकी ओरसे आंख-कान बन्द किये, अपने महलों में चैनकी बंशी बजा रहे हैं! कुछ समय हुआ एक समाचारपत्रमें पढ़ा था कि एक शहरमें एक जैनीकी मृत्यु हुई, बेचारा निर्धन था। शहरमें सैकड़ों घरके जैनी, पर उसके मृतक-संस्कारके लिए एक भी घरसे न निकला! तब दो नवयुवकोंने उसे एक गाड़ीमें डालकर उसकी मिट्टी ठिकाने लगाई!! एक और स्थानमें एक बहुत ग़रीब जैनीका हाल इससे भी अधिक हृदय दहलाने वाला है। आंखें खराब हो जानेके कारण बेचारा बड़े कष्टमें था। वहांके धनिकोंसे आँखोंका इलाज करानेके लिए ५०) रुपया उधार माँगे, जिससे आँखें सुधर जाने पर कुछ काम धंधा कर सके; पर किसी जैनीको उस पर दया न आई! ईसाइयोंने उस पर

तरस खाकर तुरन्त ईसाईधर्ममें दीक्षित होनेकी शर्त पर उसकी सहायता करना स्वीकार कर लिया। ये हैं, दया-धर्म पालने वालोंकी करतूतोंके नमूने !!

संगठनका तो जैनसमाजमें सर्वथा अभाव है, और यही एक प्रबल कारण है जिससे इसे अनेको बार सामाजिक और धार्मिक अपमान सहन करने पड़ते हैं। कहींसे विधर्मियों-द्वारा जैनमन्दिरसे मूर्तियां उठा कर फेंक दिये जानेके समाचार आते हैं, कहींसे विमान पर जूता फेंके जानेके, कहीं स्त्रियोंकी बेइज्जती किये जानेके, तो कहींसे पूज्य आचार्य महाराज पर अण्डे और पत्थर फेंके जानेके !! इन प्रकारके अत्याचारोंका नपुंसक प्रतिकार जैन समाज-द्वारा एकाध प्रस्ताव पास करके तथा अधिकारियोंको तार-चिट्ठी भेजनेके रूपमें कर दिया जाता है। छुट्टी हुई !!! यदि ऐसे निन्दनीय व्यवहार मुसलमान, सिक्ख या आर्य-समाजके साथ किये जाते तो क्या वे लोग जैनसमाज के समान योंही पानीके घूंट पीकर शान्त हो जाते? हर्गिज़ नहीं। वे आततायियोंको उनकी कमीनी हर्कतोंके लिये ऐसा मज़ा चखाते कि उन्हें छट्टीका दूध याद आजाता और भविष्यमें फिर कभी ऐसी हरकतें करनेकी वे हिम्मत ही न करते। कारण स्पष्ट है। इन सम्प्रदायोंमें जीवन है, संगठन है, अपने समाज और धर्म पर मर-मिटनेकी हविस है; इसी लिए उनकी ओर कोई उंगली उठानेका साहस नहीं कर सकता। इसके विपरीत जैन समाज साहस-हीन, दब्बू और कायर बन रहा है। यदि अब भी इसकी आंखें नहीं खुलतीं तो समयकी चलती चक्कीमें पिस कर इसका कचूमर निकल जायगा !!

मङ्गलाचरण पर मेरा अभिमत

अनेकान्त वर्ष ५ के जुलाई-अगस्तके अंकमें प्रकाशित 'तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेख बहुत दिलचस्पीके साथ एक बार नहीं, दो बार पढ़ा और साथमें अनेक ग्रथोंके साथ विचार भी किया। पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि श्लोकको पूज्यपाद स्वामीकी कृति बताने वाली जो युक्तियां दीं, वे साधारण दृष्टिसे काफी आकर्षक हैं, किन्तु न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीने उन युक्तियोंकी त्रुटियोंका समीचीनरूपमें साधार उद्भावन किया है।

मंगलाचरणके कर्तृत्वके बारेमें अनेक विद्वान ढुल-मुल-यकीन तबियत वाले नजर आते थे, किन्तु इस लेखकी जोरदार तथा असर करने वाली दलीलोंने साधार निश्चितमार्ग बता दिया कि वह मंगल श्लोक भगवान उमास्वामीकी ही कृति है, और अन्यकी क्यों नहीं है।

यह विचार कर बड़ा आनंद होता है कि श्रीमान दानवीर[1] पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार जैसे अनुभवी, समाजसेवी विद्वानके संपर्कको पाकर अनेक विद्वान जैनधर्मकी आधुनिक युगकी जरूरतके अनुसार सेवा करनेके योग्य बनते जा रहे हैं। थोड़े ही समय में ऐसे सुन्दर सारपूर्ण तथा युक्ति-बहुल आकर्षक रचनाओंको करनेकी क्षमता पं० दरबारीलालजीमें माननीय मुख्तार साहबके सुयोगसे प्राप्त हो गई और उसका उचित दिशासे अच्छा विकास हो रहा है, इससे तो यह विश्वास होता है, कि वीरसेवामंदिरके द्वारा दि० जैन समाजको तथा विद्वन्मण्डलको अपूर्व लाभ होगा।

उस सुन्दर रचनाके लिये मैं लेखक—उनके सुयोग्य सहायक अनेकान्तके सम्पादकजीको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

—सुमेरचंद्र दिवाकर, सिवनी

१ मुख्तार साहबके लिए 'दानवीर' शब्दका मैंने जानबूझकर प्रयोग किया, क्योंकि वे इस पदके अत्यन्त उपयुक्त पात्र हैं, कारण उनने अपने जीवन भरकी गाढ़ी कमाईको जिनवाणी माताकी सेवामें लगा दी। दानवीरताका अर्थ देय द्रव्यकी विपुलतासे ही समन्वय नहीं रखता है। द्रव्यका किस कार्यमें विनियोग किया जाता है, उसकी ओर लक्ष्य दिया जाना चाहिये। शास्त्रोंमें अल्प किन्तु उपयुक्त दानके दाताओंका महिमापूर्ण शब्दोंमें स्मरण किया गया है। इस दृष्टिमें मुख्तार साहबको दानवीर कहना अत्युक्ति नहीं है, ऐसी मेरी समझ है।

दीवाली और कवि

[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

१

कविने कहा—'समस्या मेरी सुलझ न पाती, सोच रहा हूँ !
हूँ स्वतन्त्र लिखनेमें, फिर भी मन-ही-मन हा ! लोच रहा हूँ !!
हाथ काँपता, भाव टूटते; क्या शब्दोंके जोड़ लगाऊँ ?
दीवाली आई है, कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

२

बाहर-भीतर इधर-उधर है सूखापन, सूना, अँधियाला !
काला-काला भूत, भयङ्कर वर्तमान है, आने वाला—
समय विकट, संकटमय जीवन, कैसे कोमल प्राण बचाऊँ ?'
दीवाली आई है, कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

३

लेखकसे पूछा—'कुछ लिक्खा,' दीपमालिका जो आई है ?—'
बोले—'कागजका दीवाला, सचमुच कंगाली छाई है !
क़ानूनी झंझामें कैसे कागजके घोड़े, दौड़ाऊँ ?'
दीवाली आई है, कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

४

उपदेशक-भजनीक बिचारा चिल्लाता है जोर-जोरसे—
'समय भयावह आता देखो ! दीख रहा है सभी ओरसे !!
चिन्तित हैं सब लोग-देशके, रोतोंको क्या और रुलाऊँ ?'
दीवाली आई है कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

५

इष्ट-मित्र-समुदाय दुखी, इस मँहगाईको कोस रहा है !
भार होरहा जीना-मरना, नहीं ठिकाने होश रहा है !!
उचित मूल्यमें कहो कहाँ से आवश्यक सब चीज़ मँगाऊँ ?
दीवाली आई है, कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

६

दशा दुर्दशा, शेष क्लेश है, बीमारीने सत्व निकाला !
बेकारीने दीन-देशमें कर डाला सर्वत्र दिवाला !!
पराधीनतासे मुँह काला ! क्या अन्तरको खोल दिखाऊँ ?
दीवाली आई है कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

७

तेल नहीं, फल-फूल नहीं हैं, नहीं यहाँ शुभ खील-पताशे !
खुल्लम-खुल्ला 'जूआ-सट्टा' दीवालीके खेल-तमाशे !!
दीवानोंकी दीवालीमें क्यों कविताकी ख़ाक उड़ाऊँ ?
दीवाली आई है, कैसे भावोंके मैं दीप जलाऊँ ?

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ षट्खण्डागम—(धवला टीका और उसके अनुवाद सहित) प्रथम खण्ड जीवट्ठाणका अन्तरभाव अल्पबहुत्वानुगम नामक पंचम अंश। मूललेखक, भगवान पुष्पदन्त-भूतबलि। सम्पादक प्रो० हीरालाल जैन एम ए. संस्कृताध्यापक किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती। प्रकाशक श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र सिताबराय जैन साहित्योद्धारकफण्ड कार्यालय, अमरावती। बड़ा साइज पृष्ठसंख्या सब मिलाकर ४५८। मूल्य, सजिल्द प्रति का १०), शास्त्राकारका १२)।

इस पंचम भागमें जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे अन्तके अन्तर-भाव और अल्पबहुत्व ऐसे तीन अनुयोगद्वारोंका गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानोंकी अपेक्षा कथन है। प्रस्तावनामें इन तीनों अनुयोगद्वारोंका संक्षिप्त परिचय भी दिया है तथा १६ नक्शों द्वारा उनके विषयको और स्पष्ट कर दिया है। अन्तरानुयोगमें मूलसूत्र में उपलब्ध होने वाले विशेष कथनोंको टीकाकारने उदाहरणादिके साथ खुलासा करते हुए कथनकी सापेक्षताको भी स्पष्ट कर दिया है। और कहीं कहीं सूत्रोंका आशय व्यक्त करते हुए आचार्य वीरसेनने स्वयं ही शंका उठाकर उनका रोचक एवं समुचित समाधान भी दे दिया है। ग्रन्थके अध्ययनमें कितने ही विशेष कथनोंकी जानकारी होती है। अनुवाद सरल तथा मूलानुगामी है और वह सम्पादकीय दृष्टिकोणके अनुसार जिसे अबकी बार समालोचकोंके अनुचित प्रहारको टालनेके लिये स्पष्ट कर दिया गया है, अच्छा ही हो रहा है। प्रस्तावनामें लखनऊ यूनिवर्सिटीके प्रोफेसर डाक्टर अवधेश नारायणसिंहके 'धवलाका गणितशास्त्र' नामके अंग्रेजी लेखका हिन्दी अनुवाद भी २६ पृष्ठोंमें दे दिया है, जिससे हिन्दीके अभ्यासी भी अब उससे समुचित लाभ उठा सकते हैं। इसके सिवाय कनाड़ी प्रशस्ति और शंका समाधान भी दिया गया है साथ ही विस्तृत विषय-सूची भी लगाई गई है, जिससे ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका सहजमें परिचय हो जाता है। ग्रन्थके अन्तमें ५ परिशिष्ट लगे हैं जिनसे उक्त खण्डकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। इस तरह यह भाग भी पहले भागोंके समान ही उपयोगी एवं संग्रहणीय बनाया गया है जिसके लिये विद्वान सम्पादक महोदय धन्यवादके पात्र हैं।

२ विश्ववाणीका जैन-संस्कृति अंक— इलाहाबादसे पं० सुन्दरलालजीकी संरक्षता और पं० विश्वम्भरनाथके सम्पादकत्वमें प्रकाशित होने वाली विश्ववाणीका यह जैन संस्कृति अंक दूसरे संस्कृति अंकोंके समान ही प्रकाशित किया गया है। प्रस्तुत अंकमें एक कविताको छोड़कर १८ गद्य लेख हैं जिनमेंसे कितने ही अच्छे पठनीय हैं, और कुछ साधारण भी हैं। श्वेताम्बरीय विद्वान पं० सुखलाल जीका 'जैनसंस्कृतिका हृदय' शीर्षक लेख महत्वपूर्ण है। इसमें जैन-अजैन साहित्यके तुलनात्मक अध्ययन और अन्वेषण द्वारा जैन, हिन्दू तथा बौद्ध संस्कृतियोंका परस्पर में एक दूसरे पर कब कितना और कैसे प्रभाव पड़ा और जैनसंस्कृतिका आमतौर पर भारतीय संस्कृतियों पर क्या असर हुआ, इसे स्पष्ट करके बतलाया गया है। महात्मा भगवानदीनजीका 'जैनसंभव जगह जगह' नामक लेख भी अपने ढंगका अच्छा है। विश्ववाणीके विद्वान सम्पादककी विविध-संस्कृति अंक निकालनेकी यह योजना बड़ी अच्छी है, इससे जनता एक दूसरेकी संस्कृतिकी कितनी ही विशेषताका परिचय प्राप्त कर सकती है। अतः इसके लिये सम्पादक महोदय धन्यवादके पात्र हैं।

३ भूगोलका द्वितीय महासमर परिचय—सम्पादक और प्रकाशक पं० रामनारायण मिश्र बी ए, भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या १५०, वार्षिक मूल्य ३) रु० विशेषांक का मूल्य १॥) रु०।

प्रस्तुत १५० पृष्ठोंके विशेषांकमें जो पाँच खंडोंमें विभाजित है सन १९३९ से जन सन् १९४२ तककी सभी युद्ध सम्बन्धी घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है जो पश्चिम योरुप, रूस-जर्मनी, अफ्रीका, सीरिया, इराक, ईरान, अटलांटिक महासागर और प्रशांतिसागरके युद्धमें और भारतमें क्रिप्स-चागकाईशेकके आगमन सम्बन्ध आदिमें घटित हुई हैं। साथ ही ६० नक्शे देकर विषयको और भी सरल एवं पठनीय बना दिया है। इसके सिवा लेखोंमें सम्बंधित व्यक्तियों के चित्र भी दिये गये हैं। प्रस्तुत अंक भूगोलके विद्यार्थियों तथा वर्तमान युद्धका भुगोलिक स्थितिके साथ ठीक परिचय पानेके इच्छुकोंके लिये बड़े कामका तथा विशेष उपयोगी है और हर तरहसे संग्रहणीय है। विद्वान् सम्पादक इस योजनाके लिये धन्यवादके पात्र हैं। —परमानंद जैन शास्त्री

महाकवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभु

(ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी)

न विद्वानोंने लोकरुचि और लोकसाहित्य की कभी उपेक्षा नहीं की। जनसाधारण के निकट तक पहुँचने और उनमें अपने विचारोंका प्रचार करनेके लिये वे लोक-भाषाओंका आश्रय लेनेसे भी कभी नहीं चूके। यही कारण है जो उन्होंने सभी प्रान्तोंकी भाषाओंको अपनी रचनाओंसे समृद्ध किया है। अपभ्रंश भाषा किसी समय द्रविड प्रान्तों और कर्नाटकको छोड़कर प्राय: सारे भारतमें थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ समझी जाती थी। अतएव इस भाषामें भी जैन कवि विशाल-साहित्य निर्माण कर गये हैं।

धक्कडकुलके पं० हरिषेणने अपनी 'धम्मपरिक्खा' में अपभ्रंश भाषाके तीन महाकवियोंकी प्रशंसा की है। उनमें सबसे पहले चउमुहु या चतुर्मुख हैं जिनकी अभी तक कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है, दूसरे हैं स्वयंभुदेव जिनकी चर्चा इस लेखमें की जायगी और तीसरे हैं पुष्पदन्त जिनके प्राय: सभी ग्रन्थ प्रकाशमें आ गए हैं और जिनसे हम परिचित भी हो चुके हैं।

पुष्पदन्तने चतुर्मुख और स्वयंभु दोनोंका स्मरण किया है, और स्वयंभुने चतुर्मुखकी स्तुति की है अर्थात् चतुर्मुख स्वयंभुसे भी पहलेके कवि हैं।

चतुर्मुख और स्वयंभु

प्रो० मधुसूदन मोदीने चतुर्मुख और स्वयंभुको न जाने कैसे एक ही कवि समझ लिया है[1]। वास्तवमें ये दोनों जुदा जुदा कवि हैं। इसमें सन्देहकी जरा भी गुंजाइश नहीं है। क्योंकि—

१ स्वयं स्वयंभुने अपने पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंसपुराणु) और स्वयंभु-छन्द इन तीनों ग्रन्थोंमें कहीं भी 'चतुर्मुख स्वयंभु' नामसे अपना उल्लेख नहीं किया है सर्वत्र ही स्वयंभु लिखा है और स्वयंभुके पुत्र त्रिभुवनने भी अपने पिताका नाम स्वयंभु या स्वयंभुदेव ही लिखा है।

२ महाकवि पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें जहाँ अपने पूर्वके अनेक ग्रन्थकर्त्ताओं और कवियोंका उल्लेख किया है वहाँ वे 'चउमुहु' और 'सयंभु' का अलग अलग प्रथमा एकवचनान्त पद देकर ही स्मरण करते हैं—

चउमुहु सयंभु सिरिहरिसु दोणु,
णालोइउ कइईसाणु बाणु। १-५

अर्थात् न मैंने चतुर्मुख, स्वयंभु श्रीहर्ष और द्रोणका अवलोकन किया, और न कवि ईशान और बाणका[2]। महापुराणका प्राचीन टिप्पणकार भी इन शब्दोंपर जुदा जुदा टिप्पण देखकर उन्हें पृथक् कवि बतलाता है। "चउ-मुहु=कश्चित्कविः । स्वयंभु=पद्धडीबद्धरामायणकर्त्ता आपलीसंघीयः।"

३ पुष्पदन्तने आगे ६९ वीं सन्धिमें भी रामायणका प्रारंभ करते हुए सयंभु और चउमुहुका अलग अलग उल्लेख किया है[3]।

४ पं० हरिषेण[4] ने अपने 'धम्मपरिक्खा' नामक

---

१ देखो, भारतीय विद्या (अङ्क २ और ३, मार्च और अगस्त १९४०) में प्रो० मोदीका 'अपभ्रंश कविओ : चतुर्मुख स्वयंभु अने त्रिभुवन स्वयंभु' शीर्षक गुजराती लेख।

२ महाकवि बाणने अपने हर्षचरितमें भाषा-कवि ईशान और प्राकृत-कवि वायुविकारका उल्लेख किया है। देखो, श्री राधाकुमुद मुकर्जीका श्रीहर्ष, पृ० १५८।

३ कइराउ सयंभु महायरिउ, सो सयणसहासहिं परियरिउ। चउमुहहु चयारि मुहाइं जहिं, सुकइत्तणु सीसउ काइं तहिं॥
अर्थात् कविराज स्वयंभु महान् आचार्य हैं, उनके सहस्रों स्वजन हैं; और चतुर्मुखके तो चार मुख हैं, उनके आगे सुकवित्व क्या कहा जाय?

४ पं० हरिषेण धक्कड़कुलके थे। उनके गुरुका नाम सिद्ध-

अपभ्रंश काव्यमें, जो वि० सं० १०४० की रचना है, चतुर्मुख, स्वयभु और पुष्पदन्त इन तीनों कवियोंकी स्तुति की है और तीनकी संख्या देकर तीनोंके लिये जुदा जुदा विशेषण दिये हैं[१]।

५ हरिवंशपुराणमें स्वयंभु कवि स्वयं कहते हैं कि पिंगलने छन्दप्रस्तार, भामह और दंडीने अलकार, बाणने अक्षराडम्बर, श्रीहर्षने निपुणत्व और चतुर्मुखने छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवकोंसे जटित पद्धड़िया दिया—"छदणिय-दुवइ-धुवएहिं जडिय, चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।" इससे चतुर्मुख निश्चय ही स्वयंभुसे जुदा हैं जिनके पद्धडिया काव्य (हरिवंश-पद्मपुराण) उन्हें प्राप्त थे।

६ इसी तरह कवि स्वयंभु अपने पउमचरिउमें भी चतुर्मुखको जुदा बतलाते हैं। वे कहते हैं कि चतुर्मुखके शब्द और दंति और भद्रके अर्थ मनोहर होते हैं, परन्तु स्वयंभु काव्यमें शब्द और अर्थ दोनों सुन्दर हैं, तब शेष कविजन क्या करें ?[२]

आगे चलकर फिर कहा है कि चतुर्मुखदेवके शब्दोंको, स्वयंभुदेवकी मनोहर जिह्वा (वाणी ?) को और भद्र कविके[३] गोग्रहणको आज भी अन्य कवि नहीं पा सकते[४]। इसी तरह जलक्रीडा-वर्णनमें स्वयंभुको, गोग्रह-कथामें चतुर्मुखदेवको और मत्स्यवेधमें भद्रको आज भी कविजन नहीं पा सकते[५]।

इन उद्धरणोंसे[६] बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्मुखदेव स्वयंभुसे पृथक् और उनके पूर्ववर्ती कवि हैं जिनकी रचनामें शब्द-सौन्दर्य विशेष है और जिन्होंने अपने हरिवंशमें गोग्रह-कथा बहुत ही बढ़िया लिखी है।

७ अपने स्वयंभु-छन्दमें स्वयंभुने पहलेके अनेक कवियोंके पद्य उदाहरण स्वरूप दिये हैं और उनमें चतुर्मुखके 'जहा चउमुहस्स' कहकर ४-६ पद्य उद्धृत किये हैं। इससे भी चतुर्मुखका पृथकत्व सिद्ध होता है।

८ 'करकंडुचरिउ' के कर्ता कनकामर (कनकदेव) ने स्वयंभु और पुष्पदन्त दो अपभ्रंश कवियोंका उल्लेख किया है, परन्तु स्वयंभुको केवल 'स्वयंभु' लिखा है, 'चतुर्मुख स्वयंभु' नहीं।[७]

९ पउमचरिउमें 'पंचमि[८] चरिअ' के विषयमें लिखा है—

चउमुहसयंभुएवाण वाणियत्थं अचक्खमाणेण।
तिहुअणसयंभु रइयं पंचमिचरिअं महच्छरिअं॥

इसके 'चउमुहसयंभुवाण' (चतुर्मुखस्वयभुदेवानाम्) पदसे चतुर्मुख और स्वयभु जुदा जुदा दो कवि ही प्रकट

सेन था। चित्तौड़ (मेवाड़) को छोड़ जब वे किसी काममें अचलपुर गये थे, तब वहा उन्होंने धम्मपरिक्खा बनाई थी।

१ चउमुहु कव्वविरयणे सयंभु वि, पुप्फयंतु अण्णाणु णिसुंभिवि तिण्णि वि जोग्ग जेण त सीसइ, चउमुहमुहे थिय ताम सरासइ सो सयंभु सो देउ पहाणउ, अह कह लोयालोयवियाणउ। पुप्फयंतु ण वि माणुसु वुच्चइ, जो सरसइए कया वि ण मुच्चइ॥

२ देखो 'पउमचरिउ' के प्रारंभिक अंशका दूसरा पद्य।

३ भद्र अपभ्रंशके ही कवि मालूम होते हैं। उनका कोई महाभारत या हरिवंश होगा जिसके अन्तर्गत 'गोग्रह-कथा' थी। क्योंकि अपभ्रंश-कवि धवलने भी अपने हरिवंशपुराणमें चतुर्मुखकी 'हरिपाण्डवाना कथा' का उल्लेख किया है—

हरिपंडुवाण कहा चउमुहवासेहिं भासियं जम्हा।
तह विरयमि लोयपिया जेण ण णासेइ दंसण पउरं॥

इसमें चउमुहवासेहिं (चतुर्मुखव्यासैः) पद श्लिष्ट है।

४ स्वयंभु-छन्दमें चउमुहके जो पद्य उदाहरणस्वरूप उद्धृत किये हैं, उनमेंसे ४-२, ६-८३, ८६ ११२ पद्योंसे मालूम होता है कि उनका पउमचरिउ भी अवश्य रहा होगा। क्योंकि उनमें राम-कथाके प्रसंग हैं।

५ पउमचरिउके प्रारंभिक अंशके पद्य नं० ३-४।

६ संभव है 'पउमचरिउ' के ये प्रारंभिक पद्य स्वयं स्वयंभु के रचे हुए न हों, उनके पुत्र त्रिभुवनके हो, फिर भी इनसे चतुर्मुख और स्वयंभुका पृथक्त्व सिद्ध होता है।

७ जयएव सयंभु विसालचित्तु, वाएसरिघरु सिरिपुप्फयंतु।

८ हरिवंशपुराण और पद्मपुराणके समान 'पंचमी-कहा' भी जैनोंकी बहुत ही लोकप्रिय कथा है। संस्कृत और अपभ्रंशके प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियोंने इन तीनों कथाओंको अपने अपने ढगसे लिखा है। महापुराण (इसमें पद्मचरित और हरिवंश दोनों हैं) के अतिरिक्त पुष्पदन्तके

होते हैं। क्योंकि यह पद एकवचनान्त नहीं, बहुवचनान्त है। (द्विवचन अपभ्रंशमें होता नहीं।)

इन सब प्रमाणोंके होते हुए चतुर्मुख और स्वयंभुको एक नहीं माना जा सकता। प्रो० एच० डी० वेलणकर[1] और प्रो० हीरालाल[2] जैनने भी चतुर्मुखको स्वयंभुसे पृथक् और उनका पूर्ववर्ती माना है।

स्वयंभुदेव अपभ्रंशभाषाके आचार्य भी थे। आगे बतलाया गया है कि अपभ्रंशका छन्दशास्त्र और व्याकरण शास्त्र भी उन्होंने निर्माण किया था। छन्दचूडामणि विजय-शेषित या जयपरिशेष और कवि राज-धवल उनके विरुद थे।

उनके पिताका नाम मारुतदेव और माताका पद्मिनी था। मारुतदेव भी कवि थे। स्वयंभु-छन्दमें 'तहा य मा-उरदेवस्स' कहकर उनका एक दोहा उदाहरणस्वरूप दिया गया है[3]। स्वयंभु गृहस्थ थे, साधु या मुनि नहीं, जैसाकि उनके ग्रंथोंकी कुछ प्रतियोंमें लिखा मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि उनकी कई पत्नियां थीं जिनमेंसे दोका नाम पउमचरिउमें मिलता है—एक तो आइच्चंबा[4] (आदि-त्याम्बा) जिसने अयोध्याकाण्ड और दूसरी सामिअब्बा,[5] जिसने विद्याधरकाण्ड लिखाया था। संभवतः ये दोनों ही सुशिक्षिता थीं।

स्वयंभुदेवके अनेक पुत्र थे जिनमेंसे सबसे छोटे त्रिभु-वन स्वयंभुको ही हम जानते हैं। उक्त दो पत्नियोंमेंसे ये किसके पुत्र थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। संभव है कि पूर्वोक्त दोके सिवाय कोई तीसरी ही उनकी माता हो। नीचे लिखे श्लिष्ट पद्यसे अनुमान होता है कि त्रिभुवन स्वयंभुकी माता और स्वयंभुदेवकी तृतीय पत्नीका नाम शायद 'सुअब्बा' हो—

सव्वे वि सुआ पंजरसुअ व्व पढिअ अक्खराइं सिक्खंति।
कइराअस्स सुओ सुअव्व-सुइ-गब्भसंभूओ ॥

अपभ्रंशमें सुअ शब्दसे सुत (पुत्र) और शुक (सुआ=तोता) दोनोंका ही बोध होता है। इस पद्यमें कहा है कि सारे ही सुत पींजरेके सुओंके समान पढ़े हुए ही अक्षर सीखते हैं, परन्तु कविराजका सुत (त्रिभुवन) श्रुत इव श्रुतिगर्भसंभूत है। अर्थात् जिस तरह श्रुति (वेद) से शास्त्र उत्पन्न हुए उसी तरह दूसरे पक्षमें त्रिभुवन सुअ-व्वसुइगब्भसंभूअ है, अर्थात् सुअब्बाके शुचिगर्भसे उत्पन्न हुआ है।

कविराज स्वयंभु शरीरसे बहुत पतले और ऊँचे थे। उनकी नाक चपटी और दांत विरल थे[6]।

स्वयंभुदेवने अपने वंश गोत्र आदिका कोई उल्लेख नहीं किया। इसी तरह अन्य जैन ग्रंथकर्ताओंके समान अपने गुरु या सम्प्रदायकी भी कोई चर्चा नहीं की। परन्तु पुष्पदन्तके महापुराणके टिप्पणमें उन्हें आपुलीसंघीय बत-लाया है[7]। इस लिए वे यापनीय सम्प्रदायके अनुयायी जान पड़ते हैं। पर उन्होंने पउमचरिउके प्रारम्भमें लिखा है कि यह राम-कथा वर्द्धमान भगवानके मुख कुहरसे वि-निर्गत होकर इन्द्रभूति गणधर और सुधर्मास्वामी आदिके द्वारा चली आई है और रविषेणाचार्यके प्रसादसे मुझे प्राप्त हुई है[8]। तब क्या रविषेण भी यापनीय संघके थे ?

स्वयंभुदेव पहले धनंजयके आश्रित रहे जबकि उन्होंने पउमचरिउकी रचना की और पीछे धवलइयाके जब कि रिट्ठणेमिचरिउ बनाया। इसलिए उन्होंने पहले ग्रंथ में धनंजयका और दूसरेमें धवलइयाका प्रत्येक सन्धिके अंतमें उल्लेख किया है।

पंचमी-कथा (णायकुमारचरिउ) है हां, मल्लिषेणके भी महापुराण और नागकुमारचरित हैं। इसी तरह चतुर्मुख और स्वयंभुके उक्त तीनों कथानकोंपर ग्रंथ होने चाहिएँ। स्वयंभुके दो तो उपलब्ध ही हैं, और पंचमीचरितका उक्त पद्यमें उल्लेख किया गया है। त्रिभुवन स्वयंभूने अपने पिताके तीनों ग्रन्थोंको सँभाला है। अर्थात् उनमें कुछ अंश अपनी तरफसे जोड़कर पूरा किया है। धनपालकी 'पंचमी कथा' प्रकाशित हो चुकी है।

1 स्वयंभू छन्दका इंट्रोडक्शन पेज ७१-७४, रायल एशिया-टिक सोसाइटी बम्बईका जर्नल, जिल्द २, १९३५।
2 नागपुर यूनीवर्सिटीका जर्नल, दिसम्बर, १९३५।
3 लद्धउ मित्त भमंतेण रअणाअरचंदेण।
सो सिज्जंते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण ॥ ४-९
4-5 देखो पउमचरिउ सन्धि ४२ और २० के पद्य।
6 अइतणुएण पईहरगत्तें, छिव्वरणासें पविरलदंतें।
7 सयंभु पद्धडीबद्धकर्ता आपलीसंघीयः।—म० पु० पृ० ९
8 देखो संधि १, कडवक २।

त्रिभुवन स्वयंभु

स्वयंभुदेवके छोटे पुत्रका नाम त्रिभुवन स्वयंभु था। ये अपने पिताके सुयोग्य पुत्र थे और उन्हींके समान महाकवि भी। कविराज-चक्रवर्ती उनका विरुद था। लिखा है कि उस त्रिभुवनस्वयंभुके गुणोंका वर्णन कौन कर सकता है जिसने बाल्यावस्थामें ही अपने पिताके काव्य-भारको उठा लिया[1]। यदि वह न होता तो स्वयंभुदेवके काव्योंका, कुलका और कवित्वका समुद्धार कौन करता[2]? और सब लोग तो अपने पिताके धनका उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं; परन्तु त्रिभुवन स्वयंभुने अपने पिताके सुकवित्वका उत्तराधिकार लिया[3]। उसे छोड़कर स्वयंभुके समस्त शिष्योंमें ऐसा कौन था जो उनके काव्य-समुद्रको पार करता[4]? व्याकरणरूप हैं मजबूत कन्धे जिसके, आगमोंके अंगोंकी उपमा वाले हैं विकट पद जिसके, ऐसे त्रिभुवनस्वयंभु रूप धवल (वृषभ) ने जिन-तीर्थमें काव्यका भार वहन किया[5]। इससे मालूम होता है कि त्रिभुवन भी वैयाकरण और आगमादिके ज्ञाता थे।

जिस तरह स्वयंभुदेव धनंजय और धवलइयाके आश्रित थे उसी तरह त्रिभुवन बंदइयाके। ऐसा मालूम होता है कि ये तीनों ही आश्रयदाता किसी एक ही राजमान्य या धनी कुलके थे—धनंजयके उत्तराधिकारी (संभवतः पुत्र) धवलइया और धवलइयाके उत्तराधिकारी बंदइया। एकके देहान्त होनेपर दूसरेके और दूसरेके बाद तीसरेके आश्रयमें ये आये होंगे।

बन्दइयाके प्रथम पुत्र गोविन्दका भी त्रिभुवन स्वयंभुने उल्लेख किया है जिसके वात्सल्य भावसे पउमचरियके शेषके सात सर्ग रचे गये[6]।

बन्दइयाके साथ पउमचरिउके अन्तमें त्रिभुवन स्वयंभुने नाग और श्रीपाल आदि भव्य जनोंको भी आशीर्वाद दिया है कि उन्हे आरोग्य, समृद्धि और शान्ति-सुख प्राप्त हो[7]।

१-२-३-४ पउमचरिउके अन्तिम अंशके पद्य ३,७,६,१०। ५ अन्तिम अंशका चौथा पद्य। ६ अन्तिम अंशका १५ वाँ पद्य।

७ अन्तिम अंशका १६ वाँ पद्य।

कवि कहाँके थे?

अपने ग्रन्थोंमें इन दोनों कवियोंने न तो स्थानका नाम दिया है, न अपने समयके किसी राजा आदिका जिससे यह पता लग सके कि वे कहाँके रहनेवाले थे। अनुमानसे इतना ही कहा जा सकता है कि वे दाक्षिणात्य थे और बहुत करके पुष्पदन्तके ही समान बरारकी तरफके होंगे, यद्यपि मारुतदेव, धवलइया, बंदइया, नाग, आइच्चंबा, सामिअब्बा, आदि नाम कर्नाटक जैसे हैं और ऐसे ही कुछ नाम अन्मइय, मीलइय, पुष्पदन्तके परिचित जनोंके भी हैं।

ग्रन्थ-रचना

महाकवि स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभुके दो सम्पूर्ण और संयुक्त ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, एक पउमचरिउ[8] (पद्मचरित) या रामायण और दूसरा रिट्ठणेमिचरिउ[9] (अरिष्टनेमिचरित) या हरिवंशपुराण। तीसरा ग्रन्थ पंचमिचरिउ (नागकुमारचरित) है जिसका उल्लेख तो किया गया है परन्तु जो अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

ये तीनों ही ग्रन्थ स्वयंभु देवके बनाये हुए हैं और तीनोंको ही उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभुने पूरा किया है। परन्तु उस तरह नहीं जिस तरह महाकवि बाणकी अधूरी कादम्बरीको उनके पुत्रने, वीरसेनकी अपूर्ण जयधवला टीकाको उनके शिष्य जिनसेनने और जिनसेनके आदिपुराणको उनके शिष्य गुणभद्रने पूरा किया था। पिता या गुरुकी अधूरी रचनाओंके पुत्र या शिष्यद्वारा पूरे किये जानेके अनेक उदाहरण हैं; परन्तु यह उदाहरण उन सबसे निराला है। कविराज स्वयंभुदेवने तो अपनी समझसे ये ग्रन्थ पूरे ही रचे थे परन्तु उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभुको उनमें कुछ

८-९ ये दोनों ग्रन्थ भाण्डारकर इंस्टिट्यूट पूनेमें हैं—नं० ११२० आफ १८८४-८७ और १११७ आफ १८९१-९५। पउमचरियकी एक प्रति कृपा करके प्रो० हीरालाल जी जैनने भी मेरे पास भेज दी है जो सागानेरके गोदीकाके मन्दिरकी है। यद्यपि उसके हासियेपर संवत् १७७५ लिखा हुआ है, परन्तु वह किसी दूसरेके हाथका है। प्रति उससे भी पुरानी है। हरिवंशकी एक प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें भी है। इस लेखमें उक्त सब प्रतियोंका उपयोग किया गया है।

कमी महसूस हुई और उस कमीको उन्होंने अपनी तरफ़से कई नये नये सर्ग जोड़कर पूरा किया।

जिस तरह महाकवि पुष्पदन्तके यशोधरचरितमें राजा और कौलका प्रसंग, यशोधरका विवाह और भवान्तरोंका वर्णन नहीं था और इस कमीको महसूस करके बीसलसाहु नामक धनीके कहनेसे गन्धर्व कविने उक्त तीन प्रकरण अपनी तरफ़से बनाकर यशोधरचरितमें जोड़ दिये थे[1] कविराज चक्रवर्तीने भी उक्त तीनों ग्रन्थोंकी पूर्ति लगभग उसी तरह की है। अन्तर सिर्फ़ इतना ही है कि गन्धर्वने उक्त प्रयत्न पुष्पदन्तसे लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष बाद किया था, परन्तु त्रिभुवन स्वयंभुने पिताके देहान्तके बाद तत्काल ही।

१—पउमचरिउ

यह ग्रन्थ १२ हजार श्लोकप्रमाण है और इसमें सब मिलाकर ६० सन्धियाँ हैं—विद्याधरकाण्डमें २०, अयोध्या काण्डमें २२, सुन्दरकाण्डमें १४, युद्धकाण्डमें २१ और उत्तरकाण्डमें १३[2]। इनमेंसे ८३ सन्धियाँ स्वयंभुदेवकी और शेष ७ त्रिभुवन स्वयंभुकी हैं। ८३ वीं सन्धिके अन्तकी पुष्पिकामें भी यद्यपि त्रिभुवन स्वयंभुका नाम है, इस लिए स्वयंभुदेवकी रची हुई ८२ ही सन्धियाँ होनी चाहिएँ परन्तु ग्रंथान्तमें त्रिभुवनने अपनी रामकथा-कन्याको सप्तमहासर्गांगी या सात-सर्गोवाली कहा है, इसलिए ८४ से ६० तक सात सन्धियाँ ही उनकी बनाई जान पड़ती हैं। संभव है ८३ वीं सन्धि-का अपनी आगेकी ८४ वीं सन्धिसे ठीक सन्दर्भ बिठानेके लिए उसमें भी उन्हें कुछ कड़वक[4] जोड़ने पड़े हों और इसलिए उसकी पुष्पिकामें भी अपना नाम दे दिया हो।

२—रिट्ठणेमिचरिउ

यह हरिवंसपुराण नामसे प्रसिद्ध है। अठारह हज़ार श्लोकप्रमाण है और इसमें ११२ सन्धियाँ हैं। इसमें तीन काण्ड हैं—यादव, कुरु और युद्ध। यादवमें १३, कुरुमें १६ युद्ध में ६० सन्धियाँ हैं। सन्धियोंकी यह गणना युद्धकांड के अन्तमें दी हुई है और यह भी बतलाया है कि प्रत्येक काण्ड कब लिखा गया और उसकी रचनामें कितना समय लगा[5]। इससे इन ९२ सन्धियोंके कर्तृत्वके विषयमें तो कोई शंका ही नहीं हो सकती, ये तो निश्चयपूर्वक स्वयंभु-देवकी बनाई हुई हैं।

आगे ९३ से ९९ तककी सन्धियोंकी पुष्पिकाओंमें भी स्वयभुदे का नाम है और फिर उसके बाद १०० वीं सन्धिके अन्तमें त्रिभुवन स्वयंभुका नाम है। इसका अर्थ यह हुआ कि ९३ से ९९ तककी सन्धियाँ भी स्वयंभुदेवकी हैं और इस तरह उनका रचा हुआ रिट्ठणेमिचरिय ९९ वीं सन्धिपर समाप्त होता है। इस सन्धिके अन्तमें एक पद्य है जिसमें कहा है कि पउमचरिउ या सुव्वयचरिउ[6] बनाकर अब मैं हरिवंशकी रचनामें प्रवृत्त होता हूँ, सरस्वतीदेवी मुझे सुस्थिरता देवें। निश्चय ही यह पद्य त्रिभुवन स्वयंभु का लिखा हुआ है और इसमें वे कहते हैं कि पउमचरिउ-की अर्थात उसके शेष भागकी रचना तो मैं कर चुका, उस के बाद अब मैं हरिवंशमें अर्थात उसके भी शेषमें हाथ लगाता हूँ। यदि इस पद्यको हम त्रिभवनका न मानें तो फिर इस स्थानमें इसकी कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती।

१ देखो 'महाकवि पुष्पदन्त' शीर्षक लेख, पृ० ३३१-३१।

२ देखो पउमचरिउके अन्तके पद्य।

३-४ अपभ्रंश काव्योंमें सर्गकी जगह प्रायः 'सन्धि'का व्यवहार किया जाता है। प्रत्येक सन्धिमें अनेक कड़वक होते हैं और एक कड़वक आठ यमकोंका तथा एक यमक दो पदोंका होता है। एक पदमें यदि वह पद्धड़ियाबद्ध हो तो १६ मात्रायें होती हैं। आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार चार पद्धड़ियों यानी आठ पंक्तियोंका कड़वक होता है। हर एक कड़वकके अन्तमें एक घत्ता या ध्रुवक होता है।

५ स्वयंभुको ६२ सन्धियाँ समाप्त करनेमें छह वर्ष तीन महीने और ग्यारह दिन लगे। फाल्गुन नक्षत्र तृतीया तिथि, बुधवार और शिव नामक योगमें युद्धकाण्ड समाप्त हुआ और भाद्रपद, दशमी, रविवार और मूल नक्षत्रमें उत्तरकाण्ड प्रारंभ किया गया।

६ राम लक्ष्मण आदि बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतके तीर्थमें हुए हैं, अतएव पउमचरिउ मुनिसुव्रतचरितके ही अन्तर्गत माना जाता है। मुनिसुव्रतके चरित को ही संक्षेपमें 'सुव्वयचरिय' कहा है। सुव्वयचरियको सुद्धयचरिय ग़लत पढ़ा गया है।

हरिवंशकी ९९ सन्धियाँ बना चुकनेपर स्वयंभूदेव यह कैसे कह सकते हैं कि पउमचरिउ बनाकर अब मैं हरिवंश बनाता हूं ? अतएव उक्त पद्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंभुकी रचना इस ग्रन्थमें ९९ वीं सन्धिके अन्त तक है।

इसके आगेका भाग, १०० से ११२ तककी सन्धियाँ, त्रिभुवनस्वयंभुकी बनाई हुई हैं और इसकी पुष्टि इस बातसे होती है कि अन्तिम सन्धि तककी पुष्पिकाओंमें त्रिभुवन स्वयंभुका नाम दिया हुआ है। परन्तु इन तेरह सन्धियोंमेंसे १०६, १०८, ११० और १११ वी सन्धिके पद्योंमें मुनि जसकित्तिका भी नाम आता है और इससे एक बड़ी भारी उलझन खड़ी हो जाती है। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस अन्तिम अंशमें मुनि जसकित्तिका[1] भी कुछ हाथ है, परन्तु वह कितना है इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है।

बहुत कुछ सोच विचारके बाद हम इस निर्णयपर पहुंचे हैं कि मुनि जसकित्तिको इस ग्रन्थकी कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरीके जैनमन्दिरमें व्याख्यान करनेके लिए इसे ठीक किया, अर्थात जहाँ जहाँ जितना जितना अंश पढ़ा नहीं गया, या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ जहाँ जोड़ा वहाँ वहाँ अपने परिश्रमके एवजमें अपना नाम भी जोड़ दिया।

१०६ वी सन्धिके अन्तमें वे लिखते हैं कि जिनके मनमें पर्वोके उद्धार करनेका ही राग था, (पर्वसमुद्धरणरागै-कमनसा) ऐसे जसकित्ति जतिने कविराजके शेष भागका प्रकृत अर्थ कहा और फिर अपने इस कार्यका औचित्य बतलाते हुए वे कहते हैं कि संसारमें वे ही जीते हैं, उन्हींका जीवन सार्थक है, जो पराये बिहडित (बिगड़े हुए या विश्रृंखल हुए) काव्य कुल और धनका उद्धार करते हैं।

पिछली दो सन्धियोंकी रचना और भाषापरसे ऐसा मालूम होता है कि उनमें जसकित्तिका कुछ अधिक हाथ है। जसकित्ति इस ग्रन्थके कर्त्तासे ६-७ सौ वर्ष बादके लेखक हैं, उनकी भाषा इस ग्रन्थकी भाषाके मुकाबिलेमें अवश्य पहिचानी जा सकती है और हमारा विश्वास है कि अपभ्रंश भाषाके विशेषज्ञ परिश्रम करके इस बातका पता लगा सकते हैं कि इस ग्रन्थकी पिछली सन्धियोंमें जसकित्तिकी रचना कितनी है। हमें यह भी आशा है कि हरिवंशकी शायद ऐसी प्रति भी मिल जाय जो स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभुकी ही सम्पूर्ण रचना हो और उसमें जसकित्तिके लगाये हुए पेबन्द न हों।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जसकित्तिका खुदका भी बनाया हुआ एक हरिवंशपुराण है और वह अपभ्रंशभाषाका ही है। इसलिए उनके लिए यह कार्य अत्यन्त सुगम था और क्या आश्चर्य जो उन उन अंशोंके स्थानपर जो त्रिभुवन स्वयंभुके हरिवंशपुराणमें नष्ट हो गये थे अपने उक्त हरिवंशके ही अंश काट-छांटकर जड दिये हों। इसका निर्णय जसकित्तिका ग्रंथ सामने रखने से हो सकता है।

१ मुनि जसकित्ति या यशःकीर्ति काष्ठासंघ-माथुरान्वय पुष्कर-गणके भट्टारक थे और गोपाचल या ग्वालियरकी गद्दीपर आसीन थे। उनके गुरुका नाम गुणकीर्ति था। उनके दो अपभ्रंश-ग्रन्थ मिलते हैं एक हरिवंसपुराणु और दूसरा चंदप्पहचरिउ। पहला ग्रन्थ जैनसिद्धान्तभवन आरामें है। भास्कर (भाग ८, किरण १) में उसके जो बहुत ही अशुद्ध अंश उद्धृत किये गये हैं उनसे मालूम होता है कि दिवढा साहुके लिये उसकी रचना की गई थी।—"इय हरिवंसपुराणे कुरुवंसाहिट्ठिए विवहचित्ताणुरंजणे सिरिगुणकित्तिसीसमुणिजसकित्तिविरइए साहु-दिवढाना-मंकिए तेरहमो सग्गो सम्मत्तो।" और पिछला ग्रन्थ फर्रुखनगरके जैनमन्दिरके भण्डारमें है। उसके अन्तमें लिखा है—"इय सिरिचंदप्पहचरिए महाकइजसकित्ति-विरइए महाभव्वसिद्धपालसवणाभूसणो सिरिचंदप्पहसामि-णिव्वाणगमणो णाम एयारहमो संधी सम्मत्तो।" यह प्रति श्रावण वदी १, शनि, संवत १५६८ की लिखी हुई है। जसकित्ति तोमरवंशी राजा कीर्तिसिंहके समयमें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें हुए हैं। जैन-सिद्धान्त भवन आरामें ज्ञानार्णवकी एक प्रति है जो संवत् १५२१ आषाढ सुदी ६ सोमवारको गोपाचलदुर्गमें तोमरवंशी राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें लिखी गई थी। इसमें गुणकीर्ति और यशःकीर्तिके बाद उनके शिष्य मलयकीर्ति और प्रशिष्य गुणभद्र भट्टारकके भी नाम हैं।

३--पंचमीचरिउ

दुर्भाग्यसे अभी तक इस ग्रंथकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है; परन्तु पउमचरियमें लिखा है कि यदि स्वयंभु देवके पुत्र त्रिभुवन न होते तो उनके पद्धडियाबद्ध पंचमी चरितको कौन सँवारता ? इससे मालूम होता है कि स्वयंभु देवका पंचमीचरित नामका ग्रंथ भी अवश्य था और उसे भी उनके पुत्रने शायद पूर्वोक्त दो ग्रंथोंके ही समान सँवारा था--बढ़ाया था।

स्वयंभुके तीनों ग्रन्थ सम्पूर्ण थे

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वयंभुदेवने अपने तीनों ग्रन्थ अपनी समझ और रुचिके अनुसार सम्पूर्ण ही रचे थे, उन्हें अधूरा नहीं छोड़ा था। पीछे उनके पुत्र त्रिभुवनने अधूरोंको पूरा नहीं किया है बल्कि उनमें इज़ाफ़ा किया है। इसकी पुष्टिमें हम नीचे लिखी बातें कह सकते हैं—

१ यह बात कुछ जँचती नहीं कि कोई कवि एक साथ तीन तीन ग्रन्थोंका लिखना शुरू कर दे और तीनोंको ही अधूरा छोड़ जाय। अपना अन्तिम ग्रन्थ ही वह अधूरा छोड़ सकता है।

२ पउमचरिउमें स्वयंभुदेव अपनेको धनंजयका आश्रित बतलाते हैं और रिट्ठणेमिचरिउमें धवलइयाका। इससे स्पष्ट होता है कि इन दोनों ग्रन्थोंकी रचना एक साथ नहीं हुई है। धनंजयके आश्रयमें रहते समय पहला ग्रन्थ समाप्त किया गया और उसके बाद धवलइयाके आश्रयमें जो कि शायद धनंजयका पुत्र था रिट्ठणेमिचरिउ लिखना शुरू हुआ। पंचमीचरित शायद धनंजयके आश्रयमें ही लिखा गया हो।

३ दोनों ग्रन्थोंका शेष त्रिभुवन स्वयंभुने उस समय लिखा जब वे बन्दइयाके आश्रित थे और इस बातका उल्लेख भी रिट्ठणेमिचरियकी ९९ वीं सन्धिके अन्तमें कर दिया कि पउमचरिउको (शेष भागको) कर चुकनेके बाद अब मैं हरिवंश-पुराणकी (शेष भागकी) रचनामें प्रवृत्त होता हूँ। यह उल्लेख स्वयं स्वयंभुदेवका किया हुआ नहीं हो सकता।

४ पउमचरिउका लगभग ⅔ अंश और हरिवंशका ⅔ अंश स्वयंभुदेवका है और शेष ⅓ और ⅓ त्रिभुवनका। प्रश्न होता है कि पिता यदि दोनोंको अधूरा ही छोड़ता तो इतने थोड़े थोड़े ही अंश क्यों छोड़ता ?

५ त्रिभुवन स्वयंभु अपने ग्रन्थ शेषोंको 'सेस' 'सयंभु-देव-उव्वरिअ' और 'तिहुअणसयंभुसमाणिअ' विशेषण देते हैं। शेषका अर्थ स्पष्ट है। आचार्य हेमचन्द्रकी नाम-मालाके अनुसार 'उव्वरिअ' का अर्थ 'अधिकं अनीप्सित' होता है। अर्थात्, स्वयंभुदेवको जो अंश अभीप्सित नहीं था, या जो अधिक था, वह अंश। इसी तरह 'समाणिअ' शब्दका अर्थ होता है, लाया गया। इन तीनों विशेषणोंसे यही ध्वनित होता है कि यह अधिक या अनीप्सित अंश ऊपरसे लाया गया है।

६ रिट्ठणेमिचरिउको देखनेसे पता चलता है कि वास्तवमें समवसरणके उपरान्त नेमिनाथका निर्वाण होते ही यह ग्रन्थ समाप्त हो जाना चाहिए। इसके बाद कृष्णकी रानियोंके भवान्तर, गजकुमारनिर्वाण, द्वीपायन मुनि, द्वारा-वती-दाह, बलभद्रका शोक, नारायणका शोक, हलधरदीक्षा, जरत्कुमार राज्यलाभ, पाण्डव - गृहवास, मोहपरित्याग, पाण्डव-भवान्तर आदि प्रकरण जो ९९ से आगेकी सन्धियों में हैं वे नेमिचरितके आवश्यक अंश नहीं हैं, अवान्तर हैं। इनके बिना भी वह अपूर्ण नहीं है। परन्तु त्रिभुवन स्व-यंभुने इन विषयोंकी भी आवश्यकता समझी और इस तरह उन्होंने रिट्ठणेमिचरिउको हरिवंशपुराण बना दिया और शायद इसी कारण वह इस नामसे प्रसिद्ध हुआ। पउमचरियकी अन्तकी सात सन्धियोंके विषय भी—सीता, बालि, और सीता-पुत्रोंके भवान्तर, मारुत-निर्वाण हरिमरण आदि—इसी तरह अवान्तर जान पड़ते हैं।

४--स्वयंभु-छन्द

स्वयंभुदेवके इस छन्दोग्रन्थका पता अभी कुछ ही समय पहले लगा है। इसकी एक अपूर्ण प्रति[1] जिसमें प्रारंभके २२ पत्र नहीं हैं प्रो० एच० डी० वेलणकरको

१ यह प्रति बड़ौदाके ओरियण्टल इन्स्टिट्यूटकी है। आश्विन सुदी ५, गुरुवार संवत् १७२७ को इसे रामनगर में किसी कृष्णदेवने लिखा था।

प्राप्त हुई है और उन्होंने उसे बड़े परिश्रमसे सम्पादित करके प्रकाशित कर दिया है।[१]

इसके पहलेके तीन अध्यायोंमें प्राकृतके वर्णवृत्तोंका और शेषके पाँच अध्यायोंमें अपभ्रंश छन्दोंका विवेचन है। साथ ही छन्दोंके उदाहरण भी पूर्व कवियोंके ग्रन्थोंमें से चुनकर दिये गये हैं।

इस ग्रंथका प्रारंभिक अंश नहीं है और अन्तमें भी कर्त्ता का परिचय देनेवाली कोई प्रशस्ति आदि नहीं है। इसलिए सन्देह हो सकता है कि यह शायद किसी अन्य स्वयंभूकी रचना हो, परन्तु हमारी समझमें निश्चयसे इन्हींकी है। क्यों कि—

१ इसके अन्तिम अध्यायमें गाहा, अडिल्ला, पद्धडिया आदि छन्दोंके जो स्वोपज्ञ उदाहरण दिये हैं उनमें जिनदेवकी स्तुति है[२]। इस लिए इसके कर्त्ताका जैन होना तो असन्दिग्ध है। साथ ही इसमें (अ० ४-६) छट्टे अवजाईके उदाहरण स्वरूप जो घत्ता उद्धृत की है वह पउमचरिउकी १४ वीं सन्धिमें बहुत ही थोड़े पाठान्तरके साथ मौजूद है, घत्ता छन्दका जो उदाहरण (अ० ७-२७) दिया है वह पउमचरिउकी पांचवी सन्धिका पहला पद्य[४] है। 'वम्महतिलअ' का जो उदाहरण है (अ० ६-४२) वह ६४ वी सन्धिका पहला पद्य[५] है, 'रअणावली' का जो उदाहरण है (अ० ६-७४), वह ७७ वी सन्धिके १३ वें कडवकका अन्तिम पद्य[६] है और अ० ६ का जो ७१ वाँ पद्य है वह पउमचरियकी ७७ वीं सन्धिका प्रारंभिक पद्य[७] है। चूंकि ये कविकी अपनी और अपने ही ग्रन्थकी घत्तायें थीं; इस लिये इन्हें बिना कर्त्ताके नामके ही उदाहरणस्वरूप दे दिया गया। यदि अन्य कवियोंकी होती तो उनका नाम देनेकी आवश्यकता होती। इससे भी यही निश्चय होता है कि पउमचरिउके कर्त्ता स्वयंभुदेव ही स्वयंभु छन्दके कर्त्ता हैं। इस छन्दोग्रन्थमें ६-४४, ४८ ६८, १०२, १४२, ८-२,६ पद्य ऐसे हैं जो हरिवंशकी कथाके प्रसंगके हैं और ६, ६४, ६८, ६०, १४४, ८-२१, २४, ऐसे हैं जो राम-कथाके प्रसंगके हैं और उदाहरण स्वरूप दिये गए हैं परन्तु कर्त्ताका नाम नहीं दिया गया है। हमारा विश्वास है कि वे सब स्वयं स्वयंभुके हैं और खोज करनेसे रिट्ठणेमिचरिउ और पउमचरिउमें उनमेंसे अनेक पद्य मिल जायेंगे।

२ रिट्ठणेमिचरिउके प्रारंभमें पूर्व कवियोंने उन्हें क्या क्या दिया, इसका वर्णन करते हुए कहा है कि श्रीहर्षने निपुणत्व दिया—'सिरिहरिसे णियणिउणत्तणउ।'' और श्रीहर्षके इसी निपुणत्वके प्रकट करने वाले संस्कृत पद्यके एक चरण को स्वयभु छन्दमें (१-१४४) उद्धृत किया गया है—"जह (यथा)—श्रीहर्षो निपुण: कविरित्यादि।" चूंकि यह पद्य श्रीहर्षके नागानन्द नाटकके प्रस्तावनामें सूत्रधारद्वारा कहलाया गया है और बहुत प्रसिद्ध[८] है, इस लिए कविने

[१] पहलेके तीन अध्याय रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे के जर्नल (सन् १९३५ पृ० १८-५८) में और शेष पांच अध्याय बाम्बे यूनीवर्सिटीके जर्नल (जिल्द ५, नवम्बर १९३६ में प्रकाशित हुए हैं।

[२] तुम्ह पअकमलमूले अम्हं जिण दुक्खभावतविआइं।
दुरुद्धुलिआइं जिणवर जं जाणसु तं करेजासु॥ ३८॥
जिणणामें छिंदेवि मोहजालु, उप्पज्जइ देवलसामसालु।
जिणणामें कम्मइं णिद्दलेवि, मोक्खग्गे पइसिअ सुअ लहेवि

[३] कहाव मरुहिरइं दहइं गइंदइं भणमिहरोवरि सुपहुत्तइं।
णेहि। वग्गहो सयरण्णुरंगहो णं पइ छुडु छुडु खित्तइं॥६

[४] अक्खइ गउतमसामि, तिहुअणलद्धपसंसहो।
सुण सेणिय उप्पत्ति, रक्खसवाणरवंसहो॥

[५] हणुवंतु रणे परिवेढिज्जई णिसियरेहि।
ण गयणयले बालदिवायरु जलहरेहि।

[६] सुरवर डामरु रावणु दट्ठु, जासु जग कंपइ।
अगणु कहि मह चुकइ एवणाइ सिहि जंपइ।

[७] माइविओगे जिह जिह करइ विहीसणु सोउ।
तिह तिह दुक्खेण रुवइ सहारबलवाणरलोउ॥

स्वयंभु-छन्दके मुद्रित पाठमें इस पद्यको 'चउमुह' का बतलाया है, परन्तु असलमें यह लेखककी कुछ असावधानी मालूम पड़ती है। 'चउमुह' का पद्य वहां लिखनेसे छूट गया है और उसके आगे यह स्वयं स्वयंभुका अपना उदाहरण आ गया है।

[८] श्रीहर्षो निपुण: कवि: परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च सिद्धराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तै: पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदित: सर्वो गुणानां गण:॥

इसे पूरा देनेकी ज़रूरत नहीं समझी। परन्तु इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वयंभु छन्दके कर्त्ता और पउमचरिउके कर्ता एक ही हैं, जो श्रीहर्षके निपुणत्वको अपने दोनो ग्रन्थोंमें प्रकट करते हैं।

३—स्वयंभुदेवको उनके पुत्रने 'छन्दचूडामणि' कहा है। इससे भी अनुमान होता है कि वे छन्दशास्त्रके विशेषज्ञ थे और इसलिए उनका कोई छन्दोग्रन्थ अवश्य होना चाहिए।

स्वयंभुछन्दमें माउरदेवके कुछ पद्य उदाहरणस्वरूप दिए हैं और अधिक संभावना यही है कि ये माउरदेव या मारुतदेव कविके पिता ही होंगे। अपने पिताके पद्योंका पुत्रके द्वारा उद्धृत किया जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

पूर्ववर्ती कविगण

इस छन्दोग्रन्थमें प्राकृत और अपभ्रंश कवियोंके नाम देकर जो उदाहरण दिये हैं उनसे इन दोनों भाषाओंके उस विशाल साहित्यका आभास मिलता है जो किसी समय अतिशय लोकप्रिय था और जिसका अधिकांश लुप्त हो चुका है। यहाँ हम उन कवियोंके नाम देकर ही संतोष करेंगे—

प्राकृत कवि—वम्हअत्त (ब्रह्मदत्त), दिवायर (दिवाकर) अंगारगण, सुद्धसहाव (सुद्धस्वभाव), ललिअसहाव (ललितस्वभाव), पंचमणाह, माउरदेव (मारुतदेव), कोइंत, णागह, सुद्धसील (शुद्धशील), हरआस (हरदास), हरअत्त (हरदत्त), धणदत्त, गुणहर (गुणधर), णिउण (निपुण), सुद्धराअ (शुद्धराज), उब्भट (उद्भट), चंदण, दुग्गसीह (दुर्गसिंह), कालिआस (कालिदास), वेरणाअ, जीउदेअ (जीवदेव), जणमणाणंद, सीलणिहि (शीलनिधि), हाल (सातवाहन), विमलएव (विमलदेव) कुमारसोम, मूलदेव, कुमारअत्त (कुमारदत्त) तिलोअण (त्रिलोचन), अंगवइ (अंगपति), रजउत्त (राजपुत्र), वेआल (वेताल), जोहअ, अजरामर, लोणअ, कलाणुराअ (कलानुराग), दुग्गसत्ति (दुर्गशक्ति), अरण, अब्भुअ (अद्भुत), इसहल, रविवप्प (रविवप्र), छइल्ल, विअड्ढ सुहडराअ (सुभटराज), चंदराअ (चन्द्रराग), ललअ।

अपभ्रंश कवि—चउमुहु (चतुर्मुख), धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव (आर्यदेव), गोइंद (गोविन्द), सुद्धसील (शुद्धशील), जिणआस (जिनदास), विअड्ढ।

इन कवियोंमें जैन कौन कौन हैं और अजैन कौन, यह हम नहीं जानते। हमारे लिए हाल, कालिदास आदिको छोड़कर प्रायः सभी अपरिचित हैं। फिर भी इनमें जैन कवि काफी होंगे बल्कि अपभ्रंश कवि तो अधिकांश जैन ही होंगे। क्योंकि अब तक अपभ्रंश साहित्य अधिकांशमें उन्हींका लिखा हुआ मिला है।

वेताल[1] कविके पद्यके प्रारंभिक अंशका जो उदाहरण दिया है, उससे वह जैन जान पड़ता है। चौथे अध्यायके १७, १६, २१, २४, २६ नं० के जो छह पद्य हैं, वे गोइन्दके हैं और हरिवंशकी कथाके प्रसंगके हैं। इससे मालूम होता है कि गोइन्द भी जैन है और उसका भी एक हरिवंशपुराण है। माउरदेव, जिनदास और चउमुहु तो जैन हैं ही। चतुर्मुखके जो ४—२, ६—७१, ८३, ८६, ११२ नं० के पद्य हैं वे राम-कथा-सम्बन्धी हैं और उनके पउमचरिउसे लिए गए हैं। चतुर्मुखके हरिवंस, पउमचरिउ और पंचमीचरिउ नामक तीन ग्रन्थोंके होनेका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

स्वयंभु-व्याकरण

हमारा अनुमान है कि स्वयंभुदेवने स्वयंभु-छन्दके समान अपभ्रंश भाषाका कोई व्याकरण भी लिखा था, क्योंकि पउमचरिउके एक पद्यमें कहा है कि अपभ्रंशरूप मतवाला हाथी तभी तक स्वच्छन्दतासे भ्रमण करता है जबतक कि उसपर स्वयंभु-व्याकरणरूप अंकुश नहीं पड़ता, और इसमें स्वयंभु-व्याकरणका स्पष्ट उल्लेख है।

एक और पद्यमें स्वयंभुको पंचानन सिंहकी उपमा दी है, जिसकी सच्छंदरूप विकट दाढ़ें हैं, जो छन्द और अलंकाररूप नखोंसे दुष्प्रेक्ष्य है और व्याकरणरूप जिसकी केसर (अयाल) है। इससे भी उनके व्याकरण ग्रन्थ होनेका विश्वास होता है।

समय-विचार

पउमचरिउ और रिट्ठनेमिचरिउमें स्वयंभुदेवने अपने पूर्ववर्ती कवियों और उनके कुछ ग्रंथोंका उल्लेख किया है जिनके समयसे उनके समयकी पूर्व सीमा निश्चित की जा

---

१ कामवाणो वेआयस्स—

'णिच्चं णमो विअराआ' एवमाइ त्ति ॥ १—१७७

सकती है। पाँच महाकाव्य[1], पिंगलका छन्दशास्त्र, भरतका नाट्यशास्त्र, भामह और दंडीके अलंकारशास्त्र, इन्द्रका व्याकरण, व्यास, बाणका अक्षराडम्बर (कादम्बरी) श्रीहर्ष का[2] निपुणत्व और रविषेणाचार्यकी रामकथा (पद्मचरित)। समयके लिहाजसे जहाँ तक हम जानते हैं इनमें सबसे पीछेके रविषेण हैं और उन्होंने अपना पद्मचरित वि० सं० ७३४ (वीर-निर्वाण संवत् १२०३) में समाप्त किया था[3]। अर्थात् स्वयंभू वि० सं० ७३४ के बाद किसी समय हुए हैं।

इसी तरह जिन सब लेखकोंने स्वयंभुका उल्लेख किया है और जिनका समय ज्ञात है, उनमें सबसे पहले महाकवि पुष्पदन्त हैं। पुष्पदन्तने अपना महापुराण वि० सं० १०१६ (श० सं० ८८१) में प्रारंभ किया था। अतएव स्वयंभुके समयकी उत्तर सीमा वि० सं० १०१६ है। अर्थात् वे ७३४ से १०१६ के बीच किसी समय हुए हैं। आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने छन्दोनुशासनमें[4] स्वयंभुका उल्लेख किया है जो विक्रमकी तेरहवी सदीके प्रारंभमें हुए हैं।

परन्तु यह लगभग तीन सौ वर्षका समय बहुत लम्बा है। हमारा खयाल है कि स्वयंभु रविषेणसे बहुत अधिक बाद नहीं हुए। वे हरिवंशपुराणकर्ता जिनसेनसे कुछ पहले ही हुए होंगे। क्योंकि जिस तरह उन्होंने पउमचरिउ में रविषेणका उल्लेख किया है, उसी तरह रिट्ठणेमिचरिउमें हरिवंशके कर्त्ता जिनसेनका भी उल्लेख अवश्य किया होता, यदि वे उनसे पहले हो गये होते तो। इसी तरह आदि पुराण-उत्तरपुराणके कर्त्ता जिनसेन-गुणभद्र भी स्वयंभु देव द्वारा स्मरण किये जाने चाहिएँ थे। यह बात नहीं जँचती कि वाण, श्रीहर्ष, आदि अजैन कवियोंको तो वे चर्चा करते और जिनसेन आदिको छोड देते। इससे यही अनुमान होता है कि स्वयंभु दोनों जिनसेनोंसे कुछ पहले हो चुके होंगे। हरिवंशकी रचना वि० सं० ८४० (श० सं० ७०५) में समाप्त हुई थी। इस लिए ७३४ से ८४० के बीच स्वयंभुदेवका समय माना जा सकता है। परन्तु इसकी पुष्टिके लिए अभी और भी प्रमाण चाहिए।

नीचे दोनों ग्रंथोंके वे सब महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत कर दिये जाते हैं जिनके आधारसे कवियोंका यह परिचय लिखा गया है।

परिशिष्ट

पउमचरिउके प्रारंभिक अंश

(१)

णमह[5] णव कमल-कोमल मणहर-वर-बहल-कंति-सोहिल्लं।
उसहस्स पायकमलं ससुरासुरवंदियं सिरसा॥ १॥
चउमुह[6] मुहम्मि सद्दो दंती[7] भद्दं च मणहरो अत्थो।
विणिण वि सयभुकव्वे किं कीरइ कइयणो सेसो॥ २॥
चउमुहएवस्स सद्दो सयंभुएवस्स मणहरा जीहा।
भद्दस्स य गोग्गहणं अज्ज वि कइणो ण पावंति॥ ३॥
जलकीलाए सयंभुं चउमुहएवं च गोग्गहकहाए।
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावंति॥ ४॥

---

१ रघुवंश, कुमारसंभव शिशुपालवध, किरातार्जुनीय और भट्टि। कोई कोई भट्टिके बदले श्रीहर्षके नैषधचरितको पांच महाकाव्योंमें गिनते हैं।

२ नैषधचरितके कर्ता श्रीहर्ष नहीं किन्तु बाणके आश्रयदाता सम्राट् हर्ष, जिनके नागानन्द, प्रियदर्शिका आदि नाटक-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। 'श्रीहर्षो निपुणः कविः' आदि पद्य श्रीहर्षके नागानन्दका ही है और उसे स्वयंभुछन्दमें उद्धृत किया गया है। इसी पद्यके 'निपुण' विशेषणका अनुकरण स्वयंभुने 'सिरिहरिसे णियणिउणत्तणउं' पदमें किया है। नैषधचरितके कर्ता श्रीहर्ष स्वयंभुसे और पुष्पदन्तसे भी पीछे हुए हैं। पुष्पदन्तने भी श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) का ही उल्लेख किया है।

३ देखो मा० जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित पद्मचरितकी भूमिका।

४ देखो, निर्णयसागर-प्रेसकी आवृत्ति, पत्र १४, पं० १६।

५ मंगलाचरणके इस पद्यके बाद और दूसरे पद्यके पहले सागानेरवाली प्रतिमें कवि ईशानाशयनके संस्कृत 'जिनेन्द्र-रुद्राष्टक' के सात पद्य दिये हैं। एक श्लोक शायद छूट गया है। मालूम नहीं, इनकी यहाँ क्या जरूरत थी।

६ दूसरेसे छट्ठे तकके पद्य पूनेकी प्रतिमें नहीं हैं, परन्तु सांगानेरवाली प्रतिमें हैं।

७ सागानेरकी प्रतिमें 'दंती सद्द च'।

तावचिय सच्छंदो भमइ अवब्भंस-मत्त मायंगो ।
जाव ण सयंभु-वायरण-अंकुसो पडइ ॥ ४ ॥
सच्छद-वियड-दाढो छंदालंकार-णहर-दुप्पिच्छो ।
वायरण-केसरड्डो सयंभु-पंचाणणो जयउ ॥ ६ ॥
दीहर-समास-णालं सद्द-दलं अत्थकेसरग्घविया ।[1]
बुह-महुयर-पीयरसं सयंभु-कव्वुप्पल जयउ ॥ ७ ॥

(२)

वड्ढमाण-मुह-कुहर-विणिग्गय रामकहाणए एह कमागय ।
अक्खर-वास-जलोह-मणोहर सुयलंकार-छंद-मच्छोहर ।
दीह-समास-पवाहावंकिय सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय ।
देसीभासा-उभय-तडुज्जल कवि-दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ।
अत्थबहल-कल्लोलाणिट्ठिय आसासय-सम-तूह-परिट्ठिय ।
एह रामकह-सरि सोहंती गणहर-देवहिं दिट्ठ वहंती ।
पच्छइं इंदभूइ-आयरिएं पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं ।
पुणु एवहिं संसाराराएं कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं ।
पुणु रविसेणायरिय-पसाएं बुद्धिए[2] अवगाहिय कइराएं ।
पउमिणि-जणणि गब्भ संभूएं मारुयएव-रूव-अणुराएं ।
अइतणुएण पईहरगत्ते छिव्वर-णासे पविरल-दंते ।
घत्ता—णिम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह-कित्तणु आढप्पइ ।
जेण समाणिज्जंतएण थिरकित्ति विढप्पइ ॥ २ ॥

(३)

बुहयण सयंभु पइं विण्णवइ महं सरिसउ अण्णु[3] णत्थि कुकइ
वायरणु कयावि ण जाणियउ णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ ।
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय णउ संधिहे उप्परि बुद्धि ठिय ।
णउ णिसुणिउ सत्तविहत्तियाउ छव्विहउ समास-पउत्तियाउ
छक्कारय दस लयार ण सुय वीसोवसग्ग पच्चय पहुय ।
ण बलाबल धाउणिवाय-गणु णउ लिंगु उणाइ च वक्क वयणु
णउ णिसुणिउ पंचमहायकव्वु णउ भरहु ण लक्खणुछंदु सव्वु
णउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु णउ भम्मह-दंडियलंकारु ।
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि वरि रयडावुत्तु कव्वु करमि ।

अन्तिम अंश

तिहुयण-सयंभु णवरं एक्को कइराय-चक्किणुप्पण्णो ।
पउमचरियस्स चूडामणि व्व सेसं[4] कयं जेण ॥ १ ॥
कइरायस्स विजय-सेसियस्स वित्थारिओ जसो भुवणे ।
तिहुयण-सयंभुणा पउमचरियसेसेण णिस्सेसो ॥ २ ॥
तिहुयण-सयंभु-धवलस्स को गुणो वण्णिउं जए तरइ ।
बालेण वि जेण सयंभुकव्वभारो समुव्वूढो ॥ ३ ॥
वायरण-दढ-क्खंधो आगम-अंगोपमाण-वियडपओ ।
तिहुयण सयंभु धवलो जिणतित्थे वहउ कव्वभरं[5] ॥ ४ ॥
चउमुह-सयंभुएवाण वण्णियत्थं[6] अचक्खमाणेण ।
तिहुयण-सयंभु-रइयं पंचमि-चरियं महच्छरियं ॥ ५ ॥
सव्वे वि सुया पंजर-सुय व्व पढिअक्खराइं सिक्खंति ।
कइरायस्स सुओ सुय व्व सुइगब्भ-संभूओ ॥ ६ ॥
तिहुयण-सयंभु जइ ण हुंतु णंदणो सिरिसयंभुदेवस्स ।
कव्वं कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ ॥ ७ ॥
जइ ण हुउ छंदचूडामणिस्स तिहुयण-सयंभु लहुतणउ ।
तो पद्धडियाकव्वं सिरिपंचमि को समारेउ ॥ ८ ॥
सव्वो वि जणो गेण्हइ णिय ताय-विढत्त-दव्व संताणं ।
तिहुयण-सयंभुणा पुण गहियं णं सुकइत्त-संताणं ॥ ९ ॥
तिहुयण-सयंभुमेक्कं मोत्तूण सयंभुकव्व मयरहरो ।
को तरइ गंतुमंतं मज्झे णिस्सेस-सीसाणं ॥ १० ॥
इय चारु पोमचरियं सयंभुएवेण रइय सम्मत्तं ।
तिहुयण-सयंभुणा तं समाणियं परिसमत्तमिणं ॥ ११ ॥
मारुय-सुय-सिरिकइराय-तणय-कय-पोमचरिय अवसेसं ।
संपुण्णं संपुण्ण वंदइओ लहउ संपुण्ण ॥ १४ ॥
गोइंद-मयण सुयणंत विरइयं ? वंदइय-पढमतणयस्स ।
वच्छलदाए तिहुयण-सयंभुणा रइयं महप्पयं ॥ १५ ॥
वंदइय-णाग सिरिपाल पहुइ-भव्वयण-समूहस्स ।
आरोगत्त-समिद्धी संति सुहं होउ सव्वस्स ॥ १६ ॥
सत्तमहासग्गंगी तिरयणभूसा सु रामकह-कण्णा ।
तिहुयण-सयंभु जणिया परिणउ वंदइय मणतणउ ॥ १७ ॥

इय रामायणपुराणं समत्तं ।
सिरि-विज्जाहर-कंडे संधीओ हुंति वीसपरिमाणं ।
उज्झाकंडंमि तहा बावीस मुणेह गणणाए ॥

---

१ 'अत्थकेसरुद्धवियं' पाठ पूनेकी प्रतिमें है ।
२ सागानेरवाली प्रतिमें 'बुद्धिहणियइ जाणय कइराएं' पाठ है ।
३ उक्त प्रतिमें 'अण्णुण्णाहि कुकुइ' पाठ है ।
४ सागानेर वाली प्रतिमें 'सेसं' ।
५ सागानेरवाली प्रतिमें ४, ३ और ४ को क्रमसे ८८, ९० और ८९ वीं संधिके प्रारम्भमें भी दिया है। ६ 'वण्णियत्थं ।'

चउदह सुंदरकंडे एक्काहिय वीस जुज्झकंडे य ।
उत्तरकंडे तेरह संधीओ णवइ मव्वाउ ॥ छ ॥

पउमचरिउकी संधियाँ

१ इय इत्थ पउमचरिए धणंजयासिय-सयंभुएवकए
जिण-म्मुप्पत्ति इयं पढमं चिय साहियं पव्वं ॥
२ जिणवरणिक्खमणं इमं बीयं चिय साहियं पव्वं ॥
१४ जलकीलाए सयंभू चउमुहएवं च गोग्गहकहाए ।
भद्दं च मच्छवेहे अज्जवि कइणो ण पावंति ॥
२० इय विज्जाहरकंडं वीसहिं आसासएहिं मे सिट्ठं ।
एण्हिम उज्झाकंडं साहिज्जं तं णिसामेह ॥
धुवरायधोव (?) तइय भुअप्पणत्तिणतीसुयाणुपाढेण ।
णामेण सामिअव्वा सयंभुघरिणी महासत्ता ॥
तीए लिहावियमिणं वीसहिं आसासएहिं पडिबद्धं ।
सिरि विज्जाहरकंडं कंडं पि व कामएवस्स ॥
४२ अउज्झाकंडं समत्तं ।
आइच्चुएवि पडिमोवमाए आइच्चंबियाए ।
बीयउ उज्झाकंडं सयंभुघरिणीए लेहवियं ॥
७८ जुज्झकंडं समत्तं ॥ ज्येष्ठ वदि १ सोम ।
८३ इय पोमचरिय-सेसे सयंभुएवस्स कहवि उव्वरिए ।
तिहुयण-सयंभु-रइयं समाणयं सीयदीव-पव्वमिणं ॥
वंदइआसिय-तिहुयणसयंभु-कइ-कहिय पोमचरियस्स ।
सेसे भुवणपगासे तेयासीमो इमो सग्गो ॥
कइरायस्स विजयसेसियस्स वित्थारिओ जसो भुवणे ।
तिहुयणसयंभुणा पोमचरियस्स सेसेण णिस्सेसे ॥
८४ इय पउमचरियसेसे सयंभुएवस्स कहवि उव्वरिए ।
तिहुयणसयंभुरइए सपरियण-हलीस-भवकहणं ॥
इय रामएव-चरिए वंदइआसियसयंभुसुय-रइए ।
बुहयण-मण-सुह-जणणो चउरासीमो इमो सग्गो ।
८५ वंदइआसिय-महकइ सयंभु-लहु-अंगजाय विणिबद्धो ।
सिरिपोमचरियसेसो पचासीमो इमो सग्गो ॥
६० इय पोमचरियसेसे सयंभुएवस्स कहवि उव्वरिए ।
तिहुयणसयंभु रइए राहवणिव्वाणपव्वमिणं ॥
वंदइआसिय-तिहुयण-सयंभु परिविरइयम्मि महाकव्वे ।
पोमचरियस्स सेसे संपुण्णो णवइमो सग्गो ॥

१— सागानेरकी प्रतिमें ये दोनों पद्य 'तिहुवण सयंभुणवर' आदि पद्यके पहले दिये हैं ।

रिट्ठणेमिचरिउका प्रारंभिक अंश

सिरिपरमागम-णालु सयल-कला-कोमल-दलु ।
करहु विहूसणु कण्णे जायव-कुरुव-कुलुप्पलु ।-
* * *

चिंतवइ सयंभु काइ करम्मि हरिवंस-महण्णउ कें तरम्मि ।
गुरु-वयण-तरंडउ लद्ध णवि जम्महो वि ण जोइउ कोवि कवि ।
णउ णाइउ बाहत्तरि कलाउ एक्कु वि ण गंथु परिमोक्कलाउ
तहिं अवसरि सरसइ धीरवइ करि कव्वु दिण्ण मइ विमलमइ
इंदेण समप्पिउ वायरणु रसु भरहें वासें वित्थरणु ।
पिंगलेण छंद-पय-पत्थारु भम्मह-दंडिणिहिं अलंकारु ।
बाणेण समप्पिउ घणघणउ तं अक्खर डंबरु अप्पणउ ।
सिरिहरिसें णिय णिउणत्तणउ अवरेहिं मि कइहिं कइत्तणउ
छडणिय-दुवइ-धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय
जण-णयणाणंद जणेरियए आसीसए सव्वहु केरियए ।
पारंभिय पुणु हरिवंस-कहा स-समय-पर-समय-वियार-सहा
घत्ता—पुच्छइ मागहणाहु, भवजरमरण-वियारा
थिउ जिण-सासणु केम, कहि हरिवंस भडारा ॥२॥

अन्तिम अंश

इह-भारह-पुराणु सुपसिद्धउ णेमिचरिय-हरिवंसाइद्धउ ।
वीरजिणेसें भवियहो अक्खउ पच्छइं गोयमसामिण रक्खिउ
सोहम्में पुणु जंबूसामें विण्हुकुमारें दिगयणामें ।
णंदिमित्त अवराजियणाहे गोवद्धणेण सुभद्दवाहे ।
एम परंपराइं अणुलग्गउ आयरियह मुहाउ आवग्गउ ।
सुणि सखेवसुत्तु अवहारिउ विउसे सयंभे महि वित्थारिउ ।
पद्धडिया-छंदे सुमणोहरु भवियण-जण-मण-सवण-सुहंकरु ।
जमपरिसेसिकविहि जं सुण्णउत² तिहुवण-सयंभु किउ पुण्णउ ।
तासु पुत्ते पिउ-भरणिव्वाहिउ। य-जसु णिय-जसु भुवणे पसाहिउ
गय तिहुयणसयभु सुरठाणहो जं उव्वरिउ कि पि सुणियाणहो ।
तं जसकित्ति-मुणिणा उद्धरियउ णिएवि सुत्तु हरिवंसच्छुरियउ
णिय-गुरु-सिरि-गुणकित्ति-पसाएं किउ परिपुण्णु मणहो अणुराए
सरइसेणेदं³ (?) सेठि-आएसें कुमर-णयरि आविउ सविसेसें ।

२ बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनकी प्रतिमें यह एक चरण और आगेके तीन चरण अधिक हैं । इससे सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है । यह चारों चरण पूनेकी और प्रो० हीरालालजीकी प्रतिमें नहीं हैं । ३ बम्बईकी प्रतिमें यह और आगेकी पंक्ति नहीं है ।

गोवगिरिहे समीवे विमालए पणियारहे जिणवर-चेयालए।
सावयजणहो पुरउ वक्खाणिउ दिट्ठु मिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ
जं अमुणंते इह मई साहिउ तं सुयदेवि खमउ अवराहउ।
णंदउ सासणु सम्मइणाहहो णंदउ भवियण कय-उच्छाहहो
णंदउ णरवइ पय-पालंतहो णंदउ दयधम्मु वि अरहंतहो।
कालें वि य णिच्च परिसक्कउ कासु वि धणु कणु दितु ण थक्कउ
भद्दवमासि विणासिय-भवकलि हुउ परिपुण्णु चउद्दसि णिम्मलि
घत्ता—इय चउविह संघहं, विहुणिय-विग्घहं,
णिरणासिय-भव-जर-मरणु।
जसकित्ति-पयासणु, अखलिय-सासणु,
पयडउ संति सयंभु जिणु ॥ १७ ॥
इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभुएव-उव्वरिए।
तिहुवण-सयंभु-रइए समाणियं कण्हकित्तिहरिवंसं ॥
गुरु-पव्व-वासमयं सुयणाणाणुक्कमं जहाजायं।
सयमिक-दुद्दह-अहियं संधीओ परिसमत्ताओ ॥ संधि ११२ ॥

इति हरिवंशपुराणं समाप्तं।

हरिवंशकी सन्धियाँ

१ इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभुएवकए।
पढमो समुद्दविजयाहिसेयणामो इमो सग्गो ॥

६२ तेरह जाइवकंडे कुरुकंडेकूणवीससंधीओ,
तहसट्ठि जुज्झयकंडे एवं वाणउदि संधीओ ॥ १ ॥
सोमसुयस्स य वारे तइयादियहम्मि फग्गुणे रिक्खे,
सिउणामेण य जोए समाणियं जुज्झकंडं त्ति ॥ २ ॥
छव्वरिसाइं तिमासा एयारसवासरा सयंभुस्स,
वाणवइ-संधिकरणे वोलीणो इत्तिओ कालो ॥ ३ ॥
दियहाहिवस्सवारे दसमीदियहम्मि मूलणक्खत्ते,
एयारसम्मि चंदे उत्तरकंडं समाढत्तं ॥ ४ ॥
वरं तेजस्विनो मृत्युर्न मानपरिखण्डन।
मृत्युस्तत्क्षणकं दुःखं मानभंगो दिने दिने ॥ ५ ॥

६६ इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभु-कए कविराजधवल-विनिर्मिते श्री समवसरणकथनं नाम निन्याणवो संधिः ॥
काऊण पोमचरियं सुव्वय-चरियं च गुणगणप्पवियं।
हरिवंस-मोहहरणे सरस्सई सुट्ठिय-देह व्व ॥ छ ॥
इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयभुवएव-उव्वरिए।
तिहुवण-सयंभुमहाकइ-समाणिएसमसयरसंगामसउसोसग्गो॥

१०२ इय ··· ··· ·· ··· · ·· · · सयंभु-उव्वरिए
तिहुवण-सयंभु-महकइ-समाणिए कएइ-महिल-भत्तगहणमिणं
तिहुवणो जइ वि ण होतु णंदणो सिरिसयंभुएवस्स।
कव्वं कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ ॥

१०६ घत्ता-तेधरणा सउरणा के वि णग पालियसंजुमफेडिय-दुम्मइ
इह भवे जसकित्ति पवित्थरिवि हुंति सयंभुवणाहिवइ ॥
इय रिट्ठ ···सयंभुविरइए-णारायणमरण-पव्वमिणं ॥

१०७ घत्ता—सइंभुयएण विढत्तु धणु जिम विलासइजइ संत
तेम सुहासुह-कम्मडा भुंजिज्जहिं णिब्भंत ॥
इय रिट्ठ ·· ·· सयंभुएव-उव्वरिए।
तिहुवणसयंभु-रइए समाणियं सोयवलसहं ॥

१०८ णियमायणिरिणिगइयमहिविणासइयमुणियणियजसकित्तिजगि
जिणदिक्खहे कारणे दुक्खणिवारणे देउ सयंभुव थरंतिं मणि
इय रिट्ठ··· ···········सयंभुएव उव्वरिए।
तिहुयणसयंभुरइए हलहर-दिक्खासमं कहियं ॥
जरकुमररज्ज-लंभो, पंडवघरवास-सोहपरिचायं।
सय-अट्ठाइय संधी समाणिय एत्थ वरकइणा ॥

१०६ इयरिट्ठणेमिपुराणसंगहे धवलइयासियकइसयंभुएवउव्वरिए
तिहुयण-सयभुरइए समाणिय पंडुसुयहो भवं णवोहिय-सयं संधी
इह जसकित्ति-कएणं पव्वसुद्धरणा-वाय-एक्कसग्गं।
कइरायस्सुव्वरियं पयडत्थ अक्खिवय जइणा ॥ ६ ॥
त जीवंति य भुवणे सज्जण-गुण-गणहरा य भावत्था।
पर-कव्व कुलं वित्तं णिहडियं जे समुद्धरहि ॥ २ ॥

११० सव्वु सुयंगु णाणु जिण-आकखउ,
भव्वसहंतरि कि वि ण रक्खिउ।
णिय जसकित्ति तिलोए पयासिउ,
जिह सयंभु जिणे चिरु आहासिउ ॥
इय रिट्ठणेमचरिए धवलइयासिय-सयभुएव-उव्वरिए।
तिहुवण-सयंभुकइणा समाणिय दहमय सग्गं ॥
एक्को सयंभुमिउसो तहो पुत्तो णाम तिहुयण-सयंभू।
को वणिउं समत्थो पिउभरणिव्वहण-एक्कमणं ॥ १ ॥

१११ घत्ता—तेतीससइसवरिसि अमणं णिवडंति माणसे सुच्छ।
तेतिय पक्खुम्मासं जसकित्ति-विहासय-सरीरे ॥ छ ॥
इय-रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयभुएव उव्वरिए।
तिहुवण-सयभुरइए णेमिणिव्वाणं पंडुसुयनिएण ॥

---

१ यह पद्य भयंईकी प्रतिमें यहाँपर नहीं है।

जैन संस्कृतिका हृदय

(ले०—श्री पं० सुखलालजी संघवी)

संस्कृति एक ऐसे नदीके प्रवाहके समान है जो अपने प्रभवस्थानसे अन्त तकमें अनेक दूसरे छोटे मोटे जल-स्रोतोंसे मिश्रित; परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणोंसे भी युक्त होता रहता है और उद्गमस्थानमें पाये जाने वाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदिमें कुछ न कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलाने वाली संस्कृति भी उस संस्कृति सामान्यके नियमका अपवाद नहीं है। जिस संस्कृतिको आज हम जैन संस्कृतिके नामसे पहचानते हैं उसके सर्व प्रथम आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहिले पहल किस स्वरूपमें उद्गत हुई इसका पूरा पूरा सही वर्णन करना इतिहासकी सीमाके बाहर है। फिर भी उस पुरातन प्रवाहका जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन आधारोंके पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनोंके ऊपर विचार करते हुये हम जैन संस्कृतिका हृदय थोड़ा बहुत पहिचान पाते हैं।

जैन संस्कृतिके भी, दूसरी संस्कृतियोंकी तरह, दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृतिके अलावा दूसरे लोग भी आंख कान आदि बाह्य इन्द्रियोंसे जान सकते हैं। पर संस्कृतिका आन्तर स्वरूप ऐसा नहीं होता। क्योंकि किसी भी संस्कृतिके आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसीको होता है जो उसे अपने जीवनमें तन्मय करले। दूसरे लोग उसे जानना चाहें तो साक्षात् दर्शन कर नहीं सकते। पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन बितानेवाले पुरुष या पुरुषोंके जीवन व्यवहारोंसे तथा आस पासके वातावरण पर पड़ने वाले उनके असरोंसे वे किसी भी आन्तर संस्कृतिका अन्दाजा लगा सकते हैं। यहां मुझे मुख्यतया जैन संस्कृतिके उस आन्तर रूपका या हृदयका ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अनुमान पर ही निर्भर है।

जैन संस्कृतिके बाहरी स्वरूपमें अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूपकी तरह अनेक वस्तुओंका समावेश होता है। शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य; मूर्तिविधान, उपासनाके प्रकार, उसमें काम आनेवाले उपकरण तथा द्रव्य, समाजके खान पानके नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयोंका जैन समाजके साथ एक निराला सम्बन्ध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बातें बाह्य संस्कृतिकी अंग हैं। पर यह कोई नियम नहीं है कि जहां जहां और जब ये तथा ऐसे दूसरे अङ्ग मौजूद हों वहां और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिये। बाह्य अगोंके होते हुए भी कभी हृदय नहीं रहता और बाह्य अंगोंके अभावमें भी संस्कृतिका हृदय संभव है। इस दृष्टिको सामने रखकर विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति भली भांति समझ सकेगा कि जैन संस्कृतिका हृदय, जिसका वर्णन मैं यहां करने जारहा हूँ वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलाने वाले व्यक्तियोंमें ही संभव है ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें जैन समझते हैं, या जो अपनेको जैन कहते हैं, उनमें अगर आन्तरिक योग्यता न हो तो वह हृदय संभव नहीं और जैन नहीं कहलाने वाले व्यक्तियोंमें भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय संभव है। इस तरह जब संस्कृतिका बाह्यरूप समाज तक ही सीमित होनेके कारण अन्य समाजमें सुलभ नहीं होता तब संस्कृतिके हृदय उस समाजके अनुयायिओंकी तरह इतर समाजके अनुयायिओंमें भी—संभव होता है। सच तो यह है कि संस्कृतिका हृदय या उसकी आत्मा

इतनी व्यापक और स्वतंत्र होती है कि उसे देश, काल जात-पाँत, भाषा और रीति-रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बाँध सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जैनसंस्कृति का हृदय क्या चीज है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्तक धर्म जैन संस्कृतिकी आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात पुनर्जन्मके चक्रका नाश कराने वाला हो या उस निवृत्तिके साधनरूपसे जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझनेके लिये हमें प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्मस्वरूपोंके बारेमें थोड़ासा विचार करना होगा।

इस समय जितने भी धर्म दुनियामें जीवित हैं या जिनका थोड़ा बहुत इतिहास मिलता है, उन सब के आन्तरिक स्वरूपका अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागोंमें विभाजित होता है। पहला वह है, जो मौजूदा जन्मका ही विचार करता है। दूसरा वह है जो मौजूदा जन्मके अलावा जन्मान्तरका भी विचार करता है। तीसरा वह है जो जन्म-जन्मान्तरके उपरान्त उसके नाशका या उच्छेदका भी विचार करता है।

आजकी तरह बहुत पुराने समयमें भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवनमें प्राप्त होने वाले सुखके उस पार किसी अन्य सुखकी कल्पनासे न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनोंकी खोजमें समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवनका सुखभोग ही था। और वे इसी ध्येयकी पूर्तिके लिये सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक हैं और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नहीं सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्मका अर्थ हमारी सन्ततिका चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा बुरा करेंगे उसका फल इस जन्मके बाद भोगनेके वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे कियेका फल हमारी सन्तान या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करने वाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रोंमें भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। यही वर्ग कभी आगे जाकर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्गकी दृष्टिमें साध्य पुरुषार्थ एक काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधनरूपसे वह वर्ग धर्मकी कल्पना नहीं करता या धर्म नामसे तरह तरहके विधिविधानों पर विचार नहीं करता। अतएव इस वर्गको एकमात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभय पुरुषार्थी कह सकते हैं।

दूसरा विचारकवर्ग शारीरिक जीवनगत सुखको साध्य तो मानता है पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्ममें सुख सम्भव है वैसे ही प्राणी मरकर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्म-जन्मान्तरमें शारीरिक मानसिक सुखोंके प्रकर्ष अपकर्षकी शृङ्खला चालू रहती है। जैसे इस जन्ममें वैसे ही जन्मान्तरमें भी हमें सुखी होना हो, या अधिक सुख पाना हो, तो इसके वास्ते हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हों पर जन्मान्तरके उच्च और उच्चतर सुखके लिये हमे धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसा विचार-सरणी वाले लोग तरह तरहके धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तरके उच्च सुख पानेकी श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म–जन्मान्तरमें अधिकाधिक सुख पानेकी तथा प्राप्त सुखको अधिकसे अधिक समय तक स्थिर रखनेकी होनेसे उसके धर्मानुष्ठानोंको प्रवर्तक धर्म कहा गया है। प्रवर्तक धर्मका संक्षेपमें सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्यबद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी अपनी स्थिति और कक्षामें सुखलाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तरकी तैयारी करे जिससे दूसरे जन्ममें भी वह वर्तमान जन्मकी अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा सके। प्रवर्तक धर्मका उद्देश्य समाज व्यवस्थाके साथ साथ जन्मान्तर का सुधार करना है, न कि जन्मान्तरका उच्छेद।

प्रवर्तक धर्मके अनुसार काम अर्थ और धर्म तीन पुरुषार्थ हैं। उनमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थकी कोई कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य जो अवस्ताको धर्मग्रंथ मानते थे और प्राचीन वैदिक आर्य जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेद भागको ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक धर्मके अनुयायी हैं। आगे जाकर वैदिक दर्शनोंमें जो मीमांमासादर्शन नामसे कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक धर्मका जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक धर्मका बिलकुल विरोधी है। जो विचारक इस लोकके उपरांत लोकान्तर और जन्मान्तर माननेके साथ उस जन्म-चक्रको धारण करनेवाली आत्माको प्रवर्तक धर्मवादियोंकी तरह तो मानते ही थे; पर साथ ही वे जन्मान्तरमें प्राप्त उच्च उच्चतर और चिरस्थायी सुखसे संतुष्ट न थे। उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तरमें कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, वह कितने ही दीर्घकाल तक क्यों न स्थिर रहे पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश होनेवाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अन्तमें निकृष्ट सुखकी कोटिका होनेसे उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुखकी खोजमें थे जो एक बार प्राप्त होनेके बाद कभी नष्ट न हो। इस खोजकी सूझने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ माननेके लिए बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्माकी स्थिति संभव है जिसे पानेके बाद फिर कभी जन्मजन्मातर या देह-धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्माकी उस स्थितिको मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानोंसे इस लोक तथा परलोकके उत्कृष्ट सुखोंके लिये प्रयत्न करते थे उस धार्मिक अनुष्ठानोंको निवर्तक धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्तिके लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते बल्कि वे उन्हें मोक्ष पानेमें बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानोंको आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टिमें पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर होनेसे प्रवर्तक धर्मानुयायिओंके लिए जो उपादेय वही निवर्तक धर्मानुयायिओंके लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्षके लिए प्रवर्तक धर्म बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियोंको अपने साध्य मोक्ष पुरुषार्थके उपाय रूपसे किसी सुनिश्चित मार्गकी खोज करना भी अनिवार्य रूपसे प्राप्त था। इस खोजकी सूझने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एकमात्र साधककी अपनी विचारशुद्धि और वर्तनशुद्धिपर अवलम्बित था। यही विचार और वर्तनकी आत्यन्तिक शुद्धिका मार्ग निवर्तक धर्मके नामसे या मोक्षमार्ग नामसे प्रसिद्ध हुआ।

हम जब भारतीय संस्कृतिके विचित्र और विविध तानेबानेकी जांच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादि-दर्शनोंमें कर्मकाण्डी मीमांसकके अलावा सभी निवर्तक धर्मवादी हैं। अवैदिक माने जाने वाले बौद्ध और जैनदर्शनकी संस्कृति तो मूलमें निवर्तक धर्मस्वरूप है ही पर वैदिक समझे जाने वाले न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शनका आत्मा भी निवर्तक धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक सभी निवर्तक धर्म प्रवर्तक धर्मको या यज्ञयागादि अनुष्ठानोंको अन्तमें हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक् ज्ञान या आत्मज्ञानको तथा आत्मज्ञान-मूलक अनासक्त जीवन-व्यवहारको उपादेय मानते हैं। एवं उसीके द्वारा पुनर्जन्मके चक्रसे छुट्टी पाना सभव बतलाते हैं।

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाजमें रहकर ही सामाजिक कर्तव्य जो ऐहिक जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं और धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्मसे ही ऋषि-ऋण अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बन्धनोंसे आबद्ध है। व्यक्तिको सामाजिक और धार्मिक कर्तव्योंका पालन करके अपनी कृपण इच्छाका संशोधन करना इष्ट है। पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य है और न इष्ट। प्रवर्तक धर्मके अनुसार प्रत्येक

व्यक्तिके लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है। उसे लांघकर कोई विकास कर नहीं सकता। जबकि निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कट वृत्ति से उत्पन्न होनेके कारण जिज्ञासुको आत्मा तत्त्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्यके साथ कैसा सम्बन्ध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन किन उपायोंसे संभव है, इत्यादि प्रश्नोंकी ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं है कि जो एकान्त चिंतन ध्यान, तप और असंगतिपूर्ण जीवनके सिवाय सुलझ सके। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियोंके लिए ही संभव हो सकता है। उसका समाजगामी होना संभव नहीं। इस कारण प्रवर्तक धर्मका अपेक्षा निवर्तक धर्मका क्षेत्र शुरूमें बहुत परिमित रहा। निवर्तक धर्मके लिए गृहस्थाश्रमका बन्धन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम बिना किए भी व्यक्तिको सबत्यागकी अनुमति देता है। क्योंकि उसका आधार इच्छाका संशोधन नहीं पर उसका निरोध है। अतएव वह प्रवर्तक धर्म सम्मत सामाजिक और धार्मिक कर्तव्योंसे बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्तिके लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्म-साक्षात्कारका और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छाके नाशका प्रयत्न करे।

जान पड़ता है इस देशमें जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले पहल आए तब भी कहीं न कहीं इस देशमें निवर्तक धर्म एक या दूसरे रूपमें प्रचलित था। शुरूमें इन दो धर्म संस्थाओंके विचारो में पर्याप्त संघर्ष रहा। पर निवर्तक धर्मके इने-गिने सच्चे अनुगामिओंकी तपस्या, ध्यान प्रणाली और असंगचर्याका साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे धीरे बढ़ रहा था उसने प्रवर्तक धर्मके कुछ अनुगामियोंको भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक धर्मकी संस्थाओंका अनेक रूपमें विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावकारी फल अन्तमें यह हुआ कि प्रवर्तक धर्मके आधार रूप जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थानमें प्रवर्तक धर्मके पुरस्कर्ताओंने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमोंको जीवनमें स्थान दिया। निवर्तक धर्मकी अनेक संस्थाओंके बढ़ते हुए जनव्यापी प्रभावके कारण अन्तमें तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणोंने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रमके बाद जैसे संन्यास न्याय-प्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रमसे प्रव्रज्यामार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक धर्मका जीवनमें समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा-जीवनमें आज भी देखते हैं।

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक धर्मके अनुयायी ब्राह्मणो के वंशज होकर भी निवर्तक धर्मको पूरे तौरसे अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवनमें निवर्तक धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैतृक संपत्तिरूप प्रवर्तक धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्याय-वैशेषिक दर्शनके और औपनिषद दर्शनके आद्यद्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक धर्मके कोई कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्म साक्षात्कार के बाधक क्रियाकाण्डका तो आत्यंतिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्डकी आधारभूत श्रुतिका सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तिओंमें सांख्य दर्शनके आदि-पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूलमें सांख्य-योगदर्शन प्रवर्तक धर्मका विरोधी होनेपर भी अन्तमें वैदिक दर्शनोंमें समा गया।

समन्वयकी ऐसी प्रक्रिया इस देशमें शताब्दिओं तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने अपने प्रवर्तक या निवर्तक धर्मके अलावा दूसरे पक्षको न मानते थे और न युक्त बतलाते थे। भगवान महावीर और बुद्धके पहिले भी ऐसे अनेक निवर्तक धर्मके पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्धके समयमें तो इस देशमें निवर्तक धर्मकी पोषक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक धर्म का उग्रतासे विरोध करती थीं। अब तक नीचसे ऊँच तक के वर्गोंमें निवर्तक धर्म की छायामें विकास पाने

वाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारोंका इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समयमें प्रवर्तक और निवर्तक धर्मके बीच प्रबल विरोधकी लहर उठी जिसका सबूत हम जैन-बौद्ध-वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मयमें पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे पक्के विचारक और दृढ़ थे कि जिन्होंने किसी भी तरहसे अपने निवर्तक धर्ममें प्रवर्तक धर्मके आधारभूत मन्तव्यों और शास्त्रोंको आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही कट्टर निवर्तक धर्मी थे। अतएव हम देखते हैं कि पहिले से आज तक जैन और बौद्ध संप्रदायमें अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मयमें वेदके प्रामाण्य स्थापनका न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मण ग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्डको मान्य रक्खा।

शताब्दियों ही नहीं बल्कि सहस्राब्दि पहलेसे लेकर जो धीरे धीरे निवर्तक धर्मके अंग प्रत्यंग रूप से अनेक मन्तव्यों और आचारोंका महावीर बुद्ध तक के समयमें विकास हो चुका था वे संक्षेपमें ये हैं: १—आत्मशुद्धि ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पदका महत्त्व। २—इस उद्देश्यकी पूर्तिमें बाधक आध्यात्मिक मोह—अविद्या और तज्जन्य तृष्णाका मूलोच्छेद करना। ३—इसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहारको पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके वास्ते शारीरिक, मानसिक, वाचिक, विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकारके ध्यान-योग-मार्गका अनुसरण और तीन चार या पांच महाव्रतोंका यावज्जीवन अनुष्ठान। ४—किसी भी आध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्यके द्वारा किसी भी भाषामें कहे गये आध्यात्मिक वर्णन वाले वचनोंको ही प्रमाणरूपसे मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूपसे स्वीकृत किसी खास भाषामें रचित ग्रन्थोंको। ५—योग्यता और गुरुपदकी कसौटी एकमात्र जीवनकी आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्मसिद्ध वर्णविशेष। इस दृष्टिसे स्त्री और शूद्र तकका धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुषका। ६—मद्य मांस आदिका धार्मिक और सामाजिक जीवनमें निषेध। ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक धर्मके आचारों और विचारोंसे जुदा पड़ते थे वे देशमें जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

कमोबेश उक्त लक्षणोंको धारण करने वाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायोंमें एक ऐसा पुराना निवर्तकधर्मी सम्प्रदाय था जो महावीरके पहिले बहुत शताब्दिओंसे अपने खास ढंगसे विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदायमें पहिले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे, या वे उस सम्प्रदायमें मान्य पुरुष बन चुके थे। उस सम्प्रदायके समय समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदायके लिए व्यवहृत होते थे पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदायके मुखिया बने तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नामसे विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक धर्मानुयायी पन्थोंमें ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुये व्यक्तिके वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूपसे प्रयुक्त होता था। फिर भी भगवान महावीरके समयमें और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नामसे व्यवहृत नहीं होता था। आज 'जैन' शब्दसे महावीरपोषित सम्प्रदायके त्यागी, गृहस्थ सभी अनुयायिओंका जो बोध होता है इसके लिये पहिले निग्गन्थी और समणोवासग आदि जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदायमें ऊपर सूचित निवृत्ति धर्मके सब लक्षण बहुधा थे, हाँ पर इसमें ऋषभ आदि पूर्व कालीन त्यागी महापुरुषोंके द्वारा तथा अन्तमें ज्ञातपुत्र महावीरके द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी बड़ी अनेक विशेषताएं आई थीं व स्थिर हो गई थी कि जिनसे ज्ञातपुत्र महावीर-पोषित यह सम्प्रदाय दूसरे निवृत्तिगामी संप्रदायोंसे खास

जुदारूप धारण किये हुये था। यहां तक कि यह जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदायसे भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन ही थे बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेशमें विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयाइयोंको एक ही भाषामें उपदेश करते थे। दोनोंके मुख्य उद्देश्यमें कोई अन्तर नहीं था। फिर भी महावीर-पोषित और बुद्धसंचालित सम्प्रदायोंमें शुरूसे ही खासा अन्तर रहा जो ज्ञातव्य है। बौद्ध संप्रदाय बुद्धको ही आदर्श रूपमें पूजता है तथा बुद्धके ही उपदेशोंका आदर करता है जब कि जैन सम्प्रदाय महावीर आदिको इष्टदेव मान कर उन्हींके वचनोंको मान्य रखता है। बौद्ध चित्तशुद्धिके लिये ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं उतना जोर बाह्य तप और देहदमन पर नहीं। जैन ध्यान और मानसिक सयमके अलावा देहदमन पर भी अधिक जोर देते रहे हैं। बुद्धका जीवन जितना लोकोंमें हिलने-मिलने वाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधे-सादे लोक-सेवागामी हैं वैसा महावीरका जीवन तथा उपदेश नहीं हैं। बौद्ध अनगारकी बाह्यचर्या उतनी नियन्त्रित नहीं रही जितनी जैन अनगारोंकी। इसके सिवाय और भी अनेक विशेषताएँ है जिनके कारण बौद्ध सम्प्रदाय भारतके समुद्र और पर्वतोंकी सीमा लाँघकर उस पुराने समयमें भी अनेक भिन्न भिन्न भाषाभाषी सभ्य असभ्य जातियोंमें दूर दूर तक फैला और करोड़ों अभारतीयोंने भी बौद्ध आचार-विचारको अपने अपने ढगसे अपनी अपनी भाषामें उतारा व अपनाया जब कि जैन सम्प्रदायके विषयमें ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि जैन सम्प्रदायने भारतके बाहर स्थान नहीं जमाया फिर भी वह भारतके दूरवर्ती सब भागोंमें धीरे धीरे न केवल फैल ही गया बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओंकी छाप प्रायः भारतके सभी भागोंपर थोड़ी बहुत जरूर डाली। जैसे जैसे जैन सम्प्रदाय पूर्वसे उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिणकी ओर फैलता गया वैसे वैसे उस प्रवर्तक धर्मवाले तथा निवृत्तिपंथी अन्य सम्प्रदायोंके साथ थोड़े बहुत संघर्षमें भी आना पड़ा। इस सघर्षमें कभी तो जैन आचार विचारोंका असर दूसरे सम्प्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे सम्प्रदायोंके आचार-विचारोंका असर जैन सम्प्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया किसी एक ही समयमें या एक ही प्रदेशमें किसी एक ही व्यक्तिके द्वारा सम्पन्न नहीं हुई। बल्कि दृश्य-अदृश्य-रूपमें हजारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अन्तमें सम्प्रदाय और दूसरे भारतीय अभारतीय सभी धर्म सम्प्रदायों का एक स्थायी सहिष्णुता पूर्ण समन्वय सिद्ध हो गया है जैसा कि एक कुटुम्बके भाइयोंमें होकर रहता है। इस पीढ़ियोंके समन्वयके कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौनसी बात मौलिक है और कौनसी दूसरोंके संसर्गका परिणाम है। जैन आचार-विचारका जो असर दूसरों पर पड़ा है उसका दिग्दर्शन करानेके पहिले दूसरे सम्प्रदायोंके आचार विचारका जैन मार्ग पर जो असर पड़ा है उसे संक्षेपमें बतलाना ठीक होगा, जिससे कि जैन संस्कृतिका हार्द सरलतासे समझा जा सके।

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियोंकी स्तुति उपासनाके स्थानमें जैनोंका आदर्श निष्कलंक मनुष्य की उपासना। पर जैन आचार-विचारमें वे बहिष्कृत देव देवियां, पुनः गौणरूपसे ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा घुस ही गई, जिसका कि जैन संस्कृतिके साथ कोई भी मेल नहीं है। जैन परम्पराने उपासनामें प्रतीकरूपसे मनुष्यमूर्तिको स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्यके साथ सगत है,पर साथ ही उसके आस पास शृंगार व आडम्बरका इतना संभार आ गया जो कि निवृत्तिके लक्ष्यके साथ बिलकुल असंगत है। स्त्री और शूद्रको आध्यात्मिक समानताके नाते ऊँचा उठाने का तथा समाजमें समान स्थान दिलानेका जो जैन संस्कृतिका उद्देश्य रहा वह यहां तक लुप्त होगया कि न केवल उसने शूद्रोंको अपनानेकी क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण धर्म-प्रसिद्ध ज्ञाति और जातिकी दीवारें भी खड़ी कीं। यहां तक कि जहां

ब्राह्मण परंपराका प्राधान्य रहा वहां तो उसने अपने घेरेमेंसे भी शूद्र कहलानेवाले लोगोंको अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरूमें जैन संस्कृति जिस जाति-भेदका विरोध करनेमें गौरव समझती थी उसने दक्षिण जैसे देशोंमें नये जाति-भेदकी सृष्टि कर दी तथा स्त्रियोंको पूर्ण आध्यात्मिक योग्यताके लिये असमर्थ करार दिया, जोकि स्पष्टतः कट्टर ब्राह्मण परंपराका ही असर है। मन्त्र-ज्योतिष आदि विद्याएं जिनका जैन संस्कृतिके ध्येयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं वे भी जैन संस्कृतिमें आईं। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करने वाले अनगारों तकने उन विद्याओंको अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंका मूलमें जैन संस्कृतिके साथ कोई सम्बन्ध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तानमें मध्यकालमें जैन संस्कृतिका एक अङ्ग बन गये और इसके लिये ब्राह्मण परम्पराकी तरह जैन परम्परामें भी एक पुरोहितवर्ग कायम हो गया। यज्ञयागादिकी ठीक नक़ल करनेवाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियोंमें आ गये। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी मोटी बातें इसलिये घटीं कि जैन संस्कृतिको उन साधारण अनुयायिओं की रक्षा करनी थी जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायोंमें से आकर उसमें शरीक होते थे, या दूसरे सम्प्रदायोंके आचार-विचारोंसे अपनेको बचा न सकते थे। अब हम थोड़ेमें यह भी देखेंगे कि जैन संस्कृतिका दूसरों पर क्या खास असर पड़ा।

यों तो सिद्धांततः सर्वभूतदयाको सभी मानते हैं पर प्राणिरक्षाके ऊपर जितना जोर जैन परम्पराने दिया, जितनी लगनसे उसने इस विषयमें काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युगमें यह रहा है कि जहां जहां और जब जब जैन लोगोंका एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा वहां सर्वत्र आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहां तक कि भारतके अनेक भागोंमें अपनेको अजैन कहनेवाले तथा जैन विरोधी समझने वाले साधारण लोग भी जीवमात्रकी हिंसासे नफ़रत करने लगे हैं। अहिंसाके इस सामान्य संस्कारके ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परम्पराओंके आचार-विचार पुरानी वैदिक परम्परासे बिलकुल जुदा हो गए हैं। तपस्याके बारेमें भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्याके ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं। इसका फल पड़ौसी समाजोंपर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूपसे अनेकविध सात्विक तपस्याएँ अपना ली हैं। और सामान्यरूपसे साधारण जनता जैनोंकी तपस्याकी ओर आदरशील रही है। यहाँ तक कि अनेकबार मुसलमान सम्राट् तथा दूसरे समर्थ अधिकारियोंने तपस्यासे आकृष्ट होकर जैन संप्रदायका बहुमान ही नहीं किया बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं। मद्यमांस आदि सात व्यसनोंको रोकने तथा उन्हें घटानेके लिये जैनवर्गने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसन सेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालनेमें समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पूरे बलसे इस सुसंस्कारके लिये प्रयत्न करते रहे पर जैनोंका प्रयत्न इस दिशामें आज तक जारी है और जहां जैनोंका प्रभाव ठीक ठीक है वहां इस स्वैरविहारके स्वतंत्र युगमें भी मुसलमान और दूसरे मांसभक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मांस-मद्य का उपयोग करनेमें सकुचाते हैं। लोकमान्य तिलकने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तोंमें जो प्राणिरक्षा और निर्मांस भोजनका आग्रह है वह जैन परम्पराका ही प्रभाव है। जैन-विचार-सरणिका एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तुका विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणोंसे करना और विवादास्पद विषयमें बिलकुल अपने विरोधी पक्षके अभिप्रायको भी उतनी ही सहानुभूतिसे समझनेका प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्षकी ओर हो। और अन्तमें समन्वय पर ही जीवन व्यवहारका फैसला करना। यों तो यह सिद्धान्त सभी विचारकोंके जीवनमें एक या दूसरे रूपसे काम करता ही रहता है। इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शांतिलाभ कर सकता है। पर जैन विचारकोंने उस सिद्धांतकी इतनी अधिक चर्चा की

है और उसपर इतना अधिक जोर दिया है कि जिससे कट्टरसे कट्टर विरोधी सम्प्रदायोंको भी कुछ न कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुजका विशिष्टाद्वैत उपनिषद्की भूमिकाके ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है।

जैन संस्कृतिके हृदयको समझनेके लिये हमें थोड़ेसे उन आदर्शोंका परिचय करना होगा जो पहिले से आजतक जैन परम्परामें एकसे मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सबसे पुराना आदर्श जैन परम्परा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवारका है। ऋषभदेवने अपने जीवनका बहुत बड़ा भाग उन जवाबदेहियोंको बुद्धिपूर्वक अदा करनेमें बिताया जो प्रजापालनकी जिम्मेवारीके साथ उनपर आ पड़ी थी। उन्होंने उस समय के बिलकुल अपढ़ लोगोंको लिखना पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धन्धा न जानने वाले वनचरोंको उन्होंने खेती बाड़ी तथा बढ़ई, कुम्हार आदिके जीवनोपयोगी धन्धे सिखाए, आपसमें कैसे बरतना, कैसे समाज नियमोंका पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासनकी सब जवाबदेहियोंका निबाह लेगा तब उसे राज्य-भार सौंपकर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नोंकी छानबीनके लिये उत्कट तपस्वी होकर घरसे निकल पड़े।

ऋषभदेवकी दो पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थीं। उस जमानेमें भाई-बहनके बीच शादीकी प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरीने इस प्रथाका विरोध करके अपनी सौम्य तपस्यासे भाई भरतपर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरतने न केवल सुन्दरीके साथ विवाह करनेका विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेदके यमसूक्तमें भाई यमने भगिनी यमीकी लग्न मांगको अस्वीकार किया जब कि भगिनी सुन्दरीने भाई भरतकी लग्न मांगको तपस्यामें परिणत कर दिया और फलतः भाई-बहनके लग्नकी प्रतिष्ठित प्रथा नामशेष हो गई।

ऋषभके भरत और बाहुबली नामक पुत्रोंमें राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अन्तमें द्वन्द्व युद्धका फैसला हुआ। भरतका प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबलीकी बारी आई और समर्थतर बाहुबलीको जान पड़ा कि मेरे मुष्टिप्रहारसे भरतकी अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुख क्षणको आत्मविजयमें बदल दिया। उसने यह सोच कर कि राज्यके निमित्त लड़ाईमें विजय पाने और फिर वैर प्रति वैर तथा कुटुम्ब-कलहके बीज बोनेकी अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा-जयमें ही है। उसने अपने बाहुबलका क्रोध और अभिमान पर ही चलाया और अवैरसे वैरके प्रतिकारका जीवन-दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्तमें भरतका भी लोभ तथा गर्व खर्व हुआ।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियोंमें ही नहीं पर सभी वर्गोंमें मांस खानेकी प्रथा थी। नित्य-प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठानके अवसरों पर पशु-पक्षियोंका वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलोंका चढ़ना। उस युगमें यदुनन्दननेमि कुमारने एक अजीब क़दम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजनके वास्ते कतल किए जाने वाले निर्दोष पशु-पक्षियोंकी आर्तमूक वाणीसे सहसा पिघल कर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियोंका वध होता हो। उस गम्भीर निश्चयके साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारातसे शीघ्र वापिस लौट आये। द्वारकासे सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवयमें राजपुत्रीका त्याग और ध्यान-तपस्याका मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर प्रचलित पशु-पक्षी वध की प्रथा पर आत्म-दृष्टान्तसे इतना सख्त प्रहार किया कि जिससे गुजरात भरमें और गुजरातके प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तोंमें भी वह प्रथा नामशेष हो गई और जगह जगह आज तक चली आने वाली पिंजरापोलोंकी लोकप्रिय संस्थाओंमें परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथका जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उसके अनुयाइयोंकी नाराज़गीका खतरा उठा कर भी एक जलते सांपको गीली लकड़ीसे बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ है कि आज भी जैन प्रभाववाले क्षेत्रोंमें कोई सांप तकको नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीरने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्तिकी पूरी साधनाका ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगलमें वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हें डस लिया, उस समय वे न केवल ध्यानमें अचल ही रहे बल्कि उन्होंने मैत्री भावनाका उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः" इस योगसूत्रका जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्योंमें होने वाली हिंसाको तो रोकनेका भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शोंसे जैनसंस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयोंके बीच भी उसने अपने आदर्शोंके हृदयको किसी न किसी तरह संभालनेका प्रयत्न किया है, जो भारतके धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहासमें जीवित है। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री तथा व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन संस्कृतिके अहिंसा, तप और संयमके आदर्शों का अपने ढंगसे प्रचार किया।

संस्कृतिमात्रका उद्देश्य है मानवताकी भलाईकी ओर आगे बढ़ना। यह उद्देश्य तभी वह साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्रकी भलाईमें योग देनेकी ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृतिके बाह्य अंग केवल अभ्युदयके समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृतिके हृदयकी बात जुदा है। समय आफतका हो या अभ्युदयका, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक सी बनी रहती है। कोई भी संस्कृति केवल अपने इतिहास और पुरानी यशगाथाओं केसहारे न जीवित रह सकती है और न प्रतिष्ठा पा सकती है। जब तक कि वह भावी निर्माणमें योग न दे। इस दृष्टिसे भी जैन संस्कृति पर विचार करना संगत है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह संस्कृति मूलतः निवृत्ति अर्थात् पुनर्जन्मसे छुटकारा पानेकी दृष्टिसे आविर्भूत हुई। इसका आचार-विचारका सारा ढांचा उसी लक्ष्यके अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिरमें वह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही। उसने एक विशिष्ट समाजका रूप धारण किया। समाज कोई भी हो वह एकमात्र निवृत्तिकी भूलभुलैयों पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्तिको न माननेवाले और सिर्फ प्रवृत्तिचक्रका ही महत्व मानने वाले आखीरमें उस प्रवृत्तिके तूफान और आंधीमें ही फंसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्तिका आश्रय बिना लिये निवृत्ति भी हवाका किला ही बन जाती है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव कल्याणके सिक्केके दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और अकल्याणसे तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक वह साथ ही साथ उसकी एवजमें सद्गुणोंकी पुष्टि और कल्याणमय प्रवृत्तिमें बल न लगावे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और कुपथ्यसे निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता। उसे साथ ही साथ पथ्य सेवन करना चाहिये। शरीरसे दूषित रक्तको निकाल डालना जीवनके लिये अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमें नये रुधिरका संचार करना भी है।

ऋषभसे लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन संस्कृति भी जो किसी न किसी प्रकार जीवित रही है वह एकमात्र निवृत्तिके बलपर नहीं किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्तिके सहारे पर। यदि प्रवर्तक धर्मी ब्राह्मणोंने निवृत्तिमार्गके सुन्दर तत्वोंको अपनाकर व्यापक कल्याणकारी संस्कृतिका ऐसा निर्माण किया है जो गीता में उज्जीवित होकर आज नये उपयोगी स्वरूपमें गांधीजीके द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है तो निवृत्तिलक्षी जैन संस्कृतिको भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्तिओंका सहारा लेकर ही आजकी बदली हुई परिस्थितिमें जीना होगा। जैन संस्कृतिमें तत्त्वज्ञान और आचारके जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शोंको आज तक पूजती मानती आई है उनके आधार पर वह प्र[illegible] मंगलमय योग साध सकती है जो सबको क्षेमकर हो।

जैन परंपरामें प्रथम स्थान है त्यागियोंका, दूसरा स्थान है गृहस्थोंका। त्यागियोंको जो पांच महाव्रत

धारण करनेकी आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्‌गुणों में प्रवृत्ति करनेकी या सद्‌गुण-पोषक प्रवृत्तिके लिये बल पैदा करनेकी प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषोंसे बिना बचे सद्‌गुणोंमें प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, और सद्‌गुण-पोषक प्रवृत्तिको बिना जीवनमें स्थान दिये हिंसा आदिसे बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। इस देशमें जो लोग दूसरे निवृत्ति पंथोंकी तरह जैन पंथ में भी एक मात्र निवृत्तिकी ऐकान्तिक साधनाकी बात करते हैं वे उक्त सत्य भूल जाते हैं। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतोंको धारण करनेकी शक्ति नहीं रखता उसके लिये जैन परम्पराने अणुव्रतोंकी सृष्टि करके धीरे धीरे निवृत्तिकी ओर आगे बढ़नेका मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थोंके लिए हिंसा आदि दोषोंसे अंशतः बचनेका विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषोंसे बचनेका अभ्यास करे। पर साथ ही यह आदेश है कि जिस जिस दोषको वे दूर करें उस उस दोषके विरोधी सद्‌गुणोंको जीवनमें स्थान देते जांय। हिंसाको दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्यके सद्‌गुणको जीवनमें व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलनेका बल बिना पाये असत्यसे निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभसे बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी पोषक प्रवृत्तियोंमें अपने आपको खपाना ही होगा। इस बातको ध्यानमें रखकर जैन संस्कृतिपर यदि आज विचार किया जाय तो आज कलकी कसौटीमें जैनोंके लिये नीचे लिखी बातें फलित होती हैं:—

१—देशमें निरक्षरता, वहम और आलस्य व्याप्त हैं। जहां देखो वहां फूट ही फूट है। शराब और दूसरी नशीली चीजें जड़ पकड़ बैठी हैं। दुष्काल, अतिवृष्टि, परराज्य और युद्धके कारण मानव-जीवन का एकमात्र आधार पशुधन नामशेष हो रहा है। अतएव इस सम्बन्धमें विधायक प्रवृत्तियोंकी ओर सारे त्यागीवर्गका ध्यान जाना चाहिये, जो वर्ग कुटुम्ब के बन्धनोंसे बरी है, महावीरका आत्मौपम्यका उद्देश्य लेकर घरसे अलग हुआ है, और ऋषभदेव तथा नेमिनाथके आदर्शोंको जीवित रखना चाहता है।

२—देशमें गरीबी और बेकारीकी कोई सीमा नहीं है। खेती बारी और उद्योगधंधे अपने अस्तित्वके लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहसकी अपेक्षा कर रहे हैं। अतएव गृहस्थोंका यह धर्म हो जाता है कि वे संपत्तिका उपयोग तथा विनियोग राष्ट्रके लिए करें। वे गांधीजीके ट्रस्टीशिपके सिद्धान्तको अमलमें लावें। बुद्धिसंपन्न और साहसियोंका धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामोंमें लग जाएँ जो राष्ट्रके लिये विधायक हैं। कांग्रेसका जो विधायक कार्यक्रम कांग्रेसकी ओरसे रखा गया है इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है। असलमें वह कार्यक्रम जैन संस्कृतिका एक जीवन्त अङ्ग है। दलितों और अस्पृश्योंको भाई की तरह बिना अपनाए कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिकसे अधिक अहिंसाके नजदीक हैं और एकमात्र आत्मौपम्य एवं अपरिग्रह धर्मके पोषक हैं उनको उत्तेजना बिना दिए कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसाका उपासक हूँ? अतएव उपसंहारमें इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरों और शक्तिके अपव्ययकारी प्रसंगोंसे अपनी संस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोड़ कर उसके हृदयकी रक्षाका प्रयत्न करें, जिसमें हिन्दू और मुसलमानोंका ही क्या, सभी कौमोंका मेल भी निहित है।

संस्कृतिमात्रका संकेत लोभ और मोहको घटाने व निर्मूल करनेका है, न कि प्रवृत्तिको निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्तिके बिना कभी संभव ही नहीं, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाजका धारण, पोषण, विकसन करने वाली हैं वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी सम्भव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्रका संकेत करती है। जैन संस्कृति यदि संस्कृति सामान्यका अपवाद बने तो वह विकृत बन कर अन्तमें मिट जा सकती है।

(विश्ववाणीके 'जैनसंस्कृति अङ्कसे'—)

प्रेम-कसौटी

(ले०—श्री दौलतराम 'मित्र')

"प्रेम-पात्रके हित-साधनको, उसे त्याग कर सकनेमें—
और प्रसंग-कठिन पड़ने पर तन-धन-युत मर मिटनेमें—
हो न अगर पीड़ा-अनुभव, तो इसमें प्रेम सचोटी है।
उपादेय बस यही एक अति उत्तम प्रेम-कसौटी है॥"

यह मेरी एक तुकबंदी है। इसके आधार दो हैं—एक सिद्धान्त, दूसरा उदाहरण।

(१ सिद्धान्त)

श्री-बंकिमचन्द्र 'प्यारका अत्याचार' नामक लेखमें लिखते हैं:—

"मानलो कोई ग़रीब है। दैवके अनुग्रहसे उसे कोई अच्छी जगह मिलगई और वह दूर देश जाकर ग़रीबीसे पीछा छुड़ानेका उद्योग कर रहा है। इसी बीचमें माताने रोना-धोना मचा दिया। उसे अपनेसे दूर जानेके लिये मना किया। वह मातृ-प्रेमसे लाचार होकर रह गया। मातृ-प्रेमके अत्याचारसे उसने अपनेको सदाके लिये गरीबीके गढ़ेमे डाल दिया।'

'कह सकते हैं कि जिस माताने स्नेहवश पुत्रको धन कमानेके लिये परदेश नहीं जाने दिया, वह क्या स्वार्थ-पर है? बल्कि यदि वह स्वार्थपर होती तो पुत्रको धनकी खोजमें दूर देश जानेके लिये मना न करती; क्योंकि कौन माता पुत्रकी कमाईका सुख नहीं भोगना चाहती? अतएव इस प्रकारके दर्शन मात्रकी आकांक्षा रखने वाले स्नेहको बहुत लोग अस्वार्थपर स्नेह समझते हैं। किंतु वास्तवमें यह ख़याल ठीक नहीं है। यह स्नेह अस्वार्थपर नहीं है। जो लोग इसे अस्वार्थपर मानते हैं, वे केवल धन-परायणताको ही स्वार्थ-परता समझते हैं। जो धनकी कामना नहीं करता, उसे वे स्वार्थपरतासे शून्य समझते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि धन-लाभके अलावा पृथ्वीपर अन्यान्य सुख हैं और उसमेंसे किसी किसी सुखकी आकांक्षा धनकी आकांक्षासे अधिकतर वेगवाली है। जिस माताने धनका मोह त्यागकर पुत्र-मुख देखनेके सुखकी वासनासे पुत्रको सदाके लिये ग़रीब बना डाला, अथवा अपनी अवस्था सँभालनेका अवसर उसके हाथसे निकल जाने दिया, उसने भी अपना सुख खोया। वह धनका सुख नहीं चाहती, किन्तु पुत्रको सदा देखनेका सुख चाहती है। वह सुख माताका है, पुत्रका नहीं है। माताको देखनेसे अगर पुत्रको सुख हो तो हो, वह जुदी बात है, उसमें पुत्रकीप्रवृत्ति होनी चाहिये। माताने यहांपर अपना एक सुख ढूंढा—नित्य पुत्रका मुख देखना। उसकी अभिलाषा करके उसने पुत्रको दरिद्रताके दुखसे दुःखित बनाना चाहा। यहां मातास्वार्थपर है; क्योंकि उसने अपने सुखके लिये अन्यको दुखी किया।"

'स्नेहका यथार्थ स्वरूप ही अस्वार्थपरता है। जिस माताने पुत्रके सुखके लिये पुत्र मुखदर्शन-सुखकी कामना छोड़ दी, वही यथार्थ स्नेह करने वाली है। जो प्रणयी प्रणय-पात्रकी भलाईके लिये प्रणय-सुख-भोगको छोड़ सका वही सच्चा प्रणयी है।"(वंकिम-निबन्धावली, पृ०११०।१३)

(२ उदाहरण)

कथा है—"एक लड़का दूध पीता चोरी चला गया। अर्सेके बाद पता चला। दोनों माताओंमें झगड़ा पैदा हुआ। जननी माताने चोर-माता पर न्यायालयमें दावा दायर किया। दोनों तरफ़से सबूत पेश किए गए। न्यायाधीश किसी एक पक्षकी तरफ़ रहनेके लिए सन्तुष्ट न हो सके। वे बड़े विचार मे पड़े। आख़िर एक दिन उन्हें एक सूझ सूझी।

अदालतमें दोनों माताओं और लड़केको हाज़िर किया गया। झूठ-मूठ फ़ैसला सुनाया—'लेख और गवाह परसे मामला सशंकित है, दोनों पक्षोंमें जाता है। अतएव हुक्म दिया जाता है कि—लड़केके दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा दोनोंको बांट दिया जाय।"

अदालतमें सन्नाटा! श्रोताजन सकंप!! चोर माता संतुष्ट!!! असली माता चिल्ला उठी—'मुझे आधा नहीं चाहिये, पूरा इसे दे दो!!'

श्रोता जनोंकी कपकपी दूर हुई, मुँह खुले, तरह तरह की चर्चा करने लगे।

स्वतः सिद्ध हो गया, लड़केकी जननी—सच्चा प्रेम करने वाली—माता कौन है!

प्रेम-कसौटीपर परीक्षा हो गई! तब न्यायालयसे असली फ़ैसला हुआ—"जो माता लड़केके हितके लिए उसे और अपने स्वार्थको त्याग देनेको राज़ी है, वही सच्चा प्रेम करने वाली लड़केकी जननी है। लड़का उसके सुपुर्द कियाजाय।"

जैन जातियोंके प्राचीन इतिहासकी समस्या

(ले०—श्री अगरचन्द नाहटा)

जैन जातियोंका इतिहास जैन इतिहासकी एक जटिल समस्या है। वर्तमान समस्त जैनजातियें अपनेको पूर्णावस्थामें क्षत्रिय एवं जैनेतर बतलाती हैं और अमुक समयमें अमुक आचार्य द्वारा प्रतिबोधित कही जाती हैं, पर इसके विषयमें प्राचीन एवं समकालीन प्रमाणोंका सर्वथा अभाव नज़र आता है। समझमें नहीं आता कि प्राचीन जैन विद्वान जैन जातियोंके उत्पत्ति एवं इतिहासके सम्बन्धमें उदासीन क्यों रहे। जब कभी भी किसी जैनाचार्यने हजारों अजैनोंको जैन बनाया तो वह घटना एवं समय जैन इतिहासकी महत्वपूर्ण बात अवश्य थी फिर भी प्रतिबोधक आचार्यके शिष्योंने अपने गुरुके महत्वपूर्ण कार्यका उल्लेख क्यों नहीं किया और प्रभावक आचार्यके रूपमे उनका उल्लेख उन समकालीन या कुछ पश्चात्वर्ती विद्वानोंने भी उसका उल्लेख क्यों नहीं किया?

प्राचीन जैनागमोंको टटोलने पर वर्त्तमान किसी भी जैन जातिका कहीं नामरूपसे भी उल्लेख नहीं मिलता। उस समयके प्रसिद्ध गोत्र मेरे अन्वेषणानुसार निम्नोक्त हैं—

श्वेताम्बर जैनागम स्थानाङ्ग सूत्रके ७ वें स्थानके १८ वे सूत्रमें लिखा है कि:—

सत्त मूल गोत्ता पन्नत्ता तं जहा—

१ कासवा, २ गोयमा, ३ वत्था, ४ कोत्था, ५ कोसिया, ६ मंडवा, ७ वसिट्ठा।

१ जे कासवा से सत्तविहा पन्नत्ता तंजहाः—
ते कासवा, ते संडिल्ला, ते गोला, ते वाला, ते मुंजतिणो, ते पव्वतिणो, ते वरिसकण्हा।

२ जे गोयमा ते सत्तविहा पन्नत्ता तंजहाः—
ते गोयमा, ते गग्गा, ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदत्ताभा।

३ जे वत्था ते सत्तविहा पन्नत्ता तंजहाः—
ते वत्था, ते अग्गिया, ते मित्तिए, ते सामलिणो, ते सेलयया, ते अट्ठसेणो, ते वायकण्हा।

४ जे कोत्था ते सत्तविहा पन्नता तंजहाः—
ते कोत्था, ते मोग्गलायणा, ते पिंगायणा, ते कोडीणा, ते मंडलिणो, ते हारिया, ते सोमया।

५ जे कोसिया ते सत्तविहा पन्नत्ता तंजहाः—
ते कोसिया ते कच्चायणा, ते सालंकायणा, ते गोलिकायणा, ते पाक्खिकायणा, ते अग्गिच्चा, ते लोहिच्चा।

६ जे मंडवा ते सत्तविहा पन्नत्ता तं जहाः—
ते मंडवा, ते आरिट्ठा, ते संमुत्ता, तेहेरा ते एलावच्चा, ते कंडिल्ला, ते खारायणा।

७ ते वासिट्ठा ते सत्त विहा पन्नत्ता तंजहाः—
ते वासिट्ठा, ते उंजायणा, ते जारुकण्हा, ते वग्घावच्चा, ते कोडिन्ना, ते सन्नी, ते पारासरा।

अर्थात्:—मूलगोत्र ७ हैं १ कश्यप, २ गौतम, ३ वत्स, ४ कुत्स, ५ कौशिक, ६ मंडप और ७ वाशिष्ठ इनमेंसे प्रत्येकके ७-७ उपभेद हैं जो इस प्रकार हैं:—

१ कश्यप, सांडिल्य, गोल, वाल, मुंज, पर्वत, वर्षिकृष्ण
२ गौतम, गर्ग, भारद्वाज, अंगीरस, शर्कराभ, भास्कराभ, उदत्ताभ।
३ वत्स, अंगिय, मित्तिय, सामलीय, सेलवय, अस्थिसेन, वत्तुकृष्ण।
४ कुत्स, मौदगलायन पिंगलायन, कोडिन्न, मंडलीक, हारित, सोमय।
५ कौशिक, कात्यायन, शालकायन, गोलिकायन, पक्षिककायन, अग्नित्य, लोहित्य।
६ मंडप, अरिष्ट, संमुत्त, भेला, एलापत्य, कंतेल्ल, खायण।
७ वाशिष्ठ उंजायन, जारुकृष्ण, व्याघ्रापत्य, कोडिन्न, सन्नी, पाराशर।

यह १ प्रकारके कुलार्यो व ६ प्रकारके जाति आर्यका

उल्लेख इसी सूत्रमें इस प्रकार है:-

१ छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पन्नत्ता तं जहाः—

१ उग्गा २ भोगा ३ राइन्ना, इक्खागा, णाया, कोरवा।

अर्थात् कुलार्य ६ प्रकारके हैं—१ उग्र+ २ भोग ३ राजन्य ४ इक्ष्वाकु ५ ज्ञात* ६ कौरव।

(२) छव्विहा जरइ आरिया मणुस्सा पन्नत्ता तंजहाः— १ अंबट्ठाय, २ कलंदाय, ३ वेदेहा ४ वेदिगाइया ५ हरिया ६ चंचुणा।

अर्थात:—६ प्रकारके जाति आर्य ये हैं:-अंबस्ट, कलिंद, विदेह, विदेहगा, हरिता और चंचुया।

अब हमे देखना यह है कि इन गोत्र नामोंका उल्लेख कबसे कब तक पाया जाता है। और इनमेंसे कौनसे २ गोत्र प्रयुक्त रूपसे मिलते हैं—

आवश्यक सूत्रके ३८१ वीं गाथामें लिखा है कि २४ तीर्थंकरोंमेंसे १ मुनिसुव्रत २ अरिष्टनेमि गौतमगोत्रके थे अन्य सब काश्यप गोत्रके थे। चक्रवर्ती सब काश्यप गोत्रीय थे। वासुदेव बलदेवोंमें ८-८ तो गौतम गोत्रीय थे केवल लक्ष्मण और पउम (राम) दो कश्यप गोत्रीय थे। अर्थात ये गोत्र परम प्राचीनकालसे प्रवर्तित थे अब देखना यह है कि इनका सम्बन्ध जैनोंसे कब तक रहा और कौन कौनसे गोत्रोंके उल्लेख मिलते हैं।

वीरनिर्वाणसे ६८० अर्थात विक्रमके ५ वी शताब्दी तकके श्वेताम्बर जैन युगप्रधान आचार्यो व स्थविरोंकी नामावलि नंदी और कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें पाई जाती है उनमें उन सभी आचार्योंके गोत्र इस प्रकार बतलाये हैं —

१ गौतम, २ भारद्वाज, ३ अग्निवेश्यायन, ४ वाशिष्ट, ५ काश्यप, ६ हारितायन, ७ कौंडिन्य, ८ कात्यायन, ९ वत्स, १० तुङ्गियायन, ११ माढर, १२ प्राचीन, १३ ऐल्लापत्य, १४ व्याघ्रापत्य, १५ कुत्स, १६ कौशिक, १७ कोडाल, १८ उत्कौशिक, १९ सुव्रत (सावया) २०, हारित, २१ सांडिल्य, २२ जालंधर गोत्रीय भगवान महावीरकी माता देवनंदा थी। (कल्पसूत्र)

इससे स्पष्ट है कि ५ वीं शताब्दी तक तो इन्हीं गोत्रों का प्रचार था और वर्तमान जैन जातियोंका नामकरण इस समय तक नहीं हुआ था। उपलब्ध प्रमाणोंमें ११वीं शताब्दीके पहलेका एक भी उल्लेख अवलोकनमें नहीं आया जिसमे वर्तमान जैन जातियोंमेंसे किसी भी जातिका नाम निर्देश हो। १२वीं-१३वी शताब्दीकी कई महत्वपूर्ण प्रशस्तिये एवं शिलालेख मिलते हैं उनमें आई हुई वंशावलियोंकी पहुंच भी ६ वीं शताब्दी तक ही है अर्थात् उनमें आये हुए नामोंका विस्तार भी ६ वीं शताब्दी तक ही सीमित है। मुनि जिनविजयजी सम्पादित जैन पुस्तक प्रशस्तिसंग्रहकी (नं० ३५) सं० १३६५ की प्रशस्तिमें श्रीमाल वंशमें शांतिसूरि द्वारा प्रतिबोधित डीडू श्रावककारित नवहर मंदिरका समय सं० ७०४ बतलाया गया है यथा :—

"श्रीमालवंशोऽस्ति विशालकीर्तिः
श्रीशांतिसूरि प्रतिबोधित डीडयाख्यः।
श्रीविक्रमाद्वेदनभमहर्षि-वत्सरे,
श्रीआदिचैत्यकारापितनवहरे च (?)॥"

यद्यपि यह उल्लेख घटनाके बहुत पीछेका है अतः संवत पूरे रूपसे ग्राह्य नहीं माना जा सकता फिर भी यह उल्लेख अपना महत्व रखता है। इसी प्रकार जैनाचार्य आत्माराम शताब्दीस्मारक ग्रन्थमें श्रीमाली ज्ञातिकी एक वंशावलि प्रकाशित हुई है उसमें लिखा है कि "भारद्वाज-गोत्रे संवत् ७९५ वर्षे प्रतिबोधित श्री श्रीमालज्ञातियः श्रीशांतिनाथगोष्ठिकः श्रीभिन्नमालनगरे भारद्वाज-गोत्रे श्रेष्ठी तोज" इत्यादि उल्लेखोंको नजर तले रखते हुए एवं कतिपय भारतीय प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वानोंका भी यही मत है कि भारतकी बहुत-सी क्षत्रिय एवं वैश्य जातियोंका नामकरण ८ वी शताब्दीमें हुआ, कथन पर विचार करने पर वर्तमान जैन जातियोंका नामकरण-स्थापनाका समय भी ७-८ वीं शताब्दीके लगभग होना संभव है।※

+यह वंश अब भी बंगाल प्रान्तमें है।

*राहुलसांकृत्यायनके मतसे वर्तमान जथरिया जाति ही ज्ञात वंशज है।

※विशेष जाननेके लिये देखो मेरा 'ओसवाल जातिकी स्थापना सम्बन्धी प्राचीन प्रमाणोंकी परीक्षा" शीर्षक निबंध जो तरुण ओसवालके वर्ष २ अं० ६-७में प्रकाशित है।

अद्यावधि हमारे जैन विद्वानोंने जैन जातियोंके इतिहास का अन्वेषण कार्य बहुत ही कम किया है। इसमें भी श्वेताम्बर समाजसे कुछ एतत्सम्बन्धी सामग्री प्रकाशित तो हुई है पर दि० विद्वानोंका ध्यान तो अभी इस ओर गया ही नहीं कह सकते हैं। जैन जातियोंके इतिहासकी प्राचीन सामग्रीमें १ शिलालेख एवं २ प्रशस्तिसंग्रह घटनाके समकालीन लिखित होनेसे अधिक उपादेय हैं, दि० समाज की ओरसे शिलालेखसंग्रहका काम थोड़ा सा हुआ है और प्रशस्तिसंग्रहका कार्य तो उससे भी कम हुआ है, अतः इन दोनों महत्वपूर्ण कार्योंकी ओर दि० विद्वानोंको अतिशीघ्र ध्यान देना चाहिये। अन्यथा दि०जातियोंका इतिहास अंधकार में ही पड़ा रहेगा*। दि० समाजका परमावश्यक कर्त्तव्य है कि ४-५ विद्वान इसके लिये नियुक्त करें और वे स्थान स्थानमें भ्रमण कर प्रतिमालेखोंका संग्रह करें एवं हस्तलिखित ग्रन्थभंडारोंकी सूचीनिर्माणके साथ साथ ग्रन्थरचना एवं लेखनकी प्रशस्तियोंका संग्रह करें। आशा है मेरे नम्र निवेदन पर वह शीघ्र ध्यान देगी। और दि० ऐतिहासिक विद्वान जैन जातियोंके प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

*अग्रवाल और जायसवाल जाति दि० जैनोंकी भी है और जैनेतर समाजमें भी ये जातियें हैं उनमेंसे जायसवाल जाति का एक इतिहास दुर्गाशरणलाल जायसवालका देखा तो उसमें जायसवाल जातिकी उत्पत्ति जेसलमेरके भाटी जैसलसे बतलाई है जो सर्वथा भ्रमित है क्योंकि जैसलमेरकी स्थापना सं० १२१२ में हुई है और जायसवाल जातिका सं० ११४५ का दूबकुंडकार जैन शिलालेख उपलब्ध है। अर्थात् जैनशिलालेखों एवं प्रशस्तियोंकी खोजसे केवल जैनोंका ही हित है यह नहीं पर भारतीय इतिहासमें भी नया युगान्तर उपस्थित होगा।

मेंडकके विषयमें शंका-समाधान

(ले०—श्री दौलतराम 'मित्र')

अक्टोबर सन १९४० के अनेकान्तमें मैंने मेंडक के विषयमें एक शंका उपस्थित करते हुए यह आशा प्रकट की थी कि इसपर कोई सज्जन प्रकाश डालेंगे।

शंका सिर्फ इतनी-सी थी कि जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छन भी होते हैं, गर्भज भी होते हैं (गो० जी० गाथा ७९) परन्तु इनमें से मेंडक वर्गके प्राणी गर्भज हैं या सम्मूर्च्छन या दोनों ही प्रकार के? इसी लेखमें मेंडकके सम्मूर्च्छन होने के प्रमाण देकर फिर यह शंका उठाई थी कि अगर वह राजगृही वाला मेंडक सम्यक्दृष्टि था तो उसका गर्भज होना आवश्यक है (लब्धिसार गाथा २) परन्तु मेंडक तो सम्मूर्च्छन होते हैं, अतः राजगृही वाले मेंडककी कथा तिर्यञ्च भी भगवद्भक्तिके फलसे देव-गति प्राप्त कर सकता है, इस सत्यप्रयोजन पोषक होकर भी ऐतिहासिक नहीं किन्तु कल्पित जान पड़ती है?

इस शंकापर नीचे लिखे जवाब मेरे देखनेमें आये—

१ जैनमित्र २०-२-४१ श्री० नेमीचन्दजी सिघई इंजिनियर नागपुर।
२ जैनमित्र १०-२-४१ श्री० वीरचन्द कोदरजी गांधी फलटण।
३ अनेकान्त मई १९४१ श्री० नेमीचन्दजी सिघई इंजिनियर नागपुर।
४ जैनसंदेश १-१०-४२ श्री० पं० सुमेरचन्दजी "जत्रिनीपु", न्यायतीर्थ।

इन जवाबोंमें तीन महाशयोंने जो लिखा है सो देखिये—

१ श्री नेमीचन्दजी सिघई तो गर्भज सम्मूर्च्छनकी

चर्चा छोड़कर सैनी-असैनीकी चर्चा ले बैठे। और मेंडकको असैनी मान बैठे। (जैनमित्र)

२ श्री वीरचन्द कोदरजी गाँधीने नेमीचन्दजी सिंघई की इस मान्यताका कि मेंडक असैनी है, खंडन किया और ले देकर वही गोमट सारकी—

"इगिवण्णं इगविगले असण्णिसण्णितयजलथलखगाणं।
गब्भभवे सम्मुच्छे दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो॥"
(गो० जी० गा० ७१)

इस गाथाका हवाला देकर यही कहा कि मेंडक गर्भज और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकारके होते हैं।

आश्चर्य तो इस बात का है कि इन्होंने इस बात का ध्यान ही नहीं दिया कि गाथामें मेंडकका वर्णन नहीं किन्तु जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च सामान्यका वर्णन है। जलचरोंमें कई वर्गके प्राणी हैं, उनमें किसी वर्गके गर्भज किसी वर्गके सम्मूर्च्छन, और किसी वर्गके प्राणी दोनों प्रकारके हो सकते हैं।

जैसा कि मैंने हर तरहसे सिद्ध किया था कि मेंडक वर्गके प्राणी सम्मूर्च्छन होते हैं, वैसा गांधी महाशय यह सिद्ध नहीं कर सके कि मेंडक गर्भज भी होते हैं। खाली अटकल पच्चू तौर पर यह लिख दिया कि "मेंडकके युगल बड़े तालाब और बावड़ीमें देखनेमें आते हैं।"

३ प० सुमेरचन्दजीने उक्त दोनों महाशयोंकी इस मान्यताका कि मेंडक गर्भज है, खंडन करके "धवला" शास्त्राधारसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मेंडक गर्भज नहीं, सम्मूर्च्छन जीव है। और उसके पंचम गुण स्थान तक हो सकता है। यथा—

"मोहकर्मकी अठाईस कमप्रकृतियोंकी सत्तावाला एक तिर्यञ्च अथवा मनुष्य मिथ्यादृष्टि जीव, संज्ञी पंचेन्द्री और पर्याप्तक, ऐसे सम्मूर्च्छन तिर्यञ्च मच्छ कच्छ मेंडकादिकोंमें उत्पन्न हुआ, सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त काला द्वारा सर्व पर्याप्तियोंसे पर्याप्त पनेका प्राप्त हुआ (१) पुनः विश्राम लेता हुआ (२) विशुद्ध होकर (३) संयमासंयमको प्राप्त हुआ।"

(धवला चतुर्थखंड पुस्तकाकार पृष्ठ २५०)

और यह भी लिखा कि लब्धिसार गाथा नं० २ में जो कथन किया गया है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षासे है उसका आशय यह है कि प्र० सं० गर्भज और संज्ञीके ही हो सकता है[१]। वहाँ द्वितियो-पशम सम्यक्त्वका निषेध नहीं किया है[२]।

पंडितजीने एक बात बड़े मजेकी यह भी कह डाली कि "विशेष बलवती शंका न देख उस ओर उपयोग नहीं गया किन्तु धवला चतुर्थ खंडका स्वाध्याय करते समय अकस्मात उस शंकाकी तरफ दृष्टिपात गया।"

अक्टोबर सन १९४० में प्रकाशित शंकापर अक्टोबर सन १९४२ में विचार प्रकट करने पर भी (भला हो धवलाका!) यह कहना कि शंका कमजोर! विचार जोरदार! यह तो वही मसल हुई कि "आपनो माल पूँछ नो बाल, और पर नो माल पूँछना बाल" खैर यों ही सही।

इस प्रकार तीनो सज्जनोंके जबाब हैं। इनमें से दो सज्जनोंके (सिंघईजी और गांधीजी के) तो 'सवालदिगर जबाबदिगर' वाली कहावतको चरितार्थ करने वाले हैं। शेष रहे तीसरे सज्जन पं० सुमेरचन्द्रजी, सो इनका जवाब कुछ समाधान कारक है। "कुछ" कहनेके कारण हैं। वे ये हैं—

१ जब मैंने उक्त शंका उपस्थित की थी उस समय मेरे ख्यालमें यह बात जमी हुई थी कि मेंडक सम्मूर्च्छन ही होते हैं। परन्तु बादमें विकाशवाद पुस्तकके देखने पर मालूम हुआ कि मेंडक गर्भज भी होते हैं।

२ ऊपर उधृत धवलाके शब्दार्थपरसे यह सिद्ध नहीं होता—ऐसा एकांत कथन नहीं निकलता कि मेंडक

---

१ "चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भजविसुद्धसागारो।
पढमुवसमं स गिण्हदि पंचमवरलद्धिचरिमम्हि॥"
(लब्धिसार २)

२ "चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धि गो सम्ममुवगमई॥"
(गो-जी ६५१)

सम्मूर्च्छन ही होते हैं।

३ लब्धिसार गाथा नं० २ का आशय यदि यह लें कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए ही गर्भज होना आवश्यक है तो फिर देव-नारक गतिमें प्र० स० की अप्राप्ति रहेगी ?— परन्तु ल० गाथा नं० २ में तो चारों गतिमें प्र० स०की प्राप्तिका विधान है।

जो हो, मैंने तो अपना समाधान इस तरह कर लिया है—

१ मेंडकवर्गके प्राणी गर्भज समूर्च्छन दोनों प्रकारके होते हैं।

२ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए गर्भज होना आवश्यक नहीं है।

३ राजगृही वाला मेंडक सम्यग्दृष्टा था अतएव उसके जिनपूजा-भक्तिके लिए समवसरणमें जानेकी कथा काल्पत नहीं किंतु ऐतिहासिक है।

अब यदि इस विषयमें चर्चा करनेकी कोई गुञ्जायश शेष रह गई है तो वह यह है—

१ लब्धिसार गाथा नं० २ का आशय यदि यह लें कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्तिके लिये ही गर्भज होना आवश्यक है तो फिर देव-नारक गतिमें प्र० स० की अप्राप्ति रहेगी ?—परन्तु लब्धिसार गाथा नं० २ में तो चारो गतिमें प्र० स० के प्राप्ति का विधान है।

२ मेंडकवर्गके प्राणी सम्मूर्छन ही होते हैं, यह बात क्या धवलासे सिद्ध होती है ?

३ जंतु विज्ञान (सायंस) की खोज इस विषयमें क्या बतलाती है ?—वैज्ञानिकोंने ऐसे उभयलीङ्ग जीवोंकी भी खोज की है जिसमें नर मादा दोनों के गुण मौजूद हैं। देखिये—

"मनुष्यों और पशुओंमें लिङ्ग-भेद अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया है, और सामान्य नियम बन गया है। इन जीवोंका विचार करनेसे पहिले हमें बीचकी स्थितिको देखना पड़ेगा, याने वह जो अलिङ्गिक स्थिति (एककोषीय जीव) के बाद की और द्विलिङ्गिक स्थितिके पहिलेकी है। इसे उभयलिङ्गिका नाम दिया गया है, क्योंकि इनमें नर और मादा' दोनों के गुण मौजूद होते हैं। अब भी कुछ ऐसे जीव हैं, जिनमें यह स्थिति देखनेमें आती है। उनमें आंतरिक कोषोंकी वृद्धि तो उसी तरह होती जाती है मगर कुछ कोषोके शरीरसे बिलकुल निकल जानेके, बदले, वे एक अंगसे दूसरे अंगमें चले जाते हैं, और वहीं उनका पोषण तब तक होता रहता है जब तक वे स्वतंत्र जीवनके योग्य नहीं हो जाते।······

"यहां एक बात ध्यान देने लायक है। उभय-लिङ्गिक सृष्टिके साथ साथ एक नई बात देखनेमें आती है वह यह है कि दोनों लिङ्गोंके उसके अङ्ग सिर्फ अलग ही अलग नहीं रहते बल्कि स्वतंत्ररूपसे अपने अपने शुक्र कोषोंको बनाते जाते हैं। नर-अंग तो पुराना आंतरिक जननका काम शुक्रकोषों को बना बनाकर करता ही जाता है (जिन्हें बाहर निकालकर मादा पिंडमें प्रवेश करानेके कारण वीय-कीट कहते हैं) और मादा अङ्ग भी अपने जीवकोष बनाते ही जाते हैं, मगर पुरुष अङ्गके जीवकोषको गर्भाधानके लिये रख लेते हैं, नकि निकाल देते हैं।'

(विलियम लोफ्टसहेयर, के लेखका अनुवाद-"अनीतिकी राहपर" पृष्ठ १२४। १२५)

इन जीवोंको क्या कहना ?—माता पिताके शुक्र-शोणित-मिश्रण-जन्य गर्भज तो ये हैं नहीं ?

ऐसी बातें हैं—बस अब जिसका जी चाहे, चर्चा चलावे। मै तो विश्राम लेता हूँ।

सम्पादकीय

पं० महेन्द्रकुमारजीका लेख—

इस किरणमें अन्यत्र (पृ० २८१) न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक लेख प्रकाशित हो रहा है। वह लेख लेखक महोदयकी इच्छानुसार अविकलरूपसे छापा गया है इस पर सम्पादक की कोई क़लम नहीं लगी। लेख परसे पाठकोंको मालूम होगा कि यह लेख न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया के उस विस्तृत एवं व्यवस्थितप्राय लेखके उत्तररूपमें नहीं है जो अनेकान्तकी गत किरणमें 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षकके साथ प्रकाशित हुआ है और जिसका एकमात्र लक्ष्य पं० महेन्द्रकुमारजीके उस लेख पर कुछ गहरी छानबीनके साथ विचार करना था जो जैनसिद्धान्तभास्करमे उनके उक्त शीर्षकके साथ ही प्रकाशित हुआ था। न्यायाचार्यजीका यह लेख मुख्यतः पं० रामप्रसादजी शास्त्री बंबई और पं० जिनदासजी शास्त्री शोलापुरके उन लेखोंको लक्ष्य करके लिखा गया है जो जुलाई-अगस्तके महीनोंमे 'जैनगजट' और 'जैनबोधक' मे 'समन्तभद्रका समय' आदि शीर्षकोंके साथ प्रकाशित हुए थे; लेखके अन्तमे चलतीसी दो-चार बातें कोठियाजीके लेखपर भी कह दी गई हैं। इस तरह कोठियाजीके लेखके उत्तरसे जो किनाराकशी की गई है, उसके औचित्यको तो लेखकजी ही जानें; परन्तु इस किनाराकशीका कुछ कारण बतलाते उन्होंने जो यह लिखा है कि--

"मुझे आश्चर्य इस बातका हुआ कि इस लेखके अन्त मे मुख्तार सा० के सहयोगके लिये तो आभार प्रदर्शित किया गया है पर जिन पं० रामप्रसादजी और पं० जिनदासजी शास्त्रीके लेखोंकी सामग्रीसे लेख सप्राण हुआ है और जिनकी सामग्रीके पिष्टपेषण एवं पल्लवनसे इस लेखका कलेवर बढ़ा है उनका नामोल्लेख भी नहीं किया गया है। अतः मैं तो प० रामप्रसादजी तथा जिनदासजी शास्त्रीके लेखोंको मुख्यतः सामने रख कर उस (न ?) के उत्तरणीय अंश पर अपने विचार प्रकट कर रहा हूं। इन लेखों का उत्तर होजाने पर 'अनेकान्त' के लेखमें कोई महत्वका अनुच्छिष्ट उत्तरणीय भाग नहीं रह जाता।"

इस पर, यथार्थ वस्तुस्थितिको व्यक्त करते हुए, मै कुछ प्रकाश डाल देना अपना कर्तव्य समझता हूं। अत इसके सम्बन्धमे मेरा निवेदन इस प्रकार है—

पं० दरबारीलालजी कोठियाने अपना उक्त लेख अगस्त के मध्यमे कोई १५-१६ तारीखको मुझे सम्पादनार्थ दे दिया था। उस वक्त तक पं० रामप्रसादजी और जिनदासजी शास्त्रियोंके वे लेख अपने यहाँ नहीं आए थे जो जैनसिद्धान्त-भास्करमे प्रकाशित पं० महेन्द्रकुमारजीके उक्त लेखके प्रतिवाद-स्वरूप लिखे गये हैं और जो जैनबोधक के १६ अगस्त तथा २ सितम्बरके अंकों (नं० २२, २३) मे प्रकाशित हुए हैं। ये अंक वीरसेवामन्दिरमें क्रमशः २२ अगस्त और ७ सितम्बरको पहुंचे हैं। अतः इन लेखोंका कोठियाजीने अपने लेखमे कोई उपयोग नहीं किया और न इनकी किसी सामग्रीसे अपने लेखको बढ़ाया है। मुझे भी कल तारीख १४ नवम्बरको ही इन लेखोंके देखनेका अवसर मिला है। अब रही प० रामप्रसादजीके उस लेखकी बात, जो जैनगजटके ६ और १६ जुलाई सन् १६४२ के अंकोंमे प्रकाशित हुआ है और जो न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागकी प्रस्तावनामे आए हुए समन्तभद्रके समय सम्बन्धी युक्तियोंको लक्ष्य करके लिखा गया है। जैनगजटके उक्त अंक अपने यहां उस समय आए जब कि आश्रममें त्रिलोक प्रज्ञप्तिकी एक पुरानी प्रति परसे 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' मे नोट की हुई गाथाओंके मिलानका काम जोरोंसे चल रहा था और उसमे कोठियाजी, पांड्याजी तथा परमानन्द जी ये तीन विद्वान पूर्णतः लगे हुए थे; वीरशासन जयन्तीके जल्सेकी निकटता और उस प्रतिको वापिस भेजनेकी शीघ्रता के कारण किसीको भी जैनगजट-जैसे पत्रोंको पढ़नेका अवसर नही था और न बादको उनके पढ़नेकी ओर ध्यान गया। इसीसे कोठियाजीके देखनेमें प० रामप्रसादजी का उक्त लेख भी नहीं आया, और मेरी प्रवृत्ति तो उसे देखनेमे कल ही हुई है। ऐसी हालतमे उक्त लेखसे भी

कोई सामग्री कोठियाजीके लेखमें नहीं ली गई है।

एक दिन कोठियाजी मेरे कमरेमें बैठे हुए थे, सामने जैन-सिद्धान्तभास्करकी उक्त किरण खुली हुई थी, मैंने कोठियाजीसे कहा कि– महेन्द्रकुमारजीके इस 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दों वाले उदाहरणकी आपने मूलग्रन्थ परसे जाँच भी करली है या कि नहीं? उन्होंने कहा––जाँच तो नहीं की, यह समझकर कि उदाहरण ठीक ही होगा, और यह कह कर वे हालमें चले गये तथा श्लोकवार्तिकादिको निकाल कर देखने लगे। थोडी देरमें आकर उन्होंने नई खोजके उत्साहको लिये हुए बडे आश्चर्यके साथ कहा कि––मुख्तार साहब! महेन्द्रकुमारजीने तो बहुत मोटी भूल की है! उनके उदाहरणमें जो 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्द आए हैं वे 'राजवार्तिक' और 'अकलंकदेव' के वाचक हैं ही नहीं, वे तो 'तत्वार्थसूत्र' और 'उमास्वाति' के लिये प्रयुक्त हुए हैं, चुनाचे आपने उसी समय श्लोकवार्तिकका स्थल भी निकाल कर दिखलाया और इस बातको बा० जयभगवान जी आदि दूसरे विद्वानों पर भी प्रकट किया तथा इसके बाद ही अपने लेखमें 'विद्यानन्दकी दृष्टिमें सूत्र और सूत्रकार' प्रकरणकी योजना की। इस घटनापरसे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि कोठियाजीको पं० रामप्रसादजीका उक्त लेख उस वक्त तक भी देखनेको नहीं मिला था और न आश्रमके किसी दूसरे विद्वानके ही वह परिचयमें आया था, अन्यथा वे उनसे कहते कि यह भूल तो पहले पं० रामप्रसादजी पकड चुके हैं। अस्तु, दो विद्वान एक ही विषय पर विचार करते हुए यदि समान परिणाम पर पहुंचे तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं है।

ऐसी स्थितिमें बिना किसी जांच-पडतालके ऐसा कह देना कि 'न्यायाचार्य प० दरबारी लालजी कोठियाका लेख प० रामप्रसादजी और पं० जिनदासजी शास्त्रीके लेखोंकी सामग्रीसे सप्राण हुआ है और उन्हींके लेखोंकी सामग्रीके पिष्टपेषण एवं पल्लवनसे उसका कलेवर बढा है––वह उनकी उच्छिष्ट है' कुछ भी उचित मालूम नहीं होता।

पं० महेन्द्रकुमारजी कोठियाजीके लेखको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखें या अनुपेक्षाकी, परन्तु इतना तो कहना ही होगा कि जिन प० रामप्रसादजी और जिनदासजीके लेखोंका उत्तर देने और अपनी भूलको स्वीकार करनेमें पं० महेन्द्रकुमारजीकी प्रवृत्ति कई महीने तक भी नहीं हुई थी वह प्रवृत्ति कोठियाजीके लेखको पाकर कोई एक-डेढ़ सप्ताहके भीतर ही होगई, यह कोठियाजीके लेखका कुछ कम असर नहीं है। इस दृष्टिसे भी कोठियाजीका लेख अच्छा ही रहा। अस्तु।

पं० महेन्द्रकुमारजीके प्रस्तुत लेखकी अन्य बातोंका उत्तर देना मेरे इस नोटका कोई विषय नहीं––वह तो प्रायः उन विद्वानोंका ही हिस्सा होगा जिन्हें लक्ष्य करके यह लेख लिखा गया है। मैं तो अपने पाठकोंको, संक्षेपमें, इस लेख परसे फलित होने वाली दो एक सार बातें ही बतला देना चाहता हूं, और वे इस प्रकार हैं:––

(१) पं० महेन्द्रकुमारजीने, जैनसिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित अपने पूर्वलेखमें आचार्य विद्यानन्दकी शैलीकी विशेषताको बतलाते हुए लिखा था कि 'विद्यानन्द अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको 'सूत्रकार' और अपने पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको 'सूत्र' लिखते हैं।' और इसके समर्थनमें श्लोकवार्तिकका एक अवतरण उदाहरणके तौर पर प्रस्तुत किया था, जिसमें आए हुए 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंको क्रमशः 'राजवार्तिक' और 'अकलंकदेव' के लिये प्रयुक्त हुआ बतलाया था, परन्तु यह बतलाना भूल-भरा था। प० रामप्रसादजी और प० दरबारीलालजीकी ओरसे इस भूलके सुझाये जाने पर पं० महेन्द्रकुमारजीने उसे इस लेखमें स्वीकार कर लिया है, परन्तु दूसरा कोई निर्विवाद उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया, जिससे उस नियम अथवा रूलकी पुष्टि होती जिसे आपने विद्यानन्दकी शैलीकी विशेषताको बतलानेके लिये निर्धारित किया था। जब कि पं० दरबारीलालजीने अपने लेखमें आचार्य विद्यानन्दके सात ग्रंथों परसे कोई ३६ उदाहरण ऐसे प्रस्तुत किये हैं जिनमें कहीं भी पूर्ववर्ती ग्रंथो तथा ग्रन्थकारोंको 'सूत्र' तथा 'सूत्रकार' नहीं लिखा है, और जिनका महेन्द्रकुमारजीने अपने लेखमें कोई प्रतिवाद भी नहीं किया। इससे मालूम होता है कि विद्यानन्दकी शैलीके सम्बन्धमें जो नियम पं० महेन्द्रकुमारजीने बनाया था वह अब स्थिर नहीं रहा।

(२) पं० महेन्द्रकुमारजीने जैनसिद्धान्त भास्करमें प्रकाशित अपने पूर्वलेखमें आचार्य विद्यानन्दके जिन उल्लेखोंको अपने निर्णयका मुख्य आधार बनाया था उन

उल्लेखोंके ठीक आशयका दूसरे विद्वानों द्वारा स्पष्टीकरण किया जाने और उस स्पष्टीकरणकी पुष्टिमें आचार्य महोदय के दूसरे भी कुछ उल्लेखोंके सामने लाये जाने पर पंडित जीका वह आधार डोला ही नहीं किन्तु प्रायः गिर गया है, और इसलिये उन्होंने अपनी कुछ अनुपपत्तियोंके रहते हुए भी इस बातको स्वीकार कर लिया है कि आ० विद्यानन्द 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगल-श्लोकको उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते थे; जैसा कि आपके लेखके 'आचार्य विद्यानन्दकी मान्यताका आधार' इस प्रकरणसे प्रकट है।

(३) अब पं० महेन्द्रकुमारजी आचार्य विद्यानन्दकी मान्यताको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे हैं और उसका आधार खोजनेमें लगे हैं। अपनी खोज परसे उन्हें यह मालूम पड़ा है कि विद्यानन्दके सामने उक्त मंगलश्लोकको उमास्वामिकृत माननेके लिये कोई स्पष्ट पूर्वपरम्परा नहीं थी, उन्होंने अकलंककी अष्टशतीके एक वाक्य परसे अपनी गलत धारणा बनाली है, उसके पूर्वापर-सम्बन्धपर ठीक विचार नहीं किया और इसीसे वे अपनी अष्टसहस्रीमें उक्त वाक्यका सीधा अर्थ न करके उलटा अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। इस तरह पं० महेन्द्रकुमारजीने यह एक नया विषय विचारके लिये प्रस्तुत किया है, जिस पर विद्वानोंको गहराई के साथ विचार करना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर
१५-११-४२

जुगलकिशोर मुख्तार

(पृष्ठ २८७ का शेषांश)

उपसंहार

इस तरह मैं अपने विचारोंको संक्षेपमें पाठकोंके सामने रखकर उनसे इसे निर्णीत करार देनेका अति साहस-पूर्ण आग्रह तो नहीं कर सकता, हाँ, उनसे यह अवश्य निवेदन कर देना चाहता हूं कि तत्त्वचिन्तन और इतिहास के क्षेत्रमें पूर्वग्रहोंसे मुक्त होकर तटस्थवृत्तिसे विचार करने की आवश्यकता है। इतिहासका क्षेत्र ही ऐसा है कि इसमें उत्तरोत्तर वाद-प्रतिवादसे नई वस्तुयें सामने आती जाती हैं जो सत्यके निर्णयमें सहायक होती हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकी अनेक प्राचीनसे प्राचीन प्रतियोंके देखने की आवश्यकता है जिससे यह जाना जासके कि तत्त्वार्थसूत्र की प्रतियोंमें यह मंगलश्लोक कबसे शामिल हुआ है। अनेक तत्त्वार्थसूत्रकी छपी तथा लिखित प्रतियोंमें इस मंगल-श्लोकका तत्त्वार्थसूत्रके अङ्गके रूपमें न पाया जाना खास महत्व रखता है। अस्तु, विद्वान् पाठकोंसे निवेदन है कि इस विषयका और विशेष ऊहापोह करें। मेरे ध्यानमें इसके उपयुक्त जो सामग्री थी वह संक्षेपमें प्रस्तुत कर दी है। आगे जो और सामग्री मिलेगी उसे यथावसर लिखेंगे।

रह जाती है समन्तभद्रके समयका प्रश्न। उसके विषय में मैंने स्वयं न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागकी प्रस्तावना और प्रमेयकमलकी प्रस्तावनामें ये शब्द लिखे हैं कि "यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो" अतः विद्यानन्दके उल्लेखोंमें कितनी ऐतिहासिक दृष्टि है और समन्तभद्रके समयपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है तथा अन्य प्रमाणोंसे समन्तभद्रका क्या समय हो सकता है इसपर यथावसर लिखनेका विचार है।

अन्तमें मैं यह लिख देना भी उचित समझता हूं कि इतिहास विषयके लेखोंको किसी प्रोपेगेन्डेका साधन बनाना इस क्षेत्रको भी दूषित कर देना होगा। कोई लेख लिखा और तुरन्त ही उसके नामसे सम्मतियाँ इकट्ठी करने की वृत्ति शोभन नहीं कही जा सकती। ऐसे लेखोंपर विद्वान् विशेष ऊहापोह करें यही प्रशस्त मार्ग है और इसी से सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है। सम्मतियोंके बलपर ऐतिहासिक प्रश्नोंके निर्णय करनेकी पद्धति कभी कभी सम्मति-दाताओंको भी असमञ्जसमें डाल देती है। जैसा कि 'कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति' लेखपर सम्मति देने वाले अनेक सम्मतिदाताओंको स्वयं अनुभव हुआ होगा। और सम्मतियो भी 'यदि ऐसा है तो' 'सम्भव है' आदि अनेक बचावके वाक्योंसे ओत प्रोत रहती हैं। अतः इतिहास और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी लेख प्रोपेगेण्डेकी भावनासे रहित होकर लिखे जांय यही प्रशस्त मार्ग है।

अनेकान्तके सहायक

अब तक जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन देकर उसकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं।

२२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता।
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
१०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी कलकत्ता।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) बा० शान्तिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी, कलकत्ता।
१००) सेठ जोखीरामजी बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
१००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
१००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैनपंचान, पानीपत
५१) रा० ब० बा० उलफतरायजी जैन रि० इञ्जीनियर, मेरठ।
५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत, देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।
२५) ला० रूड़ामलजी जैन शामियाने वाले सहारनपुर।
२५) बा० रघुबरदयालजी जैन एम०ए० करोलबाग, देहली।
२५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
२५) ला० बाबूराम अकलङ्कप्रसादजी जैन, तिस्सा जिला मुजफ्फरनगर।
२५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।
२५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
२५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
२५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन रि० अमीन सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनेकान्तको सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको तृतीय मार्गसे ८) रु० की निम्न सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

५) ला० फतहचंद दासूरामजी जैन मुलतानसिटी (ला० जिनेश्वरदासजीके, मृत्युसे कुछ समय पहले निकाले हुए, दानमेंसे), मार्फत पं० अजितकुमारजी जैन शास्त्री, मुलतानसिटी।

३) ला० नानूमल रूपचन्दजी जैन, ब्रासमर्चेंट, पानीपत (ला० नानूमलके स्वर्गवास पर निकाले हुए दानमेंसे) मार्फत ला० रोशनलालजी जैन पानीपत।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरको फुटकर सहायता

गतकिरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिर सरसावाको ६) रु० की निम्न सहायता प्राप्त हुई है, जिस के लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र है :—

५) श्रीदिगम्बर जैन समाज बाराबंकी, मार्फत मंत्री कन्हैयालालजी जैन, बाराबंकी।

४) ला० गोपीचन्दजी जैन, अम्बाला छावनी (अपने भाई मुन्शीरामके पुत्र चि० प्रेमचन्दकी गोद लेनेकी खुशीमें निकाले हुए दानमेंसे), मार्फत ला० समन्दरदासजी जैन पानीपतके।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

श्रीकापड़ियाजी पर अनभ्र वज्रपात!

जैनविजय प्रेस सूरतके मालिक तथा जैनमित्र और और दिगम्बर जैनके सम्पादक से० मूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाके इकलौते पुत्र बाबूभाई कापड़ियाका मात्र १७ वर्षकी आयुमें १५ दिनकी टाइफाइडकी बीमारीसे ता० १६-१०-४२ को सवेरे स्वर्गवास हो गया है। श्री० कापड़ियाजी पर ६० वर्षकी वृद्धावस्थामें यह घोर अनभ्र वज्रपात हुआ है। आपकी समस्त आशाओंका केन्द्र यही एक मात्र पुत्र था। जिनेन्द्र भगवानसे प्रार्थना है कि उन्हें यह दुःख सहन करनेकी शक्ति प्राप्त हो और स्वर्गीय आत्माको शांति मिले।

श्री कापड़ियाजीने १५०००) का दान घोषित करके अपने स्वर्गीय पुत्रकी स्मृतिमें सूरतमें दि० जैन बोर्डिंग खोलनेका विचार प्रकट किया है और १०००) दि० जैन संस्थाओं तथा गरीबोंको अन्नदानके लिये निकाले हैं। श्री० कापड़ियाजीके श्वसुर श्री गुलाबचन्द लालचन्दजी ने भी १०००) का दान दिया है। परमेष्ठीदास जैन

अनेकान्त

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

जै नी नी ति

अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व

उभयानुभय तत्त्व
विधेय तत्त्व
निषेध्यानुभय तत्त्व
निषेध्य तत्त्व
विधेयानुभय तत्त्व
उभय तत्त्व
अनुभय तत्त्व

वर्ष ५
कि. १०-११

विषय-सूची

अनेकान्तके लिये चिन्ता

आजकल युद्धादिकी परिस्थितिके कारण कागजका अकाल सर्वत्र व्याप रहा है—सभी जगह कागजकी हाय-हाय मची हुई है। कागज मिलता ही नहीं, और जो मिलता भी तो बहुत भारी रेटपर अर्थात युद्धसे पहलेके कोई दस गुने मूल्य पर!! इसके फलस्वरूप कितने ही समाचारपत्र बन्द होगये हैं—बन्द हो रहे हैं, कितनों हीको अपना मूल्य ड्योढा दुगना कर देनेपर भी पृष्ठ-संख्याको घटानेके लिये बाध्य होना पड़ा है और कितनों हीका सुन्दर पुष्ट कलेवर कंकालमात्र रह गया है!! ऐसी हालतमें 'अनेकान्त' के लिये चिन्ताका होना स्वाभाविक है। अनेकान्तके कागज का स्टाक गतकिरण के साथ ही समाप्त होगया था। इस किरणके लिये कागजकी कितनी ही खट-पट करनी पड़ी—२८ पौंड तकका कागज भी लगाना पड़ा है। जैसे-तैसे इस किरणके कागजकी समस्या हल हुई है। अगली किरण भी किसी तरह निकल ही जायगी और उसके साथ ही अनेकान्तका पाँचवा वर्ष भी समाप्त हो जायगा। अब प्रश्न है अनेकान्तके आगामी वर्ष का—अगले वर्ष इसे चालू रक्खा जाय या कागजकी समस्या हल होने तक बन्द किया जाय? बन्द करनेपर समाजको एक अलाभ जरूर होगा और वह यह कि इसके निमित्तसे शोध-खोजका काम होकर महत्वके ठोस एवं गुत्थियोंको सुलझाने वाले साहित्यका जो सृजन होता है वह भी एक प्रकारसे बन्द हो जायगा; क्योंकि अपने समाजमें दूसरा ऐसा कोई मासिक पत्र नहीं जो इस कामको पूरा कर सके। साप्ताहिकपत्र खोजके लम्बे लेखोंको एक साथ प्रकाशित करनेमें प्राय: अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। यदि पत्रको चालू रक्खा जाय तो उसके लिये दो ही सूरतें हो सकती हैं—एक तो यह कि पत्रका मूल्य ३) रुपयेके स्थानपर ६) रुपये कर दिया जाय और दूसरी यह कि मूल्यको बदस्तूर रखकर सहायकोंको जुटाया जाय, जिससे घाटा उठाकर भी यह पत्र पाठकोंको कम मूल्यमें दिया जासके। पहली सूरत (मूल्य बढ़ाने) से समस्याका हल नहीं हो सकेगा; क्योंकि उससे ग्राहक-संख्या एक दम गिर जायगी, ऐसा समाजका अपना अनुभव बतलाता है। तब सहायकोंको जुटाने रूप दूसरी सूरत ही श्रेयस्कर होगी। अनेकान्तके अन्यतम सहायक ला० दलीपसिंहजी कागजी देहलीने अनेकान्तको किसी तरह भी बन्द न करनेका आग्रह करते हुए लिखा है कि कागज खरीदनेमें जो अधिक खर्च देना पड़े उसकी पूर्ति २० पत्तियां करके करली जाय, जिनमेंसे पाँच पत्तियोंका भार वे स्वयं अपने ऊपर लेनेको तय्यार हैं। ऐसे ही दूसरे कुछ सज्जन भी इस कार्यमें हाथ बटावें तो सहज हीमें काम निकल सकता है। इधर एक बात यह भी सुझाई जा रही है कि 'अनेकान्त' को त्रैमासिक कर दिया जाय, उसका आकार भी, जैनसिद्धान्तभास्कर तथा वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'समाधितन्त्र' जैसा कर दिया जाय और उसमें गवेषणापूर्ण तात्त्विक एवं ऐतिहासिक लेखोंकी ही विशेषता रहे। साथ ही, महत्वके अप्रकाशित ग्रन्थोंको अनुवादादिके साथ प्रकाशित किया जाय। घाटेको कुछ सहायतासे और कुछ पत्रमें प्रकट होने वाले ग्रन्थोंकी अलग बिक्रीसे पूरा किया जाय। अत: अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस विषयमें समस्याका ठीक हल करनेके लिये शीघ्र ही अपनी अपनी राय भेजकर अनुगृहीत करें।

जुगलकिशोर मुख्तार
सम्पादक 'अनेकान्त'

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ५ किरण १०-११ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर | नवम्बर-दिसम्बर
कार्तिक, मार्गशीर्ष, वीरनिर्वाण सं० २४६९, विक्रम सं० १९९९ | १९४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१०]

श्रीशीतल-जिन-स्तोत्र

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥ १ ॥

'हे अनघ'—निरवद्य-निर्दोष श्रीशीतल जिन!—आप प्रत्यक्षज्ञानी—मुनिकी प्रशम-जलमें भरी हुई वाक्य-रश्मियाँ—यथावत् अर्थस्वरूपकी प्रकाशक वचन-किरणावलियाँ—जिस प्रकारसे—संसारतापको मिटाने रूपमें—विद्वानोंके लिए—हेयोपादेय-तत्त्वका विवेक रखने वालोंके वास्ते—शीतल हैं—शान्तिप्रद हैं—उस प्रकार न तो चन्दन तथा चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं, न गंगाका जल शीतल है और न मोतियोंके हारकी लडियां ही शीतल हैं—कोई भी इनमें से भव-आताप-जन्य दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है।'

सुखाऽभिलाषाऽनलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभिः ।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाह-मोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥ २ ॥

'जिस प्रकार वैद्य विष-दाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहार मंत्रके गुणोंसे—उसकी अमोघ शक्तियोंसे—निर्विष एवं मूर्च्छा-रहित कर देता है उसी प्रकार (हे शीतल जिन!) आपने सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा-रूप अग्निके दाहसे—चतुर्गति-सम्बन्धी दुःखसंतापसे—मूर्छित हुए—हेयोपादेयके विवेकसे विमुख हुए—अपने मनको—आत्माको—ज्ञानमय अमृत-जलोंके सिञ्चनसे मूर्च्छारहित—शान्त किया है—पूर्ण विवेकको जाग्रत करके उसे उत्तरोत्तर संतापप्रद सांसारिक सुखोंकी अभिलाषासे मुक्त किया है।'

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवाऽऽत्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ ३ ॥

'**अपने जीनेकी तथा काम-सुखकी तृष्णाके वशीभूत हुए लौकिक जन दिनमें श्रमसे पीडित रहते हैं**—सेवा-कृष्यादि-जन्य क्लेश-खेदसे अभिभूत बने रहते हैं—**और रातमें सो जाते हैं**—अपने आत्माके उद्धारकी ओर उनका प्रायः कोई लक्ष्य ही नहीं होता। (परन्तु) **हे आर्य शीतल जिन ! आप रात-दिन प्रमादरहित हुए आत्माकी विशुद्धिके मार्गमें जागते ही रहे हैं**—आत्मा जिससे विशुद्ध होता है—मोहादि कर्मोंसे रहित हुआ स्वरूपमें स्थित एवं पूर्ण विकसित होता है—उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहे हैं।'

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥ ४ ॥

'**कितने ही तपस्वीजन संतान, धन तथा उत्तरलोक** (परलोक या उत्कृष्ट लोक) **की तृष्णाके वशीभूत हुए**—पुत्रादिकी प्राप्तिके लिए, धनकी प्राप्तिके लिये अथवा स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये—(अग्निहोत्रादिक यज्ञ-)**कर्म करते हैं**, (परन्तु हे शीतल जिन !) **आप समभावी हैं**—सन्तान, धन तथा उत्तरलोककी तृष्णासे रहित हैं—**आपने पुनर्जन्म और जराको दूर करनेकी इच्छासे मन-वचन-काय तीनोंकी प्रवृत्तिको ही रोका है**—तीनोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हटाकर उन्हें स्वात्माधीन किया है और इस तरह आत्मविकासकी उच्च स्थिति पर पहुँचकर योग-निरोध-द्वारा न मनसे कोई कर्म होने दिया, न वचनसे और न शरीरसे। भावार्थ—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको योग-संचालन कहते हैं। योग-संचालनसे आत्मामें कर्मका आस्रव तथा बन्ध होता है, जो पुनर्जन्मादिरूप संसारपरिभ्रमणका हेतु है। अतः आपने तो योगसंचालन रूप कर्मको रोककर अथवा स्वाधीन बनाकर संसार-परिभ्रमणसे छूटनेका यत्न किया है, जबकि दूसरे तपस्वियोंने सांसारिक इच्छाओंके वशीभूत होकर अग्निहोत्रादि कर्म करके संसार-परिभ्रमणका ही यत्न किया है। दोनोंकी इन प्रवृत्तियोंमें कितना बड़ा अन्तर है !

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धव-क्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ॥ ५ ॥

हे शीतल जिन ! कहाँ तो आप उत्तमज्योति—परमातिशयको प्राप्त केवलज्ञानके धनी—, **अजन्मा**—पुनर्जन्मसे रहित—~~सांसारिक इच्छाओंसे रहित~~ **और निर्वृत्त**—सांसारिक इच्छाओंसे रहित सुखीभूत ! **और कहाँ वे दूसरे**—प्रसिद्ध अन्य देवता अथवा तपस्वी—**जो लेशमात्र ज्ञानके मदसे नाशको प्राप्त हुए हैं**—सांसारिक विषयोंमें अत्यासक्त होकर दुःखोंमें पड़े हैं और आत्मस्वरूपसे विमुख एवं पतित हुए हैं !! **इसी लिये अपने कल्याणकी भावनामें तत्पर**—उसे साधनेके लिए सम्यग्दर्शनादिकके अभ्यासमें पूर्ण सावधान—**बुधश्रेष्ठों**—गणधरादिक देवोंके **द्वारा आप पूजे जाते हैं।**'

[११]

श्रीश्रेयो-जिन-स्तोत्र

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥ १ ॥

'**हे अजेयवाक्य**—अबाधित वचन—**श्रेयो जिन !**—सम्पूर्ण कषायों—इन्द्रियों अथवा कर्मशत्रुओंको जीतने वाले श्रीश्रेयांस तीर्थंकर !—**आप इन श्रेयप्रजाजनोंको**—भव्यजीवोंको—**श्रेयोमार्गमें अनुशासित करते हुए**—मोक्ष मार्गपर लगाते हुए—**विगत-घन सूर्यके समान अकेले ही इस त्रिभुवनमें प्रकाशमान हुए हैं।**—अर्थात् जिस प्रकार मेघपटलोंसे रहित सूर्य अपनी अप्रतिहत किरणों द्वारा अकेला ही अन्धकारसमूहका विघातक बनकर, दृष्टिशक्तिसे सम्पन्न नेत्रोंवाली प्रजाको इष्ट-स्थानकी प्राप्तिका निमित्तभूत सन्मार्ग दिखलाता हुआ जगतमें शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि घाति-कर्म-चतुष्टयसे रहित आप अकेले ही अज्ञानान्धकार-प्रसारको विनष्ट करनेमें समर्थ बनकर अपने अबाधित वचनों-द्वारा भव्य जनोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए इस त्रिलोकीमें शोभाको प्राप्त हुए हैं।'

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्राऽन्यतरत्प्रधानम् ।
गुणो परो मुख्यनियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ २ ॥

'(हे श्रेयास जिन !) **आपके मतमें वह विधि**—स्वरूपादिचतुष्टयसे अस्तित्व—**प्रमाण है** (प्रमाणका विषय होनेसे) जो **कथंचित तादात्म्य सम्बन्धको लिए हुए प्रतिषेध रूप है**—पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्वरूप भी **है—तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनोंमें से कोई एक प्रधान** (मुख्य) **और दूसरा गौण होता है** (वक्ताके अभिप्रायानुसार न कि स्वरूपसे*) । **और मुख्यके**—प्रधानरूप विधि अथवा निषेधके—**नियामका**—'स्वरूपादिचतुष्टयसे ही विधि और पररूपादि-चतुष्टयसे ही निषेध' इस नियमका—**जो हेतु है वह नय है** (नयका विषय होनेसे) **और वह नय दृष्टान्त-समर्थन होता है**—दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्तका समर्थक (उसके असाधारण स्वरूपका निरूपक) होता है ।

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथाऽरिमित्राऽनुभयादिशक्तिर्द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ३ ॥

'(हे श्रेयास जिन !) **आपके मतमें जो विवक्षित होता है**—कहने के लिए इष्ट होता है—**वह 'मुख्य** (प्रधान)' **कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है**—जिसका कहना इष्ट नहीं होता—**वह 'गौण' कहलाता है, और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक** (अभावरूप) **नहीं होता**— उसकी सत्ता अवश्य होती है। **इस प्रकार मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियोंको लिये रहती है**—एक ही व्यक्ति एक का मित्र है (उपकार करनेसे), दूसरेका शत्रु है (अपकार करनेसे), तीसरे का शत्रु-मित्र दोनों है (उपकार-अपकार करनेसे) और चौथेका न शत्रु है न मित्र (उसकी ओर उपेक्षा धारण करनेसे), और इस तरह उसमें शत्रु-मित्रतादिके गुण युगपत् रहते हैं। **वास्तवमें वस्तु दो अवधियों** (मर्यादाओं) **से कार्यकारी होती है**—विधि-निषेधरूप सामान्य-विशेषरूप अथवा द्रव्य-पर्यायरूप दो दो सापेक्ष धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है ।'

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति ।
यत्सर्वथैकान्तनियामदृष्टं त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ४ ॥

'**वादी प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्त** (उदाहरण) **की सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है**—जिसे सिद्ध करना चाहते हैं उसकी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है—; **परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो** (उदाहरण होकर) **सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो। क्योंकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबमें**—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—**अपना प्रभाव डाले हुए है**—वस्तुमात्र अनेकान्तात्मकत्वसे व्याप्त है, इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इस लिए उनके सर्वथा नित्यत्वादिरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।'

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि-न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असिस्म कैवल्य-विभूति-सम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥ ५ ॥

'**हे अर्हन्-श्रेयो जिन ! आप एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्यायबाणोंसे**—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—**मोह-शत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रुसमूहका**—घातिकर्म-चतुष्टयका—**नाश करके कैवल्य-विभूतिके** – केवलज्ञानके साथ साथ समवसरणादि विभूतिके—**सम्राट् हुए हैं। इसीसे आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं।**—मैं भी एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिका उपासक हूँ और उसे पूर्णतया सिद्ध करके मोह-शत्रुको नाश करदेना चाहता हूँ तथा कैवल्यविभूतिका सम्राट् बनना चाहता हूँ, **अतः** आप मेरे लिए आदर्शरूपमें पूज्य हैं—स्तुत्य हैं।'

[१२]

श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तोत्र

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयाऽपि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥ १ ॥

'हे (वसुपूज्य-सुत) श्रीवासुपूज्य मुनीन्द्र ! आप शिवस्वरूप अभ्युदयक्रियाओंमें पूज्य हैं—मंगलमय स्वर्गावतरणादि-कल्याणक-क्रियाओंके अवसरपर पूजाको प्राप्त हुए हैं—, त्रिदशेन्द्रपूज्य हैं—देवेन्द्रोंके द्वारा पूजे गये हैं पूजे जाते हैं, **और मुझ अल्पबुद्धिके द्वारा भी पूज्य हैं**—मैं भी स्तुत्यादिके रूपमें आपकी पूजा किया करता हूँ। (अल्पबुद्धिके द्वारा पूजा जाना कोई असंगत बात नहीं है, क्योंकि) **दीपशिखाके द्वारा क्या सूर्य पूजा नहीं जाता ?**—पूजा ही जाता है, लोग दीपक जलाकर सूर्यको आरती उतारते हैं, दीपशिखासे उसकी पूजा करते हैं।'

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथाऽपि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ २ ॥

'**हे भगवन् ! पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं**—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। (इसी तरह) **निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है**—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उसपर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आसकता, क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव—द्वेषांश—बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—, जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। **फिर भी आपके पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पाप मलोंसे पवित्र करता है।**—और इस लिये हम जो आपकी पूजा वन्दनादि करते हैं वह आपके लिए नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको लाभ पहुँचाना यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पाप-मलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। अतः वह आपकी पूजा-वन्दना हम अपने ही हितके लिये करते हैं।'

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ३ ॥

'**हे पूज्य जिन श्रीवासुपूज्य ! आपकी पूजा करते हुए प्राणीके जो सावद्यलेश होता है**—सरागपरिणति तथा आरम्भादिके द्वारा लेशमात्र पापका उपार्जन होता है—**वह** (भावपूर्वक की हुई पूजासे उत्पन्न होने वाली) **बहुपुण्य-राशिमें दोषका कारण नहीं बनता**—प्रचुर पुण्य-पुंजमें हतवीर्य हुआ वह पाप उस पुण्यको दूषित करने अथवा पापरूप परिणत करनेमें समर्थ नहीं होता। (सो ठीक ही है) **विषकी एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नहीं करती**—उसे प्राणघातक विषधर्मसे युक्त विषैला नहीं बनाती।'

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न ॥ ४ ॥

'**जो बाह्य वस्तु गुण-दोषकी**—पुण्य-पापादिरूप उपकार-अपकारकी—**उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरङ्गमें वर्तने वाले गुण-दोषकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूल हेतुकी**—शुभाऽशुभादि-परिणाम-लक्षण उपादानकारणकी—**अंगभूत**—सहकारी कारण भूत—**होती है** (और इस लिए मूल कारण शुभाऽशुभादि-परिणामके अभावमें सहकारिकारणरूप कोई भी बाह्यवस्तु पुण्य-पापादिरूप गुण-दोषकी जनक नहीं)। बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ **केवल अभ्यन्तर कारण भी**—अकेला जीवादि किसी द्रव्यका परिणाम भी—**गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।**'

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवान्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ ५ ॥—स्वयम्भूस्तोत्र

'कार्योंमें बाह्य और अभ्यन्तर—उपादान और सहकारी—दोनों कारणोंकी जो यह पूर्णता है वह आपके मतमें द्रव्यगत स्वभाव है—जीवादि-पदार्थगत अर्थक्रियाकारि-स्वरूप है। अन्यथा—इस समग्रता और द्रव्यगत स्वभावके विना अन्य प्रकारसे—पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नहीं बनती—घटादिकका विधान ही नहीं किन्तु मुक्तिका विधान भी नहीं बन सकता। इसीसे हे परमर्द्धि-सम्पन्न ऋषि वासुपूज्य! आप बुधजनोंके अभिवन्द्य हैं—गणधरादि विबुधजनोंके द्वारा पूजा-वन्दना किये जानेके योग्य हैं।'

अनेकान्तके मुखपृष्ठका चित्र

[सम्पादकीय]

ता० ४ नवम्बर सन १९४२ के 'जैनमित्र' (वर्ष ४३ अंक ४७) में, पृष्ठ ८०-१ पर, कुछ पंक्तियाँ पं० 'बुद्धिलाल श्रावक, देवरी' के नामसे मुद्रित हुई हैं। इन पंक्तियोंमें अनेकान्तके मुखपृष्ठ पर प्रकाशित होनेवाले 'जैनी नीति' के चित्रपर श्रावकजीने कुछ आपत्ति की है, जिसका रूप इस प्रकार है—

"अनेकान्त मासिक पत्रके मुखपृष्ठ पर एकेना-कर्षन्ती गाथाका चित्रपट है, उसमें दोसे अधिक हाथ वाली गोपिकाएँ मन्थन कर रही हैं, जो अजैनियोंके त्रिनेत्र, चतुर्भुज, षडानन, दशकंधर, बीसबाहुवत् मिथ्यात्वकी ओर आकर्षण है। एक दर्शकने कहा कि—"जैनका लक्ष्मी जू आंय महिं भावत हैं?" इस ओर लक्ष्य वाञ्छनीय है। स्वामी अमृतचन्द्रका अभिप्राय दो नयोंसे है जो सप्तभंगीकी ओर तानतून की जानेसे विपरीत भासता है। दो हाथकी गोपीका चित्र उचित है। प० पन्नालालजी वसंतकी कविता दो हाथोंका प्रतिपादन करती है।"

इस आपत्ति परसे मालूम होता है कि श्रावकजी-ने चित्रके मर्मको ठीक तौरपर समझा नहीं है। सब से पहले आपने यही समझनेमें गलती की है कि उक्त चित्र मात्र अमृतचंद्रके 'एकेनाकर्षन्ती' इस एक पद्यके आधार पर ही बना हुआ है, जबकि वह दो पद्योंके संयुक्ताधार पर बना है। दूसरा पद्य स्वामी समन्तभद्र का है, जो बहुत गम्भीरार्थक है और वह भी चित्रपर अङ्कित है। चित्रपरिचय (वर्ष ४,कि.१पृ.२) में भी यह सूचित कर दिया गया था कि—"जैनी नीति क्या है अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहार है, इस बातको कुशल चित्र-कारने दो प्राचीन पद्योंके आधारपर चित्रित किया है और उन्हें चित्रमें ऊपर-नीचे अङ्कित भी कर दिया है।" साथ ही, दोनों पद्योंके विषयका स्पष्टीकरण भी कर दिया गया था। दूसरे पद्य 'विधेयं वार्य' का स्पष्टीकरण करते हुए यह साफ तौरपर बतलाया था कि—'जैनी नीतिरूप गोपीके मन्थनका जो वस्तुतत्व विषय है और जिसका अमृतचन्द्रके पद्यमें उल्लेख है वह अनेक नयोंकी विवक्षा-अविवक्षाके वशसे विधेय, निषेध्य, उभय, अनुभय, विधेयोऽनुभय निषेध्याऽनुभय और उभयाऽनुभयके भेदसे सात-भंगरूप है और ये सातों भंग सदा ही एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहते हैं। प्रत्येक वस्तुतत्व इन्हीं सात भेदोंमें विभक्त है, अथवा यों कहिये कि वस्तु अनेकान्तात्मक होनेसे उसमें अपरि-मित धर्म अथवा विशेष संभव हैं और वे सब धर्म अथवा विशेष वस्तुके वस्तुतत्व हैं। ऐसे प्रत्येक वस्तु-तत्वके 'विधेय' आदिके भेदसे सातभेद हैं। इन सात से अधिक उसके और भेद नहीं बन सकते, इसलिये ये विशेष (त्रिकालधर्म) सातकी संख्याके नियमको लिये हुए हैं। इन तत्वविशेषोंका मन्थन करते समय जैनीनीतिरूप गोपीकी दृष्टि जिस समय जिस तत्वको निकालने की होती है उस समय वह उसी रूपसे परि-णत और उसी नामसे उल्लिखित होती है, इसीसे

चित्रमें विधिदृष्टि, निषेधदृष्टि आदि सात नामोंके साथ उसके सात रूप दिये हैं और उसे सप्तभंगरूपा लिखा है।' इससे स्पष्ट है कि जैनीनीतिरूप गोपी एक है, जिसके सात नाम और नामानुसार सात रूप हैं। मुखपृष्ठ पर जो सात चित्र हैं वे उसी एक गोपिका देवीके सात रूप हैं—वस्तुतः सात गोपियाँ मन्थन नहीं कर रही हैं। एक गोपीकी सात अवस्थाओंका एक ही चित्रमें प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। अतः उसकी दृष्टि और परिणतिको स्पष्ट करनेके लिये सात चित्रोंका अवलम्बन लिया गया है। चित्र नं० १, २, ४ से प्रकट है कि उस गोपिका देवीके मूलतः दो हाथ हैं, वही देवी जब चित्र नं० ३, ५, ६ में चार हाथ और चित्र नं० ७ में छह हाथ धारण करती है तो समझना चाहिये कि यह उसकी विक्रियाका परिणाम है। एक वस्तुकी अनेक अवस्थाएँ होने पर उस में क्रिया-विक्रियाका होना स्वाभाविक है; फिर एक देवी अपनी विक्रिया-शक्तिसे, अपने दृष्टिबिन्दु एवं लक्ष्यको स्पष्ट करनेके लिये, यदि दोके स्थान पर चार अथवा छह भुजाएँ बना लेती है तो इसमें जैन सिद्धान्तकी दृष्टिसे कौन सी बाधा आती है, जिसके कारण दोसे अधिक भुजाओंके प्रदर्शनको "मिथ्यात्वकी ओर आकर्षण" कहा जा सके? क्या जैन सिद्धान्तानुसार वैक्रियक शरीरके कारण देवतागण और वैक्रियक ऋद्धिके कारण मर्त्यजन दोसे अधिक हाथ नहीं बना सकते? और क्या रावणने बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करके अपने एकसे अधिक सिर और दोसे अधिक हाथ नहीं बनाये थे? यदि बना सकते हैं और बनाये थे तो फिर दोसे अधिक हाथोंके प्रदर्शनको मिथ्यात्वकी ओर आकर्षण बतलाना कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? नहीं हो सकता।

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि अनेक प्रतिष्ठापाठों तथा संहितादि दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी अनेक शासनदेव-देवियों—यक्ष-यक्षियों और विद्यादेवियोंको दोसे अधिक भुजाओं तथा नेत्रादिकोंसे युक्त बतलाया है। इसके लिये आशाधरादिके प्रतिष्ठापाठों, एकसंधि आदिके संहिताशास्त्रों और मल्लिषेणादि आचार्योंके 'भैरवपद्मावती कल्प' जैसे ग्रंथोंको उठाकर देख लेना चाहिये। भैरव-पद्मावती कल्पका एक पद्य नमूनेके तौर पर नीचे दिया जाता है जिसमें पद्मावतीदेवीको चार भुजाओंवाली तथा त्रिलोचना प्रकट किया है—

पाश-फल-वरद-गजवशकरण-करा पद्मविष्टरा पद्मा।
सा मां रक्षतु देवी त्रिलोचना रक्तपुष्पाभा॥

ऐसी हालतमें त्रिनेत्र और चतुर्भुजादिकी कल्पना को अजैनकल्पना बतलाकर भी उसे मिथ्या ठहराना उचित नहीं है।

रही एक दर्शकके कहनेकी बात, चित्रको देखकर यदि कोई दर्शक पूछता है कि यह क्या लक्ष्मीजी आकर मट्ठा बिलो रही है अथवा दधि-मन्थन कर रही हैं? तो इससे विचलित होनेकी कौन बात है? उत्तरमें साफ कहना चाहिये—'हाँ, यह ज्ञानलक्ष्मीजी हैं जो गोपिकाका रूप धारण करके वस्तुतत्वका मन्थन कर रह हैं और उसके द्वारा वस्तुतत्वका ठीक विश्लेषण करनेवाली जैननीतिको स्पष्ट करके बतला रही हैं।'

अब रही अमृतचन्द्राचार्यके दो नयोंके अभिप्रायकी बात, जब वस्तुतत्व सप्तभंगरूप है और वे सप्तभंग सप्तनयात्मक हैं तथा अमृतचंद्र अपने उक्त पद्यमें वस्तुतत्वका उल्लेख कर रहे हैं तब उनका वह वस्तुतत्व दो नयोंके अभिप्रायको ही लिये हुए कैसे कहा जा सकता है? क्या आचार्य अमृतचंद्र केवल दो ही नय मानते थे? यदि दो ही मानते थे तो फिर तत्वार्थसारमें उन्होंने नैगमादिरूपसे सात नयोंका कथन क्यों किया? और पुरुषार्थसिद्ध्युपायके 'इति विविधभङ्गगहने' पद्यमें 'प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः' पदके द्वारा बहुत नयोंके समूहकी सूचना क्यों की? इन उल्लेखोंपरसे स्पष्ट है कि वे बहुत नयोंको मानते थे—मात्र दो नयोंका ही उनका अभिप्राय बतलाना तथा सप्त भंगोकी बातको 'तानतून' और 'विपरीत' प्रकट करना भूलसे खाली नहीं है। स्वामी समन्तभद्रने जिनेन्द्रके कथनानुसार वस्तुतत्त्वको बहुत नयोंकी विवक्षा-अविवक्षाके वश भेदरूप बतलाया है, और यह बात चित्रमें अंकित उनके पद्यके 'बहुनय-विवक्षेतरवशात्' इस पदसे भी प्रकट

है। अतः सप्तभागोंकी बात केवल चित्रकार अथवा चित्रकारको भाव देने वालोंकी भी 'तानतून' नहीं है और न जैनसिद्धान्तके ही वह विपरीत है। श्रावकजीको यदि वह विपरीत भासती है तो इसे तब उन्हींकी दृष्टिका दोष समझना चाहिये।

गोपीके मूलतः दो ही हाथ होते हैं, यह बात ऊपर बतलाई जा चुकी है; परन्तु जब वह एकसे अधिक दृष्टियोंको अपनाती है तब उस दृष्टिपरिणति-रूप उसकी स्थितिको स्पष्ट करनेके लिये चित्रमें दोसे अधिक हाथोंका चित्रित किया जाना अनुचित नहीं है। चित्रमें जहाँ दोसे अधिक हाथ अंकित हैं उनका यह अभिप्राय नहीं है कि वे सब हाथ एक साथ काम कर रहे हैं—सबके एक साथ काम करनेपर मन्थन-क्रिया बन ही नहीं सकती। मन्थन क्रिया दो ही हाथों से हुआ करती है, दूसरे दो अथवा चार हाथोंका चित्रण मात्र दूसरी दृष्टियोंको अपनाते समय उसके हाथोंकी स्थिति (Position) का आभास करानेके लिये है, और इस लिए उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। जिन पं० पन्नालाल जी 'वसन्त' का श्रावकजी ने नामोल्लेख किया है उन्होंने अनेकान्तके मुखपृष्ठ वाले जैनीनीतिके चित्रको खूब पसन्द किया है और उस चित्रपरसे ही उनकी कविताका जन्म हुआ है, जो उस चित्रके भावको स्पष्ट करने तथा उसका पूर्णतः अभिनन्दन करने के लिए ही लिखी गई है।

इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि श्रावकजीकी उक्त-आपत्तिमें कुछ भी सार नहीं है।

उक्त आपत्तिके अनन्तर श्रावकजीने दो विद्वानों का नामोल्लेख करके लिखा है कि, उन्होंने भी चालीस गाँवमें उस चित्रको असंगत कहा है। यदि सचमुच उन्होंने ऐसा कहा है तो मालूम नहीं किस दृष्टिसे कहा है। जब तक उनकी दृष्टि-युक्ति सामने न आए तब तक उसपर कोई विचार नहीं किया जासकता। होसकता है कि उन्हें भी चित्रकारका ठीक आशय समझनेमें भ्रम हुआ हो। मालूम होता है श्रावकजीको दूसरे विद्वानोंकी सम्मत्तियाँ देखनेको नहीं मिलीं अथवा उन्होंने उनपर कोई ध्यान नहीं दिया। ऐसी कितनी ही सम्मतियाँ अनेकान्तके चौथे वर्षमें 'अनेकान्तपर लोकमत' शीर्षकके नीचे प्रकाशित हुई हैं, कुछ अन्य पत्रोंमें प्रकट हुई हैं और कुछ अपने पास अप्रकाशित भी पड़ी हुई हैं। इन सबमें से कुछ सम्मतियाँ नमूने के तौरपर नीचे दी जाती हैं. जिनसे मालूम होगा कि अनेकान्तके मुख्यपृष्ठका चित्र विद्वानोंकी दृष्टिमें कितने महत्त्वका है और वे उसे कितना सुसंगत तथा जैनी नीतिको स्पष्ट करने वाला बतला रहे हैं :—

'१—**पं० कैलाशचन्द्र जैन सि० शास्त्री**, (संपादक *जैनसन्देश*'), **काशी**— "*चित्र जैनी नीतिका है।* और जैनी नीतिरूपी अनेक गोपिकाओंके द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको आलोडन करके सापेक्ष दृष्टिसे इच्छित तत्त्वको निकालनेकी प्रक्रियाका चित्रण सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके बुद्धिकौशलका सजीव प्रतिबिम्ब है। चित्रके द्वारा जैनधर्मके जिस महान् सिद्धान्तका चित्रण किया गया है, उसे समझना सबके लिए शक्य नहीं है, और इसी लिए उसकी प्रक्रियासे अनभिज्ञ अधिकांश पाठकोंको वह केवल एक कौतुककी वस्तु—संभवतः वैद्योंके भयके जैसा लगेगा, किन्तु प्रथम लेख 'चित्रमय जैनी नीति' मे वे इसका रहस्य समझनेका प्रयत्न कर सकते हैं।

२—**न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार, काशी**— "मुखपृष्ठका चित्र अवश्य ही आपकी तलस्पर्शी सूझका सुपरिणाम है। वह जैनी नीतिका यथार्थ द्योतन कर रहा है।"

३—**पं० अजितकुमार शास्त्री, मुलतान**—"मुख-पृष्ठ पर सप्तभंगीको जिस चित्र द्वारा अंकित किया है वह कल्पना प्रशंसनीय है।"

४—**पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर**—"मुख-पृष्ठ पर अत्यन्त भावपूर्ण चित्रमय जैनी नितिका चित्र है, जो कि अनेकान्त जैसे पत्रके लिये सर्वथा उपयुक्त है।"

५—**पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, सूरत**—"मुख-पृष्ठका चित्र तो देखते ही बनता है। कई वर्षसे जिसे श्लोकोंमे पढ़ते आए थे उसे चित्रबद्ध देख कर बहुत आनन्द हुआ। उसे लेकर मैंने अपने कई अजैन

मित्रोंको भी अनेकान्तका रहस्य समझाया।"

६—पं०सुमेरचन्द दिवाकर,न्यायतीर्थ सिवनी—"मुखपृष्ठ पर स्याद्वादके तत्वको बताने वाला चित्र बढ़िया है।···चित्र अनेकान्तके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालता है।"

७—पं० के० भुजबली शास्त्री, आरा—"मुखपृष्ठका चित्र स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्तका पूर्ण परिचायक है।"

८—बा० कृष्णलाल जैन, जोधपुर—"टाइटिल पेज पर जो चित्र दिया है वह वाकई बहुत सुन्दर और मौलिक और सैद्धान्तिक है।"

९—पं० दौलतराम 'मित्र', इन्दौर—"मुखपृष्ठपर जैनी नीतिका जो चित्र अंकित किया गया है वह अपने विषयको स्पष्ट करने वाला तो था ही, फिर भी समन्तभद्रविचारमालाके 'स्व-पर-वैरी कौन?' नामक मणिका ने ऊपरसे और भी प्रकाश डालकर उसे मनोहर बना डाला है। इस प्रकाशमें जैनी नीति क्या है यह बात हर एक समझदारकी समझ अच्छी तरह समझ सकेगी, संतुष्ट हो जायगी और पंडित जनोंके प्रति उसे यह शिकायत न रहेगी कि—"

१०—बा० रतनलाल वकील, बिजनौर—"जैनी नीति वाला लेख तथा उसकी तसवीर मुझे बहुत ही पसन्द आई—उस उदाहरणसे अनेकान्तको बड़ी सरलतासे समझाया है। मैं चाहता हूँ कि यदि जैन नीतिका दधिमन्थन वाला चित्र बड़े आकारमें छप कर मन्दिरों में लग जावे तो बड़ा लाभ समाजका होगा। यह जैननीति सरलतासे समझमें आ सकेगी।"

११—पं०कन्हैयालाल मिश्र'प्रभाकर'सहारनपुर—"मुख पृष्ठका चित्र जैनी नीतिका संपूर्ण प्रदर्शन है। इस वैज्ञानिक निर्देशके लिये······प्रशंसाके पात्र हैं।"

१२—पं० लोकनाथ शास्त्री, मूडबिद्री—"मुखपृष्ठ पर स्याद्वाद अनेकान्त नीतिका द्योतक सप्तभंगी नयका रंगीन चित्र बहुत ही मनोहर एवं सुन्दर है। इसमें 'एकेनाकर्षन्ती' और 'विधेयं वार्यं चानुभयं' इत्यादि श्लोकद्वयके अभिप्रायको मूर्त स्वरूप बना कर आपने अपनी उच्चकोटिकी कल्पनाशक्तिका समाजके सामने परिचय कराया। यह कार्य अत्यन्त प्रशंसा करने योग्य है।"

१३—बा०जयभगवान वकील, पानीपत—"मुखमण्डल पर जिस सप्तभंगकी छवि छा रही है वह केवल जैनी नीतिका ही नहीं बल्कि इस पत्र-नीतिका भी पूरा पूरा पता दे रही है। इस प्रकार चित्रचित्रण द्वारा नीतिको दर्शाना आपकी ही अनुपम प्रतिभाका कौशल है।"

१४—बा० माईदयाल जैन बी० ए० सनावद (हाल देहली)—मुखपृष्ठका चित्र भाव तथा अर्थपूर्ण है। इस के लिये चित्रकारकी तथा उस को भाव देने वालों की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।"

१५—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया, मथुरा (हाल सरसावा)—"पंडितजीकी ही यह विचित्र सूझ है कि अनेकान्तके मुखपृष्ठ पर जैनी नीतिका गोपिकाके समन्वयका सुन्दर चित्र खींचा है।"

१६—सम्पादक जैनमित्र, सूरत—"मुखपृष्ठ पर जैनी नीतिका द्योतक सप्तभंगीका रंगीन चित्र बहुत ही मनोहर है। इसमें 'एकेनाकर्षन्ती' श्लोकको मूर्त स्वरूप देकर मुख्तार सा० ने अपनी उच्च कल्पनाशक्तिका परिचय दिया है।"

आशा है इस लेख परसे श्रावकजी तथा उन दूसरोंका भी समाधान होगा, जिन्हें चित्रके सम्बन्ध में कुछ भ्रम हुआ हो।

वीरसेवामन्दिर सरसावा, ता० ३०-१२-१९४२

पउमचरियका अन्तःपरीक्षण

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

'पउमचरिय' प्राकृत भाषाका एक चरितग्रन्थ है, जिस मे रामचन्द्रकी कथाका अच्छा चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थके कर्ता विमलसूरि हैं। ग्रन्थकर्ताने प्रस्तुत ग्रन्थमें अपना कोई विशेष परिचय न देकर सिर्फ यही सूचित किया है कि—'स्व-समय और पर-समयके सद्भावको ग्रहण करने करने वाले 'राहु' आचार्यके शिष्य विजय थे उन विजयके शिष्य नाइल-कुल-नन्दिकर मुनि 'विमल' द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है*।' यद्यपि रामकी कथाके सम्बन्धमें विभिन्न जैन कवियों द्वारा अनेक कथा-ग्रन्थ रचे गए हैं परन्तु उन मे जो उपलब्ध हैं वे सब पउमचरियकी रचनासे अर्वाचीन कहे जाते हैं। क्योंकि इस ग्रन्थमें ग्रन्थका रचनाकाल वीर-निर्वाणसे ५३० वर्ष बाद अर्थात विक्रम संवत् ६० सूचित किया है। ग्रन्थकारने इस ग्रन्थमें उसी रामकथाको प्राकृत-भाषामें सूत्रों-सहित गाथाबद्ध किया बतलाया है जिसे प्राचीन-कालमें भगवान महावीरने कहा था, जो बादको उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूति द्वारा धर्माशयसे शिष्योंके प्रति कही गई और जो साधुपरम्परासे सकल लोकमें उस समय तक स्थित रही॥।

रचना-काल

विद्वानोंमें इस ग्रन्थके रचनाकालके सम्बन्धमे भारी मत-भेद पाया जाता है। डा० विण्टरनीज़ आदि कुछ विद्वान् तो ग्रन्थमें निर्दिष्ट समयको ठीक मानते हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी वगैरह इसकी रचना-शैली और भाषा-साहित्यादि परसे इसका रचनाकाल ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी मानते हैं॥। कुछ विद्वान् डा० कीथ आदि इसमें 'दीनार' और ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ ग्रीक भाषाके शब्दोंके पाये जानेके कारण इसे ईसासे ३०० वर्ष या उसके भी बादका बतलाते हैं×। और छन्द-शास्त्रके विशेषज्ञ श्रीदीवान बहादुर केशवलाल ध्रुव उक्त रचनाकाल पर भारी सन्देह व्यक्त करते हुए इसे बहुत बाद की रचना बतलाते हैं। आपने अपने लेखमें प्रकट किया है कि—इस ग्रन्थके प्रत्येक उद्देसके अन्तमें गाहिणी, शरभ आदि छन्दोंका, गीतिमें यमक और सर्गान्तमें 'विमल' शब्दका प्रयोग भी इसकी अर्वाचीनताका ही द्योतक है*।' इनके सिवाय, और भी कितने ही विद्वान् इसके रचनाकाल पर संदिग्ध हैं—ग्रन्थमें निर्दिष्ट समयको ठीक माननेमें हिचकिचाते हैं, और इस तरह इसका रचनाकाल अब तक सन्देहकी कोटिमें ही पड़ा हुआ है। ऐसी स्थितिमें ग्रन्थोल्लिखित समयको सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थके समय-सम्बन्धमें विद्वानोंके उपलब्ध मतोंका परिशीलन करते हुए, मैंने ग्रन्थके अन्तःसाहित्यका जो परीक्षण किया है उस परसे मैं इस नतीजेको पहुंचा हूँ कि ग्रन्थका उक्त रचनाकाल ठीक नहीं है—वह जरूर किसी भूलका अथवा लेखक-उपलेखककी गल्तीका परिणाम है,

---

* राहू नामायरिओ स-समय-पर-समयगहियसब्भावो।
विजयो य तस्स सीसो नाइल-कुल-वंस-नन्दियरो ॥११७॥
सीसेण तस्स रइयं राहवचरियं तु सूरिविमलेण।

— पउमचरिय, उद्देस १०३

॥ पंचेव य वाससया दुसमाए तीसवरिस संजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ १०३
एयं वीरजिणेण रामचरियं सिट्ठं महत्थं पुरा,
पच्छाऽखंडलभूइणा उ कहियं सीसाण धम्मासयं।
भूओ साहुपरंपराए सयलं लोए ठियं पायडं,
एत्ताहे विमलेण सुत्त-सहियं गाहानिबद्धं कयं ॥ १०२

—पउमचरिय, उ० १०३

॥ देखो, 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' भाग ७ पृ० ४३७ और 'माडर्न रिव्यू' दिसम्बर सन् १९१४।

× देखो, कीथका संस्कृत-साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ३४, ५९

* इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत।

और यह भी हो सकता है कि शक-कालकी तरह वीर-निर्वाणके वर्षोंकी संख्याका तत्कालीन ग़लत प्रचार ही इसका कारण हो। परन्तु कुछ भी हो, ग्रन्थके अन्तः-परीक्षण परसे मुझे उक्त समयके ठीक न होनेके जो दूसरे विशेष कारण मालूम हुए हैं वे निम्न तीन भागोंमें विभक्त हैं:—

(१) दिगम्बर—श्वेताम्बरके सम्प्रदाय—भेदसे पहले पउमचरियका न रचा जाना।

(२) ग्रन्थमें दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्दकी मान्यताका अपनाया जाना।

(३) उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रोंका बहुत कुछ अनुसरण किया जाना।

अब मैं इन तीनों प्रकारके कारणोंका क्रमशः स्पष्टी-करण करके बतलाता हूं:—

(१) जैनोंमें दिगम्बर-श्वेताम्बरका सम्प्रदाय-भेद दिग-म्बरोंकी मान्यतानुसार विक्रम संवत् १३६ में और श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार संवत् १३६ में हुआ है। इस भेदसे पहलेके साहित्यमें जैन साधुओंके लिये 'दिगम्बर'-'श्वेताम्बर' शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग कहीं भी नहीं देखा जाता। ऐसी स्थिति होते हुए यदि इस ग्रन्थमें किसी जैन साधुके लिये श्वेताम्बर (सियबर) शब्दका स्पष्ट प्रयोग पाया जाता है तो वह इस बातको सूचित करता है कि यह ग्रंथ वि० संवत् १३६ से पहलेका बना हुआ नहीं है, जिस वक्त तक कि दिगम्बर-श्वेताम्बरके सम्प्रदाय—भेदकी कल्पना रूढ नहीं हुई थी। ग्रंथके २२ वे उद्देशमें एक स्थल पर ऐसा प्रयोग स्पष्ट है। यथा—

पेच्छइ परिभमंतो दाहिणदेसे सियंबरं पणओ।
तस्स सगासे धम्मं सुणिऊण तओ समाढत्तो ॥ ७८ ॥
अह भणइ मुणिवरिंदो णिसुणं सुधम्मं जिणेहि परिकहियं
जेट्ठो य समणधम्मो सावयधम्मो य अणुजेट्ठो ॥७६॥

इसमें राज्यच्युत सौदास राजाको दक्षिण देशमें भ्रमण करते हुए जिस जैन मुनिका दर्शन हुआ था और जिसके पाससे उसने श्रावकके व्रत लिये थे उसे श्वेताम्बर मुनि लिखा है। अतः यह ग्रन्थ वि० संवत् १३६ से पहलेकी रचना नहीं हो सकता।

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि श्वेताम्बरीय विद्वान मुनि कल्याणविजयजी तो अपनी 'श्रमणभगवान महावीर' पुस्तकमें यहाँ तक लिखते हैं कि—विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे पहले दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों स्थविर परम्पराओंमें एक दूसरेको दिगम्बर-श्वेताम्बर कहनेका प्रारम्भ नहीं हुआ था। जैसा कि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"इसी समय (विक्रमकी सातवीं शताब्दीके प्रारंभसे दशवीके अन्त तक) में एक दूसरेको दिगम्बर-श्वे० म्बर कहनेका भी प्रारम्भ हुआ।" पृष्ठ ३०७

मुनि कल्याणविजयजीका यह अनुसंधान यदि ठीक है तो पउमचरियका रचनाकाल विक्रम संवत् १३६ से ही नहीं किन्तु विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे भी पहलेका नहीं हो सकता। इस ग्रंथका सबसे प्राचीन उल्लेख भी अभी तक 'कुवलयमाला' नामके ग्रंथमें ही उपलब्ध हुआ है जो शकसंवत् ७०० अर्थात् विक्रम संवत् ८३५ का बना हुआ है।

(२) श्रीकुन्दकुन्द दिगम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य हैं। आपने चारित्तपाहुडमें सागारधर्मका वर्णन करते हुए सल्लेखनाको चतुर्थ शिक्षाव्रत बतलाया है। आपसे पूर्वके और किसी भी ग्रन्थमें इस मान्यताका उल्लेख नहीं है, और इस लिये यह खास आपकी मान्यता समझी जाती है। आपकी इस मान्यताको पउमचरियके कर्ता विमलसूरि ने अपनाया है। श्वेताम्बरीय आगम-सूत्रोंमें इस मान्यता का कहीं भी उल्लेख नहीं है। चुनांचे मुख्तार साहबको प्राप्त हुए मुनि श्रीपुण्यविजयजीके पत्रके निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही प्रकट है:—"श्वेताम्बर आगमोंमें कहीं भी १२ बारह व्रतोंमें सल्लेखनाका समावेश शिक्षाव्रतके रूपमें नहीं किया गया है।" चारित्तपाहुडके इस सागारधर्म वाले पद्योंका और भी कितना ही सादृश्य इस पउमचरियमें पाया जाता है, जैसा कि नीचेकी तुलना परसे प्रकट है:—

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥ २३ ॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्त थूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ २४ ॥
दिसिविदिसमाणपढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥
—चारित्त पाहुड

पंच य अणुव्वयाइं तिण्णेव गुणव्वयाइं भणियाइं ।
सिक्खावयाणि एत्तो चत्तारि जिणोवइट्ठाणि ॥११२॥
थूलयरं पाणिवहं मूसावायं अदत्तदाणं च ।
परजुवईण निवत्ती संतं पंचयं च पंचमयं ॥ ११३ ॥
दिसिविदिसाण य नियमो अणत्थदंडस्स वज्जणं चेव ।
उवभोगपरीमाणं तिण्णेव गुणव्वया एए ॥ ११४ ॥
सामाइयं च उववास-पोसहो अतिहिसंविभागो य ।
अंते समाहिमरणं सिक्खासुवयाइ चत्तारि ॥ ११५ ॥
—पउमचरिय उ० १४

इसके सिवाय, आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी निम्न गाथा भी पउमचरियमें कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ उपलब्ध होती है.—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥
—प्रवचनसार अ० ३

जं अन्नाणतवस्सी खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
कम्मं तं तिहिगुत्तो खवेइ णाणी मुहुत्तेणं ॥ १७७ ॥
—पउमचरिय उ० १०२

ऐसी स्थितिमें पउमचरियकी रचना कुन्दकुन्दसे पहिले की नहीं हो सकती। कुन्दकुन्दका समय प्रायः विक्रमकी १ ली शताब्दीका उत्तरार्ध और दूसरी शताब्दीका पूर्वार्ध पाया जाता है—तीसरी शताब्दीके बादका तो वह किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता*। ऐसी हालतमें पउमचरियके निर्माणका जो समय वि० सं० ६० बतलाया जाता है वह सगत मालूम नहीं होता। मुनि कल्याणविजयजीने जो कुन्दकुन्दका समय वि० की छठी शताब्दी बतलाया है। उन्हें अपनी इस धारणाके अनुसार या तो पउमचरियको विक्रमकी छठी शताब्दीके बादका ग्रंथ बतलाना होगा, या वि० संवत ६० से पहलेके बने हुए किसी श्वेताम्बर ग्रन्थमें सल्लेखना (समाधिमरण) को चतुर्थ शिक्षाव्रतके रूपमें विहित दिखलाना होगा और नहीं तो कुन्दकुन्दका समय विक्रम संवत ६० से पूर्वका मानना होगा।

(३) उमास्वाति-विरचित तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंकी पउमचरियके कतिपय स्थलोंके साथ तुलना करनेसे दोनोंमें भारी शब्दसाम्य और कथनक्रमकी शैलीका अच्छा पता चलता है और वह शब्दसाम्यादिक श्वेताम्बरीय भाष्य मान्य-पाठके साथ उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना कि दिगम्बरीयसूत्र-पाठके साथ रखता हुआ जान पड़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु जिन सूत्रोंको भाष्य-मान्य पाठमें स्थान नहीं दिया गया है और जिनके विषयमें भाष्यके टीकाकार हरिभद्र और सिद्धसेन गणी अपनी भाष्यवृत्तिमें यहांतक सूचित करते हैं कि यहां पर दूसरे कुछ विद्वान् बहुतसे नये सूत्र अपने आप बना कर विस्तारके लिये रखते हैं× उनमें से कितने ही सूत्रोंका गाथाबद्ध कथन भी दिगम्बरीय परम्परा सम्मत सूत्र-पाठके अनुसार इसमें पाया जाता है। यहां पाठकोंकी जानकारीके लिये तत्त्वार्थसूत्रोंकी और पउमचरियकी गाथाओंकी कुछ तुलना नीचे दी जाती है:—

उपयोगोलक्षणम् ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः ॥९॥
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २

जीवाणं उवओगो नाणं तह दंसणं जिणक्खायं ।
नाणं अट्ठवियप्पं चउव्विहं दंसणं भणियं ॥ ९६ ॥
—पउमचरिय, उद्देस १०२

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २

पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणस्सई चेव थावरा एए ।
काया एक्का य पुणो हवइ तओ पंचभेय जुओ ॥९३॥
—पउमचरिय, उ० १०२

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥ देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २

*देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण १ का प्रथम लेख, श्रीकुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन? तथा प्रवचनसारकी प्रो. ए. एन. उपाध्यकी अंग्रेजी प्रस्तावना।

×अपरे पुनर्विद्वांसोऽतिबहूनि स्वयं विरच्यास्मिन् प्रस्तावे सूत्राण्यधीयते विस्तरदर्शनाभिप्रायेण।
—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० भा० टी० ३, ११ पृ० २६१

अण्डाउय-पोयाउय-जराउया गब्भजा इमे भणिया ।
सुरनारय उववाया इमे य संमुच्छिया जीवा ॥९७॥
—पउमचरिय उ० १०२

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ३६
परंपरं सूक्ष्मम् ॥३७॥ —तत्वार्थसूत्र, अ० २

ओरालियं विउव्वं आहारं तेजसं कम्मइयं ।
सुहमं परंपराए, गुणेहि संपज्जइ सरीरं ॥ ३९८ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥
तत्त्वा०, अ० ३

रयणप्पभाय-सक्कर-वालुय-पंकप्पभा य धूमपभा ।
एत्तो तमा तमतमा सत्तमिया हवइ अइ घोरा ॥९९॥
तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदश पउमचरिय, उ० १०२
दशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पंचचैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥ —तत्वा०, अ० ३

तीसाय पन्नवीसा पण्णरस दसचेव होंति नरकाऊ ।
तिएणेक्कं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा नरया ॥ ३७ ॥
—पउमचरिय, उ० २

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्वानां पराऽस्थितिः ॥ ६ ॥ —तत्वा०, अ० ३

एक्कंच तिण्णि सत्त य दस सत्तरसं तहेव बावीसा ।
तेत्तीस उवहिनामा आऊ रयणप्पभादासु ॥ ८३ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥
तत्वा०, अ० ३

जम्बूद्दीवाईया दीवा लवणाइया य सलिलनिही ।
एगन्तरिया ते पुण दुगुणा दुगुणा असंखेज्जा ॥१०१॥
—पउमचरिय, उ० १०२

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ —तत्वा०, अ० ३

तस्स वि हवइ मज्झे नाहगिरी मन्दरो सयसहस्सं ।
सव्वपमाणेणञ्चो वित्थिण्णो दससहस्साइं ॥१०३॥
—पउमचरिय, उ० १०२

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ —तत्वार्थसूत्र, अ० ३

भरतं हेमवयं पुण हरिवासं तह महाविदेहं च ।
रम्मय हेरण्णवयं उत्तरओ हवइ एरवयं ॥ १०६ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥
—तत्वा०, अ० ३

हिमवो य महाहिमवो निसढो नीलो य रुप्पि सिहरी य ।
एएहि विहत्ताइं सत्तेव हवंति वासाइं ॥ १०४ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाःसरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥ —तत्वा०, अ० ३

गंगा य पढम सरिया सिन्धू पुण रोहिया मुणेयव्वा ।
तह चेव रोहियंसा हरी नदी चेव हरिकंता ॥ १०७ ॥
सीया वि य सीओया नारी य तहेव होइ नरकंता ।
रूप्पय सुवण्णकूला रत्ता रत्तावई भणिया ॥ १०८ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥
ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥—तत्वार्थसूत्र, अ० ३

भरहेरवए सु तहा हाणी वुड्ढी य समेसु य होइ खेत्तेसु४१
—पउमचरिय, उ० ३

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः,
तत्वा० अ०, ३ सू० ३७

पंचसु पंचसु पंचसु भरहेरवएसु तह विदेहेसु ।
भणिया उ कम्मभूमी तीसं पुण भोगभूमीओ ॥१११॥
हेमवयं हरिवासं उत्तरकुरु तह य देवकुरु ।
रम्मय हेरण्णवयं एयाओ भोगभूमीओ ॥ ११२ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ —तत्वा०, अ० ४ सू० १०

असुरा नागसुवण्णा दीवसमुद्दा दिसाकुमारा य ।
वायग्गिविज्जुथणिया भवणनिवासी दसवियप्पा ॥३२॥
—पउमचरिय, उ० ७५

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः । —तत्वा०, अ० ४ सू० १०

किन्नरकिंपुरिसमहोरगा य गन्धव्वरक्खसा जक्खा ।
भूया य पिसाया वि य अट्ठविहा वाणमन्तरिया ।३२।
—पउमचरिय, उ० ७५

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥
—तत्वा०, अ० ४ सू० १२

वन्तरसुराण उवरिं पंचविहा जोइसा तओ देवा ।
चन्दा सूरा य गहा, नक्खत्ता तारया नेया ॥ १४ ॥
—पउमचरिय, उ० १०२

इरिया भाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।
—तत्त्वार्थ, अ० ६ सू० ५

इरिया भासा तह एसणा य आयाणमेव निक्खेवो ।
उच्चाराई समिई पंचमिया होइ नायव्वा ॥ ७१
—पउमचरिय, उ० १४

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः । प्रायश्चित्तविनय-वैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥
—तत्त्वा०, अ० ६ सू० १६-२०

अणसणमूणोदरिया वित्तीसंखेवकायपरिपीडा ।
रसपरिच्चागो य तहा विवित्तसयणासणं चेव ॥७४
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं चिय उस्सग्गो तवो य अब्भंतरो एसो ॥ ७५
—पउमचरिय, उ० १४

इस तुलना परसे स्पष्ट है कि पउमचरियकी बहुत सी गाथाएँ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रों परसे बनाई गई हैं। ग्रंथके अन्तमें ग्रंथकारने "एत्ताहे विमलेण सुत्तमहियं गाहानिबद्धं कयं" इस वाक्यके द्वारा ऐसी सूचना भी की है कि उसने सूत्रोंको गाथा निबद्ध किया है। ऐसी हालतमें इस ग्रंथका तत्त्वार्थसूत्रके बाद बनना असंदिग्ध है। तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य उमास्वाति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके भी बाद हुए हैं—वे कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परामें हुए हैं जैसा कि श्रवण-बेल्गोलादिके अनेक शिलालेखो आदि परसे प्रकट है* । और इस लिये पउमचरियमें उसकी रचनाका जो समय दिया है वह और भी अधिक आपत्तिके योग्य हो जाता है और जरूर ही किसी भूल तथा गल्तीका परिणाम जान पड़ता है।

ग्रन्थकी कुछ खास बातें

पउमचरियके अन्तःपरीक्षण परसे कुछ बातें ऐसी मालूम होती हैं जो खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतादिसे सम्बन्ध रखती हैं, कुछ ऐसी हैं जिनका श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यतादिसे विशेष सम्बन्ध है और कुछ ऐसी भी हैं जो दोनोंकी मान्यताओंसे कुछ भिन्न प्रकारकी जान पड़ती हैं। यहाँ मैं उन सबको विद्वानोंके विचारार्थ दे देना चाहता हूँ, जिससे उन्हें इस बातका निर्णय करनेमें मदद मिले कि यह ग्रंथ वास्तवमें कौनसे सम्प्रदायविशेषका है; क्योंकि अभी तक यह पूरे तौरपर निर्णय नहीं हो सका है कि इस ग्रंथके कर्ता दिगम्बर-श्वेताम्बर अथवा यापनीय आदि कौनसे सम्प्रदायके आचार्य थे। कुछ विद्वान इस ग्रन्थको श्वेताम्बर, कुछ दिगम्बर और कुछ यापनीय संघका बतलाते हैं।

(क) दिगम्बरसम्प्रदाय-सम्बन्धी—

१ ग्रंथके प्रथम उद्देशमें कथावतारके वर्णनकी एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

वीरस्स पवरठाणं विपुलगिरिमत्थए मनभिरामे ।
तह इंदभूइकहियं सेणियरण्णस्स नीसेसं ॥ ३४ ॥

इसमें बतलाया है कि जब वीर भगवानका समवसरण विपुलाचल पर्वतपर स्थित था तब वहाँ इंद्रभूति नामक गौतम गणधरने यह सब रामचरित राजा श्रेणिकसे कहा है। कथावतारकी यह पद्धति खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है ×। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायः सभी ग्रंथ, जिनमें कथाके अवतारका प्रसंग दिया हुआ है, विपुलाचल पर्वत पर वीरभगवानका समवसरण आने और उसमें इंद्रभूति–गौतमद्वारा राजा श्रेणिकको–उसके प्रश्नपर कथाके कहे जानेका उल्लेख करते हैं, जबकि श्वेताम्बरीय कथाग्रंथों की पद्धति इससे भिन्न है—वे सुधर्मस्वामी द्वारा जम्बूस्वामीके प्रति कथाके अवतारका प्रसंग बतलाते हैं, जैसाकि

* देखो श्रवणबेलगोलके शिलालेख न० ४०, १०५, १०८

× इस बातको श्वेताम्बरीय ऐतिहासिक विद्वान् श्री मोहनलाल दलीचंदजी देसाई, एडवोकेट बम्बईने भी 'कुमारपालना समयनुं एक अपभ्रंश काव्य' नामक अपने लेखमें स्वीकार किया है और इसे भी प्रद्युम्नचरित' नामक उक्त काव्य ग्रन्थके कर्ताको दिगम्बर बतलानेमें एक हेतु दिया है (देखो, 'जैनाचार्य श्री आत्मानन्द-जन्मशताब्दि-स्मारकग्रंथ' गुजराती लेख पृ० २६०)

संघदास गणीकी वसुदेवहिंडीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"तत्थ ताव 'सुहम्मसामिणा जंबूनामस्स पढमाणुओगे तित्थयरचक्कवट्टि-दसारवंसपरूवणगयं वसुदेवचरियं कहियं' ति तस्सेव · · · त्ति।"

श्वेताम्बरोंके यहाँ मूल आगम ग्रंथोंकी रचना भी सुधर्मस्वामीके द्वारा हुई बतलाई जाती है, जबकि दिगम्बर परम्परामें उनकी रचनाका सम्बन्ध गौतम गणधर-इन्द्रभूतिके साथ निर्दिष्ट है

(२) ग्रंथके द्वितीय उद्देसमें शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हुए समाधिमरण नामक सल्लेखना व्रतको चतुर्थ शिक्षाव्रत बतलाया है। यथा—

सामाइयं च उववास पोसहो अतिहिसंविभागो य।
अंते समाहिमरणं सिक्खा सुव्वयाई चत्तारि ॥ ११५ ॥

समाधिमरणरूप सल्लेखनाव्रतको शिक्षाव्रतोंमें परिगणित करनेकी यह मान्यता दिगम्बर सम्प्रदायकी है—आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुडमें, जिनसेनके आदिपुराणमें, शिवकोटिकी रत्नमालामें, देवसेनके भावसंग्रहमें और वसुनन्दीके श्रावकाचार जैसे ग्रंथोंमें इसका स्पष्ट विधान पाया जाता है*। जिहनन्दीके वरांगचरितमें भी यह उल्लिखित है। श्वेताम्बरीय आगमसूत्रोंमें इसको कहीं भी शिक्षाव्रतोंके रूपमें वर्णित नहीं किया है, जैसाकि मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीको लिखे गए मुनि श्रीपुण्यविजयजीके एक पत्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

"श्वेताम्बर आगममें कहीं भी १२ बारह व्रतोंमें सल्लेखनाका समावेश शिक्षाव्रतके रूपमें नहीं किया गया है।"

अतः यह मान्यता खास तौर पर दिगम्बर सम्प्रदायके साथ सम्बन्ध रखती है।

(ख) श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-सम्बन्धी-

(१) इस ग्रन्थके दूसरे उद्देसकी ८२ वी गाथामें तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके बीस कारण बतलाए हैं+। यद्यपि उनके नाम ग्रंथमें कहीं भी प्रकट नहीं किये, फिर भी २० कारणोंकी यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है क्योंकि उनके ज्ञाता धर्मकथादि ग्रंथोंमें २० कारण गिनाए हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके षट्खण्डादि ग्रंथोंमें सर्वत्र १६ कारण ही बतलाए गए हैं।

(२) ग्रंथके चतुर्थ उद्देसकी ५८ वी गाथामें भरत चक्रवर्तीकी ६४ हजार रानियोंका उल्लेख है*। रानियोंकी यह संख्या भी श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है। दिगम्बर सम्प्रदायमें ९६ हजार रानियोंका उल्लेख है।

(३) ग्रंथके ७३ वे उद्देसकी ३४ वी गाथामें रावण की मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण एकादशीको लिखी है+। यह मान्यता श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-सम्मत जान पड़ती है, क्योंकि हेमचंद्र आचार्यने भी अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' में इस तिथिका उल्लेख किया है×। यह भी हो सकता है कि हेमचंद्राचार्यने अपने ग्रंथमें इस ग्रंथका अनुसरण किया हो। कुछ भी हो, दिगम्बर सम्प्रदायमें इस तिथिका कोई उल्लेख नहीं है और न बाल्मीकि रामायणमें ही यह उपलब्ध होती है। आम तौरपर आश्विन शुक्ला १० मी रावणकी मृत्यु तिथि समझी जाती है।

(४) ग्रंथके २२वें उद्देस (पूर्वोद्धृत गाथा नं० ७७,७८) में मांसभक्षी राजा सौदासको दक्षिण देशमें भ्रमण करते हुए जिनमुनि महाराजका धर्मोपदेश मिला उन्हें श्वेताम्बर लिखा है।

इन बातोंके अतिरिक्त १२ कल्पों (स्वर्गों) की भी एक मान्यताका इस ग्रंथमें उल्लेख है, जिसे कुछ विद्वानोंने श्वेताम्बर मान्यता बतलाया है; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके तिलोयपण्णत्ती और वरांगचरित्र जैसे पुराने ग्रंथोंमें भी १२ कल्पोंका उल्लेख है। दिगम्बर सम्प्रदायको इन्द्रों और उनके अधिकृत प्रदेशोंकी अपेक्षा १२ और १६ स्वर्गों की दोनों मान्यताएँ इष्ट है, जिसका स्पष्टीकरण त्रिलोकसार की तीन गाथाओं नं० ४५२, ४५३, ४५४ से भले प्रकार हो जाता है =।

*देखो, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-विरचित 'जैनाचार्योंका शासन भेद' नामक पुस्तकका 'गुणव्रत और शिक्षाव्रत' प्रकरण।

+ "वीसं जिणकारणाइं भावेओ।"

* "चउसट्ठि सहस्साइं जुवईणं परमरूवधारीणं।"

+ 'जेट्ठस्स बहुलपक्खे दिवसस्स चउत्थभागम्मि।
एगारिसीए दिवस रावणमरणं वियाणाहि ॥"

× तदा च ज्येष्ठकृष्णैकादश्यामह्नश्च पश्चिमे।
यामे मतो दशग्रीवश्चतुर्थं नरकं ययौ ॥
—त्रिष० पु० च० ७-३७६

= देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण ११-१२ पृ० ६२४

(३) इस ग्रंथके १०२ वें उद्देशमें कल्पों तथा नव-ग्रैवेयकोंके अनन्तर आदित्यादि अनुदिशोंका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

कप्पाणं पुण उवरिं नवगेवेज्जाइं मणभिरामाइं।
ताण वि अणुद्दिसाइं पुरओ आइच्चपमुहाइं ॥१४५॥

अनुदिशोंकी यह मान्यता भी खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है—दिगम्बर सम्प्रदायके षट्खण्डागम, धवला, तिलोयपण्णत्ती, लोकविभाग और त्रिलोकसार जैसे सभी ग्रंथोंमें अनुदिशोंका विधान है, जब कि श्वेताम्बरीय आगमोंमें इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है; चुनांचे उपाध्याय मुनिश्री आत्मारामजीने 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वय' नामक जो ग्रन्थ हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित किया है उसमें पृ० ११६ पर यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'आगम ग्रंथोंमें नव अणुदिशोंका अस्तित्व नहीं माना है।'

(४) इस ग्रन्थके द्वितीय उद्देसमें वीरभगवानके जन्मादिकका कथन करते हुए उनके विवाहित होनेका कोई उल्लेख नहीं किया, प्रत्युत इसके यह साफ लिखा है कि जब वे बालभावको छोड़कर तीस वर्षके हो गये तब वैराग्य (संवेग) को प्राप्त करके उन्होंने दीक्षा (प्रव्रज्या) ले ली*। इसके सिवाय २० वें उद्देसमें उनकी गणना वासुपूज्य, मल्लि अरिष्टनेमि और पार्श्वके साथ उन कुमार श्रमणोंमें—बालब्रह्मचारी तीर्थंकरोंमें—की है जो भोग न भोगकर कुमारकालमें ही घरसे निकल कर दीक्षित हुए हैं+। वीर प्रभुके विवाहित न होनेकी यह मान्यता भी खास तौरपर दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती है, क्योंकि दिगम्बर ग्रंथोंमें कहीं भी उनके विवाहका विधान नहीं है—सर्वत्र एक स्वरसे उन्हें अविवाहित घोषित किया है; जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें आमतौरपर उन्हें विवाहित बतलाया है—कल्पसूत्रमें उनकी भार्या, पुत्री तथा दोहती तक के नामोंका उल्लेख है। यह दूसरी बात है कि आवश्यक निर्युक्ति (गाथा नं० २२१, २२२) में भी जिसका निर्माण-काल विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वका नहीं है*, वीरभगवानको कुमारश्रमणोंमें परिगणित किया है परन्तु यह एक प्रकारसे दिगम्बर मान्यताका ही स्वीकार जान पड़ता है।

(५) इस ग्रन्थके ८३ वें उद्देसमें राजा भरतकी दीक्षाका वर्णन करते हुए एक गाथा निम्न प्रकारसे दी है—

अणुमएणाओ गरुयं भरहो काऊण तत्थऽलंकारं।
निम्मम संगरहिओ लुंचइ धीरो णिययकेसे ॥५॥

इसमें वस्तुतः वस्त्र तथा अलंकारोंका त्याग करके भरत महाराजके सम्पूर्ण परिग्रहसे रहित होने और केश लौंच करनेका उल्लेख है, परन्तु 'चाऊण वत्थऽलंकारं' के स्थान पर यहां 'काऊण तत्थऽलंकारं' ऐसा जो पाठ दिया है वह किसी गलती अथवा परिवर्तनका परिणाम जान पड़ता है, अन्यथा अलंकार धारण करके—शृंगार करके—निःशेष संगसे रहित होनेकी बात असङ्गत जान पड़ती है। साथ ही 'तत्थ' शब्द और भी निरर्थक जान पड़ता है। अतः यह उल्लेख रूपसे मूलमें दिगम्बर मान्यताकी ओर संकेतको लिये लिये हुए है।

(ग) कुछ भिन्न प्रकारकी—

(१) इस ग्रंथमें भगवान ऋषभदेवकी माता मरुदेवी को आने वाले स्वप्नोंकी संख्या १५ गिनाई है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें वह १४ और दिगम्बर सम्प्रदायमें १६ बतलाई गई हैं। इसमें दिगम्बर मान्यतानुसार 'सिंहासन' नामके एक स्वप्नकी कमी है। और श्वेताम्बर मान्यतानुसार 'विमान' और 'भवन' दोनोंमेंसे कोई एक होना चाहिये।

(२) ग्रन्थके १०५ वें उद्देसके निम्न पद्यमें महाभारत और रामायणका अन्तरकाल ६४००० वर्ष बतलाया है यथा:—

चउसट्ठिसहस्साइं वरिसाणं अन्तरं समक्खायं।
तित्थयरे हि महायस भारत रामायणाणं तु ॥१६॥

इस अन्तरकालका समर्थन दोनों परम्पराओंमें किसी से भी नहीं होता, खुद ग्रन्थकार द्वारा वर्णित तीर्थंकरोंके

---

* उम्मुक्कबालभावो तीसइवरिसो जिणो जाओ ॥२८॥
अह अन्नया कयाई संवेगपरो जिणो मुणियदोसो।
लोगंतिय परिकिण्णो पव्वज्जमुवागओ वीरो ॥२९॥

+ मल्ली अरिट्ठणेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो य ॥५७॥
एए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिंदा।
सेसा वि हु रायाणो पुहईं भोत्तूण णिक्खंता ॥५८॥

* देखो, अनेकान्त वर्ष ३, कि० १२ पृ० ६७८

अन्तरकालसे भी विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि रामायणकी उत्पत्ति २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतके कालमें हुई है और महाभारतकी उत्पत्ति २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथके समयमें हुई है और दोनों तीर्थंकरोंका अन्तरालकाल ग्रन्थकारने स्वयं २०वें उद्देसमें ११ लाख बतलाया है यथाः—

छच्चेव सयसहस्सा वीसइयं अन्तरं समुद्दिट्ठं ।
पंचेव हवई लक्खा जिणन्तरं एगवीसइमं ॥ ८१

(३) दूसरे उद्देसकी निम्न गाथामें भगवान महावीरको अष्टकर्मके विनाशसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति बतलाई है जैसाकि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

अह अट्ठकम्मरहियस्स तस्स झाणोवओगजुत्तस्स ।
सयल जगुज्जोयकरं केवलणाणं समुप्पण्णं ॥३०॥

यह कथन दोनों ही सम्प्रदायसे बाधित है; क्योंकि दोनों ही सम्प्रदायोंमें चार घातियाकर्मके विनाशसे केवलज्ञानोत्पत्ति मानी है, अष्टकर्मके विनाशसे तो मोक्ष होता है।

आशा है विद्वज्जन इन सब बातों पर विचार करके ग्रंथके निर्माण समय और ग्रन्थकारके सम्प्रदाय सम्बन्धमें विशेष निर्णय करनेमें प्रवृत्त होंगे।

समर्थन

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

मैंने 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' नामका एक विस्तृत लेख लिखा था जो अनेकान्तके चतुर्थ वर्षकी प्रथम किरण में मुद्रित हुआ है। इस लेखमें यह भी बतलाया था कि श्वेताम्बरीय आगम साहित्यका संशोधन-परिवर्धनादि पूर्वक संकलन होकर उसे जो वर्तमानरूप दिया गया है वह कार्य श्रीदेवर्धिगणी क्षमाश्रमणके द्वारा वीरनिर्वाण सं० ९८० (वि० सं० ५१०) में हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य उमास्वाति इससे पहले हो गए हैं, चुनांचे श्वेताम्बरीय विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने भी उनका समय "प्राचीनसे प्राचीन विक्रमकी पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी चौथी शताब्दी" माना है। ऐसी हालतमें श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थोंपर तत्त्वार्थसूत्रकी छाया का पड़ना बहुत कुछ स्वाभाविक है और यह बहुत ही संभाव्य है कि तत्वार्थसूत्रकी कुछ बातोंको बादमें बनाए जाने वाले इन आगमग्रन्थोंमें शामिल कर लिया गया हो। मेरे इस कथनका पं० सुखलालजीके निम्न वाक्योंसे भी समर्थन होता है जो उन्होंने प्रमाणमीमांसा-टिप्पणके पृष्ठ २० पर दिये हैं और जिनमें स्पष्टरूपसे यह स्वीकार किया है कि आगमोंकी संकलनाके समय तथा निर्युक्तिकारके बाद कुछ बातें आगमोंमें दाखिल होगई हैं जिनमेंसे कुछ तत्वार्थसूत्रकी भी हैं :—

"स्थानाङ्ग और भगवती ये दोनों गणधरकृत समझे जानेवाले ग्यारह अंगोंमेंसे हैं और प्राचीन भी अवश्य हैं। उनमें यद्यपि तार्किक विभागका निर्देश स्पष्ट है तथापि यह माननेमें कोई विरोध नहीं दीखता कि स्थानाङ्ग भगवतीमें वह तार्किक विभाग निर्युक्तिकार भद्रबाहुके बाद ही कभी दाखिल हुआ है, क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति जो भद्रबाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरम्भ ही ज्ञानचर्चासे होता है उसमें आगमिक विभाग है पर तार्किक विभागका सूचन तक नहीं है।"

"उमास्वातिने अपने तत्वार्थसूत्र (१-१०-१२) में प्रत्यक्ष परोक्षरूपसे प्रमाणद्वय विभागका निर्देश किया है यह खुद उमास्वातिकृत है या किसी अन्य आचार्यके द्वारा निर्मित हुआ है इस विषयमें कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा सकता। जान पड़ता है आगमकी संकलनाके समय प्रमाणचतुष्टय और प्रमाणद्वय वाले दोनों विभाग स्थानाङ्ग तथा भगवतीमें दाखिल हो गये।"

इसके सिवाय, श्वेताम्बरीय प्रखर विद्वान् पं० बेचरदासजीने 'जैनसाहित्यमां विकार थवाथी थयली हानि' नामक अपनी गुजराती भाषाकी पुस्तकमें, जिसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित होचुका है, स्पष्टरूपसे ऐसा स्वीकार किया है कि वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाले श्वेताम्बर आगम बहुत कुछ विकारग्रसित हैं—उनमें मूल आगमोंकी अपेक्षा बादको कितनी ही मिलावट हुई है।

ऐसी हालतमें यह नहीं कहा जासकता कि वर्तमान श्वेताम्बरीय आगमोंके जिन सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रोंका (तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' में) समन्वय किया गया है वे सब वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्रके बीज हैं—कितने ही उनमेंसे तत्त्वार्थसूत्र परसे बने हुए भी हो सकते हैं।

सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्रका प्रभाव

[सम्पादकीय]

'सर्वार्थसिद्धि' आचार्य उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) के तत्त्वार्थसूत्रकी प्रसिद्ध प्राचीन टीका है और देवनन्दी अपर-नाम पूज्यपाद आचार्यकी अमर कृति है, जिनका समय आम-तौरपर ईसाकी पाँचवीं और वि० की छठी शताब्दी माना जाता है। दिगम्बर समाजकी मान्यतानुसार आ० पूज्यपाद स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं, यह बात पट्टावलियोंसे ही नहीं किन्तु अनेक शिलालेखोंसे भी जानी जाती है। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में आचार्योंके वंशादिकका उल्लेख करते हुए समन्तभद्रके परिचय-पद्यके बाद 'ततः' (तत्पश्चात्) शब्द लिखकर 'यो देवनन्दी प्रथमाभिधानः' इत्यादि पद्योंके द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और नं० १०८ (२५८) के शिलालेखमें समन्तभद्रके अनन्तर पूज्यपादके परिचयका जो प्रथमपद्य* दिया है उसमें 'ततः' शब्दका प्रयोग किया है, और इस तरहपर पूज्यपादको समन्तभद्रके बादका विद्वान सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वयं पूज्यपादने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है—

"चतुष्टयं समन्तभद्रस्य।" —५-४-१६८

इस सूत्रकी मौजूदगीमें यह नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद हुए हैं, और न अनेक कारणोंके वश× इसे प्रक्षिप्त ही बतलाया जा सकता है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी और इन उल्लेखोंकी असत्यताका कोई कारण न बतलाते हुए भी, किसी गलत धारणाके वश, हालमें एक नई विचारधारा उपस्थित की गई है, जिसके जनक हैं प्रमुख श्वे० विद्वान् श्रीमान पं० सुखलालजी सघवी, काशी और उसे गति प्रदान करने वाले हैं न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री, काशी। पं० सुख-लालजीने जो बात अकलंकग्रन्थत्रयके 'प्राक्कथन' में कही उसे ही अपनाकर तथा पुष्ट बनाकर पं० महेन्द्रकुमारजीने न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागकी प्रस्तावना, प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना और जैनसिद्धान्तभास्करके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक लेखमें प्रकाशित की है। तुनाँचे पं० सुख-लालजी, न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भागके 'प्राक्कथन' में पं० महेन्द्रकुमारजीकी कृतिपर सन्तोष व्यक्त करते हुए और उसे अपने 'सक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य' बतलाते हुए लिखते हैं—"पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभ्रान्तरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं।

इस तरह पं० सुखलालजीको पं० महेन्द्रकुमारजीका और पं० महेन्द्रकुमारजीको पं० सुखलालजीका इस विषयमें पारस्परिक समर्थन और अभिनन्दन प्राप्त है —दोनों ही विद्वान इस विचारधाराको बढ़ानेमें एकमत हैं। अस्तु।

इस नई विचारधाराका लक्ष्य है समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान् सिद्ध करना, और उसके प्रधान दो साधन हैं जो संक्षेपमें निम्न प्रकार हैं—

(१) विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्रीके उल्लेखोंपरसे यह 'सर्वथा स्पष्ट' है कि विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलस्तोत्रको पूज्यपादकृत सूचित किया है और समन्तभद्रको इसी आप्तस्तोत्रका 'मीमांसाकार' लिखा है, अतएव समन्तभद्र पूज्यपादके "उत्तरवर्ती ही" हैं।

(२) यदि पूज्यपाद समन्तभद्रके उत्तरवर्ती होते तो वे समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका और खासकर 'सप्तभंगी' का, "जोकि समन्तभद्रकी जैनपरम्पराको उस समयकी नई देन रही," अपने 'सर्वार्थसिद्धि' आदि किसी ग्रन्थमें 'उप-योग' किये बिना न रहते। चूँकि पूज्यपादके ग्रन्थोंमें "समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श

---

* श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥

× देखो, 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' नामका मेरा वह लेख जो १६ जून–१ जुलाई सन् १९३४के 'जैन जगत्' (पृ० ९ से २३) में प्रकाशित हुआ है अथवा "Samantabhadra's date and Dr Pathak" Annals of B. O. R. I. vol XV Pts. I-II P. 67-88.

भी" नहीं पाया जाता, अतएव समन्तभद्र पूज्यपादके "उत्तरवर्ती ही" हैं।

इन दोनो साधनोंमेसे प्रथम साधनको कुछ विशद तथा पल्लवित करते हुए पं० महेन्द्रकुमारजीने जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग ६ कि० १) में अपना जो लेख प्रकाशित कराया था उसमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षाके "श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत-सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य प्रोत्थानारम्भकाले" इत्यादि पद्य* को देकर यह बतलाना चाहा था कि विद्यानन्द इसके द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि जिस मंगलस्तोत्रका इसमें संकेत है उसे तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाते समय या उसकी प्रोत्थान-भूमिका बाँधते समय पूज्यपादने रचा है। और इसके लिये उन्हें 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदकी अर्थ-विषयक बहुत कुछ खींचतान करनी पड़ी थी, 'शास्त्रावताररचितस्तुति' तथा 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' जैसे स्पष्ट पदोंके सीधे सच्चे अर्थको भी उसी प्रोत्थानारम्भकाले' पदके कल्पित अर्थको ओर घसीटनेकी प्रेरणाके लिये प्रवृत्त होना पड़ा था और खींचतानकी यह सब चेष्टा पं० सुखलालजीके उस नाटक अनुरूप थी जिसे उन्होंने न्यायकुमुद-चन्द्र-द्वितीय भागके 'प्राक्कथन' (पृ० १७) मे अपने बुद्धि-व्यापारके द्वारा स्थिर किया था। परन्तु 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थकी खींचतान उसी वक्त तक कुछ चल सकती थी जब तक विद्यानन्दका कोई स्पष्ट उल्लेख इस विषयका न मिलता कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलस्तोत्र को किसका बतला रहे हैं। चुनांचे न्यायाचार्य प० दरबारी लालजी कोठिया और पं० रामप्रसादजी शास्त्री आदि कुछ विद्वानोंने जब पं० महेन्द्रकुमारजीकी भूलों तथा गलतियोंको पकड़ते हुए, अपने उत्तर लेखों द्वारा विद्यानन्दके कुछ अभ्रान्त उल्लेखोंको सामने रक्खा और यह स्पष्ट करके बतला दिया कि विद्यानन्दने उक्त मंगलस्तोत्रको सूत्रकार उमास्वातिकृत लिखा है और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण बतलाया है, तब उस खींच-तानकी गति रुकी तथा बन्द पड़ी। और इसलिये उक्त मंगलस्तोत्रको पूज्यपादकृत मानकर तथा समन्तभद्रको उसीका मीमांसाकार बतला कर निश्चितरूपमें समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका (उत्तरवर्ती) विद्वान् बतलानेरूप कल्पना की जो इमारत खड़ी की गई थी वह एक दम धराशायी हो गई है। और इसीसे पं० महेन्द्रकुमारजीको यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा है कि आ० विद्यानन्दने उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार उमास्वाति-कृत बतलाया है, जैसाकि अनेकान्तकी पिछली किरणमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक उनके उत्तर लेखमे प्रकट है। इस लेखमें उन्होंने अब विद्यानन्दके कथनपर सन्देह व्यक्त किया है और यह सूचित किया है कि विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीमें अकलंककी अष्टशतीके 'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तव' वाक्यका सीधा अर्थ न करके कुछ गलती खाई है और उसीका यह परिणाम है कि वे उक्त मंगलश्लोकको उमास्वातिकी कृति बतला रहे हैं, अन्यथा उन्हें इसके लिये कोई पूर्वाचार्यपरम्परा प्राप्त नहीं थी। उनके इस लेखका उत्तर न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीने अपने द्वितीय लेखमें दिया है, जो इसी किरणमें अन्यत्र, 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' इस शीर्षकके साथ, प्रकाशित हो रहा है। जब पं० महेन्द्रकुमारजी विद्यानन्दके कथनपर सन्देह करने लगे हैं तब वे यह भी असन्दिग्धरूपमें नहीं कह सकेंगे कि समन्तभद्रने उक्त मंगलस्तोत्रको लेकर ही 'आप्तमीमांसा' रची है, क्योंकि उसका पता भी विद्यानन्दके आप्तपरीक्षादि ग्रन्थोंसे चलता है। चुनांचे वे अब इसपर भी सन्देह करने लगे हैं, जैसाकि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोकपर आप्तमीमांसा बनाई है या नहीं।"

ऐसी स्थितिमें पं० सुखलालजी द्वारा अपने प्राक्कथनो में प्रयुक्त निम्न वाक्योंका क्या मूल्य रहेगा, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं—

" 'पूज्यपादके द्वारा स्तुत आप्तके समर्थनमें ही उन्होंने (समन्तभद्रने) आप्तमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीमें सर्वथा स्पष्टरूपसे लिखी है।"

—अकलंकग्रन्थत्रय, प्राक्कथन पृ० ८

*श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै १२३

"मैंने अकलंकग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट उल्लेखोंके आधारपर यह निःशंक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आप्तस्तोत्रके मीमांसाकार हैं अतएव उनके उत्तरवर्ती ही हैं।"

'ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगलपद्यको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है।

"पूज्यपादका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें (समन्तभद्रको) मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी।"

—न्यायकुमुद० द्वि० प्राक्कथन पृ० १७–१८

इन वाक्योंपरसे मुझे यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य होता है कि पं० सुखलालजी जैसे प्रौढ विद्वान् भी कच्चे आधारों पर ऐसे सुनिश्चित वाक्योंका प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं! सम्भवतः इसकी तहमें कोई गलत धारणा ही काम करती हुई जान पड़ती है, अन्यथा जब विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्रीमें कहीं भी उक्त मंगलश्लोकके पूज्यपादकृत होनेकी बात लिखी नहीं तब उसे 'सर्वथा स्पष्ट रूपसे लिखी' बतलाना कैसे बन सकता है?" अस्तु।

अब रही दूसरे साधनकी बात पं० महेन्द्रकुमारजी इस विषयमें पं० सुखलालजीके एक युक्ति-वाक्यको उद्धृत करते और उसका अभिनन्दन करते हुए, अपने उसी जैन-सिद्धान्तभास्कर वाले लेखके अन्तमें, लिखते हैं—

"श्रीमान् पंडित सुखलालजी सा० का इस विषयमें यह तर्क "कि यदि समन्तभद्र पूर्ववर्ती होते, तो समन्तभद्र की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख अपनी सर्वार्थसिद्धि आदि कृतियोंमें किए बिना न रहते" हृदयको लगता है।"

इसमें पं० सुखलालजीके जिस युक्ति-वाक्यका डबल इनवर्टेड कामाजके भीतर उल्लेख है उसे पं० महेन्द्रकुमार जीने अकलंकग्रन्थत्रय और न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागके प्राक्कथनोंमें देखनेकी प्रेरणा की है, तदनुसार दोनों प्राक्कथनोंको एकसे अधिक बार देखा गया परन्तु खेद है कि उनमें कहीं भी उक्त वाक्य उपलब्ध नहीं हुआ! न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें यह वाक्य कुछ दूसरे ही शब्द-परिवर्तनोंके साथ दिया हुआ है* और वहाँ किसी 'प्राक्कथन' को देखनेकी प्रेरणा भी नहीं की गई। अच्छा होता यदि 'भास्कर' वाले लेखमें भी किसी प्राक्कथनको देखनेकी प्रेरणा न की जाती अथवा पं० सुखलालजीके तर्कको उन्हीं के शब्दोंमें रक्खा जाता और या उसे डबल इनवर्टेड कामाजके भीतर न दिया जाता। अस्तु; इस विषयमें पं० सुखलालजीने जो तर्क अपने दोनों प्राक्कथनोंमें उपस्थित किया है उसीके प्रधान अंशको ऊपर साधन नं० २ में संकलित किया गया है, और उसमें पंडितजीके खास शब्दों को इनवर्टेड कामाजके भीतर दे दिया है। इससे पंडितजी के तर्ककी स्पिरिट अथवा रूपरेखाको भले प्रकार समझा जा सकता है। पंडितजीने अपने पहले प्राक्कथनमें उपस्थित तर्ककी बाबत दूसरे प्राक्कथनमें यह स्वयं स्वीकार किया है कि—'मेरी वह (सप्तभंगी वाली) दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें पेश नहीं किया है।" परन्तु उक्त मंगलश्लोकको 'पूज्यपादकृत' बतलाने वाला जब विद्यानन्दका कोई स्पष्ट उल्लेख है ही नहीं और उसकी कल्पनाके आधार पर जो निर्णय किया गया था वह गिर गया है तब पोषकके रूपमें उपस्थित की गई दलील भी व्यर्थ पड़ जाती है क्योंकि जब वह दीवार ही नहीं रही जिसे लेप लगाकर पुष्ट किया जाय तब लेप व्यर्थ ठहरता है—उसका कुछ अर्थ नहीं रहता। और इसलिये पंडितजीकी वह दलील विचारके योग्य नहीं रहती।

यद्यपि, पं० महेन्द्रकुमारजीके शब्दोंमें, "ऐसे नकारात्मक प्रमाणोंसे किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्रभावसे साधन-बाधन नहीं होता" फिर भी विचारकी एक कोटि उपस्थित होजाती है। सम्भव है कलको पं० सुखलालजी अपनी दलीलको स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें भी उपस्थित करने लगें, जिसका उपक्रम उन्होंने "समन्तभद्रकी जैनपरम्पराको उस समयकी नई देन" जैसे शब्दोंको बादमें जोड़कर किया है और साथ ही 'समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी

*यथा—"यदि समन्तभद्र पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्यकी आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किये बिना नहीं रहते।"

अंशमें स्पर्श भी न करने' तककी बात भी वे लिख गये हैं* अतः उसपर—द्वितीय साधनपर—विचार कर लेना ही आवश्यक जान पड़ता है। और उसीका इस लेखमें आगे प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहले मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि यद्यपि किसी आचार्यके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके सभी विषयोंको अपने ग्रन्थमें उल्लेखित अथवा चर्चित करे—ऐसा करना न करना ग्रंथकारकी रुचि-विशेषपर अवलम्बित है। चुनाँचे ऐसे बहुतसे प्रमाण उपस्थित किये जासकते हैं जिनमें पिछले आचार्योंने पूर्ववर्ती आचार्यों की कितनी ही बातोंको अपने ग्रन्थोंमें छूआ तक भी नहीं; इतनेपर भी पूज्यपादके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उनके 'सारसंग्रह' नामक एक खास ग्रन्थका 'धवला' में नय-विषयक उल्लेख‡ मिलता है और उसपरसे वह उनका महत्वका स्वतन्त्र ग्रन्थ जान पड़ता है। बहुत सम्भव है कि उसमें उन्होंने 'सप्तभंगी' की भी विशद चर्चा की हो। उस ग्रन्थकी अनुपलब्धिकी हालतमें यह नहीं कहा जा सकता कि पूज्यपादने 'सप्तभंगी' का कहीं विशद कथन नहीं किया अथवा उसे छूआ तक नहीं।

इसके सिवाय, 'सप्तभंगी' एकमात्र समन्तभद्रकी ईजाद अथवा उन्हींके द्वारा आविष्कृत नहीं है, बल्कि उसका विधान पहलेसे चला आता है और वह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें भी स्पष्टरूपसे पाया जाता है, जैसाकि निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ २-२३
—प्रवचनसार

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥
—पंचास्तिकाय

आचार्य कुन्दकुन्द पूज्यपादसे बहुत पहले हो गये हैं। पूज्यपादने उनके प्राभृतादि ग्रन्थोंका अपने समाधितंत्र में बहुत कुछ अनुसरण किया है—कितनी ही गाथाओंको तो अनुवादितरूपमें ज्योंका त्यों रख दिया है× और कितनी ही गाथाओंको अपनी सर्वार्थसिद्धिमें 'उक्तं च' आदि रूपसे उद्धृत किया है, जिसका एक नमूना ५ वें अध्यायके १६ वें सूत्रकी टीकामें उद्धृत पंचास्तिकायकी निम्न गाथा है—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥

ऐसी हालतमें पूज्यपादके द्वारा 'सप्तभंगी' का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख न होनेपर भी जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आ० कुन्दकुन्द पूज्यपादके बाद हुए हैं वैसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्राचार्य पूज्यपादके बाद हुए हैं—उत्तरवर्ती हैं। और न यही कहा जा सकता है कि 'सप्तभंगी' एकमात्र समन्तभद्रकी कृति है—उन्हींकी जैनपरम्पराको 'नई देन' है। ऐसा कहनेपर आचार्य कुन्दकुन्दको समन्तभद्रके भी बादका विद्वान कहना होगा, और यह किसी तरह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता—मर्कराका ताम्रपत्र और अनेक शिलालेख तथा ग्रन्थोंके उल्लेख इसमें प्रबल बाधक हैं। अतः पं० सुखलालजीकी सप्तभंगी वाली दलील ठीक नहीं है—उससे उनके अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती।

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि पं० सुखलाल जीने अपने साधन (दलील) के अंगरूपमें जो यह प्रतिपादन किया है कि 'पूज्यपादने समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी नहीं किया' वह अभ्रान्त न होकर वस्तुस्थितिके विरुद्ध है; क्योंकि समन्तभद्रकी उपलब्ध पाँच असाधारण कृतियोंमेंसे आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयं-भूस्तोत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार नामकी चार कृतियोंका स्पष्ट प्रभाव पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' पर पाया जाता है, जैसा कि अन्तःपरीक्षण द्वारा स्थिर की गई नीचेकी कुछ तुलना परसे प्रकट है। इस तुलनामें रक्खे हुए वाक्यों परसे

*देखो, न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका 'प्राक्कथन' पृ० १८।

‡"तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः—'अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्य-प्रयोगो नय' इति।"

×देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'समाधितंत्र' की प्रस्तावना पृ० ११, १२।

विज्ञपाठक सहजहीमें यह जान सकेंगे कि आ० पूज्यपादस्वा०ने समन्तभद्रके प्रतिपादित अर्थको कहीं शब्दानुसरणके, कहीं पदानुसरणके, कहीं वाक्यानुसरणके, कहीं अर्थानुसरणके कहीं भावानुसरणके, कहीं उदाहरणके, कहीं पर्यायशब्द-प्रयोगके, कहीं 'आदि' जैसे संग्राहकपद-प्रयोगके और कहीं व्याख्यान-विवेचनादिके रूपमें पूर्णतः अथवा अंशतः अपनाया है—ग्रहण किया है। तुलनामें स्वामी समन्तभद्रके वाक्योंको ऊपर और श्रीपूज्यपादके वाक्योंको नीचे भिन्न टाइपोंमें रख दिया गया है, और साथमें यथावश्यक अपनी कुछ व्याख्या भी दे दी गई है, जिससे साधारण पाठक भी इस विषयको ठीक तौरपर अवगत कर सकें :—

(१) "नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥"
—आप्तमीमांसा, का० ५६

"नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्ति-सिद्धेः।" —स्वयम्भूस्तोत्र, का० ४३

"तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। ··· ततस्तद्भावेनाऽव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। तत्तु कथंचिद्-वेदितव्यम्।" —सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सू० ३१

यहाँ पूज्यपादने समन्तभद्रके 'तदेवेदमिति' इस प्रत्यभिज्ञानलक्षणको ज्योंका त्यों अपनाकर इसकी व्याख्या की है, 'नाऽकस्मात्' शब्दोंको 'अकस्मान्न भवति' रूपमें रक्खा है, 'तदविच्छिदा' के लिये सूत्रानुसार 'तद्भावेनाऽव्यय' शब्दोंका प्रयोग किया है और 'प्रत्यभिज्ञान' शब्दको ज्योंका त्यों रहने दिया है। साथ ही 'न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः' 'क्षणिकं कालभेदात्' इन वाक्योंके भावको 'तत्तु कथंचिद्-वेदितव्यं' इन शब्दोंके द्वारा संगृहीत और सूचित किया है।

(२) "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।"
—आप्तमीमांसा, का० ३७

"भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः ··· ··· ··· ··· ॥"
—युक्त्यनुशासन, का० ८

"न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्"
—स्वयम्भूस्तोत्र २४

"सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावाभावात् संसारतन्निवृत्ति-कारणप्रक्रियाविरोधः स्यात्।"
—सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सू० ३१

यहाँ पूज्यपादने 'नित्यत्वैकान्तपक्षे' पदके लिये समन्तभद्रके ही अभिमतानुसार 'सर्वथा नित्यत्वे' इस समानार्थक पदका प्रयोग किया है, 'विक्रिया नोपपद्यते' और 'विकार-हानेः' के आशयको 'अन्यथाभावाभावात्' पदके द्वारा व्यक्त किया है और शेषका समावेश 'संसार-तन्निवृत्तिकारण-प्रक्रियाविरोधः स्यात्' इन शब्दोंमें किया है।

(३) "विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।" —स्वयंभूस्तोत्र ५३

"विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।
सतो विशेषणस्याऽत्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभिः ॥"
—आप्तमीमांसा, का० ३५

"अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्य-चिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्, प्रयोजनाभावात्। सतोऽप्य-विवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमुच्यते।"
—सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सू० ३२

यहाँ 'अर्पित' और 'अनर्पित' शब्दोंकी व्याख्या करते हुए समन्तभद्रकी 'मुख्य' और 'गुण (गौण)' शब्दोंकी व्याख्याको अर्थतः अपनाया गया है। 'मुख्य' के लिये 'प्राधान्य' 'गुण' के लिये 'उपसर्जनीभूत' 'विवक्षित' के लिये 'विवक्षया प्रापित' और 'अन्यो गुणः' के लिये 'तद्विपरीतमनर्पितम' जैसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है। साथ ही, 'अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य' ये शब्द 'विवक्षित' के स्पष्टीकरणको लिये हुए हैं—आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें जिस अनन्तधर्मिविशेष्यका उल्लेख है और युक्त्यनुशासनकी ४६ वीं कारिकामें जिसे 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्' शब्दोंमें उल्लेखित किया है उसीको पूज्यपादने 'अनेकान्तात्मकवस्तु' के रूपमें यहाँ ग्रहण किया है। और उनका 'धर्मस्य' पद भी समन्तभद्रके 'विशेषणस्य' पदका स्थानापन्न है। इसके सिवाय, दूसरी महत्वकी बात यह है कि आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें जो यह नियम दिया गया है कि विवक्षा और अविवक्षा दोनों ही सत् विशेषणकी होती हैं—असत्की नहीं—और जिसको

स्वयम्भूस्तोत्रके 'अर्पितत्तो न निरात्मकः' शब्दोंके द्वारा भी सूचित किया गया है, उसीको पूज्यपादने 'सतोऽप्यविद्या भवतीति' इन शब्दोंमें संग्रहीत किया है। इस तरह अर्पित और अनर्पितकी व्याख्यामें समन्तभद्रका पूरा अनुसरण किया गया है।

(४) "न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था-
द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम्।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ॥"

—युक्त्यनुशासन, का० ४७

"न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥"

—आप्तमीमांसा, का० ५७

"ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति। यदि नित्यं व्ययोदयाभावादनित्यताव्याघातः। अथानित्यत्वमेव स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति। नैतद्विरुद्धम्। कुतः?(उत्थानिका) ...अर्पितानर्पितसिद्धेर्नास्ति विरोधः। तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता, पुत्रो, भ्राता, भागिनेय इत्येवमादयः सम्बन्धा जनकत्व जन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं, विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोधः।"

—सर्वार्थसि० अ० सू० ३२

यहां पूज्यपादने एक ही वस्तुमें उत्पाद-व्ययादिकी दृष्टिसे नित्य-अनित्यके विरोधकी शंका उठाकर उसका जो परिहार किया है वह सब युक्त्यनुशासन और आप्तमीमांसाकी उक्त दोनों कारिकाओंके आशयको लिये हुए है—उसे ही पिता-पुत्रादिके सम्बन्धो-द्वारा उदाहृत किया गया है। आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकाके पूर्वार्ध तथा तृतीय चरणमें कही गई नित्यता-अनित्यता-विषयक बातको 'द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं, विशेषार्पणया नित्यमिति' इन शब्दोंमें फलितार्थ रूपसे रक्खा गया है। और युक्त्यनुशासनकी उक्त-कारिकामें 'एकार्पणासे'—एक ही अपेक्षासे—विरोध बतला कर जो यह सुझाया था कि अर्पणाभेदसे विरोध नहीं आता उसे 'न विरुध्यन्ते अर्पणाभेदात्' जैसे शब्दों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

(५) "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥
संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥"

—आप्तमीमांसा, का० ७१,७२

"यद्यपि कथंचिद् व्यपदेशादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये (गुणाः), तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्च नान्ये।"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सू० ४२

यहाँ द्रव्य और गुणों (पर्यायों) का अन्यत्व तथा अनन्यत्व बतलाते हुए, श्रा० पूज्यपादने स्वामी समन्तभद्रकी उक्त दोनों ही कारिकाओंके आशयको अपनाया है और ऐसा करते हुए उनके वाक्यमें कितना ही शब्द-साम्य भी आगया है, जैसा कि 'तदव्यतिरेकात्' और 'परिणामाच्च' पदोंके प्रयोगसे प्रकट है। इसके सिवाय, 'कथंचित्' शब्द 'न सर्वथा' का, 'द्रव्यादन्य' पद 'नानात्व' का, 'नान्य' शब्द 'ऐक्य' का, 'व्यपदेश' शब्द संज्ञा' का वाचक है तथा 'भेदहेत्वपेक्षया' पद 'भेदात्' 'विशेषात्' पदोंका समानार्थक है और 'आदि' शब्द संज्ञासे भिन्न शेष संख्या-लक्षण-प्रयोजनादि भेदोंका संग्राहक है। इस तरह शब्द और अर्थ-दोनोंका साम्य पाया जाता है।

(६) "उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥"

—आप्तमीमांसा १०२

"ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते, सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्। रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा अन्धकारकल्पाज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते।"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० १०

यहाँ इन्द्रियोंके आलम्बनसे अर्थके निश्चयमें जो प्रीति उत्पन्न होती है उसे प्रमाणज्ञानका फल बतलाकर 'उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्' यह वाक्य दिया है, जो स्पष्टतया आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकाका एक अवतरण जान पड़ता है और इसके द्वारा प्रमाणफल-विषयमें दूसरे आचार्यके मतको उद्धृत किया गया है। कारिकामें पड़ा हुआ 'पूर्वा' पद भी उसी 'उपेक्षा' फलके लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे कारिकाका प्रारम्भ है।

(७) "नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥ ६२ ॥"

—स्वयम्भूस्तोत्र

"निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।"

—आप्तमीमांसा, का० १०८

"मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम ॥"

—युक्त्यनुशासन, का० ५१

"त एते (नयाः) गुण-प्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात् तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः। ... निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति।"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० ३३

स्वामी समन्तभद्रने अपने उक्त वाक्योंमें नयोंके मुख्य और गुण (गौण) ऐसे दो भेद बतलाये हैं, निरपेक्ष नयोंको मिथ्या तथा सापेक्ष नयोंको वस्तु=वास्तविक (सम्यक्) प्रतिपादित किया है और सापेक्ष नयोंको 'अर्थकृत्' लिख कर फलतः निरपेक्ष नयोंको 'नार्थकृत्' अथवा कार्याशक्त (असमर्थ) सूचित किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार परस्पर अनपेक्ष अंश पुरुषार्थके हेतु नहीं, किन्तु परस्पर सापेक्ष अंश पुरुषार्थके हेतु देखे जाते हैं और अंशोंसे अंशी पृथक् (भिन्न अथवा स्वतंत्र) नहीं होता। उसी प्रकार नयोंको जानना चाहिये। इन सब बातोंको सामने रख कर ही पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिके उक्त वाक्यकी सृष्टि की जान पड़ती है। इस वाक्यमें अंश-अंशीकी बातको तन्त्वादि-पटादिसे उदाहृत करके रक्खा है। इसके 'गुणप्रधानतया', 'परस्परतन्त्राः', 'पुरुषार्थ क्रियासाधनसामर्थ्यात्' और 'स्वतंत्राः' पद क्रमशः 'गुणमुख्यकल्पतः' 'परस्परेक्षाः-सापेक्षाः' 'पुरुषार्थ-हेतुः', 'निरपेक्षाः अनपेक्षाः' पदोंके समानार्थक हैं। और 'असमर्थाः' तथा 'कार्यं नास्ति' ये पद 'अर्थकृत्' के विपरीत 'नार्थकृत्' के आशयको लिये हुए हैं।

(८) "भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥"

—युक्त्यनुशासन, का० ५६

"अभावस्य भावान्तरत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च।",

—सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० २७

इस वाक्यमें पूज्यपादने, अभावके वस्तुधर्मत्वकी सिद्धि बतलाते हुए, समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन-गत उक्त वाक्यका शब्दानुसरणके साथ कितना अधिक अनुकरण किया है, यह बात दोनों वाक्योंको पढ़ते ही स्पष्ट होजाती है। इनमें हेत्वङ्ग और वस्तुव्यवस्थाङ्ग शब्द समानार्थक हैं।

(९) "धनधान्यादि-ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामाऽपि ॥"

रत्नकरण्ड० श्रा० ६१

"धन-धान्य-क्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पंचमाणुव्रतम्।' —सर्वार्थसिद्धि, अ० ७ सू० २०

यहाँ 'इच्छावशात् कृतपरिच्छेदः' ये शब्द 'परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता' के आशयको लिये हुए हैं।

(१०) "तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पापउपदेशः ॥"

—रत्नकरण्ड० ७६

"तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।" —सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

२१ वें सूत्र ('दिग्देशानर्थदण्ड०') की व्याख्यामें अनर्थदण्डव्रतके समन्तभद्रप्रतिपादित पांचों भेदोंको अपनाते हुए उनके जो लक्षण दिये हैं उनमें शब्द और अर्थका कितना अधिक साम्य है यह इस तुलना तथा आगेकी दो तुलनाओंसे प्रकट है। यहाँ 'प्राणिवध' हिंसाका समानार्थक है और 'आदि' में 'प्रलम्भन' भी गर्भित है।

(११) "वध-बन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥"

—रत्नकरण्ड० ७८

"परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्गच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्"

—सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहाँ 'कथं स्यादिति मनसा चिन्तनम्' यह 'आध्यानम्' पदकी व्याख्या है, 'परेषां जय-पराजय' तथा 'परस्वहरण' यह 'आदि' शब्द-द्वारा गृहीत अर्थका कुछ प्रकटीकरण है और 'परस्वहरणादि' में 'परकलत्रादि' का अपहरण भी शामिल है।

(१२)"क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥"
—रत्नकरण्ड० ८०

"प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिछेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचना-द्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितम् ।" —सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहाँ 'प्रयोजनमन्तरेण' यह पद 'विफलं' पदका समानार्थक है, 'वृक्षादि' पद 'वनस्पति' के आशयको लिये हुए है, 'कुट्टन-सेचन' में 'आरम्भ' के आशयका एक देश प्रकटीकरण है और 'आदि अवद्यकार्य' में 'दहन-पवनारम्भ' तथा 'सरण-सारण'का आशय संगृहीत है ।

(१३)"त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यंच वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥"
—रत्नकरण्ड० ८४

"मधु मांसं मद्यं च सदा परिहर्त्तव्यं त्रसघातान्निवृत्त-चेतसा ।' —सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहां 'त्रसघातान्निवृत्तचेतसा' ये शब्द 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' पदके स्पष्ट आशयको लिये हुए हैं और मधु, मांस परिहर्तव्यं पद क्रमशः क्षौद्रं, पिशितं, वर्जनीयंके पर्यायपद है।

(१४)"अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीत-निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥"
—रत्नकरण्ड० ८५

"केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृंगवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनि-स्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघातात्प-फलत्वात् ।" —सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहाँ 'बहुघातात्पफलत्वात्' पद 'अल्पफलबहुविघातात्' पदका शब्दानुसरणके साथ समानार्थक है, 'परिहर्तव्यानि' पद 'हेयं' के आशयको लिये हुए है और 'बहुजन्तुयोनि-स्थानानि' जैसे दो पद स्पष्टीकरणके रूपमें है ।

(१५) "यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति॥"
—रत्नकरण्ड० ८६

"यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनि-ष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति ।"
'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः ।" —सर्वा० अ०७ सू०२१,१

यहाँ 'यानवाहन' आदि पदोंके द्वारा 'अनिष्ट' की व्याख्या की गई है, शेष भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें अनिष्टके निवर्तनका कथन समन्तभद्रका अनुसरण है । साथमें 'कालनियमेन' और 'यावज्जीव' जैसे पद समन्तभद्रके 'नियम' और 'यम' के आशयको लिये हुए हैं, जिनका लक्षण रत्नकरण्ड० श्रा० के अगले पद्य (८७) में ही दिया हुआ है । भोगोपभोग परिमाण व्रतके प्रसंगानुसार समन्तभद्रने उक्तपद्यके उत्तरार्धमें यह निर्देश किया था कि अयोग्य विषयसे ही नहीं किन्तु योग्य विषयसे भी जो अभिसन्धिकृता विरति होती है वह व्रत कहलाती है । पूज्यपादने इस निर्देशमें प्रसंगप्राप्त 'विषयाद्योग्यात्' पदोंको निकाल कर उसे व्रतके साधारण लक्षणके रूपमें ग्रहण किया है, और इसीसे उस लक्षणको प्रकृत अध्याय (नं० ७) के प्रथम सूत्रकी व्याख्यामें दिया है।

(१६) "आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैय्यावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥"
—रत्नकरण्ड० ११७

"स(अतिथिसंविभागः) चतुर्विधः—भिक्षोपकरणौषध-प्रतिश्रयभेदात् ।" —सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहां पूज्यपादने समन्तभद्र-प्रतिपादित दानके चारों भेदों को अपनाया है । उनके 'भिक्षा' और 'प्रतिश्रय' शब्द क्रमशः 'आहार' और 'आवास' के लिये प्रयुक्त हुए हैं ।

इस प्रकार ये तुलनाके कुछ नमूने हैं जो श्री पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' पर स्वामी समन्तभद्रके प्रभावको—उनके साहित्य की छापको—स्पष्टतया बतला रहे हैं और द्वितीय साधनको दूषित ठहरा रहे हैं । ऐसी हालतमें मित्रवर पं० सुखलाल-जीका यह कथन कि 'पूज्यपादने समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी नहीं किया' बड़ा ही आश्चर्यजनक जान पड़ता है और किसी तरह भी संगत मालूम नहीं होता । आशा है पं० सुखलालजी उक्त तुलनाकी रोशनीमें इस विषय पर फिरसे विचार करनेकी कृपा करेंगे ।

भूलसुधार—'पउमचरियका अन्तःपरीक्षण' नामक लेखके पृष्ठ ३४२ कालम १ का कुछ मैटर गलतीसे पृ० ३४३ पर छप गया है । अतः पाठक पृष्ठ ३४२ के प्रथम कालममें नं० २ वाले मैटरके बाद और '(ख) श्वेताम्बरीय सम्बन्धी'—उपशीर्षकसे पहले उन तीन नम्बरोंके मैटरको पढ़नेकी कृपा करें जो पृ० ३४३ पर शुरूमें ही नं० ३, ४, ५ के साथ दर्ज है, और इसकी सूचना भी उक्त उपशीर्षकके पूर्वकी पंक्तिमें बना लेवें ।—प्रकाशक

भगवान महावीर

[लेखक—श्री विजयलाल जैन B. Com.]

कुण्डग्रामके, जिसे कुण्डलपुर भी कहते हैं, राजा सिद्धार्थकी पत्नी और वैशालीके महाराजा चेटककी पुत्री त्रिशलाके पुत्र भगवान महावीर थे। श्रीमती त्रिशलादेवी की लघु बहन चेलना मगध देशके सुप्रसिद्ध महाराजा श्रेणिककी पत्नी थी। भगवानका जन्म एक ऐसे समय में हुआ था जबकि लोग अपने अपने धर्मको प्राय. भूल चुके थे, अन्याय और पाप-मार्ग में लीन होकर धर्मके नाम पर महाहिंसा करते थे। समाजका वातावरण बिगड़ा हुआ था और मनुष्य अपने अपने कर्तव्यसे विहीन हो रहे थे। ऐसी बिगड़ी हुई परिस्थितिको सुलझाने, अहिंसा धर्मका प्रचार कर प्राणीमात्रको कल्याणका मार्ग बताने, धूर्त, पाखण्डी और पापियोंका जो बोलबाला था उसे सर्वदाके लिये मिटाने श्रीमहावीर भगवानका जन्म हुआ। भगवान महावीरने कोई नया धर्म नहीं फैलाया किंतु प्रायः उन्हीं धर्म-सिद्धान्तोंको फिरसे दुहराया जिनको इनके पूर्व भगवान पार्श्वनाथ भी इसी प्रकार संसारके सामने रख चुके थे।

भगवान महावीर महात्मा बुद्धके समकालीन थे महात्मा बुद्धने स्पष्टरूपसे कहा है कि कोई भी मनुष्य जन्मसे नीच नहीं होता बल्कि वे द्विजगण जो हिंसा करते नहीं हिचकते और हृदयमें दया नहीं रखते वे ही नीच हैं (सुत्तनिपात)। म० बुद्धका कहना है कि "जन्मसे ब्राह्मण नहीं होता है न अब्राह्मण होता है किंतु कर्मसे ब्राह्मण होता है और कर्मसे ही अब्राह्मण"।

भगवान महावीरने आचरण पर उसका महत्व अवलंबित बतलाया है। गोम्मटसारमें स्पष्ट कहा है कि "सन्तानक्रमसे चले आये हुए जीवके आचरणकी गोत्र संज्ञा है। जिसका ऊंचा आचरण हो उसका उच्च गोत्र और जिसका नीच आचरण हो उसका नीच गोत्र होता है"। यह नहीं कि यदि कोई व्यक्ति नीच वर्णमें उत्पन्न हुआ हो और वह सन्मगति पाकर अपने आचरणको सुधार कर उन्नत बनाले तो भी वह नीच बना रहे। कोई भी पुरुष उच्च आचरणसे उच्च गोत्रको प्राप्त कर सकता है। यही भगवान महावीरका एक उपदेश है। भगवानने जीवमात्रके साथ मैत्रीभाव रखनेका हमें पाठ पढ़ाया है। ऊँच और नीच हमने अपने स्वार्थवश बनाये हैं। उन्हीं उपदेशोंको लेकर अगर आज हम और हमारे पूज्य आचार्यवर्ग समाज के गिरे हुए व्यक्तिको धर्मका बोध देकर अपना साधर्मी बनावें तो एक तो उस आत्माका कल्याण होगा जो कि स्वार्थवश नीच बनाई गई है और दूसरे समाजकी संख्या व संगठनमें वृद्धि होकर उपदेश देनेवालेका भी आत्म-कल्याण होगा। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि आधुनिक हरिजन उद्धारकी समस्या भगवानकी दिव्य वाणीका एक अंग है।

भगवान महावीरके विषयमें कहा गया है कि जब वे अपनी माताके गर्भमें आये थे तब माता त्रिशला देवीने सोलह शुभ स्वप्न देखे और स्वर्गलोकमें देवगणोंद्वारा महोत्सव मनानेसे यह ज्ञात होगया कि अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीरका जन्म होगा। चैत्र सुदी १३ के दिन जिस समय अनंत गुणधारी भगवान महावीर स्वामीका शुभ जन्म हुआ उस समय सब दिशायें निर्मल हो गईं, समुद्र स्तब्ध हो गया, पृथ्वी किंचित हिल गई और सब जीवोंको क्षणभरके लिये परम शान्तिका अनुभव हुआ।

कुण्डग्राम भगवान महावीरका जन्मस्थान था और उसमें ज्ञात्रिक क्षत्रियोंकी मुख्यता थी। श्वेताम्बर आम्नाय के ग्रन्थोंमें स्पष्टत भगवानका जन्म-सम्बन्ध वैशालीके साथ प्रकट किया हुआ मिलता है। जैसे सूत्रकृताङ्ग (१-२-३-२२) उत्तराध्ययनसूत्र, (६—१७) व भगवतीसूत्र (२ १ १२ २) में भगवानका उल्लेख 'वैशालीय' या 'वैशालिक' रूपमें हुआ है, जिससे उनका वैशालीके नागरिक होना प्रकट है। अभयदेवने भगवतीसूत्रकी टीकामें 'विशाला' को महावीर-

जननी लिखा है। महावीरके नाना राजा चेटक वज्जिराज-संघके अधिपति थे जिनकी राजधानी वैशाली थी। कहते हैं कि यह तीन भागोंमें विभक्त था अर्थात (१) वैशाली (२) वणियग्राम, और (३) कुण्डग्राम।

दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में यद्यपि ऐसा कोई प्रकट उल्लेख नहीं है जिससे भगवानका सम्बन्ध वैशालीसे सिद्ध हो किंतु उनमें कुण्डग्राम, कुलग्राम, वनषण्ड आदि नाम आए हैं वे सब वैशालीके निकट मिलते हैं। कोई कोई विद्वान कोल्लागको, जो कुण्डग्रामसे उत्तर-पूर्वमें स्थित था, महावीरका जन्मस्थान बतलाते हैं किन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी मान्यतासे विरुद्ध है। श्वेताम्बर ग्रंथोंसे पता चलता है कि कोल्लागके निकट एक चैत्यमंदिर था जिसको 'दुइपलाश', 'दुइपलाश उज्जान' अथवा नायषण्डवन' कहते थे। इसी उद्यानमें भगवानके दीक्षा लेनेका वर्णन पाया जाता है। अतः दिगम्बर सम्प्रदायके उल्लेखोंसे भगवानका जन्मस्थान कुण्डग्राम वैशालीके निकट प्रमाणित होता है और चूंकि राजा सिद्धार्थ वैशाली के राजसंघमें शामिल थे तब वैशालीको उनका जन्म-स्थान कहना अत्युक्ति नहीं रखता। कुण्डग्राम वैशालीका एक भाग अथवा सन्निवेश ही था। दोनों सम्प्रदायोंके मत को मान्यता देते हुए यह कहा जा सकता है कि भगवानका जन्म-स्थान वैशाली-राज्यान्तर्गत कुण्डग्राम होगा। वर्तमान में कुण्डग्राम अथवा कुन्डलपुरमें भगवानका जन्मोत्सव मनाने प्रतिवर्ष मेला लगता है, जिसमें दोनों सम्प्रदायवाले एकत्रित होकर सानन्द उत्सव मनाते हैं।

भगवानका जन्मस्थान कुण्डग्राम होनेका प्रमाण बौद्ध ग्रंथ 'महावग्ग' मे मिलता है। इसमें लिखा है कि "एक वक्त महात्मा गौतम बुद्ध कोटिग्राममें ठहरे थे जहां नाथिक लोग रहते थे। बुद्ध जिस भवनमें ठहरे थे उसका नाम 'नाथिक-इष्टिका भवन" था। कोटिग्रामसे वे वैशाली गये। सर रमेशचन्द्र दत्त इस कोटिग्रामको कुण्डग्राम ही बतलाते हैं और लिखते हैं कि "यह कोटिग्राम वही है जो कि जैनियोंका कुण्डग्राम है और बौद्ध-ग्रंथोंमें जिन नातियोंका वर्णन हैं वे ही ज्ञात्रिक क्षत्री थे।"

भगवान महावीर के जन्म होनेसे उनके पिताके राज्यमें विशेषरूपसे हर बातमें वृद्धि होती नज़र आई, इसीलिये भगवानका नाम 'वर्द्धमान' रक्खा गया। उपरान्त जब सौधर्मेन्द्रने भगवानके जन्मोत्सव पर उनकी संस्तुति की तो उनका नाम महावीर रक्खा। भगवानके जन्मसंबंधी शुभ समाचार सुनकर संजय नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि, एक अन्य विजय नामक मुनिके साथ, भगवानके दर्शन करने आये और दिव्यरूपके दर्शनसे उनकी शंकाओंका समाधान होगया था, इसलिये उन्होंने भगवानका नाम 'सन्मति' रक्खा।

भगवानको नाथ-कुल-नंदन भी कहते हैं। हिन्दुशास्त्रो मे उनका नामोल्लेख 'अर्हन महिमन या महात्मान्य' रूपमे हुआ है। श्वेताम्बर शास्त्र 'उपासकदशासूत्र' में उनको 'महामाहन' अथवा 'नायमुनि' लिखा है।

भगवान महावीरके विषयमें हमें ज्ञात है कि वे अपनी कुमारावस्थामें राजकुमारों, मंत्रि-पुत्रों और देव-सहचरोंके साथ अनेक प्रकारकी क्रीडायें करते थे। उन्होंने बाल्य-जीवनसे ही अहिंसा, त्याग और शौर्यका आदर्श लोगोंके समक्ष रक्खा था। आठ वर्षकी नन्हीं सी अवस्थामें उन्होंने जानबूझ कर किसी भी आत्माको पीडा न पहुचानेका संकल्प कर लिया था और यह दृढ निश्चय किया था कि किसी भी दशामें प्राणीहत्या न करूंगा और सत्यका ही अभ्यास करूंगा। इस प्रकार उन्होंने सत्य और अहिंसाका उच्च आदर्श हमारे सामने रक्खा।

भगवान महावीरने राजकुलमें जन्म धारण किया। उन्हें भोग-विलासकी सामग्रीकी कोई कमी नहीं थी किन्तु पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वे विलासिता व वासनाओंकी तृप्तिसे कोसों दूर थे। आवश्यक सामग्रीको परिमित रूपसे रखते थे और सिर्फ शौकके खातिर अनावश्यक वस्तुओंको एकत्रित नहीं करते थे। यह उच्च त्याग धर्म हमें सादा Economic जीवन व्यतीत करनेका पाठ पढाता है।

एक दिन वे राज्योद्यानमें अपने अन्य सहचरों सहित क्रीडा कर रहे थे कि एक ओरसे विकराल सर्प उनपर आ धमका। बेचारे अन्य सखा भयभीत होकर इधर उधर भाग गये परन्तु भगवान महावीर जरा भी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने बातकी बातमें उस सर्पको वश कर लिया और उसपर दया करके वैसा ही छोड दिया। वास्तवमें

वह सर्प स्वर्गलोकका एक देव था जो भगवानके दयालु चित्त और अपूर्व बलशाली शरीरकी प्रसिद्धि सुनकर उनकी परीक्षा लेने आया था। इस तरह भगवानकी परीक्षा लेकर वह विशेष हर्षित हुआ और भगवानकी वंदना करके अपने स्थानको चला गया। भगवानका यह बाल्यकाल, आदर्श-त्याग व ब्रह्मचर्यका जीवन हमारे लिये अनुकरणीय है।

भगवानके माता पिता उनकी युवावस्थाको देखकर विवाह करदेनेकी आयोजना करने लगे। देश-देशांतरोंके राजागण अपनी कन्याओंको भगवानके साथ परणवाना चाहते थे परन्तु विशिष्ट ज्ञानी, त्यागकी मूर्ति, भगवान महावीरको यह रमणी-रत्न भी मोहित नहीं कर सका। उन्होंने संसार कल्याणके लिये अपने सर्वस्वका त्याग करना ही परमावश्यक समझा। माता पिताने बहुत समझाया किन्तु वैराग्यका गाढ़ा रंग जो भगवान पर चढ़ चुका था वह उतरना तो दूर रहा किन्तु ज़रा भी हलका नहीं हुआ। महावीरने अपना विवाह करना अस्वीकार कर दिया।

श्वेताम्बर संप्रदायके शास्त्रोंमें कहा गया है कि भगवान ने अपने माता पिताके आग्रहसे कलिंग देशके राजा जितशत्रु की पुत्री यशोदासे पाणिग्रहण कर लिया था और उनके प्रियदर्शना नामकी पुत्रीका भी जन्म हुआ था। दिगम्बर शास्त्र हरिवंश-पुराणमें कहा गया है कि यशोदाके साथ विवाहकी आयोजना की गई थी परन्तु महावीर स्वामीने उसे स्वीकार नहीं किया। इसकी पुष्टि बौद्ध-ग्रंथोंसे भी होती है

श्वेताम्बर शास्त्रोंमें भगवान महावीरके अविवाहित रहनेकी भी एक मान्यता है जिससे मालूम होता है कि भ० महावीर प्रथमवय कुमारावस्थामें ही वासुपूज्य, मल्लि, नेमि और पार्श्वनाथ तीर्थंकरोंकी तरह बिना विवाह कराये दीक्षित होगये थे।

भगवान महावीरका जन्म एक ऐसे समयमें हुआ था जब कि सामाजिक हालत बिगड़ी हुई थी। ब्रह्मचर्यका महत्व कम होगया था। अपने अखण्ड ब्रह्मचर्यसे समाजको शिक्षा देना भगवानको अभीष्ट था। और मुमकिन है इसी वजहसे विवाह स्वीकार नहीं किया हो; क्योंकि उनके जीवनका प्रधान लक्ष्य संसारकल्याण था, अन्याचारों को रोकना और उन प्राणियोंको जो धर्मका रास्ता भूलकर अधर्म पथपर अग्रसर होरहे थे, सन्मार्ग पर लगाना उन्हें खासतौर पर इष्ट था। उस समय समाजमें ब्रह्मचर्यका महत्व कम होकर व्यभिचारकी मात्रा बढ रही थी। ऋषि-गण, जिनका इन्द्रियनिग्रह व संयमपालन करना मुख्य कर्तव्य था, अपने कर्तव्यसे च्युत होकर पत्नियां रखते थे। ऐसी परिस्थितिमें भगवानके दिव्य अखंड ब्रह्मचर्यके चरित्र से जनता पर महान प्रभाव पड़ा। आजके असंयमय वातावरणमें देशके नवयुवकोंके समक्ष यह आदर्श उप-स्थित करना परम आवश्यक है। जिस पवित्र भारतवर्षमें भगवान महावीरके दिव्य अखण्ड ब्रह्मचर्यका अनुपम आदर्श उपस्थित हो रहा था वहीं आज ब्रह्मचर्यका प्रायः सर्वथा अभाव देखकर हमारा हृदय थर्रा जाता है। भगवान महावीरका यह आदर्श परम शिक्षापूर्ण, हितकर और प्रत्येक स्त्री-पुरुषके लिये अनुकरणीय है। यदि हम भगवान के इस दिव्य चरित्रसे किंचित मात्र भी उपदेश ग्रहण करें तो अवश्य हमारा कल्याण हो सकता है।

भगवान महावीर बाल्यावस्थासे ही श्रावकके व्रतोंका अभ्यास करते हुए अपने पिता के राज्यमें सहायक बन रहे थे। एकदिन भगवान विचारमें मग्न थे कि सहसा उनको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया और आत्मज्ञान प्रकट हुआ। उन्होंने विचारा कि स्वर्गोंके अपूर्व विषय-सुखोंसे जब कुछ तृप्ति नहीं हुई तो यह सांसारिक क्षणिक इन्द्रिय-विषय-सुख किस तरह सुखी बना सकते हैं। भगवानने विचारा कि उन्होंने अपने जीवनके ३० वर्ष वृथा व्यतीत किये हैं। मनुष्य जन्म दुर्लभ है और इस लिये इस जन्मका सच्चा उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

उत्तर पुराणमें लिखा है कि इस प्रकार भगवानके जातिस्मरण और आत्मज्ञान होने पर लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की और इन्द्रादि देवोंने आकर उनके दीक्षाकल्याणका उत्सव मनाया। भगवानने मीठी वाणीसे सब भाई-बन्धुओंको प्रसन्न किया और सब से विदा लेकर वे अपनी चन्द्रप्रभा पालकी पर आरूढ़ हो वनखंड नामक वनमें पहुँचे। वहां पर आपने अपने सब वस्त्राभूषण आदि उतार कर वितरण कर दिये और फिर आप सिद्धोंको नमस्कार कर उत्तराभिमुख होकर तथा पंच मुष्टि केशलोंच करके परम उपासनीय निर्ग्रन्थ मुनि होगये।

* देखो अनेकान्त वर्ष ४ किरण ११-१२ पृ० ५ ६६-८०

भगवान महावीरने निर्ग्रंथ मुनिकी दिगम्बरीय (नग्न) दीक्षा ग्रहण की थी वह दिगंबर शास्त्र प्रगट करते हैं परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शास्त्रका कथन है कि भगवान दीक्षासमय नग्न हुए थे। इन्द्रने दीक्षासमयसे एक वर्ष और एक महीना उपरान्त तक देवदूष्य वस्त्र धारण कराये थे। पश्चात् वे नग्न हो गये। (जैनसूत्र भा० १) देवदूष्य वस्त्रकी व्याख्यामें बताया है कि इस वस्त्रको पहने हुए भी भगवान नग्न प्रतीत होते हैं। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों पर इस सम्बन्धमें एक गंभीर दृष्टि डालें तो उनमें भी हमें नग्नावस्थाकी विशिष्टता मिल जाती है। आचाराङ्गसूत्रमें नग्न अवस्थाको सर्वोत्कृष्ट बतलाया है और कहा है कि तीर्थंकरोंने भी इस नग्नवेषको धारण किया था। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि न केवल भगवान महावीर और ऋषभदेवने ही इस नग्नावस्थाको धारण किया था किन्तु प्रत्येक तीर्थंकरने अपने मुनिजीवनमें इस प्राकृतिक मुद्राको अपना कर नग्नपरिषहको सहन किया है।

जैन ग्रन्थोंके अतिरिक्त बौद्धोंके पाली और चीनी भाषाओंके ग्रंथोंमें भी जैन मुनियोंको अचेलक अर्थात नग्न-रूप लिखा हुआ पाया जाता है। हिन्दुओंके प्राचीन ऋगवेद, वराहमिहिरसंहिता, महाभारत विष्णुपुराण, भागवत, वेदान्तसूत्र, दशकुमारचरित्र इत्यादि शास्त्रोंमें जैन मुनियो को 'नग्न' 'विवसन' आदि लिखा है। अचेलक अर्थात नग्न दशा ही कल्याणकारी है और यही मोक्ष प्राप्त करनेका सनातन लिंग है, यह बात जैनमतमें प्राचीनकालसे स्वीकृत है। अतएव जैन मुनियोंके यथाजात दिगम्बर वेषमें शंका करना वृथा है।

दीक्षा धारण करने पर भगवान महावीरने ढाई दिन का उपवास किया। महावीर पुराणका कथन है कि जब भगवान सर्वप्रथम मुनिअवस्थामें आहारनिमित्त निकले तो कुल नगरके कुलनृपने उनको पडगाह कर भक्तिपूर्वक आहार दान दिया था। भगवान पारणा करके पुनः वनमें आकर ध्यानलीन और तपश्चरण-रत हो गये। वहां पर निःशंक रीतिसे रहकर उन्होंने अनेक योगोंकी साधना की और एकांत स्थानमें विराजमान होकर बार-बार दश तरह के धर्म-ध्यानका चिंतवन किया।

उपरान्त विचरते हुए वे उज्जयनीके निकट अवस्थित अतिमुक्तक नामक श्मशानमें पहुंचे और वहां रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करके तिष्ठ गये। उसी समय भव नामक एक रुद्रने आकर घोर उपसर्ग किया किन्तु भगवान जरा भी अपने ध्यानसे चल-विचल नहीं हुए। हठात रुद्रको लज्जित होना पड़ा और उसने भगवानकी उचितरूपसे स्तुति की।

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर शास्त्रोंमें भगवानपर अन्य बहुतसे उपसर्ग होनेका वर्णन मिलता है, जिससे भगवानके कठिन तपश्चरण और महती सहनशीलतापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सचमुच भगवान महावीरके जीवनका महत्व उनकी इस कष्टसहिष्णुतामें नहीं है प्रत्युत उस आत्मबल और देहविरक्तिमें है जहांसे इस गुणका और इसके साथ साथ अन्य कितने ही गुणोंका उद्गम हुआ था। एक बार अपने अनुपम सौन्दर्यसे विश्वको विमोहित करने वाली अनेक सुन्दर सलोनी देव-रमणियों महावीरजीके पास आकर रास रचने लगीं और नाना प्रकारके हाव, भाव, कटाक्ष और मोहक अंगविक्षेपसे वे अपनी केलि-कामना प्रगट करने लगीं कि जिसे देखकर किसी साधारण युवा तपस्वीका स्वलित हो जाना बहुत संभव था किन्तु भगवान महावीर पर इस कामसैन्यका कुछ भी असर न हुआ। महावीर अजेय थे। फलतः देव-रमणियां अपनासा मुँह लेकर चली गईं। यह घटना भगवानके आत्मबल और इन्द्रिय-निग्रहकी पूर्णताकी द्योतक है।

दिगंबर व श्वेताम्बर सम्प्रदायके मतानुसार भगवान महावीरका १२ वर्ष तक तपश्चरण करनेके उपरान्त ४२ वर्ष की आयुमें केवलज्ञान प्राप्त होना दर्शाया गया है। वैसाख सुदी १० के सुव्रत नामके दिन जृंभक ग्रामके बाहर ऋजुकूला नदीके वाम तट पर एक साल वृक्षके नीचे भगवान ज्ञान-ध्यानमें लीन विराजमान थे। समय मध्यान्हका हो गया था। सूर्यदेव अपने प्रचण्ड प्रकाशसे तनिक स्वलित हो चले थे, उसी समय भगवानको दिव्य केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई और वे साक्षात तीर्थंकर बन गये। भगवानको तीनों लोककी चराचर वस्तुयें उनके ज्ञाननेत्रमें झलकने लगीं। भगवान त्रिलोकवंदनीय बन गये। ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंका उनके अभाव हो गया। भगवान इस संसारमें साक्षात केवली, परमात्मा हो गये। भगवानका ज्ञान आज तक ज्योंका त्यों प्रकाशमान है और सदैवके लिये ऐसा ही रहेगा। यही दिव्य जीवन है, परमोत्कृष्ट

प्रकाश है, साक्षात ज्ञान, शांति और सुख है। जिस समय भगवान सर्वज्ञ हुए देवलोकके इन्द्र तथा देवतागण भगवानके निकट आनन्दोत्सव मनाने आये। उन्होंने अनेक प्रकारसे भगवानकी स्तुति और बंदना की। हम भी इस समय उस दिव्य अवसरका स्मरण करके मन, वचन और कायकी विशुद्धतासे भगवानके परम पवित्र ज्ञानवर्द्धक चरणोंमे नतमस्तक होते हैं।

उसी समय इन्द्रने भगवानका सभाभवन अर्थात समवसरण रचाया। समवसरणकी गंधकुटीमे अंतरीक्ष विराजमान होकर भगवान महावीर सर्व जीवोंको समान रीतिसे उपदेश देते थे जो कि जीवमात्रके लिये सुगम व प्राप्य था। वहां न मतभेद था न जाति-भेद, न ऊंचका ख्याल था और न नीचका। सब समान-भावसे भगवानके उपदेशसे कृतकृत्य होते थे।

इस दिव्य समवसरण-सहित भगवान सर्वत्र विहार करते थे। इस विहारमे उनके साथ चतुर्निकायिक संघ और मुख्य गणधर भी रहते थे। भगवानके सर्वप्रथम शिष्य और मुख्य गणधर वेदपारंगत प्रख्यात ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम थे। भगवान महावीरने सनातन सत्यका उपदेश सर्वप्रथम इन्हींको दिया था। इनको मन.पर्यय ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी और इन्होंने मुख्य गणधरके पद पर विराजमान होकर भगवानकी वाणीकी द्वादशांगरूपमे रचना की थी।

भगवान महावीरका उपदेश सनातन यथार्थ सत्यके सिवा और कुछ न था। उन्होंने कोई नवीन मतकी स्थापना नहीं की थी किन्तु प्राचीन जैन धर्मको पुनः जीवित किया था। उस समयके प्रख्यात मतप्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्धके विषयमे तो स्पष्ट है कि उनके जीवन पर भगवान महावीर की सर्वज्ञ-अवस्थाका ऐसा प्रबल प्रभाव पडा कि भगवान महावीरके धर्मप्रचारके अन्तरकाल तक उनके दर्शन ही मुश्किलसे होते थे। महात्मा बुद्धके ४७ से ७० वर्षके मध्यवर्ती जीवन घटनाओंका उल्लेख नहींके बराबर मिलता है। रेवरेन्ड बिशप बिगन्डेट साहब तो कहते हैं कि यह काल प्राय. घटनाओंके उल्लेखसे कोरा है। महात्मा बुद्धके उपरोक्त जीवनकालकी घटनाओंके न मिलनेका कारण सच-मुच भगवान महावीरके धर्मप्रचारका प्रभाव है। यह बात बौद्ध ग्रन्थ 'सामगाम सुतन्त' से भी सिद्ध होती है, जिसमे बतलाया है कि भगवान महावीरकी निर्वाण प्राप्तिकी खबर पाकर महात्मा बुद्धके प्रमुख शिष्य आनन्द बडे हर्षित हुए थे और बडी उत्सुकतासे यह समाचार महात्मा बुद्धको सुनानेके लिये दौडे हुए गये थे। भगवानके केवली होते ही जनता उन पर एक दम मोहित होगई थी। बंगाल व बिहार प्रान्तमे वीरगुणानुवादकी धूमधाम खूब जोरोंसे थी। सिंघभूम ज़िलाका शुद्ध नाम 'सिंह भूमि' बताया गया है क्योंकि वीर प्रभुका चिन्ह सिंह था। इसके अतिरिक्त विजय-भूमि वर्द्धमान जिसको आजकल बर्दवान कहते हैं व वीर-भूमि आदि स्थान भगवान महावीरके पवित्र नाम और उनके सम्बन्धको प्रकट करने वाले हैं।

भगवान महावीरकी सर्वज्ञताके संबन्धमे डा० विमल चरण, M.A ph D. अपनी पुस्तक Some Khattriya Tribes of Ancient India मे लिखते हैं कि- 'भगवान महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त केवलज्ञानके धारी चलते, बैठते, सोते, जागते सब समयोंमे सर्वज्ञ थे। वे अत्यन्त बुद्धिमान, परम विद्वान, दातार पुरुष, चतुःप्रकार से इन्द्रिय निग्रहमे दत्तचित्त और स्वयं देखी सुनी वस्तुओ को बतलाने वाले थे। जनता उनको बहुत ही पूज्य दृष्टिसे देखती थी।'

भगवान महावीरने अपनी समवसरणकी विभूति सहित सर्वत्र विहार किया और सब जीवोको बिना भेदभाव के धर्मोपदेश दिया। महावीर पुराणमे लिखा है कि विदेह के राजा चेटकने भगवानके चरणोंका आश्रय लिया था। अंगदेशके शासक कुणिकने भगवानकी विनय की थी और वह कोशाम्बी तक भगवानके साथ साथ गया था। कौशाम्बीके नृपति शतानीकने भगवानकी उपासना की और वह अन्तमे भगवानके संघमे सम्मिलित हो गया था। भगवानकी माता त्रिशलाकी छोटी बहन मृगावती राजा शतानीककी पट्टरानी थी। राजा शतानीक जैनधर्मके परम भक्त थे। माता त्रिशलाकी सबसे छोटी बहन चन्दना आजन्म कुमारी ही रही थी। वह सर्वगुणसम्पन्न परम सुन्दरी थी। एक दिन जब वह राजोद्यानमें वायुसेवन कर रही थी उस समय एक विद्याधर उसे उठा कर विमानमे ले उडा। किन्तु अपनी स्त्रीके भयसे वह उसको अपने घर नहीं लेगया और मार्गमे ही छोड गया। शोकातुर चन्दना को उस समय एक भीलने लेजाकर अपने राजाके सुपुर्द कर दिया। दुष्ट भीलराजने चन्दनाको बहुत त्रास दिये

किन्तु वह सती अपने धर्मसे विचलित नहीं हुई। हठात् हसने एक व्यापारीके हाथ उसको बेच दिया। उसने भी निराश होकर कोशाम्बीमें कुछ रुपये ले कर चन्दनाको वृषभसेन नामक सेठके हवाले कर दिया। सती स्त्रियोंको अपने सतीत्वकी रक्षा के हेतु अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं और यह उनकी सच्चाईकी परीक्षा है। आपत्ति पड़ने पर भी धर्म पालना सच्चा धर्म है। चन्दनाके सतीत्वका उदाहरण अनुकरणीय है।

दयालु सेठ वृषभसेनने चन्दनाको बड़े प्रेमसे घरमें रहने दिया। चन्दना सेठानीके गृहकार्यमें पूर्ण सहायता देती थी, जो कि स्वामिभक्ति व कर्तव्य-परायणताका एक आदर्श उदाहरण है। चन्दनाके अपूर्व रूप-लावण्यने सेठानी के हृदयमें डाह उत्पन्न कर दिया और वह चन्दनाको मनमाने कष्ट देने लगी। उधर चन्दनाके भी कष्टोंका अन्त आगया। भगवान महावीरका शुभागमन कोशाम्बीमें हुआ। दुखिया चन्दनाने उनको आहार दान देनेकी हिम्मत की। पतितपावन प्रभुका आहार चन्दनाके यहां हो गया। सत्य है भगवानको भक्त प्यारा है। लोग आश्चर्यमें पड़ गये, चन्दनाका नाम चारों ओर प्रसिद्ध हो गया। भगवानके भक्तवत्सल होनेका यह एक ज्वलंत उदाहरण है। कौशाम्बी नरेशकी पट्टरानीने जब यह समाचार सुने तो वह अपनी छोटी बहनको बड़े आदर व प्रेमसे राजमहलमें ले आई, किंतु वह वहां अधिक दिन न ठहर सकी। भगवान महावीरके दिव्य एवं पवित्र चरित्रका प्रभाव उसके हृदय पर अंकित हो गया। वैराग्यकी अटूट धारामें वह गोते लगाने लगी और शीघ्र ही वीरनाथके पास पहुंच कर उसने जिनदीक्षा ले ली।

मगध देशके राजा श्रेणिक भगवानके अनन्य भक्त थे और उन्हींकी राजधानी राजगृहमें भगवानने अधिक समय व्यतीत किया था। जिस समय भगवान सर्वप्रथम राजगृह आये थे उस समय वेदपारंगत विद्वान इन्द्रभूति गौतम उनके साथ थे जो कि भगवानके प्रमुख गणधर थे। इनके अतिरिक्त बहुतसे ब्राह्मण और क्षत्रियराजपुत्र तथा वणिक सेठ आदि भगवानके विहार और धर्मप्रचारमें प्रवृत्त हुए थे। राजकुमार अभय, शतवाहन आदि मुनिधर्ममें लीन हुए थे। ज्येष्ठा, चन्दना सदृश राजकुमारियां भी आर्यिका हुई थीं। राजगृहके सेठ शालिभद्र, धन्यकुमार, प्रीतंकर आदि महानुभाव वणिकोंमेंसे परमपुरुषार्थके अभ्यासी हुए थे। अन्तमें धर्मप्रचार करते हुए भगवान पावापुर पहुंचे और वहींसे उन्होंने मोक्षलाभ किया था। पावापुरके मनोहर वनमें अनेक सरोवरोंके मध्य महामणियोंकी शिला पर विराजमान हुए विहार छोड़ कर निर्जराको बढ़ाते हुए वे दो दिन तक वहां विराजमान रहे और जब चौथे कालके तीन वर्ष ८॥ महीना बाकी रह गये थे, कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रिके अन्तिम समयमें (चार बजे) स्वाति नक्षत्रमें तीसरे शुक्लध्यानमें तत्पर हुए। तदनन्तर उन्होंने तीनों योगोंका निरोध कर समुच्छिन्नक्रिया नामके चौथे शुक्लध्यानका आश्रय लिया और चारों अघातिया कर्मोंको नाशकर शरीररहित केवलगुणरूप होकर एक हजार मुनियोंके साथ सब के द्वारा वांछनीय ऐसा मोक्ष पद प्राप्त किया।

भगवानके इस अंतिम दिव्य अवसरके समय भी स्वर्गलोकके इन्द्र और देवतागण आये थे और उन्होंने मोहका नाश करने वाले भगवानके शरीरकी पूजा-वंदना की थी। देवोंने उस पवित्र शरीरको अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे प्रगट हुई अग्निकी शिखामें स्थापन किया था। इसी अवसरपर आस पासके राजा लोग पावापुर पहुंचे और वहां पर दीपोत्सव मनाया। कल्पसूत्रमें इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है:—

"उस पवित्र दिवस जब पूजनीय श्रमण महावीर सर्व सांसारिक दुःखोंसे मुक्त हो गये तो काशी और कौशलके १८ राजाओंने ६ मल्ल राजाओंने, और ६ लिच्छवि राजाओंने दीपोत्सव मनाया था। यह प्रोषधका दिन था और उन्होंने कहा ज्ञानमय प्रकाश तो लुप्त हो चुका है, आओ भौतिक प्रकाशसे जगतको दैदीप्यमान बनावें।"

इस प्रकार इस दिव्य अवसरके अनुरूप आज तक यह दीपोत्सवका त्योहार याने दीपमालिका अथवा दिवालीका उत्सव चला आ रहा है। भगवान महावीरके परमश्रेयो लाभकी पुण्य स्मृति और पवित्रता इस त्योहारमें गर्भित है।

अपराधी

[लेखक—श्री 'भगवत' जैन]

[१]

कौशाम्बीके धनकुबेर अंगारदेव प्रतिष्ठित व्यक्तियोंमें गिने जाते हैं। मनके साफ, प्रकृतिसे धार्मिक और सच्चरित्र पुरुष हैं। काफी आदर प्रतिष्ठा उन्हें प्राप्त है। प्रतिष्ठाका धरातल अगर टटोला जायेगा, तब तो धन ही प्रमुख दिखाई देगा। क्योंकि आदर सच्चरित्रता, धार्मिकता और नेकनीयतीके बिना भी मिलता देखा जा रहा है। लेकिन निर्धनको दूसरे गुणों के सबब पुजता नहीं देखा गया। ऐसे दो चार दृष्टान्त जुटाना गहरी खोजबीनका फल ही हो सकता है। हाँ, विरागी-मंडलकी बात जुदा है, क्योंकि वे हमारी दुनियासे जुदे हैं। होता तो यही है, कि लाख 'ऐब' बदकारियाँ होते हुए भी 'पैसा' बुराइयों पर बुर्का डाले रहता है। प्रतिष्ठामें, पूजामें कमी नहीं आने देता।

महाराज गन्धर्वसेनने एक दिन एक मणि, पद्मराग-मणि अंगारदेवको दी—किसी अलंकारमें जड़ने के लिये! यही तो अंगारदेवका व्यवसाय था। वह 'जड़िया-खान्दान' के चतुर कलाकार थे। लोग उनके कार्य पर मुग्ध थे। यहाँ तक कि दूर-दूरसे उनके पास काम आता और जब लौटकर जाता, तो शायद उनकी प्रख्यातिको और भी मजबूत, और भी विस्तृत बनाने की शर्त लेकर।

और यों अंगारदेव इस लायक साबित हो सके, कि उन्हें कोई भी बेशकीमती मणि बेखटके सौंपी जा सके। बड़े लोगोंका यकीन जो बड़े लोगों पर ही होता है। गरीबोंकी ईमानदारी उनकी निगाहमें चढ़ती ही कब है!

[२]

सौंदर्य-निर्मायक अंगारदेव मणि-कांचन-संयोगके उपक्रममें व्यस्त थे। कभी किसी तरह लगाकर देखते, कभी किसी तरह। कभी सोचते—'किस तरह लगाने से अधिक सौंदर्यवर्द्धक बन सकेगा?

देर तक यही असमंजस रही। आखिर एक डिज़ाइन पसन्द आई। देर तो जरूर लगा, मगर डिज़ाइन भी ऐसी हाथ लगी कि एक बार खुशीसे मुँह दमक उठा। आत्म-संतोषकी लालीने ओठोंपर मुस्कराहट ला दी।

उमंग उत्साहके साथ अङ्गारदेव बहुमूल्य-मणिको अलंकारके रूपमें परिणत करनेके लिए तैयार हो ही रहे थे कि उनकी नज़र ईर्यापथसे चलते हुए, दिगम्बर-साधुपर जा पड़ी। वे विश्ववन्द्य तपोनिधि चर्याके लिए—शरीर स्थितिनिमित्त भोजन, नीरस-भोजनके लिए वनसे नगरमें पधारे थे।

अंगारदेवके मनमें भक्तिका निर्झर प्रवाहित हो उठा, श्रद्धासे मस्तक झुक गया!—भीतर धार्मिक भावनाएँ जो पनप रही थीं। सब-कुछ यों ही छोड़-छाड़, वे लगे महामुनिके आहार-दानका पुण्य-उपार्जन करने!

निर्विघ्न आहार समाप्त हुआ। अंगारदेव सभक्ति, उल्लसित-हृदयसे स्तुतिकर चरणोंपर लोट गए! मन उनका अपार हर्षका अनुभव कर रहा था।

तपोधन ज्ञानसागर आहार ले फिर उद्यानके लिए लौटे। अंगारदेव मुग्ध-नेत्रोंसे देखते रहे उसी ओर, जब तक वे दिखाई देते रहे। हृदयमें सोच रहे थे—कितना पवित्र दिन है, आज महामुनिकी चरण-रजसे

घर पवित्र करनेका सौभाग्य मुझे मिल सका। पुण्यकर सकना—पुण्य कर्मकी ही तो बात है। अवश्य ही आज मेरा पुण्योदय है। गौरवका विषय है। सचमुच आज भाग्यवान हूँ मैं।

कई मिनट खड़े रहे, पवित्रपुण्य बर्द्धक भावनाओं में उलझे हुए। जब ज्ञान-सिन्धु दृष्टिसे ओझल हो गये, भावनाओंका क्रम भंग हुआ, तब वे लौटे! दूकान पर आए, यह विचारकर कि—लाओ पहिले मणिको फिट करदें अधूरा काम पड़ा है। फिर तसल्ली से रसोई जीमेंगे।'

पर यह क्या?

अंगारदेवने इधर-उधर, यहाँ-वहाँ सब जगह मणिकी खोज की, ढूँड़ी ढकोरी। पर, गायब! मणि लापता!

और अचरज तो यह कि बाकी सब चीजें ज्यों की त्यों। जैसे चोरने दूसरी चीजें छूना, व्यर्थ ही समझा हो!

अंगारदेवका हृदय धकसे रह गया।

यह हुआ क्या?

चोरी! भीषण चोरी!! दिन-दहाड़े लूट!!!

माथेपर पसीनेकी बूँदें झलक उठीं! भूख-प्यास खुशी-उमंग सब नदारद! जैसे खून जमता-सा जा रहा हो धीरे-धीरे······

वह सिर थामकर बैठ गये—वहीं! चक्कर जो आ रहे थे! पैरोंमें बल जो नहीं रहा था, खड़े होने लायक! आँखोंके आगे पतंगे से उड़ने लगे थे!

पद्मराग-मणि!!!

विशाल-धनकी मोहक वस्तु!

सोचने लगे—'गई कहाँ? अभी-अभी तो यहाँ रक्खी ही थी। कोई आया भी तो नहीं। और मैं तो यहीं खड़ा रहा हूँ—निकट ही, यहीं थी—इसमें शक नहीं! और तीसरा कोई आया नहीं,—फिर? ···,

वह घबरा उठे—'अब करें क्या?' विचार आगे बढ़े—'मैं और मुनि, इन्हीं दोके बीचमेंसे मणि खोई जा रही है! कैसे मजेकी बात है? बेशक़ीमती वस्तु! तीसरा कोई आया ही कहाँ? जो किसीपर शक-शुबहा भी हो। और मैंने ली नहीं। तब मुनि—? मुनि ही तो? और कौन? वे ले सकते हैं? क्या मुनि चुरा ले गए होंगे? मणि, पद्मराग-मणि! अगर मुनिने मणि···चुराई हो ··? और नहीं चुराई तो ले कौन गया उसे? गई कहाँ?'

क्षण-भर रुका, जैसे समाधानकी शक्ति संग्रहकी हो! प्रश्न जटिल जो था सामने! सोचने लगा फिर—'धन ऐसी ही वस्तु है! विरागी विराग छोड़ दे तो अचरज क्या? फिर थोड़ा लोभ तो था नहीं, पद्म राग-मणि! जरूर मुनिकी नीयत बद हुई। और वही चुरा ले गए उसे। नहीं गई कहाँ? कोई आया भी तो नहीं उनके सिवा!'

अंगारदेवका मन क्रोधसे भर उठा।—'कैसा मुनि? चोर!—डाकू!! लुटेरा!!!'

(५)

परम शान्त मुनि ज्ञान-सागर हो चुके थे—ध्यानस्थ, जब क्रोधमें तने, धनके वियोगमें पागल अंगारदेव उनके पास पहुँचे।

'कहाँ है, मेरी मणि? दुष्ट! चोर, उठाई गीरा!! शर्म नहीं आती तुझे? क्या यही तेरी तपस्या है? मैंने खाना दिया और तू चुरा लाया सम्पत्ति! छलिया कहीं का! बोल, रहने दे इस ढोंग को! अब, देखली तेरी बगुलाभक्ति!'

पर मुनि चुप, ध्यानमग्न!

अंगारदेवका क्रोध उमड़ा—'बोलता नहीं, कहाँ है मेरी मणि? निकाल दे सीधी तरह वर्ना याद रखना मैं छोड़ूँगा थोड़े इस तरह!'

मुनि मौन!

अंगारदेवका खून खौल उठा! 'आपा' खो बैठे! हाथका लम्बा बेंत फेंककर उन्हीं तपोधनको लक्ष्यकर मारा, जिन्हें ज़रा-सी देर पहिले शिर झुकाकर अपने को धन्य समझा था! अब जो भक्तिके बीचमें धनकी दीवार खड़ी हो चुकी थी!

लेकिन निशाना बैठा—गलत! बेंत मुनिके परोप-कारी-शरीरमें न लगकर, लगा समीप खड़ी हुई 'मोरनी' के गलेपर! और उस अचानक लगने वाली

चोटने कर दिया—रहस्यमय चोरीका उद्घाटन !

'मणि' मोरनीने उगल दी ! और भागी एक ओर !

अंगारदेवने यह देखा तो दंग रह गया ! लज्जासे मस्तक ऊपर न उठा। मणि सामने पड़ी जगमग कर रही थी।—जैसे मुनिकी निर्दोषता प्रमाणित होनेसे वह खुश हो, या अंगारदेवकी भक्तिपर—मूर्खतापर हँस रही हो !

वीतरागी ध्यानस्थ थे !

सौम्य-छवि !

अंगारदेवने मणि उठा ली। और चला घरकी ओर ! पैर ऐसे पड़ रहे थे, जैसे-वर्षोंसे बीमार हो ! हर कदमपर सोचता जाता था—'धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। मुँह दिखाने तक की जगह जो नहीं है अब !'

[४]

पश्चात्तापकी ज्वालासे भुलसा हुआ अंगारदेव घर लौटा। पर, चैन नहीं था उसे ! एक विचित्र वेदना उसे दबोचे दे रही थी।

घंटों पड़ा रोता रहा ! फिर उठा और दर्बारमें जाकर मणि महाराजको वापिस दे दी। उन्होंने पूछा—'क्यों ?'

बोले—'इस मणिने अब मुझे अपनी 'मणि' की याद दिला दी है ! पहिले उसे आत्म-संतोषके लिए अपनाना मेरा कर्त्तव्य है !'

पर, महाराज खाक न समझे।—अंगारदेव लौट आए ! चित्त उनका कुछ हल्का होता जा रहा था। मुँहपर गहरी उदासी न थी।

[५]

दूसरे प्रभात—

महाराज गन्धर्वसेनने एक सम्वाद सुना—अंगारदेव परम पूज्य, साधु-ज्ञानसागरके पद-सन्निकट बैठे, दीक्षा ले रहे हैं।

आशा-गान

क्या अपने को पा न सकूँगा ?

विकट उलभनोंमें उलझा हूँ, लेकिन क्या सुलझा न सकूँगा ?

क्या अपने को पा न सकूँगा ?

खो बैठा हूँ मैं निजत्वको, मृत्यु-निराशाने घेरा है !

शेष न इतना ज्ञान मुझे अब, कौन पराया, क्या मेरा है ?

अगर प्रयत्न करूँ तो क्या मैं, सोई-ज्योति जगा न सकूँगा ?

क्या अपने को पा न सकूँगा ?

माना, सब-कुछ लुटा-गँवाकर, बन बैठा हूँ आज अकिंचन !

अपनी भूलोंके कारण ही, उलझा है कांटोंमें जीवन !!

लेकिन क्या मैं उन्हीं दिनोंको, फिर वापिस लौटा न सकूँगा ?

क्या अपनेको पा न सकूँगा ?

मरी-आत्माके भीतर भी, रहता है अमरत्व अपरिमित !

मृत्यु पराजय मान चुकी है, अतः आत्मा रहता जीवित !!

अमर-आत्मामें फिर सोचो, कैसे जीवन ला न सकूँगा ?

क्या अपनेको पा न सकूँगा ?

पूजकसे मैं पूज्य बन सकूँ, जब इतनी क्षमता रखता हूँ !

अचरज तो यह है कि अभी तक, क्यों इस पदसे दूर रहा हूँ ??

फिर रुकावटें क्या पड़ती हैं, जो 'भगवन' कहला न सकूँगा ?

क्या अपनेको पा न सकूँगा ?

श्री 'भगवत्' जैन

पंडित-गुण

[कुछ वर्ष हुए रोहतक (पंजाब) के शास्त्रभण्डारको देखते समय, मैंने एक गुटके परसे 'पंडित-गुण' नामकी कविताको नोट किया था, जो अपभ्रंश भाषामें लिखी गई है और उसका लेखक है कवि 'नल्हु'। इसमें शान्तिनाथ भगवानको नमस्कार करके पंडितमें पाये जाने वाले गुणोंके निर्देश-द्वारा पंडितकी पहिचान बतलाई है—अर्थात् यह सूचित किया है कि जो इन गुणोंसे युक्त है वह 'पंडित' है और जिसमें ये गुण प्रायः नहीं पाये जाते वह पंडित नहीं—पंडित कहलानेका वास्तवमें अधिकारी नहीं। मंगलाचरणके अनन्तर विषय-कथन की कोई प्रतिज्ञा नहीं। कवितामें कवि ने अपना तथा अपने समयका कोई परिचय भी नहीं दिया। मालूम नहीं इस कविकी और कितनी तथा कौन कौन कृतियां हैं, जिन्हें कुछ मालूम हो उन्हें प्रकट करना चाहिये। अस्तु; अनेकान्तके पाठकोंकी जानकारीके लिये उक्त कविता अनुवादके साथ नीचे प्रकाशित की जाती है। —सम्पादक]

(मूल)

पणविवि जगमंडणु कलि-मल-खंडणु संतिणाहु संतिक्करणु। सिव-उरि-संपत्तउ भव भय-चत्तउ वज्जिय-जम्म-जरा-मरणु ॥छ।

सो पंडिउ जो परतिय छंडइ, सो पंडिउ जो इंदिय दंडइ। सो पंडिउ जो मणु संबोहइ विणयवंतु बुहयणमहि सोहइ ॥

सो पंडिउ जो अणुवय पालइ, जल कोलेहिं (?) कलकु पखालइ। सो पंडिउ जो वसणहं वज्जइ, परहं दोस बोलंतह लज्जइ ॥

सो पंडिउ जो णाणुप्पावइ [1] [सरधावंतु गुणहि अणुरागइ]। सो पंडिउ जो अप्पा झावहि वीतरागु अणु दिणु आराहइ ॥

सो पंडिउ जो महुरउ जंपइ, धीरु होइ जसु चित्तु न कपइ। सो पंडिउ जो मच्छरु छंडइ, कोहु लोहु मय-मोहु विवज्जइ ॥

सो पंडिउ जो अप्पा णिंदइ, तीन काल जिणवर-पय वंदइ। सो पंडिउ जो सम-दमवंतउ, विसय-सुक्ख पुणु विसय विरत्तउ ॥

[2]सो पंडिउ जो भवदुह बीमइ, सो पंडिउ जो मुक्खु समीहइ। . . . ॥

घत्ता—इय पंडिय-गुण वण्णरिया, जं जिण णाहें सिट्ठिया। कवि कहइ नल्हु कर जोडिकरे, जेम परंपर अक्खिया ॥

इति पंडितगुण ॥

(अनुवाद)

उन जग-भूषण, पाप-मल-नाशक और शान्ति करने वाले श्रीशान्तिनाथको नमस्कार है, जो शिवपुरीको प्राप्त हुए हैं, भव-भयसे रहित हैं और जन्म-जरा-मरणसे वर्जित हैं।

पंडित वह है जो परस्त्रीका त्यागी है। पंडित वह है जो इन्द्रियोंको दण्डित करता है—उन्हें स्वाधीन रखता है। पंडित वह है जो अपने मनको सबोध देता है, विनयवन्त है और बुधजनोंके मध्य शोभा पाता है।

पंडित वह है जो (अहिंसादि) अणुव्रतोंको पालता है और उनके द्वारा पाप-मलको उसी तरह धो डालता है जिस तरह जलकी तरंगें मलको बहा देती हैं। पंडित वह है जो (द्यूतादि) व्यसनोंको त्यागता है और दूसरोंके दोषोंको कहनेमें जिसे लज्जा आती है।

पंडित वह है जो ज्ञानके उत्पादनमें लगा रहता है, [श्रद्धावान है और गुणोंमें अनुराग रखता है]। पंडित वह है जो आत्माको ध्याता है और वीतरागकी प्रतिदिन आराधना करता है।

पंडित वह है जो मधुर वचन बोलता है, धीरज रखता है और जिसका चित्त कांपता नहीं। पंडित वह है जो मत्सर-भावको छोड़ता है और क्रोध लोभ तथा मद-मोहको त्यागता है।

पंडित वह है जो आत्मनिन्दा करता है और तीन काल जिनेन्द्र-चरणोंकी वन्दना करता है। पंडित वह है जो सम-दमवन्त है और विषय-सुख तथा इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त नहीं होता। पंडित वह है जो संसार-दुःखसे भयभीत रहता है पंडित वह है जो मोक्षकी अभिलाषा रखता है।

ये पंडितगुण जिननाथकी शिक्षानुसार कहे गये हैं। नल्हु कवि हाथ जोड़ कर कहता है कि जैसा परंपरासे कथन चला आया है यह उसीके अनुसार है।

---

1 ब्रैकटका पाठ त्रुटित चरणकी पूर्तिके लिए अपनी ओरसे रक्खा गया है।

2 यह पद्य आधा है, संभव है इसके आदि या अन्तके दो चरण लिखनेसे छूट गये हों।

तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण

[द्वितीय लेख]

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

पाठकोंको मालूम है कि मैंने 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' नामका एक विस्तृत लेख लिखकर उसे अनेकान्त की गत जुलाई-अगस्त मास की संयुक्त किरण नं० ६-७ में प्रकाशित कराया था। मेरा वह लेख न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री काशीके उस लेखके पूर्णतः उत्तर रूपमें था जिसे उन्होंने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस शीर्षक के साथ जैनसिद्धान्तभास्करकी जून सन १९४७ की किरण में प्रकाशित कराया था, और उसमें कुछ गहरी छान-बीन के साथ शास्त्रीजीकी कतिपय गलत धारणाओं तथा भूलों[1] को स्पष्ट करके बतलाया गया था। मेरे उस लेखसे प्रभावित होकर शास्त्रीजीने शीघ्र ही अपना दूसरा लेख उसी 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षकको लिये हुए अनेकान्त की गत किरण नं० ८-९ में प्रकाशित कराया है। शास्त्रीजी का यह लेख मुझे १४ नवम्बरको देखनेको मिला, जिस दिन कि मैं २० दिनके अवकाशानन्तर घरसे वापिस वीर-सेवामंदिरमें आया था। लेखको पढ़कर मुझे कुछ प्रसन्नता हुई और कुछ अप्रसन्नता भी। प्रसन्नता इसलिये हुई कि शास्त्रीजीने लेखमें अपनी उन दो भूलोंको स्वीकार किया है जिनके तीन तीन संस्करण होजाने पर भी वे उन्हें मालूम नहीं पड़ी थीं, और जिनमेंसे एक तो बहुत ही मोटी थी। और अप्रसन्नता इसलिये हुई कि, मेरे लेखका पूर्णतया उत्तर न देकर उसके साथ उपेक्षाका व्यवहार किया गया है जो उचित नहीं था इतना ही नहीं किन्तु उस पर कुछ छींटे भी फेंके गये हैं—उसे बिना किसी जाँच पड़तालके पं० रामप्रसादजी बम्बई और पं० जिनदास जी शोलापुरके जैनगजट तथा जैनबोधकमें प्रकाशित लेखों की सामग्रीसे समाप्त हुआ, उसी सामग्रीके पिष्टपेषणसे बृहत्कलेवर हुआ तथा उनकी उच्छिष्ट तक बतलाया गया है। साथ ही, उक्त दोनों विद्वानोंके महीनोंसे अनुत्तरित पड़े हुए लेखोंके उत्तरका ही लेखमें मुख्यतः 'ढील'[2] किया गया है, फिर भी अपने उत्तरको उन पत्रोंमें प्रकाशित न कराकर जिनमें उन विद्वानोंके उत्तरणीय लेख प्रकाशित हुए थे उसे अनेकान्तमें प्रकाशित कराया गया है। और इस तरह विद्वद्दृष्टिमें मेरे लेखके महत्त्वको कम करने अथवा

[1] इन भूलोंका पहला संस्करण 'न्यायकुमुदचन्द्र' के द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें, दूसरा संस्करण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'की प्रस्तावनामें और तीसरा संस्करण जैनसिद्धान्तभास्करमें प्रकाशित उक्त लेखमें हुआ है।

[2] 'ढील' शब्दका प्रयोग मैंने जान बूझकर किया है, क्योंकि शास्त्रीजी अपने लेखके शुरूमें प्रकट तो यह करते हैं कि 'आक्षेप-परिहार' से पहलेका उनका सारा उत्तर लेख मुख्यतः पं० रामप्रसादजी और जिनदासजीके लेखोंको लक्ष्य करके ही लिखा गया है परन्तु उत्तर उसमें ऐसी बातोंका भी दिया गया है जिनका उक्त दोनों विद्वानोंके लेखोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और वे खास तौर पर मेरे लेखसे ही सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ पर मैं नमूनेके तौर पर ऐसी एक बात नीचे प्रकट किये देता हूँ—

अपनी दूसरी अनुपपत्ति (पृ० २८९) में शास्त्रीजी लिखते हैं—"बिना किसी प्राचीन प्रतियोंके आधारके 'तत्त्वार्थ सूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना विद्वद्ग्राह्य नहीं हो सकती।" परन्तु 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' के स्थानपर 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना न तो पं० रामप्रसादजीने की थी और न पं० जिनदासजीने—इन दोनों विद्वानोंके लेख उक्त कल्पनासे शून्य हैं। वास्तवमें यह कल्पना मैंने ही अपने लेखमें की थी और इसको पुष्ट करनेवाली युक्तियां भी दी थीं, जिन पर कोई विचार नहीं किया गया। तब पं० महेन्द्रकुमारजीका इस कल्पनाको उन विद्वानोंकी कल्पना तथा उनके लेखोंका 'उत्तरणीय अंश' बतलाना कितना अधिक असंगत जान पड़ता है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

उसके गौरवको गिरानेका वह प्रयत्न किया गया है जो लेख का पूर्णतः उत्तर देकर नहीं किया जा सकता था।

इसके सिवाय, लेखके शुरूमें जब मैंने यह पढ़ा कि शास्त्रीजीने मेरे द्वारा प्रयुक्त हुए प्रमादजन्य तथा अनभिज्ञता जैसे एक दो अप्रिय अथवा कटु शब्दों पर समभाव धारण किया है और बदलेमें मेरे लिये शुभ भावनाओंके ही देने की बात कही है तो मुझे आपकी इस उदारता पर बड़ी प्रसन्नता हुई; परन्तु लेखके अन्तमें—एक आक्षेपके परिहार में—जब मैंने यह देखा कि शास्त्रीजी अपने उस समभाव को स्थिर नहीं रख सके हैं, प्रत्युत उन अनभिज्ञता तथा प्रमाद दोषोंको मेरे ही योग्य बतलाकर मुझे दुराशीर्वाद तक दे रहे हैं, तो मेरी वह प्रसन्नता अप्रसन्नतामें बदल गई।

यद्यपि मेरे द्वारा यथास्थल विकल्परूपसे प्रयुक्त हुए 'प्रमादजन्य' और 'अनभिज्ञता' शब्द ऐसे नहीं थे जिनके कारण श्री० पं० महेन्द्रकुमारजीको क्षुभित अथवा कुपित होनेकी कोई बात होती; क्योंकि बहुत कुछ सावधानी रखनेपर भी कभी कभी अपन-लोगोंसे अनेक अंशोंमें असावधानतारूप प्रमाद बन ही जाता है और अनेक विषयों तथा अंशोंमें अनभिज्ञता तो उस वक्त तक चलती ही रहेगी जब तक कि आत्मामें सर्वज्ञताकी प्रादुर्भूति नहीं हो जाती। और इसलिये ऐसी बातोंके सामने लाये जाने पर व्यर्थका क्षोभ तथा रोष कुछ अर्थ नहीं रखता—खासकर ऐसी हालतमें तो वह और भी निरर्थक होजाता है जबकि हम देख रहे हों कि हमने अर्थ के समझने आदिमें मोटी भूलें की हैं और उनके कारण हमें अपनी भूलोंको स्वीकार करना पड़ा है तथा अपने हृदयमें कुछ पश्चात्ताप भी करना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें यह आशा नहीं की जाती कि कोई भी विचारक विद्वान् मात्र ऐसे शब्दोंके सामने आने पर क्षोभको धारण करे। फिर भी लेखमें अपनाये गये उत्तरके रुख और उसके आदि-अन्तके अंशों परसे यह साफ ध्वनित होता है कि शास्त्रीजी को मेरे लेख पर कुछ क्षोभ जरूर हो आया है, और इस लिये उसका कोई विशेष कारण भी जरूर होना चाहिये। कारणका पर्यालोचन करते हुए जहां तक मैं समझ सका हूँ—संभव है मेरे समझनेमें कुछ भूल भी हो—मुझे ऐसा मालूम पड़ा है कि मेरे गहरे पर्यालोचन एवं गंभीर विवेचनको लिये हुए युक्तियुक्त लेखके कारण शास्त्रीजीके मानसमें कुछ हलचल मची है, मानाऽपमानकी आशंकाने उन्हें धर दबाया है, उनकी किसी प्यारी चीज़को ठेस पहुँची है, उन्होंने मेरे लेखके उद्देश्यको कुछ गलत समझ लिया है और इसलिये उन्हें यह सहन नहीं हो सका कि मेरे जैसा नव-शिक्षित अल्पवयस्क प्राणी, जो एक अर्से तक उनके साथ मित्रभावसे रह चुका है, कुछ अंशोंमें उनसे शिक्षा भी प्राप्त कर चुका है और जो अभी अभी इतिहासक्षेत्रमें प्रविष्ट हुआ है उन जैसे लब्धप्रतिष्ठ प्रौढ विद्वानोंके विरोधमें कुछ लिखनेका साहस करे!—भले ही उसका वह लिखना कितना ही कर्तव्यानुरोधको लिये हुए क्यों न हो, और वह स्वयं 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' इस नीतिका अनुसरण करने वाला भी क्यों न हो!! इसीसे उन्होंने अपने उत्तरलेखका वैसा रुख अख्तियार किया है और उसके द्वारा मेरे लेखके महत्वको कम करके मेरे व्यक्तित्वको पाठकोंकी नजरोंमें गिरानेकी चेष्टा की है। इस विषयमें मैं अधिक कुछ भी न कहकर सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूं कि इस प्रकारका व्यवहार प्रौढ विद्वानों और खासकर इतिहासके विद्वानोंको शोभा नहीं देता—भले ही मेरा यह कहना 'छोटा मुँह और बड़ी बात' क्यों न समझा जाय। साथ ही यह भी निवेदन कर देना चाहता हूं कि यदि मात्र उन दो शब्दों परसे ही शास्त्रीजीको क्षोभ हुआ हो तथा कष्ट पहुंचा हो तो मैं खुशीसे उन्हें वापिस लिये लेता हूं, क्योंकि मेरा अभिप्राय किसीके चित्तको दुखानेका नहीं था। अस्तु।

मैंने अपने लेखमें पं० रामप्रसादजी और पं० जिनदास जीके लेखोंकी सामग्रीका कोई उपयोग किया या कि नहीं और मुझे उनके वे लेख उस समय तक देखनेको मिले भी थे या कि नहीं, इन सब बातोंका खुलासा मुख्तार साहबके उस सम्पादकीय वक्तव्यसे भले प्रकार होजाता है जो उन्हों ने वस्तुस्थितिको स्पष्ट करनेके लिये अनेकान्तकी गत किरण (पृ० ३२६) में पं० महेन्द्रकुमारजीके लेख पर प्रकाशित किया है। इधर बाबू जयभगवानजी वकील पानीपतके—जो मेरे लेख लिखनेके समय वीरसेवामन्दिरमें मौजूद थे—ता० २६ दिसम्बरके पत्रसे यह मालूम हो रहा है कि, उन्होंने पं० महेन्द्रकुमारजीको कोई पत्र लिखा है, जिसमें मुख्तार साहबके उक्त सम्पादकीय वक्तव्यका 'अक्षरश

समर्थन' करते हुए उन्हें यह आश्वासन दिलाया है कि 'मेरा लेख किसीके स्वाभिमानको ठेस पहुँचानेके लिये नहीं लिखा गया था बल्कि उसका लक्ष्य उन भूल-भ्रान्तियोंको दूर करनेका था जिनके आधार पर समन्तभद्र जैसे आचार्यों को पूज्यपादके बादका विद्वान बतलाया जाने लगा है,' और साथ ही उनसे यह प्रार्थना भी की है कि वे अपने चित्तसे मेरे लेख-सम्बन्धी गलत फ़हमियोंको दूर कर देवें।' ऐसी हालतमें मुझे इस विषय पर अधिक कुछ भी लिखने की जरूरत मालूम नहीं होती। मैं अपनी ओरसे सिर्फ इतना ही स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मुझे अपना लेख लिखकर समाप्त कर देने तक पं० रामप्रसादजी और पं० जिनदासजीके उन लेखोंमेंसे कोई भी लेख देखनेको नहीं मिला और न आश्रमके किसी विद्वान्से उनके विषयका कोई परिचय ही प्राप्त हुआ है, और इसलिये मेरे लेखमें उन लेखोंकी सामग्रीका रंचमात्र भी उपयोग नहीं हुआ है— मेरी प्रवृत्ति तो उन लेखोंके देखनेसे और १५ नवम्बरको हुई है, जिसकी मुख्य प्रेरणा पहले दिन शास्त्रीजीके उत्तर-लेखको पढ़कर ही हुई थी। जब मैंने उक्त दोनों विद्वानोंके लेखों परसे कोई सामग्री अपने लेखमें ली ही नहीं और न मुझे उस वक्त तक उनका कोई परिचय ही प्राप्त था तब मैं अपने लेखमें उनका आभार भी कैसे मान सकता था? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। और इसलिये उन विद्वानों का आभार न मानकर मुख्तार साहबका, जिनसे मुझे यथेष्ट सहायता मिली, आभार मानने पर शास्त्रीजीने जो आश्चर्य व्यक्त किया है उसमें कुछ भी तथ्य नहीं है—वह उत्तर लेख ही तद्रूप प्रकृतिका ही एक अंग जान पड़ता है।

यहां पर मैं शास्त्रीजीसे बड़े ही विनम्रभावके साथ यह पूछना चाहता हूं कि, यदि मेरा लेख उक्त दोनों विद्वानों के लेखोंकी सामग्रीके पिष्ट-पेषणको ही लिये हुए है, जैसा कि उनका कथन है, तो वे कृपया यह बतलानेका कष्ट ज़रूर उठाएँ कि मेरे लेखकी निम्न १६ बातें उन विद्वानोंके लेखों में कहां पर पाई जाती हैं? :—

१ 'कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं' इत्यादि श्लोकवार्तिक का अवतरण, जो तत्त्वार्थसूत्रके आदिमें किये गये मंगलाचरण की सिद्धिके लिये प्रस्तुत किया गया है (पृ० २२३)।

२ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे' इत्यादि श्लोकवार्तिकके दो पद्यवार्तिकोंका उल्लेख, जिसके द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगलश्लोकको मुनीन्द्र-उमास्वातिका मंगलाचरण बताया गया है (पृ० २२४)।

३ अष्टसहस्रीके 'शास्त्रारंभेऽभिष्टुतस्य' इत्यादि अन्तिम वाक्यका उल्लेख, जिसके द्वारा उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका आदिम मंगलाचरण बताया गया है (पृ० २२४)।

४ 'श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः' आदि आप्तपरीक्षाका उल्लेख और 'मुनिपुङ्गवाः सूत्रकारादयः' 'स गुप्तिसमिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रेभ्यो भवतीति सूत्रकारमतम्' 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः इति सूत्रकारवचनात्' इन वाक्यों का उल्लेख, जिनके आधार पर उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार उमास्वातिकृत माननेका विद्यानन्दका अभिप्राय बताया गया है (पृ० २२४, २२५)।

५ 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना और उस को पुष्ट करनेवाली युक्तियां (पृ० २२५, २२६)।

६ सूत्र और सूत्रकार-विषयक राजवार्तिकका उल्लेख और श्लोकवार्तिकका विशेष कथन (पृ० २२७, २२८)।

७ विद्यानन्दके साहित्यमें 'सूत्रकार' शब्द आ० उमा-स्वातिके लिये प्रयुक्त हुआ है, इसके ६ उल्लेख (पृ० २२९)।

८ विद्यानन्दके ७ ग्रन्थों परसे ३६ उल्लेख, जिनमें कहीं भी विद्यानन्दने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती ग्रन्थोंको 'सूत्र' नहीं बताया है (पृ० २२९, २३०)।

९ प्रथम कारणको सदोष ठहरानेके लिये प्रमाणरूप में दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रग्रन्थोंके ६ उल्लेख, जिनमें मंगलाचरण किया गया है (पृ० २३१, २३२)।

१० दूसरे कारणको दूषित करते हुए कर्मस्तव, षडशीति आदिके टीका ग्रन्थों-भाष्योंका हवाला, जिनमें मूलग्रन्थके मंगलाचरणका निर्देश और व्याख्यान नहीं पाया जाता है (पृ० २३२, २३३)।

११ टीका-ग्रन्थोंमें मंगलाचरणके व्याख्यान और अव्याख्यान दोनों प्रकारकी पद्धतिकी उपलब्धिका कथन, जिससे पूज्यपादके लिये मंगलश्लोककी टीका करना लाज़िमी नहीं आता (पृ० २३३)।

१२ आ० पूज्यपाद-द्वारा सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगलश्लोक को अपनालेनेकी बात और दूसरोंके द्वारा भी दूसरेके मंगला-चरणको अपनाये जानेके प्रमाणोंका उल्लेख (पृ०२३३)।

१३ श्लोकवार्तिकमें वर्णित 'वार्तिक' के लक्षणानुसार श्लोकवार्तिक और राजवार्तिकमें इस मंगलश्लोकका व्याख्यान न होनेका उल्लेख (पृ० २३३)।

१४ श्लोकवार्तिकमें भी उक्त मंगलश्लोकका व्याख्यान किया गया है इसका स्पष्टीकरण (पृ० २३४)।

१५ तीसरा कारण दूसरे कारणसे भिन्न नहीं है इसका निर्देश और पांचवें कारणके तीन अवयव मानकर उनका सविस्तर उत्तर (पृ० २३४, २३५)।

१६ 'आदि' और 'इत्यादि' शब्दोंके प्रयोगकी व्यर्थताका प्रदर्शन (पृ० २३४, २३५)।

यदि ये बातें पं० रामप्रसादजी और पं० जिनदासजीके लेखोंमें नहीं पाई जाती हैं तो फिर मेरा लेख इन बातोंके पिष्टपेषणको लिये हुए कैसे कहा जा सकता है? अस्तु।

इस सामान्यालोचन और निवेदनके बाद अब मैं उत्तर-लेखकी कुछ विशेष बातोंको लेता हूं, और उनमें भी सबसे पहले उन बातोंको लेकर उन पर अपना विचार प्रस्तुत करता हूं जो मेरे लेखकी कुछ बातों पर आक्षेप-परिहारके रूपमें कही गई हैं।

आक्षेप-परिहार-समीक्षा

इस प्रकरणमें शास्त्रीजीके परिहारका सार 'प्रत्याक्षेप' के रूपमें देकर समाधान-रूपमें उस पर अपना समीक्षात्मक विचार प्रकट किया जाता है :—

१ प्रत्याक्षेप—'तदारम्भे' पदमें आये हुये 'तत्' शब्द का वाच्य तत्वार्थ सूत्र न होकर श्लोकवार्त्तिक है। यहाँ श्लोकवार्तिकके आदिमें किये गये 'श्रीवर्धमानमाध्याय' मंगल-श्लोकका औचित्य सिद्ध किया है। और 'मुनीन्द्र' पदसे विद्यानन्दको गणधर आदि विवक्षित हैं न कि उमास्वाति।

१ समाधान—आ० विद्यानन्द 'शास्त्र' के आदिमें मंगलाचरणका होना आवश्यक मानते हैं इसलिये 'कथं पुनस्तत्त्वार्थ-शास्त्रं' इत्यादिके द्वारा तत्वार्थसूत्र श्लोकवार्तिक और उसके व्याख्यान इन तीनोंको शास्त्र सिद्ध करके 'ततस्तदारम्भे' पदके द्वारा श्लोकवार्तिकादिके साथमें मुख्यतया तत्वार्थसूत्ररूप शास्त्रके आरम्भमें भी मंगलाचरण-परापर गुरुका आध्यान (स्मरण) करना सुयुक्त बतलाते हैं। अतः 'तदारम्भे' पदमें आये हुये 'तत्' शब्दका वाच्य 'शास्त्र' है और वे शास्त्र तत्वार्थसूत्र, श्लोकवार्तिक और उसका व्याख्यान ये तीनों विद्यानन्दको विवक्षित हैं। तत्वार्थसूत्रका व्यवच्छेदकर मात्र श्लोकवार्तिक 'तत्' शब्दका वाच्य नहीं है। इस बात को विज्ञ पाठक श्लोकवार्तिकके इस पूरे स्थल परसे भले प्रकार अवगत कर सकते हैं।

'मुनीन्द्र संस्तुत्ये' पदमें आये हुये 'मुनीन्द्र' शब्दसे विद्यानन्द आ० उमास्वातिका भी ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा ही आगे एक और उल्लेख 'मुनीन्द्राणामादिसूत्रप्रवर्तनम्' के रूपमें आया है। वहाँ 'मुनीन्द्र' का अर्थ विद्यानन्द निम्न प्रकार करते हैं :—

'इति युक्त (मुनीन्द्राणां) परापरगुरूणामर्थतो ग्रंथतो वा शास्त्रे-प्रथमसूत्रप्रवर्तनम् तद्विषयस्य श्रेयोमार्गस्य परापरप्रतिपाद्यैः प्रतिपित्सितत्वात्।'

यहाँ स्पष्टतया 'मुनीन्द्र' शब्दसे ग्रन्थतः तत्वार्थसूत्रके आदिमसूत्र—प्रवक्ता अपरगुरु—उमास्वातिका भी उल्लेख किया गया है। श्लोकवार्तिक पृ० १ पर 'एतेनापरगुरुर्गणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातः' इन शब्दों द्वारा सूत्रकार—उमास्वातिको बहुमानके साथ अपरगुरु माना है। अतः 'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' प्रवृत्तं सूत्रमादिमम्' इन वाक्योंमें उमास्वातिका भी ग्रहण करना विद्यानन्दको इष्ट है। केवल गणधर और उनके बादके दो एक आचार्य ही उन्हें विवक्षित नहीं हैं बल्कि ग्रन्थतः प्रवक्ता अपरगुरु—गणधरसे लेकर सूत्रकार पर्यन्त सभी विवक्षित हैं।

२ प्रत्याक्षेप—बिना प्राचीन प्रतियोंके आधारके आप्त-परीक्षाके 'तत्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' पाठकी जगह 'तत्वार्थसूत्रकारादिभिः उमास्वामिप्रभृतिभिः' इस अन्य पाठकी कल्पना इतिहासके क्षेत्रमें ग्राह्य नहीं होसकती।

२ समाधान—'तत्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना संभाव्य कोटिमें स्थित है, जिसकी पुष्टिमें अनेक प्रमाण भी उपलब्ध होरहे हैं, जिन्हें मैंने अपने पिछले लेखमें एक फुटनोट द्वारा प्रकट किया था और जिनपर उत्तर-लेखमें कोई ध्यान नहीं दियागया। 'मुनिपुङ्गवाः सूत्रकारादयः' 'मुनिभिः सूत्रकारादिभिः' जैसे स्पष्ट उल्लेखोंपरसे उक्त संगत एवं शुद्ध पाठकी कल्पना पुष्ट होती ही है। इतिहास भी अधिकांशरूपमें कल्पनाओंके आधार पर ही तैयार होता है और जब उनकी पोषक घटनायें मिल जाती हैं तो वे प्रामाणिक बन जाती हैं और इतिहासनिर्माण करती हैं। इसी तरह

उक्त पाठकी कल्पनाके पोषक जब अनेक उल्लेख उपलब्ध होरहे हैं और यह भी पूरी तरह संभव है कि प्राचीन प्रतिमे भी ऐसा ही पाठ मिले तब प्राचीन प्रतिके उपलब्ध न होने तक उक्त पाठकी कल्पना इतिहासक्षेत्रमें अग्राह्य कैसे कही जा सकती है ? यदि शास्त्रीजी इसे यों ही अग्राह्य कहेंगे तो उनकी वह कल्पना भी अग्राह्य ठहरेगी जो उन्होंने आ० विद्यानन्दकी मान्यताको पूर्वपरम्परा प्राप्त न होनेके सम्बन्ध में की है।

३ प्रत्याक्षेप—मेरा तात्पर्य प्राचीन संस्कृत भाषामें निबद्ध सूत्रग्रन्थोंमें मंगलाचरण करनेकी पद्धति दृष्टिगोचर नहीं होने का है।

३ समाधान—सूत्रग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंमें पाये जाते हैं। यदि संस्कृत भाषाके सूत्रग्रंथ ही अभिप्रेत थे तो आपको पहिले ही 'संस्कृत' शब्द विशेषण रूपसे साथमें देकर अपने पक्षको स्पष्ट करना चाहिये था। दोष दिखाये जानेपर संस्कृतसूत्रग्रन्थोंका अभिप्राय बतलाना पक्षको परिवर्तन अथवा संशोधन करने जैसा है, और इस लिये इसके द्वारा आक्षेपका परिहार नहीं बनता। संस्कृत-सूत्रोंमें भी श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्रका उदाहरण पर्याप्त है, जिस के मंगलमय पद्यको आगे स्पष्ट किया गया है। और ब्रह्म-सूत्रादिके शुरूमें 'अथ' शब्दका जो प्रयोग है वह मङ्गलात्मक भी है, जैसाकि उन्हींकी श्रुतिके निम्नवाक्यसे प्रकट है—

> ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
> कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥
> —वैशेषि० सूत्रोप० पृ० २

४ प्रत्याक्षेप—वे ३१ कारिकाएँ मूलकी नहीं हैं, भाष्यकी हैं। तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद उमास्वातिने भाष्य बनाते समय उस मूलग्रंथको लक्ष्य करके भाष्यके अगरूपमें बनाई हैं।

४ समाधान—उक्त कारिकाएँ मूलग्रंथके साथ ही निबद्ध (रची गई) हे। तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद उमास्वातिने उनकी रचना नहीं की, जैसा कि निम्न २२ वीं कारिकामें स्पष्टतया प्रकट है, जो मूलग्रंथका नाम, विषय, प्रकृति, आकृति और प्रयोजनका उल्लेख करके उसके रचने की प्रतिज्ञाको लिये हुए है—

> तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
> वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य॥२२॥

अर्थात्—मैं उमास्वाति जिनेन्द्र भगवान्के एकदेशके संग्रहरूप इस अर्थबहुल लघुग्रंथ तत्त्वार्थाधिगमको शिष्य-हितार्थ कहूंगा।

इस कारिकासे ठीक पूर्ववर्ती २१ वीं कारिका 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम्' इत्यादि हैं जिसमें वीरभगवानके नमस्कारात्मक मंगलका प्रतिपादन है। इस मंगलाचरण करनेके बाद अपने ग्रंथ रचनेके उद्देश्यको प्रकट करनेके लिये ही उक्त २२ वी कारिका रची गई है। यहां इस कारिकामें आया हुआ 'वक्ष्यामि' पद विशेष ध्यान देने योग्य है और उससे साफ जाहिर होता है कि कमसे कम इस २२ वीं कारिका तक तो तत्त्वार्थसूत्रकी रचना नहीं हुई है। अन्यथा, तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद यदि भाष्य बनाते समय यह कारिका रची गई होती तो आ० उमास्वाति 'वक्ष्यामि' पदका प्रयोग न करके 'उक्तं' जैसे पदका ही प्रयोग करते। तत्त्वार्थसूत्रकी उस सटिप्पण प्रतिसे भी कारिकाएँ मूलके साथ निबद्ध मालूम होती हैं जिसका परिचय संपादक 'अनेकान्त' ने तृतीय वर्षकी प्रथम किरणमें पृ० १२१ से १२८ तक दिया है, और जिसका मैंने अपने लेखमें फुटनोट द्वारा उल्लेख भी किया था।

५ प्रत्याक्षेप—कर्मग्रंथोंके भाष्य विशेषावश्यक भाष्यकी तरह अविकल व्याख्यानात्मक न होकर आवश्यक निर्युक्तिके मूलभाष्यकी तरह पूरकभाष्य हैं और इसलिये उनमें मूलग्रंथके हरएक वाक्यका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है। इसीसे उनमें मंगलगाथाके सिवाय मध्यकी अनेक गाथाओंको भी अव्याख्यात छोड़ दिया है। परन्तु अकलंक और पूज्यपादके अखण्ड व्याख्याग्रंथ-राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि ऐसे भाष्य नहीं हैं, उनमें मूलग्रंथके 'च' 'तु' जैसे शब्दोंको भी अव्याख्यात नहीं छोड़ा है। अतः इनके विषयमें मंगलश्लोकको अव्याख्यात छोड़नेकी बात कहना इनकी शैलीको न समझनेका ही फल है।

५ समाधान—पूरक भाष्य वे कहे जाते हैं जो मात्र छूटे हुए-पूर्वमें अव्याख्यात विषय पर ही व्याख्या करें। किन्तु ऊपर जिन भाष्योंका हवाला दिया गया है वे व्याख्यातविषयका भी प्रतिपादन करनेसे पूरक भाष्य नहीं कहे

जा सकते हैं। और न सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक अखण्ड व्याख्या ग्रंथ हैं। इनमें भी उक्त भाष्योंकी तरह मंगल श्लोकके अतिरिक्त मध्यके अनेकसूत्रों, पदों और शब्दोंको भी अव्याख्यात छोड दिया गया है। 'च' 'तु' जैसे शब्दों की तो बात ही क्या है। ऐसी ही स्थिति श्लोकवार्तिककी व्याख्यापद्धतिकी भी है जिस पर आगेके प्रत्याक्षेपमें जोर दिया गया है। नीचेके कुछ उदाहरणोंपरसे यह विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है और शास्त्रीजीने अखण्ड व्याख्या हद्धतिकी जो नई बात कही है वह गलत ठहरती है:—

(१) सर्वार्थसिद्धिके उदाहरण—

(क) अव्याख्यात सूत्र—'लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्'। (अ० ४ सू० ४२)

(ख) वे सूत्र जिनके रेखाङ्कित पद अव्याख्यात हैं—

१ 'अत्यसमन्यत' (अ० १, सू० १२)

२ 'तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः' (अ० ३ सू० २५)

३ 'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन..' (अ० ४,सूत्र० ३२)

(ग) वे सूत्र जिनके उत्थान वाक्य नहीं हैं—

अ० ७ सू० २६ २७, २८, २६, अ० ८ सू० २६।

(घ) वे सूत्र जिनमें प्रयुक्त हुये 'च' 'वा' 'इति' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० ३ सू० ३४, ३६। अ० ५ सू० ७, ३६। अ० ६ सू० १८, २१, २४। अ० ७ सू० १०, ११, १२। अ० ६ सू० ३२, ३३।

(२) राजवार्तिकके उदाहरण—

(क) अव्याख्यात सूत्र—

'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य' (अ० ८ सू० १८)

(ख) वे सूत्र जिनके रेखाङ्कित पद अव्याख्यात हैं—

१ 'शेषाणां संमूर्च्छनम्' (अ० २ सू० ३५)

२ 'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन ' (अ० ४ सू० ३२)

(ग) वे सूत्र जिनके उत्थानवाक्य नहीं हैं—

अ० ७ सू० २६, २७, २८, २६, अ० ८, सू० २६

(घ) वे सूत्र जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' और 'अपि' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० २ सू० ४७ ४८। अ० ३ सू० ३६। अ० ५ सू० २०, ३६, ३८। अ० ६ सू० १८, २१, १४। अ० ७ सू० १०, ११, १२। अ० ६ सू० ३२, ३३।

(३) श्लोकवार्तिकके उदाहरण—

(क) अव्याख्यातसूत्र—

अ० ४ सू० २८, २६, ३०, ३६।

(ख) वे सूत्र जिनके रेखाङ्कित पद अव्याख्यात हैं—

१ 'भवनेषु च' (अ० ४ सू० ३७)

२ 'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य' (अ० ८ सू० १८)

(ग) वे सूत्र जिनमें प्रयुक्त हुये 'च' 'वा' 'इति' और 'अपि' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० २ सू० ४७, ४८।

अ० ३ सू० ४०। अ० ५ सू० ७, २०, ३६।

अ० ६ सू० २४। अ० ७ सू० १०, ११, १२।

अ० ६ सू० ३२, ३३। अ० १० सू० ३।

(घ) वे सूत्र जिनके वार्तिक नहीं है—

अ० २ सू० ३७, ३८, ४१। अ० ३ सू० ११, १२ १३ इत्यादि।

अ० ४ सू० १६, २८, २६, ३० इत्यादि। अ० ८ सू० १५।

(ङ) वे सूत्र जिनके उत्थान-वाक्य नहीं हैं—

अ० २ सू० २५। अ० ३ सू० १, ७, ११, २१। अ० ४ सू० १, २, ३ इत्यादि। अ० ५ सू० १ २, ३ आदि। अ० ६ सू० १, २, १० आदि। अ० ७ सू० १, ३, ११, १२। अ० ८ सू० २५। अ० ६ सू० १ आदि। अ० १० सू० ५।

(च) वे सूत्र जिनके वार्तिक और व्याख्यान न होने के साथ-साथ उत्थानवाक्य भी नहीं हैं:—

अ० ४ सू० २६, ३०,

ऐसी हालतमें सर्वार्थसिद्धि आदिको अखण्ड व्याख्या-ग्रन्थ एवं अविकल व्याख्यानात्मक बता कर मंगल-श्लोकके व्याख्यान पर जोर देना और श्वे० कर्मग्रन्थोंके भाष्योंको, जिनमें मंगल-गाथाका व्याख्यान नहीं है और न निर्देश ही है, पूरक भाष्य कह कर व्याख्यान न होनेकी पुष्टि करना

तथा उनकी शैलीके न समझनेका आरोप करना कहाँ तक सङ्गत है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

६ प्रत्याक्षेप—(क) वार्तिकका लक्षण कुछ भी क्यों न हो पर प्रश्न तो यह है कि जब अकलंकदेव और विद्यानन्द दोनों उमास्वामीके एक भी शब्दको बिना व्याख्या या उत्थानिकाके नहीं छोड़ते उनपर वार्तिक बनाते हैं, उत्थानिका लिखते हैं और अविकल व्याख्या पद्धतिसे उन की व्याख्या करते हैं। तब मंगलश्लोक क्यों उन्होंने अछूता छोड़ा?

(ख) अथवा यह मंगलश्लोक भी सूत्रग्रंथका अवयव होनेसे सूत्र कहलाया, सूत्र पद्यात्मक भी होते हैं अतः इस पर वार्तिक बनना न्यायप्राप्त है।

(ग) श्लोकवार्तिकमें किया गया वार्तिकका लक्षण प्रमाणवार्तिकमें अव्याप्त है। वार्तिकका एक व्यापक लक्षण है 'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम्'। अतः मंगलश्लोकके तत्वार्थसूत्रमें उक्त होनेसे उसपर वार्तिक बनना उचित ही है।

६ समाधान—(क) अकलंक और विद्यानन्दकी व्याख्य पद्धतिके सम्बन्धमें जो कल्पना की गई है वह अव्यभिचरित एवं निर्दोष न होकर गलत है। जैसा कि प्रत्याक्षेप नं० ५ के समाधानमें किये गये स्पष्टीकरणसे प्रकट है। और इसलिये उसके आधार पर मंगलश्लोककी अव्याख्यापर आपत्ति करना कुछ अर्थ नहीं रखता।

(ख) मंगलाचरण ग्रंथका मुख्य अवयव (अंग) नहीं है। जहाँसे ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय शुरू होता है और जहाँ समाप्त होता है वह सब अंश मुख्यतः ग्रंथ कहलाता है। मंगलाचरणमें ग्रंथका प्रतिपाद्य विषय वर्णित नहीं होता उसका एक प्रयोजन निर्विघ्नतया ग्रंथकी समाप्ति भी है, जिससे मालूम होता है कि ग्रंथ प्रधानतः मंगलाचरणके बादके और समाप्ति पर्यन्तके लेखसंग्रहको कहते हैं। इस दृष्टिसे मंगलाचरण ग्रंथसे उसी प्रकार अलग है जिस प्रकार ग्रंथकी प्रशस्ति। जब वह वस्तुतः ग्रंथसे अलग चीज़ है तब उसपर ग्रंथके व्याख्याकारोंको व्याख्या करना अनिवार्य नहीं है। ग्रंथारम्भके पूर्वमें निबद्ध किया जानेसे वह ग्रंथका आदिम अंश उपचारसे कहा जाता है। अतः उक्त मंगलश्लोक सूत्र ग्रन्थका मुख्य अवयव न होनेसे उसपर व्याख्या होना या वार्तिक बनना आवश्यक नहीं है। मूलके किसी अंशका व्याख्यान करना या न करना व्याख्याकारोंकी रुचिविशेष पर अवलम्बित है; जैसा कि प्रत्याक्षेप नं० ५ के समाधानमें दिये हुए सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें अव्याख्यात अंशोंके स्पष्टीकरणसे प्रकट है।

(ग) आ० विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमें सूत्रवार्तिकोंको लक्ष्य करके उक्त वार्तिकका लक्षण किया है। मीमांसा-श्लोकवार्तिक, न्यायवार्तिक, राजवार्तिक आदि सूत्र-वार्तिक ग्रंथ हैं। उनके अपने वार्तिक सूत्रोंपर रचे हुए हैं और उन सबमें अनुपपत्तिचोदना, तत्परिहार और विशेष-कथन किया ही गया है। दिग्नागके कारिकारूप 'प्रमाण-समुच्चय' पर लिखा गया प्रमाणवार्तिक कारिकावार्तिक है—सूत्रवार्तिक नहीं। अतः सूत्रवार्तिकोंको लक्ष्य करके किये गये विद्यानन्दके सूत्रवार्तिक-लक्षणको कारिकावार्तिकरूप प्रमाणवार्तिकमें अव्यापक बताना समुचित नहीं है। 'मूल-भाग' या 'व्याख्येय अंश' को सूत्र माना जावे तो आप्त-मीमांसा, युक्त्यनुशासन, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी कारिकाएँ मूलभाग या व्याख्येय अंश तो हैं पर वे सूत्र नहीं हैं और न उनकी सूत्ररूपसे प्रसिद्धि ही है। अतः सूत्रका 'मूलभाग' या 'व्याख्येय अंश' लक्षण मानने पर वह उक्त ग्रंथोंमें अतिव्यापक हो जाता है और इस सूत्रलक्षणके आधारपर किया गया वार्तिकका लक्षण भी उक्त ग्रंथोंके टीकाग्रंथोंमें—अष्टशती, अष्टसहस्री, युक्त्यनुशासनालङ्कार, न्यायविनिश्चयालंकार आदिमें—व्याप्त होनेसे ये सब भी वार्तिकग्रंथ न्यायप्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि इनमें भी कहीं अनुपपत्ति-परिहार और कहीं विशेषा-भिधानके रूपमें व्याख्यान पाया जाता है। परन्तु ये वार्तिक हैं नहीं, अतएव यही मानना उचित जान पड़ता है कि विद्यानन्दने उक्त वार्तिकका लक्षण सूत्रग्रंथों पर लिखे गये वार्तिकग्रंथोंको ही लक्ष्य करके बनाया है, और इस तरह वह न तो अष्टशती आदिमें अतिव्यापक होता है और न प्रमाणवार्तिक में अव्यापक। अतः छठा आक्षेप ज्योंका त्यों स्थिर रहता है।

७ प्रत्याक्षेप—'मंगलपुरस्सरस्तव' शब्दोंसे अकलंकका अभिप्राय उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत माननेका नहीं है।

७ समाधान—पुरातनाचार्य श्री विद्यानन्दने अकलंक के उक्त शब्दोंका जो अर्थ किया है वह जब तक भले प्रकार ग़लत साबित नहीं हो जाता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अकलंकका अभिप्राय उक्त मंगलश्लोककी सूत्रकारकृत माननेका नहीं है। विद्यानन्दके अर्थकी सुसंगतता और उसका पुष्टीकरण इस लेखमें आगे किया गया है।

८ प्रत्याक्षेप—'आदि' शब्दका प्रयोग श्वेताम्बर व्याख्याकारों और उनके ग्रन्थोंके लिये किया गया है और आगे पाँचवें कारणके द्वारा इस मंगलश्लोकके विषयमें उन की असाम्प्रदायिक स्थिति प्रकट की गई है।

८ समाधान—यदि दूसरे कारणमें आदि शब्दके द्वारा श्वेताम्बर व्याख्याकारों और उनके ग्रंथोंको ग्रहण करना इष्ट था तो वहाँ दिगम्बर आचार्यों और उनके ग्रंथो की सूचीमें दो एक श्वे० व्याख्याकारो और उनके ग्रंथोंका भी नामोल्लेख कर देना उचित था तभी वह उन सबका बोधक हो सकता था। पाँचवें कारणको पृथक रखकर उस के द्वारा असांप्रदायिक स्थितिको स्पष्ट करनेके साथ साथ जब यह भी कहा गया है कि अमुक-अमुक श्वे० आचार्योंने उक्त मंगलश्लोककी व्याख्या नहीं की है, तब दूसरे कारण में 'आदि' शब्दके द्वारा उन श्वे० व्याख्याकारोंका पुनः निर्देश करना व्यर्थ ठहरता है। दोनोंमेंसे एकको व्यर्थ ज़रूर कहना होगा। अतः पाँचवें कारणकी व्यर्थताकी आशंका करके उसके परिहारका जो प्रयत्न किया गया है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

९ प्रत्याक्षेप—तत्वार्थवृत्ति-पद-विवरणकी जैसी व्याख्यान-शैली एवं मर्यादा है उसीके अनुसार 'यथावत' व्याख्यान शब्दका अर्थ लगाना चाहिये। ग्रंथकार जिसका जिस रूपमें व्याख्यान करना चाहता है वही उसका 'यथावत्' व्याख्यान है।

९ समाधान—तत्वार्थवृत्ति-पद-विवरण जब एक विवरणग्रन्थ है तब उसमें केवल अव्यवस्थितरूपसे निर्देश करदेनेमात्रको कोई भी विचारक विद्वान् 'यथावत् व्याख्यान' का रूप नहीं दे सकता। 'यथावत व्याख्यान' की यदि यही परिभाषा मानी जाय कि "ग्रन्थकार जिसका जिस रूपमें व्याख्यान करना चाहता है वही उसका यथावत व्याख्यान है" तो वह उस वाक्यार्थमें अतिव्यापक होजाती है जिसे एक ग्रन्थकारने अज्ञान या प्रमादसे अन्यथा किया है, और इस तरह अकलक तथा विद्यानन्द जैसे आचार्योंके किन्हीं वाक्योंका एक जैन या जैनेतर ग्रन्थकार यदि ठीक अर्थ न समझकर अन्यथा व्याख्यान करता है तो उसका वह व्याख्यान भी यथावत् व्याख्यानकी कोटिमें आजायेगा। परन्तु ऐसा नहीं है। अतएव तत्वार्थवृत्तिपद-विवरणमें उपलब्ध 'अव्यवस्थित व्याख्यान' या 'निर्देशमात्र' यथावत् व्याख्यान नहीं कहला सकता।

१० प्रत्याक्षेप—'इत्यादि' शब्दसे उन युक्तियोंका ग्रहण किया गया है जिन्हें इस लेखमें दिया है।

१० समाधान—पहिले लेखमें उमास्वातिकृत न होनेके पाँच कारण गिनाये गये थे। इस लेखमें दूसरे वैसे कोई कारण न बतलाकर जिन युक्तियोंकी ओर संकेत किया गया है वे विद्यानन्दकी मान्यतामें बाधकरूपसे उपस्थित की गई है, उनकी परिगणना उमास्वातिकृत न होने के कारणोंमें नहीं की जा सकती। अतः 'इत्यादि' शब्दके द्वारा उनका ग्रहण बतलाना ठीक नहीं है।

अनुपपत्तियोंकी अनुपपत्ति

उत्तरलेखके शुरूमें शास्त्रीजीने 'कुछ अनुपपत्तियाँ' इस उपशीर्षकके नीचे तीन अनुपपत्तियाँ दी हैं, जो आ० विद्यानन्दकी 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगलश्लोकको तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण स्वीकार करनेरूप मान्यताको सन्दिग्ध कोटिमें रखकर उपस्थित की गई हैं और जिनका लक्ष्य पं० रामप्रसादजी आदिके लेखोंकी कुछ बातोंका उत्तर देदेना अथवा उनके समक्ष अपने पूर्वलेखकी स्थिति को स्पष्ट कर देनामात्र जान पड़ता है। क्योंकि लेखमें आगे चलकर यह स्पष्टरूपसे स्वीकार कर लिया गया है कि कि विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते थे और यह लिखकर कि "इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द हैं" उनकी इस मान्यताके आधारको खोजनेका प्रयत्न भी किया गया है। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीके लिये विद्यानन्दकी उक्त मान्यता सन्दिग्ध कोटिमें न रहकर निश्चित कोटिमें आ जाती है और तब उनकी ये अनुपपत्तियाँ अनुपपत्तियाँ नहीं रहतीं किन्तु स्वयं ही अनुपपन्न होकर विचार

के अयोग्य बन जाती हैं—दूसरे विद्वानोंके लिये तब उनके विचार अथवा अनुपपत्तिपरिहारकी जरूरत ही नहीं रहती। अन्यथा, यह नहीं हो सकता कि इधर तो शास्त्रीजी विद्यानन्दकी मान्यताको निश्चतरूपमें स्वीकार करें और उधर उस मान्यतामें अनुपपत्तियां उपस्थित करें। इस प्रकार की प्रवृत्ति लेखमें कथनके पूर्वापर-विरोधको प्रदर्शित करती है। इसीसे निश्चित मान्यताकी मौजूदगीमें शास्त्रीजीके—"पर मेरी तो यह अनुपपत्ति थी जो अब भी कायम है" "तो भी अभी प्रश्न अवशिष्ट रह जाते हैं जो इस (विद्यानन्द की) मान्यतामें अनुपपत्ति उत्पन्न करते हैं" 'पर प्रश्न तो यह है कि वे (विद्यानन्द) उसे (मङ्गलश्लोकको) स्पष्टतः तत्त्वार्थसूत्रका अंग भी मानते थे क्या?" इस प्रकारके शब्द बहुत ही खटकते हुए जान पड़ते हैं। अतः अनावश्यक समझकर अनुपपत्तियोंके विचारको यहाँ छोड़ा जाता है। वैसे भी उक्त अनुपपत्तियाँ विषयके पिष्टपेषणको ही लिये हुए हैं—उनमें अधिकांश बातें तो पूर्वविचारित ही हैं, जिन्हें फिरसे दोहरा-दोहराकर कुछ परिवर्तितरूपमें रख दिया गया है और कुछ विद्यानन्दकी व्याख्यापद्धति जैसी बातें ऐसी भी हैं जिन्हें लेखमें बार बार दोहराया गया है और जिन पर इससे पूर्व 'आक्षेप-परिहार-समीक्षा' शीर्षकके नीचे कितना ही विचार प्रस्तुत किया जा चुका है और उसके द्वारा उन्हें भले प्रकार निःसार प्रमाणित भी किया जा चुका है। ऐसी स्थितिमें मेरे लिये उन अनुपपत्तियों पर विचार करना और भी अनावश्यक होजाता है। मैं नहीं चाहता कि व्यर्थके पिष्टपेषण-द्वारा अपना तथा पाठकोंका समय नष्ट करूँ।

हां, यदि शास्त्रीजी अपनी स्वीकृत मान्यता को वापिस ले लेंगे और फिरसे यह कहने लगेंगे कि 'आ० विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं मानते थे' तो मैं उक्त तीन अनुपपत्तियों पर ही नहीं किन्तु और भी जो अनुपपत्तियाँ वे उपस्थित करेंगे उन सब पर व्यवस्थित रूपसे विचार करनेके लिये खुशीके साथ प्रस्तुत हो जाऊँगा। और तब उनकी विद्यानंद की मान्यताके आधार वाली नई खोजकी बात व्यर्थ पड़ जायगी—उसे वे उपस्थित ही नहीं कर सकेंगे। अस्तु।

विद्यानंद-मान्यताकी पूर्वपरंपरा और आधार

अब मैं शास्त्रीजीके लेखकीअवशिष्ट दो बातों को भी लेता हूं जो उन्होंने नई उपस्थित की हैं और जिनमेंसे (१) एक है विद्यानन्दकी मान्यतामें पूर्वपरम्पराका अभाव और (२) दूसरी है विद्यानन्दकी उस मान्यताका आधार। इन दोनों बातोंके द्वारा शास्त्रीजीने आचार्य विद्यानन्दकी उक्त मंगलश्लोक-विषयक सिद्ध मान्यताके महत्त्वको कम करनेके लिये यह बतलानेकी चेष्टा की है कि विद्यानन्दको अपनी इस मान्यताके लिये पूर्वाचार्य-परम्पराका कोई समर्थन प्राप्त नहीं था, वह उनकी निजी मान्यता एवं गलत धारणा है जो अकलंककी अष्टशतीके एक वाक्यके आधार पर—उसका गलत अर्थ करके—बना ली गई है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि आ० विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोकको जो उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण प्रतिपादन किया है वह वास्तवमें तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है या कि नहीं। इसपरसे अनेक पाठकोंको यह देखकर आश्चर्य होगा कि, जिन विद्यानन्द स्वामीको 'सूक्ष्मप्रज्ञ' बतलाया जाता है, जिन्हें स्वयं शास्त्रीजीने न्यायकुमुदचंद्र-द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें 'अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन' के धनी तक प्रकट किया है और जिनके वचनोंको प्रमाण मानकर शास्त्रीजीने उनके आधारपर कुछ ही समय पूर्व यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि विद्यानंद ने उक्त मंगलश्लोकको आ० पूज्यपादके द्वारा तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिका बांधते समय सर्वार्थसिद्धिके मंगलरूपमें रचा हुआ बतलाया है, उन्हीं विद्यानन्द स्वामीको शास्त्रीजी आज, अपने उस प्रयत्नमें असफल होनेपर, संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे हैं, आचार्य विद्यानन्द उस वाक्यका सीधा-सरल अर्थ न समझकर गलत अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ऐसा प्रतिपादन करने लगे हैं, और इस तरह उनकी मान्यताके महत्त्वको कम करनेकी चेष्टामें लगे हैं! परन्तु नहीं, इसमें आश्चर्य करनेकी ऐसी कोई बात नहीं है,—विद्वानोंको जब कोई नई बात उपलब्ध होती है तभी वे उसे प्रकट करते हैं तदनुसार शास्त्रीजीको हालमें जो नई बात उपलब्ध हुई है उसे उन्होंने विचारकोंके सामने रक्खा है। अब उसपर विचार करना ही विद्वानोंका कर्तव्य है।

हाँ, विचार करते समय शास्त्रीजीने जो ढंग अख्तियार किया है उस परसे यह आशंका जरूर हो सकती है कि, हम अपने विचार-द्वारा शास्त्रीजीको सन्तुष्ट कर सकेंगे या कि नहीं ? क्यों कि अभी शास्त्रीजी कई शताब्दी पूर्वके बालचन्द्र योगीन्द्रदेव और श्रुतसागरादि टीकाकारोंके विषय में कहते थे कि उन्होंने उक्त मंगलश्लोकको उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्रका जो मंगलाचरण बतलाया है वह उनकी आधुनिक कल्पना है—उन्हें उसके लिये पूर्वपरम्परा प्राप्त नहीं थी; जब उन्हें विद्वानोंके स्पष्टीकरण-द्वारा विद्यानन्द तककी पूर्वपरम्परा प्राप्त होगई तब विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्पराका प्रश्न सामने लाया गया है। यदि किसी विद्वानने विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्व परम्परा भी बतलादी तो फिर उन दूसरे उत्तरोत्तर आचार्योंकी मान्यताका प्रश्न उठाया जायगा, और इस तरह जब तक उक्त मंगलश्लोक को टीकासहित उस श्वे० भाष्यमें नहीं दिखला दिया जायगा जिसे शास्त्रीजी "स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ भाष्य" प्रसिद्ध बतलाते हैं तब तक शायद वे सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे। परन्तु ऐसी आशंका करके कर्तव्य-पालनमें शिथिल होना व्यर्थ है—शास्त्रीजीका सन्तुष्ट होना न होना उनके आधीन है, विद्वानोंको विचारक्षेत्रमें अपने कर्तव्यको जरूर पूरा करना चाहिये। यही सब सोच कर मैं शास्त्रीजीकी युक्तियों के निर्देशपूर्वक उन दोनों बातों पर अपना विचार प्रस्तुत करता हूं।

(१) पूर्वपरम्परा-विचार—

पहली बात पूर्वपरम्पराके अभाव-सम्बन्धमें शास्त्रीजीने जो युक्तिवाद उपस्थित किया है उसका सार इतना ही है कि—विद्यानन्दको तत्त्वार्थसूत्र पर अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके दो ही टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे एक आ० पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' और दूसरा श्रीअकलंकदेवका 'राजवार्तिक', इन दोनों टीकाग्रंथोंमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि *मंगलश्लोककी कोई व्याख्या नहीं है, राजवार्तिकमें इसका निर्देश तक भी नहीं है। यदि यह मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो पूज्यपाद और अकलंकदेव इसकी व्याख्या ज़रूर करते, क्योंकि "आ० पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके किसी भी अंशको बिना व्याख्या और उत्थानके नहीं छोड़ते वे उसके एक एक शब्द* का व्याख्यान करते हैं। यह उनकी व्याख्यापद्धति है।" "इसी तरह अकलंकदेव राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक अंशका या तो वार्तिक बनाकर या उन (उस ?) का सीधा ही विशद व्याख्यान करते हैं।" इसके सिवाय, सर्वार्थसिद्धि-की भूमिकामें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति एक भव्यके प्रश्न पर बतलाई है, "भूमिकाके अनुसार यदि तत्त्वार्थसूत्रकी भव्यके प्रश्नके अनुसार उत्पत्ति हुई है तो सूत्रकारको मंगलाचरण करनेका कोई अवसर या प्रसंग नहीं था"। "मूल तत्त्वार्थसूत्र की कुछ प्रतियोंमें यह श्लोक भी नहीं है।" अतः विद्यानन्द को अपनी मान्यताके लिये पूर्वपरम्परा प्राप्त नहीं थी।

इस युक्तिवादके पिछले दो अंश पूर्वपरम्पराके विचार के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखते। मूलतत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें इस मंगलश्लोकका न पाया जाना प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं डालता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि उनकी प्राचीनताका द्योतक समयका उल्लेख भी साथमें न हो और अधिकांश प्रतियोंमें यह मंगलश्लोक पाया जाता हो। रही भव्यके प्रश्न पर तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति, इसके विषयमें प्रथम तो शास्त्रीजी खुद संदिग्ध हैं इसीसे 'यदि' शब्दका साथमें प्रयोगकर रहे हैं। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र प्रश्नोत्तर के रूपमें नहीं है—प्रश्नोत्तर रूपमें होनेपर उसमें उत्तरोंके साथ प्रश्न भी रहने चाहियें थे; परन्तु प्रश्न तो दूर रहे, प्रथम दो प्रश्नोंके उत्तर भी साथमें नहीं हैं। ग्रन्थकी सूत्र-प्रकृतिको देखते हुए, सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें ग्रन्थावतार का जो सम्बन्ध व्यक्त किया गया है उसका इतना ही आशय जान पड़ता है कि किसी भव्यके प्रश्नको लेकर और सभी भव्य जीवोंको लक्ष्य करके आचार्य महोदयने स्वतंत्र रूपसे इस ग्रन्थरत्नकी रचना की है—यह आशय कदापि नहीं लिया जा सकता कि उस भव्य तथा आचार्य महोदयके मध्यमें जो साक्षात् प्रश्नोत्तर हुआ था उसीके उत्तर-भागको किसीने क्रमशः निबद्ध कर दिया है। तीसरे, अवतार-कथा कुछ भिन्न प्रकारसे भी पाई जाती है। और चौथे, राजवार्तिकमें श्रीअकलंकदेव "अपरे आराती या:···। नाऽत्र शिष्याचार्यसम्बन्धोविवक्षितः। किन्तु ·· इति निश्चित्य *मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह।" इत्यादि इन प्रथम सूत्रके पीठिकावाक्योंद्वारा प्रश्नोत्तररूप सम्बन्धके अभावका भी सूचन करते हैं। अतः मंगलाचरणको अनवसरप्राप्त तथा अप्रा-*

संगिक नहीं कहा जा सकता और न ऐसा कहकर विद्यानन्द की मान्यताके लिये पूर्वपरम्पराका अभाव ही बतलाया जा सकता है।

अब रह जाता है युक्तिवादका प्रथम प्रधान अंश, इस के सम्बन्धमें मेरा निवेदन इस प्रकार है :—

प्रथम तो यह कहना ठीक नहीं कि आ० विद्यानन्दको सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे; क्योंकि ऐसा कहना तभी बन सकता है जब पहले यह सिद्ध कर दिया जाय कि विद्यानन्दसे पहले तत्त्वार्थसूत्रपर इन दो टीकाग्रन्थोंके सिवाय और किसी भी दिगम्बर टीका ग्रंथकी रचना नहीं हुई थी। परन्तु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक शिलालेखों आदि परसे यह प्रकट है कि पूर्वमें दूसरे भी टीकाग्रन्थ रचे गये हैं, जिनमेंसे एक तो वही हो सकता है जिसका राजवार्तिकमें प्रथम सूत्रके अनन्तर 'अपरे आरातीयाः' इत्यादि वाक्योंके द्वारा सूचन पाया जाता है; दूसरा स्वामी समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटि आचार्यका टीकाग्रन्थ है, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ के निम्न वाक्यमें पाया जाता है और जिसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत' शब्द इस बातको प्रकट करता है कि यह श्लोक उसी टीकाग्रंथका वाक्य है और वहींसे लिया गया है —

"तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥"

यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन दूसरे टीकाग्रंथों का विद्यानन्दको उपलब्ध होना असंभव था; क्योंकि उपलब्धिमें असंभवताका कोई कारण प्रतीत नहीं होता। सम्भावना तो यहाँ तक भी होती है कि गुरुको जो ग्रन्थ उपलब्ध न हो वह शिष्यको उपलब्ध हो जाय; जैसे कि प्रमाणसंग्रहादि जो ग्रन्थ पं० गोपालदासजीको उपलब्ध नहीं थे वे आज नई खोजके कारण उनके शिष्योंको उपलब्ध होरहे हैं। और इसलिये संभव तो यह भी है कि जो टीकाग्रंथ पूज्यपाद तथा अकलंकको प्राप्त न हो वह विद्यानन्दके सामने मौजूद हो। अतः अपनेको उपलब्ध इन दो टीकाग्रन्थों परसे यह कल्पना कर लेना कि विद्यानन्दको भी ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे—इनसे पुराना अथवा इनके समकालीन दूसरा कोई टीकाग्रन्थ उपलब्ध नहीं था— युक्तिसंगत नहीं है। और इसीतरह मात्र इन दो टीकाग्रंथों परसे विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरंपराको खोजना भी युक्तियुक्त नहीं है। मान्यताकी पूर्वपरम्पराके लिये दूसरे टीकाग्रन्थ, तत्त्वार्थटीकाओंसे भिन्न दूसरे ग्रन्थ, जिनमें आप्तपरीक्षादिकी तरह तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणका उल्लेख हो, और अपने साक्षात्गुरु, दादागुरु तथा समकालीन दूसरे वृद्ध आचार्योंसे प्राप्त हुआ परिचय ये सब भी कारण हो सकते हैं। इनके सिवाय, अपने समयसे ५००—७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई मूल तत्त्वार्थसूत्रकी ऐसी प्रामाणिक प्रतियाँ भी उस मान्यतामें कारण हो सकती हैं जिनमें उक्त मंगलश्लोक मंगलाचरणके रूपमें दिया हुआ हो। इतनी पुरानी—आ० उमास्वातिके समयतककी—प्रतियोंका मिलना उस समय कोई असंभव नहीं था। आज भी हमें अनेक ग्रन्थोंकी ऐसी प्रतियां मिल रही हैं जो अबसे ६००-७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई हैं। ऐसी हालतमें मात्र सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकको विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरंपरा के निर्णयका आधार बनाना आपत्तिसे खाली नहीं है।

दूसरे, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें उक्त मंगलश्लोककी टीकाका न होना इसके लिये कोई बाधक नहीं है कि उक्त मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है और न इसके लिये कोई साधक ही है कि विद्यानन्दकी मान्यताको पूर्वपरम्पराका समर्थन प्राप्त नहीं था; क्योंकि टीकाकारोंके लिये यह लाजिमी नहीं है कि वे मंगलश्लोककी भी व्याख्या करें—खासकर ऐसी हालतमें उनके लिये व्याख्या करना और भी अनावश्यक होजाता है जबकि उन्होंने मूल के मंगलाचरणको अपनाकर उसे अपनी टीकाका मंगलाचरण बना लिया हो। सर्वार्थसिद्धि ऐसा ही टीकाग्रंथ है जिसमें मूलके मंगलाचरणको अपना लिया गया है और राजवार्तिक ऐसी ही सूत्रवार्तिकरूप टीकाप्रकृतिको लिये हुए है जो मंगलाचरणकी व्याख्याको अनावश्यक कर देती है। इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण एवं पुष्टीकरण मैंने अपने प्रथमलेखमें कर दिया है और रहा-सहा इस लेखमें 'आक्षेप-परिहार-समीक्षा' उपशीर्षकके नीचेकर दिया गया है अतः यहाँ पर उसको फिरसे दोहरानेकी जरूरत मालूम नहीं होती।

तीसरे, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें मंगलाचरणकी व्याख्याको आवश्यक बतलाते हुए जो हेतु दिया है—मूल के किसी भी अंश अथवा शब्दको बिना व्याख्याके न छोड़नेरूप व्याख्यापद्धतिको हेतुरूपमें प्रस्तुत किया है—वह पक्षाव्यापक एवं सदोष है; क्योंकि इन दोनों ही टीका ग्रन्थोंमें मूलके कितने ही पद-वाक्य तथा शब्द अव्याख्यात हैं और कितने ही सूत्रोंके उत्थान-वाक्य भी साथमें नहीं हैं; जैसा कि पहले इसी लेखमें 'आक्षेप परिहार-समीक्षा' उपशीर्षकके नीचे प्रत्याक्षेप नं० ५ ६ के समाधानोंमें स्पष्ट करके बतलाया जा चुका है। फिर मंगलाचरणकी व्याख्याकी तो बात ही क्या है, जो ग्रन्थका प्रधान अंग नहीं होता, और इसलिये जिसकी व्याख्या करना कोई अनिवार्य (लाज़िमी) कार्य भी नहीं होता, बल्कि उसका करना–न करना व्याख्याकारोंकी रुचिविशेषपर अवलम्बित रहता है।

इस तरह पहली बातके समर्थनमें जो युक्तिवाद उपस्थित किया गया है वह निर्दोष न होकर दोषोंसे परिपूर्ण है—आचार्य विद्यानन्दकी मान्यताके विषयमें पूर्वपरम्पराके अभावको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है; और इसलिये मान्यताके आधार पर विचार करते हुए उसकी भूमिकामें शास्त्रीजीने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'उक्त मंगल-श्लोकको सूत्रकारकृत लिखने वालोंमें 'सर्वप्रथम' आचार्य विद्यानन्द हैं, उन्हें जब अपनी धारणाके पक्षमें पूर्वाचार्यों की परम्परा नहीं मिली और श्लोकवार्तिकमें उस श्लोकका व्याख्यान करना प्रबल बाधक जँचा तो वे अन्य प्रकारसे उसके पदोंकी व्याख्या कर जानेपर भी तत्वार्थसूत्रके अंगरूपमें उसे अव्याख्यात रखनेके कार्यमें पूज्यपाद और अकलंक आदिके शामिल होगये हैं,' इसमें कुछ भी सार नहीं है। ऐसा प्रतिपादन करके शास्त्रीजीने जाने–अनजाने एक ऐसी भारी जिम्मेवारी को अपने ऊपर ले लिया है जिसका निर्वाह करना उनकी शक्तिसे बाहरकी चीज़ है, क्योंकि ऐसे प्रतिपादनकी समीचीनता अथवा यथार्थताको व्यक्त करनेके लिये उन्हें यह बतलाना होगा कि आ० विद्यानन्द के सामने मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्रतियाँ थीं, जो दूसरी टीकाएँ थीं और तत्वार्थसूत्रके उल्लेख-विषयक जो दूसरा साहित्य था उस सब सामग्रीको उन्होंने देख लिया है और उसमें कहीं भी उक्त मंगलश्लोकको तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण अथवा सूत्रकारकृत नहीं लिखा है; तभी वे यह प्रतिपादन करनेमें समर्थ हो सकते हैं कि "इस मंगलश्लोक को सूत्रकारकृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द हैं।" साथ ही, यह भी बतलाना होगा कि आ० विद्यानन्दकी शुद्ध मनोवृत्तिपर जो यह गंभीर आरोप अथवा लांछन लगाया गया है कि 'उन्होंने यह जानते हुए भी कि उनकी उक्त मंगलश्लोक-विषयक धारणाको पूर्वाचार्यपरंपरा का समर्थन प्राप्त नहीं है, कुछ कारण उसमें 'प्रबल बाधक' हैं और वह 'पर्याप्त बलवती' भी नहीं है; फिर भी उसे अन्यत्र आप्तपरीक्षादिके द्वारा (और प्रकारान्तरसे श्लोकवार्तिक के द्वारा भी) चलानेका प्रयत्न किया है, इसके लिये शास्त्रीजीके पास क्या आधार है? क्या वे इसमें विद्यानन्दके निजी स्वार्थादिक किसी प्रेरक कारणको बतला सकते हैं? और यह भी बतला सकते हैं कि जब आ० विद्यानन्द अपनी मान्यताका अन्य ग्रन्थों द्वारा खुला प्रचार कर रहे थे तब उन्हें श्लोकवार्तिकमें उक्त श्लोकको तत्वार्थसूत्रका अंग मानकर उसकी खुली व्याख्या करनेमें किस बातका भय उपस्थित था? और वह भय खुली व्याख्या न करनेमात्रसे कैसे दूर होगया, जबकि विद्यानन्दजी श्लोकवार्तिकमें ही प्रकारान्तरसे उसकी व्याख्या कर रहे हैं और उसकी सूचना भी अपनी आप्तपरीक्षा-टीकामें दे रहे हैं? यदि शास्त्रीजी यह सब नहीं बतला सकेंगे तो उनका उक्त प्रतिपादन केवल प्रतिपादन ही रहेगा और इसलिये विद्वद्दृष्टिमें उस का कुछ भी मूल्य नहीं हो सकेगा।

(२) आधार-विचार—

अब रही दूसरी मान्यताके आधार वाली बात, शास्त्रीजी यह स्वीकार करके कि "यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्य के लिये कम सम्भव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके अवलम्बनके बना लेते," अकलंककी अष्टशतीके निम्न वाक्यको विद्यानन्दकी उस धारणा-मान्यताका आधार बतलाते हैं—

"देवागमेत्यादि मंगलपुरस्सरस्तवविषय परमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तैव स्वयं ।"

इस वाक्यमें ठीकपूर्ववर्ती दो मंगल पद्योंमें अकलंकदेव ने क्रमशः अर्हत्समुदयकी, भद्राणीकी और समन्तभद्रकी स्तुति करके समन्तभद्रकी एक कृतिकी वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञाकी है

और उस कृतिको भगवानका स्तव बतलाते हुए उसका नाम 'देवागम' दिया है, जोकि 'देवागम' शब्दसे प्रारम्भ होनेके कारण भक्तामरादि स्तोत्रोंके नामोंकी तरह सार्थक जान पड़ता है। आचार्य विद्यानन्दने भी समन्तभद्रकी उस कृति पर अष्टसहस्री नामकी एक अलंकृति (टीका) लिखी है जिसके प्रारंभिक एक ही मंगलपद्यमें उन्होंने जिनेश्वर समुदाय और उनकी वाणीके साथ समन्तभद्रकी स्तुति करके उनकी उस कृति पर अलंकृति लिखनेकी प्रतिज्ञा की है और कृतिका नाम 'आप्तमीमांसितम्' दिया है, जोकि उस कृतिकी अन्तिम कारिका 'इतीयमाप्तमीमांसा' में दिये हुए नामके अनुकूल है। साथ ही नाममें प्रयुक्त हुए 'आप्त' का विशेषण 'शास्त्रावतार-रचित-स्तुति-गोचर' दिया है। यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीमें अकलंककी अष्टशतीको पूर्णतः अपनाया है और उसका मूलतः अनुसरण करते तथा अपने कथनका अष्टशतीसे समर्थन करते हुए अकलंकके हार्दको व्यक्त करने और उनके प्रतिपाद्य विषयको पूर्वाचार्य-परम्पराकी मान्यतानुसार स्पष्ट करने तथा सगत बिठलानेका भी पूरा प्रयत्न किया है। और इस सब प्रयत्नके द्वारा वे स्वामी समन्तभद्रकी कृतिको अलंकृत करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। चुनाँचे अपने मंगलपद्यके विषयका स्पष्टीकरण करते हुए विद्यानन्दने, "तद्वृत्त्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात्" इस वाक्यके द्वारा यह बतलाकर कि वृत्तिकार अकलंकदेवने भी इसीलिये 'उद्दीपीकृत' इत्यादि पद्योंके द्वारा अर्हत्समुदाय, तद्वाणी और समन्तभद्रके स्तवनका विधान किया है, तदनन्तर अष्टशती वृत्तिके 'देवागमेत्यादि' उस आद्य वाक्य को दिया है जिसे शास्त्रीजीने उपर्युक्त प्रकारसे अधूरा उद्धृत करके विद्यानन्दकी तत्त्वार्थशास्त्रके मंगलाचरण--विषयक मान्यताका एकमात्र आधार बतलाया है और जिसका (बिन्दुस्थानीय) शेष अंश इस प्रकार है—

"श्रद्धा-गुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्।"

इस पूरे वृत्तिवाक्य-द्वारा अकलंकने मूलग्रंथका नाम 'देवागम', देवागमके द्वारा जिस परमआप्तकी गुणातिशय-परीक्षाको स्वीकृत किया गया है उसका विशेषण 'मंगल-पुरस्सरस्तवविषय' और परीक्षाके स्वीकार-द्वारा ग्रन्थकार श्रीसमन्तभद्रका श्रद्धा-गुणज्ञता-लक्षणरूप प्रयोजन इन तीनों बातोंको सूचित किया है—अर्थात् यह बतलाया है कि आचार्य श्रीसमन्तभद्रने देवागम इत्यादि ग्रन्थके द्वारा उस परम-आप्तदेवके गुणातिशयकी परीक्षाको स्वीकार किया है जो मंगलाचरणके निमित्त रचे गये स्तवनका विषयभूत है और उनकी इस परीक्षासे यह स्पष्ट है कि वे आप्तके गुणोंके ज्ञाता थे और उक्त स्तवनप्रतिपादित-गुणोंसे विशिष्ट आप्तमें श्रद्धा रखते थे। साथ ही यह भी प्रकट किया है कि श्रद्धा और गुणज्ञता इन दोनोंमेंसे किसी एकके भी न होनेपर परीक्षाग्रंथकी उत्पत्ति बनती ही नहीं; क्योंकि शास्त्रन्यायानुसारिता (श्रद्धा) से—स्वरुचिविरचितत्वका परिहार होनेसे—परीक्षाग्रन्थमें उसी प्रकार विषयका उपन्यास (प्रस्ताव) होता है जिस प्रकार कि वह पूर्वशास्त्रमें पाया जाता है। विद्यानन्दने अष्टशतीके उक्त अंशको अपनाकर तदनन्तर प्रयुक्त हुए 'इत्यनेन' जैसे शब्दोंके द्वारा अकलंकके इसी आशयको और भी व्यक्त करते हुए अपने और अकलंकके शब्दविन्यासकी एकाभिप्रेतके नाते जो तुलना की है उसमें बतलाया है कि—

"मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते। मंगलं पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात्।"

अर्थात्—मंगलपुरस्सरस्तव ही शास्त्रावताररचितस्तुति कहा जाता है; क्योंकि मंगल है पुरस्सर जिसके ऐसा जो शास्त्रावतार काल वह 'मंगलपुरस्सर' कहलाता है और उस शास्त्रावतार कालके अवसर पर रचा गया जो स्तव स्तोत्र है उसे 'मंगलपुरस्सरस्तव' कहते हैं, ऐसा 'मंगलपुरस्सरस्तव' पदका व्याख्यान है।

'मंगलपुरस्सरस्तव' पदके इस व्याख्यानको शास्त्रीजी 'अर्थ' तथा 'अनुवाद' नाम देकर और अर्थ-अनुवाद तथा व्याख्यानमें कोई भेद न करके 'सीधा अर्थ' तथा 'सीधा अनुवाद' न करना बतलाते हैं। यद्यपि शास्त्रीजीने स्पष्टरूपसे यह नहीं लिखा कि विद्यानन्दने अर्थ करनेमें गलती की, उनका अर्थ वस्तुस्थितिके विपरीत है अथवा वह किसी तरह बनता ही नहीं, बल्कि अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि समासके द्वारा वैसा अर्थ बनता ज़रूर है

इसे स्पष्ट स्वीकार किया है, फिर भी यह अर्थ सीधा नहीं, सीधा अर्थ पूर्वपद्यके अनुसन्धानसे दूसरा ही निकलता है और उस दूसरे— अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये सीधे— अर्थको देकर प्रकारान्तरसे यह सूचित किया है कि विद्यानंद ने सीधा अर्थ न करके जो गलती खाई है उसीका यह परिणाम है कि वे उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण बतला रहे हैं। अस्तु, शास्त्रीजीने अष्टशतीके उक्त वाक्यका जो सीधा अर्थ प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

"देवागम आदि मंगलपूर्वक किया गया जो स्तव अर्थात् जिसमें देवागम नभोयान आदि मंगलसूचक पद विद्यमान हैं ऐसा जो स्तव उस देवागमस्तवके विषयभूत परमआप्तके गुणातिशयकी परीक्षाको स्वीकार करने वाले ग्रन्थकार ···।"

इस अर्थके द्वारा शास्त्रीजीने जहाँ यह सुझानेका प्रयत्न किया है कि समन्तभद्रके सामने दूसरा ऐसा कोई शास्त्र नहीं था जिसके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' जैसे मंगलाचरणमें आये हुए आप्तके गुणोंकी इस 'देवागम' ग्रन्थमें परीक्षा की गई हो बल्कि स्वयं यह देवागमग्रन्थ आप्तकी परीक्षाको लिये हुए होने तथा स्तव कहा जानेसे उस 'स्तव' शब्दका भी वाच्य है जो 'मंगलपुरस्सरस्तव' पदमें प्रयुक्त हुआ है। वहाँ बादको 'अतः' शब्दके प्रयोग द्वारा निष्कर्ष निकालते हुए यह भी फलित करना चाहा है कि—"अकलंकदेव देवागम आदि पदोंको मंगलार्थक मानकर देवागमस्तवको मंगलशून्य होनेकी आशंकाका निराकरण कर रहे हैं।" परन्तु शास्त्रीजीकी ये दोनो ही बातें समुचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रथम तो जब तक आप्तका कोई गुणस्तोत्र सामने न हो तब तक आप्तके उन गुणोंकी परीक्षामें प्रवृत्ति ही नहीं होती।

दूसरे, वह श्रद्धा भी चरितार्थ नही होती जिसे अकलंक ने परीक्षामें एक आवश्यक प्रयोजनके तौरपर स्वीकार किया है।

तीसरे, अकलंकके 'शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्' ये दोनों पद व्यर्थ जान पड़ते हैं।

चौथे, देवागमके प्रारम्भमें ऐसा कोई मंगलाचरण भी नहीं जिसमें वर्णित आप्तके स्वरूपको लेकर ही अगली कारिकाओंमें उसकी परीक्षाकी गई हो।

पाँचवे, देवागम स्वयं अकलंककी दृष्टिमे भगवत्स्तोत्र ("भगवतां स्तवः") है और भगवत्स्तोत्र सारा ही मंगलरूप होता है तब अकलंकके विषयमें यह कहना कि वे 'देवागम आदि पदोंको मंगलार्थक मानकर देवागमस्तवके सम्बन्धमें मंगलशून्य होनेकी आशंकाका निराकरण कर रहे हैं निरर्थक जान पड़ता है।

छठे देवागम आप्तमीमांसाके नामके साथ मूलतः एक परीक्षाग्रन्थ है, जिसमें आप्त परीक्ष्य है और वह परीक्षाके अनंतर ही स्तुतिका विषय बनाया जासकता है—पहले नहीं; चुनाँचे देवागम द्वारा परीक्षाको समाप्त करके स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनमें उन परमआप्त वीरभगवानको अपनी स्तुतिका विषय बनाया है जिन्हे देवागमकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त हुए 'नातस्त्वमसि नो महान्' जैसे शब्दोंके द्वारा परीक्षाके पहले 'महान्' प्रतिपादन नहीं किया था, जैसा कि युक्त्यनुशासनकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त 'स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्यवीरं' जैसे शब्दोंसे प्रकट है, जिनमें 'अद्य' परीक्षावसानसमयका द्योतक है* और चौथी कारिकामें 'महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः' जैसे शब्दोंके द्वारा उन्हें स्पष्टतया 'महान्' भी घोषित किया है। यह सब स्थिति तीक्ष्णदृष्टि अकलंकदेवकी आँखोंसे ओझल नहीं थी; तब अकलंकके लिये यह संगत ही मालूम नहीं होता कि वे ऐसे परीक्षाग्रन्थमें आप्तके स्तवनादिरूप किसी मंगलाचरणकी आकांक्षा अथवा आशंका करें और उसे न देख कर प्रथम पद्यमें पड़े हुए 'देवागम' 'नभोयान' जैसे शब्दोंके द्वारा उसकी पूर्ति करनेका प्रयत्न करें।

* श्रीविद्यानन्द आचार्यने भी युक्त्यनुशासनकी टीकामें 'अद्य' शब्दका वाच्य 'अस्मिन्काले परीक्षावसानसमये' दिया है। और प्रथम कारिकाकी प्रस्तावनामें स्पष्टरूपसे यह स्वीकार किया है कि 'आप्तमीमांसा (देवागम)' के द्वारा व्यवस्थापित आप्तकी स्तुतिरूपमें यह ग्रन्थ उसके अनन्तर रचा गया है। यथा—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हताऽन्त्यतीर्थकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः ? इति ते पृष्टा इव प्राहुः·····"।

सातवें, अकलंकदेवकी ऐसी प्रकृति और प्रवृत्ति ही नहीं पाई जाती कि वे मंगलाचरण शून्यताकी आशंका करके उसके निराकरणका प्रयत्न करें अथवा किसी तरह मंगलाचरणकी संगति बिठलाएँ। यदि ऐसी प्रकृति एवं प्रवृत्ति होती और तत्त्वार्थसूत्रमें शास्त्रीजीके कथनानुसार मंगलाचरण नहीं तो वे राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रकी मंगल-शून्यता का निरसन करते हुए प्रथम सूत्रमें प्रयुक्त हुए सम्यग्दर्शनादि पदोंके द्वारा उस मंगलाचरणकी संगति जरूर बिठलाते। क्योंकि परीक्षा-ग्रन्थकी अपेक्षा निःश्रेयस शास्त्रमें उसकी संगति बिठलाना कहीं अधिक संगत एवं आवश्यक था; जैसाकि ब्रह्मसूत्रकी आदिमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें प्रयुक्त हुए 'अथ' शब्दके द्वारा उसके व्याख्याकारोंने मंगलकी संगति बिठलाई है और जिसे शास्त्रीजीने भी स्वीकार किया है। परन्तु राजवार्तिकमें ऐसा कुछ भी नहीं पाया जाता और इस लिये यही कहना होगा कि या तो अकलंककी वैसी प्रकृति तथा प्रवृत्ति नहीं थी और या थी तो राजवार्तिकमें उन्होंने जो मंगल-विषयकी चर्चा नहीं की उसका यही कारण है कि वे तत्त्वार्थसूत्रमें मंगलाचरणका होना जानते थे—भले ही अपने वार्तिककी प्रकृतिके अनुसार उन्होंने उसकी व्याख्यादि करना आवश्यक नहीं समझा। दोनों ही हालतोंमें शास्त्रीजीके इष्टको बाधा पहुंचेगी। अतः उनका सीधा अर्थ ही नहीं किन्तु उस अर्थके द्वारा उन्होंने जो उक्त दो बातें सुझाईं अथवा फलित करना चाही हैं वे भी बाधित ठहरेंगी। और इसलिये उनके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीविद्यानन्द आचार्यने शास्त्रीजीका अभिमत सीधा अर्थ न करके कोई गलती अथवा भूल की है और वह गलती अथवा भूल ही उनकी उस मान्यताका एक मात्र कारण है—आधार है।

इसके सिवाय, यहां यह प्रश्न पैदा होता है कि जब अष्टशतीके उक्तवाक्यका शास्त्रीजीसम्मत अर्थ भी बन सकता था और वह सीधा-सरल अर्थ था, तो विद्यानन्दने उसे छोड़कर दूसरा अर्थ क्यों किया ? इसके उत्तरमें यह तो नहीं कहा जा सकता कि आ० विद्यानन्दको वह सीधा अर्थ मालूम नहीं था; क्योंकि प्रथम तो सीधा-सरल अर्थ सबसे पहले मालूम हुआ करता है—उसीपर पहली दृष्टि पड़ती है, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थ बादको दृष्टिपथमें आता है। दूसरे ऐसा कहनेमें विद्यानन्दका तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख-अध्ययन, जिसे शास्त्रीजीने स्वीकार किया है, बाधक पड़ता है—उनका वह पाण्डित्य और अध्ययन हमें उनकी उक्त सरलार्थ विषयक अनभिज्ञताकी ओर आकृष्ट नहीं होने देता। अकलंककी गूढसे गूढ पंक्तियों, वाक्यों तथा पदोंके मर्मको और अकलंकके हार्द (हृदगत भाव) को व्यक्त करने वाले आचार्योंमें विद्यानन्दका ऊँचा स्थान है। इसीसे उन्हें 'सूक्ष्मप्रज्ञ' कहनेमें श्रद्धेय पंडित श्रीसुखलालजी जैसे उच्चकोटिके दार्शनिकविद्वानोंको गर्व और आनन्द होता है। अतः उनपर अनभिज्ञताका आरोप तो नहीं किया जा सकता। तब यही कहना होगा कि उन्हें 'उक्त अर्थ भी हो सकता है' ऐसा मालूम जरूर था। परन्तु फिर भी उन्होंने उस सीधे-सरल अर्थको ग्रहण न करके जो दूसरा अर्थ स्वीकार किया है उसका कारण ? कारण दो हो सकते हैं—एक तो यह कि विद्यानन्द उस सीधे अर्थको अबाधित और पूर्वपरम्पराके साथ संगत नहीं समझते थे बल्कि उस अर्थको ही अबाधित एवं पूर्व परम्परा के साथ संगत जानते थे जो उन्होंने किया है, और दूसरा कारण यह कि पूर्वपरम्पराके साथ संगति-असंगतिका कोई ख़याल न रखकर उन्हें अपनी नई कपोलकल्पना अथवा निराधार धारणाको चलाना ही इसके द्वारा इष्ट था। परन्तु इस पिछले कारणके सम्बन्धमें फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि पूर्वपरम्पराका उल्लंघन करके अपनी नई कपोलकल्पना को चलानेमें विद्यानन्दका क्या हेतु था ?—किस स्वार्थादिके वश उन्होंने ऐसा किया ? इसका कोई उत्तर नहीं बनता। और इसलिए जब तक इस प्रश्नका समुचित समाधान न कर दिया जाय तब तक दूसरा कारण ग्राह्य नहीं हो सकता —खासकर ऐसी हालतमें वह और भी अग्राह्य हो जाता है जब हम विद्यानन्दके ग्रन्थों परसे यह देखते हैं कि उनकी प्रकृति और परिणति अपनी पूर्वाचार्य-परम्पराका अनुसरण करनेकी ओर ही पाई जाती है; चुनाँचे शास्त्रीजी भी अपने लेखमें यह स्वीकार करते हैं कि 'यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्यके लिए कम सम्भव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके आलम्बनके बना लेते।' ऐसी हालतमें उपर्युक्त एक ही कारण रह जाता है और वही समुचित जान पड़ता है। शास्त्रीजीके सीधे अर्थ और फलितार्थमें जो पात

बाधाएँ ऊपर उपस्थित की गई हैं उनसे वह अबाधित नहीं रहता, और जब अबाधित ही नहीं तब पूर्वपरम्पराके साथ संगत भी कैसे हो सकता है ? आ० विद्यानन्दका अर्थ सीधा-साधारण अर्थ न होकर विशेषार्थ है और वह पूर्व-परम्पराके साथ संगत है, इसीसे उन्होंने उसे देते हुए पहले ही यह सूचित कर दिया है कि मंगलपुरस्सरस्तव ही शास्त्रावताररचितस्तुति कहा जाता है,' जिसका 'कहा जाता है' (इत्युच्यते') यह पद स्वकपोलकल्पना अथवा स्व-रुचि-विरचितत्वकी भावनाको हटाकर कथनकी ख्याति और पूर्वपरम्पराके साथ उसकी संगतिका द्योतक है। साथ ही उस अर्थके अनन्तर 'इति व्याख्यानात' पद देकर तो उन्होंने उसकी स्थितिको और अधिक भी स्पष्ट कर दिया है। अर्थात यह बतला दिया है कि 'मंगलपुरस्सरस्तव' पदका 'शास्त्रावतार-रचितस्तुति' सीधा अर्थ या अनुवाद नहीं है, किन्तु वह उस का व्याख्यान है—पूर्वाचार्यपरम्परासे प्राप्त विशिष्ट कथन है।

यहाँ 'व्याख्यानात्' शब्द खासतौरसे ध्यान देने योग्य है और वह प्रामाणिकताकी दृष्टिसे विद्यानन्दके उस अर्थकी जान है। मालूम होता है शास्त्रीजीने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया, और शायद इसीसे उन्होंने विद्यानन्दके अर्थके साथ उसे उद्धृत भी नहीं किया। परन्तु कुछ भी हो यथास्थान प्रयुक्त हुआ यह शब्द अपना खास महत्व रखता है और किसी तरह भी उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। न्यायकी परिभाषा में 'व्याख्यान' संगत विशिष्ट कथनको अथवा प्रसिद्ध-अर्थसे भिन्न कथनको कहते हैं, जिसकी पुष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" इस सुप्रसिद्ध एवं आचार्य पूज्यपाद,[1] अकलंकदेव[2] और विद्यानन्द[3] के द्वारा अनुमोदित न्याय-वाक्यसे भी हो जाती है, जिसे देकर अकलंकदेवने तो "इत्यनिष्टस्य निवृत्तिर्भवति" शब्दों द्वारा यह भी प्रकट किया है कि 'इससे अनिष्टकी निवृत्ति होती है।' चुनाँचे आ० विद्यानन्दने जहाँ स्वामी समन्तभद्रकी कारिकाओं और अकलंकदेवकी अष्टशतीके वाक्योंका सीधा-सरल अर्थ या अनुवाद किया है वहाँ उन्होंने 'व्याख्यानात' जैसे पदका प्रयोग भी नहीं किया—अपनी ओरसे उन्होंने इस पदका प्रयोग संगत विशेषार्थ की प्रतिपत्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये ही किया है। जैसा कि नीचेके कुछ उदाहरणोंसे प्रकट है:—

१—"तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः···। तेषां समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः संवादको (?) नैव भवेदिति व्याख्यानात् ।"
—अष्टस०, का० ३ पृ० ५

२ — "एकानेकप्रमाणवादिनास्वप्रमाण्याप्रवृत्तिरिति (अष्टशती) यथा च कापिलादयोऽनेकप्रमाणवादिन-स्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोऽपि (अनेक-प्रमाणवादिनः), तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात् । नैव-प्रमाणवादिनोऽनेवप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् ।"
—अष्टस०, का० ३ पृ० ४२

३—'अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ···' इति (न्यायविनिश्चय) अभिलापविवेकतः अभिलापरहितत्वात् इति व्याख्यानात् । —अष्टस०, का० १३ पृ० १२१

४—'अत्रापीदमेव कारिका (अभिलापतदंशनामित्यादि) योज्या, अभिलापादिवेकत इत्यभिलापनिश्चयात इति व्याख्यानात् ।" —अष्टस०, का० १३ पृ० १२१

५—"प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेध-कल्पना सप्तभंगीति(राजवार्तिक)वचनात्। १ विधिकल्पना, २ प्रतिषेध कल्पना, ३ क्रमतोविधि-प्रतिषेध कल्पना, ४···, ७ क्रमाऽक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना च सप्तभंगीति व्याख्यानात् ।" —अष्टस०, का० १४ पृ० १२५

इन उदाहरणोंपरसे, जिनमेंसे पहला समन्तभद्रके और शेष सब अकलंकके पदोंके गूढार्थ* को व्यक्त करने वाले हैं, विज्ञ पाठक विद्यानन्दके हार्दको भले प्रकार समझ सकते हैं, उनके 'इति व्याख्यानात' पदके प्रयोगका रहस्य जान सकते हैं और साथ ही यह भी अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने अकलंकदेवके 'मंगलपुरस्सरस्तव' इस गूढ पदका

---

१ सर्वार्थ सिद्धि पृ० ३०६ (शोलापुर संस्करण)।
२ राजवार्तिक पृ० १३१, ३५५। ३ श्लोकवार्तिक पृ० ५०४।

* श्रीअकलंकदेवके वचन कितने गूढ तथा गम्भीरार्थक होते हैं यह बात नीचेके दो आचार्य-वाक्योंसे पाठक भले प्रकार अवगत कर सकते हैं—

"गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।
व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे ॥"
—वादिराजसूरि

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥"—अनन्तवीर्याचार्य

जो वह सामान्य अर्थ नहीं किया जिसे शास्त्रीजी सीधा अर्थ बतलाते हैं उसका कारण न तो तद्विषयक उनकी अनभिज्ञता है, न अपनी नई कल्पनाको चलाना है; बल्कि यही है कि वे उसे अविवक्षित, बाधित तथा पूर्वपरम्पराके साथ असंगत जानते थे। इसीसे उन्होंने उसका परित्याग करके वह विशेषअर्थ किया है जो पूर्वपरम्पराकी मान्यतानुसार अकलंकको विवक्षित और सर्व प्रकारसे सुसंगत था। उनके 'इति व्याख्यानात' पदकी स्थिति भी 'इ तवचनात', इत्यभिधानात', 'इतिप्रतिपादनत' 'इतिगुरूपदेशात' पदोंके प्रयोग जैसी है और वह इस बातको सूचित करती है कि उक्त पदका जो व्याख्यान उन्होंने दिया है वह या तो उसी रूप में पहलेसे किसी ग्रन्थमें मौजूद था— उन्होंने उसे वहाँसे उद्धृत किया है, और या उसका स्रोत उन्हें पूर्वाचार्य-परम्परासे बीजरूपमें प्राप्त था—वे अपने गुरु दादागुरु तथा दूसरे समकालीन वृद्ध आचार्योंके मुखसे वैसा सुन चुके थे; प्राचीन ग्रन्थोंके उल्लेखों परसे भी यह मालूम कर चुके थे कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है, उसीको लक्ष्यमें रखकर स्वामी समन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' लिखी है और उनकी इस प्रामाणिक जानकारीमें मूलतत्त्वार्थसूत्रकी वे प्राचीन प्रतियां भी उनके सहायक हो चुकी थीं जो ६००-७०० वर्ष पहलेकी अथवा उमास्वातिके समय तककी लिखी हुई थीं और उक्त मंगलाचरणको साथमें लिये हुए थीं। इन दोनों अवस्थाओंसे भिन्न वह व्याख्यान विद्यानन्दकी निजी कल्पना नहीं है। विद्यानन्द जहां केवल अपनी ओरसे कोई व्याख्यान उपस्थित करते हैं वहाँ 'व्याख्यातुं शक्यत्वात्' जैसे पदोंका प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं*।

अत: शास्त्रीजीने आ० विद्यानन्दकी उक्त मंगलश्लोक-विषयक मान्यताके लिये पूर्वपरम्पराका अभाव बतलाकर अष्टशतीके 'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तव···' वाक्यके अन्यथा अर्थको जो उसका एकमात्र आधार कल्पित किया है वह निराधार है—उसमें कुछ भी सार नहीं जान पड़ता।

* यथा—"अर्थशब्देन प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा, क्वचिद्विषयेण विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकाया एव तन्मतदूषण-परत्वेन व्याख्यातुं शक्यत्वात्। यथा च ·········।"

ऊपरके विवेचनकी रोशनीमें प्रकट हुई परिस्थितियों परसे यह साफ जाना जाता है कि विद्यानन्दको अपनी उक्त मान्यताके लिये पूर्वपरम्पराका आधार जरूर प्राप्त था—अर्थकी कोई गलती अथवा भ्रम उसका जनक नहीं है। और इसलिये महान् आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षागत कथनपर सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। शास्त्रीजीने जो सन्देह उपस्थित किया है वह भ्रान्ति-जन्य है।

उपसंहार

इस प्रकार शास्त्रीजीके लेखके मूल भाग पर अपना विचार समाप्त करके अब मैं उनके 'उपसंहार' पर भी कुछ विचार प्रस्तुत करता हूं। अपने पूर्व लेखके उपसंहारमें लेखका सार देकर मैंने यह आशा व्यक्त की थी कि "शास्त्री जी इस परसे पुनः विचार करके अपने निर्णयको बदलेंगे और दूसरे विद्वान पाठक भी इस विषयको निर्णीत करार देंगे," मेरी इस 'आशा' को शास्त्रीजीने अपने उत्तरलेखके 'उपसंहार' में प्रकारान्तरसे "अतिसाहसपूर्ण आग्रह" सूचित किया है। और मैंने अपने लेखमें शास्त्रीजीकी युक्तियोंका निरसन करते हुए उनकी भूलोंको प्रकट करके उनके निर्णय को जो गलत ठहराया था तथा "विद्वानोंसे अपना अभिमत प्रकट करनेके लिये सानुरोध निवेदन" करके जो उन्हें विचार के लिये प्रेरित किया था उसे 'प्रोपेगेन्डेका साधन बनाकर इतिहासक्षेत्रको दूषित कर देना' तथा 'सम्मतियाँ इकट्ठी करनेकी अशोभन वृत्ति' बतलाया है। शास्त्रीजीकी ये दोनों बातें कहाँ तक समुचित हैं इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। मैं तो इसे शास्त्रीजीके उस क्षोभका ही एक परिणाम समझता हूं जो उन्हें मेरे लेख पर उत्पन्न हुआ है और जिसका कुछ उल्लेख मैंने इस लेखके शुरूमें किया है। इसीसे मैं इस पर कुछ भी लिखना नहीं चाहता। हाँ, यह बात मेरी कुछ समझमें नहीं आई कि ऐसा करके मैंने किस बातका प्रोपेगेण्डा करना चाहा है? यदि शास्त्रीजी इसे विद्वत्ताका प्रोपेगेण्डा कहेंगे तो वे अपनेको इस आरोपसे कैसे मुक्त कर सकेंगे, यह कुछ समझ नहीं पड़ता। क्योंकि उन्होंने इतिहासविषयके अनेकलेख लिखे हैं, ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाएँ लिखी हैं और विद्वानोंको विचारके लिये प्रेरित

तथा अनुरोधित भी किया है; तब तो उनके वे लेखादिक भी उस प्रोपेगेण्डेकी कोटिमें आजायँगे। क्या शास्त्रीजी उन्हें भी इतिहासक्षेत्रको दूषित कर देने वाले ठहराएँगे? यदि नहीं तो फिर मेरे उस लेख पर वैसा आरोप कैसा? मैं तो जहाँ तक समझता हूं इतिहासक्षेत्र किसीकी गलतियां पकड़ने, त्रुटियां बतलाने, भूलें सुझाने और सत्यको अधिकाधिक रूपमें निकट लानेसे दूषित नहीं होता, किन्तु प्रशस्त बनता है। दूषित तो वह तब होता है जब किसी स्वार्थादिके वश सत्यको छिपाया जावे, जान-बूझ कर सत्य का अपलाप किया जावे, सत्यके प्रकट करनेमें असावधानी से काम लिया जावे अथवा योंही चलती कलमसे विना अच्छी जांच-पड़तालके किसी बातको निश्चित रूपमें प्रस्तुत कर दिया जावे, जब कि वस्तुस्थिति उस प्रकारकी न होवे। उदाहरणके तौर पर शास्त्रीजीने अपने स्थायी साहित्य न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भागकी प्रस्तावना (पृ० ३०) में लिखा है--"आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और और विद्यानन्द महोदय" यह लिखना आपका योंही चलती कलमसे विना जाँच पड़तालका जान पड़ता है; क्योंकि 'विद्यानन्दमहोदय' ग्रंथ अष्टसहस्रीसे ही नहीं किन्तु तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकसे भी पहलेका बना हुआ है, और इस लिये श्लोकवार्तिक ग्रंथ विद्यानन्दकी 'सर्वप्रथम' कृति नहीं है जैसाकि स्वयं विद्यानन्दके निम्न उल्लेखोंसे प्रकट है—

१—"इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम्" —अष्टस० पृ० २८९-९०।

२-परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये ('यैः' पाठ अशुद्ध है) —श्लोकवा० पृ० २७२

३--"यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्दमहोदयात्।" —श्लोकवा० पृ० ३८५

४—प्रपञ्चतो विचारितमेतदन्यत्रास्माभिरिति नेहोच्यते।" —श्लोकवा० पृ० २३६

इसके सिवाय, शास्त्रीजीने जो यह उपदेश दिया है कि—"तत्त्वचिन्तन और इतिहासके क्षेत्रमें पूर्वग्रहोंसे मुक्त होकर तटस्थवृत्तिसे विचार करनेकी आवश्यकता है। इतिहासका क्षेत्र ही ऐसा है" इत्यादि वह बड़ा सुन्दर है, उस में किसीको भी आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु अच्छा होता यदि शास्त्रीजी उस पर स्वयं पूर्णतः अमल करते हुए भी नज़र आते; क्योंकि अपने जैनसिद्धान्तभास्कर वाले लेखमें उन्होंने जो यह लिखा है कि "वस्तुतः यह मंगलश्लोक आ० पूज्यपादने ही बनाया है" "यह श्लोक निर्विवादरूपसे तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका बांधने वाले आचार्य पूज्यपादके द्वारा ही बनाया गया है" और बिना किसी समर्थ हेतुके यह निर्णय भी दिया है कि—"विद्यानन्द अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको 'सूत्र' लिखते हैं" वह सब पूर्वग्रहसे उनकी मुक्तिको सूचित नहीं करता और न तटस्थवृत्तिसे विचारका ही द्योतक है; किन्तु किसी पक्षविशेषके आग्रहको लिये हुए जान पड़ता है। अस्तु।

अन्तमें मैं अपने इस लेखके लिये शास्त्रीजीका हृदय से आभार प्रकट करता हूं; क्योंकि उनके उत्तर-लेखके निमित्तको पाकर ही मेरी इस लेखके लिखनेमें प्रवृत्ति हुई, कितना ही नया साहित्य देखना पड़ा, विचार-विनिमय करना पड़ा, खोजकी और रुचि बढ़ी और इस सबके फलस्वरूप कितनी ही गुत्थियों (उलझनों) को सुलझानेका अवसर प्राप्त हुआ है। अतः इस सबका प्रधान श्रेय शास्त्री जीको प्राप्त है—वे यदि उत्तर-लिखनेकी कृपा न करते तो यह लेख भी न लिखा जाता और पाठक विचारकी कितनी ही बातोंसे वंचित रह जाते। इत्यलम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

संशोधन—इस लेखके छपनेमें जो खास अशुद्धियाँ हुई हैं उन्हें पाठक निम्न प्रकारसे सुधार लेवें—

पृ. ३६८, का. २, पं. २ में १४ के स्थानपर २४; पृ. ३६६, का. २, पं. २ मे 'मूलके' स्थानपर मूलके भी; पृ. ३७१, का. १, पं. ३ मे 'प्रश्न' से पहिले 'तीन' और पृ. ३७२, का. २, पं० ६ मे 'भी नहीं' के स्थान पर 'नही भी' तथा पं. २६ में 'लक्ष्य करके' का निम्न फुटनोट बना लेवें—

* जैसा कि सर्वार्थसिद्धिके इन वाक्योंसे प्रकट है—"विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः। केचित्संक्षेपरुचयः, अपरे नातिसंक्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्याः। "सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयास" इति अधिगमाभ्युपायभेदोद्देशः कृतः।" —अ० १ सू० ८

अनेकान्तको सहायता

हालमें अनेकान्तको देहलीके निम्न सज्जनोंकी ओरसे १००) रु० की सहायता मार्फत बाबू पन्नालालजी जैन अग्रवालके प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवाद के पात्र हैं। इस सहायताका प्रधान श्रेय ला० दलीपसिंहजी रतनलालजी कागजी देहलीको है, उन्हींके सुदके त्यागभाव और सत्प्रयत्नसे सहायताका यह सब कार्य सम्पन्न हुआ है। आप पहले भी ५०) रु० की सहायता दे-दिला चुके हैं, अतः आप इसके लिये विशेष धन्यवादके पात्र हैं:—

३०) ला० सिद्धोमल एण्ड सन्स कागजी, चावड़ी बाजार, देहली (आप पहले भी २० रु० की सहायता देचुके हैं)।

३०) ला०धूमीमल धर्मदासजी कागजी, चावड़ी बाजार, देहली (आप भी पहले २० रु० की सहायता दे चुके हैं)।

१५) ला०पी०एल० बख्शूमलजी कागजी, चा.बा. देहली।

१५) ला०दलीपसिंह रतनलालजी कागजी चा.बा. देहली।

१०) गुप्तदान (दातार महाशयने नामकी आज्ञा नहीं दी)।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

महाधवलकी प्राप्ति

अनेकान्तके पाठकोंको यह सूचित करते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि 'महाधवल' नामका जो शास्त्र मूडविद्रीके भण्डारमें सुना जाता था उसकी नकल पं०सुमेरचंद जी दिवाकर बी० ए० सिवनीको मूडविद्रीके पंचों तथा भट्टारकजीके सदनुग्रहसे प्राप्त हो गई है। इसके लिये दिवाकरजीको कितनी ही असुविधाओंका सामना करना पड़ा तथा भारी परिश्रम उठाना पड़ा, जिसके फलस्वरूप ही उन्हें साफल्यश्रीकी प्राप्ति हुई है। अतः आप अपनी इस सफलताके लिये धन्यवादके पात्र हैं और इसके लिये जैनसमाज आपका चिरकृतज्ञ रहेगा। यह और भी प्रसन्नताकी बात है कि दिवाकरजीने इसके एक भागका हिन्दी अनुवाद भी तय्यार कर लिया है और आप इसे जल्दी ही प्रकाशित करना चाहते हैं परन्तु कागजका भारी दाम चढ़ जानेसे वे प्रकाशनके कामको स्थगित कर रहे हैं। मेरी रायमें यह कार्य स्थगित नहीं होना चाहिये धनिकोंको इसमें सहयोग देना चाहिये और यह जैसे तैसे प्रकाशित ही होजाना चाहिये। देशकी वर्तमान परिस्थितिको देखते हुए ऐसे सत्कार्योंमें विलम्बका होना किसी तरह भी वाँछनीय नहीं कहा जा सकता। —सम्पादक

विलम्बके लिये क्षमा-प्रार्थना

कुछ खास कारणोंके वश, जिनमें कागजकी दुष्प्राप्ति और प्रेसकी कुछ गड़बड़ी भी कारण हैं, अनेकान्तकी इस संयुक्त किरणके प्रकाशनमें आशातीत विलम्ब हो गया है। इस कारण पाठकोंको जो प्रतीक्षा-जन्य कष्ट उठाना पड़ा है उसके लिये हम उनसे क्षमाकी प्रार्थना करते हैं।

प्रकाशक 'अनेकान्त'

Registere No. A-731.

पुरातन-जैनवाक्य-सूची

(प्रेसमें)

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' (प्राकृतपद्यानुक्रमणी) नामका जो ग्रन्थ कुछ वर्षोंसे वीरसेवामन्दिरमें तय्यार हो रहा था वह अब प्रेसमें दिया जा चुका है, छपना प्रारम्भ होगया है और कई फार्म छप भी चुके हैं। यह ग्रन्थ ३६ पौंडके उत्तम कागजपर २२×२६ साईजके अठपेजी आकारमें छपाया जा रहा है, लगभग ४०० पृष्ठका होगा और प्रेसके पुख्ता वादेके अनुसार ३-४ महीनेमें छपकर प्रकाशित हो जायगा। इस ग्रन्थको हाथमें लेते हुए यह नहीं सोचा गया था कि इसकी तय्यारीमें इतना अधिक समय लग जायगा। पहले प्रत्येक ग्रन्थकी अलग अलग वाक्यसूची तय्यार की गई थी, बादको प्रो० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० (कोल्हापुर) जैसे मित्रोंका भी जब यह परामर्श प्राप्त हुआ कि सब ग्रन्थोंके वाक्योंका एक जनरल अनुक्रम विशेष उपयोगी रहेगा और उससे ग्रन्थका उपयोग करने वालोंकी शक्ति और समयकी बहुत बचत होगी, तब सूची किये गये वाक्योंको फिरसे कार्डोंपर लिखाकर उनका अकारादि क्रमसे जनरल अनुक्रम बनानेका भारी परिश्रम उठाना पड़ा और तदनन्तर कार्डोंपरसे साफ कापी कराई गई। इस बीचमें कुछ नये प्राप्त पुरातन ग्रन्थोंके वाक्य भी सूचीमें शामिल होते रहे, और इस तरह इस काममें कितना ही समय निकल गया। इसके बाद जब प्रेसमें देनेके लिये ग्रन्थकी जांचका समय आया तो मालूम हुआ कि कितने ही वाक्य सूची करनेमें छूट गये हैं और बहुतसे वाक्य अशुद्धरूपमें संगृहीत हुए हैं, जिनमेंसे कितने ही मुद्रित प्रतियोंमें अशुद्ध छपे हैं और बहुतसे हस्तलिखित प्रतियोंमें अशुद्ध पाये जाते हैं। अतः ग्रन्थोंको आदिसे अन्त तक मिलाकर छूटे हुए वाक्योंकी पूर्ति की गई और जो वाक्य अशुद्ध जान पड़े उन्हें ग्रन्थके पूर्वापर सम्बन्ध, प्राचीन ग्रन्थों परसे विषयके अनुसन्धान, विषयकी संगति तथा कोषादिकी सहायताके आधारपर शुद्ध करनेका भरसक प्रयत्न किया गया, जिससे यह ग्रन्थ अधिकसे अधिक प्रामाणिक रूपमें जनताके सामने आए और अपने लक्ष्य तथा उद्देश्यको ठीक तौरपर पूरा करनेमें समर्थ होसके। जांचके इस कामने भी काफी समय ले लिया और कुछ विद्वानोंको इसमें भारी परिश्रम करना पड़ा। यही सब इस ग्रन्थके प्रकाशनमें विलम्बका कारण है। मैं समझता हूँ ग्रन्थके सामने आनेपर विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और इस विलम्बको भूल जायेंगे। अस्तु।

यह ग्रन्थ रिसर्च (शोध-खोज) का अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों, स्कॉलरों, प्रोफेसरों, ग्रन्थसम्पादकों, इतिहास-लेखकों और उन स्वाध्याय-प्रेमियोंके लिये भी बड़े कामकी चीज है जो किसी शास्त्रमें 'उक्तं च' आदि रूप से आए हुए उद्धृत वाक्योंके विषयमें यह जानना चाहते हों कि वे कौनसे ग्रन्थ अथवा ग्रन्थोंके वाक्य हैं। कागज की इस भारी मँहगीके जमानेमें इस ग्रन्थकी कुल ३०० प्रतियां ही छपाई जा रही हैं। अतः जिन विद्वानों, लायब्रेरियों तथा शास्त्रभण्डारोंको इस ग्रन्थकी जरूरत हो वे शीघ्र ही नीचेके पतेपर अपना नाम ग्राहकश्रेणीमें दर्ज करालें, अन्यथा अल्प प्रतियोंके कारण इस ग्रन्थका मिलना फिर दुर्लभ होजायगा। ग्रन्थकी तय्यारीमें बहुत अधिक व्यय होनेपर भी मूल्य लागतसे कम ही रक्खा जायगा।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

सरसावा. जि० सहारनपुर

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त
जै
नी
नी
ति
विधि-दृष्टि
उभयानुभय-दृष्टि
निषेध-दृष्टि
अनुभय-दृष्टि
वर्ष ५
कि. १२
जनवरी
१९४३
सम्पादक – जुगल किशोर मुख्तार

विषय-सूची

वीर-शासन-जयन्तीकी पुण्य-तिथि

जिस दिन वीर-शासनका जन्म हुआ—जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्रीवीर भगवानने केवल-ज्ञानसे सम्पन्न होकर, आजसे कोई २५०० वर्ष पूर्व विपुलाचल पर्वतपर अपना धर्मोपदेश प्रारम्भ किया और उसके द्वारा लोकमें अहिंसा तथा अनेकान्तपर प्रतिष्ठित एवं 'सर्वप्राणिहित' के लक्ष्यसे लांछित 'सर्वोदय' तीर्थ प्रवर्तित हुआ—वह पावन दिवस श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी पुण्य तिथि है।

इसी दिन वीर-वाणीके द्वारा जीवोंको उनके हितका वह सन्देश सुनाया गया जिसने उन्हें दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताया, दुःखकी कारणीभूत भूलें सुझाई, वहमोंको दूर किया, यह स्पष्ट करके बतलाया कि सच्ची शान्ति एवं वास्तविक सुख अहिंसा और अनेकान्त-दृष्टिको अपनानेमें है, समताको अपने जीवनका अंग बनानेमें है, अथवा बन्धनसे—परतन्त्रतासे-विभावपरिणतिसे छूटनेमें हैं। साथ ही सब आत्माओंको समान बतलाते हुए, आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है, उसके लिए नितान्त दूसरोंपर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरोंको दोष देना भारी भूल है। और उसके द्वारा पीड़ित, पतित एवं मार्गच्युत जनताको यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है। तदनुसार स्त्रीजाति तथा शूद्रोंपर होने वाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी उन यथेष्ट रूपमें विद्या पढ़ने तथा धर्मसाधनादिके अधिकारी समझे जाने लगे।

इस तरह यह तिथि संसारके हित और सर्वसाधारणके उत्थान तथा कल्याणके साथ अपना सीधा एवं खास सम्बन्ध रखती है और इस लिए सभीके द्वारा उत्सवके साथ मनाये जानेके योग्य है। इसी लिए इसकी यादगारमें कई वर्षसे वीरसेवामन्दिर सरसावामें उत्सव मनानेका आयोजन किया जाता है। अन्य स्थानोंपर भी किया जा रहा है।

इस वर्ष यह पावन तिथि १८ जुलाई को रविवारके दिन अवतरित हुई है। इस बार और भी अधिक उत्साहके साथ वीरसेवामन्दिरमें वीरशासनजयन्ती मनाई जायगी और जलसा १९ ता० तक रहेगा। अतः सर्वसाधारणसे निवेदन है कि वे इस अवसरपर वीरसेवामन्दिरमें पधारकर अपने उस महान उपकारीके उपकार-स्मरण एवं शासन-विवेचनमें भाग लेते हुए वह दिन सफल करें और वीरप्रभुके सन्देशको जीवनमें उतारने तथा जनतामें प्रचारित करनेका दृढ संकल्प करें। जो सज्जन समयपर वीरसेवामन्दिरमें न आसकें उन्हें अपने अपने स्थानोंपर इस सर्वातिशायी पावन पर्वके मनानेका आयोजन करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिए।

निवेदक—

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा (सहारनपुर)

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ५ किरण १२
वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर
पौष, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९९
जनवरी सन १९४३ ई०

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१२]

श्रीविमल-जिन-स्तोत्र

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥ ६१ ॥

'(परमतोंकी अपेक्षा) जो नित्य-क्षणिकादिक नय हैं वे परस्परमें अनपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे—एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर स्वतंत्रभावसे सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप वस्तुतत्त्वका कथन करनेके कारण—स्वपरप्रणाशी हैं—निज और पर दोनोंका नाश करने वाले स्व-पर वैरी हैं, और इसलिए दुर्नय हैं। वे ही नय, हे प्रत्यक्षज्ञानी विमल जिन! आपके मतमें, परस्परेक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेसे—स्व-पर-उपकारी हैं—अपना और परका दोनोंका भला करने वाले—दोनोंका अस्तित्व बनाये रखने वाले स्व-पर-मित्र हैं, और इसलिये तत्त्वरूप-सम्यक् नय हैं।'

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्य-विशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥६२॥

'जिस प्रकार एक एक कारक—उपादानकारण या निमित्तकारण अथवा कर्ता कर्म आदि कारकोंमेंसे प्रत्येक—शेष-अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिये समर्थ होता है, उसी प्रकार

(हे विमलजिन !) आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होने वाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करने वाले (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि रूप) जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट(अभिप्रेत) हैं।—प्रयोजनके वश सामान्यकी मुख्यरूपसे कल्पना (विवक्षा) होनेपर विशेषकी गौणरूपसे और विशेषकी मुख्यरूपसे कल्पना होनेपर सामान्यकी गौणरूपसे कल्पना होती है, एक दूसरेकी अपेक्षाको कोई छोड़ता नहीं, और इस तरह सभी नय सापेक्ष होकर अपने अर्थकी सिद्धिरूप विवक्षित अर्थके परिज्ञानमें समर्थ होते हैं।

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव ।
समग्रताऽस्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥६३॥

'परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो अन्वय (अभेद) और भेद (व्यतिरेक) का ज्ञान है उससे प्रसिद्ध होने वाले सामान्य और विशेषकी (हे विमलजिन !) आपके मतमें उसी तरह समग्रता (पूर्णता) है जिस तरह कि भूतलपर बुद्धि(ज्ञान)-लक्षण प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक-रूपमें समग्र (पूर्ण—सकलादेशी) है—अर्थात् जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान-लक्षण-प्रमाण लोकमें स्व-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वरूप दो धर्मोंसे युक्त हुआ अपने विषयमें पूर्ण होता है और उसके ये दोनों धर्म परस्परमें विरुद्ध न होकर सापेक्ष होते हैं—स्व-प्रकाशकत्वके बिना पर-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वके बिना स्व-प्रकाशकत्व बनता ही नहीं—उसी प्रकार एक वस्तुमें विशेषण-विशेष्यभाव से प्रवर्तमान सामान्य और विशेष ये दो धर्म भी परस्परमें विरोध नहीं रखते किन्तु अविरोध रूपसे सापेक्ष होते हैं—सामान्यके बिना विशेष और विशेषके बिना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहिये कि बनता ही नहीं—,और इसलिये दोनोंके मेलसे ही वस्तुमें पूर्णता आती है।'

विशेष्य-वाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥६४॥

'वाच्यभूत विशेष्यका—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है—विशेषणको नियतरूपताके साथ अवधारण किया जाता है—'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपताका जो अतिप्रसंग आता है वह (हे विमलजिन !) आपके मतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' शब्दसे वर्जन (परिहार) होजाता है—'स्यात्' शब्दकी सर्वत्र प्रतिष्ठा रहनेसे अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका ग्रहण नहीं होता, और इसलिये अतिप्रसंग दोष नहीं आता।'

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥६५॥

'(हे विमलजिन !) आपके मतमें जो (नित्य-क्षणिकादि)नय हैं वे सब स्यात्पदरूपी सत्यसे चिह्नित हैं—कोई भी नय'स्यात्' शब्दके आशय (कथंचितके भाव)से शून्य नहीं है, भले ही 'स्यात्' शब्द साथमें लगा हुआ हो या न हो—और रसोपविद्ध लोह धातुओंके समान—पारेसे अनुविद्ध हुई लोह-ताम्रादि धातुओंकी तरह—अभिमत फलको फलते हैं—यथा स्थित वस्तुतत्त्वके प्ररूपणमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं। इसीसे अपना हित चाहने वाले आर्यजनोंने आपको प्रणाम किया है—उत्तम पुरुष सदा ही आपके सामने नत-मस्तक हुए हैं।'

समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन ?

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

समन्तभद्र और दिग्नाग दोनों ही दो जुदे जुदे धर्म-सम्प्रदायोंके प्रधान आचार्य हो गये हैं—समन्तभद्र जैन सम्प्रदायके और दिग्नाग बौद्ध सम्प्रदायके प्रमुख तार्किक विद्वानोंमेंसे हैं। जो सम्मान और प्रतिष्ठा जैनसमाजमें स्वामी समन्तभद्रको प्राप्त है संभवतः वही सम्मान और प्रतिष्ठा बौद्धसमाजमें आचार्य दिग्नागको उपलब्ध है। दोनों ही अपने अपने दर्शनशास्त्रके प्रभावक विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं। दिग्नागका समय प्रायः ईसाकी ४ थी और ५ वीं शताब्दी (३४५–४२५ A D)[1] माना जाता है, जब कि समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें जैनसमाजकी मान्यता आमतौर पर दूसरी शताब्दी (शक सं० ६०) की है[2]। यद्यपि इस मान्यतामें कुछ समयसे थोड़ा सा विवाद उपस्थित है, फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादाचार्यसे, जिनका समय अनेक प्रमाणोंके आधारपर आमतौरपर ईसाकी पाँचवी शताब्दी माना जाता है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं; किन्तु उनसे अथवा उनकी ग्रन्थ-रचनाके आरम्भसे, जिसका अनुमानकाल ई० सन् ४५० (A. D.) के लगभग जान पड़ता है,[4] पहले हो गये हैं। क्योंकि पट्टावलियोंके अतिरिक्त श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें भी समन्तभद्रको पूज्यपादके पूर्वका विद्वान् बतलाया है। दूसरे, स्वयं पूज्यपादने अपने 'जैनेन्द्र व्याकरण' के 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (५–४–१६८) इस सूत्रमें समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है। तीसरे, पूज्यपादके साहित्यपर समन्तभद्रके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है। इस विषयमें मुख्तारश्री पं० जुगलकिशोर जीका 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' शीर्षक लेख बहुत ही अच्छे स्पष्टीकरणको लिये हुए है[1]।

अब प्रस्तुत विचार यह है कि स्वामी समन्तभद्र जो पूज्यपादके पूर्ववर्ती हैं वे आचार्य दिग्नागके भी पूर्ववर्ती हैं या कि नहीं; क्योंकि दिग्नाग और पूज्यपादके समयमें जो थोड़ा अन्तर जान पड़ता है उस परसे दिग्नाग पूज्यपादके पूर्ववर्ती मालूम होते हैं। इस विषयमें समन्तभद्र और दिग्नागके साहित्यका अन्तःपरीक्षण करके, 'जो सत्यके अधिक निकट पहुंचनेका प्रशस्त मार्ग है', मैंने जो कुछ अनुसन्धान एवं निर्णय किया है उसे मैं आज यहाँ अपने पाठकोंके सामने रखता हूँ :—

(१) बौद्धदर्शनका प्रत्यक्ष-लक्षण प्रायः सभी बौद्ध-तार्किकों और इतर दार्शनिकोंके विचारकी वस्तु रहा है। बौद्ध दर्शनमें ही प्रत्यक्षका प्रारंभिक लक्षण उत्तरोत्तर कितने ही संशोधन एवं परिवर्तनको लिये हुए है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि दिग्नागके पहिले भी बौद्ध-परंपराका प्रत्यक्ष[2] 'निर्विकल्पक', 'अकल्पक' या 'प्रत्यक्षबुद्धि' के

---

१ देखो, तत्त्वसंग्रहकी अंग्रेजी भूमिका पृ० ७३ LXXIII तथा वादन्यायके परिशिष्ट A. और E।

२ देखो, 'पट्टावली' जो हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक डा० भाण्डारकरकी सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट में पृ० ३२० पर प्रकाशित हुई है, तथा कर्णाटक-भाषाभूषणमें मी० लेविस राइस की अंग्रेजी प्रस्तावना।

३ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४१ से १४४। पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने वि० सं० ५२६ (ई० सन् ४६९) में द्राविडसंघकी स्थापना की है (दर्शनसार गा० २४-२८)।

४ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४३।

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ५ कि० १०-११ पृ० ३४५-३५२।

२ (क) निर्विकल्पं यदि ज्ञानं वस्त्वस्तीति न युज्यते। यस्माच्चित्तं न रूपाणि निर्विकल्पं हि तेन तत् ॥

—लंकावतारसूत्र, सगाथक ११२

(ख) मयाऽन्यैश्च तथागतैरनुगम्य यथाद्दृष्टं प्रज्ञप्तं विवृतमुत्तानीकृतं । यत्रानुगम्य सम्यगवबोधानुच्छेदाशाश्वतो विकल्पस्याप्रवृत्तिः स्वप्रत्यात्मार्यज्ञानानुकूलं तीर्थकरपक्ष-

नामसे प्रसिद्ध था। उस समय बौद्ध नैयायिकोंके सामने प्रत्यक्ष लक्षणकी एक परंपरा थी और वह थी 'इन्द्रिय-संनिकर्ष'[१] या 'इन्द्रियजन्यव्यवसायात्मक'[२] ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना। इसके विरोधस्वरूप बौद्धनैयायिकोंको प्रत्यक्षकी परिभाषा दूसरी ही बनानी पड़ी। उन्होंने देखा कि 'इंद्रियसंनिकर्ष' और 'इन्द्रियजन्यव्यवसायात्मक ज्ञान' ये दोनों ही यथार्थ एवं वस्तुविषयक नहीं हैं, क्योंकि ये अर्थाभाव में भी हो जाते हैं और इसका कारण विकल्पवासना है। अतः विकल्पवासनासे शून्य अर्थजन्यबोध ही प्रत्यक्ष है और वही यथार्थ है—विकल्पात्मक इन्द्रियजन्य बोध या जड़ इन्द्रियसंनिकर्ष प्रत्यक्ष नहीं है। दिग्नागके पहिले हमें ऐसे प्रत्यक्षकी मान्यताका आभास दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयगत एक कारिका से मिलता है जिसमें दिग्नागने उसे खंडित किया है और कुछ अंशोंमें मान्य भी किया है। साथ ही एक कारिकामें 'जात्याद्यसंयुतं कल्पनापोढं' को प्रत्यक्षका लक्षण स्थिर किया है[३] और दूसरी कारिका द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञानमें इन्द्रियोंकी असाधारणता एवं प्रधानता होने से 'प्रत्यक्ष' नामकी सार्थकता और इन्द्रियजन्यता भी बतलाई है[४]। दिग्नागके द्वारा कदर्थित और उत्तरवर्ती अनेक ग्रंथकारों[५] द्वारा भी खंडित यह बौद्धप्रत्यक्षका लक्षण वाचस्पतिमिश्रने स्पष्टतया वसुबन्धुका बतलाया है[१]। किन्तु वसुबन्धु जिस समय 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक प्रकरणग्रंथकी रचना करते हैं और उसमें विज्ञप्तिमात्र तत्व की प्रतिष्ठा करते हैं[२] तो वे वहाँ रूपादि अर्थके बिना भी रूपादि-विज्ञप्तिरूप प्रत्यक्षको मानते हैं[३] और 'तैमिरिक' तथा 'स्वप्नवत्' दृष्टान्तके द्वारा अर्थाभावमें भी रूपादि-विज्ञप्तिके होनेका समर्थन करते हैं, तब यह सन्देह हो जाता है कि 'अर्थाद्विज्ञान' को प्रत्यक्ष माननेका सिद्धान्त वसुबन्धु का है या उनके पूर्ववर्ती या समकालीन अन्य किसी आचार्य का? यह हो सकता है कि वसुबन्धु जिस समय 'विज्ञप्तिमात्र तत्व' के प्रतिष्ठापक न रहे हों उस समय 'अर्थाद्विज्ञान' को प्रत्यक्ष माननेका उनका सिद्धान्त रहा हो। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि दिग्नागके पहिले वैसे प्रत्यक्ष लक्षणकी मान्यता थी और वह 'अकल्पक' 'निर्विकल्पक' 'प्रत्यक्षबुद्धि' 'रूपादिज्ञान' 'चक्षुरादिज्ञान' आदि नामोंसे ही प्रसिद्ध था। प्रमाणसमुच्चयकी उक्त प्रत्यक्षलक्षण को खंडन करनेवाली वह कारिका इस प्रकार है—

> ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति तन्न तु।
> ततोऽर्थादिति सर्वं तद्यत् तन्मात्रतो न हि॥
>
> —प्रमाणस० का० १४

इस तरह यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष 'निर्विकल्प' या 'अकल्पक'के नामसे दिग्नागके पहिले भी माना जाता था और यह बौद्ध नैयायिकोंकी खास मान्यता थी। दिग्नागने इसमें सिर्फ अर्थजन्यताकी आलो-

परपक्षश्रावकप्रत्येकबुद्धागतिलक्षणं तत्सम्यग्ज्ञानम्। ....

किन्तु उपमानमात्रमेतन्महामते यदुत गंगानदीबालुकासमतास्तथागता समा न विषमा अकल्पाविकल्पनतः।"

—लंकावतारसूत्र, पृ० २२८–३१

(ग) प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्॥१६॥

--विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विंशिका

१ "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यदिति" —वैशेषिकसूत्र ३, १, १८

२ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" —न्यायसूत्र १, १, ४

३ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्" —प्रमाणस० का० ३

४ "असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते." —प्रमाणस० का० ४

५ 'अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति। तत्र, ततोऽर्थादिति यस्यार्थस्य यद्विज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तद्भवति नार्थान्तराद्भवति तत् प्रत्यक्षम्।"

—न्यायवार्तिक (उद्योतकर) पृ० ४०

१ "तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वसुबन्धवस्तावत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति अपरे पुनरिति।"

—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० १५०

२ "विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्" —विज्ञ० स० का० १

३ द्वितीयकारिकाकी वृत्तिमें भी, जो स्वोपज्ञ जान पड़ती है, इस प्रकारका उल्लेख है—'यदि विना रूपाद्यर्थेन रूपादिविज्ञप्तिरुत्पद्यते न रूपाद्यर्थात्। कस्मात् क्वचिद्देशे उत्पद्यते न सर्वत्र ··· ।"

चना की और मुख्यतया इन्द्रियजन्यताका समर्थन किया। साथ ही कल्पनाका परिष्कार और उसकी परिभाषा भी बांधी[1]। बादमें तो इस परिष्कृत करने और परिभाषा बाधनेके कारण वह प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' लक्षण दिग्नाग का ही कहा जाने लगा। यहां तक कि उत्तरवर्ती अनेक ग्रंथकारोंने दिग्नागके नामसे ही अपने ग्रंथोंमें उसे उद्धृत कर के खंडन भी किया है[2]। दिग्नागसे कई शताब्दी बाद हुये प्रबल बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने दिग्नागके तथाकथित प्रत्यक्षलक्षणमें 'अभ्रान्त' विशेषण लगाकर उसे संशोधित और परिवर्धित किया। इसके बादके दार्शनिकोंके खंडन मंडनका विषय तो प्राय. धर्मकीर्तिका 'अभ्रान्त'-विशेषण-विशिष्ट प्रत्यक्ष लक्षण ही हुआ है। इस तरह हम देखते हैं कि बौद्धपरंपरामें प्रत्यक्ष लक्षणके बारेमें तीन धाराएँ पाई जाती हैं—१ दिग्नागकी पूर्ववर्तिनी २ दिग्नागीय और ३ धर्मकीर्तीय।

अब देखना यह है कि समन्तभद्रके साहित्यमें इन तीन धाराओंमेंसे कौनसी धारा लक्षित होती है? इसके लिये हम यहां वे स्थल उपस्थित करते हैं जहां समन्तभद्र ने बौद्धसम्मत प्रत्यक्षका निर्देश या आलोचन किया है। समन्तभद्रके वे स्थल निम्न प्रकार हैं—

(१) 'प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र'
—युक्त्यनुशासन० का०, २२

(२) "प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम्" —युक्त्यनु० का०, ३३

(३) 'वीतविकल्पधीः का'—युक्त्यनुशा० का० १७

यहां 'प्रत्यक्षबुद्धि' शब्दका प्रयोग उसी प्रकारका है जिस प्रकार कि वह वसुबन्धु[3] के 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक प्रकरण की निम्न कारिकामें पाया जाता है:—

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतं॥
—विज्ञप्ति० का० १६

'अकल्पक' और 'वीतविकल्पधी' शब्दका प्रयोग भी वैसा ही है, जैसा कि लंकावतारसूत्र[1] के पूर्वोद्धृत गद्य और पद्य भागमें 'अकल्पाविकल्पनतः' और 'निर्विकल्पं यत्र ज्ञानं' वाक्योंमें उपलब्ध होता है।

इसपरसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र प्रथम धाराके ही उल्लेखकर्ता हैं—वही उनके समयमें प्रवाहित थी। यदि दूसरी या तीसरी धारा प्रवाहित होती तो वे मुख्यतया दिग्नागके 'जात्याद्यसंयुतकल्पनापोढ' रूप परिष्कृत लक्षण का या धर्मकीर्तिके 'अभ्रान्त'—विशेषणविशिष्ट लक्षणका अथवा दोनोंका ही उल्लेख एवं आलोचन करते, जैसा कि दिग्नागके उत्तरवर्ती तार्किकोंने दिग्नागीय प्रत्यक्षलक्षण और धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती दार्शनिकोंने दिग्नागीय तथा धर्मकीर्तीय दोनों प्रत्यक्षलक्षणोंका निर्देश एवं खंडन-मंडन किया है। और इसलिये कहना होगा कि समन्तभद्र उस समय हुए हैं जबकि प्रत्यक्षके लक्षणविषयमें पिछली दो विचारधाराओंका जन्म ही नहीं हुआ था। फलतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके ही नहीं किन्तु दिग्नागके भी पूर्ववर्ती हैं।

(२) 'समन्तभद्र दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं' इसका एक प्रबल साधक प्रमाण और है और वह यह कि दिग्नागने प्रमाणसमुच्चय-गत एक कारिकाके द्वारा प्रमाणके फलरूपमें 'अज्ञाननाश' का खंडन किया है और यह बतलाया है कि फल सत् रूप होता है, 'अज्ञाननाश' असत् है और उसके सभी जगह होनेका नियम भी नहीं है इसलिये 'अज्ञान-नाश' प्रमाणका फल नहीं है। प्रमाणसमुच्चयकी उस कारिकाका प्रकृत अंश इस प्रकार है—

अज्ञानादेर्न सर्वत्र व्यवच्छेदः फलं न सत्॥२३

---

[1] "रशियन प्रो० चिर बिट्स्की लिखते हैं कि—दिग्नागने कल्पनाके पाँच भेद किये थे—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा।' —न्यायकु० भा० प्र० प्रस्ता० पृ० १०६

[2](क) "अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति। अथ केयं कल्पना? नामजातियोजनेति।" —न्यायवार्तिक पृ० ४१

(ख) "संप्रति दिग्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति। अपरे इति।" —न्यायवा० तात्प० पृ० १५३

[3] वसुबंधुका समय तत्त्वसंग्रहकी भूमिकामें २८०–३६० A D. दिया है, देखो, भूमि० पृ० LXVI

[1] लंकावतारसूत्रका एक चीनी अनुवाद गुणभद्र द्वारा ई० सन् ४४३ (A D) में हुआ है, ऐसा प्रो० Bunyui Nanjio M A ने सन् १९२६ के संस्करण (जापान) में प्रकट किया है और इससे यह सूत्र ईसाकी ५ वीं शताब्दीसे बहुत पहलेका बना हुआ जान पड़ता है।

अब विचारणीय यह है कि अज्ञान-व्यवच्छेद (नाश) को प्रमाणका फल किस दार्शनिकने स्वीकार किया है। न्याय[1] वैशेशिक,[2] मीमांसा[3] और बौद्ध[4] किसी भी परंपराने तर्कयुगीन समयमें 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल नही माना। चुनाँचे प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् पं सुखलालजीने भी प्रमाणमीमांसाके अपने भाषा-टिप्पणमें ऐसा ही प्रतिपादन किया है[5]?

दिग्नागने जिन न्यायसूत्रकार और वात्स्यायनके प्रत्यक्ष-लक्षणका खंडन किया है[6] उन्होंने भी 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल स्वीकार नही किया। जहां तक उपलब्ध जैन-जैनेतर साहित्यका परिशीलन किया जाता है उसपरसे यही मालूम होता है कि जैन-परंपराके प्रमुख आचार्य स्वामी समन्तभद्रने ही सर्वप्रथम 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल कहा है और अपनी आप्त-मीमांसाकी निम्न कारिकाके द्वारा उसे स्पष्टतया घोषित किया है—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२

यहां कारिकाके पूर्वार्धमें प्रमाणका जो फल दिया हुआ है वह तो वात्स्यायन के भाष्यमें भी पाया जाता है, जिन का समय लगभग ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी है। किन्तु उत्तरार्धमें जो 'अज्ञाननाश' फल दिया है वह समन्त-भद्रका स्वोपज्ञ है, जिसे पूज्यपादने भी अपनी सर्वार्थसिद्धि में "उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्" इस वाक्यके द्वारा अपनाया है। और सिद्धसेन दिवाकरने, जिनका समय उनके न्यायावतार-साहित्यपरसे ईसाकी ७ वी शताब्दीसे पहलेका निर्धारित नही होता[1], समन्तभद्रकी उक्त कारिकाका निम्न प्रकारसे अनुसरण[2] किया है—

प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥ २८ ॥

इस तरह अज्ञाननाश को प्रमाणका फल बतलाना एक जैनमान्यता है, जिसके आद्यपुरस्कर्ता आचार्य समन्त-भद्र हैं। अतः इस मान्यताका खण्डन करनेवाले दिग्नाग समन्तभद्रसे पूर्ववर्ती न होकर उत्तरवर्ती ही सिद्ध होते हैं। यही वजह है कि समन्तभद्रके उत्तरवर्ती आचार्योंमेंसे उन की आप्तमीमांसा कृतिके समर्थ टीकाकार अकलंकदेवने जब समन्तभद्रमतके उक्त खंडनको देखा तो वे अपने पूर्वज समन्तभद्रपर किये गये दिग्नागके इस आक्रमण एवं प्रहारको सहन न कर सके और इसलिये वे आप्तमीमांसा की उक्त कारिकाकी व्याख्या (अष्टशती) में ही उसका सबल उत्तर देते हुए लिखते हैं :—

"मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदः। तदभावे दर्शनस्यापि संनिकर्षाविशेषात्। क्षणपरि-णामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात्।"

---

१ "यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानो-पादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।" —न्यायवा० भा० पृ० १७

२ "तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्।" —वैशेषिकसू० १. १ ३

३ मीमांसाश्लोकवा० ५९—७३ (ग्रन्थ सामने न होनेसे प्रमा० मी० टि० के आधार पर नंबर मात्र दिया गया है)।

४ (क) "स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।"
—प्रमाणस० का० १०

(ख) "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"
—तत्त्वसं० का० १३४४

५ "अज्ञानविनाशका फलरूपसे उल्लेख, जिसका वैदिक-बौद्ध परंपरामें निर्देश नहीं देखा जाता।·····"
—प्रमाण० भा० पृ० ६८

६ देखो, प्रमाणसमुच्चय का० १८, १९, २०, २१, २२, २३

१ क्योंकि सिद्धसेनने प्रत्यक्षके लक्षणमें कुमारिलके 'बाध-वर्जित' विशेषणका और धर्मकीर्तिके 'अभ्रान्त' पदका प्रयोग किया है और कुमारिल तथा धर्मकीर्ति दोनो ही ईसाकी ७ वी शताब्दीके विद्वान् हैं।

२ न्यायावतारमें समन्तभद्रके और भी कितने ही पद-वाक्यो का अनुसरण पाया जाता है— 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य मदृष्टेष्टविरोधकम्' इत्यादि शास्त्र-लक्षण वाला रत्नकरण्ड-श्रावकाचारका ९ वां पद्य तो ज्योंका त्यों नं० ९ पर उद्धृत है।

यहां रेखाङ्कित पद खासतौरसे ध्यान देने योग्य है, जिसके द्वारा कहा गया है कि यदि 'अज्ञाननाश' को प्रमाणका फल नहीं मानोगे तो जिस संनिकर्षका खंडन करते हो उसमें और तुम्हारे निर्वि दर्शन-'कल्पनापोढप्रत्यक्ष' में कोई अन्तर नहीं रहता; क्योंकि दोनों ही विसंवादकताके अव्यावर्तक हैं। और अविसंवादी ज्ञान प्रमाण माना जाता है। इससे भी साफ जाहिर है कि उक्त दिग्नागकृत खंडन समन्तभद्रकी मान्यतासे ही सम्बन्ध रखता है, जिसका समुचित उत्तर उनके उत्तरवर्ती अकलंकदेवने दिया है। (३) दिग्नागने 'प्रमाणसमुच्चय' गत ६वीं कारिकाकी वृत्तिमें प्रमाण और प्रमाण-फलके अभेदका प्रतिपादन एवं भेदका खंडन निम्न प्रकारसे किया है—

"अत्र यथा बाह्यानां प्रमाणात्फलमर्थान्तरं तथा नास्ति। फलभूतं विषयाकारमुत्पद्यमानं (ज्ञानं) सव्यापारं प्रतीयते।"

अर्थात् बाह्यों बौद्धेतरोंके यहां जिस प्रकार प्रमाणसे फल भिन्न है वैसा यहां (बौद्धोंके) नहीं है।

यहां प्रमाण और फलके भेदका खंडन किया गया है और प्रकारान्तरसे अभेदका प्रस्ताव किया है। दिग्नागके पहिले वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक सभीके यहां प्रमाणसे फल सामान्यतया अलग स्वीकार तो किया जाता था परन्तु वैसा पक्ष या मन्तव्यका उल्लेख नहीं होता था। दिग्नागके फल और प्रमाणके अर्थान्तरत्व खंडनमेंसे ही दो पक्ष प्रकट हुए जान पड़ते हैं अर्थात् जब दिग्नागने अर्थान्तरताका खंडन किया तब उसमेंसे अनर्थान्तरता फलित हुई। इस तरह प्रमाण और फलके सम्बन्धमें भेद अभेदके दो पक्ष स्थिर हो गये। कुछ भी हो, अभेद पक्षके तो जन्मदाता दिग्नाग ही हैं। यदि समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती होते तो वे इस प्रमाण और फल-विषयक भेदाभेदके सम्बन्धमें जैनदृष्टिकोणको दार्शनिकोंके सामने रखे बिना न रहते। कोई वजह नहीं कि समन्तभद्र भाव अभाव, नित्य अनित्य आदि अनेक मुद्दोंकी तो चर्चा करें और प्रमाण तथा फलके भेदाभेदविषयक मुद्देको यों ही छोड़ दें। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्रका अस्तित्व उस समयका है जब प्रमाण और फलके सम्बन्धमें भेदाभेदकी चर्चाका प्रवेश ही नहीं हुआ था—वे इस चर्चाके पुरस्कर्ता दिग्नाग से पहिले हो चुके थे। यही कारण है कि समन्तभद्र और दिग्नागके उत्तरवर्ती आप्तमीमांसाके व्याख्याकार अकलंकने सर्वप्रथम जैन-परम्परामें इस गुत्थीको सुलझाया और प्रमाण तथा फलके भेदाभेदके सम्बन्धमें जैनदृष्टिकोणको स्पष्ट किया[1]। समन्तभद्रके समयमें ऐसी कोई गुत्थी उपस्थित नहीं थी, इसीसे समन्तभद्रको सामान्य भेदाभेदका अनेकान्तदृष्टिसे स्पष्टीकरण करते हुए और प्रमाण तथा फलकी व्यवस्था करते हुए भी उस गुत्थीको सुलझानेकी जरूरत पैदा नहीं हुई। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि स्वामी समन्तभद्र तब हुए हैं जब प्रमाण और फलके सम्बन्धमें भेदाभेद-विषयक दो मत थे ही नहीं।

ऊपरके इस सम्पूर्ण विवेचन एवं साहित्यिक परीक्षण परसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि समन्तभद्र दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं—उत्तरवर्ती नहीं। और जब समन्तभद्र दिग्नागके पूर्ववर्ती सिद्ध हो जाते हैं तब इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि वे भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्तिके भी पूर्ववर्ती हैं; क्योंकि ये तीनों ही थोड़े थोड़ेसे आगे पीछेके समयको लिये हुए ईसाकी ७वीं शताब्दीके विद्वान् हैं और निर्विवाद रूपसे दिग्नागके उत्तरवर्ती प्रसिद्ध हैं। फिर भी इन आचार्यों से समन्तभद्रके पूर्ववर्तित्वमें कोई सन्देह न रहे अतः इन आचार्योंके साथ भी समन्तभद्रका विचार किया जाता है—

समन्तभद्र और भर्तृहरि—

भर्तृहरि शब्दाद्वैतवाद' के प्रतिष्ठाता और 'स्फोटवाद' के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। इनका तार्किकशैलीसे रचा गया 'वाक्यपदीय' नामका व्याकरण-ग्रन्थ अतिप्रसिद्ध है। भर्तृहरि के उत्तरवर्ती कुमारिल[1], धर्मकीर्ति[2], अकलंक[3], विद्यानन्द[4] आदि तार्किकोंने इनके शब्दाद्वैत और स्फोटवादका खंडन कंधेसे कंधा भिड़ाकर बड़े ज़ोरोंके साथ किया है। यदि

१ "करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत्। नानात्वं च परश्वादिवत्।" —अष्टशती,आप्तमी०का०१०२

१ मीमांसा-श्लोकवार्तिक स्फोटवाद।

२ प्रमाणवार्तिक (३-२५१ से)।

३ राजवार्तिक पृ० २३१।

४ अष्टसहस्री पृ० २८५, श्लोकवार्तिक पृ० २४१

समन्तभद्र भर्तृहरिके उत्तरवर्ती होते तो वे भी उनके शब्दाद्वैतवाद और स्फोटवादका, जिसने अपने समयमें खूब ज़ोर पकड़ा था, खंडन किये बिना न रहते। परन्तु समन्तभद्रकी एक भी कृतिमें उक्त चर्चाकी गंध तक नहीं है। उत्तरवर्ती होनेपर कोई वजह नहीं कि समन्तभद्र सामान्यरूपसे अद्वैतवादका खण्डनकर जाने पर भी विशेषरूपसे बौद्धदर्शनसम्मत विज्ञानाद्वैत तथा बहिरर्थाद्वैत जैसे अद्वैतों की तो आलोचना कर जायें किन्तु भर्तृहरिके वाक्यपदीयगत शब्दाद्वैतपर एक शब्द भी न लिखें, जिसकी चर्चाने अपने समयमें एक भारी तहलका मचा दिया था और कुमारिल, धर्मकीर्ति, अकलङ्क जैसे तार्किकोंको बरबस अपनी ओर आकर्षित किया था। इससे साफ़ है कि भर्तृहरिके असमालोचक समन्तभद्र उसी प्रकार भर्तृहरिके पूर्ववर्ती हैं जिस प्रकार कि भर्तृहरिके असमालोचक दिग्नाग भर्तृहरिके पूर्ववर्ती हैं।

समन्तभद्र और कुमारिल—

प्रसिद्ध मीमांसकतार्किक कुमारिलभट्टने समन्तभद्रीय आप्तमीमांसाकी अनेक कारिकाओंकी आलोचना की है और आप्तमीमांसाके कितने ही पद, वाक्यों तथा कारिकाओंका बिम्बप्रतिबिम्बरूपसे अनुसरण भी किया है। नीचे इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

यद्यपि सर्वज्ञत्व की मान्यता बहुत प्राचीन है और उसका साधन भी दार्शनिकोंने विविधरूपसे किया है पर समन्तभद्रने उसके साधनका जो ढंग एवं सरणि अपनाई है वह अन्यत्र अलभ्य है। सातवीं शताब्दी तक के न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें न तो समन्तभद्र जैसी सर्वज्ञकी सिद्धि उपलब्ध होती है[१] और न उन जैसी सर्वज्ञ-साधनमें अपनाई गई सरणि ही पाई जाती है। समन्तभद्र अपनी आप्तमीमांसामें सर्व प्रथम सामान्यरूपसे सर्वज्ञका प्रस्ताव करते हैं और कहते हैं—

> तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
> सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः॥

अर्थात्— सभी तीर्थ-प्रवर्तकों और उनके उपदेशोंमें परस्परविरोध होनेसे सब तो आप्त नहीं होसकते, कोई ही (एक) गुरु (आप्त-सर्वज्ञ) होना चाहिये।

भट्ट कुमारिल इसकी आलोचना करते हुए लिखते हैं—

> सर्वज्ञेषु[१] च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु।
> तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम्॥
> सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
> अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम्॥
> —तत्त्वसं० का० ३१४८-४६

यहां समन्तभद्रके 'परस्परविरोधतः' के स्थानमें कुमारिलने 'विरुद्धार्थोपदेशिषु' पदका प्रयोग किया है और जिस विरोध की समन्तभद्रने सूचना मात्र दी थी उस विरोधको कुमारिलने दूसरी 'सुगतो यदि सर्वज्ञः' इस कारिकाके द्वारा स्पष्ट किया है। साथ ही समन्तभद्रने जो यह कहा था कि 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः'—'कोई ही एक सर्वज्ञ होना चाहिए' उसका विरोध कुमारिलने 'को नामैकोऽवधार्यताम्'—'किस एक का निश्चय करते हो' जैसे शब्दों द्वारा किया है।

समन्तभद्र जब अपने उपर्युक्त प्रस्तावानुसार एक दूसरी कारिका से सर्वज्ञका सामान्यरूप से 'अनुमेयत्व' हेतु के द्वारा संस्थापन करते हैं तो कुमारिल इसकी भी आलोचना करते हैं। समन्तभद्रकी वह सामान्य सर्वज्ञकी साधक कारिका निम्न प्रकार है—

> सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
> अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

यहां समन्तभद्रने 'कस्यचित्' जैसे सामान्य शब्दका प्रयोग किया है जो 'सामान्य पुरुष' का वाचक है और उस

१ न्याय-वैशेषिक ईश्वरको ही सर्वज्ञ मानते हैं। युक्त और वियुक्त योगी आत्माओंको सर्वज्ञ मानते तो हैं, पर मोक्ष होनेके बाद, उनका ज्ञान योगजन्य होनेसे शेष नहीं रहता। सांख्य, योग और वेदान्त दर्शन भी न्याय-वैशेषिककी ही तरह सर्वज्ञत्व मानते हैं अन्तर सिर्फ इतना है कि सांख्य, योग प्रकृति (बुद्धि) तत्त्वमें, वेदान्त बुद्धि-सत्त्वमें सर्वज्ञत्व मानते हैं।
—देखो, प्रमाणमी० भा० टि० पृ० २६

१ इन कारिकाओंको शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें कुमारिलके नामसे उद्धृत किया है। अष्टसहस्री पृ० ५ में विद्यानन्द ने भी दूसरी कारिका 'तदुक्तं' करके कुमारिलकी तरफसे उद्धृत की है।

सामान्य पुरुषमें 'अग्नि आदि पदार्थ' रूपदृष्टान्तकी सामर्थ्य से 'अनुमेयत्व' (अनुमानके विषय) रूपहेतुके द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित (कालव्यवहित) और दूरवर्ती पदार्थोंकी प्रत्यक्षता की सिद्धि (अनुमान द्वारा साधना) की है। इस तरह इस कारिकाके द्वारा सर्वज्ञ-सामान्यकी सिद्धि की गई है। इसके पहिले समन्तभद्रने एक अन्य कारिकाके द्वारा 'सर्वज्ञता' की कसौटी एवं नियामक 'वीतरागता' (दोष और आवरणोंकी रहितता) को बतलाया है और उसका साधन भी उन्होंने 'क्वचिद्यथा' जैसे सामान्य शब्दोंके प्रयोग-पूर्वक किया है। समन्तभद्र की वह कारिका इस प्रकार है--

> दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
> क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥

इसमें बतलाया है कि 'किसी आत्मा-विशेषमें दोष (अज्ञानादि) और आवरणों (ज्ञानावरणादिकर्म) का सर्वथा क्षय होता है, क्योंकि इनकी न्यूनाधिकता देखी जाती है' और जिस आत्मामें यह 'वीतरागता' (निर्दोषता) प्रकट हो जाती है उसी आत्मामें पूर्वोक्त सर्वज्ञता संभवित है, अन्यमें नहीं। समन्तभद्र नीचेकी दो कारिकाओं द्वारा इसी बातको प्रकट करते हैं और पूर्वोक्त सामान्य-सर्वज्ञताका आश्रय 'अर्हन्त-जिन' को ही बतलाते हैं। यद्यपि समन्तभद्रने आगेकी इन कारिकाओंमें भी जैनसम्मत 'अर्हन्त' या 'जिन' शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथापि पूर्वापरके सम्बन्ध मिलाने पर यह मालूम हो जाता है कि जैनपरंपराभिमत स्याद्वाद-नायक 'अर्हन्त-जिन' में ही उन्होंने विशेषरूपसे सर्वज्ञता का साधन किया है। समन्तभद्रकी वे दोनों कारिकाएँ इस प्रकार हैं--

> स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
> अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
> त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
> आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥
> —आप्तमी० का० ६, ७

कुमारिल, समन्तभद्रके द्वारा प्रयुक्त 'कश्चिद्' 'क्वचिद्' और 'कस्यचित्' इन सामान्य शब्दोंको लेकर, उनके द्वारा प्रस्थापित इस सामान्य और विशेष सर्वज्ञताका खंडन बड़े आवेश और युक्तिवादके साथ निम्न प्रकार करता है--

> [१]नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि।
> साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञान्यूनमेव तत् ॥
> सिषाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते।
> यत्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥
> यदीयागमसत्यत्वसिद्धैय रुवेज्ञतोच्यते।
> न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥
> यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावद् तद्वचनं मृषा।
> यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥
> अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे वचनाऽन्यस्य सत्यता।
> सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥
> —तत्वसंग्रह ३२३० से ३२३४ तक।

ये कारिकाएँ कुमारिलने स्पष्टतया समन्तभद्रकी सामान्य सर्वज्ञकी सिद्धि और विशेषसर्वज्ञकी सिद्धिके खंडनको लक्ष्य करके रची हैं; क्योंकि कुमारिलके पूर्व समन्तभद्रके सिवाय किसी भी दार्शनिकने उक्त प्रकारसे सर्वज्ञका साधन नहीं किया है, जिसका यह कुमारिलकृत खंडन कहा जाय। हाँ, बौद्ध परंपरामें बादको होने वाले बौद्धप्रवर शांतरक्षित और उनके शिष्य कमलशीलने 'अस्ति कोऽपि सर्वज्ञः, क्वचिद्वा सर्वज्ञत्वं, प्रज्ञादीनां प्रकर्षदर्शनात्' रूपसे सामान्य-सर्वज्ञसाधनका निर्देश अवश्य किया है, पर वह उनका स्वतन्त्र उद्भावन नहीं है, वह तो कुमारिलकी उक्त कारिकाओंका ही अर्थस्फोट है। दूसरे, जब शांतरक्षित कुमारिल के नामसे उनकी उक्त कारिकाएं उद्धृत करते हैं, तो कुमारिल-कृत उक्त खंडन शांतरक्षित या उनके व्याख्याकार कमलशील का खंडन नहीं कहा जा सकता। तीसरे, शांतरक्षित और कमलशील कुमारिलके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं और उनका समय ईसाकी आठवीं शताब्दी है। जबकि कुमारिल सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। चौथे, समन्तभद्रके कितने ही विचारों, पद-वाक्योंका अनुसरण या खंडन तत्त्वसंग्रहमें पाया जाता है, यहां तक कि समन्तभद्रके उत्तरवर्ती पात्रस्वामी, सुमतिदेव आदि दिगम्बराचार्यों तकका खंडन भी उपलब्ध है[२]। अतः तत्वसंग्रहमें पाया गया सामान्य और

१ ये कारिकाएं अष्टसहस्री पृ० ५५ पर 'एतेन यदुक्तं भट्टेन' करके उद्धृत हैं।

२ देखो, तत्त्वसंग्रह पृ० ३७६, ३८२, ३८३, ४०६, ४१५, ४६६।

विशेषसर्वज्ञका साधन और उसकी सरणि समन्तभद्रका ही अनुसरण है। यह अवश्य है कि कुमारिलने उक्त कारिकाओं मे 'सुगत' अथवा 'बुद्ध' का नामोल्लेख करके उनकी सर्वज्ञता का भी निरसन किया है पर वह निरसन समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंको ही आधार बनाकर किया गया जान पड़ता है। क्योंकि बौद्धपरंपरामे कुमारिलके पहिले रचा गया ऐसा कोई भी बौद्धग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसमे सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारके सर्वज्ञत्वका बुद्धमे साधन किया गया हो और जिसका कुमारिलने पूर्वोक्त खडन किया हो। यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है और वह यह कि बौद्धतार्किक जितना सुगतके धर्मज्ञ होनेमे जोर देते हैं उतना उनके सर्वज्ञ होनेमें नहीं[1]। सर्वज्ञताको तो उन्होंने गौणरूपसे स्वीकार किया है[2]; जब कि जैनपरंपरा मुख्य रूपसे सर्वज्ञको मानती है[3]। अतः यह साफ़ है कि कुमारिल-कृत उक्त खंडन समन्तभद्रकी आप्तमीमांसागत सर्वज्ञ सामान्य और विशेषकी साधक उपर्युक्त कारिकाओंको ही लेकर किया गया है। बडे मार्केकी बात तो यह है कि समन्तभद्रने 'सूक्ष्मान्तरित'इत्यादि कारिकाके द्वारा सामान्य-तया सर्वज्ञकी सिद्धिकी थी और आगे चलकर उस सर्वज्ञ को 'स त्वमेवाऽसि' इत्यादि कारिकाके द्वारा 'अर्हन्त-जिन' बतलाया था और उन्हींको सर्वज्ञ मानकर अन्य तीर्थ-प्रवर्तकोंके मतों-आगमों-उपदेशोंको 'त्वन्मतामृतबाह्यानां' 'आप्ताभिमानदग्धानां' इत्यादि कारिकाओंके द्वारा आलो-चनाकी थी तथा उनके उपदेशोंको युक्ति-शास्त्र-विरोधी सिद्ध करके उनकी आप्तता न बनसकनेकी बात कही थी। साथ ही जैनतीर्थंकरके वचनोंमे युक्तिशास्त्रका अविरोध दिखलाकर उनकी आप्ततामे विश्वास प्रकट किया था। समन्तभद्रकी यह नीति एवं सर्वज्ञ-साधनकी प्रक्रिया कुमारिलको पसन्द नहीं आई और इसलिये उसकी उन्होंने 'नरः कोऽप्यस्ति' इत्यादि कारिकाओंमे तीव्र आलोचना की। अन्तमे तो वे एक विशिष्ट युक्ति देते हुए कहते हैं कि 'अन्यके सर्वज्ञ होनेपर दूसरेके वचनमे सत्यता नहीं आती, समानाधिकरणता-एकाधिकरणवृत्तित्वके होनेपर ही सर्वज्ञता और वचन-सत्यतामे अङ्गाङ्गिभाव-साध्यसाधन बनता है—चुनांचे प्रकृतमे सर्वज्ञता तो सामान्यमे सिद्ध की गई है और वचन-सत्यता (युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व) अर्हन्त जिनमे बतलाते हैं। तो ऐसे वैयधिकरण हेतुओं (अन्यनिष्ठ निर्दोषता और युक्तिशास्त्राविरोधी वचन) द्वारा साध्य (सर्वज्ञता) की सिद्धि नही होसकती है।' ऐसी दशा मे यह बिल्कुल स्पष्ट होजाता है कि कुमारिलने समन्तभद्र को लक्ष्य करके ही उक्त खंडन किया है।

आगे चलकर तो कुमारिलने 'एवं यैः केवलं ज्ञान-मिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितं' इस कारिकाके द्वारा जैनसम्मत और वह भी समन्तभद्र-प्रस्थापित केवलज्ञान-सर्वज्ञताका खंडन स्पष्ट शब्दोंमे किया है। समन्तभद्रके पहिले जैनपरंपरामे सूक्ष्मा-तीतादि (सूक्ष्मान्तरितादि) विषयरूपसे अनुमानके द्वारा सर्वज्ञका साधन उपलब्ध नहीं होता। समन्तभद्रने ही अनुमानसे सर्वज्ञका साधन किया है। समन्तभद्रके उत्तर-वर्ती अकलंकके द्वारा[1] कुमारिलको दिये गये समन्तभद्र

१ "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टन्तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेहि गृध्रानुपास्महे॥"
—प्रमाणवा० २–३२, ३३

२ "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते।
साक्षान्नकेवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते॥"
—तत्त्वसं० का० ३३०६
"मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भग-वतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधन-मस्य तत् प्रासङ्गिकम्॥" —तत्त्वसं० प० पृ० ८६३

३ "सर्वज्ञवादकी परम्पराका अवलम्बी मुख्यतया जैनसम्प्रदाय ही जान पड़ता है क्योंकि जैन आचार्योंने प्रथमसे ही अपने तीर्थंकरों मे सर्वज्ञत्वको माना और स्थापित किया है। (आचा० श्रु० २ चू० ३ पृ० ४२५A आव० नि० गा० १२७)।" —प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ३०

१ एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्धयेन्न च तेन विनागमः॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतो।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥
—न्यायवि० का० ४१२, ४१३

के कुमारिलकृत खंडनके जवाबसे भी यही असन्दिग्धरूपसे मालूम होता है, जिसमें उन्होंने 'अनुमानविजृम्भितम्' पदका प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि कुमारिलने मात्र जैनसम्मत केवलज्ञानका ही खंडन नहीं किया किन्तु जो केवलज्ञान (सर्वज्ञता) अनुमानके द्वारा विजृम्भित (समन्तभद्रद्वारा स्थापित) किया गया है उसका उन्होंने खंडन किया है।

कुमारिलने समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' का खंडन करनेके लिये भी अनुमेयत्व जैसे ही प्रमेयत्वादिको सर्वज्ञके सद्भाव के बाधक बतलाकर जो यह कहा था[1] कि 'जब प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञके बाधक हैं तब कौन उस सर्वज्ञकी कल्पना करेगा'? वह भी अकलंकको सहन नहीं हुआ और इसलिये वे समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतु की पुष्टि करते हुए कुमारिलको उनके इस खंडनका निम्न प्रकार जवाब देते हैं।

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।"
—अष्टश० आप्तमी० का० ५

अर्थात्—प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतुका पोषण करते हैं तो कौन चेतन उस सर्वज्ञका निषेध या उसके सद्भावमें संदेह कर सकता है?

बौद्ध विद्वान् शांतरक्षितने भी कुमारिलके इस खंडन का जवाब दिया है[2] और वह उचित ही हैं, क्योंकि सर्वज्ञ को माननेवाले बौद्ध भी हैं—भले ही वे उसे गौणरूपसे ही क्यों न मानते हों। ऐसी हालतमें अवैदिक कहे जानेके कारण कुमारिलके लक्ष्य जैनोंके साथ बौद्ध भी हो सकते हैं। अतः कुमारिलके खंडनका जवाब अकलंक और शांतरक्षित दोनों दे सकते हैं।

कुमारिलने समन्तभद्रकी केवल आलोचना ही नहीं की, बल्कि अनेक स्थानोंपर उनकी विचारसरणि और उनके पद-वाक्योंका अनुसरण भी किया है। यहां नमूनेके तौर पर एक स्थल उपस्थित किया जाता है जिसपरसे भी पाठक यह सहजमें ही जान सकेंगे कि समन्तभद्र वस्तुतः कुमारिलके पूर्ववर्ती विद्वान् थे। वह स्थल निम्न प्रकार है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयं।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥
—आप्तमी० का० ५९, ६०

समन्तभद्रकी इन कारिकाओंकी प्रतिबिम्बस्वरूप कुमारिलकी निम्न कारिकाएँ हैं—

'वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता।'
—मी० श्लो० वा० पृ० ६१९

पाठक, देखेंगे कि इन कारिकाओंमें समन्तभद्रका कितना अधिक विचारसाम्य और शब्दसाम्य पाया जाता है। इनके अर्थका स्फोट करनेकी भी आवश्यकता मालूम नहीं होती, वह ऊपरसे ही स्वतः मालूम पड़ जाता है। अतः यह असंदिग्ध है कि समन्तभद्र कुमारिलके उत्तरवर्ती न होकर पूर्ववर्ती विद्वान् हैं।

समन्तभद्र और धर्मकीर्ति—

समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें 'स्याद्वाद' (अनेकान्तवाद) का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥१०४॥

इसमें बतलाया है कि 'सर्वथा एकान्तके त्यागपूर्वक जो 'किंचित्' का विधान है वह स्याद्वाद है—अनेकान्तसिद्धान्त है।' धर्मकीर्ति समन्तभद्रके इस लक्षणकी आलोचना करते हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त "किंचित्" शब्दका उपहास करते हुए प्रमाणवार्तिकमें लिखते हैं—

एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात्॥ १-१८२

१ प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं नु तं कल्पयिष्यति सः
—मी० श्लो० चोदनासू० का० १३२

२ 'एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति॥'
—तत्त्वसं० का० ८८५

अर्थात्—'कपिलमतके खंडनसे ही प्रयुक्त, अश्लील और आकुल जो 'किंचित्' का प्रलाप-कथन है वह खंडित होगया, क्योंकि वह भी एकान्त संभवित है।'

यहां धर्मकीर्तिने स्पष्टतया समन्तभद्रके 'सर्वथा एकान्तके त्यागपूर्वक किंचित्के विधानरूप' स्याद्वादका खंडन किया है। समन्तभद्रके पहिले जैनदर्शनमें स्याद्वादका इस प्रकारसे लक्षण उपलब्ध नहीं होता। समन्तभद्रके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दने सप्तभंगोंके नामतो निर्देश किये हैं परन्तु स्याद्वादकी उन्होंने कोई परिभाषा नहीं बांधी। यहीं धर्मकीर्तिके द्वारा खडनमें प्रयुक्त 'तदप्येकान्तसंभवात्' पद भी खास तौरसे ध्यान देने योग्य है जिससे साफ ध्वनित होता है कि उनके सामने 'एकान्तके त्यागरूप अनेकान्त लक्षणकी वह मान्यता रही है जो 'किंचित्' के विधान द्वारा व्यक्तकी जाती थी तथा जिसका ही खंडन उन्होंने 'वह भी एकान्त संभवित है' जैसे शब्दों द्वारा किया है। अनुसन्धान करनेपर यही मालूम होता है कि वह मान्यता समन्तभद्रीय ही है; क्योंकि समन्तभद्रने ही सर्वप्रथम जैनपरंपरामें 'सर्वथा एकान्तके त्यागरूप अनेकान्तको स्याद्वाद माना है और उसकी रूपरेखा 'किंचित्' के प्रयोग-द्वारा प्रकट की है, और इसलिये यह निःसन्देह है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती विद्वान् थे।

इसके सिवाय, समन्तभद्रने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' इत्यादि कारिका[1] के द्वारा सब पदार्थोंको सत् और असत् दोनों रूप माना है अर्थात् उन्होंने यह बतलाया है कि 'विश्वके सब ही पदार्थ सत् और असत् उभयरूप हैं।' समन्तभद्रके इस कथनकी भी धर्मकीर्ति आलोचना करते हुए लिखते हैं—

> सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
> चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥
> सर्वात्मत्वे च सर्वेषां भिन्नौ स्यातां न धीध्वनी
> भेदसंहारवादस्य तदभावादसंभवः
>
> —प्रमाणवा० १-१८३, १८५

यहां 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' ये पद ध्यान देनेयोग्य हैं, जो समन्तभद्रके द्वारा प्रतिपादित 'सब पदार्थोंके सद् और असद् रूप वस्तुस्वरूपका खंडनके लिये ही प्रयुक्त किये गये जान पड़ते हैं। क्योंकि धर्मकीर्तिने उक्त खडन जैनदर्शन-सम्मत उभयात्मकताका किया है और जैन परंपरामें समन्तभद्रके पहिले तार्किकरूपसे उभयात्मकताका प्रतिपादन देखनेमें नहीं आता। अतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होते।

यहां यह बात खास तौरसे नोट किये जानेकी है कि धर्मकीर्तिके इन दोनों आक्षेपोंका जवाब अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें दिया है[1]। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो वे निश्चय ही धर्मकीर्तिके इन आक्षेपोंका जवाब देते और ऐसी हालतमें अकलंकको इनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके बहुत पहिले हो चुके हैं। और ऐसी दशामें धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें पाया जाने वाला विचार और शब्दका साम्य समन्तभद्रका ही आभारी जान पड़ता है।

इस प्रकार जो समन्तभद्र ऊपर दिग्नागके पूर्ववर्ती सिद्ध किये गये हैं वे भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के भी पूर्ववर्ती हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। और इसलिये इसविषयमें जिनविद्वानोंकी किसी समय कोई विपरीत धारणा बन गई है वे इस लेखपरसे या तो उसे सुधारनेमें प्रवृत्त होंगे और या इस विषयपर कोई विशेष प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे, ऐसी दृढ आशा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

१ सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥ आप्तमी०

१ यथा :—
"ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् नच फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः॥"१७०
"तत्र मिथ्योत्तरं जातिर्यथानेकान्तविद्विषाम्।
दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम्।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः॥" ३७१-७२
सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वंद्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते।
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥ ३७३-७४

जैनसाहित्यमें प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री

(लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, क्यूरेटर पी० म्यूजियम लखनऊ)

भारतीय इतिहासकी सामग्रीका क्षेत्र बहुत विशाल है। एक ओर पुरातत्त्व जगत्से प्राप्त वह बहुमूल्य एवं विपुल सामग्री है जिसकी प्रामाणिकता सर्वोपरि मान्य है। हजारों शिलालेख, एवं उनमें भी अधिक मूर्तियाँ और सिक्के, मिट्टीके खिलौने, भाँड-बर्तन, चित्र सब मिलकर प्राचीन भारतवर्षका एक अनुपम प्रत्यक्षगम्य चित्र उपस्थित करते हैं। इस प्रकारकी सामग्रीका सिलसिला न केवल भारतवर्षके वेलातटों तक ही सीमित है, बल्कि सुदूर समुद्रोंको पारकर पूर्वीय द्वीपोंमें तथा उत्तरीय गिरिगह्वरोंके भी उस पार मध्य एशियाके आधुनिक रेतीले प्रदेशों तक फैलता चला गया है। दूसरी ओर साहित्यसे उपलब्ध इतिहास-साधनकी सामग्री पृथिवीकी कुक्षिमें जुगोकर रक्खी हुई सोने और चाँदीकी खानोंकी तरह अक्षय्य रूपसे भरी हुई है। कहा जाता है कि आदिराज पृथु ने हिमालयको वत्स बनाकर अनेक चमकीले रत्नोंका पृथिवीसे दोहन किया था। उसी प्रकार साहित्यरूपी कामधेनुकी उचित आराधनाके द्वारा लोकके अतीत इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले समुज्ज्वल रत्नोंका पुष्कल दोहन करने वाले धुरंधर पृथु की हमारे साहित्यजगत्को आवश्यकता है। सर्वप्रथम संस्कृतका विशाल साहित्य है। वेदोंसे लेकर शिवाजी के राष्ट्रीय उत्थानके काल तक संस्कृत साहित्यकी जो निरन्तर धारा सहस्र सोतोंसे फूटकर बहती रही है उसका अधिकांश भाग आज भी हमें उपलब्ध है। उसमेंसे ऐतिहासिक तन्तुओंको जोड़ जोड़कर हमें अपने इतिहासका सुन्दर पट तैयार करना है। पाणिनिकी अष्टाध्यायीके गणपाठोंमें गोत्रों, शाखाओं और स्थानोंकी जो सूचियां हैं उनकी ओर अभी हमे ध्यान देना है। बौधायनके महाप्रवरकाण्डमें जो प्राचीन समाजके अंगीभूत गोत्र-परिवारोंकी तालिकाएँ हैं उनका समुचित संपादन हमारे इतिहासके लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि पुराणोंके भुवनकोषोंमें संचित पर्वत-नदी जनपदोंकी बहुमूल्य भौगोलिक सूचियोंकी विस्तृत पहचान करना। महाभारत के सूक्ष्म भूगोलको जाननेका भाव जब हमारे भीतर उदय होगा तभी मानों इस देशके साथ हमारे परिचय का उदीयमान मंडल पूरी तरह विकसित होगा। कालिदासके ग्रन्थोंमें जो संस्कृति-सम्बन्धी सामग्री है उसको भी हमें जी खोलकर अपनाना होगा। बाणभट्टकी कादम्बरी और हर्षचरित तो मानों प्राचीन जीवनमें सम्बन्धित शब्दोंकी प्राप्तिके लिये कल्पवृक्ष ही हैं। उनमें आये हुए मकरिका, शालभंजिका, पुलकबन्ध (बुंदकीदार छींट), इन्द्रायुधाम्बर (लहरिया वस्त्र) आदि अनेक पारिभाषिक शब्द प्राचीन लोकजीवनकी संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। इस विशाल साहित्यके सागरको मथकर हम अपने भूतकालके सम्बन्धमें बहुमूल्य सामग्री प्राप्त कर सकते हैं, जो केवल राजाओंकी नामावली न होकर वास्तविक सामाजिक जीवनका एक बहुरंगी चित्रपट प्रस्तुत कर सकती है।

अध्ययनकी यही परिपाटी बौद्ध और जैनसाहित्य के लिये भी चरितार्थ हो सकती है। बौद्धोंका बृहत् पाली-साहित्य प्रकाशमें आचुका है। उसका इतिहास-निर्माणमें सबसे अधिक उपयोग भी हुआ है। पर ऊपर जिस मौलिक दृष्टिकोणकी चर्चा की गई है उस की शैलीमें यदि समस्त पाली-वाङ्मयका अनुशीलन किया जाय तो भारतीय संस्कृतिके महाकोषका एक सुन्दर अंग तैयार हो सकता है। सौभाग्यसे बौद्धोंका संस्कृत साहित्य भी कुछ कम उपलब्ध नहीं है। और

ऐसा साहित्य, जो तिब्बती भाषाके तंजुर-कंजुर संग्रहो में अनुवादरूपमें उपस्थित है, बहुत ही मूल्यवान है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण चीनी त्रिपिटकोंका धुरंधर संग्रह है, जिसमें मूल सर्वास्तिवादिन, महासंघिक, सम्मितीय आदि बौद्ध-निकायोंके अनेक प्राचीन ग्रन्थ सुरक्षित हैं। इस साहित्यको ऐतिहासिककी पैनी आंख से टटोलनेसे उसमेंसे कैसे मूल्यवान रत्न प्राप्त किये जा सकते हैं इसका एक उदाहरण 'महामायूरी' ग्रन्थ है। इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद तथा संस्कृत मूलकी सहायतासे फ्रेंच विद्वान् सिलवा लेवीने जो भौगोलिक अध्ययन सवासौ पृष्ठोंमें सन् १६१५ में जूर्नल एशियाटिकमें प्रस्तुत किया था वह आज भी विद्वानोंका मार्ग प्रदर्शन करता है। पर आवश्यकता इस बातकी है कि यह विराट् साहित्य भारतीयोंके लिये सुलभ रीतिसे अनुवाद टिप्पणीके साथ प्रकाशित किया जाय।

हर्षकी बात है कि बौद्धसाहित्यसे सब बातोंमें बराबरीकी टक्कर लेने वाला जैनोंका भी एक विशाल साहित्य है। इसमें एक ओर तो प्राचीन द्वादशाग आगमके ग्रन्थ और उनकी टीकाएँ प्राचीन पाली ग्रन्थोंके समान श्रद्धास्पद कोटिमें हैं। दुर्भाग्यसे उनके प्रामाणिक और सुलभ प्रकाशनका कार्य बौद्धसाहित्य की अपेक्षा कुछ पिछड़ा हुआ रह गया। इसी कारण महावीर काल और उनके परवर्ती कालके इतिहास-निर्माण और तिथि-क्रमनिर्णयमें जैनसाहित्यका अधिक उपयोग नहीं हो पाया। अब शनैः शनैः यह कमी दूर हो रही है। यदि पाली टैक्स्ट सोसायटीकी तरह एक विशिष्ट कोटिकी अर्द्धमागधी टैक्स्ट सोसायटी इस साहित्यके प्रकाशन कार्यको पूरा कर देती तो अवश्य ही लोकमें इस साहित्यके भी समुचित प्रसार का मार्ग सदाके लिये प्रशस्त होजाता। यह भी निश्चय है कि अब वह समय चला गया जब विदेशी विद्वान इस कार्यको हमारे लिये पूरा कर देते। अब तो उन भारतीय विद्वानोंको ही, जो जैन-विद्यामें पारंगत हैं, इस श्लाघनीय-कार्यको समझदार धनिकोंकी सहायता से पूरा करना होगा। पर प्राचीन अंगोंके अतिरिक्त जैनसमाजकी एक दूसरी बहुमूल्य देन है। वह मध्य कालका जैनसाहित्य है जिसकी रचना संस्कृत और अपभ्रंशमें लगभग एक सहस्र वर्षों तक (५०० ई०-१६०० ई०) होती रही। इसकी तुलना बौद्धोंके उस पर वर्ती संस्कृत साहित्यसे हो सकती है जो सम्राट् कनिष्क या अश्वघोषके समयसे बनना शुरू हुआ और बारहवीं शताब्दी अर्थात् नालन्दाके अस्त होने तक बनता रहा। दोनों साहित्योंमें कई प्रकारकी समानताएँ और कुछ विषमताएँ भी हैं। दोनोंमें वैज्ञानिक ग्रन्थ अनेक हैं, काव्य और उपाख्यानोंकी भी बहुतायत है। परन्तु बौद्धोंके सहजयान और गुह्यसमाजसे प्रेरित साहित्य के प्रभावसे जैन लोग बचे रहे। जैनसाहित्यमें ऐतिहासिक काव्य और प्रबन्धोंकी भी विशेषता रही। मध्यकालीन भारतीय इतिहासके लिये इस विशाल जैनसाहित्यका पारायण अत्यन्त आवश्यक है। यह तत्व अब धीरे धीरे प्रगट हो रहा है। एक ओर यशस्तिलकचम्पू और तिलकमंजरी जैसे विशाल गद्य ग्रन्थ हैं जिनमें मुस्लिमकालसे पहलेकी सामन्त-संस्कृति का सच्चा चित्र है, दूसरी ओर पुष्पदन्तकृत महापुराण जैसे दिग्गज ग्रन्थ हैं जिनमें भाषाशास्त्रके अतिरिक्त सामाजिक रहन-सहनका भी पर्याप्त परिचय मिलता है। बाणभट्टकी कादम्बरीके लगभग पांचसौ वर्ष बाद लिखा हुई तिलकमंजरी नामक गद्यकथा संस्कृत साहित्यका एक अत्यन्त मनोहारी ग्रन्थ है। संस्कृतिसे सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दोंका बड़ा उत्तम संग्रह इस ग्रन्थसे प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ राजप्रासादोंमें सीसमहल (आदर्शभवन, पृ० ३७३) का प्रचार ११ वीं सदीमें ही हो चुका था। भानुचन्द्र और सिद्धिचन्द्र जैसे जैनउपाध्यायोंने कादम्बरी पर टीका लिखी, परन्तु तिलकमंजरी अभीतक वैसे सुरीश्वर टीकाकारोंकी प्रतीक्षा कर रही है। उपमितिभवप्रपंच-कथा और समराइच्चकहा भी बड़े कथाग्रन्थ हैं जिनमें स्थान स्थानपर तत्कालीन सांस्कृतिक चित्र पाये जाते हैं।

हर्षकी बात है कि जैनोंके इस मध्यकालीन साहित्यका प्रकाशन इधर बड़ी द्रुतगतिसे होरहा है। परन्तु जैन भंडारोंकी सम्पूर्ण ग्रन्थनिधि एक प्रकारसे अबूझ

पहेली है। पाटनके भंडार जगत्प्रसिद्ध हैं। जैसलमेर के जैनभंडारमें भी अनेक अलभ्य ग्रन्थ हैं। इधर कारंजा (प्राचीन नाम कार्यरंजकपुर) के दो जैन भंडारोंके ग्रंथ भी प्रकाशमें आये हैं।

भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे जैनोंकी इस नूतन सामग्रीका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. प्राचीन ऐतिहासिक काव्य—

ये काव्य विशेषविद्वान, सूरीश्वर अथवा युग-प्रधान आचार्योंके जीवन या उनसे सम्बन्धित किसी महत्वपूर्ण घटनाको लेकर लिखे गये गीत या रचनाएँ हैं। हिन्दी भाषामें ऐसी रचनाओंका एक अत्युत्तम संग्रह 'ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह' के नामसे श्री अगरचंद्र नाहटा और भँवरलाल नाहटाने संपादित किया है। चारसौसे अधिक पृष्ठोंमें गीतोंका चुनाव है जो भाषाके विकासकी दृष्टिसे भी ध्यान देने योग्य है।

एक गीतमें १६-१७ वी शताब्दीके मारवाड़की लोकदशाका कैसा यथार्थ वर्णन है—'जिस प्रकार मारवाड़ मोटा देश है वैसे वहाके कोश भी लम्बे हैं, निवासी भद्र प्रकृतिके है, मनमें रोष नहीं रखते, कमरमें कटारी बाँधते हैं। वणिक लोग भी जबरे योद्धा है, हथियार धारण किये रहते हैं, रणभूमिमें पैर पीछा नहीं फेरते, स्वधर्मियोंको धर्ममें स्थिर करते हैं। निष्कपट वृद्धाएँ भी लम्बा घूंघट रखती हैं। जीवनमें सादगी और रसोईमें राबकी प्रधानता है। वाहनोंमें ऊँट प्रधान है। पथिक लोग जहाँ थकते हैं वही विश्राम लेते हैं, परन्तु चोरीका भय नही है।' मध्यकालीन जैन इतिहासमें श्री हीरविजय, विजय-सेन, विजयदेव, भानुचन्द्र आदि विद्वान आचार्योंकी पर्याप्त ख्याति है, उनके संबंधमें भी इन फुटकर-गीतो से लोककी श्रद्धाका अच्छा आभास मिलता है। गुजराती भाषामें इस प्रकारके काव्य-गीतोंकी और भी अधिकता है। उनका एक संग्रह श्री जिनविजयजी ने 'ऐतिहासिक गुर्जरकाव्यसंचय' के नामसे किया है। ऐतिहासिक रासोंका संग्रह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन गुजराती भाषाके रासोंके तीन-चार संग्रह छप भी चुके हैं। श्री विजयधर्मसूरिने ऐतिहासिक रास-संग्रह भाग १-२ का १६१६-१७ में भावनगर सरस्वतीप्रेससे प्रकाशन किया था। पुरानी हिन्दी भाषा में उपलब्ध ऐतिहासिक रासोंका संग्रह होना चाहिए। राजपूताना और युक्तप्रान्तके भंडारोमे इस प्रकारका साहित्य बहुत मिल सकता है।

२. प्रबन्धसंग्रह—

संस्कृत भाषामें लिखे हुए पुरातन प्रबन्ध इतिहासकी दृष्टिसे बहुत मूल्यवान हैं। इनमें मेरुतुंगाचार्य का प्रबन्धचिन्तामणि बहुत प्रसिद्ध है और सुन्दर रीतिसे संपादित होकर सिंघीजैनग्रंथमालामें छप भी चुका है। राजशेखर सूरिकृत प्रबन्धकोष भी इसी ग्रंथमालामें छपा है। दूसरे फुटकर ऐतिहासिक प्रबन्धोंको इकट्ठा करके श्री जिनविजयजीने 'पुरातन-प्रबन्धसंग्रह' नामक एक अतीव उपयोगी संग्रहग्रंथ प्रकाशित किया है। 'प्रबन्ध' को हम आधुनिक शब्दों में ऐतिहासिक-निबन्ध कह सकते हैं जो किसी शासक, विद्वान या घटना-सम्बन्धी ऐतिहासिक जानकारीको लेकर लिखा गया हो। मध्यकालका भारतीय इतिहास प्रबन्धोंकी सामग्रीसे लाभ उठाये बिना पूर्ण नही बन सकता। हर्ष की बात है कि श्री जिनविजयजीने इस प्रकारकी ऐतिहासिक सामग्रीके प्रकाशनके कार्यको बड़ी व्यवस्थितरीतिसे सिंघीजैन ग्रन्थमालामें आरम्भ किया है।

३. पट्टावली—

जैनसंघ एक जीवित संस्था है। इसका संगठन प्राचीनकालसे आजतक अबाधित चलता आ रहा है। जैनगुरु इस संगठनके मेरुदण्ड हैं। इसलिये जैनआचार्यपरंपराका अनुसंधान जैनसंघके क्रम-बद्ध इतिहासके लिये अत्यन्त आवश्यक है। जैनसंघ के विकासका एक विस्तृत इतिहास अभी लिखा जाने को है। उसमें इस गुरुपरम्पराकी विशेष आवश्यकता होगी।

वैसे तो जैन संघके संगठनकी मूल रूपरेखा कल्पसूत्रमें मिलती है। उसमें पृथक् पृथक् गणोंकी

शाखाओं और कुलोंके नाम दिये गये हैं। पुरातत्वकी यह अद्भुत साक्षी है कि उन गण-शाखा-कुलोके संगठनका यथार्थ-परिचय कंकाली टीला मथुरासे मिले हुए पहली-दूसरी सदीके प्रतिमालेखोंसे प्राप्त होता है। मथुरा उस समय उत्तरी भारतमें जैनधर्म और संघ का प्रमुख केन्द्र था। वहांका शक्तिशाली संघ समस्त उत्तरापथमें प्रख्यात था। कल्पसूत्रमें दिये हुए अधिकांश नाम ज्योंके त्यों कंकाली टीलेके गण-शाखा-कुलोंमें मिल जाते हैं। डा० बूलहरने 'इंडियन सेक्ट आफ दी जैनस' पुस्तकमें इसका तुलनात्मक विवेचन किया है। संघका वह प्रान्तीय संगठन कालान्तरमें और भी वृद्धि को प्राप्त हुआ होगा। इसके प्रमाण मध्यकालीन जैन आचार्योंकी गुरुपरम्परा एवं गच्छोंकी विविध पट्टावलियोंको देखनेसे मिलते हैं। श्री दर्शनविजयजीने पट्टावलीसमुच्चय नामक संग्रहमे इस प्रकारकी कई सूचियोंका बहुत उपयोगी संकलन किया है। श्री कल्याणविजयजीने तपागच्छ-पट्टावलीका प्रकाशन किया है। जिस प्रकार ब्राह्मण और उपनिषदोंके समयमें अध्येता लोग ब्रह्मासे लेकर 'अस्माभिरधीतम्' तकके विद्यावंशका स्मरण किया करते थे (जिनमेंसे कई सूचियां अभी तक उपलब्ध हैं) उसी प्रकार जैन लोग भी समण भगवान् महावीरसे आरम्भ करके उनके गण और गणधरोंकी परम्पराका स्मरण करते हुए कालान्तरके आचार्योंकी गुरु-शिष्यशृंखलाके द्वारा अपने विद्यावंशका पूरा ब्यौरा रखते थे। मध्यकालीन जैनसंघमें जो अनेक विद्वान हुए उनका पूरा विवरण यदि इन पट्टावलियोंमें सम्मिलित किया जाय तो संघका अच्छा इतिहास तैयार हो सकता है।

४. प्रशस्तिसंग्रह—

गुरु-शिष्य-परम्पराके इतिहासके दो उत्तम साधन हैं। पहला तो हस्तलिखितग्रंथोंके आदिमें दी हुई प्रशस्तियाँ और अन्तमें दी हुई पुष्पिकाएँ हैं। इनमें ग्रन्थलेखनकी प्रेरणा देने वाले जैनगुरुका, उनके शिष्यका और ग्रन्थलेखनका मूल्य देने वाले श्रावकश्रेष्ठीका सुन्दर विवरण पाया जाता है। तत्कालीन शासक और प्रतिलिपिकारके विषयमें भी सूचनाएँ मिलती हैं। इतिहासके साथ भूगोलकी सामग्री भी पाई जाती है। मध्यकालीन जैनआचार्यों के पारस्परिक विद्या-सम्बन्ध, गच्छके साथ उनका सम्बन्ध, कार्यक्षेत्रका विस्तार, ज्ञानप्रसारके लिये उद्योग आदि विषयों पर इन प्रशस्ति और पुष्पिकाओंसे पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। श्रावकोंकी जातियोंके निकास और विकास पर भी रोचक प्रकाश पड़ता है। अभी तक 'जैनपुस्तक प्रशस्ति-संग्रह प्रथमभाग' प्रकाशित हो चुका है।

५. प्रतिमालेखसंग्रह—

संघीयइतिहासका दूसरा महत्वपूर्ण साधन प्रतिमाओं पर खुदे हुए लेख हैं। पुरातत्वसे सम्बन्ध होने के कारण यह सामग्री अत्यधिक विश्वनीय मानी जाती है। किसी भी पुराने जैन मंदिरमें हम जायं इस प्रकार के लेखोंका अस्तित्व हमें मिलेगा। हस्तलिखितग्रन्थोंमें जो स्थान पुष्पिकाओंका है वही मूर्तियोंपर प्रतिमालेखोंका है। लगभग उसी प्रकारकी भाषामें वैसी ही सूचनाएँ मिलती हैं। अभी देवगढ़के प्राचीन जिनालयोंमें जो बिम्ब हैं उनपर कितने ही इसप्रकारके लेख हमारे देखनेमें आए हैं। इसप्रकारके लेखोंका संग्रह श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहरने छपाया था परन्तु कार्य बहुत विस्तृत है और उसकी प्रगति आगे बढ़नी चाहिये।

६. विज्ञप्तिपत्र—

विज्ञप्तिपत्र कुंडलीके आकारके उस आमंत्रणपत्र की संज्ञा है जिसे स्थानीय जैनसमाज भाद्रपदमें पर्युषणपर्वके अन्तिमदिन अपने दूरवर्ती आचार्य या गुरुके पास भेजता था। उसमें स्थानीयसंघके पुण्य कार्योंके वर्णनके साथ गुरुके चरणोंमें यह प्रार्थना रहती थी कि वे अगला चातुर्मास्य उस स्थानपर आकर बितावे। विज्ञप्तियोंका जन्म गुजरातमें हुआ और जैनेतर समाजमें इनका अभाव है। पहले विज्ञप्तिपत्र सामान्य

प्रार्थनापूर्ण आमंत्रणके रूपमें लिखे जाते होंगे परन्तु काल पाकर उनका रूप अत्यन्त संस्कृत होगया। उनमें चित्रकारीको भी भरपूर स्थान मिला। प्रेषणस्थानका चित्रमयप्रदर्शन विज्ञप्तिपत्रमें किया जाता था। संघके सदस्योंका भी परिचय रहता और कभी कभी इतिहास-विषयक घटनाएँ भी आजाती थीं। श्रीजैनआत्मानन्दसभा भावनगरकी ओरसे 'विज्ञप्तित्रिवेणी' नामक तीन पत्रोंका एक संग्रह श्रीमुनिजिनविजयजीके संपादनमें सन १९१६ में प्रकाशित हुआ था। इसमें मुनिसुन्दरसूरिका अपने गुरु देवसुदरसूरिको लिखा हुआ संवत १४६६ का एकपत्र १०८ हाथ लम्बा है। अभी १९४२ में श्री डा० हीरानन्द शास्त्रीने 'ऐंशेंटविज्ञप्तिपत्राज़' नामसे अंग्रेजीमें एक सचित्र ग्रन्थ इस विषयपर श्रीप्रतापसिंह महाराज राज्याभिषक ग्रन्थमालामें बड़ौदेसे प्रकाशित किया है। इसमें विज्ञप्तिपत्रोंके स्वरूप और ऐतिहासिक महत्वका सुन्दर विवेचन है। इसका पहला विज्ञप्तिपत्र आगरा जैनसंघकी ओरसे युगप्रधान मुनिश्रीविजयसेनसूरिके पास पाटनमें भेजा गया था। यह विदित है कि अकबरने हीरविजय, विजयसेन और भानुचन्द्र आदि जैनाचार्योंके प्रभावमें आकर पर्युषणापर्वमें पशुहिंसाका सर्वथा प्रतिषेध कर दिया था। पीछे जहांगीरके समयमें यह आज्ञा रद्द करदी गई। परन्तु राजा रामदासकी प्रेरणासे पुनः प्राचीन नियम बहाल किया गया। और जहांगीरने एक शाही फरमान आगरा जैनसमाजको १६१० में प्रदान किया। उसीकी सूचना इस विज्ञप्तिपत्रद्वारा बूढ़े युगप्रधान सुरीश्वर श्रीविजयसेनजीके पास भेजी गई। पत्रके प्रथमभागमें चित्र द्वारा फरमान दियेजानेकी घटना अंकित की गई है। उसमें सम्राट् जहांगीर और राजकुमार खुर्रम तथा राजा रामदासके भी चित्र हैं। चित्रकार प्रसिद्ध शालिवाहन हैं जो जहांगीरी दरबारके कुशल चितेरोंमेंसे थे। आगरेकी तत्कालीन जनताका भी चित्रमें अंकन है। आशा है भण्डारोंके प्राचीन संग्रहोंमें ढूँढ़नेसे और भी महत्त्वपूर्ण विज्ञप्तिपत्र प्राप्त होंगे।

७. तीर्थमाला—

प्राचीनकालमें जैन संघपति और आचार्य समारोहपूर्वक लम्बी लम्बी तीर्थयात्राएँ किया करते थे। कुछ विद्वान साधु उन यात्राओंका विवरण भी लिख डालते थे। इस प्रकारके विवरण भूगोलकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं। इस विषयका अच्छा परिचय श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य और इतिहासके 'दक्षिणके तीर्थक्षेत्र' नामक लेखमें दिया है। इससे ज्ञात होता है कि श्री धर्मविजयसूरिने 'प्राचीन-तीर्थमाला-संग्रह' नामका एक संग्रह श्रीयशोविजयजैनग्रंथमाला भावनगरसे संवत १९७८ में प्रकाशित किया था जिसका मूल्य २॥) था। उसमें भिन्न-भिन्न यात्रियोंकी लिखी हुई छोटी-बड़ी पच्चीस तीर्थमालाएँ हैं। श्री शीलविजय नामक एक प्राचीन साधुकी लिखी हुई तीर्थमाला भी इसमें संगृहीत है। संवत १७११-१७४८ के बीच भारतके पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तरके तीर्थोंकी स्वयं यात्रा करके शीलविजयजीने अपने अनुभवसे अपनी तीर्थमालाको लिखा था। भारतीय भूगोलके अनुसंधानमें इन तीर्थमालाओंसे पुराणगत तीर्थमाहात्म्योंकी तरह बहुत सहायता मिलसकती है। प्राचीन जैनग्रंथोंमें जिनप्रभसूरिकृत 'विविधतीर्थ-कल्प' तीर्थोंके इतिहासके लिये एक विलक्षण ग्रन्थ है, जिसका विस्तृत विवेचनके साथ संपादन होना चाहिए। मूल ग्रंथ सिंघीग्रंथमालामें छप चुका है। इसमें मथुराके प्राचीन जैन स्तूपका भी इतिहास है।

८ चरित्र-काव्य—

इस कोटिमें हम देवानन्दमहाकाव्य, कुमारपालचरित, प्रभावकचरित, जम्बूस्वामीचरितम्, हीरसौभाग्यकाव्य जैसे विशिष्ट काव्योंको रख सकते हैं जिनमें इतिहाससाधनकी अपरिमित सामग्री है। हाल हीमें सिंघीग्रंथमालामें 'भानुचन्द्रचरित' नामक एक अतिमहत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिससे अकबरकालीन इतिहास विशेषकर सम्राट् और अन्य प्रमुख दरबारीजनोंके चरित्रपर सच्चा प्रकाश पड़ता है।

सिद्धिचन्द्र रूपमें दूसरे कामदेव थे। अकबर छुटपन से ही उनको चाहते थे और महलमें भी उनके जाने की रोक-टोक न थी। भानुचंद्रकी शिष्यतामें सिद्धिचन्द्रने नैष्ठिकब्रह्मचर्यव्रत धारण करके संन्यास लिया। वे अत्यन्त मेधावी और सच्चरित्र थे। अपने तपोमय जीवनसे उन्होंने सम्राट अकबर तथा जहांगीर को भी बहुत प्रभावित किया। उन्होंने बहुत निकटसे अकबरके व्यक्तित्वका निरीक्षण किया था। उनका एक श्लोक ही सम्राट् जलालुद्दीन अकबरके विशाल अध्यवसायी स्वभाव और गुणोंका सर्वोत्तम परिचय देने के लिये पर्याप्त है—

न सा कला न तद् ज्ञानं न तद्धैर्यं न तद्बलम्।
शाहिना युवराजेन यत्र नैवोद्यमः कृतः ॥११५६॥

अर्थात् कोई भी कला, ज्ञान, साहस और बलका ऐसा कार्य नहीं था जिसका अभ्यास किशोरावस्थामें युवराज अकबरने न किया हो। जिस इतिहासग्रंथमें अकबरी चरित्रकी यह अनुपम गाथा न हो वह इतिहास फीका कहा जायगा। अकबरनामा और आइने अकबरी सदृश महाग्रन्थोंके रचयिता अबुलफजलके उदार मस्तिष्कके बारेमें सिद्धिचंद्रने जिन स्तुतिभरे शब्दोंका प्रयोग किया है उनसे प्रकट होता है कि कोई समशील विद्वान दूसरे आत्मसदृश विद्वानको पहचानकर कुछ कह रहा है—

निःशेषवाङ्मयांभोधेः पारदृश्वा विदांवरः ॥११६७
नास्ति तद्वाङ्मये तेन न दृष्टं यच्च न श्रुतम् ॥११७१

अर्थात् 'मतिमानोंमें श्रेष्ठ वह अबुलफजल समस्त साहित्यरूपी समुद्रको पार कर चुका था। साहित्यमें कुछ भी ऐसा नहीं था जो उसने देखा या सुना न हो।'

ये सिद्धिचंद्र वे ही हैं जिन्हें अकबरने 'खुष्फहम' की उपाधिसे विभूषित किया था और जिन्होंने अपने गुरु भानुचन्द्रके साथ कादम्बरीपर सर्व विदित टीका लिखी है। इनके गुरुने अकबरको सूर्यसहस्रनामका अध्यापन कराया था, जब पारसीधर्मसे प्रभावित हो कर अकबरके मनमें लोकको चैतन्यके प्रदाता भगवान सूर्यके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगई थी।

जैनसाहित्यमेंसे इस प्रकारके अन्य जितने भी काव्य मिल सकें इतिहासके लिये वे अमूल्य होंगे। विदित हुआ है कि श्री नाथूरामजी प्रेमी कविवर बनारसीदास-विरचित हिन्दी आत्मचरित प्रकाशित कर रहे हैं जो अकबर-जहांगीर-शाहजहांके राज्यकाल-से सम्बन्ध रखता है और उस समयकी सामाजिक व धार्मिक अवस्थापर बहुत प्रकाश डालता है। इस प्रकार जैनसाहित्यमें ऐतिहासिक साधनकी प्रभूत सामग्री है, जो क्रमशः प्रकाशमें आ रही है। अपभ्रंश साहित्यके जो अनेक ग्रन्थ श्रीहीरालाल जैन, प्रो० उपाध्ये और प्रो० वैद्यके सत्प्रयत्नोंसे प्रकाशमें आ रहे हैं उनसे भारतीय भाषाओं विशेषतः हिन्दीके विकास पर अपरिमित प्रकाश पड़ता है तथा आनुषंगिक रीतिसे देश-दशाका भी परिचय प्राप्त होता है।

चैत्र शुक्ल २, विक्रमाब्द २०००

नागौर, जयपुर और आमेरके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची

नागौर, जयपुर और आमेरमें हस्तलिखित जैनग्रन्थोंके बड़े बड़े भण्डार हैं। नागौरका एक भट्टारकीय शास्त्र-भण्डार, जो पचासों वर्षसे बन्द था, अभी खुला है इसके उद्घाटनके अवसर पर वीरसेवामन्दिरसे प० परमानन्दजीशास्त्री को भेजा गया था। जो नागौरसे जयपुर आमेर होते हुए वापिस आए हैं। उन्हे अपने इस प्रवासमें इन स्थानोंके जिन शास्त्रभण्डारोंको देखनेका जितना अवसर मिल सका है उसके अनुसार उन्होंने उन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी एक सूची तैयार की है जो गतवर्ष और इस वर्षकी अनेकान्त-किरणोंमें प्रकाशित ग्रन्थसूचियोंमें नहीं आए हैं और जिसे भण्डार-क्रमसे नीचे दिया जाता है। इन स्थानोंके भण्डारोंमें विपुल ग्रन्थराशि भरी पड़ी है, जिसका विशेष परिचय तभी दिया जा सकता है जब इन स्थानोंके सभी शास्त्रभण्डारोंको पूरी तौरसे देखनेका अवसर मिले। नागौरके भट्टारकजीने अपने शास्त्रभण्डारको पूरी तौरसे देखने नही दिया, इसका बहुत अफसोस रहा! आशा है वे या तो स्वयं अपने शास्त्रभण्डार की एक विस्तृत प्रामाणिक सूची शीघ्र प्रकाशित करेंगे और या दूसरोंको वैसी सूची तैयार कर लेनेके लिये आमंत्रित करेंगे। इन शास्त्रभण्डारोंका विशेष परिचय फिर किसी समय दिया जायगा।

—सम्पादक

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचनासं०	लिपिसं०
चन्द्रप्रभचरित्र	कवि दामोदर	संस्कृत	१३१	१७२७	१७८६
द्रव्यसंग्रहटीका	भ० प्रभाचन्द्रदेव	,,	३३	—	१६१६
नेमिपुराण	ब्र० नेमिदत्त	,,	१८१	—	१८३३
प्रतिष्ठासूक्तिसंग्रह	पं० वामदेव	,,	७४	—	१७६४
यशोधरचरित्रपंजिका(अष्टमप्रा०)	—	,,	३४	—	—
रत्नकरण्डश्रावकाचार	कविवर श्रीचन्द	अपभ्रंश	१३२	११२३	—
लक्ष्मी-सरस्वती-संवाद	भ० श्रीभूषण	संस्कृत	३	—	—
षट्कर्मोपदेश	भ० अमरकीर्ति	अपभ्रंश	११६	१२४७	१४६८
सम्यक्त्वकौमुदी	पं० रइधू	,,	७१	—	—
संस्कृतमंजरी	भ० चन्द्रकीर्ति	संस्कृत	६	—	१८१८

(२) स्व० बाबा दुलीचन्दजीका शास्त्रभण्डार जयपुर—

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचनासं०	लिपिसं०
आगमशतक	प० द्यानतराय	हिन्दी पद्य	१०१	—	१६५४
करकंडुचरित्र	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	८६	—	—
चन्दनाचरित्र	भ० शुभचन्द्र	,,	१७७	—	१८२५
चन्द्रप्रभपुराण	नरसिंहसुत हीराचन्द	हिन्दी पद्य	२१२	१६१३	—
तत्त्वसार टीका	चौधरी पन्नालाल	प्रा० हिन्दी	४०	१६३१	—
त्रिभंगीसार-टीका	पं० आशाधर	प्रा० संस्कृत	१११	—	—
नवतत्त्व-टीका	चौधरी पन्नालाल	प्रा० हिन्दी	२०	१६३४	—
पवनदूत	वादिचन्द्र	संस्कृत	११	—	—
पाण्डवपुराण	भ० प्रभाचन्द्रशिष्य वादिचन्द्र	,,	१७५	१६५४	१६६०
प्राकृतछन्दकोश	कवि अल्हू	प्राकृत	१३	—	—
वर्धमानकाव्य	—	अपभ्रंश	७१	—	—
सिद्धान्तार्थसार	पंडित रइधू	,,	६६	—	१५६३

(३) पाटोदीमंदिर जयपुरका शास्त्रभण्डार—

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचनासं०	लिपिसं०
नमस्कारमंत्रकल्पविधिसहित	भ० सिंहनन्दी	संस्कृत	४५	—	१६३५
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-टीका	—	,,	५६	—	१५८२
भावनांगोपाख्यान	जिनचन्द्रशिष्य वामदेव	,,	२८	—	—
भूपालचतुर्विंशतिका-टीका	विनयचन्द्र नरेन्द्र	,,	६	—	—
भूपालचतुर्विंशतिका-टीका	प० आशाधर	,,	—	—	—
वाग्भट्टालंकार-टीका	श्रेष्ठिपोमराजसुत वादिराज	,,	४०	१७२६	—
श्रावकाचार	पं० लक्ष्मीचन्द्र	अपभ्रंश	१५	—	—
श्रेणिकचरित्र	भ० विजयकीर्ति	हिन्दी पद्य	१२६	१८२७	—
श्रेणिकचरित्र	—	अपभ्रंश	७३	—	१६५५
सभाशृंगार	—	संस्कृत	२०	—	१६७१
सिद्धान्तसार	वीरसेनशि०गुणसेनशि०नरेन्द्रसेन	,,	१००	—	१८६६
हनुमानचरित्र	ब्र० अजित	,,	८५	—	१६४४

हाँ, विचार करते समय शास्त्रीजीने जो ढंग अख्तियार किया है उस परसे यह आशंका जरूर हो सकती है कि, हम अपने विचार-द्वारा शास्त्रीजीको सन्तुष्ट कर सकेंगे या कि नहीं? क्यों कि अभी शास्त्रीजी कई शताब्दी पूर्वके बालचन्द्र योगीन्द्रदेव और श्रुतसागरादि टीकाकारोंके विषय में कहते थे कि उन्होंने उक्त मंगलश्लोकको उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्रका जो मंगलाचरण बतलाया है वह उनकी आधुनिक कल्पना है—उन्हें उसके लिये पूर्वपरम्परा प्राप्त नहीं थी; जब उन्हें विद्वानोंके स्पष्टीकरण द्वारा विद्यानन्द तककी पूर्वपरम्परा प्राप्त होगई तब विद्यानन्द मान्यताकी पूर्वपरम्पराका प्रश्न सामने लाया गया है। यदि किसी विद्वानने विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्व परम्परा भी बतलादी तो फिर उन दूसरे उत्तरोत्तर आचार्योंकी मान्यताका प्रश्न उठाया जायगा, और इस तरह जब तक उक्त मंगलश्लोक को टीकासहित उमा० भाष्यमें नहीं दिखला दिया जायगा जिसे शास्त्रीजी "स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ भाष्य" प्रसिद्ध बतलाते हैं तब तक शायद वे सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे। परन्तु ऐसी आशंका करके कर्तव्य-पालनमें शिथिल होना व्यर्थ है—शास्त्रीजीका सन्तुष्ट होना न होना उनके आधीन है, विद्वानोंको विचारक्षेत्रमें अपने कर्तव्यको ज़रूर पूरा करना चाहिये। यही सब सोच कर मैं शास्त्रीजीकी युक्तियो के निर्देशपूर्वक उन दोनों बातों पर अपना विचार प्रस्तुत करता हूं।

(१) पूर्वपरम्परा-विचार—

पहली बात पूर्वपरम्पराके अभाव सम्बन्धमें शास्त्रीजीने जो युक्तिवाद उपस्थित किया है उसका सार इतना ही है कि—विद्यानन्दको तत्त्वार्थसूत्र पर अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके दो ही टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे एक आ० पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' और दूसरा श्रीअकलंकदेवका 'राजवार्तिक', इन दोनों टीकाग्रंथोंमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोककी कोई व्याख्या नहीं है, राजवार्तिकमें इसका निर्देश तक भी नहीं है। यदि यह मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो पूज्यपाद और अकलंकदेव इसकी व्याख्या ज़रूर करते; क्योंकि "आ० पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके किसी भी अंशको बिना व्याख्या और उत्थानके नहीं छोड़ते वे उसके एक एक शब्द का व्याख्यान करते हैं। यह उनकी व्याख्यापद्धति है।" "इसी तरह अकलंकदेव राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक अंशका या तो वार्तिक बनाकर या उन (उस ?) का सीधा ही विशद व्याख्यान करते हैं।" इसके सिवाय, सर्वार्थसिद्धि की भूमिकामें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति एक भव्यके प्रश्न पर बतलाई है, "भूमिकाके अनुसार यदि तत्त्वार्थसूत्रकी भव्यके प्रश्नके अनुसार उत्पत्ति हुई है तो सूत्रकारको मंगलाचरण करनेका कोई अवसर या प्रसंग नहीं था"। 'मूल तत्त्वार्थसूत्र की कुछ प्रतियोंमें यह श्लोक भी नहीं है।" अत: विद्यानन्द को अपनी मान्यताके लिये पूर्वपरम्परा प्राप्त नहीं थी।

इस युक्तिवादके पिछले दो अंश पूर्वपरम्पराके विचार के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखते। मूलतत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें इस मंगलश्लोकका न पाया जाना प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं डालता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि उनकी प्राचीनताका द्योतक समयका उल्लेख भी साथमें न हो और अधिकांश प्रतियोंमें यह मंगलश्लोक पाया जाता हो। रही भव्यके प्रश्न पर तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति, इसके विषयमें प्रथम तो शास्त्रीजी खुद संदिग्ध हैं इसीसे 'यदि' शब्दका साथमें प्रयोगकर रहे हैं। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र प्रश्नोत्तर के रूपमें नहीं है—प्रश्नोत्तर रूपमें होनेपर उसमें उत्तरोंके साथ प्रश्न भी रहने चाहिये थे; परन्तु प्रश्न तो दूर रहे, प्रथम तो प्रश्नोंके उत्तर भी साथमें नहीं हैं। ग्रन्थकी सूत्र प्रकृतिको देखते हुए, सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें ग्रन्थावतार का जो सम्बन्ध व्यक्त किया गया है उसका इतना ही आशय जान पड़ता है कि किसी भव्यके प्रश्नको लेकर और सभी भव्य जीवोंको लक्ष्य करके आचार्य महोदयने स्वतंत्र रूपमें इस ग्रन्थरत्नकी रचना की है—यह आशय कदापि नहीं लिया जा सकता कि उस भव्य तथा आचार्य महोदयके मध्यमें जो साक्षात् प्रश्नोत्तर हुआ था उसीके उत्तर भागको किसीने क्रमशः निबद्ध कर दिया है। तीसरे, अवतार-कथा कुछ भिन्न प्रकारसे भी पाई जाती है। और चौथे, राजवार्तिकमें श्रीअकलंकदेव 'अपरे आहुः ... । नाऽत्र शिष्याचार्यसम्बन्धोविवक्षितः। किन्तु इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह।" इत्यादि इन प्रथम सूत्रक पीठिकावाक्योंद्वारा प्रश्नोत्तररूप सम्बन्धके अभावका भी सूचन करते हैं। अतः मंगलाचरणको अनवसरप्राप्त तथा अप्रा-

संगत नहीं कहा जा सकता और न ऐसा कहकर विद्यानन्द की मान्यताके लिये पूर्वपरम्पराका अभाव ही बतलाया जा सकता है।

अब रह जाता है युक्तिवादका प्रथम प्रधान अंश, इस के सम्बन्धमें मेरा निवेदन इस प्रकार है —

प्रथम तो यह कहना ठीक नहीं कि आ० विद्यानन्दको सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे, क्योंकि ऐसा कहना तभी बन सकता है जब पहले यह सिद्ध कर दिया जाय कि विद्यानन्दसे पहले तत्त्वार्थसूत्रपर इन दो टीकाग्रन्थोंके सिवाय और किसी भी दिगम्बर टीका ग्रन्थकी रचना नहीं हुई थी। परन्तु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक शिलालेखों आदि परसे यह प्रकट है कि पूर्वमें दूसरे भी टीकाग्रन्थ रचे गये हैं, जिनमेंसे एक तो वही हो सकता है जिसका राजवार्तिकमें प्रथम सूत्रके अनन्तर 'अपरे आरातीया' इत्यादि वाक्योंके द्वारा सूचन पाया जाता है, दूसरा स्वामी समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटि आचार्यका टीकाग्रन्थ है, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०८ के निम्न वाक्यमें पाया जाता है और जिसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत्' शब्द इस बातको प्रकट करता है कि यह श्लोक उसी टीकाग्रन्थका वाक्य है और वहींसे लिया गया है—

"तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥"

यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन दूसरे टीकाग्रंथोंका विद्यानन्दको उपलब्ध होना असंभव था, क्योंकि उपलब्धिमें असंभवताका कोई कारण प्रतीत नहीं होता। सम्भावना तो यहां तक भी होती है कि गुरुको जो ग्रन्थ उपलब्ध न हो वह शिष्यको उपलब्ध हो जाय, जैसे कि प्रमाणसंग्रहादि जो ग्रन्थ पं० गोपालदासजीको उपलब्ध नहीं थे वे आज नई खोजके कारण उनके शिष्योंको उपलब्ध हो रहे हैं। और इसलिये सम्भव तो यह भी है कि जो टीकाग्रन्थ पूज्यपाद तथा अकलंकको प्राप्त न हों वह विद्यानन्दके सामने मौजूद हो। अतः अपनेको उपलब्ध इन दो टीकाग्रन्थों परसे यह कल्पना कर लेना कि विद्यानन्दको भी ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे—इनसे पुराना अथवा इनके समकालीन दूसरा कोई टीकाग्रन्थ उपलब्ध नहीं था—युक्तिसंगत नहीं है। और इसीतरह मात्र इन दो टीकाग्रंथों परसे विद्यानन्द मान्यताकी पूर्वपरंपराको खोजना भी युक्तियुक्त नहीं है। मान्यताकी पूर्वपरम्पराके लिये दूसरे टीकाग्रन्थ तत्त्वार्थटीकाओंसे भिन्न दूसरे ग्रन्थ, जिनमें आप्तपरीक्षादिकी तरह तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणका उल्लेख हो, और अपने साक्षात्गुरु, दादागुरु तथा समकालीन दूसरे वृद्ध आचार्योंसे प्राप्त हुआ परिचय ये सब भी कारण हो सकते हैं। इनके सिवाय, अपने समयसे ५००–७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई मूल तत्त्वार्थसूत्रकी ऐसी प्रामाणिक प्रतियाँ भी उस मान्यतामें कारण हो सकती हैं जिनमें उक्त मंगलश्लोक मंगलाचरणके रूपमें दिया हुआ हो। इतनी पुरानी—आ० उमास्वातिके समयतककी—प्रतियोंका मिलना उस समय कोई असंभव नहीं था। आज भी हमें अनेक ग्रन्थोंकी ऐसी प्रतियां मिल रही हैं जो अबसे ६००-७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई हैं। ऐसी हालतमें मात्र सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकको विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरंपराके निर्णयका आधार बनाना आपत्तिसे खाली नहीं है।

दूसरे, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें उक्त मंगलश्लोककी टीकाका न होना इसके लिये कोई बाधक नहीं है कि उक्त मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है और न इसके लिये कोई साधक ही है कि विद्यानन्दकी मान्यताको पूर्वपरम्पराका समर्थन प्राप्त नहीं था, क्योंकि टीकाकारोंके लिये यह लाजिमी नहीं है कि वे मंगलश्लोककी भी व्याख्या करें खासकर ऐसी हालतमें उसके लिये व्याख्या करना और भी अनावश्यक होजाता है जबकि उन्होंने मूलके मंगलाचरणको अपनाकर उसे अपनी टीकाका मंगलाचरण बना लिया हो। सर्वार्थसिद्धि ऐसा ही टीकाग्रंथ है जिसमें मूलके मंगलाचरणको अपना लिया गया है और राजवार्तिक ऐसी ही सूत्रवार्तिकरूप टीकाप्रकृतिको लिये हुए है जो मंगलाचरणकी व्याख्याको अनावश्यक कर देती है। इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण एवं पुष्टीकरण मैंने अपने प्रथमलेखमें कर दिया है और रहा सहा इस लेखमें 'आक्षेप परिहार समीक्षा' उपशीर्षकके नीचेकर दिया गया है अतः यहां पर उसको फिरसे दोहरानेकी जरूरत मालूम नहीं होती।

जाते हैं। इनका वरदहाथ साधुस्वभाव और नूतनसाहित्यप्रेम ये तीनों ही बातें ग्रन्थोंके निर्माणकार्यमें विशेष सहायक हुई हैं। जान पड़ता है उस समय साहू खेमराज, और इनके भाई होल्ू एवं कुटुम्बीजन बड़े ही धर्मात्मा और परोपकारी सज्जन थे। ये अग्रवाल जातिके प्रसिद्ध वणिक् थे, दि० जैनधर्मके अनुयायी थे, विद्वानोंका आदर-सत्कार करना और उनकी आवश्यकताओंकी यथेष्ट पूर्ति करना अपना परम कर्तव्य समझते थे। ग्रन्थकर्ताने स्वयं पार्श्वपुराणके निम्न पद्योंमें इनका कुछ परिचय दिया है जो इस प्रकार है:—

सिरि-डूँगरसीह णरिंद-रज्जि,
वणिवरु णिवसइ पुणु बहुदुमज्जि।
दुक्खिय-जण-पोसणु गुणणिहाणु,
जो अयरवालकुल-कमल-भाणु।
मिच्छत्तवसण-वासण-विरत्तु,
जिणसत्थ-णिग्गंहँ पाय-भत्तु।
सिरिसाहु पहूणु जि पहसियासु,
तुहु णंदणु णिरुवमगुणणिवासु।
सिरि-खेमसीहु णामेण साहु,
जिणधम्मोवरि जें बद्धगाहु।
जिणचरणोदएण वि जो पवित्तु,
आयम-रस-रत्तउ जासु चित्तु।
सम्मत्तरयणलंकिय सरीरु,
कणयायलुव्व णिक्कंपु धीरु।

इन पद्योंमें बतलाया गया है कि साहू खेमसिंह का निवास गोपाचलके तोमरवंशी राजा डूंगरसिंहके राज्यमें था। ये दुखीजनोंके पोषक, गुणनिधान, अग्रवाल कुलकमलदिवाकर, मिथ्यात्व और व्यसनादिकसे विरक्त, जिनशास्त्र और निर्ग्रंथ गुरुओंके परमभक्त, साहू पहणु अथवा पजणके पुत्र थे अनुपम गुणोंके धारक थे, जिन धर्मके उपासक, जिनागमके रसिक तथा सम्यक्त्वरूपी रत्नसे अलंकृत थे। और सुमेरुपर्वतके समान निष्कंप,धीर तथा धन-कण-कञ्चन से समृद्ध थे। साथ ही चारप्रकारके दान द्वारा संघके संपोषक, देह और आत्माके अन्तरको जानने वाले अन्तरात्मा, निर्मल मति, सिद्धान्तरूपी रसायन के रसिक और मुनियोंके भक्त जैसे विशेषणोंके द्वारा इनका खुला यशोगान किया गया है* इस सबका कारण इनकी धर्मनिष्ठता, उदारता आदि सद्गुण हैं।

पंडित रइधू काष्ठासंघके माथुरान्वय और पुष्कर-गणके भट्टारक यशःकीर्तिके शिष्य तथा भ० गुण कीर्तिके प्रशिष्य थे। इन भट्टारकोंकी गद्दी गोपाचल (ग्वालियर) में था। कविवर महाचन्द्रने अपने शान्तिनाथ चरित्रमें जिसका रचनाकाल वि० सं० १५८७ है, पुष्पदन्तादि महाकवियोंके साथ पंडित रइधूका भी स्मरण किया है+।

कविवर रइधूका ग्रन्थरचनाकाल यद्यपि उनकी खुदकी कुछ ग्रन्थप्रशस्तियोंमें जो अभी तक देखनेमें आई हैं, उपलब्ध नहीं होता। संभव है कि अन्य किन्हीं ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें वह मिल जाय। परन्तु इनकी समस्त रचनाएँ ग्वालियरके तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंहके राज्यकालमें हुई जान पड़ती हैं। इनके पार्श्वपुराणनामक ग्रन्थकी एक प्रति वि० सं० १५४६ के चैत्रशुक्ला एकादशी शुक्रवारके दिन पुनर्वसुनक्षत्रमें हिसारके महावीर चैत्यालय में, सुलतानशाह सिकंदरके राज्यकालमें लिखी गई है और वह रचनासे कुछ वर्ष बादकी ही प्रतिलिपि जान पड़ती है×।

---

* यः सिद्धान्तरसायनेकरसिको भक्तो मुनीनां सदा,
दानेनैव चतुर्विधेन विधिना संघस्य संपोषकः।
जानात्येव विशुद्धनिर्मलमतिर्देहात्मनोरंतरं,
सो श्री नंदतु नंदनैः सममहो खेमाख्यसाधुःक्षितौ ॥१॥
—पार्श्वपुराण संधि १

+देखो, 'अपभ्रंशभाषाका शान्तिनाथचरित्र' नामका मेरा लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७ पृ० २५३।

×अथ संवत्सरे ऽस्मिन् नृपश्रीविक्रमादित्यराज्ये १५४६ वर्षे चैत्र सुदि ११ शुक्रवारे पुनर्वसुनक्षत्रे शुभनामजोगे श्री हिसार पेरोजा कोटे १ श्री महावीर चैत्यालये सुलितान सा (शा) हि (ह) सिकंदरराज्यप्रवर्तमाने। श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्कर गणे ॥"
—पार्श्वपुराणलेखक प्रशस्ति

राजा डूंगरसिंहके राज्यकालके ३ मूर्तिलेख मेरे देखने में आए हैं, जिनमें से एक सं० १४९७ का और दो सं० १५१० के हैं। संवत् १४९७ के मूर्ति लेख*से इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि भगवान आदिनाथ की उस मूर्तिकी प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाचार्य पंडित रइधूने कराई है इसीसे उन्हें प्रतिष्ठाचार्यरूपसे उल्लेखित किया गया है। अन्वेषण करने पर ग्वालियरमें ऐसी कितनी ही मूर्तियां सलेख उपलब्ध होसकती हैं जिनकी प्रतिष्ठा पं० रइधूने कराई होगी। साथ ही, अन्य दो मूर्ति लेखोंसे+ यह भी जाना जाता है कि राजा डूंगरसिंह के राज्यकालमें जैनमूर्तियोंकी प्रतिष्ठाएँ हुई थीं। और ग्रंथरचनाएँ भी की गई हैं। राजा डूंगरसिंहका राज्यकाल सं० १४९७ से कितने वर्ष पूर्व और सं० १५१० के कितने समय बाद तक रहा, यह निश्चित रूप से नहीं जा सकता, फिर भी सं० १५२१ से कुछ समय पूर्व तक उसकी सीमा ज़रूर है; क्योंकि आरा जैन-सिद्धान्त भवनकी 'ज्ञानार्णव' की लेखक प्रशस्तिके, जो सं० १५२१ में लिखी गई है निम्न वाक्योंसे सं० १५२१ में राजा डूंगरसिंहकेपुत्र कीर्तिसिंहका राज्य करना पाया जाता है;

"संवत् १५२१ वर्षे असाढ सुदि ६ सोमवासरे श्रीगोपाचलदुर्गे तोमरवंशे राजाधिराजश्रीकीर्तिसिंहराज्ये प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भ० श्रीगुणकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीयशःकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीमलयकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रदेवा-स्तदाम्नाये गर्गगोत्रे ··· ।"

ज्ञानार्णवकी लेखक प्रशस्तिके सिवाय अन्य कोई साधन राजा कीर्तिसिंहके राज्यकालका मेरे देखनेमें नहीं आया। इसलिये राजाकीर्तिसिंहके राज्यकालकी कोई निश्चित सीमा नहीं बतलाई जा सकती। यहां सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि सं० १५१० के बाद किसी समय राज्यसत्ता कीर्तिसिंहके हाथमें आई है। सं० १५२१ के बाद कितने समय तक उन्होंने राज्य किया यह अभी अनिश्चित है। हां, सं० १५५२ के एक मूर्ति लेखसे इतना जरूर पता चलता है कि उस समय ग्वालियरके राजा मल्लिसिंह थे। मालूम नहीं ये मल्लिसिंह किस वंश परम्पराके थे और इन का कीर्तिसिंहसे क्या सम्बन्ध था? संभव है कीर्तिसिंह के बाद राज्यके यही उत्तराधिकारी रहे हों। परन्तु इससे कीर्तिसिंहके राज्यकी उत्तरावधिका पता चल जाता है *।

पंडित रइधूने 'सम्यक्त्वकौमुदी' की रचना राजा कीर्तिसिंहके राज्यकालमें की है, और उन्हें अपने पिता

*"श्री आदिनाथाय नमः॥ संवत् १४९७ वर्षे वैशाख ··· ७ शुक्रे पुनर्वसुनक्षत्रे श्री गोपाचलदुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डूंग.. [डूंगरसिंह राज्ये] संवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणभट्टारक श्रीगुणकीर्तिदेवास्तत्पट्टे यशःकीर्तिदेव [वा] प्रतिष्ठाचार्य श्री पंडित रधू · [रइधू] तस्य आम्नाये अग्रोतवंशे गोयलगोत्रे साधुरात्मा तस्यपुत्रः भोपा तस्य भार्या नाही पुत्र प्रथम साधुक्षेमसी द्वितीय साधु महाराजा तृतीय असराज चतुर्थ धनपाल पंचमसाधु पाल्हः। साधु क्षेमसी भार्यानोरादेवी ··· ··· ज्ये[ज्ये]ष्ठ स्त्री सरसुती पुत्र मल्लिदास द्वितीय भार्या साध्वी पुत्र चन्द्रपाल। क्षेमसी पुत्र द्वितीय साधु श्री भोजराजा भार्या देवस्य पुत्र पूर्णपाल एतेषां मध्ये श्री ······ त्यादि जिनसंघाधिपति काला सदा प्रणमति" ॥

Indo Aryans Vol. II P. 382

(जैन लेखसंग्रह भाग २ पृ० ९२, ९३)

+दोनो मूर्तिलेखोंमेंसे यहां पर एक का ही कुछ अंश उद्धृत किया जाता है।

× 'सिद्धि संवत् १५१० वर्षे माघसुदि ८ अष्टम्या श्री गोपगिरौ महाराजाधिराज राजा श्री डंगर [डूंग] रेन्द्रदेवराज्य प्र· ····[वर्तमाने] श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक श्री क्षेमकीर्ति देवास्तत्पट्टे श्री हेमकीर्ति-देवास्तत्पट्टे श्री विमल-कीर्तिदेवा·· ·····तस्य आम्नाये अग्रोतवंशे गर्ग गोत्रे ·· ।"

Indo Aryans Vol II. P. 383-84

(जैनलेखसंग्रह भाग २ पृ० ९३)

*श्रीमद्गोपाचलगढदुर्गे महाराजाधिराज श्री मल्लसिंहदेव-राज्ये प्रवर्तमाने संवत् १५५२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ९ सोमवासरे········। प्राचीनलेखसंग्रह भाग २ पृ० ९४

डूंगरसिंहके समान ही राज्यभारको धारण करनेमें समर्थ बतलाया है। साथ ही उन्हें निर्मलकीर्तिसे युक्त कलिचक्रवर्ती भी प्रकट किया है। जैसाकि सम्यक्त्व-कौमुदीके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

> ' तोमर-कुल-कमल-वियास-मित्त।
> दुव्वार - वैरि - संगर - अजित्तु।
> डूंगरणिवरज्जधरासमत्थु।
> वंदियजण समधियभूरिअत्थु।
> चउराय-विज्ज-पालण-अणंदु।
> णिस्मल-जस-वल्ली-भवण-कंदु।
> कलिचक्किवट्टि पायडणिहाणु।
> सिरि कित्तिसिंघु महिवइ पहाणु॥"

ऊपरके इस समस्त विवेचनपरसे पंडितरइधूका ग्रन्थ रचनाकाल स्पष्टतया वि० सं० १४९७ से लेकर सं० १५२१ तक मालूम होता है। अर्थात यह वि० की १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें १६ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं।

कविवर रइधूने अपभ्रंश भाषामें बहुतसे ग्रन्थों का निर्माण किया है। अब तक इनके बनाए हुए २३ ग्रन्थोंका पता चला है। ये सब ग्रन्थ देहली, बम्बई और नागौरके शास्त्रभण्डारोंमें पाए जाते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं— १ आदिपुराण (महापुराण) २ यशोधरचरित्र ३ वृत्तसार ४ जीवंधरचरित्र ५ पार्श्वनाथपुराण ६ हरिवंशपुराण ७ दशलक्षणजयमाला ८ सुकौशलचरित्र ९ रामपुराण १० षोडशकारण जयमाला ११ महावीरचरित्र १२ करकंडुचरित्र १३ अणथमीकथा १४ सिद्धचक्रचरित्र १५ जिणंधरचरित्र १६ उपदेशरत्नमाला १७ आत्मसंबोधन १८ पुण्याश्रवकथा १९ श्रीपालचरित्र २० सम्मत्तगुणनिधान २१ सम्यग्गुणारोहण २२ सम्यक्त्वकौमुदी २३ सिद्धान्तार्थसार।

ग्रन्थोंकी इस नाम सूचीपरसे इतना स्पष्ट जाना जाता है कि कविवरने पुराण एवं चरित्र ग्रन्थोंके अतिरिक्त, सिद्धान्त, अध्यात्म और छंदशास्त्रादि विषय के ग्रन्थोंकी भी रचनाकी है।

ग्रंथोंकी इस नामसूचीपरसे इतना तो स्पष्ट जाना जाता है कि कविवरने पुराण एवं चरित्र ग्रंथोंके अतिरिक्त सिद्धान्त, अध्यात्म और छंदशास्त्रविषयके ग्रंथोंकी भी रचना की है।

शास्त्रभण्डारोंमें अन्वेषण करनेपर इनकी और भी कृतियोंका पता चल सकता है। आशा है विद्वद्गण इस विषयमें अन्वेषण करनेका प्रयत्न करेंगे। और उसकी सूचना वीरसेवामन्दिरको भेजनेका कष्ट उठायेंगे क्योंकि वीरसेवामन्दिरमें साहित्य तथा इतिहास-विषय की सभी सामग्रीका संग्रह किया जा रहा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

वेदना-गीत

(ले० पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ)

नाथ ! सब कुछ खोगया, फिर भी न तुझको दया आती !

सत्यव्रतका पुण्य फल मुझको मिलेगा यह न मानूँ !
ये समस्यायें चिरन्तन कब खुलेंगी यह न जानूँ !
प्राण-खाऊ यातनाएँ खा चुकी हैं प्राण मेरे !
प्रार्थना फिर भी न भगवन् ! क्यों यहां अवधान पाती ?
कल्पनाकी सौधमाला हो खडी गिरती अनुक्षण !
इस अशक्त मनस्थलीमें पर कहां तेरा निरीक्षण !
चेतना सब खोगई निर्जीव बन्धन यह पडा है !
यह ! तपस्याकी विफलता हा ! मुझे निशदिन रुलाती !!
व्यर्थ ही अधिकारकी—बातें बनाकर क्या करूँ अब ?
खो गया रमणीय गौरव इन विधानोंमे यहां जब।

मर चुकीं सारी समुत्थित–भावनाएँ नाथ ! मेरी,
यह विकट तेरी उपेक्षा हा ! मुझे प्रतिपल सताती !!
कब कहाँ अवसान होगा, इस निराशाकी निशाका ?
दिव्य - दर्शन और कब होगा प्रभो तेरी दिशाका ?
सब विकल हैं योजनाएँ आज मेरी क्या कहूं मैं !
दुःख जर्जर हृदयकी आहें न हा ! तुमको जगातीं !!
नाथ ! निष्ठामें बिताई ज़िन्दगी सारी मनोहर !
निराशंसित सान्त्वना तेरी न पाई आज तक पर !
क्या विदा ले लूँ यहाँसे थक चुका हूं बोल तो कुछ ?
दुःखकी ज्वाला न मेरी आज तो हियमें समाती !!

महाधवल अथवा महाबन्ध पर प्रकाश

(ले०—पं० सुमेरचन्द्र जैन दिवाकर बी० ए०, शास्त्री न्यायतीर्थ)

[इस लेखमें जिस ग्रन्थराजका सामान्य परिचय दिया गया है वह अतिप्राचीन जैनसिद्धान्त-शास्त्र है, जो बहुत अर्सेसे मूडबिद्रीकी एक कालकोठरीमें बन्द था, जनता उसके दर्शनोंको तरसती थी और उसका परिचय पानेके लिए उत्सुक थी। वर्षोंसे उसके उद्धारका प्रयत्न चल रहा था परंतु समाजके दुर्भाग्यवश सफलता नहीं मिल रही थी। हालमें भाग्यने पलटा खाया, सत्प्रयत्नद्वारा अधिकारी वर्गका हृदय परिवर्तित हुआ और अन्तको मूडबिद्रीके भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी पंडिताचार्य, श्री डी० मंजैय्या हेगड़े बी० ए० एम० एल० सी० धर्मस्थल, श्री रघुचन्द्रजी बल्लाल मगलौर आदि पंचोंकी कृपासे दिवाकरजी को ग्रन्थ-प्रतिलिपिकी अनुज्ञा प्राप्त होगई और उन्होंने एक वर्षमें ही पूरी नकल कराकर अपने पास मँगाली। उसीके फलस्वरूप यह लेख दिवाकरजीने मेरे अनुरोधपर प्रस्तुत किया है, जिसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि लेख मुझे कानपुर परिषद्-अधिवेशनमें ता० २५ अप्रेलको दिया गया था परन्तु उसी दिन रेलवे स्टेशनसे मेरा बोक्स गुम हो जानेके कारण प्रस्तुत लेख दूसरे कितने ही बहुमूल्य साहित्यके साथ नष्ट हो गया था। लेखकमहोदयने फिरसे परिश्रम करके इसे जल्दीमें तय्यार किया है, ऐसा वे सूचित कर रहे हैं। साथ ही, यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलग्रन्थके सामने न होने आदिसे लेखके सम्पादनमें अपनी यथेष्ट प्रवृत्ति नहीं होसकी है। कई स्थानोंपर कुछ उलझनें पैदा हुई, जिन्हें लेखककी जिम्मेदारीपर ही छोड़ दिया गया है। मूल ग्रन्थ अनुवाद-सहित शीघ्र प्रकाशित होनेके योग्य है—कागजकी वर्तमान समस्या, जिसकी ओर लेखकजीने संकेत किया है, उसमें बाधक न होनी चाहिए। सिद्धान्त-ग्रन्थोंके उद्धार-कार्यका कितना ही फण्ड अवशिष्ट सुना जाता है, उसे काममें लाना चाहिये। —सम्पादक]

धवल, जयधवल तथा महाधवल नामक सिद्धान्त ग्रन्थोंका नाम सपूर्ण दिगम्बर जैनसमाजमें अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक लिया जाता है। वैसे तो संपूर्ण जैनवाग्गंगा भगवान वर्धमानरूप हिमाचलसे अवतरित होनेके कारण पूजनीय है, वंदनीय है, किन्तु उपरोक्त सिद्धान्तत्रयका भगवानसे विशेष सन्निकट सम्बन्ध है, इससे उनके प्रति अधिक आदरका भाव होना स्वाभाविक है।

सामान्यतया यह समझा जाता था कि महाधवलके सदृश ही जयधवल तथा धवल शास्त्र प्राचीन हैं किन्तु अब इन ग्रन्थोंके परिशीलनसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि महाधवलको छोड़कर धवल तथा जयधवल मूल ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु ये टीकाओंके नाम हैं। महाधवल शास्त्र मात्र मूल सूत्ररूप में है। जीवस्थान, क्षुल्लकबंध, बंधस्वामित्व, वेदना, वर्गणा तथा महाबन्ध इन छह विषयों का वर्णन करने वाला आगमसाहित्य षट्खंडागमके नामसे ख्यात है। इन छह खंडोंमेंसे महाबन्धको छोड़कर शेष पांच खंडोंपर जिस टीकाकी रचना वीरसेन आचार्यने की वह 'धवला' टीका कही जाती है। षट्खंडागमके छठे खंडको जो महाबन्ध है, जैनसंसारमें 'महाधवल' कहते हैं। किन्तु जहां तक ग्रन्थ परम्पराका सम्बन्ध है वहां तक 'महाबन्ध' का 'महाधवल' नाम दृष्टिगोचर नहीं होता है।

'महाधवल' शब्दका प्रचार अधिकसे अधिक सं० १६३७ तकके लेखमें पाया जाता है। कारंजाके प्रख्यात शास्त्रभंडार में 'प्रतिक्रमण' नामकी एक पोथी है उसमें निम्नलिखित उल्लेख पाया जाता है—

धवलो हि महाधवलो जयधवलो विजयधवलश्च।
ग्रंथा श्रीमद्भिरभी प्रोक्ताः कविधातरस्तस्मात ॥१३॥

इसमें धवल, जयधवल तथा महाधवलके साथ साथ विजयधवलका भी उल्लेख किया है। यह विजयधवल ग्रन्थ कौन है? इस बातका अनुसंधान होना जरूरी है।

आगे चौदहवें श्लोकमें इस प्रकार लिखा है—

तत्पट्टे धरसेन कस्समभव सिद्धान्तगः सेंशुभः ?
तत्पट्टे खलु वीरसेनमुनियो येश्चित्रकूटे परे ।
येलाचार्यसमीपगं वृततरं सिद्धान्तमलपरय ये ।
वाटे चैत्यवरे द्विसप्ततिमति सिद्धाचलं चाक्रिरे ॥१४॥

इसके साथमें यह भी लिखा है "संवत् १६३७ आश्विनमासे कृष्णपक्षे अमावस्या तिथौ शनिवासरे शिवदासेन लिखितम्"

इस महाधवल नामका प्रयोग पं० टोडरमलजीने गोमट्टसार कर्मकांडकी बड़ी टीका पृ० ३१४ में भी किया है।

यथा—तहां गुणस्थान विषै पक्षान्तर जो महाधवलका दूसरा नाम कषायप्राभृत(?)ताका कर्ता जो यतिवृषभाचार्य ताके अनुसार ताकरि अनुक्रमतें कहिए हैं।"

जान पड़ता है सिद्धान्तशास्त्रोंका साक्षात् दर्शन न होने के कारण पं० टोडरमलजीने कषायप्राभृतको महाधवल लिख दिया है। वास्तवमें कषायप्राभृत पर लिखी गई टीका को जयधवला कहते हैं।

महाबन्धमें अनुभागबन्धके अंतमें महाबन्धका उल्लेख आया है यथा—

"सकलधरित्री विनुत प्रकटित यशीशे मल्लिकब्बे वेरिसि सत्पुण्याकर महाबंधद पुस्तक श्रीमाघनंदिमुनिपति गिचल"

महाबन्धके रचयिता भूतबलि आचार्य हैं, इस बातका निश्चय धवला टीकामें आए हुए निम्न उल्लेखसे हो जाता है, जिसमें बतलाया है कि इस बातका खुलासा वर्णन भूतबलि भट्टारकने महाबन्धमें किया है :—

"जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं । पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि । एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं ।"

—धवला अ० पृ० १२५६

महाबन्ध-शास्त्रका महाधवल नाम क्यों प्रचारमें आया यह भी बात चिंतनीय है। हमे तो यह प्रतीत होता है कि धवला और जयधवला टीका द्वारा जिस प्रकार मूल सूत्रकारके भावको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता हुई, वैसी आवश्यता महाबंधके बारेमें नहीं हुई; क्योंकि वह स्वयं भूतबलि भट्टारकने अत्यन्त खुलासारूपसे रचा है। अतः विषयकी स्पष्टताकी दृष्टिसे धवला, जयधवलाके मुकाबलेमें महाबंधको महाधवल कहाजाना आरंभ हुआ होगा। एक बात यह भी होगी कि जब परंपरा-शिष्य वीरसेनस्वामी जिनसेनस्वामीकी रचना अपने अपने विषयोंका विशेष प्रकाश डालनेके कारण धवल तथा जयधवल कही गई, तब उनके भी अत्यन्त पूज्य मूल-सूत्रकर्ता भूतबलि स्वामीकी कृतिको महाधवल कहनेमें वास्तविकताके निरूपणके साथ साथ भक्तिका भी भाव रहा होगा।

महाबंध और धवला टीका ये धरसेनाचार्यकी परंपरा की चीजें हैं; कारण धरसेनस्वामीने व्याख्या-प्रज्ञप्ति तथा दृष्टिवाद अंगके अंशरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभृतको अपने शिष्यों पुष्पदंत-भूतबलिको पढ़ाया जिसको पढ़कर उन मुनियुगलने षट्खंडागम शास्त्रकी रचना की। जयधवला की परंपरा षट्खंडागमसे जुदी है। गुणधर आचार्यने कषायप्राभृतका उपदेश आर्यमंक्षु तथा नागहस्तिको दिया, उनसे अध्ययन करके यतिवृषभाचार्यने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की। इन चूर्णिसूत्रोंपर वीरसेनाचार्य तथा जिनसेनाचार्यरचित टीकाको 'जयधवला' कहते हैं।

षट्खंडागमके पांच भागोंकी श्लोकसंख्या छह हजार है। इनमें आरंभके १७७ सूत्रोंकी रचना तो पुष्पदन्त आचार्यने की; बादमें संभवतः उनका स्वर्गवास हो गया, इससे शेष सूत्रोंकी रचना भूतबलि स्वामीने की तथा संपूर्ण महाबंध भी भूतबलिस्वामीकृत हैं। आचार्य इंद्रनंदि महाबंधकी श्लोक संख्या त्रिंशतसहस्र बताते हैं, किन्तु ब्रह्म हेमचंद्र अपने श्रुतस्कंधमें इसका प्रमाण ४० हजार श्लोक लिखते हैं। यथा—

सत्तरिसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो
महबंधो चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे ।

इस भिन्न २ श्लोकसंख्याकी प्रतिपादनाका कारण यह प्रतीत होता है कि, इंद्रनंदि आचार्यने महाबंधके विद्यमान अक्षरोंकी गणना करके संख्या निर्धारित की। ब्रह्म हेमचंद्र ने सांकेतिक अक्षरोंको पूर्ण मानकर गणना की, अतः गणनामें भेद हो गया। बात यह है कि महाबंधमें सांकेतिक संक्षिप्त भाषाका बहुत अधिक उपयोग हुआ है; जैसे ओरालियसरीरको 'ओरा०' मात्र लिखा है 'वेगुव्वियसरीर' को 'वेगु०' मात्र लिखा है। इंद्रनंदिने ओरा० को दो अक्षर

गिना होगा, किन्तु ब्रह्म हेमचंद्रने उसे ७ अक्षररूपसे गिना होगा यही कारण है कि ग्रंथके प्रमाणका उल्लेख करनेमे मतभेद होगया. वास्तवमें वह दृष्टिकोणका ही भेद है। इस ग्रंथमें हजारों बार कर्मप्रकृतियोंके नामोंका पुनः पुनः प्रयोग हुआ है इसलिए ग्रंथकारने संक्षिप्त सांकेतिक शैली में लिखनेका मार्ग अंगीकार किया, ऐसा प्रतीत होता है।

इस तरह महाबधके चालीसहजार श्लोक गिनने पर भूतबलि स्वामीकी संपूर्ण कृति ६७७ सूत्रोंसे न्यून ४६ हजार श्लोक प्रमाण माननी होगी।

महाबंधमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबंधका वर्णन किया गया है। अतः 'महाबध' यह नामकरण अन्वर्थ है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबधका यथाक्रम वर्णन किया है। इसीसे मालूम होता है कि उमास्वामी आचार्यने भी तत्वार्थसूत्रमें 'प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः' (अध्याय८सूत्र३) यह पाठक्रम अंगीकार किया है।

महाबंधके रचयिता— इस ग्रन्थराजके रचयिता भूतबलि स्वामीका कुछ भी इतिहास महाबंधमे उपलब्ध नहीं होता है। अन्य साधनोंसे ज्ञात होता है कि भगवान महावीर स्वामीके निर्वाणके अनन्तर ६२ वर्षके भीतर गौतमस्वामी, सुधर्माचार्य तथा जंबूस्वामी ये तीन केवली परिपाटी-क्रमसे (Successevely) हुए। सामान्यतः लोगोंकी यह धारणा है, कि जंबूस्वामी अंतिम केवली हुए हैं, किन्तु यह कहना अनुबद्ध केवलीकी अपेक्षासे ठीक कहा जा सकता है। केवली सामान्यकी अपेक्षासे कहा जाय तो श्रीधर केवलीको अंतिम केवली मानना होगा। तिलोयपण्णत्तिके चौथे अध्यायमें लिखा है कि अंतिम केवली श्रीधर हुए यथा—

जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परम-णाणी।
जादे तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥
तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा१४७७
कुंडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो
चारणरिसीसु चरिमो सुपासचंदाभिधाणो य॥१४७६॥

उपरोक्त तीन अनुबद्ध केवलियोंके पश्चात विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन तथा भद्रबाहु ये पाँच अनुबद्ध श्रुतकेवली १०० वर्षमें हुए। पश्चात विशाखाचार्य, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव तथा धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य परिपाटी क्रमसे ११ अंग १० पूर्वके पाठी हुए। ये शेष चार पूर्वोंके एक देशके भी ज्ञाता हुए। इसमें १८३ वर्ष बीत गए। बादमें नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन तथा कंसाचार्य ये पांच आचार्य परिपाटी क्रमसे ११ अंग तथा १४ पूर्वोंके एकदेशके ज्ञाता हुए। इसमें १२३ वर्ष और व्यतीत हुए। बादमें सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु तथा लोहार्य हुए, इनमे ९७ वर्ष बीते। बादमे नन्दिसंघीय प्राकृत-पट्टावलीके अनुसार इयंगधारी' — एकांगके धारक अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि इनका समय क्रमशः २८+२१+१९+३०+२०=११८ वर्ष प्रमाण रहा। इस प्रकार वीरनिर्वाणके ६८३ वर्ष बाद भूतबलि स्वामीका उल्लेख प्राप्त होता है (६२+१००+१८३+१२३+९७+११८=६८३)। इस पट्टावलीमें दो वर्षकी भूलका उल्लेख प्रो० हीरालालजीने अपनी धवला प्रथमखण्डकी भूमिकाके पृ० २७ पर किया है, किन्तु इन्दौरमें प० खूबचन्दजी शास्त्रीके पास जो पट्टावलीकी प्रति है, उससे भूल दूर होजाती है।

'छह अट्टारह वासे तेवीस वावण्ण वास मुणिणाहं'(४०)
दस णव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥१॥

यहां कोष्टकमें जब (४०) देकर सख्याका खुलासा किया गया है तब वावणके स्थान पर वण्ण' पाठ होना चाहिए। इस तरह दो वर्षकी भूलका भ्रम दूर होजाता है। इस पट्टावलीके अनुसार भूतबलि आचार्यका समय विक्रम संवत (६८३–४७०=२१३) एवं ईसवी (६८३–५२७=१०६) आता है।

धवला टीकामें जो षट्खंडागमके आरंभके बारेमें कथा दी है, उससे ज्ञात होता है कि धरसेन आचार्यके पास दो मुनिराज श्रुतरक्षणके लिए भेजे गए, उनमें ग्रहणशक्ति तथा धारणाशक्तिकी विशेषता थी। वे मुनियुगल भूतबलि और पुष्पदंतके नामसे ख्यात हुए। महाबधके अध्ययनसे यह बात भली प्रकार समझमें आ जाती है कि भूतबलि स्वामीकी धारणा तथा ग्रहण-शक्ति कितनी असाधारण

कोटिकी रही होगी ?

भूतबलि स्वामी 'अत्यन्त विनयवान' 'शीलरूपमाला' से विभूषित थे। वे 'देश, कुल, जातिसे विशुद्ध' थे। वे संपूर्ण कलाओंमे भी निष्णात थे। वे मंत्रशास्त्रके भी आचार्य थे, क्योंकि धरसेन आचार्यने उनको साधनार्थ जो मंत्र दिया था, वह अशुद्ध था और उसकी शुद्धिकरके उनने मंत्रकी साधना की थी। मंत्रके अधिष्ठाता देवताने प्रसन्नहोकर जब अपनी सेवाएँ अर्पित की, तो इनने किसी प्रकारकी भी इच्छा नहीं प्रगट की, इससे इनकी उज्वल निस्पृह मनोवृत्ति स्पष्ट होती है। ये अपने गुणोंके कारण देवताओंकेद्वारा वंदित थे। जब धरसेन आचार्यने इनको महाकर्मप्रकृति प्राभृतके उपदेशका कार्य असाढ सुदी ११ को पूर्ण किया, तब देवताओंने भी इस सफलतापर हर्ष व्यक्त किया था; तथा भूतजातिके देवोंने इनकी पुष्पोंसे पूजा की तथा शंख तूर्य आदि वाद्योंसे सत्कार किया। इसे देखकर धरसेन स्वामीने उनका अन्वर्थ नाम भूतबलि रक्खा। इस गुरुदत्त नामके पूर्वमें इनका क्या नाम था, यह जाननेके अभी तक साधन उपलब्ध नही हुए।

ये महान् गुरुभक्त थे तथा गुरुदेवके अनुशासनका पूर्णतया पालन करते थे। इसका एक प्रमाण यह है कि ग्रंथसमाप्ति होनेपर आचार्य धरसेन स्वामीने उसी दिन अथवा इंद्रनंदिकृत श्रुतावतारकी अपेक्षा दूसरे ही दिन वहांसे रवाना होनेका आदेश दिया और इस आज्ञाका उनने पालन किया। वैसे जिन गुरुदेवके पादपद्मोंके समीप भूतबलि तथा पुष्पदन्त स्वामीको अनुपम आगमरूप अमृत पान का सौभाग्य मिला था; कमसे कम उन गुरुदेवके पास वर्षाकाल बिताने की उनकी इच्छा का होना स्वाभाविक था किन्तु गुरुकी आज्ञा अनुल्लंघनीय समझ उनने विनीत तथा अनुशासनप्रिय शिष्यवृत्तिका पूर्ण परिचय दिया।

षट् खंडागमके १७७ सूत्रोंकी ही रचना पुष्पदन्त स्वामीने की। बादमे शेष रचना केवल भूतबलि स्वामीने की। इस प्रसंगमे यह दैव दुर्विपाकको सोचकर हृदयमे सताप होता है कि जिनशासनकी विशेष रक्षार्थ निमित्त शास्त्रके महानज्ञाता धरसेन आचार्यने भूतबलि तथा पुष्पदन्तको अपने अधिगत विशिष्ट शास्त्रमें पारंगत किया किन्तु क्रूरकालने पुष्पदंत स्वामीको १७७ सूत्रोंसे अधिक रचना करनेका अवसर ही नही दिया। यही बड़ा सौभाग्य रहा कि पुण्यचरित्र भूतबलि स्वामीने काफी विस्तृत तथा महत्वपूर्ण रचना करके अनुपम जिनवाणीकी रक्षा की, जिसे पढ़कर हृदय श्रद्धासे उनकी परोक्ष वंदना करता है। दुःख है कि ऐसी पूजनीय विभूतियोंके बारेमे व्यक्तिगत जीवनको अधिक प्रकाशमें लानेवाली सामग्रीका अभाव है; संतोष इस बातका है कि जिस जिनवाणीके पवित्र रससे उनका हृदय लबालब भरा हुआ था, वह षट्खंडागम और विशेषतया महाबंधके रूपमे हमारे सामने विद्यमान है।

महाबंधकी भाषा शुद्ध प्राकृत है और इसमे धवला, जयधवलाके समान 'क्वचित् प्राकृतभारत्या क्वचित्संस्कृत-मिश्रया' की शैली नही अंगीकार की गई है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सपूर्ण ग्रन्थमे बंधके भेद चतुष्टय पर ओघ तथा आदेश--सामान्य तथा विशेषकी अपेक्षासे विवेचन किया गया है। संपूर्ण ग्रंथका पर्यालोचन करनेपर ज्ञात होगा, कि ग्रंथमे कहीं भी कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं पाया जाता है।

कही २ आचार्य महाराजने भिन्न परंपराका संकेत अवश्य किया है। कालानुगमसे प्रदेशबंधका वर्णन करते हुए ताडपत्र २१३ मे लिखा है—

अवट्ठिदबंधकालो जह० एग०, उक्क० पवाइज्जंतेण उवदेसेण एक्कारससमयं, अण्णेण पुण उवदेसेण पण्णारससमय।"—अवस्थित बंधका काल जघन्यसे एक समय है। उत्कृष्टसे पूर्वाचार्यके उपदेशकी अपेक्षा ११ समय है, तथा अन्य उपदेशकी अपेक्षा १५ समय प्रमाण है।" इसप्रकार यहां उत्कृष्टबधकालमे एक मत ११ समयका और दूसरा १५समयका बताया है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भिन्न२ परंपराओंको 'उपदेश' शब्दकेद्वारा बताया गया है, जिससे मौलिक उपदेश-परंपरापर प्रकाश पडता है।

संपूर्ण ग्रंथमे २१६ ताडपत्र हैं। इनमे १से लेकर २७ ताडपत्र पर्यन्त सत्कर्मपंजिका है, जो महाबंधको छोड शेष षट्खडागमके पाच विषयस्थलोंपर प्रकाश डालती है। महाबंधका प्रारंभ जिस ताडपत्र नं० २८ से होता था दुर्भाग्यसे वह गायब है, अतः ग्रन्थका आरंभ किस शैली से आचार्य महाराजने किया, यह नही कहा जा सकता है। एक ताडपत्रमें करीब २०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थका लोप

होगया होगा। संपूर्ण ग्रंथमें १४ ताडपत्र पूर्णतया नष्ट हो गये तथा कहीं-कहीं और अंश भी नष्ट हो गया। इसप्रकार बहुत सा महत्वपूर्ण अंश नष्ट होजानेसे अनेक स्थलों पर पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छिन्न होनेके साथ साथ रस भंग हो जाता है, लेकिन किया क्या जाय? शास्त्रोंकी रक्षाके विषय में हमारी लापरवाहीका ही यह रुब परिणाम है।

प्रकृतिबंध ताडपत्र ५० तक पाया जाता है। स्थितिबंध ११३ पत्र पर्यन्त है। अनुभागबंध १७० पत्र पर्यन्त है तथा प्रदेशबंध २१६ पृष्ठ पर्यन्त है। संपूर्ण ग्रंथमें २१६ ताडपत्र हैं, जिनमेंसे पंजिकाके २७ तथा विनष्ट १४ पत्रोंको घटानेपर शेष ग्रंथ १७८ ताडपत्र-प्रमाण रहता है।

मूल ताडपत्रीय प्रति कानडी लिपिमें हैं, उसकी देवनागरी लिपिमें भी एक प्रति मूडबिद्रीके सिद्धान्तमंदिरमें विद्यमान है। हमने मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रतिके अनुसार देवनागरी प्रतिका ३ विद्वानोंके द्वारा संतुलनका कार्य कराया और फिर शुद्ध प्रतिसे नकल कराई और पश्चात् फिर मूल प्रतिसे मिलान कराया; इस प्रकार हमारे पास जो मूलग्रंथ की नकल आई, वह मातृप्रतिके पूर्णतया अनुरूप है, इस बातपर अविश्वास करनेकी कोई बात नहीं है।

हां, तो ग्रन्थका प्रथम ताडपत्र नष्ट होगया, तब इसका आरम्भ कैसे किया गया, यह बात जाननेके साधनोंका एक प्रकारसे अभाव है। इससे सामान्यतया यह ख्याल होता था कि, ग्रन्थका मंगलाचरण भी नष्ट होगया होगा; किन्तु यह प्रसन्नताकी बात है कि भूतबलि स्वामीने महाबन्ध का कोई स्वतन्त्र मंगलाचरण नहीं बनाया. किन्तु उनने वेदनाखंडके प्रारम्भमें जो मंगलरचना की वही वर्गणा तथा महाबन्धका मंगल समझना चाहिए, ऐसा वीरसेनस्वामीने अपनी धवलाटीकामें बताया है। यह भी विशेष बात है कि वह मंगलाचरण स्वयं भूतबलि स्वामीके द्वारा रचित नहीं है, उनने गौतमस्वामीके द्वारा रचित 'महाकम्मपयडिपाहुड' के आदिमें रचित मंगलसूत्रोंको उठाकर वेदनाखंड के प्रारम्भमें स्थापित किया है। अतः वेदनाखण्डकी अपेक्षा वह मंगल अनिबद्ध कहा गया है। वीरसेनस्वामी कहते हैं—

"महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिआदिचउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेदणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो।......"

इसके आगे टीकाकार वीरसेनाचार्य लिखते हैं कि— वेदना, वर्गणा तथा महाबन्ध इन तीन खंडोंमें वह किस खंडका मंगल है? तीनों खंडोंका मंगल है। यह कैसे जाना जाय? क्योंकि वर्गणा तथा महाबन्धके आदिमें मंगल नहीं रचा गया है। मंगलके विना भूतबलि भट्टारक ग्रन्थका प्रारम्भ नहीं करते, अन्यथा उनको अनाचार्यत्व दोष का प्रसंग आता है। यथा—

"उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खंडाणं। कुदो? वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तप्पसंगादो।" (धवला हस्तलिखित सिवनी प्रति पृ० ७३४,७५५,७५६)

इससे कमसे कम इस बातकी प्रसन्नता है कि महाबंध का मंगलाचरण बननेके योग्य सामग्री वेदनाखंडके आदि में निबद्ध है और वह भी गौतमस्वामी-रचित मंगलाचरण इस प्रकार किया गया है:—

णमो जिणाणं ॥१॥ णमो ओहिजिणाणं ॥२॥ णमो परमोहिजिणाणं ॥३॥ णमो सव्वोहिजिणाणं ॥४॥ णमो अणंतोहिजिणाणं ॥५॥ णमो कोट्ठबुद्धीणं ॥६॥ णमो बीजबुद्धीणं ॥७॥ णमो पदाणुसारीणं ॥८॥ णमो संभिण्णसोदराणं ॥९॥ णमो उजुमदीणं ॥१०॥ णमो विउलमदीण ॥११॥ णमो दसपुव्वियाणं ॥१२॥ णमो चोद्दसपुव्वियाणं ॥१३॥ णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाण ॥१४॥ णमो विउव्वणपत्ताणं ॥१५॥ णमो विज्जाहराणं ॥१६॥ णमो चारणाणं ॥१७॥ णमो पण्हसमणाणं ॥१८॥ णमो आगासगामीणं ॥१९॥ णमो आसीविसाणं ॥२०॥ णमो दिट्ठिविसाणं ॥२१॥ णमो उग्गतवाणं ॥२२॥ णमो दित्ततवाणं ॥२३॥ णमो तत्ततवाणं ॥२४॥ णमो महातवाणं ॥२५॥ णमो घोरतवाणं ॥२६॥ णमो घोरपरक्कमाणं ॥२७॥ णमो घोरगुणाणं ॥२८॥ णमोऽघोरबम्हचारीणं ॥२९॥ णमो आमोसहिपत्ताणं ॥३०॥ णमो खेलोसहिपत्ताणं ॥३१॥ णमो जल्लोसहिपत्ताणं ॥३२॥ णमो विट्ठोसहिपत्ताणं ॥३३॥ णमो सव्वोसहिपत्ताणं ॥३४॥ णमो मणबलीणं ॥३५॥

णमो वचिबलीणं ॥३६॥ णमो कायबलीणं ॥३७॥ णमो खीरसवीणं ॥३८॥ णमो सप्पिसवीणं ॥३६॥ णमो महुसवीणं ॥४०॥ णमो अमइसवीणं ॥४१॥ णमो अक्खीणमहाणसाणं ॥४२॥ णमो सव्वसिद्धायदणाणं ॥४३॥ णमो वड्ढमाणबुद्धिरिसिस्स ॥४४॥

उपरोक्त मंगलाचरणमे गौतमस्वामीरचित ४४ सूत्र हैं हैं। कारण, 'णमोजिणाणं' इस प्रथम मंगलसूत्रकी टीकाके अन्तमें तथा दूसरे सूत्रकी प्रारम्भिक भूमिकामें वीरसेन स्वामी लिखते हैं—

"एवं दव्वट्ठियजणाणुग्गहणट्ठं णमोक्कारं गोदमभडारओ महाकम्मपयडीपाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठियणयाणुग्गहणट्ठमुत्तरसुत्ताणि भणदि।

इससे यह विदित होता है कि 'महाकम्मपयडीपाहुड'के प्रारंभमें गौतम स्वामीने द्रव्य र्थिक नयाश्रित अर्थात् सामान्य दृष्टिवाले जीवोंके अनुग्रह निमित्त सामान्य रूपसे जिनोंको नमस्कार करके तदनन्तर 'जिणाणं' की विशेषता बतानेके लिये पर्यायार्थिक दृष्टि वालोंके अनुग्रहार्थ शेषसूत्रोंकी रचना की है। और इसपरसे यह परिणाम स्वतः निकल आता है कि ये मंगलसूत्र गौतमस्वामीके रचे हुए हैं, जिन्हें भूदबलि आचार्यने वेदनाखण्डकी आदिमे अपनाया है और इन्हें ही महाबन्धका भी मंगलाचरण समझना चाहिए।

ग्रंथका अंतःपरीक्षण—

ग्रंथका प्रथम पृष्ठ तो अनुपलब्ध है ही, उसके अनन्तर उपलब्ध महाधवलकी प्रथमपंक्ति इस प्रकार है—'अयणं-संवच्छर-पलिदोवम-सागरावमादयो भवंति"। इसके अनंतर १६ गाथाओंमें अवधिज्ञान सम्बन्धी कांडकोका वर्णन आया है। प्रथम गाथा इस प्रकार है—

अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्जदो वि संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो आवलियं अंगुलपुधत्तं॥

गोम्मटसार-जीवकाण्डमें यह गाथा नं०४०३पर उद्धृत की गई है। इसी प्रकार अन्य गाथाएँ भी जीवकाण्डमें पाई जाती हैं। इन सोलह गाथाओंके सिवाय संपूर्ण ग्रंथमें पद्यरूप एक भी पंक्ति नहीं है। इन गाथाओंमें की अंतिम गाथा इस प्रकार है—

परमोधिमसंखेज्जा लोगामेत्ताणि समयकालो दु।
रूवगद लभदि दव्वं खेत्तोवममगणिजीवेहिं॥

गाथाके अनन्तर लिखा है—

"एवं ओधिणाणावरणीयस्स कम्मस्स परूवणा कदा भवदि।"

बादमें मनःपर्ययज्ञानावरणकी प्ररूपणा करते हुए कहा गया है—

"उजुमदिणाणं···मणेण माणसं पडिविदइत्ता परेसिं सण्णादी मदिचिंतादि विजाणादि।"

इसी भावको आत्मसात करके अकलंकदेव इन शब्दोंमे व्यक्त करते हैं—"आगमे ह्युक्तं मनसा मनः परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति इति मनसाऽऽत्मनेत्यर्थः।"
(राजवार्तिक पृ० ५८)

"जीविदमरणं लाभालाभं सुहदुक्खं णगरविणासं देसविणासं जणपदविणासं अदिवुट्ठि अणावुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमं भयरोगं उब्भमं इब्भमं संभमं वत्तमणाणं जीवाणं, णोवत्तमणाणं जीवाणं जाणदि। (महाबंध)"

"तमात्मना आत्मावबुध्यात्मनः परेषां च चिन्ता जीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीन् विजानाति। व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति, नाव्यक्तमनसाम्।"
(राजवार्तिक पृ० ५८)

इससे ध्वनित होता है कि अकलंकदेवपर भी भूतबलि स्वामीका प्रभाव रहा है और वे महाबंधको 'आगम' शब्दसे उल्लेखित करके ग्रंथकी पूज्यता तथा मान्यताको व्यक्त कर रहे हैं।

ग्रन्थमें मनःपर्ययज्ञानावरणका वर्णन करनेके अनन्तर केवल ज्ञानावरणकी प्ररूपणा करते हुए कहा गया है—

"जं तं केवलणाणावरणीयं कम्मं तं एयविधम्। तस्स परूवणा कादव्वा भवदि। सयं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमणुसस्स लोगस्स अगदि गदि चयणोपवादं बंधं मोक्खं, इड्ढि जुदि अणुभागं तक्कं कलं (?) मणो माणुसिक भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोगे सव्वजीवाणं सव्वभावे सम्मं सम्मं जाणदि।

एवं केवलणाणावरणीयस्स कम्मस्स परूवणा कदा भवदि।"

इसी प्रकार दर्शनावरण आदि प्रकृतियोंकी समुत्कीर्तना की गई है। सर्वबंध नोसर्वबंध का ओघ तथा आदेश

की अपेक्षा दो प्रकारसे निर्देश किया गया है--

"ओघेणाणंतराइगस्स पंच पगदीओ किं सव्वबंधो णो सव्वबंधो ? सव्वबंधो। सव्वाओ पगदीओ बंधमाणस्स सव्वबंधो। तदूण बधमाणस्स णोसव्वबंधो।"

इसके अनन्तर लिखा है--"यो सो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य।"

इसी प्रकार आगे लिखा है--

जो सो सादियबंधो अणादियबंधो ४। तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य।

इस पर जो वर्णन किया गया है उसको गोम्मटसार कर्मकांडकी गाथा नं० १२४ में इस प्रकारसे व्यक्त किया है--

'घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ। सत्तेतालधुवाणं चदुधा सेसाण य दुधा।

महाबधका वर्णन देखिये--"ओघेण पंचणाणावरण णवदंसणावरण मिच्छत्त सोलसकसाय भय दुगुंछा तेजाकम्मइय वण्ण० ४ अगुरु० उप० निमिण० पंचतराइयाणं किं सादि० ४ ? सादियबंधो वा० ४।"

"सादासादं सत्तणोकसाय चदु आयु० चदुगदि पंचजादि तिण्णि सरीर छस्संठाण तिण्णि अंगोवंग छस्संघडण चत्तारि आणुपुव्वि परघादुस्सास आदावुज्जोवं दो विहायगदि तसादि दसयुगलं तित्थयर णीचुच्चागोदाणं किं सादि० ४ ? सादिय अद्धुवबंधो।"

बंधसामित्तविचयमें बंध अबंध बंधव्युच्छित्तिका वर्णन किया गया है। यथा--

"पचणाणावरणीय चदुदंसणावरणीय जसगित्ति उच्चागोद-पंचअंतराइगाणं को बंधगो अबंधगो ? मिच्छादिट्ठिप्पहुडि याव सुहुमसांपराय सुद्धि संजदा तिबधा। सुहुमसांपराइय सुद्धि संजदद्धाए चरिम समयं गंतूण बंधो वोच्छिज्जदि। एदे बंधा, अवसेसा अबंधा।"

गोमट्टसार कर्मकाण्डकी गाथा १०१ के उत्तरार्धमें इस विषयको निम्न प्रकार संक्षिप्त किया गया है--

पढमं विग्घं दंसण चउ जस उच्चं च सुहुमंते।"

इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंके बंधादिके बारेमें जानना चाहिये। आगे तीर्थंकरप्रकृतिके बंधके कारणों पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है--"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलवदेसु णिरदि-चारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए यथाथामे तथा तवे समणाणं समाधिसंधारणदाए समणाणं समाधिसंधारणदाए समणाणं विजावच्चजोगयुत्तदाए समणाणं पासुगपरिच्चागदाए अरहंतभत्तीए बहुस्सुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छल्लदाए पवयणपभावणदाए, अभिक्खणं णाणोवयोगयुत्तदाए एदेहि सोलसेहि कारणेहि कारणेहि जीवोहित्थयर णामागोदं कम्मबंधदि। जस्स इणं कम्मस्स उदयेण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिजा पूजणिजा वंदणिजा, णमंसणिजा धम्मतित्थयरा केवलिणो भवंति।"

यहाँ तीर्थंकर प्रकृतिकी कारणभूत सोलह कारण भावनाओंकी गणना की गई है जो इस प्रकार हैं--दर्शनविशुद्धता, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेषु निरतिचारता, आवश्यकेषु अपरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसंपन्नता, यथाशक्तितप, साधुसमाधिसंधारणता, वैयावृत्ययोगयुक्तता, साधुप्रासुक परित्यागता, अर्हद्भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचन प्रभावनता, अभीक्ष्णज्ञानो पयोगयुक्तता। इन सोलह कारणोंसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है*।

---

*यहां यह विशेष बात ध्यान देनेकी है कि धवलाटीकामें जो षोडश कारणोंके नाम गिनाए हैं. उनके क्रममें तनिक अन्तर है। यहां नं० ८ पर साधुसमाधिसंधारणता है, तो धवलामें साधु प्रासुक परिभागताका पाठ है। नं० ९ पर वैयावृत्य योग युक्तताके स्थानमें 'साधुसमाधिसंधारणता' का पाठ है। नं० १० में साधु प्रासुगपरिच्चागताके स्थानमें वैयावृत्य योगयुक्तताका पाठ है। शेष पाठ समान हैं केवल साधु प्रासुकपरिचागताके स्थानमें धवलामें साधु प्रासुकपरित्यागता लिखा है। तत्वार्थसूत्रमें संवेग, साधुसमाधि, शक्तितस्त्याग, मार्गप्रभावनाका पाठ है उनके स्थानमें यहां क्रमशः लब्धिसंवेगसंपन्नता, साधुसमाधिसंधारणता, प्रासुकपरिचागता, प्रवचनप्रभावनताका पाठ है। आचार्यभक्तिका महाधवलमें पाठ नहीं आया है, किन्तु उसके स्थानमें एक नवीन भावना और है, जिसका नाम है 'क्षणलवप्रतिबोधनता'। इसका अर्थ यह है--'क्षणलव' कालके द्योतक हैं। उस विशेष कालमें सम्यग्दर्शन ज्ञान व्रत-शील-गुणोंका उज्वल करना, कलंकका प्रक्षालन करना

इस 'बंधसामित्तविचय' प्रकरणमें आदेशकी अपेक्षा चौदहमार्गणाओंमें बंधव्युच्छित्ति आदिका वर्णन है, किन्तु आगे ताडपत्र नं० २८ गायब होजानेसे यह प्रकरण अधूरा रह गया। साथ ही अगले 'कालभंगविचय' का भी पूर्वांश-नष्ट हो गया है।

कालभंगविचयकी प्रतिपादनाका नमूना इस प्रकार है:-

"तित्थयरं पढमाए जहरणेण चदुरासीदिवस्ससहस्साणि; उक्क० सागरो० देसू० विदियाए जह० सागरोवम० सादिरेयाणि, उक्क० तिरिण सागरो० देसू० तदियाए जह० तिरिण सागरो० सादिरेयाणि, उक्क० तिरिण सागरो० सादिरेयाणि" .... ।

इसमें प्रेसकापीके २० पेज लगे हैं। अंतरानुगममें २४ पेज लगे हैं। उसका वर्णन इस प्रकार है—

"अंतराणुगमे दुविहो णिद्देसो, ओघेण आदेसेण य।" "तत्थ ओघेण पंचणाणावरण-छदंसणावरण-सादासाद-चदुसंजलणपुरिसवेद-हस्सरदि-अरदि-सोग-भयदुगुंछा-पंचिंदिय-तेजाकम्मइय-समचदुरससंठाण-वरण० ४ - अगुरु० ४ - पसत्थविहायगदि तस० ४ - थिरादि दोरिण युगल-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-णिमिण-तित्थयर-पंचंतराइगाणं बंधंतरं केवचिरं कालादो होदि? जहरणेण एग समओ। उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं; णवरि णिद्दा पचला जहरणुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं।"

आगे 'संणियासं'-संनिकर्ष प्रकरणके स्वस्थान तथा परस्थानसे दो भेद हैं। इसमें ३८ पेज लगे हैं। 'सत्थाणसरिणयासे पगदं दुविधो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य। तत्थ ओघेण आभिणिबोधियणाणावरणीयं बंधतो चदुरहं णाणावरणीयाणं णियमा बंधगो। एवमेक्कमेक्कस्स बंधगो।"

परस्थान-संनिकर्षका वर्णन इस प्रकार किया गया है—तत्थ ओघेण आभिणिबोधियणाणावरणं बंधंतो चदुदंसणा० पंचंत णियमा बंधगो। पंचदंस० मिच्छत्त सोलसक ०भयदुगं चदुआयु आहारदु० तेजाक० वरण० ४ अगु० ४ आदाउज्जो० णिमिणं तित्थयरं सिया बंधगो, सिया अबंधगो। सादं सिया बं०, सिया अबं०, असादं सिया बं०, सिया अबं०, दोरणं पगदीणं एकदरं बंधगो। ण चेव अबं०। ..."

आगे भागाभागानुगमका वर्णन ५०पृष्ठोंमें इस प्रकार है—यहाँ असंज्ञी मार्गणाकी अपेक्षा कहते हैं कि—"असरणी धुविगाणं बंधगा सव्वजी० केव०? अणंता भागा; अबंधगा णत्थि। सेसाणं णादीणं तिरिक्खोघं सरिणमण-जोगिभंगो।"

आगे १० पेजोंमें परिमाणानुगम है जो इस प्रकार है— ... "सादबंधगाबंधगा केव०? अणंता। असाद-बंधगाबंधगा केव०? अणंता दोरणं वेदणीयाणं बंधगा अबंधगा अणंता। एवं सत्तोणक० पंचजादि छस्संठाणं छ संघ० दोविहाय० तसथावरादिदसयुगलं दोगोदं च।"

आगे ५ पेजोंमें क्षेत्रानुगमका वर्णन है यथा—

"सादासाद-बंधगा अबंधगा केवडि खेत्ते? सव्वलोगे। दोरणं वेदणीयाणं बंधगा केवडि खेत्ते? सव्वलोगे। अबंधगा केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभागे। एवं सेसाणं पत्तेगेण वेदणीयभंगो।"

स्पर्शानुगममें ४० पृष्ठ हैं। यथा—तत्थ ओघेण पंचणा० छदंसणा० अट्ठक० भयदु० तेजाक० वरण० ४ अगु० उप० णिमि० पंचंतराइगाणं बंधगेहि केवडिय खेत्तं फोसिदं? सव्वलोगो। अबंधगा लोगस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जा वा भागा वा सव्वलोगो वा।"

आगे कालानुगम के वर्णनमें १२ पृष्ठ लगे हैं। उस का नमूना इस प्रकार है—

"तत्थ ओघेण पंचणा० णवदंस० मिच्छत्त० सोलसक० भयदु० तेजाक० आहारदुगं वरण० ४ अगु० ४ आदाउज्जो० णिमिणतित्थर पंचंतराइगाणं बंधगा अबंधगा केवचिरं कालादो होंति? सव्वद्धा। सादासादाणं बंधा बंधाग०

अथवा व्रतादिकी प्रदीप्ति करना—वृद्धि करना प्रतिबोध है, उसका भाव प्रतिबोधनता है। क्षणलवोंकी प्रतिबोधनताको क्षणलवप्रतिबोधनता कहते हैं।

धवलाटीकामें बताया है, कि एक भावनासे भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है, किन्तु उस एक भावनामें अन्य पन्द्रह भावनाएँ समाविष्ट रहती हैं। पन्द्रह भावनाओंको छोड़कर एक भावना सांगोपांग जीवित नहीं रह सकती। इन भावनाओंके विषयमें धवलाटीकामें जो सुन्दरतया अपूर्व प्रकाश डाला है वह स्वतन्त्र लेखका विषय है।

सव्वद्धा। दोरणं बंधा बंधगा केवचिरं कालादो होंति? सव्वद्धा। एवं सेसाणं पगदीणं वेदणीयभंगो।"

अंतरानुगमका ६ पृष्ठोंमे वर्णन है:—"आदेसेण णेरइगेसु दो आयुब्बंधगा जहण्णेण एगसमओ; उक्कस्सेण चउव्वीसं मुहुत्तं, अड्डदालीसमुहुत्तं, पक्खं, मासं, बेमासं, चत्तारिमासं, छम्मासं, बारसमासं। एवं सव्वणेरइगाणं। सेसपगदीणं णत्थि अंतरं।"

भावानुगमका वर्णन १७ पृष्ठोंमें है। यथा—

'थीणगिद्धितिग बारस कसा० बंधगा त्ति को भावो? अबंधगा त्ति को भावो? उवसमिगो वा खइगो वा खयोवसमिगो वा।"

आगे १०३ पेजोंमे अल्पबहुत्वका वर्णन है। उसमे स्वस्थान-जीव-अल्पबहुत्व, परस्थान-जीव-अल्पबहुत्व, स्वस्थान-अद्धा-अल्पबहुत्व परस्थान-अद्धा-अल्पबहुत्वका प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया गया है। नमूना इस प्रकार है—

"सव्वत्थोवा सादासादाणं दोण्णं पगदीणं अबंधगा जीवा। सादबंधगा जीवा अणंतगुणा। असादबधगा जीवा सखेज्जगुणा। दोण्णं बंधगा जीवा विसेसाहिया।"

"सव्वत्थोवा मणुसायुबंधगा जीवा। णिरयायुबंधगा जीवा असंखेज्जगुणा। देवायुबंधगा जीवा असंखेज्जगुणा। तिरिक्खायु- बंधगा जीवा अणंतगुणा। चदुण्णं आयुगाणं बंधगा जीवा विसेसाहिया। अबंधगा जीवा संखेज्जगुणा।"

इस प्रकृतिबंधके वर्णन करनेवाले अंशकी अंतिम पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"सुक्क ले० आणदभंगो। सम्मादिट्ठी० खइग० वेदग० उवसम० ओधिणाणिभंगो। णवरि उवसम० आयुगाणं णत्थि अप्पाबहुगं। आहाराणुवादेण आहारमूलोघं। अणाहारा कम्मइ का०जोगिभंगो। एवं परत्थाण अद्धा अप्पाबहुगं समत्तं। एवं पगदिबंधो समत्तो।"

प्रशस्ति—प्रकृतिबंधके अंतमे कोई प्रशस्ति नहीं है। स्थितिबंध, अनुभागबंध तथा प्रदेशबंधके अंतमें जो प्रशस्तियाँ हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रथका नाम महाबंध है। ग्रंथकर्ताका नाम इसमे नहीं दिया गया है। सेनराजाकी धर्मपत्नी महिलारत्न मल्लिकब्बा देवीने अपने पंचमीव्रतके उद्यापनमे यह ग्रंथ नकल करवाकर माघनंदि यतीन्द्र को भेंट किया था। मल्लिकब्बा देवीको 'वनितारत्न,' 'रूपवती', 'शीलनिधान', 'जिनेन्द्रचरणभ्रमर' तथा 'अनुपम गुणोंका भडार' कहा गया है।

माघनंदि मुनिपति सिद्धान्तशास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे। वे सिद्धान्त-सिंधुकी वृद्धि करनेको चंद्रमाके समान थे; गुप्तित्रय भूषित थे, शल्यरहित थे एवं कामादिजेता थे। उनके करकमलोंमे महाबधकी प्रति समर्पित की गई थी।

आचार्य माघनंदिके सिवाय गुणभद्रसूरिका उल्लेख आता है। वे उज्वलचरित्र थे और कामरूपी मत्तगजके कुंभस्थलको विदीर्ण करनेमें उत्सुकमृगेन्द्र तुल्य थे। मेघचंद्र व्रतिपतिका भी वर्णन है।

आचार्य माघनंदि, मेघचंद्र तथा गुणभद्रसूरि कब हुए, इनका क्या सम्बन्ध था आदि बातोंपर प्रशस्तिमे कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

मल्लिकब्बा देवीके पति राजा 'सेन' को विनयवान, शीलवान, गुणोंका निधान, सहज तथा उन्नतबुद्धिशाली कहा गया है। इनके विषयमें और ऐतिहासिक सामग्री प्रथकी इस दानप्रशस्तिमे नहीं प्राप्त हो सकी

प्रशस्तिके पाठसे यह बात हृदयमें आनन्द उत्पन्न करती है कि, जिनवाणी माताके अमूल्य ग्रन्थरत्नका उद्धार कर रक्षा करनेका पुण्यमय अनुपम सौभाग्य महिलारत्न जैन राजमाता मल्लिकब्बा देवीको प्राप्त हुआ।

इससे यह ज्ञात होता है कि पुरातनकालमे बड़े २ नरेश, महारानी आदिका झुकाव शास्त्रोंके उद्धारकी ओर कितना अधिक था। लोगोंका ज्ञानकी उच्च आराधना की ओर झुकाव था, इसी कारण सरस्वती माताकी जगतमे खूब प्रतिष्ठा थी। आज श्रुत-सेवाकी ओर हमारा उचित लक्ष्य न होनेका यह परिणाम है कि, उच्च ज्ञानके क्षेत्रमे हमारा पहलेके समान उन्नत स्थान नहीं है।

आज जो महाबंधकी रक्षा हुई उसका श्रेय ललनारत्न मल्लिकब्बा देवीकी सामयिक तथा अपूर्व वदान्यताको है।

ग्रंथराजकी प्रतिलिपि करनेका कार्य उग्रादित्य नामक महानुभावने किया था। मूडबिद्रीमे जो ताडपत्रकी प्रति विद्यमान है, वह एक हजार वर्षके करीब प्राचीन है।

अब प्रशस्तिके पद्योंको देखिए जो संस्कृत तथा कनड दोनोंमे है:—

(ताडपत्र ११३ पर स्थितिबंधकी यह प्रशस्ति है)

" यो दुर्जयस्मरमदोत्कटकुंभिकुंभ-
संचोदनोत्सुकतरोग्रमृगाधिराजः ।
शल्यत्रयादपगतस्त्रयगौरवारिः
संजातवान् स भुवने गुणभद्रसूरिः ॥ १ ॥
दुर्वार–मार–मद–सिंधुर–सिंधुरारिः
शल्यत्रयाधिकरिपुत्रयगुप्तियुक्तः ।
सिद्धान्तवार्धिपरिवर्धन–शीतरश्मिः,
श्रीमाघनंदिमुनिपोऽजनि भूतलेस्मिन् ॥२॥

स्रग्धरावृत्त—कन्नड़

"वर-सम्यक्त्वद देशसंयमद सम्यग्बोधदत्यंतभा-
सुरहाग्रिक सौख्यहेतु वेनिसिर्दोदान दौदार्य दे-
कतरदिं गोतने जन्मभूमि येनुतं सानंददिंक्कतुं म्-
भरमेल्लं पोगलुत्तमि पुंदभिमानाधीननं सेननम् ।३।
सुजनते सत्यम्मोलपु गुणोन्नति पेंयु जैनमा-
र्गज गुणमेवं सद्गुणमिवत्यधिकं तत्र गोप्पनृत्नच—।
भंजनिवनेंदु किर्त्ते सुमतीधरे मेदिनि गोप्पि तोळ्वेचि
त्तजलमरूपनं नेगलद-सेननं नुद्धगुणप्रधाननम् ॥ ४ ॥
अनुपम-गुण-गणदनिर्मल शीलनिदाने रसेव जिनपदसरको-
कनद-शिलीमुखि येनेमां ननदिं मल्लिकव्वें ललनारत्नम५
श्रा वनिता रत्नदर्प, पावन पोगललरिदु जिनपूजेय ना-
ना-विधद दानदमलिन- भाव दोळा मल्लिकव्वेयं पोल्वदार।
श्रीपंचमियं नोंतुद्यापनमं माडि वरेसि राद्धान्तमना ।
रूपवती 'सेनवधू' जितकोपं श्रीमाघनंदियतिपति गित्तल।६।"

अनुभागबंधके अंतकी प्रशस्ति (ताडपत्र १६८)

स्रग्धरावृत्तम्

जितचेतो जातनुर्वीश्वरमुकुटतटोद्घृष्टपादारविन्द-
द्वितयं वाक्कामिनी-पीवरकुचकलशालंकृतोदारहार-
प्रतिमं दुर्द्धौरसंसृत्यतुल-विपिन-दावानलं माघनंदि-
व्रतिनाथं शारदाभ्रोज्वल-विशदयशो राजिता शांतकान्तम्।१।

कंदपद्य

भाव-भव-विजयि-वरवाग्देविमुखनृन्नरत्नदर्पण-कान-
नावनिपालक नेनिमद-निलात्रिः तर्कितं माघनंदियतीन्द्रम्।२।

महास्रग्धरावृत्तम्

वरराद्धांतांभोनिधिचतरलनरंगोत्करक्षालितांत-
करणं श्री मेघचंद्रव्रतिपति पदपंकेरुहासक्तष-
ट्चरणं तीव्रप्रतापोद्धृत-विततबलोपेतपुष्पेषुभृत्सं-
हरणं सैद्धान्तिकाग्रेसर नेने नेगल्दं माघनंदिव्रतीन्द्रम्।३।

कंदपद्य

महनीयगुणनिधानं, सहजोन्नतबुद्धिविनयनिधिएने नेगल्दं ।
महि विनुतकिर्त्ते कित्तित-महिमानं मानिनाभिमानं सेनम्।४
विनपद शील दोळ गुणदोळादिय पेंपिनपुञ्जि मनो-
जनरति रूपि नोल्व निरिसिर्दे मनोहरमप्पुदोंदु-
रूपि नमने दानदांगरमेनिप्प वधूत्तमे यप्प संदसे-
नन सति मल्लिकव्वेगे धरित्रियो लादोरे सद्गुणंगलिं ।५।
सकलधरित्रीविनुतप्रकटितयशोशे मल्लिकव्वे वेरिसिसप्पु-
ण्याकर महाबंधद पुस्तक श्रीमाघनन्दिमुनिपति गित्तल ।

प्रदेशबंधके अंतकी प्रशस्ति—

श्रीमलधारिमुनीन्द्रपदामलसरसीरुहभृंगनमलजिनकिर्त्ते ।
प्रेमसुनिजनकैरव सोमनेनल्कापुनन्वियतिपतिनेसेदं ॥ १ ॥
जितपंचेपु प्रतापानलममलतरोत्कृष्टचारित्ररारा-
जिततेजं भारतिभासुरकुचकलशालीदभाभारनृत्ना ।
यतमार्गोदारहारं समदमनियमालंकृतं माघनंदि -
व्रतिनाथं शारदाभ्रोज्वल विशदयशोवल्लरीचक्रवालं ॥ २ ॥
जिनवक्त्रांभोजविनिर्गतहितनुतराद्धान्तकिंजल्कसुस्वादन ।
... ... जयदनत भूपेन्द्रकोटीरसेना ।
निनिकायआजितांघ्रिद्वयनखिलजगद्भव्यनीलोत्पलांगा
दनताराधीशने केवकमं भुवनदोल माघनंदियतीन्द्रम् । ३ ।
वरराद्धान्तामृतांभोनिधितरलनरंगोत्कटक्षालितांत-
करण श्रीमेघचंद्रव्रतिपतिपदपंकेरुहासक्तषपं
. .. .स ।
चरण सैद्धान्तिकाग्रे सरनेने नगेलद माघनंदिव्रतीन्द्रं ॥४॥
श्रीपंचमियं नोंतुद्यापनेयं माडि वरेसि राद्धान्तमना ।
रूपवती सेनवधू जितकोप श्रीमाघनंदिव्रतिपति गित्तल ॥

महाबंधकी विषयसूची

प्रकृतिबंध—इसमें निम्न विषयोंका वर्णन किया गया है—

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तना (२) सर्वबंध (३) नोसर्वबंध (४) उत्कृष्टबंध (५) अनुत्कृष्टबंध (६) जघन्यबंध (७) अ-जघन्यबंध (८) सादिबंध (९) अनादिबंध (१०) ध्रुवबंध (११) अध्रुवबंध (१२) बंधसामित्तविचय (१३) बंधकाल (१४) बंध-अंतर (१५) बंध-सन्निकर्ष (१६) भंगविचय

(१७) भागाभाग (१८) परिमाण (१९) क्षेत्र (२०) स्पर्शन (२१) काल (२२) अंतर (२३) भाव (२४) अल्पबहुत्व।

स्थितिबंध—इस बन्धकी (क) मूल तथा (ख) उत्तर-प्ररूपणाओंका सार इस प्रकार है—

(क) मूलप्रकृतिस्थितिबंध

(१) स्थितिबंधस्थानप्ररूपणा
(२) निषेकप्ररूपणा
(३) आबाधाकांडकप्ररूपणा
(४) अल्पबहुत्वप्ररूपणा

भुजगारबंध

इस अर्थपदसे निम्नलिखित २४ अनियोगद्वार होते हैं—

(१) अर्द्धच्छेद (२) सर्वबंध (३) नोसर्वबंध (४) उत्कृष्टबंध (५) अनुत्कृष्टबंध (६) जघन्य (७) अजघन्य (८) सादि (९) अनादि (१०) ध्रुव (११) अध्रुव (१२) बंधसामित्तवि० (१३) काल (१४) अंतर (१५) सन्निकर्ष (१६) भंगविचय (१७) भागाभाग (१८) परिभाग (१९) क्षेत्र (२०) स्पर्शन (२१) काल (२२) अंतर (२३) भाव (२४) अल्पबहुत्व ।

भुजगारबंध

यहां बंधस्वामित्व समुत्कीर्तनसे लेकर अल्पबहुत्वपर्यन्त तेरह अनुयोगद्वार होते हैं।

पदनिक्षेपबंध

इसमें ये तीन अनुयोगद्वार होते हैं—

(१) समुत्कीर्तन (२) स्वामित्व (३) अल्पबहुत्व ।

वृद्धिबंध

यहां वृद्धिबंधमें समुत्कीर्तन स्वामित्वसे लेकर अल्पबहुत्वपर्यन्त तेरह अनुयोगद्वार होते हैं ।

(ख) उत्तरप्रकृति-स्थितिबंध

वृद्धिबंध

इस उत्तरप्रकृति-स्थितिबंधमें चार अनुयोगद्वार होते हैं—

(१) स्थितिबंधस्थानप्ररूपणा
(२) निषेकप्ररूपणा
(३) आबाधाकांडकप्ररूपणा
(४) अल्पबहुत्वप्ररूपणा

इस अर्थपदसे अर्द्धच्छेद, सर्वबंध, नोसर्वबंध आदि अल्पबहुत्वपर्यन्त २४ अनुयोगद्वार होते हैं ।

भुजगार बंध

यहाँ मूलप्रकृति-स्थितिबंधके समान समुत्कीर्तनसे अल्पबहुत्वपर्यन्त तेरह अनुयोगद्वार जानना चाहिए।

पदनिक्षेपबंध

इसमें तीन अनुयोगद्वार होते हैं। समुत्कीर्तन, स्वामित्व तथा अल्पबहुत्व ।

वृद्धिबंध

इसमें समुत्कीर्तनसे लेकर अल्पबहुत्व पर्यन्त तेरह अनुयोगद्वार कहे गये हैं।

विशेष—यहां ताडपत्र नं० १०९, ११२ नष्ट होगए हैं। अतः बहुत अंश छूटा हुआ है।

अध्यवसानसमुदाहार

इसमे तीन अनुयोगद्वार हैं—

(१) प्रकृति-समुदाहार
(२) स्थिति-समुदाहार
(३) जीव-समुदाहार

अनुभागबंध—इस बन्धकी (क) मूल तथा (ख) उत्तर-प्ररूपणाओंका सार इस प्रकार है—

अनुभागबंध

(क) मूलप्रकृति-अनुभागबंध

अनुभागबंधके आरंभके ताडपत्र नहीं हैं। ....

(१) स्वामित्व (२) काल (३) अंतर (४) सन्निकर्ष (५) भंगविचय (६) भागाभाग (७) परिमाण (८) क्षेत्र (९) स्पर्शन (१०) काल (११) अंतर (१२) भाव (१३) अल्पबहुत्व

यहां स्वामित्वमे तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रत्ययानुगम, विभागदेश तथा प्रशस्त अप्रशस्त प्ररूपणा ।

इसी प्रकार चौबीस अनुयोगद्वार संपूर्ण होते हैं ।

(१) भुजगारबंधका अर्थ है कि पहले समयमें जो अनुभागबंध है द्वितीयमें अधिक अनुभागबंध करना ।

(२) अल्पतर बंधका यह अर्थपद है कि प्रथममें जो अनुभागबंधके स्पर्धक हैं दूसरे समयमें बहुतरसे अल्पतर बंध होना अल्पतर बंध है ।

(३) अवस्थितबंधमें जो अनुभागबंधके स्पर्धक हैं,

उसके बाद भी उतने ही उतने स्पर्धकोंका बंध हो उसे अवस्थित बंध जानना।

(४) अवक्तव्यबंधका तात्पर्य है कि अबंधके अनंतर बंधका होना।

इस अर्थपदमे स्वामित्वसे लेकर अल्पबहुत्वपर्यन्त तेरह अनुयोगद्वार हैं।

पदनिक्षेप

(१) इसमें समुत्कीर्तन, स्वामित्व तथा अल्पबहुत्व ये तीन अनुयोगद्वार होते हैं।

(२) वृद्धिबंधमें समुत्कीर्तनसे लेकर अल्पबहुत्वपर्यन्त तेरह अनुयोगद्वार पाए जाते हैं।

(३) अध्यवसान समुदाहारमे ये द्वादश अनुयोगद्वार जानना चाहिए। (१) अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा (२) स्थान-प्ररूपणा (३) अंतर-प्ररूपणा (४) कांडक (५) ओज युग्म (६) षट्स्थान (७) अधःस्तन (८) समय (९) वृद्धि (१०) यवमध्य (११) अध्यवसान (१२) अल्पबहुत्व।

(ख) उत्तरप्रकृति-अनुभागबंध

इसमें दो अनुयोगद्वार हैं। (१) निषेकप्ररूपणा। (२) स्पर्द्धकप्ररूपणा।

इस अर्थपदमें समुत्कीर्तन, सर्वबंध, नोसर्वबंध आदि चौबीस अनुयोग द्वार पाए जाते हैं।

प्रदेशबन्ध—इस बन्धकी मूल तथा उत्तर प्ररूपणाओंका सार इस प्रकार है—

प्रदेशबन्ध

मूलप्रकृतिप्रदेशबंध

मूलमे आठ कर्मोंका भागाभागका विभाग जानना चाहिए।

इस अर्थपदमे २४ अनुयोगद्वार जानने चाहिएँ। यथा स्थानप्ररूपणा, सर्वबंध, नोसर्वबंधसे अल्पबहुत्व पर्यन्त।

भुजगारबंधमे पदनिक्षेप, वृद्धिबंध, अध्यवसान समुदाहार तथा जीवसमुदाहार हैं।

स्थानप्ररूपणामें—योगस्थान-प्ररूपणा तथा प्रदेश-प्ररूपणा हैं। योगस्थानप्ररूपणामें ये दस अनुयोगद्वार हैं—अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्र०, स्पर्धकप्र०, अंतर, स्थान, अनंतरोपनिधा, परंपरोपनिधा, समयप्र०, वृद्धिप्र०, अल्पबहुत्व।

उत्तरप्रकृतिप्रदेशबंध

उत्तरमें मूलप्रकृति प्रदेशबंधके समान योजना करना।

उपरोक्त संक्षिप्त प्रकृतिबंधके अवतरणों तथा अन्य तीन बंधोंकी साधारण वर्णनसूचीसे महाबंधकी शैली और प्रमेयका कुछ अंदाजा हो सकता है, वैसे तो बिना ग्रथके प्रकाशमें आए अभ्यासीको ग्रंथकी गंभीरता, मार्मिकता तथा लोकोत्तरपनेकी यथार्थ कल्पनाका होना असंभवप्राय है।

इस ग्रंथका प्रथम भाग अनुवाद-सहित तैयार कर लिया है। यदि कागजका अभाव अंतराय न बना होता तो अब तक लोगोके हाथमें ग्रन्थ पहुँच सकता था। पहले तो महाबंध ग्रंथ भंडारके बंधन में बद्ध रहा, अब वह कागजके अभावसे बंधा हुआ नज़र आता है, देखें वह इस बंधनसे मुक्त होकर कब प्रकाशमे आता है?

निष्कर्ष—संक्षेपमें कहना होगा कि, महाबंध जैन कर्म-साहित्यका अत्यत तेजोमय अथवा दीप्तिपूर्ण ग्रंथ रत्न है और यह उपलब्ध सभी जैनकर्म साहित्यके लिए उपजीव्य रहा है। इसके स्वाध्यायसे भावोंमे रागद्वेष मंद होता है और विपाक-विचय धर्मध्यानकी वृद्धि होती है। कर्तावादियोंने तो जीवके भाग्यकी डोर एक परमेश्वरके हाथमें सौंपकर छुट्टी प्राप्त करली, किन्तु जैनियोंने ईश्वरको केवल आत्मविकासकी उज्वल अवस्था मानकर प्रत्येक जीवको अपने अपने भाग्यका निर्माता बताया है; तब फिर वह जीवोंका विचित्र परिणमन क्यों और कैसे होता है, इस बातका उत्तर जैनकर्म साहित्यसे ही प्राप्त होता है, उस कर्म साहित्यके 'बंध' अंशपर प्रातःस्मरणीय भूतबलि आचार्यने ४० हजार श्लोकोंमे अत्यन्त गंभीर तथा अप्रतिम शैलीसे इस ग्रन्थमे प्रकाश डाला है।

इस ग्रंथराजके अधिक प्रचार न होनेका कारण एक तो महाबंधका स्वयं महाबन्धनकी अवस्थामे बहुत समय तक रहना है। दूसरे विषयकी सूक्ष्मता भी साधारण जनतामे ग्रंथके उचित प्रचार न होनेमें कारण हुई है।

आशा है जब यह ग्रंथराज प्रकाशमे आएगा, तब अधिकसे अधिक जिज्ञासु तथा तत्वप्रेमी लोग ज्ञानसवर्धन के साथ साथ आत्मकल्याणमे प्रवृत्त होंगे।

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ भारतीयदर्शन—लेखक, श्रीबलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य, प्रोफेसर हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी। प्रकाशक, पं० गौरीशंकर उपाध्याय जतनवर, बनारस। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ६२०। साइज, २०×३० सोलह पेजी। मूल्य, ३॥) रु०।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय चार खंडोंमें विभाजित है और उनमें १६ परिच्छेदों द्वारा भारतीयदर्शनोंका संक्षिप्त परिचय कराया गया है। प्रथम खंडमें भारतीय दर्शनका उपोद्घात, श्रौतदर्शन और गीतादर्शनका कथन है। दूसरे खंडमें चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शनका सामान्य परिचय दिया है। तीसरे खंडमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा और अद्वैत वेदांत रूप षट्दर्शनोंका वर्णन है। चतुर्थखंडमें तंत्रोंके रहस्य का विवेचन दिया हुआ है। उपोद्घातमें भारतीय दर्शनोंकी पाश्चात्य दर्शनोंसे महत्ता एवं व्यापकताका दिग्दर्शन कराते हुए भारतीयदर्शनोंके क्रमिक विकास तथा उनके उदय-अभ्युदयका संक्षिप्त परिचय और उनकी पारस्परिक समानताके रोचक कथन दिया है। ग्रन्थमें विविध दर्शनोंके विवेचनके अवसरपर प्रत्येक दर्शन की ज्ञेयमीमांसाके साथ साथ चारित्रमीमांसाका भी संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है, जिससे पाठकोंको सभी दर्शनोंकी कितनी ही ज्ञातव्य सामग्रीका एकत्र संकलन मिल जाता है और उससे विचार-विनिमय करनेमें बहुत कुछ सहूलियत होजाती है। समूचे ग्रन्थकी लेखन-शैली बहुत कुछ रोचक, उदार तथा भाषा मँजी हुई है, और इसमें ग्रन्थके पढ़नेमें आनन्द आता है—वह भारसा मालूम नहीं होता।

हाँ, लेखकने जहाँ पुस्तकको पठनीय और संग्रहणीय बनानेका भरसक प्रयत्न किया है वहाँ कहीं कहीं जाने-अनजाने दूसरे दर्शनोंके महत्वको गिराने अथवा कम करनेकी चेष्टा भी की है। चुनाँचे अद्वैत वेदान्तकी समीक्षाके अन्तमें दिया हुआ "तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपने यथा। न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्तकेशरी॥" यह आक्षेप-परक पद्य इसका निदर्शक है। तटस्थवृत्ति एवं शोध-खोजकी दृष्टिसे लिखी जाने वाली ऐतिहासिक और तात्त्विक विवेचनाओंके अवसर पर कट्टर साम्प्रदायिकताके द्योतक ऐसे पद्योंको अपनाकर प्रस्तुत करना उचित नहीं कहा जा सकता। उससे विवेचनका महत्व गिर जाता है। प्रत्येक दर्शन अपनी अपनी असाधारण विशेषताओंको लिये हुए है, फिर अद्वैतवेदान्त ही सर्वोपरि है यह नहीं कहा जा सकता और न दूसरे दर्शनों तथा उनके शास्त्रोंको जम्बुक (गीदड़) सदृश्य बतलानेसे उसकी कोई प्रतिष्ठा ही हो सकती है।

जैनदर्शनका विवेचन करते हुए यद्यपि उसकी चारित्र-मीमांसाको महत्वपूर्ण बतलाया गया है तथा भारतके एक छत्र सम्राट चन्द्रगुप्तमौर्यको भी जैन-धर्मानुयायी लिखा है परन्तु लेखकने जैनदर्शनकी समीक्षाका जो निम्न शब्दोंद्वारा नतीजा निकला है वह किसी तरह भी ठीक नहीं कहा जा सकता। उसमें शंकराचार्यके द्वारा 'स्याद्वाद' का मार्मिक खंडन किया जाना बतलाना, और स्याद्वादको विराम देने वाले विश्रामगृह जितने महत्वका प्रकट करना बहुत ही आपत्तिके योग्य जान पड़ता है। शंकराचार्यने तो स्याद्वादके रहस्यको समझा ही नहीं। लोकमान्य तिलक आदि कितने ही जैनेतर प्रौढ विद्वानोंने भी इसे स्वीकार किया है। समझा होता तो वे कदापि स्याद्वाद को संशयवाद न बतलाते और न लेखक महाशय ही 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' तथा 'संभव' प्रकट करते, जो जैनदृष्टिके बिल्कुल विपरीत है। अस्तु, आपके वे शब्द निम्न प्रकार हैं:—

"इसी समन्वय-दृष्टिसे वह पदार्थोंके विभिन्न रूपों का समन्वय करता जाता, तो समग्र विश्वमें अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टिको

ध्यानमें रखकर शंकराचार्यने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खंडन अपने शारीरिक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियोंके सहारे किया है। यह जैनसिद्धान्त दार्शनिक विवेचनके लिये आपाततः उपादेय तथा मनोरंजक प्रतीत होता है, पर वह मूलभूत तत्त्वके स्वरूप समझानेमें नितान्त असमर्थ है। इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचों बीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिये विस्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्राम-गृहसे बढ़कर अधिक महत्व नहीं रखता।"

ग्रन्थमें दार्शनिक विवेचनाओंके साथ ऐतिहासिक व्यक्तियों और उनके समयादिकका भी उल्लेख किया गया है। ऐसे उल्लेख अनेक स्थानोंपर स्वलित एवं त्रुटिपूर्ण जान पड़ते हैं और वे बहुधा खुदकी जाँच-पड़तालके परिणाम मालूम नहीं होते—कुछ सुने-सुनाये, कुछ दूसरोंके पुराने उद्धरणमात्र और कितने ही नई खोजोंसे अछूते जान पड़ते हैं। उदाहरणके तौरपर समन्तभद्रको सिद्धसेन दिवाकरसे दो शताब्दी बादका (क्रमशः ५वीं ७वीं शताब्दीका) विद्वान बतलाना और विद्यानन्दका दूसरा नाम 'पात्रकेसरी' प्रकट करना ऐसे ही उल्लेखोंकी कोटिमें आता है। क्योंकि 'पात्रकेसरी' विद्यानन्दका दूसरा नाम न होकर एक दूसरे ही महान आचार्यका नाम है जो अकलंकदेवसे भी पहले होगये हैं और जिनके 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रंथका स्पष्ट उल्लेख मिलता है तथा 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्' इत्यादि पद्य जिनका खासतौरसे परिचायक है। इस विषयका अच्छा स्पष्टीकरण एवं भूलोंका परिमार्जन आजसे कोई १३-१४ वर्ष पहले अनेकान्त-सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने उस लेखमें किया है जो प्रथम वर्षके अनेकान्तकी द्वितीय किरणमें 'पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षकके साथ प्रकाशित हुआ है और जो उस वक्तसे बराबर विद्वद्ग्राह्य होता चला आया है। शान्तरक्षित और कमलशील जैसे बौद्धविद्वानोंने भी, जो विद्यानन्दसे पहले हो गये हैं, तत्त्व-संग्रह तथा उसकी टीका में 'पात्रकेसरी' के मतका पात्रस्वामी नामादिके साथ उल्लेख किया है। इसी तरह सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्रके समयकी बात है। समन्तभद्र सिद्धसेनसे बहुत पहले होगये हैं; सिद्धसेनके न्यायावतार पर समन्तभद्रके साहित्यकी कितनी ही छाप है, 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' नामका पद्य तो उसमें ज्योंका त्यों समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड' से उठाकर रक्खा हुआ है। प्रो० हर्मन जैकोबी आदि अनेक विद्वानोंने यह सिद्ध करके बतलाया है कि 'सिद्धसेनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दीसे पहलेका नहीं हो सकता'; जबकि समन्तभद्रका पूज्यपाद (ईसाकी ५ वीं शताब्दी) से पहले होना सुनिश्चित है ? और वे दिग्नागसे भी पूर्वके विद्वान सिद्ध होते हैं, जैसा कि इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाके लेखसे प्रकट है।

ग्रंथकी छपाई-सफाई उत्तम है और वह विचारको के पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है।

६ **अर्द्धकथा**—मूललेखक, कविवर पं० बनारसीदासजी। सम्पादक, श्री माताप्रसाद गुप्त एम० ए०, डी० लिट्, अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय। प्रकाशक, प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी-परिषद्, प्रयाग। पृष्ठसंख्या, सब मिलाकर ७३। मू०, एक रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक अर्द्धकथानकके रूपमें पं० बनारसीदासजीकी ५५ वर्षकी आत्मकथा है। १७ वी शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न जैनकविकी जीवन-घटनाओंका यह एक सांगोपांग सजीव वर्णन है, जिसमे अपने गुण-दोषोका यथार्थ परिचय दिया गया है। यह कविवर की एक अनूठी मूलकृति है। यद्यपि इस कथाका प्रायः सभी परिचय विद्वद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'बनारसी-विलास' की प्रस्तावनामें दे दिया था और मूलके कुछ छन्दोको भी पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत कर दिया था। परन्तु कविवरका यह समूचा ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित ही था, जिसे अब उक्त हिन्दी परिषद्ने प्रकाशित करके कमीको पूरा किया है।

पुस्तकके शुरूमें ११ पेजकी भूमिका है, जिसमे सम्पादकजीने कविवर बनारसीदासजीके 'उदार व्य-

कित्व' और 'कलात्मक आत्माभिव्यंजन' की ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है। और उनकी इस कृतिके महत्व-सम्बन्धमें लिखा है—

"हमारे साहित्यकी जो खोज अभी तक हुई है उसके अनुसार प्राचीन हिन्दी साहित्यकी यह पहली और अकेली आत्म-कथा है, और कदाचित् समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-साहित्यमें इससे पूर्वकी कोई आत्म-कथा न निकलगी। केवल इस नाते भी कृतिका अपना महत्व है। फिर लेखन-कलाकी दृष्टिसे तो प्रस्तुत आत्म-कथा एक उत्कृष्ट रचना है।" इत्यादि

साथ ही, कविवरके जीवनकालसे सम्बन्धित एवं आत्मकथामें उल्लेखित घटनाओंकी जाँच करके लिखा है कि—"फलतः 'अर्द्धकथा' की ऐतिहासिकता भली भाँति प्रमाणित है।"

इसके सिवाय, प्रस्तुत पुस्तक तथा कविवरकी अन्य कुछ कृतियोंमें पाई जानेवाली कतिपय तिथियों को 'इंडियन क्रानोलोजी' मे दिये हुए चक्रों आदिके आधारपर अशुद्ध पाकर यह कल्पना की है कि वे लिपिकारोंकी असावधानीका परिणाम जान पड़ती हैं।

ग्रन्थका प्रकाशन किसी बहुत ही अशुद्ध प्रतिपरसे किया गया है। इसीसे पुस्तकभरमें अशुद्धियोंकी भरमार है। कितनी ही अशुद्धियाँ तो ऐसी रह गई हैं जिनका सुधार उन नियमोंको लक्ष्यमें रखकर भी सहज हीमें किया जा सकता था जिनका उल्लेख सम्पादकजीने भूमिकामें किया है। और इसमें यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि पुस्तकका सम्पादन जैसा होना चाहिये था वैसा नहीं हो सका है और उसके लिये एक उत्तमरूपमें सम्पादित संस्करणकी जरूरत अभी बनी हुई है। इस संस्करणमें बहुत ही खटकने वाली अशुद्धियोंमेंसे कुछ अशुद्धियाँ नमूनेके तौरपर नीचे दी जाती हैं:—

पद्य नं०	अशुद्ध	शुद्ध
७४	मोय रनाई (?) मेन	मो परनाई सेन
१०५	दिन बीति धने	दिन बीते घने
१६४	मारी ई उर टोक	मा रोई उर ठोक
१६४	जैसी बिरी(?)कुरीजाकी	जैसी चिरी कुरीजकी
२३७	तूप	रूप
२५२	देइ दिये हैं कपाट	दर दर दिये कपाट
३३५	नाहिन	जांहि न
३६६	साथ	नाथ
४१५	मीत	गीत
४३४	धी उन	घीउ न
४७८	पटनै	पढ़ने
५१३	धने	घने
५७५	संग	संघ
६२७	द्रगद (?)	प्रगट
६३६	पढ़ता	पंडित
६४३	मुष वद्या	मुख अवद्य
६४७	सुरत न भई	सुमिरन भई
६४६	जथा	दशा
६५०	मन परे जधर अवधधर	मनपरजै अरु अवधिधर
६५३	समें बीच यहु भांत(?)	यह उत्तकिष्टी तौर

यदि श्रद्धेय पं० नाथूरामजी द्वारा सम्पादित 'बनारसीविलास' में दिये हुए कविवरके परिचयको ही ध्यानसे देख लिया होता तो इनमेंसे बहुतसी अशुद्धियोंका सहज हीमें संशोधन होजाता। परन्तु उक्त विलासके पासमें रहते हुए भी पुस्तकके संशोधन में उसका उपयोग नहीं किया गया, यह आश्चर्यका विषय है! इस प्रकार यह संस्करण अशुद्धियोंसे परिपूर्ण है। इतना होने पर भी यह घटिया कागज पर छपाया गया है और मूल्य एक रु० रक्खा गया है, जो बहुत अधिक है। फिर भी सम्पादक और प्रकाशक का यह प्रयत्न हिन्दी जगत्के लिये प्रशंसनीय है।

३ पावन-प्रवाह—लेखक, पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष श्री दि० जैनमहापाठशाला, मणिहारोंका रास्ता, जयपुर। अनुवादक, पं० मिलापचन्द जी न्यायतीर्थ तथा प्रकाशक, पं० श्रीप्रकाशजी शास्त्री, मंत्री 'सद्बोधग्रन्थमाला' मणिहारोंका रास्ता, जयपुर सिटी। पृष्ठ संख्या १००। मूल्य, छह आना।

लेखकने प्रस्तुत पुस्तकमें 'अनासक्ति' आदि १४

विभिन्न विषयों पर सुन्दर सूक्तियोंका निर्माण संस्कृत पद्योंमें किया है। पद्योंकी रचना सरल और सरस है, और वे अपने विषयके स्पष्ट परिचायक हैं। अनुवाद भी अच्छा हुआ है। अनुवाद साथमें रहनेसे पाठकों को मूलका सहज हीमें परिचय होजाता है। पुस्तक अच्छी उपयोगी एवं संग्रहणीय है। इसके लिये लेखक और प्रकाशक दोनों धन्यवादके पात्र हैं।

४ तत्त्वन्याय-विभाकर (स्वोपज्ञटीकासहित) —लेखक, व्याख्यानवाचस्पति श्रीविजयलब्धिसूरीश्वर। प्रकाशक, लब्धिसूरीश्वरग्रन्थमाला, छाणी। पृष्ठसंख्या सब मिलाकर ६६४। मूल्य, सजिल्द प्रतिका पाँच रु०।

मूलग्रंथका परिचय अनेकान्त वर्ष ३ किरण ६ में दिया जा चुका है। यह उसी ग्रंथकी विस्तृत स्वोपज्ञ टीका है। इसमें मूलग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका स्वयं ग्रंथकार द्वारा अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया गया है। ४०पृष्ठोंमें दी गई विस्तृत विषय-सूचीमें टीका-गत सभी स्थलोंका सहज ही परिचय मिल जाता है। ग्रंथ न्याय-शास्त्रके अभ्यासियोंके लिये उपयोगी और संग्रहणीय है। कागजकी मँहगाईके समयमें पुस्तकके कलेवरादि को देखते हुए मूल्य भी कम ही रक्खा गया है।

५ प्रशस्ति-संग्रह—संपादक पं० के० भुजबली शास्त्री, जैनसिद्धान्त भवन, आरा। प्रकाशक, बा० निर्मलकुमार जैन मंत्री 'जैन-सिद्धान्तभवन आरा'। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर २२८। मूल्य, अजिल्द प्रति का डेढ़ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक देवकुमार-ग्रंथमालाका पंचमपुष्प है। इस संग्रहमें ५४ ग्रथोंकी प्रशस्तियाँ दी गई हैं। ये सब प्रशस्तियाँ जैनसिद्धान्तभास्करमें क्रमशः प्रकाशित हुई हैं। उन्हींका यह अलग पुस्तकरूपमें प्रकाशन है। ग्रंथप्रशस्तियोंका ऐतिहासिक जगतमें कितना महत्व एवं आदर है और उनमें कितनी ऐतिहासिक सामग्री निहित है इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं। इतिहासज्ञों और रिसर्चके स्कालरोंके लिये तो वे बहुत ही उपयोगी होती हैं। समस्त दि० ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंके संकलन हो जाने पर जैन इतिवृत्त के निर्माणमें जो सुविधा प्राप्त होगी वह अकथनीय है। परन्तु खेद है कि इस ओर दि० जैनसमाजका लक्ष्य नहींके बराबर है। इस दिशामें जैन-सिद्धान्त भवनका यह प्रथम कदम प्रशंसनीय है।

इस ग्रथके साथ प्रशस्तियोंमें आए हुए आचार्य, मुनि-आर्यिका, गण-गच्छ, श्रावक, श्राविका, शासक, शासिका, सचिव, सेनानायक, कोषाध्यक्ष एवं राज-श्रेष्ठियोंकी सूचक और ग्रंथ तथा तद्गत स्थलोंको भी समाविष्ट करनेवाली एक २० पृष्ठोंकी तालिका अकारादि क्रमसे दी है, जिसमें कितनी ही ऐतिहासिक बातोंका सहज ही पर्यवेक्षण किया जा सकता है। पुस्तक पठनीय तथा संग्रह करनेके योग्य है।

—परमानन्द जैन शास्त्री

हमारे आधुनिक जैनकवि ———— ———●●●●●●●—— ——— एक सर्वाङ्गपूर्ण संग्रहका आयोजन

अखिल भारतीय दिगम्बर जैनपरिषदके कानपुर अधिवेशनके अवसरपर होने वाले कवि-सम्मेलनकी सफलतासे प्रभावित होकर परिषद्के सभापति, दानवीर साहू शान्तिप्रसादजीने एक ऐसे कविता-संग्रहके संकलन और प्रकाशन का भार अपनी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जैनके सुपुर्द किया था जिसमें आधुनिक जैन कवियोंकी सर्वोत्तम रचनायें संग्रहीत हों और जिसका प्रकाशन सर्वांगपूर्ण तथा सुन्दर हो। श्रीलक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए० और श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयके सहयोगसे श्रीमती रमारानी जैनने संग्रहका कार्य प्रारम्भ कर दिया।

समस्त जैन समाजके कवियों और कवयित्रियोंसे निवेदन है कि वह अपनी आठ आठ दस-दस सर्वोत्तम रचनायें अपनी फोटो और संक्षिप्त जीवनी, शीघ्र ही श्रीमती रमारानी जैन, धर्मपत्नी दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमिया नगर (बिहार) के पतेपर शीघ्र भिजवादें।

कवितासंग्रहकी प्रति जैन पत्रोंके उन ग्राहकोंको बिना मूल्य भेंटकी जायेगी जिनकी सूची हमें पत्र सम्पादकों द्वारा प्राप्त होगी। पत्रोंके ग्राहक इस सम्बन्धमें पत्रके सम्पादकों को पहलेसे ही सूचित करदें ताकि कुल संख्याके अनुमानके अनुसार पुस्तक छपाई जाए। प्रत्येक ग्राहकको केवल एक ही प्रति भेंट की जायेगी। आशा है जैन समाजके सभी सम्पादकोंके कवि और कवयित्रियाँ अपनी सर्वोत्तम रचनाएँ उपर्युक्त पतेपर शीघ्र भेजनेकी कृपा करेंगे। कविताओंका विषय चाहे धार्मिक हो या लौकिक, किन्तु वह साहित्यिक दृष्टिसे उच्च कोटिकी होनी चाहिये, जिन्हें अजैनबन्धु भी चावसे पढ़ें।

—मंत्री—भा० दि० जैनपरिषद्

अनेकान्तका द्विवार्षिक हिसाब

वीरसेवामन्दिरसे अनेकान्तका प्रकाशन प्रारम्भ हुए दो वर्ष हो चुके। इन दो वर्षोंमें अनेकान्तका चौथा और पाँचवाँ वर्ष शामिल हैं। वीरसेवामन्दिरने नवम्बर सन् १९४० में प्रकाशन-भारको अपने ऊपर लिया था, फर्वरी सन् १९४१ में चतुर्थ वर्षकी प्रथम किरण प्रकाशितकी थी और अब पंचम वर्षकी अन्तिम किरणको, कागज आदिकी कुछ परिस्थितियोंके वश, जून मासकी समाप्तिपर प्रकाशित किया जा रहा है। इस तरह अनेकान्तका हिसाब अढाई वर्षका हो जाता है, जिसे इस किरणके साथ पाठकोंके सामने रख देना उचित मालूम होता है। हिसाबको सामने रखनेसे पहले मुझे यह प्रकट करते हुए बडी प्रसन्नता होती है कि अबकी बार अनेकान्तको घाटेका मुँह देखना नहीं पड़ा, जिसका सारा श्रेय उन सहायक सज्जनोंको प्राप्त है जिन्होंने तृतीय वर्षकी १२ वी किरण (पृ० ६९६) में प्रकाशित 'मेरी आन्तरिक इच्छा' और चतुर्थ वर्षके नववर्षाङ्क (पृ० ३६) मे दिये हुए मेरे 'आवश्यक निवेदन' पर ध्यान देते हुए अनेकान्तको सहायता भेजने-भिजवानेकी उदारता दिखलाई है, और इस लिए मैं उनका खास तौरसे आभारी हूं। यद्यपि मेरे निवेदनपर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना कि दिया जाना चाहिये था और इसी लिये अनेकान्तको अभी तक अपने भविष्यके विषयमें वह निश्चिन्तता प्राप्त नहीं हुई जो होनी चाहिए थी और न वह उस हद तक उन्नति ही कर सका है जिस हद तक उन्नति करना उसे इष्ट था—घाटेकी आशंका उसे बराबर सताती रही, जिससे उसका संकोच दूर होनेमे नहीं आया और वह यथेष्टरूपमे प्रगति नहीं कर सका; फिर भी इन दो वर्षोंमे उसे पहलेकी तरह घाटा उठाना नहीं पडा, प्रत्युत इसके वह कुछ पैसा बचा सका है जो अगले वर्षमें कदम बढ़ानेके लिये प्रोत्साहित कर रहा है, और यह सब भी कुछ कम सौभाग्यकी बात नही है। आशा है आगामी वर्ष प्रेमी पाठक इसकी ओर विशेषरूपसे आकृष्ट होगे और कर्तव्यनिष्ठ उदार महानुभाव अनेकान्तके प्रति अपने कर्तव्यको ध्यानमें लाकर उसे सब ओरसे निश्चिन्त बनाने एवं ऊँचा उठानेके लिये अपना पूरा सहयोग प्रदान करेंगे। अस्तु।

हिसाबका जो गोशवारा आगे दिया जाता है उससे प्रकट है कि इन दो वर्षोंमें वास्तविक आमदनी ४१२१।≶) की हुई। खर्चकी कुल रकम ३४८१।≶)॥ मे से ८६।≈)॥ की उस रकमको मिन्हा कर देनेपर जो बकाया कागज तथा पोष्टेजकी बाबत जमा की गई, खर्चकी वास्तविक रकम ३३९२–) होती है, जिसे आमदनीकी उक्त रकममेसे घटा देनेपर ७२९।≈) अवशिष्ट रहते हैं। इनमेसे ९२) को उस रकमको घटानेपर जो इस किरणके खर्चमें प्राय: देनी है, ६३७।≈) की जो रकम बाकी रहती है वही इन दोनों वर्षोंमें लगभग बचतकी रकम समझनी चाहिये।

गोशवारा हिसाब 'अनेकान्त'

ता० १ नवम्बर सन् १९४० से ३० जून सन् १९४३ तक

आमद (जमा)

४॥≈)॥ पिछले सम्पादक-आफिस खाते बाकी।

१९५६) ग्राहकोंसे प्राप्त, जिसमें १०५।≈)वी०पी० पोष्टेज आदिके शामिल हैं:—

१०१६॥) चतुर्थ वर्ष की बाबत मय ५७॥।≈) वी० पी० पोष्टेज आदिके।

९३९॥) पंचम वर्षकी बाबत मय ४७॥) वी० पी० पोष्टेज आदिके।

१९५६)

६३) समन्तभद्र आश्रमसे प्राप्त स्थायी सदस्योंकी बाबत, जिन्हें अनेकान्त फ्री भेजा गया।

खर्च (नाम)

९७२॥≈)॥ कागज खर्चमें दिये इस प्रकार:—

२१९॥) धर्मदास हंसकुमार, सहारनपुर।

१०५≶)॥ मामनचन्द राधाकिशन, सहारनपुर।

७०॥≈) मंगूमल कागजी, सहारनपुर।

१६०॥–) सिद्धोमल ऐंड सन्स कागजी, देहली।

३०६॥।–) धूमीमल धर्मदास, देहली।

४॥) सुन्दरलाल नथीमल भार्गव, देहली।

३।≈) नन्दराम सूरजमल कागजी, देहली।

२५।) कौशलप्रसाद, सहारनपुर।

४२॥।–) रघुवीरसिंह सर्राफ, देहली।

३४) वीरसेवामन्दिर–ग्रन्थमाला, सरसावा।

९७२॥≈)॥

१७३५) सहायकोंसे प्राप्त प्रथम-द्वितीय-तृतीय मार्गद्वारा—
१३५०) प्रथम मार्गसे, जिसमें १०५०) चतुर्थ वर्ष में और ३००) रु० पंचम वर्षमें प्राप्त हुए।
३८५) द्वितीय और तृतीय मार्गसे (२२६+१५६) जिसमें १७८) चतुर्थ वर्षमें और २०७) पंचम वर्षमें प्राप्त हुए।

१७३५)

२८४≈) अनेकान्तकी फाइलों तथा फुटकर किरणोंकी बिक्री से प्राप्त, जिसमें १०।≋) पोष्टेज आदिके भी शामिल हैं :—
११।–) चतुर्थवर्षमें २८ फर्वरी १९४२ तक।
२७२॥।–) पंचम वर्षमें ३० जून १९४३ तक।

२८४≈)

७५।) विज्ञापनोंसे प्राप्त, जिसमें ५६।) चतुर्थ वर्षकी बाबत और १९) पंचम वर्षकी बाबत हैं।
२।≈) रद्दीकी बिक्रीसे प्राप्त।
॥।)॥ पोष्टेजकी बाबत बाहरसे प्राप्त, उस पोष्टेजके अतिरिक्त जो ग्राहकोंसे वी० पी० आदिके साथ वसूल हुये पोष्टेजमें शामिल है, और जो प्रायः टिकटोंके रूपमें पत्र व्यवहार के लिए प्राप्त हुआ।

४१२३।≋)

८७।)।। कागज खाते जमा इस प्रकार :—
२४॥।≈)। कागजकी बिक्रीमें आए।
६२॥≈)॥ कागज स्टाकमें मौजूद।

८७॥)॥

१॥।–)॥ पोष्टेज खाते जमा, जो ३० जून सन् १९४३ को खर्च होने से बाकी रहा।

८६।≈)॥

४२१०॥।–)॥

११९५।≈)॥। श्रीवास्तवप्रेस सहारनपुरको दिये बाबत छपाई बँधाई, मय छपाई रैपर्स, चिट्ठी, कार्ड, लिफाफे, पते आदिके, पंचमवर्षकी ११वीं किरण तक—
१०२६) छपाई अनेकान्त मयटाइटिल व चित्रोंके।
१३६।≈) बँधाई अनेकान्त।
३३)॥: छपाई रैपर्स आदि मय २) बनवाई लिफाफोंके व –) टिकट रसीदके लिए।

११९५।≈)॥।

११४॥≈) मुरारी फाइन आर्ट प्रेस देहलीको दिये ब्लाक्स की बनवाई और पाँच किरणोंके बाहरी टाईटिल पेजोंकी छपाईके, मय पेपर पैकिंगादि चार्ज के।
२०) धूमीमल धर्मदास कागजी देहलीको दिये दो किरणोंके बाहरी टाइटिल पेजोंकी छपाई बाबत मय पेपर व पैकिंगादि चार्जके।
२५।–)॥ डिजाइनों तथा ब्लाक्सकी बनवाईमें दिये—
१२) आशाराम शुक्ला डिजाइनर को।
११।–) राज ब्लाक वर्क्स देहलीको।
१॥।)॥ एम० मुमताज, सहारनपुरको।

२५।–)॥

१२) जवाहर प्रिंटिंग वर्क्स कलकत्ताको दिये मार्फत बाबू छोटेलालजीके, 'ग्रीष्मपरीषहजय' चित्रकी छपाई आदिमें
२३॥≈)। महसूल रेलवे पार्सलोंमें, मय मजदूरी, चुंगी, डैमरेज व तांगा आदि खर्चके।
१॥।)। महसूल बैरंग पत्रादिक।
२७।≋) स्टेशनरी खाते खर्च।
१२६।)॥ सफर खर्च, प्रेस आदिको जाने आनेमें।
५२६–) वेतनमें दिये इस प्रकार:—
२०४) पं० शंकरलालको ८ मास २० दिनके।
१२॥।≈)॥ बा० मूलचन्दको १६ दिनके।
१०६) पं० परमानन्दको ३ मासकी बाबत।
१०३≈)॥ पं० रविचन्दको, १२ मास २१ दिनके ता० २१ दिसम्बर १९४२ तक।

५२६–)

(शेष अगले पृष्ठके दूसरे कालम पर)

सम्पादकीय

१. अनेकान्तकी वर्ष-समाप्ति—

इस किरणके साथ अनेकान्तका पंचम वर्ष समाप्त होरहा है। इस वर्षमें अनेकान्तने अपने पाठकोंकी कितनी सेवा की, कितने नये उपयोगी साहित्यकी सृष्टि की, कितनी नई खोजें उपस्थित कीं, क्या कुछ विचार जागृति उत्पन्न की, तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरण और समन्तभद्रके समयादि-सम्बन्धमें कैमी कुछ उलझनें सुलझाईं और व्यर्थके झगड़े-टंटोंसे यह कितना अलग रहकर ठोस सेवाकार्य करता रहा, इन सब बातोंको बतलानेकी जरूरत नहीं—विज्ञ पाठकोंसे इनमें कोई भी बात छिपी नहीं है। हाँ, इस बातपर मुझे बराबर खेद रहा कि इस वर्ष मेरी अस्वस्थता और कागजकी समस्यादिके कारण पत्र समय पर प्रकाशित नहीं हो सका! इसके लिये पाठकोंको जो प्रतीक्षा-जन्य कष्ट उठाना पड़ा है उसके लिये मैं उनसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। साथ ही, धारणासे पेज भी कुछ कम रह गये। मेरी धारणा ४० पेज (५ फार्म) प्रतिकिरणके हिसाबसे ४८० पेज देनेकी जरूर थी, जिसमें ५४ पेजकी कमी रह गई; फिर भी कागजकी इस बेहद मँहगाईके जमानेमें टाईटिल पेजों से अलग ४२६ पेजका घणा मैटर ३) रु० में दिया जाना कम नहीं कहा जा सकता। इसपर भी मेरा विचार अगले वर्षमें इस कमीको पूरा करनेका अवश्य है। अस्तु; इस वर्ष जिन सज्जनोंने नई सहायता प्रदान की है उनमें तीन नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं और वे हैं बाबू छोटेलाल जी जैन रईस कलकत्ता, ला० दलीपसिंहजी कागजी देहली और बाबू विमलप्रसादजी सदर बाजार देहली, जिन सभी महानुभावोंका मै हृदयसे आभारी हूँ। इनमें भी बा० विमलप्रसादजी विशेष धन्यवादके पात्र हैं, जिन्होंने अपनी ओरसे २६ जैन-अजैन व्यक्तियों एवं संस्थाओंको अनेकान्त फ्री भिजवाकर एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है। आप अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहते थे, एक वर्ष तक हमने सेउ गुप्त रक्खा परन्तु वर्षकी समाप्ति पर स्पष्ट रूपमें कृतज्ञता व्यक्त करने आदिके लिये उसे प्रकट कर देना ही उचित समझा गया। आशा है उदारमना बाबू साहब इसके लिये हमें क्षमा करेंगे। और भी जिन सज्जनोंने सहायता भेजी तथा भिजवाई है वे सभी धन्यवादके पात्र हैं—नये ग्राहक बनाने वालोंमें इस वर्ष भी श्री दौलतरामजी 'मित्र' इन्दौरका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है।

इसके सिवाय, जिन लेखकोंने अपने महत्वके लेखोंद्वारा अनेकान्तकी सेवा की है और उसे उन्नत, उपादेय तथा स्पृहणीय बनानेमें मेरा हाथ बटाया हैं उन सबको धन्यवाद दिये विना भी मैं नहीं रह सकता। इन सज्जनोंमें पं० नाथूरामजी प्रेमी, श्री भगवत्स्वरूपजी 'भगवत्', पं० फूलचन्दजी शास्त्री, बा० जयभगवानजी वकील, न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमारजी, न्या० पं० दरबारीलालजी, पं०सुमेरचन्दजी दिवाकर, प्रो०हीरालालजी, श्री बासुदेवशरणजी अग्र-वाल क्यूरेटर, डा० बनारसीदास, पं० के०भुजबलीजी शास्त्री, श्रीविजयलालजी, पं० परमानन्दजी शास्त्री, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, श्री दौलतरामजी 'मित्र', पं०दीपचंदजी पांड्या, पं० काशीरामजी शर्मा 'प्रफुल्लित',

---

(पृष्ठ ४२२ का शेषांश)

३६३॥-)॥। पोष्टेज खाते खर्च।

४१) सामयिक पत्रोंके मँगानेमें खर्च।

१।|=) मुतफर्रिक खाते खर्च-बट्टा हुंडी-चेक आदिमें।

३४८१।≈)॥

६२) इस १२ वीं किरणकी पूरी छपाई, बँधाई, पोष्टेज और कुछ कागज आदिकी बाबत अंदाजन खर्च करना तथा देना बाकी है।

६३७।=) लगभग बचत।

४२१०।||-)।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा।

श्रीअगरचन्दजी नाहटा, मुनिकान्तिसागरजी और बा० महावीरप्रसादजीके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। आशा है ये सब सज्जन आगेको और भी अधिक उत्साह एवं तत्परताके साथ अनेकान्तको अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करनेका ध्यान रक्खेंगे, और दूसरे सुलेखक भी उसे अपनी बहुमूल्य सेवाएँ अर्पण करने की उदारता दिखलाएँगे।

इस वर्षके सम्पादनकालमें मुझसे जो भूलें हुई हों अथवा सम्पादकीय कर्तव्यके अनुरोधवश किये गये मेरे किसी भी कार्य-व्यवहारसे या टीका-टिप्पणी से किसी भाईको कुछ कष्ट पहुँचा हो तो उसके लिये मैं हृदयसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। क्योंकि मेरा लक्ष्य जानबूझ कर किसी को भी व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका नहीं रहा है और न सम्पादकीय कर्तव्यसे उपेक्षा धारण करना ही मुझे कभी इष्ट रहा है।

२. अगले वर्षकी योजना—

गत किरणमें अनेकान्तके लिये जो चिन्ता व्यक्त की गई थी और प्रेमी पाठकोंसे इस पत्रके जारी रखने न रखने आदिके विषयमें समस्याके हल करने रूप सम्मति माँगी गई थी उसके उत्तरमें पत्रको बन्द कर देनेकी तो किसीकी भी राय नहीं हुई— अनेकोंने बन्द करनेकी आशंकामात्रपर भारी दुःख प्रकट किया है। इससे पत्रको बन्द न करके जारी रखनेका ही निश्चय किया गया है। रही मूल्य और आकार-प्रकारादिकी बात, कागजकी भारी मँहगाई एवं दुष्प्राप्ति, सरकारी आर्डर और तदनुसार पत्रोंकी मूल्यवृद्धिको देखते हुए वार्षिक मूल्य ३) रु० के स्थान पर ५) रु० स्थिर करना पड़ा है—हिन्दुस्तान जैसे भारी संख्यामें प्रकाशित होने वाले पत्रों तकने २) रु० मासिकके स्थान पर ३॥) रु० मासिक कर दिया है, साथ ही आकार छोटा करके पृष्ठसंख्या भी घटा दी है। अनेकान्तका आकार २०×३० साइज अठपेजीके स्थानपर २०×२६ अठपेजी कर दिया है, जो लम्बाई में वर्तमान आकार जितना ही रहेगा, चौड़ाईमें एक इंच कम हो जायगा। इससे वीरसेवामन्दिरके सामने नये-नये उत्तम ग्रंथोंके प्रकाशनकी जो विशाल योजना है उसमें भारी सुविधा हो जायगी। अब अनेकान्त पत्र द्वारा महत्वके अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थोंको अनुवादादिके साथ प्रकाशित करके कितने ही लुप्तप्राय एवं अलभ्य साहित्यके उद्धारका पूरा प्रयत्न किया जायगा और इस बातकी ओर विशेष ध्यान रक्खा जायगा कि जो ग्रंथ प्रकाशित हो वह यथासंभव एक ही अंकमें पूरा हो जाय। इसीसे पत्रको मासिकके स्थानमें त्रैमासिकका रूप दिया जा रहा है, जिसकी पृष्ठसंख्या ग्रंथानुरूपसे कुछ घट-बढ़ रहने पर भी वर्ष भरमें ४०० के लगभग जरूर होगी। पत्रमें प्रकाशित ग्रन्थोंकी पृष्ठसंख्या अलग-अलग रहेगी, जिससे वे पत्रके लेखीय भागसे अलग करके रक्खे तथा स्वतंत्र रूपसे उपयोगमें लाये जासकें। लेखीय भागमें महत्व का गवेषणापूर्ण तात्विक, ऐतिहासिक तथा जीवनके लिये उपयोगी साहित्य रहेगा। और इस तरह पत्रको सर्वोपयोगी तथा बार-बार पढ़ने योग्य बनानेका पूर्ण आयोजन किया जायगा। पहली किरणमें पंचाध्यायी के कर्ता कविवर राजमल्लजीका 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' नामका महत्वपूर्ण ग्रंथ सानुवाद प्रकाशित किया जायगा, जिसकी विज्ञप्ति टाइटलके चतुर्थ पेजपर दी गई है। साथमें 'लोकविजययंत्र' नामके एक प्राकृत गाथाबद्ध प्राचीन ग्रंथको भी यंत्रसहित देनेका विचार है, जिससे सहज ही में देश-विदेशके भविष्यका कितना ही परिज्ञान होसकेगा और जो बड़ा ही अपूर्वग्रन्थ है। अगली किरणोंमें भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र, मृत्युविज्ञान, आयज्ञानतिलक (प्रश्नशास्त्र), और कविवर राजमल्ल का ऐतिहासिक उल्लेखोंके उदाहरणोंसे परिपूर्ण पिंगल शास्त्र जैसे ग्रंथ भी यथावसर प्रकाशित किये जावेंगे। और भी कितने ही महत्वके अप्रसिद्ध प्राचीन ग्रंन्थोंको ऐतिहासिक परिचयादिके साथ प्रकाशमें लानेका विचार है। आशा है इस नवीन योजनामें अनेकान्तके प्रेमी पाठकों तथा साहित्योद्धारके पुण्य कार्यमें दिलचस्पी रखनेवाले सज्जनोंका पूरा सहयोग प्राप्त होगा।

३ शाह जवाहरलालजी और जैन ज्योतिष—

शाह जवाहरलालजी प्रतापगढ़ (राजपूताना) के एक प्रसिद्ध जैन वैद्य एवं सम्पन्न व्यक्ति हैं। बाल्यावस्थासे ही शास्त्रोंके अभ्यासी एवं प्रतिष्ठादि कर्मकाण्डोंके ज्ञाता हुंबड जातिके महाजन हैं। आपकी अवस्था ६६ वर्षकी हो गई है। धन-कुटुम्बादिसे समृद्ध होनेके साथ साथ आपके पास निजका अच्छा शास्त्रभण्डार है, जिसकी एक सूची भी आपने मेरे पास भेजी है। यद्यपि मेरा अभी तक आपसे कोई साक्षात्कार नहीं हुआ, फिर भी पत्रों तथा कृतियोंपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि आप बड़े ही विनम्रस्वभाव एवं सरल प्रकृतिके सज्जन हैं—अभिमान तो शायद आपको छूकर नहीं गया। अपनी त्रुटियोंको समझना, भूलको सहर्ष स्वीकार करना और भूल बतलाने वालेके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना जैसे आपमें उदार गुण हैं। इसके सिवाय, परोपकारकी आपके हृदयमें लगन है और आप अपने अन्तिम जीवनमें साहित्यसेवाका भी कुछ पुनीत कार्य कर जाना चाहते हैं। वैद्य होनेके साथ साथ ज्योतिषके विषयमें आपकी बड़ी रुचि है और उस ओर प्रवृत्तिकी कुछ रोचक कथा भी है। आप शुरू शुरू सट्टेके व्यापारमें तेजी-मंदी जाननेके अर्थ शकुनादिका परिचय प्राप्त करनेकी ओर बढ़े और बढ़ते बढ़ते ज्योतिष-शास्त्रोंके अभ्यासमें गाढ़ रुचि कर बैठे! जैन ज्योतिषके कुछ ग्रन्थोंको पाकर तो आपकी रुचि इस ओर और भी प्रदीप्त हो उठी और आपने उनमें दूसरे ग्रन्थोंकी अपेक्षा कितनी ही विशेषताओंका नोट किया है और अनेक स्थानोंपर जैनप्रक्रियाको विभिन्न पाया है। साथ ही, आपको यह देखकर कष्ट हुआ है कि जैन ज्योतिषके कुछ ग्रन्थोंको अजैनोंने थोड़ासा परिवर्तन करके या नामादिक बदलकर अपना बना लिया है, जिसका कारण जैनियोंका प्रमाद और उनमें ज्योतिष विद्याकी कमी तथा तद्विषयक ग्रंथोंके पठन-पाठनका अभाव ही कहा जा सकता है। इस विषयके आपने कुछ नमूने भी प्रमाण-सहित उपस्थित किये हैं, जिन्हें फिर किसी समय प्रकट किया जायगा।

कुछ अर्सेसे आपके हृदयमें यह खयाल पैदा हुआ कि ज्योतिष-विषयका जो विशेष अनुभव हमने प्राप्त किया है वह कहीं हमारे साथ ही अस्त न होजाय—उसका लाभ दूसरोंको मिलना चाहिये। साथ ही, यह शुभ भावना भी जागृत हुई कि जैन ज्योतिष-ग्रन्थोंका हिन्दीमें अनुवाद करके उन्हें समाजमें प्रचारित किया जाय, जिससे जैनियोंमें ज्योतिषविद्याकी जानकारी बढ़े और पब्लिकपर उनके ग्रन्थरत्नोंका अच्छा प्रभाव पड़े। फलतः देवेन्द्रसूरिके शिष्य हेमप्रभसूरि-विरचित 'त्रैलोक्य प्रकाश' नामका जो १३७० श्लोक-परिमाण जैन ज्योतिष ग्रंथ आपको संवत् १९४६ के श्रावण मासमें श्री शान्तिविजयजी महाराजके पाससे, मन्दसौरमें उनके चातुर्मासके अवसरपर, उपलब्ध हुआ था और जिसकी तीन दिनमें ही आपने स्वयं अपने हाथसे प्रतिलिपि की थी तथा ३९ वर्ष तक जिसका अवलोकन एवं मनन होता रहा था, उसकी आपने श्रावण संवत् १९९८में भाषावचनिका बनानी शुरू कर दी और माघ वदि ३ संवत् १९९८ सोमवारके दिन उसे पूरा कर दिया। साहित्यसेवाके क्षेत्रमें यही आपकी पहली कृति है, जिसके अन्तमें आप लिखते हैं—"आज ६४ वर्षकी आयुमें केवल यह एक ही त्रुटिपूर्ण कार्य करने पाया हूँ।" आप स्वयं अपनी वचनिकामें अभी २० प्रतिशत त्रुटियोंका अनुभव कर रहे हैं और उन्हें दूर करनेके प्रयत्नमें हैं; क्योंकि ग्रंथकी जो प्रति आपको उपलब्ध हुई वह बहुत कुछ अशुद्ध है। इसीसे ता० १८ जनवरी सन् १९४२ को जो पहला पत्र आपने मुझे लिखा, उसमें अपनेको प्राप्त कुछ जैन ज्योतिष ग्रन्थोंका परिचय देते हुए तथा त्रैलोक्यप्रकाशकी टीका-समाप्तिकी सूचना करते हुए, शुद्ध प्रतियोंके प्राप्त कराने आदिकी प्रेरणा की है, जिससे जिन श्लोकोंका अर्थ संदिग्ध है अथवा छोड़ना पड़ा है उस सबकी पूर्ति होजाय तथा जैन ज्योतिषके अन्य भी कुछ ग्रन्थ देखनेको मिलें। इस पत्रमें दूसरे दो ग्रन्थोंकी भी टीका किये जानेका उल्लेख करते हुए और जैनज्योतिष-ग्रन्थोंकी विलक्षण प्रक्रियाका कुछ नमूना दिखलाते हुए

अन्तमें लिखा है-"आयुका कुछ भरोसा नहीं, इस कारण आज यह विचार हुआ कि (यह सब सूचना) बतौर रिकार्डके आपकी सेवामें भेजदूँ।" इसके बाद आपने अपनी उक्त भाषावचनिकाको मेरे पास देखने के लिए भेजा है, भद्रबाहु-निमित्तशास्त्रके कुछ अध्यायोंका अनुवाद भी भेजा है और 'लोकविजययत्र' नामके प्राकृत-गाथाबद्ध ग्रन्थकी टीका भी भेजी है। साथही जैन ज्योतिष-विषयक एक लेख भी प्रेषित किया है जिसमें अन्य बातोंके अतिरिक्त जैनाचार्योंकी मान्यतानुसार चन्द्रमाको मन्दगामी और शनिको शीघ्रगामी सिद्ध किया है, जबकि अन्य ज्योतिर्विद् चन्द्रमाको शीघ्रगामी और शनिको मन्दगामी (शनैश्चर) बतलाते हैं। त्रैलोक्यप्रकाश, भद्रबाहुनिमित्तशास्त्र और लोकविजययंत्र इन तीनों मूलग्रथोंकी आपने बड़ी प्रशंसा लिखी है—त्रैलोक्यप्रकाशको जैन ज्योतिष-विषयका और तेजी-मंदी जाननेका अपूर्व ग्रन्थ बतलाया है, भद्रबाहुनिमित्तशास्त्रके जोड़की एक भी दूसरी कृति कहीं देखनेमें नहीं आती ऐसा प्रतिपादन किया है और लोकविजययंत्रके विषयमें यह सूचित किया है कि वह सरलतासे घर बैठे देश-विदेशमें होने वाले सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, युद्ध, शान्ति, रोग, वर्षा, महँगाई और महामारी आदिको प्रतिवर्ष पहलेसे ही जान लेनेका एक निराला ही ग्रन्थ है। इसके साथमें एक बहुत बड़ा यत्र है जिसमें दिशा-विदिशाओंमें स्थित देश-नगरादिके नाम हैं और उनमें होनेवाले शुभ अशुभको ध्रुवाङ्कोंकी सहायतासे जाना जाता है। शाहाजीकी इच्छा है कि इस ग्रंथकी टीकाको एक साथ और निमित्तशास्त्रके अनुवादको क्रमशः अनेकान्तमें प्रकाशित किया जाय अथवा वीरसेवामन्दिरसे इनका स्वतंत्ररूपमें प्रकाशन किया जाय। मैं आपकी इस सब शुभ भावना एवं सदिच्छाका अभिनन्दन करता हूँ।

जुगलकिशोर मुख्तार

पिछली फाइलें समाप्त

अनेकान्तके द्वितीय और तृतीय वर्षकी फाइलें कभी की समाप्त हो चुकी हैं, उनके लिये कोई भी सज्जन आर्डर देनेका कष्ट न उठाएँ। प्रथम वर्षकी ४-६ फाइलें ही बिक्री के लिये अवशिष्ट हैं, मूल्य ४) पोष्टेज ।।।) अलग। शेष चतुर्थ और पंचम वर्ष की फाइलें अभी इच्छानुसार मिल सकती हैं, मूल्य वही ३) रु० पोष्टेज फ्री।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

अनेकान्तको सहायता

गत किरण १०-११में प्रकाशित सहायताके बाद १०६) रु० की निम्न सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

५०) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान पानीपत, मध्ये सौ रुपयेकी स्वीकृत सहायताके बाकी रहे हुए। इस रकममे २०) रु० ला० सूरतराय रघुबरदयालजी जैन आड़ती मर्चेंट व कमीशन एजेण्ट पानीपतकी ओरसे हैं।

१५) सेठ कल्याणमलजी गोधा, उज्जैन और सेठ बैजनाथ जी बडजात्या, मुजफ्फरनगर (चि० पुत्र नरेन्द्रकुमार और चि० पुत्री शान्तिदेवीके विवाहकी खुशीमें)।

११) ला०ब.बूलाल श्यामलालजी जैन आड़ती, खतौलीजि० मुजफ्फरनगर (चि० श्यामलालके विवाहकी खुशीमे)।

१०) ला० मुन्नालाल भगवानदास सर्राफ़, क्लाथमर्चेन्ट ललितपुर (दो पुत्रियोंके विवाहकी खुशी में)।

५) शाह सौभाग्यचंद कालीदासजी जैन, पो०डबका(बडौदा)

५) ला० मित्तरसेन मामचन्दजी जैन, देवबन्द जि० सहारनपुर (पितामहीके देहावसानपर निकाले हुए ६०१) के दानमेंसे)।

४) ला० नन्दूमल (फर्म हीरालाल नन्दूमल) और ला० कुन्दनलाल (फर्म उमरावसिंह रतनलाल) देहली (पुत्र नेमचंद और पुत्री दर्शनमालाके विवाहकी खुशी में), मार्फत बा० पन्नालाल जैन अग्रवाल देहली।

४) ला० शिखरचन्दजी जैन अफजलगढ जि० बिजनौर (चि० पुत्र राजेन्द्रकुमारके विवाहकी खुशीमें)।

२) ला० भोलानाथ कामताप्रसादजी जैन सरधना जि० मेरठ (चि० कामताप्रसादके विवाहकी खुशीमें)।

---

१०६) व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरको सहायता

अनेकान्तकी गत किरण नं० ८-९ में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिर सरसावाको जो नई सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है, और इसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

११) ला० शीतलप्रसाद गिरनारीलालजी जैन, चकरौता जि० देहरादून (चि० महावीरप्रसादके विवाहकी खुशी में लायब्रेरीके लिये)।

१०) श्रीमती चमेली देवी धर्मपत्नी स्व० भाई रामप्रसाद जी जैन ओवरसियर, सरसावा, हाल एटा।

१०) बा० विश्वंभरदासजी जैन गार्गीय झांसी (पौत्र चि० कान्तिप्रसादके विवाहकी खुशीमें)।

५) चौ० दर्शनलाल जीयालालजी जैन, सुलतानपुर जि० सहारनपुर।

२) श्रीमती हीरादेवी सुपुत्री बा० रघुबरदयालजी जैन, करौलबाग, देहली।

२) ला० भागमलदास रामचन्द्रदासजी जैन, मुजफ्फरनगर (पुत्र विवाहकी खुशीमें)।

२) ला० गोबिन्दराय श्रीचन्दजी जैन, बडका-बड़ौत जि० मेरठ (पुत्र विवाहकी खुशीमें)।

१) श्रीमती चान्दबाई धर्मपत्नी बा० चन्दूलालजी जैन अब्दुल्लापुर जि० अम्बाला (लायब्रेरीके लिये)

---

४३) अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

विलम्बका कारण

कागजके न मिलने, सम्पादकजीके अस्वस्थ रहने और दो बडे तय्यार लेखोंके कानपुरके परिषद् अधिवेशनमें चोरी चले जाने तथा फिरसे उनके लिखाये जाने आदिके कारण इस किरणके प्रकाशनमें असाधारण विलम्ब हो गया है, जिसका हमे खेद है! आशा है इस मजबूरीके लिये पाठक क्षमा करेंगे। —प्रकाशक

अध्यात्मकमलमार्तण्डका सानुवाद प्रकाशन

यह ग्रन्थरत्न उन विद्वद्वर कविराजमल्लकी कृति है जो पंचाध्यायी और लाटी संहिता जैसे ग्रन्थोंके प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं, और इस लिये इसके महत्व-सम्बन्धमें अधिक कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। जिन सज्जनोंने पंचाध्यायीको देखा है वे कविवरकी युक्ति-पुरस्सर चमत्कृत लेखनीसे भले प्रकार परिचित हैं। फिर भी यहां इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस १०१पद्यात्मक कृतेमें अध्यात्मसमुद्रको बडे कौशलके साथ बन्द किया गया है। पाठक इसके अध्ययन से बडे-बडे अध्यात्म ग्रंथोंको मथकर निकाले हुए नवनीत का रसास्वादन करेंगे। वीरसेवामन्दिरने अनेकान्तके छठे वर्षकी प्रथम किरणमे इस पूरे ग्रंथको अनुवाद तथा प्रस्तावनादिके साथ दे देनेका निश्चय किया है। आशा है भादों सुदीमें अनेकान्तकी नई योजनाके साथ यह ग्रंथ पाठकोंके हाथोंमें पहुँचकर उन्हें आनन्दित करेगा। —अधिष्ठाता

Registere No. **A-137.**

पुरातन-जैनवाक्य-सूची

(प्रेसमें)

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची (प्राकृतपद्यानुक्रमणी)' नामका जो ग्रन्थ कुछ वर्षोंसे वीरसेवामन्दिरमें तय्यार हो रहा था वह प्रेसमें दिया जा चुका है और आधेसे ऊपर छप भी चुका है— 'प' वर्गके वाक्य समाप्तिके करीब हैं। यह ग्रन्थ ३६ पौण्डके उत्तम कागजपर २२×२९ साइजके अठपेजी आकारमें छपाया जा रहा है, प्रस्तावनादि सब मिलाकर लगभग ५०० पृष्ठका होगा और आशा है जल्दी ही प्रकाशित होजायगा।

इस ग्रन्थको हाथमें लेते हुए यह नहीं सोचा गया था कि इसकी तय्यारीमें इतना अधिक समय लग जायगा। पहले प्रत्येक ग्रन्थकी अलग अलग वाक्य-सूची तय्यार की गई थी, बादको प्रो०ए०एन० उपाध्याय एम०ए०, कोल्हापुर जैसे मित्रोंका भी जब यह परामर्श प्राप्त हुआ कि सब ग्रन्थोंके वाक्योंका एक जनरल अनुक्रम विशेष उपयोगी रहेगा और उससे ग्रन्थका उपयोग करने वालोंकी शक्ति और समयकी बहुत बचत होगी, तब सूची किये गये वाक्योंको फिरसे कार्डोंपर लिखकर उनका अकारादि क्रमसे जनरल अनुक्रम बनानेका भारी परिश्रम उठाना पड़ा और तदनन्तर कार्डोंपरसे साफ कापी कराई गई। इस बीचमें कुछ नये प्राप्त पुरातन ग्रन्थोंके वाक्य भी सूचीमें शामिल होते रहे, और इस तरह इस काममें कितना ही समय निकल गया। इसके बाद जब प्रेसमें देनेके लिए ग्रन्थकी जाँचका समय आया तो मालूम हुआ कि कितने ही वाक्य सूची करनेसे छूट गए हैं और बहुतसे वाक्य अशुद्ध रूपमें संगृहीत हुए हैं, जिनमेंसे कितने ही मुद्रित प्रतियोंमें अशुद्ध छपे हैं और बहुतसे हस्तलिखित प्रतियोंमें अशुद्ध पाये जाते हैं। अतः ग्रन्थोंको आदिसे अन्त तक मिलाकर छूटे हुए वाक्योंकी पूर्ति की गई और जो वाक्य अशुद्ध जान पड़े उन्हें ग्रन्थके पूर्वापर सम्बन्ध, प्राचीन ग्रन्थों परसे विषयके अनुसन्धान, विषयकी संगति तथा कोष-व्याकरणादिकी सहायताके आधारपर शुद्ध करनेका भरसक प्रयत्न किया गया, जिससे यह ग्रन्थ अधिकसे अधिक प्रामाणिक रूपमें जनताके सामने आए और अपने लक्ष्य तथा उद्देश्यको ठीक तौरपर पूरा करनेमें समर्थ होसके। जांचके इस कामने भी, जिसमें क्रम-परिवर्तनको भी अवसर मिला, काफी समय ले लिया और कुछ विद्वानोंको इसमें भारी परिश्रम करना पड़ा। यही सब इस ग्रन्थके प्रकाशनमें विलम्बका कारण है। मैं समझता हूँ ग्रन्थके सामने आनेपर विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और इस विलम्बको भूल जायँगे। अस्तु।

यह ग्रन्थ रिसर्च (शोध-खोज) का अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों, स्कॉलरों, प्रोफेसरों, ग्रन्थसम्पादकों, इतिहास-लेखकों और उन स्वाध्याय-प्रेमियोंके लिये भी बड़े कामकी चीज़ है जो किसी शास्त्रमें 'उक्तं च' आदि रूपसे आए हुए उद्धृत वाक्योंके विषयमें यह जानना चाहते हों कि वे कौनसे ग्रन्थ अथवा ग्रन्थोंके वाक्य हैं। कागजकी इस भारी मँहगीके जमानेमें इस ग्रन्थकी कुल ३०० कापियाँ ही छपाई जा रही हैं। अतः जिन विद्वानों, कालिजों, लायब्रेरियों तथा शास्त्रभण्डारों आदिको इस ग्रन्थकी ज़रूरत हो वे शीघ्र ही नीचे पतेपर अपना नाम ग्राहक श्रेणीमें दर्ज करालें, अन्यथा अल्प प्रतियोंके कारण इस ग्रन्थका मिलना फिर दुर्लभ हो जायगा। ग्रन्थकी तय्यारीमें बहुत अधिक व्यय होनेपर भी मूल्य लागतसे कम ही रक्खा जायगा। पिछली सूचनाको पाकर कुछ विद्वानों तथा संस्थाओंने अपने लिए कापियाँ रिजर्व कराई हैं, शेषको शीघ्र ही करा लेनी चाहियें।

सरसावा, जि० सहारनपुर